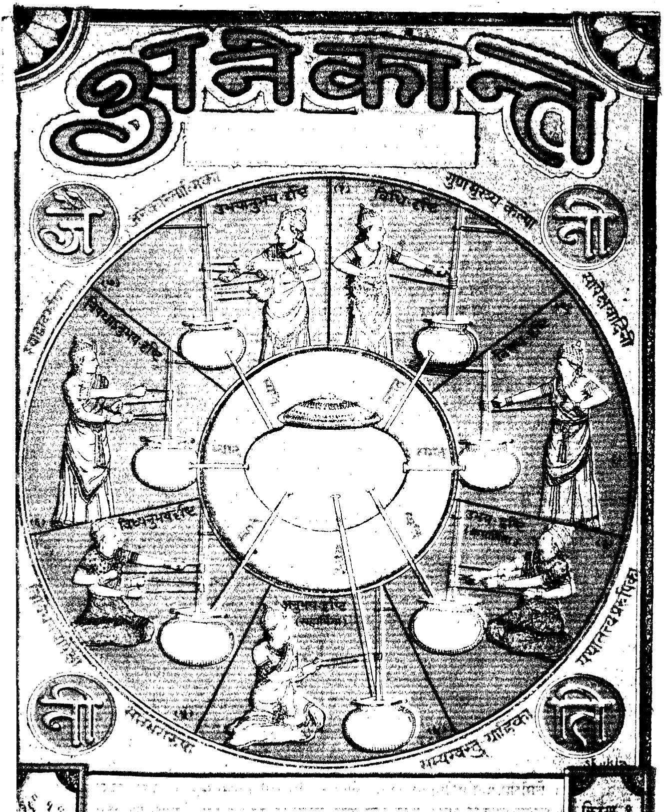

अनेकान्त
वर्ष १०
किरण १

विषय-सूची

ग्राहकोंको आवश्यक-सूचना

वीरसेवामन्दिरको प्राप्त सहायता

अनेकान्तकी गत ११-१२ वीं किरणमें प्रकाशित सहायताके बाद वीरसेवामन्दिरको जो सहायता प्राप्त हुई वह निम्न प्रकार है और उसके लिये दातार महोदय धन्यवादके पात्र हैं :—

२००) बा० सिद्धकरण निहालकरणजी सेठी, आगरा, (लायब्रेरीकी सहायतार्थ)
१०१) बा० अनन्तप्रसादजी जैन, इन्जीनियर, पटना
२५) श्री वीरचन्द कोदरजी गांधी, फल्टण (सतारा)
११) हकीम फूलचन्दजी, रुड़की जि० सहारनपुर (चि० राजेन्द्रकुमारके विवाहोपलक्षमें)
१०) बा० बसन्तीलालजी जैन, जयपुर।

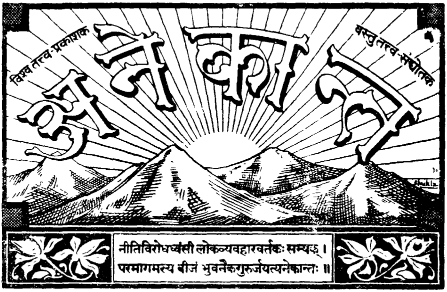
३४७)

—अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर'

अनेकान्तके विज्ञापन-रेट

स० सम्पादक : दरबारीलाल कोठिया, न्यायाचार्य

ॐ अर्हम्



वार्षिक मूल्य ५)

एक किरणका मूल्य ।)

वर्ष १० किरण १ | वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम), ७/३३ दरियागंज, देहली श्रावण, वीर निर्वाण-संवत २४७५, विक्रम-संवत २००६ | जुलाई १९४९

श्रीवीर-स्तवन

[यमकाष्टक स्तोत्र]

[यह स्तोत्र अभी हालमें १९ जूनको पंचायतीमन्दिर देहलीके शास्त्र-भंडारको देखते हुए उपलब्ध हुआ है। इसमें यमकालंकारको लिये हुए वीर भगवानके स्तवन-संबंधी आठ पद्य हैं। अन्तके दो पद्य प्रशस्त्यात्मक हैं और उनमें स्तोत्रकार अमरकीर्तिने अपना और अपनी इस रचनाका संक्षिप्त परिचय दिया है, जिससे मालूम होता है कि 'इस स्तोत्रके रचयिता भट्टारक अमरकीर्ति विद्यानन्दके शिष्य थे, परशीलवादियों अथवा परमतवादियोंके मदका खण्डन करनेवाले थे, उन्होंने परमागमका अध्ययन किया था, शब्दशास्त्र और युक्ति (न्याय) शास्त्रको अधिगत किया था और विद्वानोंके लिये देवागमाऽलंकृति नामक ग्रन्थकी रचना की थी। उनका यह वीररूप अर्हत्परमेश्वरका यमकाष्टक स्तोत्र मंगलमय है, जो भव्यजन सदा (भावपूर्वक) इस स्तोत्रका पाठ करता है वह भारतीमुखका दर्पण बन जाता है—सरस्वती देवी सदा ही उसमें अपना मुख देखा करती है अथवा यों कहिये कि सरस्वती का मुख उसमें प्रतिबिम्बित हुआ करता है। यह रचना बडी सुन्दर गम्भीर तथा पढनेमें अतिप्रिय मालूम होती है। अष्टक पद्योंके प्रत्येक चरणमें एक एक शब्द एकसे अधिकबार प्रयुक्त हुआ है और वह भिन्न भिन्न अर्थको लिये हुए है इतना ही नहीं बल्कि एक ही पदमें अनेक अर्थोंको भी लिये हुए है, जिन्हे साथमें लगी हुई टीका-द्वारा स्पष्ट कियागया है और जो प्राय: स्वोपज्ञ जान पडती है, यही इस यमकरूप काव्यालंकारकी विशेषता है, जिसे इस स्तोत्रमें बडी खूबीके साथ चित्रित किया गया है। प्रत्येक अष्टक पद्यका चौथा चरण 'वीरं स्तुवे विश्वहितं हितं हितम्' रूपको लिये हुए है, जिससे टीकानुसार यह बतलाया है कि 'मैं उस वीरका स्तवन करता हूँ जो विश्वके लिये हित रूप है, विश्वजनोंका वृद्ध है या सारे विश्व अथवा विश्व के सब पदार्थ जिसके लिये हितरूप—पथ्यरूप हैं—कोई विरोधी नहीं—अथवा द्रव्य-गुण-पर्याय-रूप, चेतन अचेतनरूप, मूर्त-अमूर्तरूप और देश-कालादिक अन्तरितरूप जो सर्ववस्तुसमूह है वह विश्व, उसे युगपत्

साक्षात् जानता है (हितोऽभिगच्छति) और हित जो मोक्ष तथा मोक्षका कारण क्रियाकलाप उसे प्राप्त (हितं गतम्) हुआ है अथवा हितकारी जो इन्द्रभूत्यादि गणधर उनके प्रति भी हितरूप है—हितप्रद है'। साथ ही 'वीर' शब्दके अर्थमें युक्तिसे वृषभादि अन्य तीर्थङ्करोंका भी समावेश किया है और इस तरह वीर भगवानके इसस्तवनमें अन्य जैन तीर्थङ्करोंके स्तवनको भी सम्मिलित किया है।

अमरकीर्ति नामके अनेक विद्वान् आचार्य तथा भट्टारकादि होगये हैं। जैसे एक अमरकीर्ति वे जिन्हे वि० संवत् १२४७ में बनकर समाप्त हुए षट्कर्मोपदेश नामके अपभ्रंश ग्रन्थमें 'महाकवि' लिखा है। दूसरे अमरकीर्ति वे जिनके शिष्य माघनन्दी व्रती और प्रशिष्य भोगराज (सौदागर) थे। भोगराजने शक संवत् १२७७ (वि० सं० १४१२) में शान्तिनाथकी प्रतिमा प्रतिष्ठित कराई थी। तीसरे अमरकीर्ति वे जो कलिकालसर्वज्ञ भट्टारक धर्मभूषणके शिष्य थे और जिनका उल्लेख शक सं० १२९५ में लिखे गये श्रवणबेलगोलके शिलालेख न० १११ (२७४) में आया है। चौथे अमरकीर्ति वे जो वादी विद्यानन्दके शिष्य थे और जिनका उल्लेख नगरतालुकाके शिलालेख नं० ४६ मे आया है (E. C Part II)। ये विद्यानन्दके शिष्य चौथे अमरकीर्ति ही इस स्तोत्रके कर्ता जान पड़ते हैं और इसलिये इनका तथा इस स्तोत्रकी रचनाका समय विक्रमकी १६वीं शताब्दी समझना चाहिए। इस स्तोत्रमे स्तोत्रकारने अपनी जिस 'देवागमालंकृति' नामकी रचनाका उल्लेख किया है वह अभी तक अपने देखनेमें नहीं आई, उसकी खोज होनी चाहिये। वह बहुधा बड़े विद्यानन्दस्वामीकी 'आप्तमीमांसालंकृति नामक अष्टसहस्री ग्रन्थको सामने रखकर कुछ विशेषरूपमें लिखी गई होगी। —सम्पादक]

[जगती]

विद्याऽऽस्पदाऽऽर्हन्त्य-पदं पदं पदं प्रत्यग्र-सत्पद्म-परं परं परम्।
हेयेतराकार-बुधं बुधं बुधं वीरं स्तुवे विश्व-हितं हितं हितम् ॥१॥
दिव्यं वचो यस्य सभा सभासभा निपीय पीयूषमितं मितं मितम्।
बभूव तृप्ता समुराऽसुरा सुरा वीरं स्तुवे विश्वहितं हितं हितम् ॥२॥
शास्त्र-प्रमाऽन्यैरजिता जिता जिता गुणावली येन धृताऽधृता धृता।
संवादिनं तीर्थकरं करं करं वीरं स्तुवे विश्वहितं हितं हितम् ॥३॥
मयूख-मालेव महा महा महा-लोकोपकारं सविताऽविताऽविता।
विभाति यो गन्धकुटी कुटीकुटी वीरं स्तुवे विश्वहितं हित हितम् ॥४॥
साऽराग-संस्तुत्य-गुणं गुणं गुणं सभार्जयिष्णु सशिवं शिवं शिवम्।
लक्ष्मीवतां पूज्यतमं तमं तमं वीरं स्तुवे विश्वहितं हितं हितम् ॥५॥
सिद्धार्थ-सन्नन्दनमाऽऽनमाऽऽनमाऽऽनंदाद्ववर्षे द्युसदाऽऽसदा सदा।
यस्योपरिष्टात् कुसुमं सुमं सुमं वीरं स्तुवे विश्वहितं हितं हितम् ॥६॥
प्रत्यक्षमध्यैर्दचितं चितं चितं यो मेयमर्थं सकलं कलंकलम्।
व्यपेत-दोषाऽऽवरणं रणं रणं वीरं स्तुवे विश्वहितं हितं हितम् ॥७॥
युक्त्याऽऽगमाऽबाधिगिरं गिरं गिरं चित्रीयिताख्येयभरं भरं भरम्।
संख्यावतां चित्तहरं हरं हरं वीरं स्तुवे विश्वहितं हितं हितम् ॥८॥

अध्येष्टाऽऽगममध्यगीष्ट परमं शब्दं च युक्तिं विदां चक्रे यः पर-शील-वादि-मद-भिद्देवागमाऽलंकृतिम्।
विद्यानन्द-भुवाऽमरादियशसा तेनाऽमुना निर्मितं वीराऽऽर्हत्परमेश्वरस्य यमक-स्तोत्राऽष्टकं मंगलम् ॥९॥
भट्टारकैः कृतं स्तोत्रं यः पठेद्यमकाऽष्टकम्। सर्वदा स भवेद्भव्यो भारती-मुख-दर्पणः ॥१०॥

इति भट्टारक-श्रीअमरकीर्ति-कृतं यमकाऽष्टकं स्तोत्रं समाप्तम् ॥श्रीः॥

अनेकान्त-रस-लहरी

—:०%०:—

[इस स्तम्भके नीचे लेख लिखनेके लिये सभी विद्वानोंको सादर आमन्त्रण है। लेखोंका लक्ष्य वही होना चाहिये जो इस स्तम्भका प्रारम्भ करते हुए व्यक्त किया गया था अर्थात् लेखोंमें अनेकान्त जैसे गम्भीर विषयको ऐसे मनोरंजक ढंगसे सरल शब्दोंमें समझाया जाय जिससे बच्चे तक भी उसके मर्मको आसानीसे जान सकें, वह कठिन दुर्बोध एवं नीरस विषय न रहकर सुगम-सुखबोध तथा रसीला विषय बन जाय—बातकी बातमें समझा जासके—और जनसाधारण सहजमें ही उसका रसास्वादन करते हुए उसे हृदयङ्गम करने, अपनाने और उसके आधार पर तत्त्वज्ञानमें प्रगति करने, प्राप्त ज्ञानमें समीचीनता लाने, विरोधको मिटाने तथा लोक व्यवहारमें सुधार करनेके साथ-साथ अनेकान्तको जीवनका प्रधान अङ्ग बनाकर सुख-शान्तिका अनुभव करनेमें समर्थ हो सके। —सम्पादक]

[४]

बड़ा और छोटा दानी

उसीदिन अध्यापक वीरभद्रने दूसरी कक्षामें जाकर उस कक्षाके विद्यार्थियोंकी भी इस विषयमें जाँच करनी चाही कि वे बड़े और छोटेके तत्त्वको, जो कई दिनसे उन्हें समझाया जारहा है, ठीक समझ गये हैं या कि नहीं अथवा कहाँ तक हृदयगम कर सके हैं, और इसलिये उन्होंने कक्षाके एक सबसे अधिक चतुर विद्यार्थीको पासमें बुलाकर पूछा—

एक मनुष्यने पाँच लाखका दान किया है और दूसरेने दस हजारका, बतलाओ, इन दोनोंमें बड़ा दानी कौन है?

विद्यार्थीने चटसे उत्तर दिया—'जिसने पाँच लाखका दान किया है वह बड़ा दानी है।' इसपर अध्यापकमहोदयने एक गंभीर प्रश्न किया—

'क्या तुम पाँच लाखके दानीको छोटा दानी और दस हज़ारके दानीको बड़ा दानी कर सकते हो?'

विद्यार्थी—हाँ, कर सकता हूँ।

अध्यापक—कैसे? करके बतलाओ?

विद्यार्थी—मुझे सुखानन्द नामके एक सेठका हाल मालूम है जिसने अभी दस लाखका दान दिया है, उससे आपका यह पाँच लाखका दानी छोटा दानी है। और एक ऐसे दातारको भी मैं जानता हूँ जिसने पाँच हज़ारका ही दान दिया है, उससे आपका यह दस हज़ारका दानी बड़ा दानी है। इस तरह १० हजारका दानी एककी अपेक्षासे बड़ा दानी और दूसरेकी अपेक्षासे छोटा दानी है, तदनुसार पाँच लाखका दानी भी एककी अपेक्षासे बड़ा और दूसरेकी अपेक्षासे छोटा दानी है।

अध्यापक—हमारा मतलब यह नहीं जैसा कि तुम समझ गये हो, दूसरोंकी अपेक्षाका यहाँ कोई प्रयोजन नहीं। हमारा पूछनेका अभिप्राय सिर्फ इतना ही है कि क्या किसी तरह इन दोनों दानियों-मेंसे पाँच लाखका दानी दस हज़ारके दानीसे छोटा और दस हज़ारका दानी पाँच लाखके दानीसे बड़ा दानी हो सकता है? और तुम उसे स्पष्ट करके बतला सकते हो?

विद्यार्थी—यह कैसे होसकता है? यह तो उसी तरह असंभव है जिस तरह पत्थरकी शिला अथवा लोहेका पानीपर तैरना।

अध्यापक—पत्थरकी शिलाको लकड़ीकी स्ली-पर या मोटे तख्तेपर फिट करके अगाध जलमें तिराया जासकता है और लोहेकी लुटिया, नौका अथवा कनस्टर बनाकर उसे भी तिराया जासकता है। जब युक्तिसे पत्थर और लोहा भी पानीपर तैर सकते हैं और इसलिये उनका पानीपर तैरना सर्वथा असंभव नहीं कहा जासकता, तब क्या तुम युक्तिसे दस हज़ारके दानीको पाँचलाखके दानीसे बड़ा सिद्ध नहीं कर सकते?

यह सुनकर विद्यार्थी कुछ गहरी सोचमें पड़ गया और उससे शीघ्र ही कुछ उत्तर न बन सका। इस-पर अध्यापक महोदयने दूसरे विद्यार्थियोंसे पूछा—'क्या तुममेंसे कोई ऐसा कर सकता है? वे भी सोचते-से रह गये। और उनमें भी शीघ्र कुछ उत्तर बन न पड़ा! तब अध्यापकजी कुछ कड़ककर बोले—

'क्या तुम्हें तत्वार्थसूत्रके दान-प्रकरणका स्मरण नहीं है? क्या तुम्हें नहीं मालूम कि दानका क्या लक्षण है और उस लक्षणसे गिरकर दान दान नहीं रहता? क्या तुम्हें उन विशेषताओंका ध्यान नहीं है जिनसे दानके फलमें विशेषता—कमी-वेशी आती है और जिनके कारण दानका मूल्य कमो-वेश हो जाता अथवा छोटा-बड़ा बन जाता है? और क्या तुम नहीं समझते कि जिस दानका मूल्य बड़ा—फल बड़ा वह दान बड़ा है, उसका दानी बड़ा दानी है, और जिस दानका मूल्य कम—फल कम वह दान छोटा है, उसका दानी छोटा दानी है—दानद्रव्यकी संख्यापर ही दानका छोटा-बड़ापन निर्भर नहीं है?'

इन शब्दोंके आघातसे विद्यार्थि-हृदयके कुछ कपाट खुल गये, उसकी स्मृति काम करने लगी और वह ज़रा चमककर कहने लगा—

'हाँ, तत्वार्थसूत्रके सातवें अध्यायमें दानका लक्षण दिया है और उन विशेषताओंका भी उल्लेख किया है जिनके कारण दानके फलमें विशेषता आती है और उस विशेषताकी दृष्टिसे दानमें भेद उत्पन्न होता है अर्थात् किसी दानको उत्तम-मध्यम-जघन्य अथवा बड़ा-छोटा आदि कहा जा सकता है। उसमें बतलाया है कि 'अनुग्रहके लिये—स्व-पर उपकारके वास्ते—जो अपने धनादिकका त्याग किया जाता है उसे 'दान' कहते है और उस दानमें विधि, द्रव्य, दाता तथा पात्रके विशेषसे विशेषता आती है—दानके ढंग, दानमें दिये जानेवाले पदार्थ, दातार-की तत्कालीन स्थिति और उसके परिणाम तथा पानेवालेमें गुणसंयोगके भेदसे दानके फलमें कमी-वेशी होती है[1]। ऐसी स्थितिमें यह ठीक है कि दानका छोटा-बड़ापन केवल दानद्रव्यकी संख्यापर निर्भर नहीं होता, उसके लिये दूसरी कितनी ही बातोंको देखनेकी जरूरत होती है, जिन्हें ध्यानमें रखते हुए द्रव्यकी अधिक संख्यावाले दानको छोटा और अल्प संख्यावाले दानको खुशीसे बड़ा कहा जा सकता है। अतः अब आप कृपाकर अपने दोनों दानियोंका कुछ विशेष परिचय दीजिये जिससे उनके छोटे-बड़ेपनके विषयमें कोई बात ठीक कही जा सके।

अध्यापक—हमें पाँच पाँच लाखके दानी चार सेठोंका हाल मालूम है जिनमेंसे (१) एक सेठ डालचन्द है, जिनके यहाँ लाखोंका व्यापार होता है और प्रतिदिन हजारों रुपये धर्मादाके जमा होते हैं, उसी धर्मादाकी रकममेंसे उन्होंने पाँच लाख रुपये एक सामाजिक विद्या-संस्थाको दान दिये हैं और उनके इस दानमें यह प्रधान-दृष्टि रही है कि उस समाजके प्रेमपात्र तथा विश्वासपात्र बनें और लोक-में प्रतिष्ठा तथा उदारताकी धाक जमाकर अपने व्यापारको उन्नत करें। (२) दूसरे सेठ ताराचन्द हैं, जिन्होंने ब्लैक मार्केटद्वारा बहुत धन संचय किया है और जो सरकारके कोप-भाजन बने हुए थे—सरकार उनपर मुकदमा चलाना चाहती थी। उन्होंने एक उच्चाधिकारीके परामर्शसे पाँचलाख रुपये 'गांधी मीमोरियल फंड' को दान दिये हैं और इससे उनकी सारी आपत्ति टल गई है। (३) तीसरे सेठ रामानन्द हैं, जो एक बड़ी मिलके मालिक हैं जिसमें 'वनस्पति-घी' भी प्रचुर परिमाणमें तय्यार होता है। उन्होंने एक उच्चाधिकारीको गुप्तदानके रूपमें पाँच लाख रुपये इसलिये भेट किये हैं कि वनस्पतिघीका चलन बन्द न किया जाय और न उसमें किसी रंगके मिलानेका आयोजन ही किया जाय। (४) चौथे सेठ विनोदीराम हैं, जिन्हें 'रायबहादुर' तथा 'आनरेरी मजिस्ट्रेट' बननेकी प्रबल इच्छा थी।

१ अनुग्रहार्थं स्वस्याऽतिसर्गो दानम् ॥ ३८ ॥
विधि-द्रव्य-दातृ-पात्र-विशेषात्तद्विशेषः ॥ ३९ ॥

उन्होंने ज़िलाधीश (कलक्टर) से मिलकर उन ज़िलाधीशके नामपर एक हस्पताल (चिकित्सालय) खोलनेके लिये पाँच लाखका दान किया है और वे ज़िलाधीशकी सिफारिशपर रायबहादुर तथा ऑनरेरी मजिस्ट्रेट बना दिये गये हैं।

इसी तरह हमें चार ऐसे दानी सज्जनोंका भी हाल मालूम है जिन्होंने दस दस हजारका ही दान किया है। उनमेंसे (१) एक तो हैं सेठ दयाचन्द, जिन्होंने नगरमें योग्य चिकित्सा तथा दवाईका कोई समुचित प्रबन्ध न देखकर और साधारण गरीब जनताको उसके अभावमें दुःखित एवं पीड़ित पाकर अपनी निजकी कमाईमेंसे दस हजार रुपये दानमें निकाले हैं और उस दानकी रकममें एक धर्मार्थ शुद्ध औषधालय स्थापित किया है जिसमें गरीब रोगियोंकी सेवा-शुश्रूषापर विशेष ध्यान दिया जाता है और उन्हें दवाई मुफ्त दी जाती है। सेठ साहब औषधालयकी सुव्यवस्थापर पूरा ध्यान रखते हैं और अक्सर स्वयं भी सेवाके लिये औषधालयमें पहुँच जाया करते हैं। (२) दूसरे सेठ ज्ञानानन्द हैं, जिन्हें सम्यग्ज्ञान-वर्धक साधनोंके प्रचार और प्रसारमें बड़ा आनन्द आया करता है। उन्होंने अपनी गाढ़ी कमाईमेंसे दस हजार रुपये प्राचीन जैनसिद्धांत-ग्रन्थोंके उद्धारार्थ प्रदान किये हैं और उस द्रव्यकी ऐसी सुव्यवस्था की है जिससे उत्तम सिद्धांत-ग्रन्थ बराबर प्रकाशित होकर लोकका हित कर रहे हैं। (३) तीसरे सज्जन लाला विवेकचन्द हैं, जिन्हें अपने समाजके बेरोजगार (आजीविकारहित) व्यक्तियोंको कष्टमें देखकर बड़ा कष्ट होता था और इसलिये उन्होंने उनके दुःखमोचनार्थ अपनी शुद्ध कमाईमेंसे दस हजार रुपये दान किये हैं। इस द्रव्यसे बेरोजगारोंको उनके योग्य रोजगारमें लगाया जाता है—दुकानें खुलवाई जाती हैं, शिल्पके साधन जुटाये जाते हैं, नौकरियाँ दिलवाई जाती हैं और जब तक आजीविकाका कोई समुचित प्रबन्ध नहीं बैठता तबतक उनके भोजनादिकमें कुछ सहायता पहुँचाई जाती है। इससे कितने ही कुटुम्बोंको आकुलता मिटकर उन्हें अभयदान मिल रहा है। (४) चौथे सज्जन गवर्नमेंटके पेंशनर बाबू सेवाराम हैं, जिन्होंने गवर्नमेंटके साथ अपनी पेंशनका दस हजार नकदमें समझौता कर लिया है और उस सारी रकमको उन समाजसेवकोंकी भोजनव्यवस्थाके लिये दान कर दिया है जो निःस्वार्थभावसे समाज-सेवाके लिये अपनेको अर्पित कर देना चाहते हैं परन्तु इतने साधन-सम्पन्न नहीं हैं कि उस दशामें भोजनादिकका खर्च स्वयं उठा सकें। इससे समाजमें निःस्वार्थ सेवकोंकी वृद्धि होगी और उनसे कितना ही सेवा एवं लोकहितका कार्य सहज सम्पन्न हो सकेगा। बाबू सेवारामजीने स्वयं अपनेको भी समाजसेवाके लिये अर्पित कर दिया है और अपने दानद्रव्यके सदुपयोगकी व्यवस्थामें लगे हुए हैं।

अब बतलाओ दस-दस हजारके इन चारों दानियोंमेंसे क्या कोई दानी ऐसा है जिसे तुम पाँच-पाँच लाखके उक्त चारों दानियोंमेंसे किसीसे भी बड़ा कह सको? यदि है तो कौन-सा है और वह किससे बड़ा है?

विद्यार्थी—मुझे तो यह दस-दस हजारके चारों ही दानी उन पाँच-पाँच लाखके प्रत्येक दानीसे बड़े दानी मालूम होते हैं।

अध्यापक—कैसे? ज़रा समझाकर बतलाओ।

विद्यार्थी—पाँच लाखके प्रथम दानी सेठ डालचन्दने जो द्रव्य दान किया है वह उनका अपना द्रव्य नहीं है, वह वह द्रव्य है जो ग्राहकोंसे मुनाफेके अतिरिक्त धर्मादाके रूपमें लिया गया है, न कि वह द्रव्य जो अपने मुनाफेमेंसे दानके लिये निकाला गया हो। और इसलिए उसमें सैकड़ों व्यक्तियोंका दानद्रव्य शामिल है। अतः दानके लक्षणानुसार सेठ डालचन्द उस द्रव्यके दानी नहीं कहे जासकते—दानद्रव्यके व्यवस्थापक होसकते हैं। व्यवस्थामें भी उनकी दृष्टि अपने व्यापारकी रही है और इसलिये उनके उस

दानका कोई विशेष मूल्य नहीं है—वह दानके ठीक फलोंको नहीं फल सकता। पाँच लाखके दानी शेष तीन सेठ तो दानके व्यापारीमात्र है—दानकी कोई स्पिरिट, भावना और आत्मोपकार तथा परोपकारको लिये हुए अनुग्रहदृष्टि उनमें नहीं पाई जाती और इसलिए उनके दानको वास्तवमें दान कहना ही न चाहिये। सेठ ताराचन्दने तो ब्लैकमार्केट द्वारा बहुतोंको सताकर कमाये हुए उस अन्याय-द्रव्यको दान करके उसका बदला भी अपने ऊपर चलनेवाले एक मुकदमेको टलानेके रूपमें चुका लिया है और सेठ विनोदीरामने बदलेमें 'रायबहादुर' तथा 'आनरेरी मजिस्ट्रेट' के पद प्राप्त कर लिये है अत: परमार्थिकदृष्टिसे उनके उस दानका कोई मूल्य नहीं है। प्रत्युत इसके, दस-दस हजारके उन चारों दानियोंके दान दानकी ठीक स्पिरिट, भावना तथा स्व-परकी अनुग्रहबुद्धि आदिको लिये हुए है और इसलिये दानके ठीक फलको फलने वाले सम्यक् दान कहे जानेके योग्य है। इसीसे मैं उनके दानी सेठ दयाचन्द, सेठ ज्ञानानन्द, ला० विवेकचन्द और बाबू सेवारामजीको पाँच-पाँच लाखके दानी उन चारों सेठों डालचन्द, ताराचन्द, रामानन्द और विनोदीरामसे बड़े दानी समझता हूँ। इनके दानका फल हर हालतमें उन तथाकथित दानियोंके दान-फलसे बड़ा है और इसलिये उन दस-दस हजारके दानियोंमेंसे प्रत्येक दानी उन पाँच-पाँच लाखके दानियोंमें बड़ा दानी है।

यह सुनकर अध्यापक वीरभद्रजी अपनी प्रसन्नता व्यक्त करते हुए बोले—'परन्तु सेठ रामानन्दजीने तो दान देकर अपना नाम भी नहीं चाहा, उन्होंने गुप्तदान दिया है और गुप्तदानका महत्व अधिक कहा जाता है, फिर तुमने उन्हें छोटा दानी कैसे कह दिया? जरा उनके विषयको भी कुछ स्पष्ट करके बतलाओ।

विद्यार्थी—सेठ रामानन्दका दान तो वास्तवमें कोई दान ही नहीं है—उसपर दानका कोई लक्षण घटित नहीं होता और इसलिये वह दानकी कोटिमें ही नहीं आता—गुप्तदान कैसा? वह तो स्पष्ट रिश्वत अथवा घूस है, जो एक उच्चाधिकारीको लोभमें डालकर उनके अधिकारोंका दुरुपयोग कराने और अपना बहुत बड़ा लौकिक स्वार्थ सिद्ध करनेके लिये दी गई है और उस स्वार्थसिद्धिकी उत्कट भावनामें इस बातको बिल्कुल ही भुला दिया गया है कि वनस्पतिघीके प्रचारसे लोकमें कितनी हानि होरही है—जनताका स्वास्थ्य कितना गिर गया तथा गिरता जाता है और वह नित्य नई कितनी व कितने प्रकारकी बीमारियोंकी शिकार होती जाती है, जिन सबके कारण उसका जीवन भाररूप होरहा है। उस सेठने सबके दुख-कष्टोंकी ओरसे अपनी आँखें बन्द करली है—उसकी तरफसे बूढ़ा मरो चाहे जवान उसे अपनी हत्यासे काम! फिर दानके अंगस्वरूप किसीके अनुग्रह—उपकारकी बात तो उसके पास कहाँ फटक सकती है? वह तो उससे कोसों दूर है। महात्मा-गान्धी जैसे सन्तपुरुष वनस्पतिघीके विरोधमें जो कुछ कह गये है उसे भी उसने ठुकरा दिया है और उस अधिकारीको भी ठुकरानेके लिये राजी कर लिया है जो बात-बातमें गांधीजीके अनुयायी होनेका दम भरा करता है और दूसरोंको भी गांधीजीके आदेशानुसार चलनेकी प्रेरणा किया करता है। ऐसा ढोंगी, दम्भी, बगुला-भगत उच्चाधिकारी जो तुच्छ लोभमें पड़कर अपने कर्तव्यसे च्युत, पथसे भ्रष्ट और अपने अधिकारका दुरुपयोग करनेके लिये उतारू होजाता है वह दानका पात्र भी नहीं है। इसतरह परमार्थिक दृष्टिसे सेठ रामानन्दका दान कोई दान नहीं है। और न लोकमें ही ऐसे दानको दान कहा जाता है। यदि द्रव्यको अपनेसे पृथक् करके किसीको दे देने मात्रके कारण ही उसे दान कहा जाय तो वह सबसे निकृष्ट दान है, उसका उद्देश्य बुरा एवं लोकहितमें बाधक होनेसे वह भविष्यमें घोर दु:खों तथा आपदाओंके रूपमें फलेगा। और इसलिये पाँच-पाँच लाखके उक्त चारों दानियोंमें सेठ

रामानन्दको सबसे अधिक निकृष्ट, नीचे दरजेका तथा अधम दानी समझना चाहिये।

अध्यापक—शाबास ! मालूम होता है अब तुम बड़े और छोटेके तत्त्वको बहुत कुछ समझ गये हो। हाँ, इतना और बतलाओ कि जिन चार दानियोंको तुमने पाँच-पाँच लाखके दानियोंसे बड़े दानी बतलाया है वे क्या दस-दस हजारकी समान रकमके दानसे परस्परमें समानदानी हैं, समान फलके भोक्ता होंगे और उनमें कोई परस्परमें बड़ा-छोटा दानी नहीं है ?

विद्यार्थी उत्तरकी खोजमें मन-ही-मन कुछ सोचने लगा, इतनेमें अध्यापकजी बोल उठे—'इससे अधिक सोचनेकी बात नहीं, इतना तो स्पष्ट ही है कि जब अधिक द्रव्यके दानी भी अल्प द्रव्यके दानीसे छोटे होजाते हैं और दानद्रव्यकी संख्यापर ही दान तथा दानीका बड़ा-छोटापन निर्भर नहीं है तब समान द्रव्यके दानी परस्परमें समान और एक ही दर्जेके होंगे ऐसा कोई नियम नहीं हो सकता—वे समान भी हो सकते हैं और असमान भी। इस तरह उनमें भी बड़े-छोटेका भेद संभव है और वह भेद तभी स्पष्ट हो सकता है जबकि सारी परिस्थिति सामने हो अर्थात् यह पूरी तौरसे मालूम हो कि दानके समय दातारकी कौटुम्बिक तथा आर्थिक आदि स्थिति कैसी थी, किन भावोंकी प्रेरणासे दान किया गया है, किस उद्देश्यको लेकर तथा किस विधि-व्यवस्थाके साथ दिया गया है और जिन्हें लक्ष्य करके दिया गया है वे सब पात्र हैं, कुपात्र हैं या अपात्र अथवा उस दानकी कितनी उपयोगिता है। इन सबकी तर-तमतापर ही दान तथा उसके फलकी तर-तमता निर्भर है और उसीके आधारपर किसी प्रशस्त दानको प्रशस्ततर या प्रशस्ततम अथवा छोटा-बड़ा कहा जा सकता है। जिनके दानोंका विषय ही एक-दूसरेसे भिन्न होता है उनके दानी प्रायः समान फलके भोक्ता नहीं होते और न समान फलके अभोक्ता होनेसे ही उन्हें बड़ा-छोटा कहा जा सकता है। इस दृष्टिसे उक्त दस-दस हजारके चारों दानियोंमेंसे किसीके विषयमें भी यह कहना सहज नहीं है कि उनमें कौन बड़ा और कौन छोटा दानी है। चारोंके अलग-अलग दानका विषय बहुत उपयोगी है और उन सबका अपने अपने दान-विषयमें पूरी दिलचस्पी पाई जाती है।'

अध्यापक वीरभद्रजीकी व्याख्या चल ही रही थी, कि इतनेमें घंटा बज गया और वे यह कहते हुए उठ खड़े हुए कि 'दान और दानीके बड़े-छोटेपनके विषयमें आज बहुत कुछ विवेचन दूसरी कक्षामें किया जा चुका है[1] उसे तुम मोहनलाल विद्यार्थीसे मालूम कर लेना, उससे रही-सही कचाई दूर हो कर तुम्हारा इस विषयका ज्ञान और भी परिपुष्ट हो जायगा और तुम एकान्ताऽभिनिवेशके चक्करमें न पड़ सकोगे।' अध्यापकजीको उठते देखकर सब विद्यार्थी खड़े हो गये और बड़े विनीत-भावसे कहने लगे कि 'आज आपने हमारा बहुत बड़ा अज्ञानभाव दूर किया है। अभी तक हम बड़े छोटेके तत्त्वको पूरी तरहसे नहीं समझे थे, लाइनोंद्वारा—सूत्ररूपमें ही कुछ थोड़ा-सा जान पाये थे, अब आपने व्यवहारशास्त्रको सामने रखकर हमें उसके ठीक मार्गपर लगाया है, जिससे अनेक भूलें दूर होंगी और कितनी ही उलझनें सुलझेंगी। इस भारी उपकारके लिये हम आपका आभार किन शब्दोंमें व्यक्त करें यह कुछ भी समझमें नहीं आता। हम आपके आगे सदा नतमस्तक रहेंगे।

वीरसेवामन्दिर कैम्प,
देहली
ता० १५-६-१९४९

जुगलकिशोर मुख्तार

[1] देखो, लेख नं० ३ 'बड़ा दानी कौन' 'अनेकान्त' वर्ष ६, कि० ४।

युक्तिका परिग्रह

(श्रीवासुदेवशरण अग्रवाल)

—※—

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।
यस्य स्याद् युक्तिमद्वाक्यं तस्य कार्यः परिग्रहः॥

श्रीहरिभद्रसूरिका यह वाक्य हमारे नये मानस-जगत्का तोरणवाक्य बनाया जासकता है। 'मुझे महावीरकी बातका पक्षपात नहीं, कपिलके साथ वैर नहीं। जिसके वाक्यमें युक्ति है, उसीका ग्रहण करना मुझे इष्ट है।'

'अनेकान्त' के दसवें वर्षके नव प्रकाशनके समय मेरी हार्दिक अभिलाषा है कि जैन-समाज अपने पूर्वजोंकी हृदयसम्बन्धी उदारताको पूरी तरह अपनावे। यह युग केवल उदार व्यक्तिके लिये है। संकीर्णताको लेकर जीनेवाले समाजका अन्त हो चुका है। अपने धर्म और समाजके विषयमें जानकारी प्राप्त करो और दूसरोंके प्रति सहिष्णुता, सहृदयता, उदारता, समवाय और सम्मानका भाव रक्खो—यही वर्तमान कालके सभ्य सुसंस्कृत व्यक्तिका लक्षण है, यही एक सज्जन नागरिकका आदर्श होना चाहिये।

प्रायः हम कछुवेकी तरह अंगोंको समेटकर संकीर्ण बन जाते हैं। दूसरे धर्मोंकी प्रशंसा सुनकर हमारे मनकी पखुड़ी नहीं खिलती। अपनी स्तुति सुनकर हम हर्षित होते हैं और यही सोचते हैं कि दूसरोंसे हमें अपने धर्मके लिये ही श्लाघाके शब्द मिलते रहें। यह स्थिति अच्छी नहीं। इस समय मनुष्यको बहुश्रुत होनेकी आवश्यक्ता है। जैनधर्म, बौद्धधर्म, हिन्दूधर्म, सभी भारतीय संस्कृतिके अङ्ग हैं। सभी एक मातृभूमिके विचार-तन्तुओंसे रस ग्रहण करके पल्लवित हुए हैं। जैन साहित्यका भंडार अभी हालमें खुलने लगा है। उससे संस्कृतिकी जो अपरिमित सामग्री मिलती है उससे भारतीय इतिहासका ही गौरव बढ़ता है। सच तो यह है कि भारतभूमि अनेक धर्मोंकी धात्री है। विचारोंकी स्वतन्त्रता यहांकी विशेषता है। इस्लाम धर्मके लिये भी भारतकी यही देन है। अन्य देशोंमें राष्ट्रीय संस्कृतिका सर्वापहारी लोप करके इस्लाम फैला, किन्तु भारतभूमिमें उसके नाखूनी पंजे घिस गये और उसने अन्य धर्मोंके साथ मिल-जुलकर रहनेका समझौता किया। इससे उस धर्मका भी कल्याण हुआ और अन्ततोगत्वा भारतभूमिके साथ उसका एक समन्वयात्मक पहलू सामने आया। इसी मानस पृष्ठभूमिमें पिछले कई-सौ वर्षों तक हिन्दूधर्म और इस्लाम संस्कृतिके क्षेत्रमें आगे बढ़ते रहे। दूसरे धर्म तो हिन्दूधर्मके साथ अनायास ही प्रीति-बंधनमें बँध सके। आज भारतकी राष्ट्रीय आत्मा धर्मोंके समन्वयकी ग्राहक है। हमें धर्म और संस्कृतिके प्रति उदासीन होनेकी जरूरत नहीं है। बल्कि धर्मके सदाचारपरायण मार्गसे जीवनका समन्वय और ऐक्य प्राप्त करना आवश्यक है। यही दृष्टिकोण भविष्यके लिये सुरक्षित है। जैन, बौद्ध, हिन्दू, ईसाई और मुसलमान जो अपनेको समन्वय और उदारताके साँचेमें नहीं ढाल सकते उनके लिये यश और जीवनके वरदान अत्यन्त परिमित हैं॥

न्यू देहली, ता० २३-६-१९४९

———

श्री पंडितप्रवर दौलतरामजी
और उनकी साहित्यिक रचनाएँ

[लेखक—पण्डित परमानन्द जैन शास्त्री]

हिन्दी साहित्यके जैन विद्वानोंमें पं० दौलतरामजीका नाम भी उल्लेखनीय है। आप १८ वीं शताब्दीके उत्तरार्ध और १९वीं शताब्दीके प्रारम्भके प्रतिभासम्पन्न विद्वान थे। संस्कृत भाषापर आपका अच्छा अधिकार था। खासकर जैन पुराण ग्रन्थोंके विशिष्ट अभ्यासी और टीकाकार थे। इनके पिताका नाम आनन्दराम था। और यह जयपुर स्टेटके बसवा[1] नामक ग्रामके रहने वाले थे। इनकी जाति खंडेलवाल और गोत्र काशलीवाल था। पंडितजीके मकानके सामने जिन मन्दिर था और आसपास प्रायः जैनियोंका ही निवास था। और वे जिन पूजन, शास्त्रस्वाध्याय, सामायिक तथा तत्त्वचर्चादि धार्मिक कार्योंमें संलग्न रहते थे। परन्तु रामचन्द्र मुमुक्षुके संस्कृत 'पुण्यास्रव कथाकोष'की टीका प्रशस्तिके अनुसार पं० दौलतरामजीको अपनी प्रारम्भिक अवस्थामें जैनधर्मका विशेष परिज्ञान न था और न उस समय उनकी विशेष रुचि ही जैनधर्मके प्रति थी किन्तु उस समय उनका झुकाव मिथ्यात्वकी ओर हो रहा था। इसी बीच उनका कारणवश आगरा जाना हुआ। आगरा में उस समय आध्यात्मिक विद्वान पं० भूधरदासजीकी, जिन्हें पं० दौलतरामजी ने भूधरमल[2] नामसे सम्बोधित किया है अध्यात्मशैलीका प्रचार था। पं० भूधरदासजी आगरामें स्याहगंजमें रहते थे। और श्रावकोचित षट्कर्मोंमें प्रवीण थे। तथा स्याहगंजके मन्दिरमें ही वे शास्त्र

१ बसवा जयपुर स्टेट का एक कस्बा है जो आज भी उसी नामसे प्रसिद्ध है। यह देहली से अहमदाबाद जाने वाली बी० बी० एण्ड सी० आई० आर० रेलवेका स्टेशन है। यहाँ एक बड़ा शास्त्रभण्डार भी है जो देखने योग्य है।

२ इनका अधिक प्रचलित नाम पंडित भूधरदास था, यह १८वीं शताब्दीके प्रतिभा-सम्पन्न कवि थे। इन्होंने सम्वत् १७८१ में जिनशतक और सं० १७८९ में पार्श्वपुराणकी रचना की है। इन दोनों रचनाओंके अतिरिक्त आध्यात्मिक पदसंग्रह भी इन्हींका बनाया हुआ है जो प्रकाशित हो चुका है। ये तीनों ही कृतियां बड़ी सुन्दर और सरल हैं। इनकी कविता भावपूर्ण सरल तथा मनमोहक है। इनके सिवाय 'कलियुगचरित' नामके ग्रन्थका और भी पता चला है जो सं० १७५७ में आलमगीर (औरङ्गजेब) के राज्यमें लिखा गया है। जैसा कि उस पुस्तकके निम्न पद्यों में प्रकट है—

सम्वत सत्तरहसै सत्तावन जेठ मास उजियारा।
तिथि सातम अरुणाम प्रथम ही वारजु मंगलवारा॥

× × × ×

कही कथा भूधर सुकवि आलमगीरके राज।
नगर सुलकपुर पर बसै दया धर्मके काज॥

पर इस समय उस ग्रन्थकी प्रति सामने न होनेसे यह निश्चय करना कठिन है कि उक्त ग्रन्थ इन्हीं पं० भूधरदास की कृति है या अन्य किसी दूसरे भूधरदासकी।

प्रवचन किया करते थे। आध्यात्म ग्रन्थोंकी सरस चर्चामें उन्हें विशेष रस आता था। उस समय आगरेमें साधर्मी भाइयोंकी एक शैली थी जिसे आध्यात्म शैलीके नामसे उल्लेखित किया जाता था। और जो मुमुक्षु जीवोंको तत्त्वचर्चादि सत्कार्योंमें अपना पूरा योग देती थी। यह आध्यात्मशैली वहां विक्रमकी १७वीं शताब्दीमें बराबर चली आरही थी उसीकी वजहसे आगरावासी लोक-हृदयोंमें जैनधर्म का प्रभाव अङ्कित होरहा था। उस समय इस शैली में हेमराज, सदानन्द, अमरपाल, विहारीलाल, फतेचन्द, चतुर्भुज और ऋषभदासके नाम खासतोरसे उल्लेखनीय हैं[1]। उनमें से ऋषभदासजीके उपदेशसे पंडित दौलतरामजीको जैनधर्म की प्रतीति हुई थी और वह मिथ्यात्वसे हटकर सम्यक्त्वरूपमें परिणत हो गई थी। इसीसे पंडित जीने भगवान ऋषभदेवका जयगान करते हुए उनके दासको सुखी होनेकी कामना व्यक्त की है। जैसा कि उनके पुण्यास्रवकथाकोषटीका प्रशस्तिगत निम्न दो पद्योंसे स्पष्ट है:—

ऋषभदास के उपदेशसों हमें भई परतीत।
मिथ्या मतको त्यागके लगी धरमसों प्रीत ॥
ऋषभदेव जयवंत जग सुखी होहु तसुदास।
जिन हमको जिनमत विषै कियौ महा सुखदास ॥

पंडित दौलतरामजीको आगरेमें रामचन्द्र मुमुक्षु के 'पुण्यास्रव कथाकोष' नामके कथा ग्रन्थको सुननेका अवसर मिला था और जिसे सुनकर उन्हें अत्यन्त सुख हुआ, तथा उसकी भाषा टीका बनाई। उक्त कथाकोषकी यह भाषा टीका वि० सं० १७७७ में समाप्त हुई[2]। इसके बाद किसी समय[3] पण्डित दौलतरामजी उदयपुर गए। उदयपुरमें पण्डितजी जयपुरके तत्कालीन राजा सवाई जयसिंह और उनके पुत्र माधवसिंहजीके वकील अथवा मन्त्री थे और उनके संरक्षणका कार्य भी आप ही किया करते थे। उस समय उदयपुरमें राणा जगतसिंह जी का राज्य था, उनकी पण्डितजी पर विशेष कृपादृष्टि रहती थी। और वे उन्हें अपने पास ही मे रखते थे। जैसा कि उनकी सं० १७९८ में रचित 'अध्यात्म बारहखड़ी' की प्रशस्ति के निम्न पद्यों से प्रकट है:—

बसुवा का वासी यहै अनुचर जय को जानि।
मंत्री जयसुत को सही जाति महाजन जानि ॥
जय को राखै राण पै रहे उदयपुर मांहि।
जगतसिंह कृपा करै राखै अपने पांहि ॥

उसके अतिरिक्त सं० १७९५ में रचित 'क्रियाकोष' की प्रशस्तिमें भी वे अपनेको जयसुतका मन्त्री और जयका अनुचर व्यक्त करते हैं[4]। चूंकि राणा

---

१ देखो पुण्यास्रव-टीका-प्रशस्ति।

२—संवत सत्रहसौ विख्यात, ऊपरि और सत्तरि अरु सात।
भादव मास कृष्ण पख जानि तिथि पांचें जानों परवानि ।२८।
रविसुतको पहलो दिन जोय, अरु सुरगुरु के पीछें होय।
वार है शनि लीज्यों सही, ता दिन ग्रन्थ समापत सही ।२९।

३—सन १७२९ (वि० सं० १७८६) से जयपुर नरेश सवाई जयसिंहजी माधोसिंह और उनकी माता चन्द्रकुंवरि को लेकर उदयपुर गये हैं और उनके लिये 'रामपुरा' का परगना दिलाया गया है।—देखो राजपूतानेका इतिहास चतुर्थ खण्ड।

इससे मालूम होता है कि सवाई जयसिंहजीने इसी समय सन १७२९ (वि० सं० १७८६) में पं० दौलतराम-जीको भी उदयपुर रक्खा होगा, इससे पूर्व वे जयपुर या अन्यत्र रहकर राज्य कार्य करते होंगे।

४—"आनन्द सुत जयसुतको मन्त्री,
जयको अनुचर जाहि कहै।"

जगतसिंहजी द्वितीयका राज्य संवत् १७९० से १८०८ तक रहा है। अतः पण्डितजीका सं० १७९८में जगतसिंहजीकी कृपा का उल्लेख करना समुचित ही है। क्योंकि वे वहां सं० १७९४ में पूर्व पहुंच चुके थे।

पण्डितजीने वहां राजकार्योंका विधिवत् संचालन करते हुए जैन ग्रन्थोंका अच्छा अभ्यास किया और अपने दैनिक नैमित्तिक कार्योंके साथ गृहस्थोचित देवपूजा और गुरु उपासनादि षट्कर्मोंका भी भलीभाँति पालन किया। साथ ही वहांके जैनियोंमें धार्मिक संस्कारोंकी दृढ़ता लानेके लिये शास्त्र स्वाध्याय और पठन-पाठनका कार्य भी किया। जिससे उस समय वहांके स्त्री पुरुषोंमें धर्मका खासा प्रचार हो गया था[1]। और वे अपने आवश्यक कर्तव्योंके साथ स्वाध्याय, तत्त्वचिन्तन और सामायिकादि कार्यों का उत्साहके साथ विधिवत् अनुष्ठान करते थे। इसके अतिरिक्त उन्होंने वहां रहते हुए आचार्य वसुनन्दीके उपासकाध्ययन (वसुनन्दीश्रावकाचार) का एक टब्बा टीकाका निर्माण भी किया था जिसे उन्होंने वहांके निवासी सेठ बेलजीके अनुरोधसे पूर्ण किया था[2]।

यह (टब्बा टबा टीका कब बनी, यह ठीक मालूम नहीं हो सका। पर जान पड़ता है कि इसका निर्माण भी सं० १८०८ से पूर्व ही हुआ है, क्योंकि उसके बाद उनका उदयपुर रहना निश्चित नहीं है।

इसके सिवाय ऊपर उल्लिखित उन दोनों ग्रन्थों का भी प्रणयन किया जिनमें 'क्रियाकोष' सं० १७९५ की रचना है और उसमें जैन श्रावकोंकी ५३ क्रियाओंका विस्तृत वर्णन दिया हुआ है। और दूसरा ग्रन्थ 'अध्यात्म बारहखड़ी' है जिसे उन्होंने संवत् १७९८ में समाप्त किया था[3]। इस ग्रन्थकी प्रशस्ति में उस समयके उदयपुर निवासी कितने ही साधर्मी सज्जनोंका नामोल्लेख किया गया है जिससे पण्डित जीके प्रयत्नसे तत्कालीन उदयपुरमें साधर्मी सज्जन गोष्ठी और तत्त्वचर्चादिका अच्छा समागम एवं प्रभाव होगया था। अध्यात्मबारहखड़ी की प्रशस्ति में दियेहुए साधर्मी सज्जनोंके नाम इस प्रकार हैं — पृथ्वीराज, चतुर्भुज, मनोहरदास, हरिदास, बखतावरदास, करणदास और पण्डित चीमा इन सबकी प्रेरणा एवं अनुरोधसे उक्त ग्रन्थकी रचना की गई है जैसाकि ग्रन्थप्रशस्तिगत निम्न पद्योंसे मालूम होता है —

उदियापुर में रुचिधरा केयक जीव सुजीव।
पृथ्वीराज चतुर्भुजा श्रद्धा भरहि अतीव ॥५॥
दास मनोहर अर हरी द्वै बखतावर कर्ण।
केवल केवल रूपको, गावै एकहि सर्ण ॥६॥
चीमा पण्डित आदि ले, मनमें धरिउ विचार।
बारहखड़ी हो भक्तिमय, ज्ञानरूप अविकार ॥७॥
भाषा छन्दनि मांहि जो, अक्षर मात्रा लेय।
प्रभुके नाम बखानिये, समुझे बहु न सुनेय ॥८॥
इह विचार कर सब जना, उर धर प्रभु की भक्ति।
बोले दौलतरामसौं करि सनेह रस व्यक्ति ॥९॥

1—देखो रायमल्लका परिचय वीरवाणी अङ्क २।

2—उदयापुरमें कियो वखान, दौलतराम आनन्द सुत जान।
वांच्यो श्रावक वृत्त विचार, वसुनन्दी गाथा अधिकार ॥
बोले सेठ बेलजी नाम, सुन नृप मन्त्री दौलतराम।
टबा होय जो गाथा तनो, पुण्य उपजै जियको घनो ॥
सुनिकै दौलत बैन सुचैन, मन भरि गायो मारग जैन।
—टबा टीका प्रशस्ति।

3—संवत् सत्रहसौ अट्ठाणव, फागुनमास प्रसिद्धा।
शुक्ल पक्ष दुतिया उजयारा, भायो जगपति सिद्धा ॥३०॥
जबै उत्तराभाद्र नक्षत्रा, शुक्लजोग शुभकारी।
बालव नाम करण तब वरतै, गायो ज्ञान बिहारी ॥३१॥
एक महूरत दिन जब चढ़ियो मीन लगन तब सिद्धा।
भरतिसाल त्रिभुवन राजाको, भेंट करी परसिद्धा ॥३२॥
—अध्यात्म बारहखड़ी

बारहखड़ी करिये भया, भक्ति प्ररूप अरूप।
अध्यातमरसकी भरी, चर्चा रूप सुरूप ॥१०॥

इस तरह पण्डित दौलतरामजीका अधिकाश समय धर्म ध्यानपूर्वक सज्जन गोष्ठीमें या ग्रन्थके अध्ययन, मनन, ग्रन्थ निर्माण या टीकादिकार्यमें व्यतीत होता था। पण्डितजीका हृदय उदार और दयालु था, उनका रहन सहन सादा था, उनकी पवित्र भावना जैनधर्मके अमर तत्त्वोंकी श्रद्धा एवं आस्थासे सराबोर थी। इस तरह राज्यादिकार्योंके नियमित समयसे बचा हुआ शेष समय प्रायः तत्त्वचिंतन और सामायिकादि कार्योंके अनुष्ठानमें व्यतीत होता था। पंडितजीका खास गुण यह था कि वे अपने उत्तरदायित्वका पूरा पूरा ध्यान रखते थे और कार्यको निर्विघ्न सम्पन्न करनेमें अपना पूरा योग देते थे। इसीसे राजकार्यमें उनका महत्त्वपूर्ण स्थान था, और राज्य-कार्यकर्ताओंके साथ मैत्री-सम्बन्ध भी था। उस समय जयपुरके राजकीय क्षेत्रमें अधिकांश जैन ऊँचे ऊँचे पदोंपर प्रतिष्ठित थे और राज्य को सर्वप्रकारसे सम्पन्न बनानेमें अपना सौभाग्य मानते थे। इस तरह उदयपुरमें कार्य करते हुए उन्हें काफी समय हो चुका था, उदयपुरसे वे कब जयपुर आये। इस सम्बन्धमें निश्चय पूर्वक तो कुछ नहीं कहा जा सकता। पर इतना जरूर मालूम होता है कि वे संवत् १८०६ या १८०८ तक ही उदयपुरमें रहे हैं, क्योंकि सवाई जयसिंहके सुपुत्र माधवसिंह जीके बालक हो जानेपर संवत् १८०६ या १८०७ में जयपुर की राजगद्दीके उत्तराधिकारका विवाद छिड़ा तब जयपुर नरेश ईश्वरीसिंहजीको विषपान द्वारा देहोत्सर्ग करना पड़ा था. क्योंकि ईश्वरीसिंहजीमें उस समय इतनी सामर्थ्य नहीं थी कि वे मेवाड़ाधीश राणा जगतसिंहजी और महाराष्ट्र नेता होल्कर के समक्ष विजय प्राप्त कर सकें। अतएव उन्हें मजबूर होकर आत्मघातके कार्यमें प्रवृत्त होना पड़ा।

ईश्वरीसिंहजीके बाद माधवसिंहजीको जयपुर का उत्तराधिकार प्राप्त हुआ। इनके सत्तारूढ़ हो जाने पर सम्भवत. सम्वत् १८०८ या १८०६ में प० दौलतरामजी उदयपुरसे जयपुर आगए होंगे. क्योंकि उनका वहांका कार्यक्रम प्रायः समाप्त हो गया था। और जिनके वे मन्त्री थे वे भी अब जयपुराधीश थे, तब मन्त्रीका उदयपुरमें रहना किसी तरह भी सम्भव प्रतीत नहीं होता। अतः प० दौलतरामजी उदयपुरसे जयपुरमें आकर ही रहने और कार्य करने लगे होंगे। सम्वत् १८२१ की ब्र० रायमल्लजीकी पत्रिकासे ज्ञात होता है कि उस समय उसमें पद्मपुराण की २० हजार श्लोक प्रमाण टीकाके बनजाने की सूचना दी हुई है, इतनी बड़ी टीकाके निर्माण में कमसे कम चार-पांच वर्षका समय लग जाना कुछ अधिक नहीं है। टीकाका शेष भाग बादमें लिखा गया है, और इस तरह वह टीका वि० सम्वत् १८२३ में समाप्त हुई है। यह टीका जयपुरमें ही ब्रह्मचारी रायमल्ल की प्रेरणा एवं अनुरोध से बनाई गई है, उसीमें टीकाकारने ब्रह्मचारी रायमल्लका निम्न शब्दोंमें उल्लेख किया है।

रायमल्ल साधर्मी एक, जाके घटमें स्व-पर-विवेक।
दयावान गुणवन्तसुजान, पर उपगारी परमनिधान॥

इस पद्यसे ब्रह्मचारी रायमल्लके व्यक्तित्वका कितना ही परिचय मिल जाता है और उनकी विवेकशीलता, क्षमा और दया आदि गुणोंका परिचय भी प्राप्त हो जाता है। पं० टोडरमलजीने उन्हें विवेकसे धर्म का साधक बतलाया है[1]। वे विवेकी क्षमावान, बालब्रह्मचारी, दयालु और अहिंसक थे, उनमें मानवता टपकती थी, वे जैनधर्मके श्रद्धानी थे। और उसके पवित्रतम प्रचारकी अभिलाषा उनकी रगरगमें पाई जाती थी और वे शक्तिभर उसके प्रचारका प्रयत्न भी करते थे। प्राचीन जैनग्रन्थोंके

१— रायमल्ल साधर्मी एक, धर्म सधैया सहित विवेक।
सो नाना विध प्रेरक भयो, तब यहु उत्तम कारज थयो॥
—लब्धिसार प्रशस्ति।

उद्धारके साथ उनकी हिन्दी टीकाओंके कराने तथा उन्हें अन्यत्र भिजवानेका प्रयत्न भी करते थे। समयसारादि अध्यात्मग्रन्थोंकी तत्त्वचर्चामें उन्हें बड़ा रस आता था, और वे उसमें आनन्दविभोर हो उठते थे। सं० १८२१ की लिखी एक निमंत्रण पत्रिका में उनकी कर्त्तव्यपरायणता और लगनका सहज ही आभास हो जाता है। वे विद्वानोंको कार्यके लिये स्वयं प्रेरित करते थे और दूसरोंसे भी प्रेरणा दिलवाते थे। उनकी प्रेरणाके फलस्वरूप जो मधुरफल लगे उससे पाठक परिचित ही हैं।

पद्मपुराण टीका—

पुण्यास्रवकथाकोष, क्रियाकोष, अध्यात्म बारह खड़ी और वसुनंदिके उपासकाध्ययनकी टब्बा टीकाके अतिरिक्त पाँच या छह टीका ग्रंथ और है जो उक्त पंडित दौलतरामजीकी मधुर लेखनीके प्रतिफल हैं। आज पंडितजी अपने भौतिक शरीरसे इस भूतल पर नहीं है, परन्तु उनकी अमर कृतियाँ जैनधर्मप्रचार की भावनाओंसे ओत-प्रोत है, उनकी भाषा बड़ी ही सरल तथा मनमोहक है। इन टीका ग्रंथों की भाषा ढूढाहड़ देश की तत्कालीन हिन्दी गद्य है जो ब्रजभाषाके प्रभावसे प्रभावित है, उसमें कितना माधुर्य और कितनी सरलता है यह उनके अनुशीलनसे सहज ही ज्ञात हो जाता है। उन्नीसवीं शताब्दी की उनकी भाषा कितनी परिमार्जित और मुहावरेदार है यह उसके निम्न उदाहरण से स्पष्ट है:—

"हे देव ! हे विज्ञानभूषण ! अत्यंत वृद्ध अवस्थाकरिहीन शक्ति जो मैं सो मेरा कहा अपराध ? मो पर आप क्रोध करो सो मैं क्रोधका पात्र नाहीं, प्रथम अवस्था विषै मेरे भुज हाथीके सुंड समान हुते, उरस्थल प्रबल था अर जांघ गजबन्धन तुल्य हुती, अर शरीर दृढ़ हुता अब कर्मनिके उदयकरि शरीर अत्यंत शिथिल होय गया। पूर्वे ऊँची नीची धरती राजहंस की न्याई उलंघ जाता, मनवांछित स्थान पहुँच जाता। अब अस्थानकसे उठा भी नहीं जाय है। तुम्हारे पिताके प्रसादकरि मैं यह शरीर नानाप्रकार लड़ाया था सो अब कुमित्र की न्याइ दुःख का कारण होय गया, पूर्वे मुझे वैरीनिके विदारने की शक्ति हुती सो अब लाठीके अवलम्बनकरि महाकष्टसे फिरूँ हूं। बलवान पुरुषनिकरि खींचा जो धनुष वा समान वक्र मेरी पीठ हो गई है अर मस्तकके केश अस्थिसमान श्वेत होय गये हैं अर मेरे दांत गिर गये, मानो शरीर का आताप देख न सके। हे राजन ! मेरा समस्त उत्साह विलय गया, ऐसे शरीरकरि कोई दिन जीऊँहूं सो बड़ा आश्चर्य है। जरासे अत्यंत जर्जर मेरा शरीर सांझसमान विनश जायगा। मोहि मेरी कायाकी सुध नाहीं तो और सुध कहां से होय। पके फल समान जो मेरा तन ताहि काल शीघ्र ही भक्षण करेगा, मोहि मृत्यु का ऐसा भय नाहीं जैसा चाकरी चूकने का भय है, अर मेरे आपकी आज्ञा ही का अवलंबन है और अवलम्बन नाहीं, शरीरकी अशक्तिता करि विलंब होय ताकूं कहा करूं। हे नाथ मेरा शरीर जराके अधीन जान कोप मत करो कृपा ही करो, ऐसे वचन खोजेके राजा दशरथ सुनकर वामा हाथ कपोलके लगाय चिन्तावान होय विचारता भया, अहो ! यह जल की बुदबुदा समान असार शरीर क्षणभंगुर है अर यह यौवन बहुत विभ्रमको धरे संध्याके प्रकाश समान अनित्य है अर अज्ञान का कारण है, बिजलीके चमत्कार समान शरीर अर सम्पदा तिनके अर्थ अत्यंत दुःखके साधन कस यह प्राणी करै है, उन्मत्त स्त्रीके कटाक्ष समान चंचल, सर्पके फण समान विषके भरे, महातापके समूहके कारण ये भोग ही जीवनकों ठगै है, ताते महा ठग है, यह विषय विनाशीक, इनमें प्राप्त हुआ जो दुःख सो मूढोंको सुखरूप भासै है, ये मूढ जीव विषयों की अभिलाषा करै है अर इनको मनवांछित विषय दुष्प्राप्य है, विषयोंके सुख देखने मात्र मनोज्ञ है, अर इनके फल अति कटुक है, ये

विषय इन्द्रायणके फल समान है, संसारी जीव इनको चाहैं है सो बड़ा आश्चर्य है, जे उत्तमजन विषयों को विषतुल्य जानकरि तजै हैं अर तप करैं है ते धन्य हैं, अनेक विवेकी जीव पुण्याधिकारी महाउत्साहके धरणहारे जिन शासनके प्रसादसे प्रबोधकों प्राप्त भये है, मैं कब इन विषयों का त्याग कर स्नेह रूप कीचसे निकस निवृत्ति का कारण जिनेन्द्रका मार्ग आचरूंगा। मैं पृथ्वीकी बहुत सुखसे प्रतिपालना करी, अर भोग भी मनवांछित भोगे अर पुत्र भी मेरे महा-पराक्रमी उपजे। अब भी मैं वैराग्यमें विलम्ब करूं तो यह बड़ा विपरीत है, हमारे वंश की यही रीति है कि पुत्र को राज-लक्ष्मी देकर वैराग्यको धारण कर महाधीर तप करनेको वनमें प्रवेश करे। ऐसा चिन्तवन कर राजा भोगनितै उदासचित्त कई एक दिन घरमें रहे।"

—पद्मपुराण टीका पृ० २६५—६

इसमें बतलाया गया है कि राजा दशरथने किसी अत्यंत वृद्ध खोजेके हाथ कोई वस्तु रानी केकईके पास भेजी थी जिसे वह शरीर की अस्थिरतावश देरसे पहुंचा सका, जबकि वही वस्तु अन्य रानियोंके पास पहले पहुंच चुकी थी। अतएव केकई ने राजा दशरथसे शिकायत की, तब राजा दशरथ उस खोजे पर अत्यंत क्रुद्ध हुए, तब उस खोजेने अपने शरीर की जर्जर अवस्थाका जो परिचय दिया है उससे राजा दशरथको भी सांसारिक-भोगोंसे उदासीनता हो गई, इस तरह इन कथा पुराणादि साहित्यके अध्ययनसे आत्मा अपने स्व-रूप की ओर सन्मुख हो जाता है।

ऊपरके उद्धरणसे जहाँ इस ग्रंथकी भाषाका सामान्य परिचय मिलता है वहाँ उसकी मधुरता एवं रोचकताका भी आभास हो जाता है। पंडित दौलतरामजीने पांच छह ग्रंथोंकी टीका बनाई है। पर उन सबमें सबसे पहले पुण्यास्रवकथाकोषकी और सबसे बादमें हरिवंशपुराणकी टीका बनकर समाप्त हुई है अर्थात् सं० १७७७ से लेकर सं० १८२६ तक ५२ वर्ष का अन्तराल इन दोनों टीका ग्रंथोंके मध्य का है।

इस टीका ग्रंथ का मूल नाम 'पद्मचरित' है। उसमें सुप्रसिद्ध पौराणिक राम, लक्ष्मण और सीता के जीवन की झांकी का अनुपम चित्रण किया गया है। इसके कर्ता आचार्य रविषेण है जो विक्रम की आठवीं शताब्दीके द्वितीय चरणमें (वि० सं० ७३३ में) हुए है। यह ग्रंथ अपनी सानीका एक ही है। इस ग्रंथकी यह टीका श्री ब्रह्मचारी रायमल्लके अनुरोधसे संवत् १८२३ में समाप्त हुई है[1]। यह टीका जैनसमाजमें इतनी प्रसिद्ध है कि इसका पठन पाठन प्रायः भारतवर्षके विभिन्न नगरों और गावों में जहाँ जहाँ जैन वस्ती है वहांके चैत्यालयोंमें और अपने घरोंमे होता है। इस ग्रन्थकी लोकप्रियता का इससे बड़ा सुबूत और क्या हो सकता है कि इसकी दश दश प्रतियाँ तक कई शास्त्रभंडारोंमे देखी गई है। सबसे महत्वकी बात तो यह है कि इस टीका को सुनकर तथा पढ़कर अनेक सज्जनों की श्रद्धा जैनधर्ममें सुदृढ़ हुई हैं और अनेकों की चलित श्रद्धा को दृढ़ता भी प्राप्त हुई है। ऐसे कितने ही उदाहरण दिये जा सकते है जिन्होंने इस टीका ग्रन्थके अध्ययनसे अपने को जैनधर्ममें आरूढ़ किया है। उन सबमें स्व० पूज्य बाबा भागीरथजी वर्णी का नाम खासतौरसे उल्लेखनीय है जो अपनी आदर्श त्यागवृत्तिके द्वारा जैनसमाजमें प्रसिद्धि को प्राप्त हो चुके है। आप अपनी बाल्यावस्थामें जैन-धर्मके प्रबल विरोधी थे और उसके अनुयायियों तक को गालियाँ भी देते थे, परन्तु दिल्लीमें जमुना स्नान को रोजाना जाते समय एक जैनसज्जन का मकान जैनमंदिरके समीप ही था, वे प्रतिदिन प्रात.-काल पद्मपुराण का स्वाध्याय किया करते थे। एक दिन आपने उसे खड़े होकर थोड़ी देर सुना और

१ संवत् अष्टादश सतजान, ताऊपर तेईस वखान।
शुक्लपक्ष नौमी शनिवार, माघमास रोहिणी रिखिसार॥

सुनकर बड़ी प्रसन्नता हुई, और विचार किया कि यह तो रामायण की ही कथा है मैं इसे जरूर सुनूंगा और पढ़ने का अभ्यास भी करूंगा, उस दिनसे वे रोजाना उसे सुनने लगे और थोड़ा थोड़ा पढ़ने का अभ्यास भी करने लगे। यह सब कार्य उन्हीं सज्जनके पास किया, अब आपकी रुचि पढ़ने तथा जैनधर्मका परिचय प्राप्त करनेकी हुई और उसे जानकर जैनधर्ममें दीक्षित हो गए। वे कहते थे कि मैंने पद्मपुराणका अपने जीवन में कई बार स्वाध्याय किया है वह बड़ा महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस तरह न मालूम उक्त कथा ग्रन्थ और उसकी इस टीकासे जैनधर्मका प्रभाव तथा लोगोंकी श्रद्धाका कितना संरक्षण एवं स्थिरीकरण हुआ है। इसी तरह पं० दौलतरामजी की अन्य आदिपुराण, हरिवंशपुराणकी टीकाएँ हैं जो कि उसी मधुर एवं प्रांजल भाषा को लिये हुए हैं और जिनके अध्ययन से हृदय गद्‌गद् हो जाता है और श्रद्धासे भर जाता है। इसका प्रधान कारण टीकाकार की आन्तरिक भद्रता, निर्मलता, सुश्रद्धा और निष्काम साहित्य सेवा है। पंडितजीके टीका ग्रन्थोंसे जैनसमाजका बड़ा उपकार हुआ है, और उनसे जैनधर्मके प्रचार में सहायता भी मिली है।

पद्मपुराणकी टीकाके एक वर्षके बाद आदिपुराणकी टीका भी पूर्ण हुई जिसे वे पहलेसे कर रहे थे। इस टीकाके बनानेका अनुरोध करने वालोंमें ब्रह्मचारी रायमल्ल का नाम तो उल्लेखनीय है ही, किन्तु उन्होंने अन्य सज्जनोंसे भी प्रेरणा कराई है। रतनचन्द मेघडिया, पंडित टोडरमलजीके हरिचन्द और गुमानीराय नामके दोनों पुत्रों बालब्रह्मचारी देवीदासजी, जिन्होंने आचार्य नरेन्द्रसेनके सिद्धान्तसार ग्रन्थकी टीका सं० १३३८ में बनाकर समाप्त की है, और जयपुर राज्यके तत्कालीन सुयोग्य दीवान रतनचन्दजी इन सबके अनुरोधसे यह टीका सं० १८२४ में समाप्त हुई है।

पं० टोडरमलजीके असमयमें दिवंगत होजाने से 'पुरुषार्थसिद्ध्युपायकी उनकी अधूरी टीकाको भी आपने उक्त रतनचन्दजी दीवानके अनुरोधसे सं० १८२७ में पूर्ण किया है और इसके बाद हरिवंशपुराण की टीका उक्त रायमल्लजीकी प्रेरणा तथा अन्य साधर्मी भाइयोंके अनुरोधसे सं० १८२९ में राजा पृथ्वीसिंहके राज्यकालमें समाप्त हुई है। इनके सिवाय परमात्म-प्रकाशकी टीका कब बनी यह कुछ मालूम नहीं हो सका। बहुत संभव है कि वह इनसे पूर्व बनी हो। इन टीका ग्रन्थोंके अतिरिक्त श्रीपालचरितकी टीका भी इनकी बनाई हुई बतलाई जाती है परन्तु वह मेरे देखनेमें अब तक नहीं आई, इसीसे यहाँ उस पर कोई विचार नहीं हो सका।

वीर सेवा मन्दिर, सरसावा
ता० १९—६—४८

कवि पद्मसुंदर और दि० श्रावक रायमल्ल

[लेखक—श्री अगरचन्द नाहटा]

—⊱❀:❀:❀⊰—

कवि पद्मसुन्दरका परिचय मैंने अनेकान्तके वर्ष ४ अं० ८ में दिया था। उसके पश्चात् अनेकान्त वर्ष ७ अं० ५-६ में श्रीयुत पं० नाथूरामजी प्रेमी का एक लेख "पं० पद्मसुन्दरके दो ग्रन्थ" शीर्षक प्रकाशित हुआ[1] है। इस लेखमें आपने भविष्यदत्त चरित्र और रायमल्लाभ्युदय ग्रन्थ का परिचय देनेके साथ साथ इन ग्रन्थों का निर्माण जिन उदार चरित्र विद्याप्रेमी दि० श्रावक अग्रवाल—गोइलगोत्रीय चौधरी रायमलके अनुरोधसे हुआ है उनके वंशका भी परिचय, जो कि इन ग्रन्थों की प्रशस्तियोंमें पाया जाता है दिया है। पर प्रेमीजीको प्राप्त भविष्यदत्त चरित्रकी प्रतिका अंतिम पत्र नहीं मिलनेसे उक्त वंशकी प्रशस्ति अधूरी रह गई थी। कुछ दिन हुए मुझे तीर्थयात्राके प्रवासमें पालणपुरके श्वेताम्बर जैनभंडारके अवलोकन का सुअवसर प्राप्त हुआ था। वहाँ पद्मसुन्दरकी पार्श्वनाथ चरित्र[2] की प्रति उपलब्ध हुई थी, जिसके अंतमें भी वही प्रशस्ति पूर्ण प्राप्त हुई है। अतः इस लेखमें उसे प्रकाशित किया जारहा है। प्रेमीजी द्वारा प्रकाशित प्रशस्तिमें भट्टारक परम्पराके कुछ नाम छूट गए हैं एवं कहीं २ पाठ भी अशुद्ध छपा है। उसका भी इस प्रशस्तिसे संशोधन हो जाता है एवं पार्श्वनाथचरित्रका रचना काल भी जो अभी तक अज्ञात था, निश्चित हो जाता है। लेखन प्रशस्तिसे एक और भी महत्वपूर्ण बातका पता चलता है वह यह है कि प्रेमीजीका प्रकाशित पुष्पिका लेख सं० १६१५ के फाल्गुन सुदी ७ बुधवारका है उसमें रायमल्लके ३ पुत्रोंका उल्लेख है और यह प्रशस्ति सं० १६१७ के चैत्र वदी १०की लिखित है उसमें आपके ५ पुत्रोंका उल्लेख है अर्थात् इन २ वर्षोंमें उनके २ और पुत्र भी हो चुके थे। इन पुत्रोंमें से प्रथम पुत्रकी पत्नीका ही इसमें उल्लेख है अतः अन्य पुत्र अवस्थामें छोटे थे, जान पड़ता है। प्राप्त पुष्पिका लेखके अनुसार भट्टारक परंपरा एवं रायमल्लकी वंशपरम्पराकी तालिका इस प्रकार ज्ञात होती है।

काष्ठा संघ, माथुरान्वय पुष्करगण

भट्टारक—उद्धरसेन

|

देवसेन

| |

विमलसेन — यशःकीर्ति

धर्मसेन — मलयकीर्ति

भावसेन — गुणभद्रसूरि

सहस्रकीर्ति — भानुकीर्ति

गुणकीर्ति — कुमारसेन

|

१—प्रस्तुत लेखमें आपने पद्मसुन्दरजीके दि० पांडे होनेकी कल्पना की थी पर यह लिखते समय उन्हे मेरा लेख स्मरण नहीं रहा इसीलिये की थी। जब मैंने आपको आपने लेख पढ़ने को सूचित किया तो उत्तरमें आपने उसका संशोधन कर लिया।

२—इसका रचना काल अभीतक निश्चित नहीं था, विन्टर नीजने Indian Literature V. II. P. ५१६ में इसका समय १६२२ लिखा था पर मुझे इसकी १६१६ की लिखित प्रति उपलब्ध होनेसे मैंने इसका उल्लेख अपने पूर्व लेखमें किया था पर पालणपुरकी प्रतिसे वह सं० १६१५ निश्चित हो जाता है।

चौधरी रायमल्लकी वंश परम्परा—
अग्रोतान्वय-गोयलगोत्र
चौधरी छाजू
|
१ हाल्हा २ वूढगु ३ नरपालु ४ नरसिंघु ५ भोजा
(पत्नी मदनाही)
|
१ नानू २ कृतिचन्द ३ महणपालु
(पत्नी ओदरही) (पत्नी गाल्हाही २ रामाही)
| १ सुखमलु २ पहाड़मलु ३ जममलु
| (पत्नी पोखणही)

१ रायमल्ल भवानीदास
| (पत्नी माणिकही)
(पत्नी १ ऊधाही २ मीनाही)
|
१ अमीचन्द २ उदैसिंघु ३ मालिवाहणु ४ धमदास ५ अनन्तदास
(जेठमलही)

मेरे पूर्व लेखके पश्चात् पद्मसुन्दरजीका 'अकबर शाहि शृङ्गार दर्पण' ग्रन्थ बीकानेर राजकी गंगा ओरिएन्टल सीरीजमें प्रकाशित हो चुका है उसमें आयेहुए वर्णनके अनुसार इस ग्रन्थका रचना काल प्रायः सं० १६१७ (अर्थात् अकबरके राज्यारोहणके समयके लगभगका ही) निश्चित होता है एवं मेरे विद्वान मित्र मि० डा० दशरथ शर्माने ग्रन्थकी लेखन प्रशस्तिके निम्नोक्त श्लोक द्वारा पद्मसुन्दरसे अकबरका सम्बन्ध परम्परागत[1] सिद्ध किया है अर्थात् अकबरका जैनधर्म के प्रति आकर्षण उसकी बाल्यावस्था में ही सिद्ध होता है; क्योंकि पद्मसुन्दरके प्रगुरुकासम्बन्ध बाबर और हुमायुं के साथ पहले से चला आ रहा था। वह श्लोक इस प्रकार है:—

"मालो बाबर भूभुजोऽत्रजयराट् तद्वत् हुमाऊं नृपो-ऽत्यर्थं प्रीतमनाः सुमान्यमकरोदानन्दरामाभिधं
तद्वत् साहि शिरोमणीकबरक्ष्मापालचूडामणे-र्मान्याः पंडितपद्मसुन्दर इहाभूत् पंडित वातजित् ।२।

कवि पद्मसुन्दरका अकबरसे कितना परम्परागत एवं घनिष्ठ सम्बन्ध था कवि ऋषभदास हीरविजय सूरिरासमें आपके सम्बन्धमें अकबरके मुंहसे निम्नोक्त परिचय (हीरविजयसूरिजी) को दिलवाताहै—

कहि अकबर मा सयमां हेतो, पदमसुन्दर तसुनाम ।
सार ध्वजा धरतोपोसारमें, पंडित अति अभिराम ।
ज्योतिष वैद्यक मां ते पूरो, सिद्धान्तीपरमाण ।
अनेक ग्रन्थ तेणि पोते कीधा, जीती नहीं को जाण ।
काल्हि ते पंडित पण गृदयों, अकबर कहि दुख थाइ ।
कथाकरि न चले कछु हमका, एतो बात खुदाइ ।

अर्थात् पद्मसुन्दरके स्वर्गवाससे अकबरको बड़ा दुःख हुआ था और पद्मसुन्दरजी ज्योतिष वैद्यक एवं सिद्धान्तके पूरे पण्डित थे उन्होंने अनेकों ग्रन्थ बनाये और ४ ध्वजायें उनके आश्रमपर विद्वत्ता सूचक फहराती थीं।

[1] आपके कथनानुसार तो अकबरके उदारता, दया, सर्वधर्म समभाव आदिकर गुणोंके विकाशमें इस जैन-विद्वान्का परम्परागत सम्बन्ध भी कारण हो सकता है।

आपकी विद्वत्ताका पता तो रायमल्लके लिये रचित उपर्युक्त ग्रन्थसे भी लगता है आपके कितने अच्छे एवं आशु कवि थे यह भी इनके रचनाकालके निर्देशसे ही सिद्ध होता है। सं० १६१४ के कातिक सुदी ५ को आपने 'भविष्दत्तकथा' की रचना की और सं० १६१५ के जेठ सुदी ५ को रायमल्लाभ्युदय ग्रन्थ बना डाला और कुछ महीनोंमें ही सं० १६१५ के मार्ग शीर्ष शुक्ला १४ को पार्श्वनाथकालन भी रचा गया अर्थात् १ वर्ष भी पूरा नहीं हो पाया कि आपने ३ ग्रन्थों की रचना कर डाली। आपके अन्य ग्रन्थों का उल्लेख मैं अपने पूर्व लेखमें कर चुका हूँ, उसके पश्चात् "राजप्रश्नीय नाट्य पदभंजिका" नामक एक और ग्रन्थ बीकानेर स्टेटकी अनूप-संस्कृत लायब्रे रीमें उपलब्ध हुआ है।

सम्राट अकबरसे इतना गहरा सम्बन्ध होने पर भी उसकी विद्वत् सभाके सभासदोंकी सूचीमें आपका नाम न होना अखर रहा है पर मेरे विद्वान मित्र, डा० दशरथशर्माने आइनेअकबरीमें दीगर सूचीको ध्यानसे पढ़कर इस शंकाका भी निवारण कर दिया है उनके कथनानुसार आइनेअकबरी आइन ३० में (Blockman P. 537-547) १४० विद्वान् सभासदोंकी सूची दीगई है उसमें ३३ हिन्दू थे। उनमे ५ विभाग थे जिनमेंसे प्रथम विभागमें "परमिन्दर" नाम आ जाता है यह उर्दू लिपिकी विचित्रताके कारण पद्मसुन्दरका बिगड़ा हुआ नाम ही प्रतीत होता है।

जैनइतिहासके लिये यह महत्वपूर्ण बात है कि सम्राट अकबरके पिता और प्रपिता हुमायुं एवं बाबरसे भी पद्मसुन्दरजीके प्रगुरू आनंदराम सन्मानित थे एवं आइनेअकबरीमें पद्मसुन्दरजीका नाम प्रथमश्रेणीके विद्वानोंमें पाया जाता है।

पद्मसुन्दरजीका चौधरी रायमल्लजीसे जो धर्म प्रेम पाया जाता है वह भी हमारे लिये अनुकरणीय आदर्श है। दि० विद्वानके साथ श्वेताम्बर श्रावककी एवं श्वेताम्बर विद्वान्‌के साथ दि० श्रावक की आदर भावनाका सुन्दर आदर्श हमें राजमल्लके छंदोविद्या पद्मसुन्दरजीके ग्रन्थ त्रय उपस्थित करते हैं। आज तो इस आदर्शको अपनानेकी बड़ी भारी आवश्यकता है।

अब पार्श्वनाथचरित्रकी रचना एवं लेखनकी प्रशस्ति दीजाती है। इसकी नकल पालणपुर भंडारसे करके भेजने की कृपा पूज्य बुद्धि मुनिजी महाराजने की है एतदर्थ मैं आपका आभारी हूँ।

पार्श्वनाथ चरित्र

आदि—विशुद्ध सिद्धांत मनंतदर्शनं,
स्फुरच्चिदानंद महोदयोदितम्।
विनिद्रचंद्रोज्ज्वलकेवलप्रभं,
प्रणौमि चंद्रप्रभतीर्थनायकम् ॥१॥

नमत्सुरकिरीटज्योतिरुद्यतेतिसांहिः
स्फुरत्वगममग्नानंतसंवित्तिलक्ष्मीः।
मन इव शुचिदेहं देहवन्सानसंस्ता-
त्सकलसुखविभूत्यै चारुचंद्रप्रभोऽयम् ॥२॥

उग्राग्रोतकवंशजः शुचिमतिस्तत्वार्थविद्यापटु-
र्यस्याभिन्नमनल्लिकाभिरनिशं गोष्ठी स्फुटं रोचते
मान्यो राजसभासु सज्जनसभाशंगारहारो भुवि,
श्री जैनेंद्रपदद्वयार्थनिरतः श्रीरायमल्लोऽभवत ॥३॥

तेनाभ्यर्थनयाऽतिथि सविनयं तेजाः पुरः स्थः सतां,
मान्यः संसदि पद्मसुन्दरकवि षट्तर्कसक्रांतधीः
काव्यं श्रीश्रुतपंचमीफलकथा संदर्भगर्भं मम,
श्रव्यर्थं क्रियतां सुकोमलमतस्तद्वे दमारभ्यते ॥४॥

अंत—आनंदोह्वय पर्वतैकतरणे रानंदमेरोर्गुरोः,
शिष्यः पंडित मौलिमणिः श्रीपद्ममेरुर्गुरुः। (?)
तच्छिष्योत्तमपद्मसुन्दर कविः श्रीपार्श्वनाथाह्वयं,
काव्यंनव्यमिदं चकार सरसालंकार संदर्भितम ॥
वंशेऽग्रोतकनाम्निगोइलमहागोत्रे पवित्रीकृतो,
विख्यातो नरसिंहसाधुरभवत्सिंहो नराणामिव।
श्रद्धालुर्जिनपादपंकजरतो राज्ञां सदस्सुस्तुतो,
दाताज्ञातृशिरोमणिः सुकृतिनामग्रेसरः सम्मतः ॥५॥

तदीयपुत्रौ नयशीलशालिनौ,
सुधार्मिकौ ख्यात गुणौ बभूवतः ।
जिनेंद्रगुर्वागमभक्तिबन्धुरौ,
क्रमेण नानु सहणू समाह्वयौ ॥६६॥

तयोस्तु नान्वाग्व्य इति स्फुटौजसा,
दिगंतविश्रान्तयशाः स्फुरद्गुणः ।
वदान्यमान्यो जिनपादपंकज-
द्वयार्चनैकप्रवणो बभूव सः ॥६७॥

तदंजोऽन्नूनृपसंसदिस्तुतः,
शशांक कुन्दद्युतिकीर्त्तिभासुरः ।
प्रसिद्धनामा जिनभक्तिनिर्भरो,
बभार पात्रेष्वतिदानशौंडताम् ॥६८॥

विशुद्धसिद्धान्तसुधारसायने,
सुनव्यकाव्ये रसिको महानभूत ।
जिनेशगुर्वागमपूज्यपूजकः,
स रायमल्लो विनयेन ये पटु ॥६९॥

अकारयद्यः सबलार्हतां स्फुर-
बरिद्रूधं नवकाव्यमादितः ।
इदं च सालंकृतिसूक्तिसूचितं,
स पार्श्वनाथाह्वयकाव्यमादिराः ॥७०॥

यदर्जितं वित्तमिहासपात्रसा-
यदीयचित्तं किल धर्मतत्त्वमान ।
वचो यदीयं स्फुटमास सत्यमन,
स रायमल्लो भुविनन्दताच्चिरम् ॥७१॥

महोदरस्तस्य वांमुबभावनस्तत,
कनीयान विनयेन बन्धुरः ।
अनन्यसमान्यगुणः स्फुरतरः
प्रकृष्टसौहार्दनिधिः सतां मत ॥७२॥

तथाह्वमीचन्द्रसुतेन साधुना
स रायमल्लो जयताच्चिरंकृत ।
तुजोदयाख्येन च सालिवाहना-
ङ्गजेन सानन्तसुतेन सन्ततम् ॥७३॥

अब्दे विक्रमराज्यतः शर[५]
कला[१] भूत्तर्क[६] भू[१] समिते,
मार्गे मास्यसिते चतुर्दशदिने
मत्सौम्य वाराङ्किते ।
काव्यं कारितवानतीव सरसं
श्री पार्श्वनाथाह्वयम्,
सोऽयं नन्दतु नन्दनैः परिवृतः
श्रीरायमल्लः सदा ॥७४॥

इति श्रीमत्परमेष्ठिपदारविन्द
मकरन्दसुन्दररसास्वाद-
सन्तर्पित भव्यभव्ये पं० श्रीपद्ममेरु
विनय पं० श्रीपद्म-
सुन्दर विरचिते साधुनान्वात्मज
साधु श्रीरायमल्ल समभ्यर्थिते
श्रीपार्श्वनाथ महाकाव्ये श्रीपार्श्व
निर्वाणमङ्गलं नाम सप्तमस्सर्गः ॥७५॥

नियद्भूणाय, सकलकर्मकलङ्कपङ्क
मानन्दसुन्दरसुदारमनन्तसौख्यम् ।
निर्वाणमाप भगवान स च पार्श्वनाथः
श्रीरायमल्लभविकस्य शिवाय भूयात ॥७६॥ आशीर्वादः ॥

लेखक प्रशस्ति

संवत् १६१५ वर्षे चैत वदी १० मी अकबरराज्ये प्रवर्त्तमाने श्रीकाष्ठासङ्घे माथुरान्वये पुष्करगणे उभय-भाषाप्रवीणतपनिधिः भट्टारक श्रीउद्धरसेनदेवाः, तत्पट्टे सिद्धान्तजलसमुद्रविवेककलाकमलिनीवि-कासनैकदिनमणिः भट्टारक श्रीदेवसेनदेवाः, कवि-त्वविद्याप्रधान भट्टारक श्रीविमलसेनदेवाः, तत्पट्टे भट्टारक श्रीधर्मसेनदेवाः, तत्पट्टे भट्टारक श्रीभावसेनदेवाः, तत्पट्टे भट्टारक श्रीसहस्रकीर्त्तिदेवाः, तत्पट्टे भट्टारक श्री-गुणकीर्त्तिदेवाः, तत्पट्टे भट्टारक श्रीयशःकीर्त्तिदेवाः, तत्पट्टे दयाद्रिचूडामणि भट्टारक श्रीमलयकीर्त्तिदेवा, तत्पट्टे वादीभकुंभस्थलविदारनैक केसरी भव्याम्बुज विकासनैकमार्तण्डद्रु गमपञ्चमहाव्रतधारणैकप्रचण्डः चारु चारित्रोद्वहन धुराधीरः तपसा निर्जितैकवीरः भट्टारकः श्रीगुणभद्रसूरिदेवाः, तत्पट्टे भट्टारक श्री-

भानुकीर्त्तिदेवाः, तत् शिष्य मण्डलाचार्य श्रीकुमारसेनदेवाः, तदाम्नाये अग्रोतकान्वये गोइलगोत्रे स्वदेश-परदेश विख्यातमानु चौधरीछाजू तयोः पुत्र (ाः) पंच मेरुवत्पंच ५, प्रथम पुत्र अनेकदानदाइकु चौधरीहाल्हा १, द्वितीयपुत्र चौधरी बूल्हु २, तृतीयपुत्र चौधरी नरपाल ३, चतुर्थपुत्र चौधरी नरसिंघ, पंचमपुत्र चौधरी भोजा ५ चौधरी नरसिंह भार्या शीलतोयतरंगिणी साध्वी मदनाही, तयोः पुत्रत्रयं, तत्र प्रथम पुत्र चौधरी नानू भार्या साध्वी श्रोल्हाही, तयो पुत्रद्वौ, प्रथम पुत्र चौधरी अनेक दान दाइकु चौधरी रायमल्ल तस्य भार्या साध्वीद्वौ, प्रथमभार्या साध्वी ऊधाही, दुतीय भार्या साध्वी मीनाही, तयोः पुत्र पंच, प्रथम पुत्र चिरंजीवी अमीचंदु, तस्य भार्या साध्वी जेटमलही, चौधरी रायमल दुतीय पुत्र चिरंजीवी उदैसिन्धु, तृतीय पुत्र चिरंजीवी मालिवाहणु, चतुर्थ पुत्र चिरंजीवी धर्मदास, पंचम पुत्रचिरंजीवी अनन्तदास। चौधरी नानू दुतीय पुत्र चौधरीभवानीदास, तस्य भार्या साध्वी माणिकही। चौधरीनरसिंघ दुतीय पुत्र चौधरी कुलिचंदु। चौधरी नरसिंघ तृतीयःपुत्र चौधरी सहणपालु, तस्य भार्याद्वौ, प्रथम भार्या साध्वी गाल्हाही, दुतीय भार्या साध्वीसमाही, पुत्र त्रयं, प्रथम पुत्र चि. सुषमलु, तस्य भार्या साध्वी पोल्हणाही, दुतीय पुत्र चि० पहाड़मलु, तृतीय पुत्र चि० जसमलु। एतेषां मध्ये साधु नानूसुत चौधरी रायमलु, तेन इदं पार्श्वनाथमहाकाव्यं कारितमिति संकोडीकरचरणं, उग्गगीवा अहोमुहादिट्ठी। जं सुहप्पवेलेहो, तं सुहपावेउय तुम्ह दुज्जणऊ? ॥१॥

समाप्तमिति। शुभंभवतु।

किसके विषयमें मैं क्या जानता हूँ ?

[ले०श्री ला० जुगलकिशोरजी कागजी]

१. मैं पंचपरमेष्ठीके विषयमें क्या जानता हूँ ?

श्रीअरहंत सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा सर्वसाधु ये पंच परमेष्ठी हैं। ये पांचों ही परम इष्ट हैं। ये अज्ञानरूपी परिणतिको रोककर कर्मबंधनसे मुक्त होगए हैं तथा हो रहे हैं। पूर्णसुखी होगए है तथा पूर्णसुखी होनेके सन्मुख हैं। ये पांचों ही प्रत्येक प्राणीको सुख प्राप्त करनेके लिये एक आदर्श-मार्ग दर्शानेवाले हैं। इनकी यथार्थ प्रवृत्ति होनेके कारण स्मरण, वन्दन, पूजन और दर्शन सभी प्राणियोंके लिये यथाथ प्रवृत्तिकी ओर ही आचरण कराता है। यथार्थ प्रवृत्तिही सत्य है, सुख है। अतएव ये संसारके बंधनों व दुःखोंसे भयभीत होकर यथार्थकी प्रवृत्तिमे स्वयं लगे हैं और अन्यको भी अपनी शान्तमुद्राद्वारा उसी मार्गका साक्षात् संकेत कर रहे है। इसी कारण दुःखोंसे बचनेका एक मात्र उपाय पंचपरमेष्ठीका ही अनुकरण है। उन्हींका दर्शन व ध्यान सुलभ है, साध्य है, इष्ट है, कर्मबन्धनसे रोकनेवाला है। अरहंत व सिद्ध भगवान पूर्ण रीतिसे अपने विषयमे सब कुछ जानते हैं और परके विषयमें भी सब कुछ जानते हैं। इसी कारण पूर्ण सुखी हैं। उनके सुखका कभी विनाश नहीं होगा।

२. मैं अपने विषयमें क्या जानता हूँ ?

मैं हूं। मैं जीवित हूँ। मैं जीवित ही रहूँगा। मेरा सम्बन्ध इस शरीरसे कुछ समय पर्यन्त ही

रहेगा। जबसे मैंने इस वर्तमान सम्बन्धी शरीरसे संयोग किया है। बाल-कालको छोड़कर बाकी समयके भीतर जो कुछ मैंने कर्म किये हैं वह सब मैं जानता हूँ। जो दुःख मैंने भोगे है उन्हें भी जानता हूँ। जिन्होंने मेरे साथ भलाई की है उस भलाईको भी जानता हूँ। जिन्होंने मेरे साथ बुराई की है उसको भी मैं जानता हूँ। जिसके साथ मैंने बुराई की है उस बुराईको भी मैं जानता हूँ। जिसके साथ मैंने भलाई की है उसको भी मैं जानता हूँ। अपने योग्य विषयके भीतर अपनेको मैं भली-भाँति जानता हूँ। अपने विषयके ग्रहण करनेमें मैं अपनेको पूर्ण सम्पन्न देखता हूँ। मैं ज्ञानी हूँ, ज्ञानवान हूँ, अपना तथा अपने ज्ञानका विनाश कभी नहीं चाहता। सदा सुख ही चाहता हूँ। पापोंके फलको भोगनेसे डरता हूँ, पुण्यके फलको भोगनेमें नहीं डरता। इससे प्रतीत होता है कि मेरा स्वभाव सुख ही है। मैं जानता हूँ कि वास्तवमें मेरा स्वभाव सुख ही है। वह सुख मेरे ही अन्दर है, मेरी ही सम्पत्ति है। मैं ही उसका स्वामी हूँ, मैं ही उसकी खोज कर सकता हूँ, मैं ही उसका कर्ता हूँ और मैं ही उसका भोगता हूँ। जिस समय मुझे दुःख भोगने पड़ते हैं उस समय मैं उलझनमें पड़जाता हूँ। यदि वह दुःख किसी चैतन्यके निमित्तसे प्रतिभासित होजाता है तब तो क्रोध उपस्थित होकर उससे वैर व बदला लेनेका निश्चय-सा कर लेता हूँ। और यदि वह दुःख स्वयं शारीरिक विकारके अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल भावके निमित्तसे होता हुआ जान पड़ता है तब अपने कर्मोंके दोषोंको ही कारण जानकर क्षमा-प्रार्थी होजाता हूँ। एक दशामें तो क्रोध और दूसरीमें क्षमा कितना भारी अन्तर है। दुःख एक है, कार्य-कारणके वशसे दशा दो हो जाती हैं। यह मैं भली-भाँति जानता हूँ। अपने विषयमे अपनी क्रूरताको या अपने सौन्दर्यको जितना मैं जानता हूँ अन्य नहीं जानता। इसीलिये मैं अपने विषयमें ज्ञानी हूँ, परन्तु अन्यके विषयमें अज्ञानी।

३. मैं अपने और पंच परमेष्ठीसे भिन्न अन्य पदार्थोंके विषयमें क्या जानता हूं ?

अपने विषयमें जितना मुझे निश्चय है उतना ही अन्यके विषयमें अनिश्चय है, धोखा है। जितनी सुध-बुध अपने विषयमें करनेमें मैं स्वतंत्र हूँ उतना ही अन्यकी सुध-बुध रखनेमें परतंत्र हूं। मेरी जितनी भी प्रवृत्तियाँ अन्यमें और अन्य विषयोंकी जानकारीमें बढ़ती जारही हैं उतना ही भय, चिन्ता, उसकी रक्षाका भार और स्वार्थ अधिकाधिक होता जारहा है। जितना-जितना अन्यको मैं अपनाता जारहा हूँ उतना-उतना घमंड बढ़ता जाता है। स्वाभिमानको अभिमानके भारसे दबाता जाता हूँ। यहाँ तक कि अभिमानको ही स्वाभिमान समझ बैठा हूँ। ऐसा प्रतीत होता है कि बिना अभिमानकी सामग्रीके मेरे जीवनका कुछ भी मूल्य नहीं है। और उसके मदमें उन्मत्त होकर महान्से महान् पापोंमें भी फंस कर महान शारीरिक व मानसिक दुःखोंको निरन्तर भोगकर भी दुःखोंको भूल रहा हूँ। दुःखोंकी प्राप्तिके साधनोंमें ऐसा मग्न होकर मिथ्या आनन्दकी लहरोंमें बहा चला जारहा हूँ। अपनी बेहाल अवस्थाको ही अपना हाल, अपना गुण, अपना कर्तव्य निश्चत किये जाता हूं। अपनेको पराया और परायेको अपना दोनोंका मेल ही दुःखोंसे रक्षाका उपाय मानकर संलग्न होरहा हूँ। इस प्रकार सुखोंके साधन मिलाते-मिलाते भी न मालूम यह दुःखोंके व क्रोधके बादल क्यों छाये रहते हैं। यहाँ ज्ञान असमर्थ हो कर इस प्रकार दुःखोंके विषयमें जानकारी करनेमें व उन दुःखोंसे बचनेके उपायोंको जाननेमें असमर्थ होरहा हूँ, अज्ञानी होरहा हूँ। अंशमात्र भी नहीं जान रहा हूं, जिन विषयोंमें आनन्द मनाता हूँ वही विषयभोगके बाद दुःख क्यों बन जाते हैं ? जिस

विषयके भोगके लिये मैं व्याकुल होरहा था मेरी लालसा निरन्तर मुझे बेचैन कर रही थी उस विषयको भोगनेके बाद भी मुझे तृप्ति क्यों नहीं होती ? मेरी लालसा अधिकाधिक क्यों बढ़ती रहती है ? इच्छानुकूल भोग न मिले तो भी मैं दुःखी और भोगनेके पश्चात् भी पुनः भोगकी इच्छासे दुःखी ? केवल भोगते समय सुखी। अतः ज्ञात होता है कि मैं बहुत थोड़ा काल तो सुखी और अधिक काल दुःखी रहता हूँ। क्या यही सुख है ? क्या मेरे ज्ञानका इतना ही कर्तव्य है ? इच्छानुकूल भोग प्राप्त हों या न हों इतना भी मेरे ज्ञानको इस समय निश्चय नहीं है। सुखके निमित्त स्त्री-पुत्र-पैसा आदिक मिलकर कब बिगड़ जायें इतना भी पता नहीं। यह प्यारा शरीर जिसकी रक्षाके सैकड़ों उपाय करते हुए भी यह कब अपना नाता तोड़कर घोर-से-घोर संसाररूपी भंवरमे धक्का देकर विछुड़ जाय, यह भी मेरा ज्ञान नहीं जानता फिर ज्ञान अन्यके विषयमें जानता ही क्या है और जाननेकी चेष्टा ही क्यों करता है ? आज तक जाना ही क्या है और क्या जाननेकी इच्छा है और इससे क्या लाभ है यह सब प्रत्येक मनुष्य स्वयं विचार कर सकता है। स्वयं ज्ञानी होकर फिर क्यों अज्ञान दशामें पड़कर वृथा ही काल गँवा रहा है। जिस विषयपर अपना अधिकार नहीं उस विषयमें प्रवृत्ति करना क्या भूल नहीं, भूल क्या पाप नहीं, पाप क्या दुःख नहीं, दुःख क्या असमर्थता नहीं, असमर्थता क्या चिन्ता नहीं, चिन्ता क्या भय नहीं। तात्पर्य यह कि पदार्थके यथार्थ स्वरूपका भली-भांति मनन करके उसके सत्य-स्वरूपकी पहिचान ही वास्तविक ज्ञान है। वस्तुओंके विषयमें स्वयं फँस जाना ज्ञान नहीं, अज्ञान है, दुःख है। अतः अपनेसे भिन्न या अपने सदृशमे भिन्न वस्तुओंमें अपनेको अज्ञानी समझकर उनसे दूर रहना अथवा मौन (निर्विकल्प) रहना ही मानों संसारके भयंकर अन्धकार व दुःखोंसे स्वयंकी रक्षा करना है। ज्ञानी व अज्ञानीका भेद भेद ही सुख व दुःख बन रहा है, अन्य और कुछ नहीं।

कल्पसूत्रकी एक प्राचीन लेखक-प्रशस्ति

[निम्नलिखित प्रशस्ति एक स्वर्णाक्षरी कल्पसूत्र पुस्तकके अन्तमें लिखी गयी थी। यह ग्रन्थ संवत १५१६ अथवा १४५६ ई० में लिखा गया था। इस समय कल्पसूत्र की यह पूर्ण पुस्तक अप्राप्त है। केवल दोनों ओर लिखे हुए तीन पत्र बचे है, जिनपर ५ से ३१ तकके श्लोक लिखे हैं। इसीके साथ वैसे ही सुनहरे अक्षरोंमें लिखी हुई कालकाचार्य-कथानककी प्रति भी थी। इसके अन्तमें "इति श्रीकालकाचार्यकथा" लिखा हुआ है। यह प्रति भी कल्पसूत्रके समकालीन थी। ऐतिहासिक दृष्टिसे महत्वपूर्ण होनेके कारण मूल प्रशस्ति प्रकाशित की जाती है। —वासुदेवशरण अग्रवाल]

हो गुच्छ इवाधिशीलः ॥४॥
ततोऽपि जातो वरदेवनाम्ना
पवित्रचारित्रसुदीप्तधाम्ना
जगज्जनीनो जिनदेवनामा
बभूव तस्यानुगतिं दधानः ॥५॥

तत्पुत्रमायंद इति प्रसिद्ध-
स्तदङ्गजो आजड इत्युदीर्णः
सुलक्षणो लक्षणयुक् क्रमेण,
गुणालयौ गोसलदेसलौ च ॥६॥
श्रीदेमलाद् देसल एव वंशः

ख्याति प्रपन्नो जगतीतलेऽस्मिन्
शत्रुञ्जये तीर्थवरे विभाति
यन्नामतस्त्वादिकृतो विहारः ॥७॥
तत्सूनवः साधुगुणौरुपेता-
स्त्रयोऽपि सद्धर्मपरा बभूवुः
तेष्वादिमः श्रीसहजो विवेकी
कर्पूरधारा विरुदप्रसिद्धः ॥८॥
तदंगभूर्भावविभूषितान्तः
सारङ्गसाधुः प्रथितप्रतापः
आजन्म यस्याऽभवदात्तशोभः
सुवर्णधारा विरुदप्रवाहः ॥९॥
श्रीसाहणः साहिनृपाधिपानां
सदाऽपि सन्मानपदं बभूव
देवालयं देवगिरौ जिनाना-
मकारयद् यो गिरिशृङ्गतुङ्गम् ॥१०॥
बन्धुस्तृतीयो जगतीजनेन
सुगीतकीर्त्तिः समर सुचेताः
शत्रुञ्जयोद्धारविधिं विधाय
जगाम कीर्त्तिं भरताधिकां य ॥११॥
य पाण्डुदेशाधिपमोचनेन
गत· परां ख्यातिमतीव शुद्धाम्
महम्मदे योगिनिपीठनाथे
तत्प्रौढताया. किमु वर्णनं स्यात् ॥१२॥
सुरत्नकुक्षिः समरश्रियः सा
यदुद्भवाः षडतनुजा जगत्याम्
साल्हाभिधः श्रीसहितो हितज्ञ-
स्तेष्वादिमोऽपि प्रथितोऽद्वितीय ॥१३॥
देवालयैर्देवगुरुप्रयोगाद्
द्विबाणसंख्यैर्महिमानमाप
सत्याभिधः सिद्धगिरौ सुयात्रां
विधाय सङ्घाधिपतेर्द्वितीयः ॥१४॥
यो योगिनीपीठनृपस्य मान्यः
स डुंगरस्त्यागधनस्तृतीयः
जीर्णोद्धृतेर्धर्मकरश्चतुर्थः
श्रीसालिगः शूरशिरोमणिश्च ॥१५॥

श्रीस्वर्णपालः सुयशो विशाल-
श्चतुष्कयुग्म[४] [४]प्रमितैरमोघैः
सुरालयैः सोऽपि जगाम तीर्थं
शत्रुञ्जयं यात्रिकलोकयुक्तः ॥१६॥
स सज्जनः सज्जनसिंहसाधुः
शत्रुञ्जये तीर्थपदं चकार
यो द्व्यब्धि[४] [२]संख्ये समये जगत्या
जीवस्य हेतु. समभूद् जनानाम् ॥१७॥
स्वमातृकुक्षिप्रभवा मनोज्ञाः
सौवर्णपालाः सरिदीश[४]संख्याः
सोलाभिधः प्राथमिकः सुवत्सयो-
रन्तरालेन दयेन युक्तः ॥१८॥
श्रीसोढलेन्द्रः शुभसामराज
एवं महाभूपतिराजमान्यः
द्वितीयबन्धोर्विमलाभिधाना
बभूव पत्नी कुलशीलरम्या ॥१९॥
तत्कुक्षिजाः श्रीशिवदत्त आद्यः
शिवशङ्करश्चापि शुभङ्करोऽपि
क्षेत्रे द्वितीये सहजाभिधः श्री-
चन्द्रेण युक्तो गुणभृद्गुणज्ञः ॥२०॥
दुर्भिक्षकालऽन्नसुभक्षकस्य
पतिव्रता साधुशिवङ्करस्य
सत्पुत्रपौत्र जयति कृतिज्ञा
सद्वल्लभा देवलदेविनाम्नी ॥२१॥
तदङ्गजाः षड्विधधर्मकृत्य
परायणाः षट्प्रमिता जयन्ति
सुधीवरः श्रीसहितः सुदर्थः
श्रीराजनामाभिहितो द्वितीयाः ॥२२॥
श्रीसांगणः साहिसभासुदक्षो
हाजाभिधानो हरवासहासः
सोमाख्यया सौमगुणो गुणाढ्यो
जीयात् सदा जावरनामधेयः ॥२३॥
श्रीसत्यकाहासवरः सभाग्यः
मंडाभिधः श्रीसुयशो गुणाब्धिः
श्रीचंतसंग्रामशिवादयोऽपि

तस्याः सुपुत्राः दीप्तिभासः ॥२४॥
श्रीपार्श्वनाथस्य गणे प्रतीते
पुरा प्रवीणः सुभदत्तनामा
यदाख्यया केशिगणः प्रसिद्धः
केशी ततोऽपि प्रगुणो बभूव ॥२५॥
जीवादितत्वप्रगुणैर्गुणात्मा
सदाशुभः स्वप्रभुसूरिराजा
रत्नाकरां ख्यातिमवाप गच्छ-
स्ततश्च रत्नप्रभसूरिरेषः॥२६॥ युग्मम्
ऊकेशतो यत्प्रतिबोधदानाद्
ऊकेशगच्छः प्रथतां जगाम
यत्तस्य बोधे प्रतिबोधशक्त्या
श्री यक्षदेवः सुगुरुस्ततोऽनु॥२७॥
श्रीककुदाचार्यगणप्रतीतौ
श्रीदेवगुप्तो भवनीरनौका ।
सद्भाग्यसौभाग्यनरैककोशः
श्रीसिद्धसूरिस्तदवाप्तपट्टः ॥२८॥

तत्पट्टनाथः प्रभुकक्कसूरि.
सिद्धान्तरत्नाकररत्नभूरिः
सद्देशनादेशविशेषदानाद्
हि जेजयीते वसुधातलेऽस्मिन् ॥२९॥

तस्योपदेशाद् सुविधाप्य हैमं
सैद्धान्तकिं ? पुस्तकमेतदेवं
श्रीवाचनाचार्यवराय वित्त-
सराय सादाद् निजहर्षयोगात् ॥३०॥

यावत् स्थिरो मेरुमहीधरोऽयं
तथा ध्रुवाद्रिः खलु चन्द्रसूरौ
तावद् दृढं नन्दतु वाच्यमानं
हर्षेण हृद्यं प्रतिवर्षमेतत् ॥३१॥

इति सौवर्णकल्पपुस्तकप्रशस्तिसमाप्तमिति ॥छ॥
सं० १५१६ वर्षे चैत्रसुदि ८ अष्टम्यां रवौ
श्रीपत्तनवास्तव्यं मं० वाछाकेन लिखितं ॥छ॥
भद्रं भूयात् । श्रीसंघस्य ॥छ॥

अहार क्षेत्रके प्राचीन मूर्तिलेख

[संग्राहक—पं० गोविन्ददास जैन, न्यायतीर्थ शास्त्री]

(वर्ष ९ किरण १० से आगे)

(नं० ३०)

मूर्त्तिका शिर और दोनों हाथ नहीं है। आसन-से पता चलता है कि मूर्ति कुछ बड़ी थी। चिन्ह शेरका है। करीब २ फुट ऊँची होगी। पद्मासन है। पाषाण काला है।

लेख—सम्वत् १२०९ वैशाख सुदी १३ माधुवान्वये साहुयशवंत तस्य सुत साहुयसहद तस्य भार्या माहिणि तयोः पुत्र श्यामदेव एते प्रणमन्ति नित्यम्।

भावार्थः—माधुव वंशोत्पन्न शाह यशवन्त उनके पुत्र साहु यशहद उनकी धर्मपत्नी माहिणि उन दोनोंके पुत्र श्यामदेवने इस प्रतिबिम्बकी सम्वत् १२०९ के वैशाख सुदी १३ को प्रतिष्ठा कराई। ये सब उसे सदा प्रणाम करते हैं।

(नं० ३१)

मूर्त्तिका सिर्फ आसन उपलब्ध है। बाकी आङ्गोपाङ्ग नहीं हैं। चिह्न शेरका है। करीब १। फीट पद्मासन है। पाषाण काला है। पालिश चमकदार है।

लेख—सम्वत् १२१० वैशाख सुदी १३ पण्डितश्री-विशालकीर्त्ति आर्यिकात्रिभुवनश्री तयोः शिष्यणी पूर्णश्री तथा धनश्री एताः प्रणमन्ति नित्यम्।

भावार्थ—सम्वत् १२१० के वैशाख सुदी १३ को

पण्डित श्रीविशालकीर्त्ति और आर्यिका त्रिभुवनश्री तथा उनकी शिष्यणी पूर्णश्री एवं धनश्री ये सब सदा प्रणाम करते हैं।

(नं० ३२)

मूर्त्तिके आसनके अतिरिक्त बाकी हिस्सा नहीं है। चिह्न बैलका है। करीब १॥ फुट ऊँची पद्मासन है। पाषाण काला है। पालिश चमकदार है।

लेख—सम्वत १२०२ चैत्रसुदी १३ गोलापूर्वान्वये नायक श्रीरतन तस्य सुत आल्ह-पोल्ह-सामदेव-भामदेव प्रणमन्ति नित्यम्।

भावार्थ—गोलापूर्ववंशोत्पन्न नायक श्रीरतन उनके पुत्र आल्ह-पोल्ह-सामदेव-भामदेव सम्वत १२०२ के चैत्र सुदी १३ को बिम्बप्रतिष्ठा कराके प्रतिदिन नमस्कार करते हैं।

(नं० ३३)

मूर्त्तिका सिर्फ शिर नहीं है। बाकी सर्व आङ्गोपाङ्ग उपलब्ध है। चिह्न वगैरह कुछ नहीं है। करीब १॥ फुट ऊँची पद्मासन है। पाषाण काला है। पालिश चमकदार है।

लेख—सम्वत् १२१० वैशाख सुदी १३ मेडतवालवंशे साहु प्रयणराम तत्सुत हरसू एतौ नित्यं प्रणमन्तः।

भावार्थ—सं० १२१० वैशाख सुदी १३ को मेड़तवालवंशमें पैदा हुए साहु प्रयणराम उनके पुत्र हरसू ये दोनों बिम्बप्रतिष्ठा कराके प्रणाम करते हैं।

(नं० ३४)

मूर्त्तिके दोनों तरफ इन्द्र खड़े हैं। घुटनों तक पैरोंके अतिरिक्त बाकी हिस्सा नहीं है। चिह्न दो हिरणोंका है। करीब ३ फुट ऊँचाई है। मूर्त्ति खड्गासन है। पाषाण काला है। पालिश चमकदार है।

लेख—सम्वत् १२०६ गोलापूर्वान्वये साहु महिदीन तस्य पुत्र स्युपस्यु तथा अर्हमामक प्रणमन्त.।

भावार्थः—गोलापूर्ववंशोत्पन्न साहु महिदीन उनके पुत्र स्युपस्यु तथा अर्हमामक, संवत १२०६ में प्रतिष्ठा कराके प्रणाम करते है।

(नं० ३५)

मूर्त्तिका शिर नहीं है। बाकी सर्वाङ्ग सुन्दर है। चिन्ह शेरका है। करीब १॥ फुट ऊँची है। पद्मासन है। पाषाण काला है। पालिश चमकदार है।

लेख—संवत १२१६ माहसुदी १३ श्रीमत्कुटकान्वये पण्डितलक्ष्मणदेवस्तस्य शिष्यार्यदेव आर्यिका लक्ष्मश्री तर्वल्लिका चारित्रश्री तद्भ्राता लिम्बदेव एते श्रीमद्वर्द्ध-मानस्य बिम्बं अहिनिशि प्रणमन्ति।

भावार्थ—सं० १२१६ माघ सुदी १३ के शुभ दिनमें कुटकवंशमें पैदा होनेवाले पण्डित लक्ष्मणदेव उनके शिष्य आर्यदेव तथा आर्यिका लक्ष्मश्री उनकी सहचरी चारित्रश्री उनके भाई लिम्बदेव श्रीवर्द्धमान भगवानकी प्रतिमाको प्रतिष्ठापित कराके प्रतिदिन नमस्कार करते है।

(नं० ३६)

मूर्त्तिका आसन तथा कुहिनियों तक हाथ अवशिष्ट है। बाकी हिस्सा नहीं है। चिन्ह सिंहका प्रतीत होता है। करीब २ फुट ऊँची पद्मासन है। पाषाण काला है। पालिश चमकदार है।

लेख—सम्वत १२२५ जेठ सुदी १५ गुरुदिने पण्डित-श्रीजसकीर्त्तिशीलदिवाकरनीपद्मश्रीरतनश्री प्रणमन्तिनित्यम्।

भावार्थ—सम्वत् १२२५ जेठ सुदी १५ गुरुवारको पण्डित श्रीयशकीर्त्ति तथा शीलदिवाकरनी पद्मश्री और रतनश्रीने बिम्ब-प्रतिष्ठा कराई।

(नं० ३७)

आसन और आधे हाथोंके अतिरिक्त मूर्त्तिका बाकी हिस्सा खण्डित है। आसन चौड़ा और मनोहर है। चिह्न बैलका है। करीब दो फुटकी ऊँची पद्मासन है। पाषाण काला है। आसन टूट गया है और इसलिये लेख अधूरा है।

लेख—सम्वत् १२१० वैशाखसुदी १३ गृहपत्यन्वये साहुसुलधस्य सुत················।

भावार्थः—सम्वत् १२१० के वैशाखसुदी १३ को गृहपति वंशोत्पन्न साहु सुलधर उनके पुत्र·········ने प्रतिष्ठा कराई।

(नं० ३८)

दोनों तरफ दो इन्द्र खड़े हैं। आसन और कुछ पैरोंके अतिरिक्त बाकी हिस्सा नहीं है। चिह्नको देखकर अरहनाथकी प्रतिमा मालूम होती है। करीब ३ फुट ऊँची खड्गासन है। पाषाण काला है। इस मूर्त्तिका धड़ मन्दिर नं० १ की दीवारमें खचित है, ऐसा नापसे मालूम होता है।

लेख—सम्वत् १२०६ गोलापूर्वान्वये साहु सुपट भार्या अल्ह तस्य पुत्र सान्ति पुत्र देल्हल अरहनाथं प्रणमन्ति नित्यम्।

भावार्थः—गोलापूर्व वंशोत्पन्न साहु सुपट उनकी पत्नी अल्ह उनके पुत्र शान्ति तथा पुत्र देल्हलने इस बिम्बकी सम्वत् १२०६ में प्रतिष्ठा कराई।

(नं० ३९)

मूर्त्तिका शिर और हथेलियोंके अतिरिक्त बाकी हिस्सा उपलब्ध है। चिह्न बैलका है। करीब दो फुट ऊँची पद्मासन है। पाषाण काला तथा चमकदार है।

लेख—सम्वत् १२०३ माघ सुदी १३ वैश्यान्वे साहु सुपट भार्या गंगा तस्य सुतः साहु रासल पाल्हऋषि प्रणमन्ति नित्यम्।

भावार्थः—वैश्य कुलमें पैदा होनेवाले सुपट उनकी धर्मपत्नी गंगा उनके पुत्र साहु रासल तथा पाल्ह ऋषिने सं० १२०३ माघसुदी १३ गुरुवारमें प्रतिष्ठा कराई।

(नं० ४०)

मूर्तिका शिर और आधे हाथोंके अतिरिक्त सब अङ्ग प्राप्य हैं। चिन्ह बैलका है। करीब २ फुट ऊंची पद्मासन है। पाषाण काला है। पालिश चमकदार है।

लेख—सम्वत् १२३७ मार्ग सुदी ३ शुक्रे गोलापूर्वान्वये साहु वाल्ह भार्या मदना बेटी रतना श्रीऋषभनाथं प्रणमन्ति नित्यम्।

भावार्थः—सम्वत् १२३७ के अगहन सुदी ३ शुक्रवारको गोलापूर्व वंशमें पैदा होनेवाले साहु वाल्ह उनकी पत्नी मदना और उनकी पुत्री रतनाने श्री ऋषभनाथके प्रतिबिम्बकी प्रतिष्ठा कराई। ये सब नित्य प्रणाम करते हैं।

(नं० ४१)

मूर्तिके आसनके अतिरिक्त बाकी आंगोपांग नहीं हैं। आसन चौड़ा है। चिन्ह बैलका है। करीब २॥ फुट ऊंची पद्मासन है। पाषाण काला तथा चमकदार है।

लेख—गोलापूर्वान्वये साहुरासल तस्य सुत साहु मामे प्रणमन्ति। गृहपत्यन्वये साहुकेशव भार्या शान्तिणी साहु बाबण सुत माल्ह प्रणमन्ति।

सम्वत् १२०३ गोलापूर्वान्वये साहुयाल्ह तस्य भार्या पल्हा तयोः पुत्र बछराऊदेव-राजजस-बेवल प्रणमन्ति नित्यम् अषाढ सुदी २ सोमे।

भावार्थः—गोलापूर्व वंशमें पैदा होनेवाले साहु रामल उनके पुत्र साहु मामे दोनों प्रणाम करते हैं। तथा गृहपति वंशमें पैदा होनेवाले साहु केशव उनकी धर्मपत्नी शान्तिणी और साहु बाबण उनके पुत्र माल्हने बिम्बप्रतिष्ठा कराई। ये सब प्रणाम करते है।

तथा सम्वत् १२०३ के अषाढ़ सुदी २ सोमवारको गोलापूर्व वंशमें पैदा होनेवाले साहु याल्ह उनकी धर्मपत्नी पल्हा उन दोनोंके पुत्र बछरायदेव-राजजस-बेवल प्रतिष्ठा कराके प्रतिदिन नमस्कार करते हैं।

नोटः—इस मूर्तिके प्रतिष्ठापक गोलापूर्व और गृहपति इन दो जातियोंमें पैदा होनेवाले तीन कुटुम्बके सदस्य हैं जिन्होंने अपनी गाढ़ी कमाईका द्रव्य लगाकर यह बिम्ब निर्माण कराया।

(नं ४२)

मूर्त्तिका शिर तथा दायाँ हाथ नहीं है। बाकी हिस्सा उपलब्ध है। लेखका प्रारम्भिक कुछ हिस्सा टूट गया है। २१० बचा है। अतः नीचे लेखमें सं० १२१० अनुमानसे लिखा गया है। चिन्ह बैलका है। करीब १॥ फुट ऊंची पद्मासन है। पाषाण काला है। पालिश चमकदार है।

लेख—सम्वत् २१० (१२१०) पौरपाटान्वये साहुश्री गपधर भार्या गांग सुत सोढ़ू-माहव एते सर्वे श्रेयसे प्रणमन्ति नित्यम्। वैशाख सुदी १३ बुधदिने।

भावार्थः—सम्वत् १२१० (?) के वैशाख सुदी १३ बुधवारको पौरपाटवंशमें पैदा होनेवाले साहु श्री गपधर उनकी भार्या गांग उनके पुत्र सोढ़ू-माहव इन्होंने मोक्ष प्राप्त करनेके लिये बिम्बप्रतिष्ठा कराई।

(नं० ४३)

मूर्तिके आसन और हाथके अतिरिक्त बाकी हिस्सा नहीं है। चिन्ह हाथीका है। करीब २॥ फुट ऊंची पद्मासन है। पाषाण काला तथा चमकदार है।

लेख—सम्वत् १२१० वैशाख सुदी १३ जैसवालान्वये साहु देल्हण भार्या पाल्ही तत्सुत पंडित राल्ह भार्या कोहणी तत्सुत वर्द्धमान-आमदेव एते श्रेयसे प्रणमन्ति नित्यम्।

भावार्थः—जैसवाल वंशमें पैदा होनेवाले साहु देल्हण उनकी पत्नी पाल्ही उनके पुत्र पंडित राल्ह उनकी धर्मपत्नी कोहणी उसके पुत्र वर्द्धमान-आमदेवने मोक्ष प्राप्त करनेके लिये सम्वत् १२१० वैशाख सुदी १० को बिम्बप्रतिष्ठा कराई।

(नं० ४४)

मूर्तिके आसनके अतिरिक्त बाकी हिस्सा नहीं है। चिन्ह बन्दरका मालूम होता है। करीब १॥। फुट ऊंची पद्मासन है। पाषाण काला है। पालिश चमकदार है।

लेख—सिद्धान्तिश्रीसागरसेन आर्यिका जयश्री तस्य बेल्लि (?) रतनश्री। सं० १२१६ माघसुदी १३ शुक्रे जैसवालान्वये साहु वाहड़ भार्या श्रीदेवि पुत्री सावित्री एताः प्रणमन्ति।

भावार्थः—सिद्धान्ति श्रीसागरसेन आर्यिका जयश्री उनके पासमें रहनेवाली रतनश्री और जैसवाल वंशमें पैदा होनेवाले साहु वाहड़ उनकी पत्नी श्री देवि तथा पुत्री सावित्रीने सम्वत् १२१६ के माघ सुदी १३ शुक्रवारको बिम्बप्रतिष्ठा कराई।

(नं० ४५)

मूर्त्तिके दोनों हाथोंकी हथेलियों तथा आसनके अतिरिक्त बाकी हिस्सा नहीं है। चिन्ह हिरणका है। करीब १॥ फुट ऊंची पद्मासन है। पालिश चमकदार है।

लेख—सम्वत् १२०३ साहु सान्तन तस्य पुत्र लढ्ढू तस्य भार्या मलगा प्रणमन्ति नित्यम्।

भावार्थः—सम्वत् १२०३ में साहु शान्तन उनके पुत्र लढ्ढू उनकी पत्नी मलगाने बिम्बप्रतिष्ठा कराई।

(नं० ४६)

मूर्तिकी हथेली और शिरके अतिरिक्त बाकी हिस्सा उपलब्ध है। चिन्ह चन्द्रका है। करीब २ फुट ऊंची पद्मासन है। पाषाण काला है। पालिश चमकदार है।

लेख—सम्वत् १२०७ माघ बदी ८ गृहपत्यन्वये साहु मोने तस्य भार्या होवा तत्सुत दिवचन्द्र अष्टकर्मक्षयाय कारापितेयं प्रतिमा।

भावार्थ—गृहपतिवंशमें पैदा होनेवाले साहु मोने उनकी धर्मपत्नी होवा उनके पुत्र दिवचन्द्रने सम्वत् १२०७ के माघ बदी ८ को अष्टकर्मक्षयके लिये प्रतिमा प्रतिष्ठित कराई।

(नं० ४७)

मूर्तिका शिर और बाएं हाथके अतिरिक्त बाकी हिस्सा अखण्डित है। आसनका नीचेका हिस्सा कुछ छिल गया है, अतः कुछ लेख और चिन्ह नहीं

है। करीब १॥ फुट ऊंची पद्मासन है। पाषाण काला है।

लेख—सम्वत् १२११ फा·····················भार्या पापा तत्सुत साहु सीतल भार्या पाला नित्यं प्रणमन्ति।

भावार्थ—संवत् १२११ (के फाल्गुन मास) मे ·······················पत्नी पापा उनके पुत्र साहु सीतल उनकी पत्नी पालाने बिम्बप्रतिष्ठा कराई।

(नं० ४८)

मूर्तिका शिर नहीं है। दोनों हथेली छिलगई हैं। चिन्ह चकवाका मालूम होता है। करीब १॥ फुट ऊंची पद्मासन है। पाषाण काला है। पालिश चमकदार है।

लेख—संवत् १२३७ आग्रहल सुदी ३ शुक्रे खंडिल्ल बालान्वये साहु वाल्हल भार्या बस्ता सुत लाखना विघ्ननाशाय प्रणमन्ति नित्यम्।

भावार्थ—खण्डेलवालवंशमें पैदा होनेवाले साहु वाल्हल उनकी पत्नी बस्ता उसके पुत्र लाखना ने संवत् १२३७ के अगहनसुदी ३ शुक्रवारको विघ्नोंके नाश करनेकेलिये इस बिम्बकी प्रतिष्ठा कराई।

(नं० ४६)

मूर्तिके आसनके अतिरिक्त बाकी हिस्सा नहीं है। चिन्ह बैलका है। बायां घुटना ढूंढ़कर मिलाया है। करीब १॥ फुट ऊंची पद्मासन है। पाषाण काला और चमकदार है।

लेख—संवत् १२०७ माघ वदी ८ मडवालान्वये साहुसेठ दायामारु तस्य सुत सुरदमाल्ह-केलाम सर्वै प्रतिमा कारापिता।

भावार्थ—मडवालवंशमे पैदा होनेवाले साहु सेठ दायामारु उनके पुत्र सुरद माल्ह-केलाम इन सबों ने संवत् १२०७के माघवदी ८ को यह प्रतिमा प्रतिष्ठित कराई।

(नं० ५०)

दोनों तरफ इन्द्र खड़े है। चिन्ह वज्रदण्डका है। शिर नहीं है, बाकी सर्वाङ्ग सुन्दर है। करीब २ फुट ऊंची खड्गासन है। पाषाण काला और चमकदार है।

लेख—संवत् १२०१ वैशाखसुदी १३ पौरपाटान्वये साहुकोके भार्या मालिणी साहु महेश भार्या सलखा।

भावार्थ—पौरपाटवंशमें पैदा होनेवाले साहुकोके उनकी धर्मपत्नी सलखाने सम्वत् १२०१ के वैशाख सुदी १३ को बिम्बप्रतिष्ठा कराई।

(नं० ५१)

मूर्तिका सिर्फ आसन अवशिष्ट है, जो काफी चौड़ा है। परन्तु बीचसे टूट गया है। अतः जोड़कर लेख लिया गया है। कुछ अक्षर उड़ गये हैं। चिह्न शेरका है। करीब ? फुट ऊंची पद्मासन है। पाषाण काला है। पालिश चमकदार है।

लेख—सवत् १२०३ आषाढ़ बदी ३ शुक्रे श्रीवीर-वर्द्धमानस्वामिप्रतिष्ठापिक:—गृहपत्यन्वये साहु श्रीउल्कण ·········· ···अल्हण साहु मातिण। वैश्यवालान्वये साहु वामलस्तस्य दुहिता मातिणी साहुश्रीमहीपती।···

भावार्थ—गृहपतिवंशमे पैदा होनेवाले साहुश्री उलकण····अल्हण तथा साहु मातने और वैश्यकुलमे पैदा होनेवाले साहु वामल उनकी पुत्री मातणी और साहुश्री महीपतिने संवत् १२०३ आषाढ़ वदी ३ शुक्रवारको यह श्रीवर्द्धमान स्वामीकी प्रतिमा प्रतिष्ठा कराई। (क्रमशः)

भगवान् महावीर, जैनधर्म और भारत

(लेखक—श्री लोकपाल)

—※—

जैनधर्मके बारेमें लोगोंकी जानकारी बहुत ही कम है—और जो कुछ थोड़ी बहुत है भी वह ऊपरी और विकृत है। औरोंकी कौन कहे जैन पंडितों और विद्वानोंकी भी हालत इस तरफ संतोषजनक नहीं है।

भारतके धार्मिक एवं सामाजिक जीवन, रीति-व्यवहार तथा मान्यताओंपर विदेशी शासन-सत्ताका बड़ा ही बुरा प्रभाव पड़ा है। आज जो हम धार्मिक हठाग्रह, दुराग्रह और आपसी विद्वेष-भावना चारों तरफ देखते हैं। इसको बनाए रखने और बढ़ाते रहनेमें और कहीं कहीं नया पैदा करनेमें इस विदेशी सत्ता-का कम हाथ नहीं रहा है। हमें, हमारे पूर्वजोंको सैकड़ों वर्षोंसे एक तरहका नकली इतिहास अबतक पढ़ाया जाता रहा है—वही अब भी जारी है—भारत कहनेको स्वतंत्र तो हुआ पर यह हानिकारक जाली पुरातत्व हमारे बीचसे अबतक नहीं हटा।

इस इतिहासका निर्माण—इसकी आख्यायिकाएं एवं लिखनेका ढंग इस तरहका रखा गया कि हम अपनी असली भारतीय संस्कृतिको एकदम भूल बैठे और धीरे धीरे हमने एक नकली और पाखंडपूर्ण रीतिनीति एवं व्यवहार अपना लिया और उसे ही आज हम भारतीय या हिन्दू संस्कृति समझे और पकड़े बैठे हैं। इस इतिहासने और भी यह किया कि हमारे दिमागमें यह बात भरदी कि हम भारतीय आदिम आर्य नहीं बल्कि कहीं मध्यएशियासे आकर बसनेवाले हैं—ताकि हम अपनेको प्राचीन और सभ्यतापूर्ण न समझकर यही समझते रहें कि हमारे पूर्वज जंगली थे और बादमें सभ्य हुए। या बाहरसे दूसरोंने आकर सभ्य बनाया। यह बात आज हमारे अंदर इतनी कूट-कूट कर भरदी गई है कि हमारे सभी पुरातत्व-वेत्ता एवं विशेषज्ञ भी इसीकी रट लगाते हैं एवं उनकी जो भी धारणाएं या निर्णय होते हैं वे इसी विश्वासपर आधारित होते हैं। इतना ही नहीं, इस इतिहासने हमारे पूर्व पुरुषाओंको इस तरह करके दिखलाया कि हमें उनकी सत्तामें ही संदेह होगया और उससे भी अधिक खराबी यह हुई कि हमने अलग-अलग महापुरुषोंको अलग-अलग जातियों, धर्मों, सम्प्रदायों या गुटोंका मानकर उनका भी विरोध किया और खूब किया। हरएकने इस तरह इन महापुरुषोंको दूसरेका समझकर खूब ही गालियां दीं और धार्मिक विद्वेष, विरोध एवं रगड़े झगड़े बढ़ा लिए। इतना तक भी रहता तब भी हमारी हालत पाश्चमीय देशोंकी तुलनामें अधिक गिरी न होती, क्योंकि वहां तो इससे भी बढ़कर शर्मनाक धार्मिक अत्याचार हुए। पर हमने जो सबसे बड़ा खराब काम—इस विदेशी सत्ताद्वारा प्रचालित इतिहासके कारण उत्पन्न बुद्धिसे—किया वह यह कि हर एक धर्मवालोंने दूसरे धर्म-प्रचारक, महापुरुषोंकी प्राचीनताको भी अस्वीकार किया और हर तरहसे खंडन करते रहे। नतीजा यह हुआ कि हमारी महत्ता दिन-ब-दिन गिरती गई और हमारा बौद्धिक एवं मानसिक ह्रास भी साथ ही साथ होता गया।

पहले भी भारतमें अति प्राचीनकालसे ही अनेकों धर्म एवं मत-मतांतर थे—और आपसी विरोध या वैमनस्य उतना नहीं होनेसे जब भी जो कोई चाहता दूसरे धर्मकी शिक्षाओंसे प्रभावित होकर अपना धर्म बदल लेता था। इस तरह हर समझदार या पढ़ा लिखा व्यक्ति अधिक-से-अधिक धर्मोंकी बातों-को समझने एवं ठीक ठीक जाननेकी चेष्टा करता था—जिससे ज्ञानकी वृद्धिके साथ ही साथ बौद्धिक एवं

मानसिक विकास भी बढ़ता था। पर जबसे धार्मिक प्रतिबन्ध लगा दिए गए एवं "स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः" इत्यादि तथा धर्ममें बुद्धि और तर्कको लगाना मना कर दिया गया तथा यह आम फतवा या धर्माज्ञा हर एकके यहां होगई कि धर्मशास्त्रों ने जो कुछ कह दिया है एवं गुरु लोग जो उसका अर्थ लगा देते है उसे मानना ही होगा–और जो न मानेगा वह नास्तिक और धर्मद्वेषी या धर्मद्रोही समझा जायगा—तबसे ही ये धार्मिक विद्वेष लड़ाई-झगड़े इत्यादि बढ़ गए हमने एकदम दूसरेकी बातें जानना छोड़ दिया—धीरे धीरे अपने धर्मके तत्वोंको भी भूल गए मानसिक एवं बौद्धिक विकास भी रुक कर धीरे धीरे एकदम गायब ही होगया।

धर्माचार्योंने—चाहे वे किसी भी धर्मके हों—बहुत सोचने-विचारने, अनुशीलन और मनन करनेके बाद ही कोई तत्व या Theory पेश की है। हर एक ने जैसा और जितना ठीक समझा अपने तरीकेसे—अपनी बुद्धिके अनुसार लोगोंके सामने रखा। माना कि इनमें बहुत तो सच्चे Sincere of honest ईमानदार रहे और बहुतोंने अपनी विद्वत्ता एवं प्रतिभा तथा प्रभावका अनुचित उपयोग भी किया—जिससे सत्यके बजाय असत्य फैलनेमें काफी सहायता मिली। सब कुछ होते हुए भी इतना तो निश्चित है कि ये लोग बहुत बड़े विद्वान् एवं विचारवान् या Thin less थे। फिर आज जो हवा हम चारों तरफ देखते हैं कि एक महज अदना मामूली आदमी भी जो धर्म या धार्मिक तत्वोंका—क ख ग घ—भी नहीं जानता वह भी दूसरे धर्मवाले विद्वान् और गुरुकी निन्दा कर देता है और हंसी उड़ा देता है—क्या यह कम मूढ़ताजनक और मूर्खतापूर्ण है? क्या यह सचमुच अपनी बेवकूफी और अज्ञानताको ही नहीं जाहिर करना है? आज हमारी हालत यह है कि हम ऐसा करके ही अपनेको धार्मिक एवं बहादुर समझते हैं जब कि बात ठीक इसके विपरीत होनी चाहिए।

धर्मतत्वों या धर्माचार्योंकी खामखाहमें हंसी उड़ा देना या छोटा या गलत समझ लेना सच पूछिए तो उन तत्वोंमें जरा भी कमी नहीं लाता। वे तो हमेशा वैसेके वैसे ही रहते है। हाँ, ऐसा करनेवाला उनकी जानकारीसे और ज्ञानके विकाससे वंचित अवश्य हो जाता है।

इसी वातावरणमें जैनधर्म या जैन धर्माचार्योंके विरुद्ध जो घना द्वेषका या असहानुभूतिका या असहयोगकी भावनाका प्रचार भारतमें चारों तरफ जोरोंमें अब भी मौजूद है। उसने देशकी भारी हानि की है। जैनधर्मके तत्व एवं शिक्षाएं तो अब भी वही है और दूसरे धर्मोंकी भी। पर इस तरहके परस्परके द्वेष-विद्वेष एवं मनोमालिन्यने एक-दूसरेकी बातोंको जाननेसे हमें वंचित रखा और इस तरह हमारा मानसिक तथा बौद्धिक विकास रुकनेके साथ ही आपसी कटुता और बढ़नेमें ही सहायक हुई। पर धार्मिक शिक्षाओंमें तो फिर भी कोई परिवर्तन नहीं हुआ। हम इस सत्यको अपनी धर्मान्धताके जोशमें एकदम भूल जाते है और यह कि ऐसा करके जोशमे हम दूसरोंका नहीं, बल्कि स्वयं अपना ही नुकसान करते है।

जैनधर्म बुद्धिवादका समर्थक हामी या प्रतिपादक है। वह कोई भी ऐसी बात स्वीकार करने से इनकार करता है जो बुद्धि और तर्ककी कसौटीपर ठीक और खरा एवं व्यावहारिक न उतरे, इनकार ही नहीं करता अपने सभी Followers अनुयायियोंको ऐसा करनेसे मना भी करता है। वह कहता है कि किसी भी तत्त्वका, देवताका, गुरुका और शास्त्रका बगैर परीक्षा लिए और परीक्षा लेनेपर जब तक ठीक न उतरे या ठीक न जचे विश्वास मत करो, मत मानो। वह कहता है कि ऐसा करके ही तुम सत्य और ठीक मार्गपर स्थित होगे या स्थिर होगे एवं उससे विचलित न होगे, कोई बहका नहीं सकेगा—धर्मके नामपर ढोंग और आडम्बरके शिकार होकर अधार्मिकता करनेसे बच सकोगे

इत्यादि । इतना ही नहीं, वह हर एक नई बातको हर संभावित पहलू—हर दृष्टिकोणसे देखनेकी सख्त ताकीद या हिदायत देता है । एव देश, काल तथा व्यावहारिकताके अनुसार ही उन्हें उपयोगमें लानेको कहता है ताकि कमसे कम गलती हो सके । किसी नई बातको जिसके बारेमें पूरी जानकारीकी जरूरत है उसे एक बार सहसा मान लेने या एकतर्फा धारणा कोई भी उसके बारेमें बना लेनेकी हानियों एवं कटु प्रभावों-से सचेत करता है तथा हर गंभीर प्रश्नको हर पहलू-से सोच विचार जॉचकर और अपनी हर शंकाएं यथासंभव निवारण करके ही स्वीकार करने या फिर आगे बढ़नेको कहता है । इसे ही हम "अनेकान्त" कहते है । आजका आधुनिक विज्ञान Science और इसके सारे कारवार मशीनपुर्जे इसी अनेकान्तके व्यावहारिकरूप है जो अन्यथा संभव नहीं होसकते थे । एक मशीनका पुर्जा बनानेके लिए उसकी ड्राइंग (नकशा) कई तरफसे देखकर (बाहरसे या बीचसे काटकर Sectional) बनाई जाती है तब उसका पूरा-पूरा Detail विवरण और जानकारी प्राप्त होती है जिससे वह पुर्जा कारखानेमें ठीक-ठीक with precision बन सकता है । यही बात और सभी कामोंके लिए भी है—कि किसी भी वस्तु या प्रश्नका या विचारणीय विषयका हर पहलू और दृष्टिकोण या हर तरफसे देखना और विचारना उसके विशद या अधिक-से-अधिक ठीक जानकारीके लिए अत्यन्त जरूरी है—इसके वगैर जो भी जानकारी होगी वह सर्वांगीण पूर्ण, सही और दुरुस्त न होकर एकांगी और defective अपूर्ण और विकृत या अधकचरी होगी । विज्ञान या वैज्ञानिक तरीकोंका जिस विषयमें भी उपयोग किया जायगा वही तरतीबवार और अनेकान्तरूपी होगा । तभी हमें वस्तुओंका सच्चा स्वरूप एवं गुण ठीक-ठीक मालूम होसकेंगे । हमने इसी अनेकांत या आधुनिक भाषामें इस वैज्ञानिक तरीकोंको छोड़-कर अपना बड़ा ही नुकसान किया है । जब पश्चिमी देशोंने इसको अपनाकर अपनी हर तरफ उन्नति की, हमने इसे भगाकर अवनति की । आज जरूरत है इसे फिरसे जीवन और समाजके हर पहलूमें उचित एवं व्यावहारिकरूपसे अपनाने और काममें लाने की—यदि हम सचमुच स्थायी और सुव्यवस्थितरूपसे उन्नति करना और करते जाना चाहते है तो ।

जैनधर्मने धार्मिक विभिन्नताओं या मतभेदोंको कभी भी संघर्षणात्मक रूप नहीं दिया । हां, तात्विक या तार्किक खंडन मंडनका अवश्य व्यवहार किया । इतना ही नहीं अपने अनुयायियोंको बराबर यह कहता है कि हर एक धर्मका अनुशीलन, मनन एवं मथन करना चाहिये और तब बुद्धि और तर्कका व्यवहार करके जो कुछ ठीक जचे उसे मानना एवं स्वीकार करना चाहिये । तभी हम गलतियां कम-से-कम करेंगे और जानकारी अधिकसे अधिक होगी और इसतरह ही विश्वास या धारणा होगी वह भी अधिक-से-अधिक सुदृढ एवं स्थायी होगी । यह स्थायित्व एवं परिष्कृतपना किसी भी व्यक्ति या समाजकी उन्नतिके लिए अत्यन्त जरूरी है । इस रीतिको छोड़कर हमने जबसे एक दूसरेकी बातें जाननेकी मनाही करदी और अलग-अलग रहने लगे तभीसे फूट वैर, विरोध और संघर्षणोंकी वृद्धि हुई और हानी गई एवं हमारा दिन-ब-दिन मानसिक, शारीरिक एवं नैतिक ह्रास होता गया और हमारा वैयक्तिक पतन होते-होते सामाजिक एवं राष्ट्रीय पतन भी पूर्णरूपसे होगया । इस मनोवृत्तिको दूर करके ही हम उन्नति कर सकते हैं और तभी हमारी सर्वाङ्गीण या सर्वतोमुखी विकास होसकता है अन्यथा नहीं । यदि किसी तरह कुछ हुआ भी तो वह स्थायी या असली न होकर थोड़े समयके लिये और नकली ही होगा । हमें धार्मिक खंडन-मंडनको केवल जवानी जमा-खर्च ही तक सीमित रखना चाहिये उसे संघ-

षण या खुला विद्वेष या लड़ाईका रूप नहीं लेने देना चाहिये, न उससे कटुता ही किसी तरहकी होनी चाहिये। वस्तुका ठीक-ठीक असली स्वरूप जाननेके लिये यह खंडन-मंडन विशद और निष्पक्षरूपमें होना जरूरी है। ज्ञान किसी भी वस्तु या विषयका ऐसा करके ही परिष्कृत हो सकता है।

भगवान महावीर जैनधर्मके चौबीसवें और आखरी प्रचारक, परिष्कारक या प्रवर्तक हुए। हमें यह जानबूझकर हमारे विदेशी सत्ताधिकारियोंद्वारा यह बतलाया जाता रहा कि महावीर जैनधर्मके संस्थापक हैं या हुए। और यह केवल इसलिए कि भारत अपनी पुरानी और प्राचीनतम संस्कृतियोंको भूल जाय। यदि संभव होता और ऐतिहासिक प्रमाण नहीं रहते तो इन लोगोंने भगवान महावीर या बुद्धको ईसासे पांचसौ वर्ष पूर्व होनेके बजाय पांचसौ वर्ष बाद होना ही दिखलाते। यदि तिब्बत और चीनकी पुस्तकें नहीं रहतीं तो महावीर और बुद्धकी सत्ता या होना ही शंकाजनक बतलाई जाती या अधिक-से-अधिक गड़रियोंके सरदारके रूपमें ही रहते या कुछ ऐसा ही होता। परन्तु वहां ये मजबूर थे और कम-से कम इन्हें इन भारतीय धर्मोंको पश्चिमीय धर्मों एवं संस्कृतियोंसे पहलेका स्वीकार करना ही पड़ा। फिर भी इन्होंने लगातार यही चेष्टा की है हमारे दिमागोंमे भरनेकी कि रोम, ग्रीस या मिश्र और बैबीलोनियां वगैरहकी संस्कृतियां भारतीय संस्कृतियोंसे पुरानी थीं या हैं या रही हैं। और इस बातकी शिक्षा या प्रचार इस तरीकोंसे Incissecent लगातार की गई है कि हमारे विशेषज्ञोंने भी वैसा ही मानना ठीक समझा जाने लगा या समझा गया। यदि केवल जैनधर्मको ही लिया जाय और उसकी प्राचीनताका ठीक unbiased अनुसंधान किया जाय और धार्मिक विद्वेष-भावना या हम बड़े तो हम बड़ेकी भावना छोड़कर देखा जाय तो इससे भारतका गौरव बढ़ेगा ही। और भारतकी संस्कृतिकी प्राचीनतमता अपने आप साबित ही जायगी या हो जाती है। हमारी भारतीय संस्कृति या पृथक संस्कृतियां कितनी पुरानी हैं यह हमारे आधुनिक विशेषज्ञोंद्वारा अभी तक कुछ निश्चित नहीं हुआ है। पुराने खंडहर भग्नावशेष अभी चारों तरफ भरे पड़े हैं जिनकी खुदाई बाकी है। अंग्रेजोंने जो कुछ थोड़ी बहुत खुदाई इधर-उधर करके हमें जो कुछ बतलाया अभी तक हम उसीपर निर्भर हैं और सब्र किए बैठे हैं। पर अब हमारी स्वतंत्र सरकारको चुप बैठना ठीक नहीं। अपनी संस्कृतिकी प्राचीनता साबित करना परम आवश्यक है। मथुराकी खुदाईसे हमने एक-दूसरेको नया कह कहकर देशकी बड़ी भारी हानि की। अपनी सारी संस्कृतियोंकी प्राचीनताका ही खंड-मंडन कर दिया। यह ठीक नहीं।

भगवान ऋषभदेव जैनधर्मके सबसे प्रथम तीर्थङ्कर या प्रचारक हुए। पहले जैनधर्म ही सनातन सत्यपर निश्चित या नियत होनेसे "सनातन धर्म" कहा जाता था। पर इधर करीब एक हजार वर्षोंसे जब दूसरोंने इस शब्दको अपना लिया और जैनधर्मको "जैन" नामकरण दे दिया तबसे यह बजाय "सनातन धर्म" के "जैनधर्म" होगया। कुछ लोगोंने इसे सनातन जैनधर्म कहकर प्रचारित करनेकी चेष्टा की पर वे सफल न हो सके। भगवान ऋषभदेवके बाद समय समयपर तेईस तीर्थङ्कर और हुए जिन्होंने उसी एक नियत या निश्चित सत्यका प्रचार किया जिन्हें जैन तत्त्व या जैनधर्मके नामसे आज हम जानते हैं। आखिरी चौबीसवें तीर्थङ्कर भगवान् महावीर हुए जिनका पावन जन्म आजसे पच्चीससौ वर्ष पहले वैशालीके लिच्छवी वंशके प्रजातन्त्रके राजवंशमें हुआ। उन्होंने विवाह नहीं किया। बाल-ब्रह्मचारी रहे। वयस्क होनेपर उन्होंने संसारके दुःखोंको देखकर उसे दूर करनेका उपाय जाननेके लिये राज्य छोड़कर कठिन तपस्या आरंभ की। तपश्चर्याके पश्चात् जिस सत्यपर वे पहुँचे वह वही सनातन वैज्ञानिक सत्य था जिसे हम

जैनधर्ममें व्यक्त पाते हैं। पूर्णज्ञान प्राप्त करनेके बाद उनका प्रथम उपदेश राजगृहमें जिसे आजकल 'राजगिर' कहते हैं वहाँ एक महती सभामें श्रावण-वदि प्रतिपदाको हुआ, जो तिथि वीर-शासन-जयन्ती-के रूपमें आज एक पावन पर्वका रूप धारण किए हुए है। कहते हैं कि उस सभामें मनुष्य और मनुष्यनियोंके अतिरिक्त सभी जीवमात्र—पशु-पक्षी वगैरहके बैठनेका प्रबन्ध किया गया था और भगवानके तीव्र अहिंसामय तेजसे खिंचकर अनगिनत पशु-पक्षी आए थे और उन्होंने भी उनकी अमृतवाणीके स्पर्शमात्रसे ज्ञान प्राप्त किया। मानवोंका तो फिर पूछना ही क्या। आज तो हम मनुष्य मनुष्यको एक साथ एक सभामें बैठने देना पसन्द नहीं करते। ऊँच-नीच, छूत-अछूत वगैरहका इतना भेद-भाव बढ़ा रखा है कि जो अपनेको बड़ा, ऊँचा या पवित्र समझते हैं उन्होंने अपने इसी घमंडमें धर्म या धार्मिक तत्वोंकी असलियतको छोड़ ढोंग और मायाचारको अपना लिया और उसीको धर्माचार समझकर पतन होते-होते एकदम नीचताकी सीमाको पार कर गये। अपने पूज्यपना या पवित्र होनेके मिथ्याभिमानमें इन लोगोंने अपनी विशेष मानसिक बौद्धिक एवं नैतिक उन्नति करना छोड़ दिया और अपने बड़प्पन, पूज्यपना या ऊँचे होनेके घमंडमें या उसे अक्षुण बनाये रखनेके लिए इन थोड़ेसे लोगोंने अगणित लोगोंको अपनी सामाजिक शक्ति या प्रभावद्वारा नीच, अछूत या अपवित्र कहकर उन्हें ऐसा बनाए रखा और ऐसा बने रहनेके लिये हर-तरहसे मजबूर और बाध्य किया—इस तरह स्वयं पतित हुए और दूसरोंको भी पतित किया। और इस डरसे कि कहीं सुशिक्षित या सुसंस्कृत होकर ये पतित या नीच कहे जानेवाले कहीं उन लोगोंसे ऊपर न आजायँ जो पवित्र या ऊँचे कहे जाते हैं—इन ऊँचे कहे जानेवालोंने उनको हर-तरहसे बौद्धिक मानसिक एवं नैतिक विकास करनेसे रोक दिया। आप भी गिरे और दूसरोंको भी गिराया। फिर भला समाज और देशका पतन न होता तो और क्या होता। नतीजा हुआ कि हमने सदियों तक गुलामी भुगती और अब भी जब स्वतंत्र हुए हैं तब हमारा मानसिक और नैतिक धरातल इतने नीचे चला गया है कि हम अपनी इस स्वतंत्रताका वास्तविक फल एकदम नहीं पा रहे हैं। हमारे ऊँचे नेता चिल्ला-चिल्लाकर थक से रहे हैं पर हमारा धर्मान्धकार अब भी जल्दी नहीं हटता।

संसारमें सभी जीव बराबर हैं—सभीमें वही आत्मा है जो किसी भी एक आदमीमें है। जैनधर्म मानवीय बराबरी ही क्यों वह तो सार्वभौम एवं अखिल भूतकी बराबरी तथा ऊपर आनेका और ईश्वरत्व प्राप्त करनेका सत्व या जन्मसिद्ध अधिकार मानता और कहता है—भले ही आज हम अपनी अज्ञानता एवं वहममें इसे अन्यथा मानते या कहते रहें यह दूसरी बात है। कुछ स्वार्थियोंने अपना नीच मतलब गाँठनेके लिए हर-तरहके गलत-फलत या गन्दी बुरी रीतियां या विश्वास फैला दिये और धार्मिक तत्वोंका मतलब अपने मन-माना जैसा-चाहा विकृतरूपमें लोगोंको समझा दिया। यही सारे अनर्थोंका मूल रहा है। उन्हीं विकृत बातों—रीतियों या रूढ़ियोंको हम आज भी बगैर सोचे समझे पकड़े हुए हैं। यदि कोई इनसे खिलाफ (विरुद्ध) कुछ कहना चाहता है तो उसे बजाय सुननेके हम मारने या काटने दौड़ते है। पर इससे तो धर्मकी ही हानि सर्वत्र होरही है। धर्म और धर्मके साथ ही सब कुछ नीचे चलता जाता है। अब भारत स्वतंत्र हुआ और जरूरत इस बातकी है कि हम विदेशी प्रभावसे मुक्त इस वातावरणमें स्वयं कुछ सोचें समझें और विचारें एवं हर-एककी बात जाननेकी चेष्टा करें—बगैर किसी विरोध या Bias के—तभी हमें सत्यसे भेंट होगी और फिर हम अपने या धर्मकी असलियतको सचमुच पावेंगे। और तभी हमारी एवं हमारे धर्मकी, हमारी जातिकी, हमारी संस्कृतिकी, देशकी स्थायी उन्नति होगी और होती जायगी।

ऐसा यदि हम करेंगे तो मेरा विश्वास है कि पुनः एक समय ऐसा आवेगा जब लोग जैनधर्मकी महत्ताको, उसकी वैज्ञानिकताको एवं सर्व-प्रियता तथा सच्चाईको मानने और समझने लगेंगे।

भगवान् महावीर केवल जैनधर्मके ही नहीं, विश्वके लिए परमपूज्य हुए और उन्होंने विहार प्रान्तको ही नहीं सारे देश और इस पृथ्वीको भी अपने चरणोंसे पवित्रता प्रदान की। अतः विहारको ही क्यों सारे भारतको भगवान महावीरके लिए गर्व है और होना चाहिये। महात्मा गांधीने भी भगवान महावीरकी जीवनीसे अहिंसाका व्यावहारिक ज्ञान लिया और युग बदल दिया।

आज हमारे वैज्ञानिक जैनधर्मके सूक्ष्म वैज्ञानिक प्रतिपादन या तत्त्वोंसे एकदम अज्ञान है और समझते हैं कि विज्ञानका Election या Iow Theopv पश्चिमसे निकला है—जिसके ऊपर आज सारे विज्ञानका दारोमदार है। पर इस Election Theory की व्याख्या अपने विशद एवं व्यवस्थित तथा सूक्ष्मरूपमें सब कुछ जाननेवाले सर्वज्ञ जैन-तीर्थकरोंद्वारा पहले ही की गई है, जिसे शायद अभी हमारे आधुनिक वैज्ञानिक कुछ और आगे जब बढ़ेंगे तब पावेंगे कि हाँ, जो कुछ जैनधर्ममें पुद्गल और जीवके बारेमें कहा गया है उसीके ऊपर सारे संसारका अस्तित्व है। जैनधर्ममें वर्णित ६ तत्वोंको लोग भले ही अपने धार्मिक अहंमें न माननेका दावा करते हों, पर आज तक हजारों वर्षोंसे भी किसीने उनका खण्डन अब तक नहीं किया है—न जिन्होंने चेष्टा की है वे सफल ही हो पाये हैं। जैनधर्म और इसके तत्वोंकी विशद वैज्ञानिक जानकारी हर तरह किसी भी व्यक्तिको ऊपर ही उठावेगी एवं देश या संसार भी इसी तरह ऊपर उठ सकता है तथा सच्चा सुख और स्थाई शान्ति स्थापित होसकती है।

वीर-शासन-जयन्ती

(श्री जिनेश्वरप्रसाद, जैन)

—:※:—

श्रावण कृष्णा प्रतिपदाका पुण्य-दिवस श्री १००८ भगवान महावीर स्वामीका शासन-जयन्ती दिवस है। इस दिन आजसे लगभग २५०० वर्ष पूर्व भगवानका प्रथम उपदेश उस समयके प्रकाण्ड-तत्त्ववेत्ता गौतम इन्द्रभूतिके मिलते ही विहारप्रान्तकी राजगृही नगरीके विपुलाचलपर हुआ था।

भगवानने अपने उपदेशमें कहा कि 'ऐ जगतके प्राणियो! तुम शरीरसे ममत्वका त्यागकर आत्माके अजर, अमर, अनन्त गुणोंके पिण्ड शुद्ध-बुद्ध-सिद्ध-स्वरूपको प्राप्त करो, जिससे संसारके दुःखोंसे छूटकर निजानन्दरसमें लवलीन हो सको।' भगवानके प्रथम आध्यात्मिक उपदेशका सार यही था। हम सबको उसपर चलकर आत्म-कल्याण करना चाहिए और शासन-जयन्तीके स्मरणार्थ अपना कर्त्तव्य-पालन करना चाहिए।

आप्तकी श्रद्धाका फल

(श्री १०५ क्षुल्लक पूज्य गणेशप्रसादजी वर्णी)

—:※:—

आत्मानुशासनमें गुणभद्र स्वामी लिखते हैं :—

सर्वः प्रेप्सति सत्सुखाप्तिमचिरात्सा सर्वकर्मक्षयात्,
सद्वृत्तात्स च तच्च बोधनियतं सोऽप्यागमात्स श्रुतेः।
सा चाप्तात्स च सर्वदोषरहितो रागादयस्तेऽप्यत-
स्तं युक्त्या सुविचार्य सर्वसुखदं सन्तः श्रयन्तु श्रियै॥

'संसारके यावन्मात्र प्राणी सुख चाहते है, सुखकी प्राप्ति समस्त कर्मोंके क्षयसे हो सकती है। वह कर्मोंका क्षय सम्यक्चारित्रसे हो सकता है। सम्यक्चारित्र सम्यग्ज्ञानसे सम्बन्ध रखता है। सम्यग्ज्ञान आगमसे होता है, आगम श्रुतिसे होता है, श्रुति आप्तसे होती है और आप्त वह है जिसके रागादि दोष नष्ट हो चुके हैं। इस प्रकार युक्तिद्वारा विचार कर सर्व सुखोंको देनेवाले श्रीअरहन्तदेवकी उपासना करो, उसीसे इहलौकिक और पारलौकिक लक्ष्मी प्राप्त हो सकती है।'

यथार्थमें आप्त भगवानकी श्रद्धा बड़ा कल्याण करनेवाली है। आप्त उस पवित्र आत्माको कहते हैं जिसके हृदयसे रागादि दोष और ज्ञानावरणादि आवरण निकल चुके हैं, जो सर्वज्ञ है और मोक्षमार्गका नेता है ऐसे आप्तके सुदृढ़ श्रद्धानसे यदि जीवका कल्याण नहीं होगा तो किससे होगा? भयसे आप लोगोंके चेहरे सूख रहे है, कहते फिरते हो कोई हमारा रक्षक नहीं है। संसारमें कौन किसकी रक्षा करता है। आप लाग शूरवीरताको भूल गये इसलिये दुःखी होगये। शूरवीर ही संसारका मार्ग चलाता है और शूरवीर ही मोक्षका मार्ग चला सकता है। आप पुरुष हैं। पुरुष होकर इतने भयभीत होनेकी क्या आवश्यकता? यदि आप अपनी रक्षा नहीं कर सकते तो लुंगी पहिन लो, पुरुषत्वका गर्व छोड़ दो। अन्तरङ्गमें स्त्री जैसी भीरुता और ऊपर पुरुषत्वका वेष यह शोभा नहीं देता।

एक आदमी था। शरीरका सुन्दर था। उसने स्त्रियों जैसे हाथ मटकाना और आंख चलाना सीख लिया। राजाका दरबार भरा था। अच्छे-अच्छे लोग उसमें बैठे हुए थे। वह आदमी भी स्त्रीके वेषमें वहाँ पहुँचा। सब लोग उसे देखकर हँसने लगे। सबसे बड़ा जो आफीसर था वह भी हँसने लगा। उसने कहा हँसनेकी क्या बात है? तुम लोग अंतरङ्गसे स्त्री हो और मैं बहिरङ्गका। यदि तुम अन्तरङ्गके स्त्री न होते तो इतनी बहुसंख्यक जनताके ऊपर मुट्ठी भर लोग राज्य कैसे करते? वास्तवमें यही बात है, तुम्हारा राज्य तुम्हारे प्रमाद और तुम्हारी कायरतासे गया है। अंग्रेजोंने और मुसलमानोंने क्या किया? उस समय तुम्हारी जैसी हालत थी उसमें यदि अंग्रेज न आते तो कोई उनके दादा आते। इतना खयाल अवश्य रक्खो कि अपनेद्वारा किसीका बुरा न हो जाय, पर जो तुम्हारा विघात करनेको आवे उससे अपनी रक्षा जिस तरह बने कर सकते हो, ऐसी जिनागमकी आज्ञा है।

गुरु वही है, जो साक्षात्मोक्षमार्गमें प्रवेशकर चुका है, ऐलक मुनिकी सब क्रिया पालते हैं पर उनकी एक हाथकी लंगोटी उनके गुरु होनेमें बाधक है। सेर तभी होगा जब ८० तोलेका होगा, चार आना भर भी कम रहनेपर सेर नहीं कहला सकता, पर अंशतः गुरुत्व तो उनमें भी है। गुरुत्व ही क्यों? आप्तपना भी अंशतः उनमें प्रकट हो जाता है। संयमियोंकी बात जाने दीजिये, अविरत सम्यग्दृष्टिमें भी आप्तका अंश जागृत हो जाता है इसीलिये तो उसे 'घरमांहि जिनेश्वरका लघुनंदन' कहा।

यथार्थ देव, गुरु और धर्मकी भक्ति करना

श्रावकका मुख्य कर्तव्य है। आगमका अध्यन करना महोपकारी है। यदि आगमके ज्ञाता न हों तो आपकी सभाओं और मन्दिरोंकी शोभा कैसे होसकेगी। उन पत्थरके खम्भोंसे मन्दिरकी शोभा नहीं है, ज्ञानवानोंसे मन्दिरकी शोभा है। लोग कहते हैं कि इन विद्यालयोंमें हमारा लाखों रुपया व्यर्थ चला गया, कुछ भी लाभ नहीं हुआ। पर मैं कहता हूँ कि तुम्हारे (सागर) विद्यालयसे ये तीन विद्वान् (पं० दयाचन्दजी, पन्नालालजी, माणिकचन्दजी) तैयार होगये तो तुम्हारा लाखोंका खर्च सफल होगया। तुम्हीं सोचो ज्ञानके बिना क्या शोभा?

देवकी पूजाका अभिप्राय यह नहीं कि उन्हींको हमेशा पूजते रहो। अरे! वह तो तुम्हारा रूप है। वैसा तुम्हे बनना है। उपादान तो तुम्हीं हो। प्रयत्न तो तुम्हींको करना है। श्रीजिनेन्द्रदेव निमित्त-मात्र हैं। आपका बच्चा पढ़ गया, पंडितजीने पढ़ा दिया। क्षयोपशम बच्चेकी आत्मामें था। प्रयत्न उसने किया, पर उसका श्रेय पंडितजीको दिया जाता है, यह निमित्तकी प्रधानतासे कथन है। निमित्तकी प्रधानतासे ही देवको कल्याणकारी माना जाता है, उपादानकी अपेक्षासे नहीं। यथार्थमें आपकी आत्मा ही देव है वही पूज्य है। एक किस्सा है। आप लोगोंने कई बार सुना है। फिर भी कहता हूँ:—

एक आदमी था। उसकी स्त्री थी। स्त्री बड़ी चतुर थी। जब उसका पति परदेश जाने लगा तो उसे डर लगा कि यह वहाँ धर्मभ्रष्ट न हो जाय। जाते समय उसने उसे एक गोलवटैया दी और कहा कि इनकी पूजा किये बिना खाना नहीं खाना और जब पूजा करो तब इनके सामने प्रतिज्ञा किया करो कि 'मैं पाप नहीं करूँगा।' पुरुष था भोला-भाला, उसने स्त्रीकी बात मान ली। वह एक दिन पूजा करके कहीं गया कि इतनेमें चूहाने वटैयापरके चावल खा लिये और उसे लुड़का दिया। उसने समझा कि इस वटैयासे बड़ा तो यह चूहा है इसे ही पूजना चाहिये। वह चूहाको पूजने लगा। एक दिन बिलावके सामने चूहा डरकर रह गया। उसने समझा यही बलवान् है इसे पूजना चाहिये। एक दिन कुत्ता आया। उसके सामने बिलाव डर गया। अब वह कुत्तेको पूजने लगा। परदेशसे कुत्तेको साथ ले आया। एक दिन कुत्ता चौकामें चला गया। स्त्रीने उसके शिरमें बेलन जमा दिया। वह कईं-कईं करता हुआ भागा। पुरुषने सोचा यह स्त्री कुत्तेसे बड़ी है इसे ही पूजना चाहिये। अब वह उसे पूजने लगा। एक दिन स्त्रीने दालमें नमक अधिक डाल दिया जिससे उस पुरुषने उसके शिरमें एक चांटा मार दिया। वह रोने लगी। पुरुषने समझा अरे इससे बलवान् तो मैं ही हूँ। मुझे स्वयं अपने आपकी पूजा करना चाहिये। सो भैया! कल्याण तभी होगा जब आप अपनी पूजा करने लगेंगे, लेकिन जब तक वह दशा प्राप्त नहीं हुई है तब तक देव आदिको पूजना ही है।

कुदेव, कुगुरु और कुधर्मकी सेवा करना सो अधर्म है। जो स्वयं रागी-द्वेषी है, विषय-वासनाओंमे आसक्त है उसकी आराधनासे कल्याण होगा, यह संभव नहीं। जहाँ धर्मके नामपर मैं-मैं करते हुए निबल जन्तुओंके गलेपर छुरी चला दी जाय वह क्या धर्म है? ऐसे धर्मसे क्या किसीका कल्याण होसकता है? कल्याण तो उस धर्मसे होगा जिसमें प्राणिमात्रका भला चाहा जाता है। एक पंडित थे मन्मथ भट्टाचार्य। बोले जैनधर्मने भारतवर्षको बरबाद कर दिया। इनकी अहिंसाने दुनियाको कायर बना दिया। दूसरा एक समझदार वहीं था। उसने उत्तर दिया। जैनधर्मने भारतको बरबाद नहीं किया, जैनधर्म कायरता नहीं सिखाता। वह इतना वीरतापूर्ण धर्म है कि उसे यदि कोई घानीमें भी पेल देवे तब भी उफ नहीं करे। भारतवर्षको नष्ट किया है हमारी विषयासक्तिने, हमारे प्रमादने, हमारी फूटने।

संसार भरकी दशा बड़ी विचित्र है। कलका करोड़पति आज भीख मांगता फिरता है। संसारकी दशा एक पानीके बबूलेके समान है। संसारी जीव मोह

के कारण अन्धा होकर निरन्तर ऐसे काम करता है जिससे उसका दुख ही बढ़ता है। यह जीव अपने हाथों अपने कंधेपर कुल्हाड़ी मार रहा है। यह जितने भी काम करता है प्रतिकूल ही करता है। संसारकी जो दशा है, यदि चतुर्थकाल होता तो उसे देखकर हजारों आदमी दीक्षा ले लेते। पर यहाँ कुछ परवाह नहीं है। चिकना घड़ा है जिसपर पानीकी बूंद ठहरती ही नहीं। भैया! मोहको छोड़ो, रागादि-भावोंको छोड़ो, यही तुम्हारे शत्रु है, इनसे बचो। वस्तुतत्त्वकी यथार्थताको समझो। श्रद्धाको दृढ राखो। धनंजय सेठके लड़केको सांपने काट लिया, बेसुध होगया। लोगोंने कहा वैद्य आदिको बुलाओ, उन्होंने कहा वैद्योंसे क्या होगा? दवाओंसे क्या होगा? मंत्र-तंत्रोंसे क्या होगा? एक जिनेन्द्रका शरण ही ग्रहण करना चाहिये। मंदिरमें लड़केको लेजाकर सेठ स्तुति करता है :—

"विषापहारं मणिमौषधानि मन्त्रं समुद्दिश्य रसायनं च।
भ्राम्यन्त्यहो न त्वमिति स्मरन्ति पर्यायनामानि तवैव तानि॥"

इस श्लोकके पढ़ते ही लड़का अच्छा होगया। लोग यह न समझने लगें कि धनंजयने किसी वस्तु-की आकांक्षासे स्तोत्र बनाया था, इसलिये वह स्तोत्र-के अन्तमें कहते है :—

"इति स्तुतिं देव! विधाय दैन्याद्वरं न याचे त्वमुपेक्षकोऽसि।
छाया तरुं संश्रयतः स्वतः स्यात्कश्छायया याचितयात्मलाभः॥"

हे देव! आपका स्तवन कर बदलेमें मै कुछ चाहता नहीं हूँ और चाहूँ भी तो आप दे क्या सकते हैं? क्योंकि आप उपेक्षक है—आपके मनमें यह विकल्प ही नहीं कि यह मेरा भक्त है इसलिये इसे कुछ देना चाहिये। फिर भी यदि मेरा भाग्य होगा तो मेरी प्रार्थना और आपकी इच्छाके बिना ही मुझे प्राप्त हो जायगा। छायादार वृक्षके नीचे पहुँचनेपर छाया स्वयं प्राप्त होजाती है। आपके आश्रयमें जो आयेगा उसका कल्याण अवश्य होगा। आपके आश्रयसे अभिप्राय शुद्ध होता है और अभि-प्रायकी शुद्धतासे पापास्रव रुककर शुभास्रव होने लगता है। वह शुभास्रव ही कल्याणका कारण है।

देखो! छाया किसकी है? आप कहोगे वृक्षकी, पर वृक्ष तो अपने ठिकानेपर है। वृक्षके निमित्तसे सूर्यकी किरणें रुक गई, अतः पृथिवीमें वैसा परिण-मन होगया, इसी प्रकार कारणकूट मिलनेपर आत्मामें रागादिभावरूप परिणमन होजाता है। जिसप्रकार छायारूप होना आत्माका निजस्वभाव नहीं है। यही श्रद्धान होना तो शुद्धात्मश्रद्धान है—सम्यग्दर्शन है।

(सागर-चतुर्मासमें दिया गया वर्णीजीका एक प्रवचन)

साहित्य-परिचय और समालोचन

[इस स्तम्भमें समालोचनार्थ आये नये ग्रन्थादि साहित्यका परिचय और समालोचन किया जाता है। समालोचनाके लिये प्रत्येक ग्रन्थादिकी दो-दो प्रतियाँ आनी जरूरी हैं। —स० सम्पादक]

१. मोक्षमार्गप्रकाश—लेखक, आचार्यकल्प पं० टोडरमलजी। सम्पादक पं० लालबहादुर शास्त्री। प्रकाशक, भारतवर्षीय दि० जैन संघ, चौरासी-मथुरा। पृष्ठ संख्या, सब मिलाकर ४२८। मूल्य, सजिल्द प्रतिका आठ रुपया।

प्रस्तुत ग्रन्थ पंडितप्रवर टोडरमलजीके मोक्षमार्ग-प्रकाशका ढूंढारी भाषासे खड़ी भाषामें अनूदित संस्करण है। इस संस्करणमें भाषापरिवर्तनके साथ विषयको स्पष्ट करनेके लिये अनेक ग्रन्थोंके आधारसे टिप्पण भी फुटनोटमें दिये गये हैं जिनसे जैनेतरग्रन्थ-कारोंकी मान्यताओंका भली-भांति परिचय मिल जाता है। और ग्रन्थगत विशेष कथनोंको स्पष्ट करनेके लिये परिशिष्ट भी लगाये गये हैं। इससे स्थलोंका अच्छा बोध होजाता है।

ग्रन्थके आदिमें ५० पृष्ठकी महत्वकी प्रस्तावना है जिसमें ग्रन्थकर्ता पं० टोडरमलजीके जीवन-इतिवृत्त-पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है और उनकी कृति-योंका सामान्य परिचय भी दिया गया है। पंडितजीका निश्चित जन्म-संवत अभी और विचारणीय है।

इस संस्करणमें कुछ अशुद्धियाँ रह गई है जो खटकने योग्य है फिर भी सम्पादकजीने इस संस्करणके पीछे जो परिश्रम किया है वह सराहनीय है। संघने इस संस्करणको प्रकाशितकर खड़ी भाषा-प्रेमी पाठकोंका एक बड़ा हित किया है इसके लिये वह अवश्य धन्यवादार्ह है। सफाई-छपाई अच्छी है। स्वाध्याय प्रेमियोंको इसे मंगाकर अवश्य पढ़ना चाहिए।

२. कन्नड-प्रान्तीय ताडपत्रीय ग्रन्थ-सूची—सम्पादक पं० के० भुजबली शास्त्री, मूडबिद्री, प्रकाशक भारतीयज्ञानपीठ काशी, पृष्ठ संख्या ३५४ मूल्य सजिल्द प्रतिका तेरह रुपया।

प्रस्तुत ग्रन्थका विषय उसके नामसे स्पष्ट है। इसमें जैन-मठ, जैनसिद्धान्तभवन, सिद्धान्तवसदि आदि शास्त्रभंडार मूडबिद्री, जैनमठ कारकल और आदिनाथ ग्रन्थभण्डार अलिपूर आदि स्थानोंके भण्डारोंमें स्थित ताडपत्रीय ग्रन्थोंकी एक सूची है। उक्त सूचीका संकलन भारतीयज्ञानपीठ काशीकी कन्नड़ शाखाके द्वारा हुआ है। दि० जैन समाजमें विविध प्रान्तोंके समस्त शास्त्र-भण्डारोंमें स्थित ग्रंथोंकी एक मुकम्मिल सूचीकी बहुत आवश्यकता है, उसका अभाव पद-पदपर खटकता है, जबकि श्वेताम्बरीय समाजके शास्त्र-भण्डारोंकी कई विशाल-सूचियां प्रकाशित हो चुकी है। प्रस्तुत सूचीके प्रकाशनसे उसकी आंशिक पूर्ति हो जाती है। खेद है कि हमें अभी तक भी इस बातका पता नहीं है कि हमारे पास कितनी शास्त्र-सम्पत्ति है। अस्तु, भारतीय ज्ञानपीठ काशीद्वारा किया गया यह प्रयत्न प्रशंसनीय है। आशा है ज्ञानपीठ इस दिशामें और भी प्रयत्नशील होगी।

इस संस्करणमें कितनी ही अशुद्धियाँ रह गई है। प्रस्तावके पृष्ठ २६ पर अप्रकाशित ग्रंथोंकी जो तालिका दी गई है उसमें ५५ नम्बरका ग्रन्थ प्रद्युम्नचरित है जो महाकवि महासेनकी अनुपम कृतिरूपसे प्रसिद्ध है। वह अपने मूलरूपमें सं० १९७३ में माणिकचन्द दिगम्बर जैन-ग्रन्थमाला, बम्बईद्वारा प्रकाशित हो चुका है जिसका नं० ८ है। अतः उसे अप्रकाशित ग्रन्थोंकी तालिकामें नहीं रखना चाहिये।

सूचीके १२६ वें पृष्ठपर मूडबिद्रीके जैन-मठके ताडपत्रीय ग्रन्थोंकी सूची देते हुए ११५ वें नं० पर

वादिराजकृत 'यशोधर-काव्य' का परिचय दिया है और लिखा है—कि इसमें स्वोपज्ञ संस्कृत टीका भी है और विशेषद्वारा उस टीकाको क्षेमपुरके नेमिनाथ-चैत्यालयमें रचे जानेका भी समुल्लेख किया है। वादिराजने अपने किसी काव्य-ग्रन्थपर स्वोपज्ञ टीका लिखी हो, यह ज्ञात नहीं होता। उनके यशोधर-काव्य और पार्श्वनाथ-चरित दोनों ही ग्रन्थ मुद्रित हो चुके हैं, पर उनकी स्वोपज्ञ टीकाओंका कोई परिचय नहीं है। मालूम होता है कि किसी अन्य विद्वानकी टीकाको ही 'स्वोपज्ञ' भूलसे लिखा गया है; क्योंकि उसी सूचीके १३० वें पृष्ठपर १२६ वें नम्बरके ग्रन्थ 'यशोधर-काव्य-टीका' के, जिसका रचयिता पंडित लक्ष्मण है और जिसकी पत्र-संख्या भी ११५ नम्बरके समान ३२ बतलाई गई है, अन्तिम प्रशस्तिके दो पद्य सूचीमें निम्नरूपसे दिये हुए हैं :—

"अकारयदिमां टीकां चिक्कणो गुणरत्नणः।
अकरोज्जिनदासोऽयं चिक्कणात्मजलक्ष्मणः ॥१॥
श्रीमत्पद्मणगुम्मटेत्यभिहि.ौ श्रीवर्णिनौ भूतले,
भ्रातारौश्चारुचरित्रवार्धिहिमगू तत्प्रीतये लक्ष्मणः।
मन्दो बन्धुरवादिराजविदुषः काव्यस्य कल्याणदां,
टीकां क्षेमपुरेऽकरोद् गुरुतरश्रीनेमिचैत्यालये ॥२॥"

इन पद्योंसे स्पष्ट मालूम होता है कि यशोधर-काव्यकी इस टीकाको लक्ष्मणने अपने पिताके अनुरोधसे बनाई है और अपने दोनों भाई पद्मण और गुम्मट वर्णिद्वयके कहनेसे उनके प्रेमवश क्षेमपुरके वृहत् नेमिनाथ-चैत्यालयमें उसे रचा है। बहुत संभव है दूसरी प्रतिमें, जिसका ऊपर उल्लेख किया गया है यही टीका साथमें अंकित हो, जिसे स्वोपज्ञ बतलाया गया है, यदि वह स्वोपज्ञ टीका थी तो उसके अन्तकी प्रशस्तिके पद्य भी उद्धृत कर दिये जाते जिससे फिर शंकाको कोई स्थान नहीं रहता। अस्तु, दोनों ग्रन्थोंकी ३२ पत्रात्मकसंख्या, और क्षेमपुरके नेमिनाथचैत्यालयमें निर्माण ये दोनों बातें विचारणीय हैं। क्योंकि दोनों टीकाओंका एक ही स्थानमें निर्माण होना अवश्य ही विचारणीय है। छपाई-सफाई प्रायः अच्छी है। यह ग्रन्थ प्रत्येक पुस्तकालयमें संग्रह करने योग्य है।

३. हिन्दी-पद्य-संग्रह—सम्पादक—मुनि कान्तिसागर प्रकाशक—श्री जिनदत्तसूरि ज्ञान-भंडार, सूरत। पृष्ठ-संख्या ६८।

प्रस्तुत पुस्तकमें विभिन्न कवियोंद्वारा संकलित नगरोंकी परिचयात्मक गजलोंका संग्रह है जो ऐतिहासिक दृष्टिसे महत्वपूर्ण है। इनसे उन नगरोंकी तत्कालीन परिस्थितिका चित्र सामने आजाता है। दि० जैनशास्त्र-भंडारोंमें इस प्रकारकी अनेक गजले, कवित्त तथा लावनियाँ पाई जाती हैं जिनमें उनकी ऐतिहासिक परिस्थितिके साथ वहाँकी जनताकी धार्मिक परिणतिका भी परिज्ञान होजाता है। मुनिजीका यह कार्य प्रशंसनीय है। आशा है वे इस प्रकारकी अन्य ऐतिहासिक कविताओंका भी संग्रह प्रकाशित करनेका प्रयत्न करेंगे।

पुस्तकके अन्तमें बतौर परिशिष्टके गजलोंमें प्रयुक्त हुए नगर, ग्राम, राजा, मंत्री, सेठ और श्रावक-श्राविकाओंके नामोंकी सूचीका न होना खटकता है। आशा है अगले संस्करणमें इस बातका ध्यान रक्खा जावेगा।

—परमानन्द जैन, शास्त्री

सम्पादकीय

—:※:—

अनेकान्तका नया वर्ष

इस किरणके साथ अनेकान्तका १० वाँ वर्ष प्रारम्भ होता है और यह वर्षारम्भ श्रावण कृष्ण प्रतिपदाकी उस पुण्यतिथिसे किया जारहा है जो प्राचीन भारतका नव वर्ष दिवस new years day है तथा जिस दिन श्रीवीरभगवानकी प्रथम दिव्यध्वनि-वाणी विपुलाचलपर्वतपर खिरी थी—उनका शासनतीर्थ प्रवर्तित हुआ था—और जो लोकमें वीरशासनजयन्ती पर्वके रूपमें विश्रुत है। अब अनेकान्त देहलीसे प्रकाशित हुआ करेगा और देहलीके अकलंकप्रेममें उसके छपानेकी योजना की गई है। प्रेसने समयपर पत्रको छापकर देनेका पुख्ता वादा किया है और वह एक सप्ताहमें एक किरणको छाप देनेके लिये वचनबद्ध हुआ है। छपाईका चार्ज और देहलीका खर्च बढ जानेपर भी प्रचारकी दृष्टिसे मूल्य वही ५) रु० वार्षिक ही रक्खा गया है। इतने मूल्यमें पत्रका खर्च पूरा नहीं हो सकता उस वक्त तक जब तक कि पत्रकी ग्राहकसंख्या हजारोंकी तादादमें न बढे और कोई भी पत्र हानि उठा कर अधिक समय तक जीवित नहीं रह सकता। पिछले वर्ष जो घाटा रहा उसे देखते हुए इस वर्ष पत्रको निकालनेका साहस नहीं होता था परन्तु अनेक सज्जोंका यह अनुरोध हुआ कि अनेकान्तको बन्द नहीं करना चाहिये, क्योंकि इसके द्वारा कितने ही महत्वके साहित्यका गहरी छान-बीनके साथ नव-निर्माण और प्राचीन साहित्यका सुसम्पादन होकर प्रकाशन होता है, जो बन्द होनेपर रुक जायगा और उससे समाजको भारी हानि पहुँचेगी। इधर वीरसेवामन्दिरके एक विद्वान्ने निजी प्रयत्नसे १०० और दूसरे विद्वान्ने २०० नये ग्राहक बनानेका दृढ संकल्प करके प्रोत्साहित किया। उधर गुण-ग्राहक प्रेमी-पाठकोंसे यह आशा की गई कि वे अनेकान्तको अनेक मार्गोंसे सहायता भेजकर तथा भिजवा कर उसी प्रकारसे अपना हार्दिक सहयोग प्रदान करेंगे जिस प्रकार कि वे अनेकान्तके ४थे, ५वें वर्षोंमें करते रहे है और जिन वर्षोंमें अनेकान्तको घाटा न रहकर कुछ बचत ही रही थी। यहाँपर एक बात खासतौरसे नोट कर देनेकी है जो हालमें देहली म्यूजियमके सुपरिन्टेन्डेन्ट डा. वासुदेवशरणजी अग्रवालने मिलनेपर कहा जिसका सार इतना ही है कि देवमूर्ति और देवालयके निर्माण तथा प्रतिष्ठादि कार्योंमें जिस प्रकार आर्थिक दृष्टिको लक्ष्यमें नहीं रक्खा जाता—अर्थोपार्जन उसका ध्येय नहीं होता—उसी प्रकार सरस्वतीदेवीकी मूर्ति जो साहित्य है उसके निर्माणादि कार्योंमें आर्थिक दृष्टिको लक्ष्यमें नहीं रखना चाहिये। प्रयोजन उनका यह कि अनेकान्तको शुद्ध साहित्यिक तथा ऐतिहासिक पत्र बनाना चाहिये और उसमें महत्वके प्राचीन ग्रन्थोंको भी प्रकाशित करते रहना चाहिये। जैनसमाजमें साहित्यिक रुचि कम होनेसे यदि पत्रकी ग्राहकसंख्या कम रहे और उससे घाटा उठाना पडे तो उसकी चिन्ता न करनी चाहिये—वह घाटा उन सज्जोंके द्वारा पूरा होना चाहिये जो सरस्वती अथवा जिनवाणी-माताकी पूजा उपासना किया करते हैं और देव गुरु-सरस्वतीको समान-दृष्टिसे देखते है। ऐसा होनेपर जैनसमाजमें साहित्यिक रुचि भी वृद्धिको प्राप्त होगी, जिससे पत्रको फिर घाटा नहीं रहेगा और लोकका जो अनन्त उपकार होगा उसका मूल्य नहीं आँका जा सकता—स्थायी साहित्यसे होनेवाला लाभ देवमूर्तियों आदिसे होनेवाले लाभसे कुछ भी कम नहीं है। बात बहुत अच्छी तथा सुन्दर है और उसपर जैनसमाजको खासतौरसे ध्यान देकर अनेकान्तकी सहायतामें सविशेष रूपसे सावधान होना चाहिये, जिससे अनेकान्त घाटेकी चिन्तासे मुक्त रहकर प्राचीन साहित्यके उद्धार और समयोपयोगी नव-साहित्यके निर्माणादि कार्योंमें पूर्णतः दत्तचित्त रहे और इस तरह समाज तथा देशकी ठीक-ठीक सेवा कर सके। अनेकान्तकी सहायताके अनेक मार्ग है जिन्हे पाठक अन्यत्र प्रकाशित 'अनेकान्तकी सहायताके मार्ग' इस शीर्षकपरसे जान सकते है।

देहलीमें वीर-शासन-जयन्तीका अपूर्व समारोह

भारतकी राजधानी देहलीमें भारतके आध्यात्मिक संत पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णीकी अध्यक्षतामें श्रावण कृष्णा प्रतिपदा, ता० ११ जुलाई सन् १९४९ को रात्रिके ७॥ बजेसे १०॥ बजे तक लालमन्दिरजीके अहातेमें वीर-सेवामन्दिर सरसावाके तत्त्वावधानमें वीर-शासन-जयन्तीका अपूर्व समारोह सानन्द सम्पन्न हुआ।

जनता चार-पाँच हजारकी तादादमें उपस्थित थी और उसमें अपूर्व उल्लास था। ला० रघुवीरसिंहजी जैनावाच-कम्पनी और जैन-जागृत-संघके सदस्योंने इस समारोहकी व्यवस्था की थी।

पं० मुन्नालालजी समगौरयाके मंगलगानके पश्चात् स्वामी निजानन्दजीने अपने भाषणमें वीर-शासनकी महत्ता-को बतलाया। अनन्तर जैटली साहबने, जो दर्शन-शास्त्रके प्रौढ विद्वान् हैं और जैनधर्मसे विशेष प्रेम रखते हैं, भारतीय-दर्शनोंके साथ तुलनात्मकरूपसे जैनदर्शन और उसके अहिंसा, सत्य तथा कर्म आदि सिद्धान्तोंका सुन्दर एवं मार्मिक विवेचन किया और बतलाया कि भारतीय-दर्शनोंमें जैन-दर्शनका सबसे महत्वपूर्ण स्थान है और महावीरका शासन ही विरोधोंका समन्वय करनेवाला है। आपने भाषणके आदि और अन्तमें महावीरके चरणोंमें अपनी हार्दिक श्रद्धाञ्जलि अर्पित की। पश्चात् बा० जय-भगवानजी एडवोकेट पानीपतने अपने महत्वपूर्ण भाषणमें वीर-शासनके प्रचारकी प्रेरणा करते हुए अपने जीवनको वीर-शासनका सच्चा अनुयायी बनानेकी ओर संकेत किया। अनन्तर वीर-सेवामन्दिरके संस्थापक पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारने वीर-शासनदिवसकी महत्ता और तिथिकी पवित्रता एवं ऐतिहासिक प्राचीनताका उल्लेख करते हुए 'महावीर-सन्देश' नामकी स्वरचित कविता पढ़कर सुनाई। इसके बाद अध्यक्ष महोदय पूज्य वर्णीजीका प्रभावक भाषण हुआ। आपने भगवान् महावीरके शासन-सिद्धान्तोंका स्वयं आचरण करनेकी प्रेरणा करते हुए कहा कि आज दुनिया अशान्त है। वह शान्तिका उपाय चाहती है। शान्तिका सर्वश्रेष्ठ उपाय महावीरकी अहिंसा है। विदेशोंसे अहिंसाके प्रचारकी माँग आरही है, अहिंसाके प्रचारका इससे और महान् अवसर कब मिलेगा? आप दश-बीस-लाख रुपया इकट्ठे कीजिये और एक जहाज खरीदकर विदेश चलिये और वहाँ पर वीर-शासनकी वास्तविक अहिंसाका प्रचार करिये।

मुख्तार साहबकी संस्था वीर-सेवामन्दिर वीर-शासनकी सेवा कर रही है, क्या आप लोग वीर-सेवामन्दिरको स्थानादिका प्रबन्ध नहीं कर सकते? यदि आप लोग अपने दैनिक खर्चमेंसे फी-रुपया एक-पैसा भी निकालें, जो अधिक नहीं है तो लाखों रुपया इकट्ठा होसकता है और उससे वीर-शासनके प्रचारमें पूरी मदद मिल सकती है। आप वीर-सेवामन्दिरको अपनाएँ और उसकी तन-मन-धनसे सहायता करें जिससे वह प्राचीन-शास्त्रोंके उद्धार करनेमें समर्थ होसके। भाषण चालू रखते हुए पूज्य वर्णीजीने कहा कि आज वीर-शासनका दिवस है। आजसे आप लोग मद्य, मांस और मधुके त्यागपूर्वक अष्ट मूलगुणों-को धारण करनेकी प्रतिज्ञा करें।

इसके बाद पं० राजेन्द्रकुमारजी प्रधानमंत्री दि० जैन-संघने पूज्य वर्णीजीकी भावनापर जोर देते हुए कहा कि मुख्तार साहबने जैन-साहित्यकी बड़ी सेवा की है और उसके लिये अपना सब कुछ दे दिया है। आप लोग अपनी आमदनीमेंसे डेढ़ परसेन्ट निकालकर उसे वीर-सेवामन्दिरको प्राचीन-शास्त्रोंके समुद्धारके लिये दे देवें। वीर-सेवामन्दिरने जैन-संस्कृतिके संरक्षणका बड़ा कार्य किया है। इसपर अनेक सज्जनोंने उसी समय अपने नाम लिखाये।

इस तरह वीर-शासन-जयन्तीका यह महोत्सव बड़े आनन्द और उल्लासके साथ समाप्त हुआ।

—परमानन्द जैन

Regd. No. D. 397

प्रकाशक-परमानन्द जैन शास्त्री, वीरसेवामंदिर ७/३३ दरियागंज देहली, मुद्रक-अजितकुमार जैन शास्त्री, अकलंकप्रेस, सदरबाजार, देहली



अनेकान्त
एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण ।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी ॥
जै
नी
नी
ति
स्यात्
स्यात्
वस्तु तत्त्व
अनुभय तत्त्व
नियम तत्त्व
विधेय तत्त्व
विधेयं वार्यं चानुभयमुभयं मिश्रमपि तद्विशेषैः प्रत्येकं नियमविषयैश्चापरिमितैः ।
सदाऽन्योन्यापेक्षैः सकलभुवनज्येष्ठगुरुणा त्वया गीतं तत्त्वं बहुनय-विवक्षेतरवशात् ॥

विषय-सूची

अनेकान्तकी सहायताके चार मार्ग

(१) २५), ५०), १००) या इससे अधिक रकम देकर सहायकोंकी चार श्रेणियोंमेंसे किसीमें अपना नाम लिखना।

(२) अपनी ओरसे असमर्थोंको तथा अजैन संस्थाओंको अनेकान्त फ्री (विना मूल्य) या अर्ध-मूल्यमें भिजवाना और इस तरह दूसरोंको अनेकान्त के पढ़नेकी सविशेष प्रेरणा करना। (इस मदमें सहायता देनेवालोंकी ओरसे प्रत्येक बारह रुपयेकी सहायताके पीछे अनेकान्त तीनको फ्री अथवा छहको अर्धमूल्यमें भेजा जा सकेगा।

(३) उत्सव-विवाहादि दानके अवसरोंपर अनेकान्तका बराबर ख़याल रखना और उसे अच्छी सहायता भेजना तथा भिजवाना, जिससे अनेकान्त अपने अच्छे विशेषाङ्क निकाल सके, उपहार ग्रन्थोंकी योजना कर सके और उत्तम लेखोंपर पुरस्कार भी दे सके। स्वतः अपनीओरसे उपहार-ग्रन्थोंकी योजना भी इस मदमें शामिल होगी।

(४) अनेकान्तके ग्राहक बनना, दूसरोंको बनाना और अनेकान्तके लिये अच्छे अच्छे लेख लिखकर भेजना, लेखोंकी सामग्री जुटाना तथा उसमें प्रकाशित होनेके लिये उपयोगी चित्रोंकी योजना करना और कराना।—सम्पादक 'अनेकान्त'

आवश्यक सूचना

वीरसेवामन्दिरका आफिस और स्टाफ अब सरसावासे देहली आगया है और 'अनेकान्त' का प्रकाशन देहलीसे होने लगा है। अतः 'अनेकान्त' में समालोचना तथा परिवर्तनके लिये लेखक तथा पत्र-कार अपनी पुस्तकें और पत्र-पत्रिकाएं निम्न पतेपर भेजें। वीरसेवामन्दिरके सुरुचिपूर्ण प्रकाशनोंको मँगाने लिये भी निम्न पते पर ही पत्रव्यवहार करें।

अनेकान्तकी यह दूसरी किरण पाठकोंके पास वी० पी० से पहुँच रही है। वे उसे अवश्य छुड़ा लें।

व्यवस्थापक—

वीरसेवामन्दिर,
७/३३ दरियागंज, देहली

ॐ अर्हम्

अनेकान्त

विश्वतत्त्व-प्रकाशक — वस्तुतत्त्व-संद्योतक

वार्षिक मूल्य ५) — एक किरणका मूल्य ।)

नीतिविरोधध्वंसी लोकव्यवहारवर्तकः सम्यक् ।
परमागमस्य बीजं भुवनैकगुरुर्जयत्यनेकान्तः ॥

वर्ष १० किरण २ — वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम), ७/३३ दरियागंज, देहली — अगस्त
भाद्रपद, वीरनिर्वाण-संवत् २४७५, विक्रम-संवत् २००६ — १९४९

अपराध-क्षमा-स्तोत्र

[यह स्तोत्र ता० ३ अगस्त सन् १९४९ को देहली धर्मपुरा नयामन्दिरके शास्त्रभण्डारसे उपलब्ध हुआ है और रत्नाकर नामके किसी विद्वान्की कृति है । इसमें जिनेन्द्रदेवके सन्मुख जिनस्तुतिके साथ खुले दिलसे अपने अपराधोंकी विज्ञापना अथवा अपने दोषोंकी आलोचना की गई है और इस बातके लिये उत्सुकता व्यक्त की गई है कि किसी तरह मेरे इन अपराधों अथवा दोषोंका क्षमापण हो—मैं जिनेन्द्रदेवके सम्पर्क और संसर्गसे उन्हें दूर करनेमें समर्थ होकर अपने खोये हुए सद्बोधि-रत्नको पुनः प्राप्त करनेमें सक्षम होसकूं । स्तोत्र बड़ा सुन्दर तथा भावपूर्ण है और सच्चे हृदयसे जिनेन्द्र-प्रतिमादिकके सन्मुख इसका पाठ आत्माको ऊँचा उठानेवाला है, अतः इसे हिन्दी अनुवादके साथ यहाँ दिया जाता है । आशा है पाठक इससे यथेष्ट लाभ उठानेका बराबर प्रयत्न करेंगे । —सम्पादक]

(इन्द्रवज्रादिछन्दों में)

श्रेयः-श्रियां मङ्गल-केलि-सद्म
  नरेन्द्र देवेन्द्र-नतांह्रि-पद्म ।
सर्वज्ञ सर्वाऽतिशय-प्रधान
  चिरंजय ज्ञान-कला-निधान ॥१॥

जगत्त्रयाधार कृपाऽवतार
  दुर्वार-संसार-विकार-वैद्य ।
श्रीवीतराग त्वयि मुग्धभावाद्-
  विज्ञप्रभो विज्ञपयामि किञ्चित् ॥२॥

'हे श्रीवीतराग (जिनेन्द्रदेव) ' आप श्रेष्ठ-लक्ष्मि-

योंके मंगलमय क्रीडागृह हैं, नरेन्द्र और देवेन्द्र आपके चरण-कमोंलमें नतमस्तक हैं, आप सर्वज्ञ हैं, सर्व-अतिशयोंकी प्रधानताको प्राप्त हैं, चिरकालसे जयवान् हैं, ज्ञानकलाके निधान हैं, तीनों जगतके आधार हैं, कृपा-दया-के अवतार हैं, संसारके विकार जो दुर्निवार हैं उनको दूर करनेवाले वैद्य हैं और विज्ञों—गणधरादिक मुनिवरोंके स्वामी हैं; (इन गुणोंके कारण) मैं आपके प्रति मुग्ध हूँ और उस मुग्धभावके कारण ही आपसे अपनी कुछ विज्ञापना—हृद्गत भावोंकी विनम्र सूचना—करता हूँ।'

किं बाल-लीला-कलितो न बालः
पित्रोः पुरो जल्पति निर्विकल्पः ?
तथा यथार्थं कथयामि नाथ
निजाऽऽशयं साऽनुशयस्तवाऽग्रे ॥३॥

'क्या बाल-लीलासे युक्त हुआ बालक निर्विकल्प होकर—बिना किसी झिजकके—माता-पिताके सामने स्पष्ट नहीं बोलता है ? बोलता ही है। उसीप्रकार हे नाथ ! मैं पश्चात्तापसे युक्त हुआ अपने आशयको यथार्थरूपमें आपके आगे निवेदन करता हूं।'

दत्तं न दानं परिशीलितं तु
न शालि-शीलं न तपोऽभितप्तम् ।
शुभो न भावोऽप्यभवद्भवेऽस्मिन्
विभो मया भ्रान्तमहो मुधैव ॥४॥

'(वस्तुतः) मैंने दान नहीं दिया, उत्तम स्वभावका परिशीलन नहीं किया—उसे नहीं अपनाया, और न कोई तप तपा है, शुभ भाव भी इस भवमें मेरा नहीं हुआ, इससे हे प्रभो ! खेद है कि मैंने वृथा ही भ्रमण किया है !'

दग्धोऽग्निना क्रोधमयेन दष्टो
दुष्टेन लोभाख्य-महोरगेण ।
ग्रस्तोऽभिमानाऽजगरेण माया-
जालेन बद्धश्च कथं भजे त्वाम् ॥५॥

'क्रोधमयी अग्निसे मैं दग्ध रहा हूँ, लोभ नामके दुष्ट महासर्पने मुझे डस रखा है, अभिमानरूपी अजगर मुझे निगले हुए है और मायाजालसे मैं बँधा हुआ हूँ, ऐसी स्थितिमें (हे भगवन् !) मैं आपका कैसे भजन करूँ ?—मुझसे आपका भजन अथवा आराधन बनता ही नहीं।'

त्वत्तः सुदुःप्राप्यमिदं मयाऽऽप्तं
रत्नत्रयं भूरि-भव-भ्रमेण ।
प्रमाद-निद्रा-वशतो गतं तत्
कस्याऽग्रतो नायक पूत्करोमि ॥६॥

'मैंने यह रत्नत्रय—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप तीन रत्नोंका समूह—जो बड़ा ही दुर्लभ है, बहुत कुछ संसार-परिभ्रमणके बाद आपसे प्राप्त किया था, प्रमाद और निन्द्रा (अज्ञानता) के वश वह सब जाता रहा है अतः हे नायक ! अब मैं उसके लिए किसके आगे पुकार करूँ अथवा अपना रोना रोऊँ ? आपके सिवाय दूसरा कोई भी नज़र नहीं आता।'

मन्ये मनो यन्न मनोज्ञवृत्तं
त्वदाऽऽस्य-पीयूष-मयूख-लाभात् ।
द्रुतं महाऽऽनन्द-रसं कठोर-
मस्मादृशां देव तदश्मतोऽपि ॥७॥

'इस बातको मैं मानता हूं कि हमारे जैसोंका जो मन अमनोज्ञवृत्त था—सच्चारित्रसे युक्त न था—और पत्थरसे भी कठोर था वह आपके मुखसे उत्पन्न हुए अमृत-कणोंके लाभसे—वचनाऽमृतको पाकर—एकबार महा आनन्दरसके रूपमें द्रवीभूत होगया था।'

वैराग्य-रंगः परवञ्चनाय
धर्मोपदेशो जन-रंजनाय ।
वादाय विद्याऽध्ययनं च मेऽभूत्
कियद्ब्रुवे हास्यकरं स्वमीश ॥८॥

'मेरा वैराग्य रंग दूसरोंको ठगनेके लिये, मेरा धर्मोपदेश लोगोंको खुश करनेके लिये और मेरा विद्याध्ययन वादके लिये हुआ—यही उसका फलितार्थ निकला ! हे ईश ! मै अपनी हँसी करानेवाला वृत्तान्त कितना कहूँ।'

पराऽपवादेन मुखं सदोषं
नेत्रं पर-स्त्री-जन वीक्षणेन ।
चेतः पराऽपाय-विचिन्तनेन
कृतं (ती) भविष्यामि कथं विभोऽहम् ॥९॥

'परके अपवाद अथवा निन्दासे मुख सदोष (दोषी) है, परस्त्रीजनोंके देखनेसे नेत्र सदोष है और दूसरोंका बुरा चिन्तन करनेसे मन सदोष है, तब हे विभो ! मैं कैसे कृती—भाग्यशाली अथवा पुण्याधिकारी होसकूँगा ?—क्या किसी तरह होसकूँगा ? मुझे इसकी बड़ी चिन्ता है।'

विडम्बितं यत्स्मरय स्मरार्ति-
दशावशात्स्वं विषयान्धलेन।
प्रकाशितो यद्भवतो ह्रियैव
सर्वज्ञ सर्व स्वयमेव वेत्सि ॥१०॥

'मुझ विषयान्धने कामदेवकी पीडा-दशाके वशसे अपनेको जैसा कुछ विडम्बित किया है उसे स्मरण कीजिये। आपके सामने लज्जाके साथ यह जो कुछ प्रकाशित किया गया है उसे हे सर्वज्ञ ! आप पूर्णरूपमें स्वयं ही जानते है।'

ध्वस्तोऽन्य-मंत्रैः परमेष्ठि-मंत्रं
कुशास्त्र-वाक्यैर्निहताऽऽगमोक्तिः।
कर्तुं वृथा कर्म कुदेव संगा-
दवांछिही (?) नाथ मति-भ्रमो मे ॥११॥

'अन्यमंत्रोंका सेवन करके मैंने परमेष्ठिमंत्रको ध्वस्त किया है, कुशास्त्रोंके वाक्योंका आश्रय लेकर आगमकी उक्तिका घात किया है और कुदेवोंकी संगतिसे वृथा कर्म करनेमें प्रवृत्त हुआ हूँ। यह सब हे नाथ ! मेरा मति-विभ्रम अथवा बुद्धिका विकार है।'

विमुच्य दृक्लक्ष्य-गतं भवन्तं
ध्याता मया मूढ-धिया हृदन्तम्।
कटाक्ष-वक्षोज-गभीरनाभि
कटी-तटीयासु दृशा-विलासाः ॥१२॥

'मुझ मूढबुद्धिने दृष्टिपथमें प्राप्त हुए आपको छोडकर हृदयमें कटाक्ष, कुच, गंभीरनाभि और कटी-तटीयोंमें होनेवाले दृष्टिके विलासोंको ध्याया है।'

लोलेक्षणा-वक्त्र-निरीक्षणेन
यो मानसे राग-लवो विलग्नः।
न शुद्धि-सिद्धान्त-पयोधि-मध्ये
धौतोऽप्यगात्तारण-कारणं किम् ॥१३॥

'चंचल नेत्रवाली स्त्रीके मुखको देखनेसे मानसमें जो थोड़ा-सा राग लगा है वह शुद्धि-सिद्धान्तके समुद्रमें धोनेपर भी नहीं गया, फिर पार उतरनेके लिये कौन कारण होगा ?—कैसे संसारसमुद्रसे पार हुआ जायगा ?, यह बड़ी ही चिन्ताका विषय है।'

अंगं न चंगं न गुणो गुणानां
न निर्मलः कोऽपि कला-विलासः।
स्फुरप्रभा न प्रभुता च कोऽपि
तथाऽप्यहंकार-कदर्थितोऽहम् ॥१४॥

'अंग चंगा नहीं, गुणोंमें कुछ सार नहीं, कोई भी कला-विलास निर्दोष नहीं, प्रभाकी स्फूर्ति नहीं और न कोई प्रभुता ही है; फिर भी मैं अहंकारसे पीडित होरहा हूं !'

आयुर्गलत्याशु न पाप-बुद्धि-
र्गतं वयो नो विषयाऽभिलाषः।
यत्नश्च भैषज्य-विधौ न धर्मे
स्वामिन् महामोहविडम्बना मे ॥१५॥

'आयु शीघ्र बीत रही है परन्तु पापबुद्धि नहीं जाती, अवस्था ढल रही है परन्तु विषयोंकी अभिलाषा नहीं ढलती, दवाइयोंकी विधि-व्यवस्थामें यत्न जारी है परन्तु धर्ममें नहीं; यह सब हे स्वामिन् ! मेरे महामोहकी विडम्बना है—उसीके कारण मैं ऐसी शोचनीय दशाको प्राप्त होरहा हूँ।'

नाऽऽत्मा न पुण्यं न भवो न पापं
मया विटानां कटुगीरमेयम्।
अधारि कर्णे त्वयि केवलार्के
परिस्फुटे सत्यपि देव धिग्माम् ॥१६॥

'हे देव ! आपमें केवलज्ञानरूप सूर्यके परिस्फुट होते हुए भी 'आत्मा नहीं, पुण्य नहीं, पाप नहीं और संसार कोई चीज़ नहीं' इसप्रकार धूर्तोंकी बेहद कडवी बोलीको मैंने कानोंमें धारण किया है—सुना है—अतः मुझे धिक्कार है !'

न देव-पूजा न च पात्र-पूजा
न श्राद्ध-धर्मश्च न साधु-धर्मः।

लब्ध्वाऽपि मानुष्यमिदं समस्तं
कृतं शरण्यं प्रविलाप-तुल्यम् ॥ १७ ॥

'इस मनुष्य-भवको पाकर भी मैंने न तो देवपूजा की, न पात्रजनोंकी पूजा की, न श्रावकधर्म अंगीकार किया और न साधुधर्म पाला, इससे सारे शरण्यको मैंने प्रलाप-समान कर दिया है ! कहने मात्रके लिये ही अर्हन्तादिका शरणा रह गया है ।'

चक्रे मयाऽसत्स्वपि कामधेनु–
कल्पद्रु-चिन्तामणिषु स्पृहाऽर्तिः ।
न जैनधर्मे स्फुट-शर्मदेऽपि
जिनेश मे पश्य विमूढ-भावम् ॥१८॥

'मैंने अविद्यमान कामधेनु, कल्पवृक्ष और चिन्तामणिमें तो अपनी इच्छाको चरितार्थ किया और फलतः (उनके न मिलनेपर) पीड़ाको सहा परन्तु स्पष्ट सुखके देनेवाले (विद्यमान) जैनधर्ममें अपनी इच्छाको प्रवृत्त नहीं किया ! देखो, जिनेन्द्र ! मेरा यह कैसा विमूढभाव अथवा मूर्खतापूर्ण कार्य है ।'

सद्भोग-लीला न च रोग-कीला
धनाऽऽगमो नो निधनाऽऽगमश्च ।
दारा न कारा नरकस्य चित्ते
विचिन्त्य नित्यं मयकाऽधमेन ॥१९॥

'निरन्तर विचार करके भी मुझ अधमके चित्तमें सदा उत्तम भोगोंकी लीला तो बनी रही परन्तु रोगोंकी कीलना न आई, धनके उत्पादनका विचार तो होता रहा परन्तु मरणका ध्यान नहीं आया, दारा (स्त्री) तो चित्तमें बसी रही परन्तु नरककी कारा—कालकोठरीका कभी ख्याल ही नहीं आया !'

स्थितं न साधो हृदि साधुवृत्तात्
परोपकारान्न कृता यशश्च ।
कृतं न तीर्थोद्धारणादि-कृत्यं
मया मुधा हारितमेव जन्म ॥ २० ॥

'हे साधो ! साधुचरित्रसे मैं (कभी) हृदयमें स्थित नहीं हुआ–मेरा हृदय सदा असाधु विचारोंमें ही घिरा रहा, परोपकारसे मैंने यश पैदा नहीं किया और तीर्थोंका उद्धार आदि कार्य भी नहीं किया; (सच पूछिये तो) मैंने अपने जन्मको वृथा ही गँवाया है !'

वैराग्य-रंगो न गुरूदितेषु
न दुर्जनानां वचनेषु शान्तिः ।
नाऽध्यात्म-लेशो मम कोऽपि देव
तीर्य्यः कथं दारुण्यं भवाब्धिः ॥२१॥

'गुरुके कथनोंपर मेरे वैराग्यका कोई रंग नहीं है, दुर्जनोंके वचनोंको सुनकर मुझे शान्ति नहीं होती—क्रोध आजाता है, अध्यात्मका मुझमें कोई लेश भी नहीं है; फिर हे देव ! यह दारुण भवसमुद्र कैसे तिरा जायगा ?—कुछ समझमें नहीं आता ।'

पूर्वे भवेऽकारि मया न पुण्य-
मागामि-जन्मन्यपि नो करिष्ये ।
यदीदृशोऽहं मम तेन नष्टा
भूतोद्भवद्भावि-भवत्रयाऽऽशा ॥ २२ ॥

'पूर्वभवमें मैंने पुण्य नहीं किया और अगले जन्ममें भी उसे करूँगा नहीं, यदि मैं ऐसा हूँ तो इससे मेरी भूत, वतमान और भावी तीनों भवोंकी आशा नष्ट होजाती है ।'

किं वा मुधाऽहं बहुधा सुधा-भुक्
पूज्यस्त्वदग्रे चरितं स्वकीयम् ।
जल्पामि यस्मात् त्रिजगत्स्वरूप-
निरूपकस्त्वं कियदेतदत्र ॥२३॥

'अथवा क्या मैं व्यर्थ ही बहुत प्रकारके अमृतभोजनका भोगी रहा हूँ ? चूँकि आप पूज्य हैं और तीनों लोकके स्वरूपके निरूपक हैं इसलिये मैं आपके आगे अपने चरितका निवेदन कर रहा हूँ । यह निवेदन यहाँ कितना है ?—कुछ भी नहीं है ।'

(शार्दूलविक्रीडित)

दीनोद्धार-धुरंधरस्त्वदपरो नाऽऽस्ते मदन्यः कृपा-
पात्रं नाऽत्र जने जिनेश्वर तथाऽप्येतां न याचे श्रियम् ।
किं त्वर्हन्निदमेव केवलमहो सद्बोधि-रत्नं शिवः-
श्री-रत्नाकर-मंगलैक-निलय श्रेयस्करं प्रार्थये ॥

इति अपराध-क्षमा-स्तोत्रं समाप्तम् ।

'हे जिनेश्वर ! इस लोकमें आपसे भिन्न दूसरा कोई दीनोंका उद्धार करनेमें धुरंधर नहीं है और न मुझसे

अकलंक प्रेस, सदरबाजार, देहली

अधिक अन्य कोई कृपापात्र है, फिर भी मैं आपसे इस (लौकिक) लक्ष्मीकी याचना नहीं करता हूं किन्तु हे शिवश्रीक रत्नाकर (समुद्र) और मंगलके अद्वितीय निवासस्थान अर्हन्तदेव ! मैं केवल इस सद्बोधि-रूप रत्नकी ही प्रार्थना करता हूँ जो कल्याणकारी है—वही मुझे मिलना चाहिये; क्योंकि सद्बोधिके बिना सब कुछ मिलना व्यर्थ है, उससे आत्माका कुछ भी हित नहीं सधता ।'

इस प्रकार यह अपराधक्षमास्तोत्र समाप्त हुआ।

मैं क्या हूँ

[इस लेखके लेखक जैनसमाजके पुराने प्रसिद्ध विद्वान् पं० दरबारीलालजी 'सत्यभक्त' हैं, जो अपने कुछ स्वतंत्र विचारोंके कारण जैनसमाजसे अलग होकर अपना एक जुदा ही समाज कायम करनेमें प्रवृत्त हुए हैं, जिसे 'सत्यसमाज' कहते हैं, और जिनका 'सत्याश्रम' नामका एक आश्रम वर्धामें कई वर्षसे खुला हुआ है, और तबसे आप अपनेको प्रायः सत्यभक्त ही लिखा करते हैं। आप स्वतन्त्र विचारक होनेके साथ-साथ अच्छे निर्भीक लेखक और समालोचक हैं। आपकी आलोचनाएँ दूर-दूर तक प्रहार किया करती है—धर्म, समाज, राजनीति, देवी-देवता, पुराण-कुरान, साधु-सन्यासी, देश-विदेश और स्वर्ग-नरकादिक सभी तक उनकी गति है। आप सत्यके प्राणस्वरूप 'अनेकान्त' के उपासक हैं और साथमें अहिंसाको भी अपनाये हुए हैं। इसीसे आपके विचारोंका आत्मा प्रायः जैन है—शरीरादिक भले ही अन्य हो—और इसे आप अनेकों बार स्वयं स्वीकार भी कर चुके हैं और इसीलिये अपने विचारानुसार सदा ही लोक-कल्याणकी भावनाओंमें तत्पर रहते हैं। आपने अपने विचारोंका पोषक कितना ही साहित्य तय्यार किया है और आप उसके प्रचार-प्रसार तथा नवसाहित्यके निर्माणमें बराबर लगे हुए हैं। आपके विचारोंमें बहुतोंको कुछ असंगति प्रतीत होती तथा पारस्परिक विरोध जान पड़ता है, उस विरोधादिकको दूर करनेके लिये ही यह लेख लिखा गया है। इस आत्मपरिचायक लेखमें अपने विचारोंका जैसा कुछ स्पष्टीकरण किया गया है उसपरसे सत्यभक्तजीको बहुत अंशोंमें समझा जासकता है, और इस दृष्टिको लेकर ही यह लेख उनके 'संगम' पत्रपरसे यहाँ दिया जाता है। इस परिचयलेखमें एक बात बड़ी अच्छी कही गई है और वह यह कि सत्यभक्तजीने जहाँ अपने विचारोंपर जिन्दगीके अन्त तक, असफलताकी पराकाष्ठापर पहुँचनेपर भी और बिलकुल अकेला रह जानेपर भी स्थिर रहनेका दृढ निश्चय व्यक्त किया है वहाँ उन्होंने यह सुन्दर शर्त भी लगाई है कि "बशर्ते कि इस राहमें मुझे सत्येश्वरका विरोध मालूम न हो"—अर्थात् यदि किसी समय किसीके भी युक्ति-बलको पाकर यह मालूम पड़े कि उनका कोई विचार सत्यके अथवा लोकहितके विरुद्ध है तो वे उसपर स्थिर रहनेका आग्रह नहीं रक्खेंगे। इस शर्तसे स्पष्ट है कि उन्हें अपने किसी भी दृढ विचारपर सर्वथा एकान्तरूप कदाग्रह नहीं है—कोई उसे असत्य अथवा लोकहितके विरुद्ध सिद्ध करे तो वे उसे छोड़नेको तय्यार हैं और इससे उनकी भव्यताका अच्छा द्योतन होता है। उनके इस कथनको कोई भी समर्थ विद्वान परीक्षा करके जाँच सकता है।

हाँ, इस लेखकी एक खास बात और भी उल्लेखनीय है और वह है तथ्य सत्यका विवेक। लेखमें तथ्य (यथार्थता) को बुद्धिवाद और सत्यको कल्याणवाद कहा गया है और उसके द्वारा यह प्रकट किया गया है कि जिस बातसे लोकका अधिक हित सधता हो वही बात सत्यभक्तजीकी दृष्टिमें सत्य है चाहे वह कितनी ही अतथ्य अथवा अवास्तविक क्यों न हो। शायद इसी दृष्टिको लेकर सत्यभक्तजी भगवान महावीरकी डायरी महावीरके नामसे स्वयं लिख रहे हैं और

उसे संगम पत्रमें प्रकट कर रहे हैं जिसमें जनताकी सभ्यता—यथार्थता अथवा वास्तविकताके साथ भारी विरोध दीख पड़ता है। इस विषयमें लोकहित क्या और अधिक लोकहित किसमें है यह आधारभूत खास बात ही विचारणीय रह जाती है। अस्तु, लेखमें दो-एक बातें और भी ऐसी रह गई है जो लोगोंको अकसर अखरा करती हैं, अच्छा होता यदि उनका भी स्पष्टीकरण साथमें करदिया गया होता। लेख सत्यभक्तजीका परिचय पानेके लिये अच्छा उपयोगी और पढ़नेके योग्य है आशा है अनेकान्तके पाठक उसे पूरा ही पढ़नेकी कृपा करेंगे—अधूरा नहीं।—सम्पादक]

पाठक पूछेंगे कि क्या आप कोई पहेली हैं जो लोगोंकी समझमें नहीं आते? मैं कहूँगा कि अपनी समझमे मैं पहेली नहीं हूँ क्योंकि मै न परस्पर-विरोधी बातें कहता हूँ न अपने विचारोंको ऐसे दुरंगे शब्दोंमें रखता हूँ कि लोग ठीक तरहसे निर्णय न कर पायें। समय समयपर कुछ लोगोंने प्रशंसा-के रूपमें और कुछ लोगोंने मजाकके रूपमे यही कहा है कि मैं बड़ा स्पष्टवादी हूँ, मुझे कहीं उलझन नहीं है मुझे मेरा मार्ग स्पष्ट दिखाई देता है आदि। फिर भी ऐसे लोगोंकी संख्या कम नहीं है जिनके लिये मैं पहेली हूँ। साधारणतः लोग मुझे बुद्धिवादी समझते हैं। मैं प्राचीनताको महत्व नहीं देता, किसी शास्त्रको पूर्ण प्रमाण नहीं मानता अलौकिक अतिशयोंपर विश्वास नहीं करता, भूत पिशाच आदिकी मान्यताओंका जोरदार खण्डन करता हूँ, अनीश्वरवादी और अनात्मवादी मार्क्स आदि तक को योगी पैगम्बर तीर्थंकर मान लेता हूँ, सर्वकाल सर्वलोकके प्रत्यक्षको असम्भव कहकर उसका खूब खंडन करता हूँ, विज्ञानके विरुद्ध कोई घटना नहीं मानता, मंत्र तंत्र आदिकी प्राचीन मान्यताको गपोड़ा कह देता हूँ, हर बातमें उपयोगितावादसे काम लेता हूँ, कोई आदमी अगर किसी भी धर्मको नहीं मानता, सिर्फ नीति सदाचार आदिको मानता है तो भी मैं सन्तुष्ट होजाता हूँ, नीति सदाचारके पुराने रूपोंसे बँधा हुआ नहीं हूँ इसीलिये शीलको महत्व देनेपर भी ब्रह्मचर्यके गीत नहीं गाता, पूजा नमाज प्रेयर आदिमें व्यक्तिको स्वतंत्र रखता हूँ, इनकी आवश्यकता न माननेवालेपर भी असन्तुष्ट नहीं होता, पूजा-नमाजसे, या मन्दिर-मसजिदसे, या राम आदिके नामसे शारीरिक चिकित्सा करने वालेका विरोध करता हूँ, सृष्टिकी उत्पत्ति और विकास आधुनिक विज्ञानके अनुसार मानता हूँ न कि धर्मशास्त्रोंमें बताये गये तरीकेसे, कुरूढ़ियोंका विरोधी हूँ, परिवर्तन या सुधारको सदा तैयार रहता हूँ, दैववादका विरोधी और पुरुषार्थवादका समर्थक हूँ, साम्प्रदायिकता जातीयता यहां तक कि मनुष्यताकी उपेक्षा करनेवाली राष्ट्रीयताका भी विरोधी हूँ, इत्यादि बातोंको देखकर कौन न कहेगा कि मैं बुद्धिवादी अर्थात् युक्तिवादी हूँ? मैं स्वयं अपनेको बुद्धिवादका समर्थक मानता हूँ।

इतनेपर भी अगर कोई ईश्वर परलोक या आत्माके अमरत्वपर विश्वास करता है तो साधारणतः उसका विरोध नहीं करता, द्वैत या अद्वैत माननेवालेसे नहीं चिढ़ता मूर्त्तिका उपयोग खुद करता हूँ, भावनाजगाने वाली प्रार्थनाओंमे भाग लेता हूँ, पुराने धर्मो और पैगम्बरोंका सन्मान करता हूँ, भावनाको खुराक देनेके लिये सत्यलोक-के कल्पित चित्र खींचता हूँ। स्व-परकल्याणकी दृष्टिसे किस ढंगसे इनका समन्वय किया जाय यही बताता हूँ। मतलब यह कि अमुक ढंगकी आस्तिकता-से मुझे चिढ़ नहीं है, न पुराने शब्दोंका उपयोग करनेमें मुझे कोई इतराज है। हां! उसके अर्थमें कहीं कुछ खराबी मालूम होती है तो उसका अर्थ जरूर सुधार लेता हूँ। अध्यात्मके नामपर जो दम्भ, अकर्मण्यता आदिका प्रचार होता है उसका विरोध करता हूँ फिर भी मनोविज्ञानको भुलाता नहीं हूँ। जिन बातोंका मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे सदुपयोग होता है उनका प्रतिपादन भी करता हूँ।

सत्याश्रममें सब धर्मोंका मन्दिर बना रक्खा है। प्रार्थना भी होती है।

मेरी इन बातोंको देखकर बहुतसे लोग चकित होते हैं, वे मेरे बुद्धिवादी विचारोंके साथ इन बातोंकी संगति नहीं देख पाते। यद्यपि संकोचवश कहते तो नहीं हैं पर शायद मनमें सोच लेते हैं कि मैंने अपनी दूकान जमानेके लिये परस्पर विरोधी बातोंका यह अजायबघर बना रक्खा है। वे भूल जाते हैं कि दूकान जमानेका यह तरीका सबसे अधिक बेकार है। दूकान जमती है पूरा आस्तिक बननेसे या पूरा नास्तिक बननेसे। यही कारण है कि वर्धा आनेको तेरह वर्ष हो चुके, पर वर्धामें अनुयायीके रूपमें तेरह आदमी भी नहीं मिले। फिर भी मैं अपने समन्वयपर स्थिर हूं और जिन्दगीके अन्त तक, असफलता की पराकाष्ठापर पहुँचनेपर भी और बिलकुल अकेला रहनेपर भी स्थिर रहनेका निश्चय है, बशर्ते कि इस राहमें मुझे सत्येश्वरका विरोध न मालूम हो।

मेरा ध्येय क्या है, मेरी नीति या सिद्धांत क्या है जिससे उपर्युक्त विरोधी दिखानेवाले विचारोंका अजायबघर बना हुआ हूँ, इन बातों का खुलासा यद्यपि मेरे साहित्यमें है फिर भी संक्षिप्त और साफ शब्दोंमें इस बातका पता लग जाय इसलिये मैं यहाँ कुछ मुद्दे देता हूँ। मैं यह तो आशा नहीं करता कि पाठक उन सब मुद्दोंसे सहमत होजायंगे, पर यह आशा अवश्य करता हूँ कि जिन बातोंमें उन्हें परस्पर विरोध दिखाई देता है वह दिखाई न देगा, अथवा वे मेरे अजायबघरमें एक नियमित व्यवस्था देख सकेंगे।

कल्याणवाद

१. मेरा ध्येय मनुष्यमात्रको शान्त सुखी, संयमी, सदाचारी और एक कुटुम्बीके समान बनाना है। बुद्धिवाद या वैज्ञानिक तथ्य इसके साधनके रूपमें है। बुद्धिवाद मेरे लिये साध्य नहीं है साधन है, यद्यपि मुख्य साधन है फिर भी एकमात्र साधन नहीं।

मैं मानता हूं कि अन्ध-विश्वासोंके कारण मनुष्यने बहुत-सा अकल्याण किया है। भूत-प्रेत आदिके चक्करमें पड़ वास्तविक चिकित्सासे वंचित रक्खा है, उन्हें खुश करनेके नामपर धन-जनका नाश किया है इसलिये मैं ऐसे अन्ध-विश्वासोंका विरोधी हूँ और मनुष्यको अधिक-से-अधिक बुद्धिवादी बनाना चाहता हूँ। सर्वज्ञताने विकास रोक दिया, अपने सम्प्रदायका झूठा घमंड पैदा किया, दूसरोंको हीन समझा, इसलिये ऐसी सर्वज्ञताका मैं विरोधी हूं। मैं ऐसे ईश्वरका भी विरोधी हूं जो भजनसे या नाम-जापसे खुश होता है, क्योंकि ऐसा ईश्वर कर्तव्यमें उपेक्षा पैदा कराता है, और मनुष्यको चापलूस बनाता है। मैं ऐसी कहानियोंका भी विरोधी हूं जो आजके जीवनसे संगत नहीं हैं, इसलिये या तो वे अविश्वासके कारण निरर्थक जाती हैं या कुविश्वासके कारण मनुष्यको धोखेमें डालती हैं। आगमें डालने पर भी सती जलती नहीं, आदि कहानियाँ या तो अविश्वसनीय होनेसे बेकार जाती हैं या कोई विश्वास करले तो वह आगमें जलनेवाली स्त्रीको सती न मानेगा, इस प्रकार नारियोंके साथ घोर अन्याय करेगा, इससे मैं ऐसी कहानियोंका विरोध करता हूं, भंडा-फोड़ करता हूं। इस प्रकार बुद्धिवादकी प्रत्येक बातपर मैं उपयोगिताकी दृष्टिसे विचार करता हूं, और उपयोगिताकी कसौटी बनाता हूं विश्वकल्याण, लोगोंकी सुख-शान्ति। इस प्रकार मैं बुद्धिवादीकी अपेक्षा कल्याणवादी या आनन्दवादी अधिक हूँ। बुद्धिवादको मैं तथ्य कहता हूं कल्याणवादको सत्य।

सत्य और तथ्य

२. सत्य और तथ्यका मैं अधिक-से-अधिक साहचर्य पसंद करता हूं, क्योंकि अतथ्य अगर सत्य भी हो तो भी एक-न-एक दिन थोड़ा-बहुत

नुकसान पहुंचाता ही है। फिर भी जब मैं देखता हूं कि किसी तथ्यसे होनेवाला नुकसान उस नुकसानसे बड़ा है जो हितकर अतथ्यके कारण होसकता है, तो अतथ्यको सत्य समझकर उसे दरगुजर कर जाता हूं। हां! तथ्य-सत्यके मिलते ही मैं अतथ्य-सत्यको छोड़नेको सदा तैयार रहता हूं। और जहां तक बनता है अनावश्यक अतथ्यको हटानेकी कोशिश करता हूं।

आलंकारिक भाषा

३. रूपक अलंकार आदिके जरिये जो बात कही जाती है उसे अतथ्य मानता। जैसे सत्येश्वर, भगवती अहिंसा, सरस्वती देवी, विवेक दादा आदि कथन रूपक है। इस रूपक कथनसे मनको तसल्ली मिलती है। इनकी आलंकारिकता स्पष्ट है किन्तु यदि किसी कारण कालान्तरमें लोग ऐसे वर्णनोंकी आलंकारिकता भूल जाँय तो उस समय इसे अतथ्य सत्य कहने लगेंगे।

अलंकारोंको काव्यकी कसौटीपर ही कसना चाहिये, मुखचन्द्रकी शोभा काव्यमें है, खगोलकी मीमांसामें नहीं।

पात्रताका विवेक

४. तथ्य सत्यके उपयोगमें पात्रताको देखकर जोर देता हूँ। अन्यथा तथ्य तो उड़ ही जाता है पर साथ ही सत्य भी उड़ जाता है। व्यक्ति विशेषको जो पच जाता है वह साधारण जनताको नहीं पचता, इसका भी ध्यान रखता हूँ। जैनधर्मने ईश्वर उड़ादिया, लेकिन साधारण जनताको यह बात न पची, फल यह हुआ कि ईश्वरवादकी सारी बुराइयाँ परिवर्द्धितरूपमें जैनसमाजमें मौजूद हैं। बौद्धधर्मने अनीश्वरवाद और अनात्मवादको भी अपनाया पर वहां इसकी प्रतिक्रिया और भयंकर हुई। खास-खास व्यक्ति तो इनसे लाभ उठा सकते थे पर जन-साधारण नहीं। वे अगणित देवी-देवताओं और मंत्र-तंत्रके शिकार होगये, *तथ्य भी गया और सत्य भी गया*। इसलिये जिनका बौद्धिक विकास इतना हुआ है कि वे तथ्य-सत्यको पकड़ सकते हैं उनका मैं स्वागत करता हूँ, पर जो भावनावश या अन्य किसी कारणवश ईश्वर परलोक आदिका सहारा लिये बिना रह नहीं सकते, उन्हें सिर्फ इनके दुरुपयोगसे बचानेकी कोशिश करता हूँ। इसलिये मैं ईश्वरवादी आस्तिक, अनीश्वरवादी आस्तिक, ईश्वरवादी नास्तिक, अनीश्वरवादी नास्तिक ऐसे चार भेद करता हूँ। जो ईश्वरको सर्वद्रष्टा और सर्वशक्तिमान मानकर अंधेरेमें भी पापसे बचनेकी कोशिश करता है वह ईश्वरवादी आस्तिक है, जो ईश्वर नहीं मानता किन्तु प्रकृतिके नियमको मानता है इसलिये अंधेरेमें भी पापसे बचता है वह अनीश्वरवादी आस्तिक है। जो ईश्वरको क्षमाशील मानकर पूजा, नमाज, प्रार्थना, भेंट आदिसे ईश्वरको खुश करनेकी कोशिश करता है किन्तु पाप या बुराईसे बचनेकी कोशिश नहीं करता वह ईश्वरवादी नास्तिक है, और जो जगतमें कोई व्यवस्था न मानकर स्वच्छन्दतासे पाप करता है वह अनीश्वरवादी नास्तिक है। मेरा जोर ईश्वरवाद या अनीश्वरवाद पर नहीं है किन्तु दोनोंके आस्तिकरूप पर है। जबकि एकांत बुद्धिवादी अनीश्वरवादपर जोर देता है। वह सोचता है कि किसी भी तरह ईश्वर, परलोक आदिसे मनुष्यका पिण्ड छूट जाय तो बाकी सब जल्दी सुधर जायगा। मैं सोचता हूँ कि पहले तो इनसे पिण्ड छूटना बहुत कठिन है, अगर छूट जाय तो बाकी सब ठीक होना और भी कठिन है। जैन-बौद्धोंके ऐतिहासिक उदाहरण तो हैं ही, पर आजके रूसका भी उदाहरण है जहां ईश्वर फिर अपने सब अंगोंके साथ पनप रहा है। इसका विचारकर मैं ईश्वर अनीश्वरवादपर जोर नहीं देता, उन दोनोंके सदुपयोगपर जोर देता हूँ। यह मेरा कल्याणवाद या सत्यवाद है।

पर जैसे मैं ईश्वरको दरगुजर कर लेता हूं

उसप्रकार भूत-प्रेत आदिको नहीं करता, क्योंकि ये अतथ्य भी हैं और असत्य भी हैं। भूत-प्रेतोंकी मान्यताका सदाचार आदिकी दृष्टिसे जीवनपर कोई अच्छा असर नहीं होता। ये कुचिकित्सा और अपव्यय आदि ही बढ़ाते हैं निरर्थक भय आदिसे मानसिक बीमारियाँ भी बढ़ाते हैं, इसीलिये अग्नि-परीक्षा आदिमें मैंने इनका भंडाफोड़ किया है। आज मानवका विकास भी इतना होगया है कि वह इनसे पिण्ड छुड़ा सकता है बहुत कुछ छुड़ा भी चुका है। मेरी नीति बौद्धिक दृष्टिसे मनुष्यको यथाशक्य विकसित करनेकी, तथ्यकी ओर लेजानेकी, तथा जितना विकास होगया है या सरलतासे होसकता है उसे सहारा बनाकर कल्याणवाद या सत्यवादका अधिक-से-अधिक प्रचार करनेकी है।

धर्मसंस्थाका उपयोग

५. धर्मको मैं जीवनकी मनोवैज्ञानिक चिकित्सा मानता हूँ ? शासनतन्त्र बाहरी चिकित्सा है और धर्म भीतरी। अगर भीतरी चिकित्सा न की जाय तो बाहरी चिकित्सा बेकार जायगी। शासनतंत्र चलानेवालोंमें जितनी नैतिकता या धार्मिकता होती है शासनतंत्र उतना ही अच्छा होता है। अन्यथा अच्छा-से-अच्छा शासनतंत्र बेकार जाता है। धर्मका कार्य मानवताके, ईमानदारीके सहयोगके संस्कार डालना है, और ये संस्कार संकटमें भी टिके रहे इसके लिये पीठबल देना है। भले ही वह पीठबल ईश्वर हो, अदृष्ट हो, प्रकृति हो, या किसी तरहका योग हो।

निःसन्देह धर्म-संस्थाओंका खूब दुरुपयोग हुआ है, परलोकके नामपर ब्राह्मणोंने जनताको लूटा, विशेष पुण्यफलके नामपर सामन्तोंने अपनी सामन्तशाही चलाई, उच्चवर्णी लोगोंने करोड़ोंको नीचवर्णी अछूत आदि बनाकर रक्खा, एक धर्मवालेने दूसरे धर्मवालोंका कत्लेआम किया आदि। पर दुरुपयोग हर चीजका होता है। खाने-पीनेका दुरुपयोग होता है इसलिये लोग बीमार पड़ते हैं पर इसलिये खाना नहीं छोड़ा जासकता। शारीरिक चिकित्साका तो इतना दुरुपयोग होता रहता है कि एक संस्कृत कविने वैद्यको यमराजका भाई बताया, विशेषता यह कि यमराज तो प्राण लेता है वैद्य तो प्राण और धन दोनों लेते है। दवाइयोंके विज्ञापन कैसा सर्वनाश कर रहे है यह मालूम ही है। इतने पर भी चिकित्साको रोका नहीं जासकता। ऐलोपेथी, यूनानी, आयुर्वेद. होमियोपेथी, क्षार-चिकित्सा, जल चिकित्सा आदि कोई प्राकृतिक चिकित्सा, आदि चिकित्साके रूप ही बदले जासकते है, अच्छे-से-अच्छे चिकित्सकको ढूँढ़ा जासकता है पर सदा सर्वत्रके लिये चिकित्साको तिलाञ्जलि नहीं दी जासकती। शासनतंत्रके दुरुपयोग तो अनन्त हैं, ये पीढ़ी-पीढ़ी विश्वव्यापी महायुद्ध, यह मन्त्रियोंसे लगाकर अदना-से-अदना सरकारी नौकरकी रिश्वतखोरी, सरकारी आदमियोंका यह अनन्त विलास अभिमान और प्रजापीड़न, और जबर्दस्ती, आदि दुरुपयोगोंका पहाड़ इकट्ठा होगया है। इतनेपर भी हम शासनतन्त्रमात्र को दूर नहीं कर सकते। सिर्फ तंत्र बदल सकते हैं सरकार बदल सकते है उन्हें अंकुशमें रखनेकी कोशिश कर सकते हैं। अन्य भी बहुत-सी बातें हैं जिनके दुरुपयोगको रोकनेके लिये हम कोशिश करते है पर उनकी जगह बिलकुल खाली नहीं करते। धर्म-संस्थाओंका जो दुरुपयोग हुआ है उसे रोकनेका काम भी दूसरी धर्म-संस्थाओंने ही किया है। वैदिक धर्मके हिंसाकांड और शूद्र-परिपीड़नको जैन-बौद्धों की अहिंसा और जाति-समभावने ही रोका। आज भी जो धर्मोंका दुरुपयोग होरहा है वह मैं मूल धर्मोंमें सुधार करके या सत्यसमाजके जरिये रोकना चाहता हूं।

हां ! मैं एक ऐसे युगकी कल्पना किया करता हूँ जिसमें मनुष्यको धर्मकी जरूरत ही न रहेगी।

मनुष्यमात्र एक सुसंस्कृत कुटुम्बके समान बन जायगा तब ये सब धर्म उठा दिये जायँगे। 'नया संसार' में मैंने ऐसा चित्रण किया है। यह चित्रण ऐसा ही है जैसे कि कुछ लोग यह कल्पना करते हैं कि एक दिन मनुष्यमात्र सुसंस्कारोंसे इस प्रकार स्वयं शासित हो जायगा कि शासन-संस्थाकी जरूरत ही न रहेगा। इसाप्रकार यह भी कल्पना की जासकती है कि एक युग ऐसा आयगा जब मनुष्य अपने संयम आदिके कारण ऐसा बीमार न होगा जिसके लिये हास्पटिल डाक्टर वैद्य आदिकी जरूरत रहे। ये सब अच्छी कल्पनाएँ हैं, इनको आदर्श मानकर आगे बढ़नेमें प्रगति ही होती है। फिर भी जब तक मनुष्यका उतना विकास नहीं हो पाया है तब तक शरीर-चिकित्साओंका रहना, शासन-तंत्रका रहना अनिवार्य है। क्रान्तिके विस्फोटके समय, पुरानी संस्था नष्ट होनेपर और नई संस्था न आने तक भले हा ऐसा मालूम हो कि अब धर्म-संस्था और शासन-संस्था आदि नष्ट होगई पर थोड़े ही समय में वह किसी-न-किसी रूपमें फिर आजायगीं। 'नया संसार' में बताई हुई सीमा तक जब तक मनुष्यका विकास नहीं होता तब तक किसी न किसी तरहकी धर्म-संस्था रहेगी।

धर्म-संस्थाका विकास

६. विकासवादके आधारसे मैं धर्मोका अध्ययन करता हूं। जहाँ जिस युगमें मनष्यका जितना विकास हुआ होता है उस युगमें पैदा होनेवाला धर्म भी वैसा ही विकसित होता है। जंगली युगका धर्म भी जंगली ढंगका होगा और वैज्ञानिक युगका धर्म भी वैज्ञानिक ढंगका होगा। इसलिये मेरी दृष्टिसे न तो कोई धर्म पूर्ण सत्य होता है न सदा सर्वत्रके लिये उपयोगी। वह अपने देश कालकी मांग पूरी करता है, और उस युगमें जैसी बौद्धिक सामग्री उपलब्ध होती है उसी तरह वह बनता है। मैं मानव जातिका क्रम विकास मानता हूं उसी तरह धर्मका भी क्रम विकास मानता हूं। प्राचीनताके कारण किसी धर्मको महत्व नहीं देता बल्कि अगर कोई दूसरा कारण न हो तो प्राचीनतासे अविकास की ही कल्पना करता हूं। जब कोई कहता है कि मेरा धर्म सबसे प्राचीन है तब मैं सोचता हूं कि क्या इस आदमीका धर्म इतना अधिक अविकसित है कि सबसे प्राचीन कहा जासके। साधारणत: एक क्षेत्रमें धर्म जितना पुराना होगा करीब-करीब उतना युग-बाह्य (आउट आव् डेट) होगा। इसलिये मैं धर्मोंकी आलोचना करता हूं, जो बातें युगबाह्य हो गई हैं अवसरपर उनको युगबाह्य बताता हूं, जैसे सब धर्मोंमे अतिशयवाद अलौकिकताएँ हैं उनका विरोध करता हूं, उनकी भौगोलिक मान्यताओंको हटाता हूं. धर्मक्रियाओंमें जो दोष हैं उन्हें दूर करना चाहता हूं, सर्वज्ञवाद आदिके सिद्धांत जो विकास रोकनेवाले और अहंकार बढ़ानेवाले हैं उनका खंडन करता हूं। मतलब यह कि सर्वधर्म-समभावी होनेपर भी धर्मोंकी आलोचनासे डरता नहीं हूं। सिर्फ निष्पक्षताका खयाल रखता हूँ। कोई शास्त्र मेरे लिये प्रमाण नहीं है, यह तो कहा ही करता हूँ। मैं इस दुनियाको ही महाशास्त्र मानता हूं। मेरा कहना है—

भाई पढ़ले यह संसार।

खुला हुआ है महाशास्त्र यह शास्त्रोंका आधार।

इतना होनेपर भी मैं राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध, जरथुस्त, ईसा, मुहम्मद, मार्क्स आदिका सन्मान करता हूं, उनकी पूजा करता हूं, उनकी मूर्ति बनाकर रख लेता हूं। इसका कारण यह है कि उन्हें अपने जमानेका युगप्रवर्तक मानता हूं और मानता हूं कि मानवके विकासके इतिहासमें उनकी सेवाओंका एक विशिष्ट स्थान है, उनने मानवको एक मंजिल ऊपर चढ़ाया है भले ही वह मंजिल आजकी मंजिलसे नीची हो। जार्ज स्टिफेसनने जो रेल-एंजिन

बनाया था वह आजके एंजिनके सामने कोई चीज नहीं है फिर भी स्टिफेंसनकी सेवाएँ आज भी स्मरणीय और स्तुत्य हैं।

एक बात और है कि संयम आदिके क्षेत्रमें आज भी मनुष्य-समाज इतना विकसित नहीं हो पाया कि इन महात्माओंके जीवनसे प्रेरणा न ले सके। आज भी इन महात्माओंके जीवनसे बहुत-सी बातें सीखी जासकती हैं इसलिये भी इनका आदर करता हूं। हां! इनके जीवनकी जो बात युगबाह्य होगई उसे युगबाह्य कहकर दूर कर देता हूं। फिर भी मानता हूं कि काफी बातें प्रेरणा पाने लायक है। अन्धविश्वास न रखकर, विवेकपूर्वक ऐतिहासिक परिस्थितिका खयाल रखते हुए इनसे प्रेरणा पानेका सन्देश देता हूं। और किसी एक ही महात्माके विषयमे पक्षपात न रखनेकी भी बात कहता हूं। साथ ही यह कहता हूं कि वैसे महात्मा और कई अंशोंमे उनसे बढ़कर आज भी होसकते है।

सम्प्रदाय

७. साम्प्रदायिक कट्टरता बुरी चीज है पर सम्प्रदायोंसे घबरानेकी जरूरत नहीं है। सम्प्रदाय अनिवार्य है। जो विचार आचार या संस्कार परम्परासे प्राप्त होता है उसे सम्प्रदाय कहते है। शासनकी भी परम्परा होती है, खान-पान, वेष-भूषा, भाषा आदिकी भी परम्परा होती है। इसी प्रकार धर्मकी भी परम्परा होती है। अगर धर्म परम्परागत संस्कारोंमे न दिखाई दे तो उसे निष्फल समझना चाहिये। क्योंकि सुसंस्कार पैदा करना ही उसकी सफलता है।

पर सम्प्रदायमे दो तरहकी बुराई आजाती है जिससे साम्प्रदायिकता घातक होजाती है। एक है विवेकहीनता। मनुष्यको अपनी बुद्धि इतनी जाग्रत रखना चाहिये कि वह सम्प्रदायकी युगबाह्यता, हानिकरता समझ सके और ऐसा अवसर आनेपर वह परिवर्तन कर सके। बुद्धिसंगत विचारों और वैज्ञानिकताको गाली न देने लगे, बल्कि विज्ञानकी खोजोंको स्वीकारकर उसके अनुसार सम्प्रदायमें परिवर्तन करे। इसीलिये सत्यामृतमें मैंने एक विधान किया है कि बारह-बारह वर्ष बाद सत्यामृतपर विचार किया जाय और आवश्यक सुधार कर लिया जाय। सम्प्रदायमें इस तरहकी गुञ्जाइश रहना चाहिये।

दूसरी बात यह कि अपने सम्प्रदायको सर्वकाल सर्वलोक सर्वव्यक्तिके लिये पूर्ण माननेका अभिमान न किया जाय। होसकता है कि हमारे लिये हमारा सम्प्रदाय पूरी तरह मुफीद हो, पर दूसरेके लिये वह अवश्य मुफीद होगा और दूसरा कोई सम्प्रदाय दूसरेके लिये मुफीद नहीं होसकता यह घमंड दूर करना चाहिये।

इस प्रकार सम्प्रदायोंको साम्प्रदायिक कट्टरता या साम्प्रदायिक संकुचिततासे दूर रहना चाहिये। अगर सम्प्रदायोंमें ये दोष है तो उन्हें दूर करना चाहिये या नये सम्प्रदाय बनाना चाहिये, पर सम्प्रदाय तो रहेंगे ही, चिरकाल तक रहना भी चाहिये। वे सुसंस्कारोंके स्कूल हैं उन्हें सुधारना ही अभीष्ट है मिटाना नहीं, भले हो किसी असाधारण व्यक्तिने स्कूलके बिना ही शिक्षण प्राप्त कर लिया हो। ऐसे एकाध व्यक्तिको देखकर स्कूल तोड़ नहीं जासकते।

मनुष्य अनीश्वरवादी होसकता है, अनात्मवादी होसकता है पर उसके भी सुसंस्कार डालना होंगे और उनका सम्प्रदाय बनाना पड़ेगा या बन जायगा।

जीवनके आधार

८. एक भाईने मेरे पास एक अंग्रेजी लेखका अवतरण भेजा है—उसका मुख्य अंश यह है—

They ask "what will you give us in religions place ?" expacting us to substitute one evil for another We answer frankly We give you nothing, offering only the knowledge that will liberate mankind.

After the superstitions shackles are removed once the inhibiting walls are torn down,

man will be free to construt his house from those three eternal bricks--atoms and space and law.

अर्थात् धर्मवादी लोग हमसे पूछते हैं कि-आप धर्मके बदलेमें क्या देना चाहते हैं ? वे हमसे आशा करते हैं कि हम एक बुराईके बदलेमें दूसरी बुराई दें। पर हम उन्हें साफ साफ उत्तर देते हैं कि हमें कुछ नहीं देना है। हम सिर्फ उस ज्ञानकी भेट करना चाहते हैं जो मनुष्य-जातिको बन्धनमुक्त कर देगा।

जब अन्ध-विश्वासोंके बन्धन टूट जायँगे, चहार-दीवारियाँ गिर जायँगी तब मनुष्य परमाणु, क्षेत्र और नियमरूपी तीन तत्वोंकी ईंटोंसे अपना घर बनानेके लिये स्वतन्त्र होजायगा।"

बुद्धिवादियोंके इस तथ्य-सत्य-तादात्म्यके आदर्शकी मैं प्रशंसा करता हूं फिर भी मेरा स्थान इन बुद्धिवादियों और धर्मवादियोंके बीचमें है। ये बुद्धिवादी कहते है कि हमने तुम्हे अपना घर (जीवन)बनानेके लिये तीन चीजे (परमाणु, क्षेत्र और नियम) देदीं। तुम इन्हींसे घर बनाओ। अगर इन्हींसे घर नहीं बना सकते तो हम कुछ नहीं जानते। जबकि धर्मवादी कहते है कि केवल इन चीजोंसे घर बन नही सकता, गारा या चूनाके रूपमें ईश्वरवाद या आत्मवाद जरूरी है। जो इनके बिना घर बनानेकी बात कहते हैं वे झूठे हैं।

मै कहता हूं कि संसारमें ऐसे व्यक्ति भी है, भले ही वे बहुत थोड़े हों, पर भविष्यमें अधिक होसकते हैं, जो ईश्वरवाद या आत्मवादके बिना अपना घर (जीवन) बना सकते है, जैसा कि म० बुद्धने बनाया था, म० मार्क्सने बनाया था और भी बहुतोंने बनाया था। इसलिये धर्मवादियोंका एकान्त ठीक नहीं। आदमी अगर विमानमे बैठे बिना व्योम-विहार नही करसकता तो इसका यह मतलब नहीं कि कोई दूसरा प्राणी भी नहीं कर-सकता। अथवा तैरना न जाननेवाला अगर कोई आदमी बिना नौकाके नदी पार नहीं कर सकता, तो इसका यह मतलब नहीं कि तैरनेवाला भी नहीं करसकता। लॅगड़ेको लकड़ीकी जरूरत है इससे हरएकको जरूरत न मान लेना चाहिये।

इधर बुद्धिवादियोंसे भी कहना चाहता हूं कि आप लँगड़े नहीं हैं इसलिये लकड़ी न लीजिये, पर जो लॅगड़े है उनकी लकड़ी छुड़ानेका हठ क्यों ? हाँ, उनका लॅगड़ापन मिटानेकी कोशिश कीजिये, मिटजाय तो लकड़ी छूट ही जायगी, पर जबतक मिटा नहीं है तबतक लकड़ीके सहारे चलने दीजिये, इतना ही नहीं ऐसे लोगोंको लकड़ी दीजिये। मै यही कर रहा हूं। अनीश्वरवादीको ईश्वरवादी नहीं बनाता पर जो ईश्वरवादके बिना नहीं चल सकता उसे उसीके सहारे चलने देता हूं, इतना ही नहीं उसकी लकड़ीमें सुधार भी करता हूं जिससे कमजोरी कम-से-कम रहे और गति प्रगति बने।

मेरा ध्येय गति है चाहे लकड़ीके सहारे हो, चाहे बिना लकड़ीके सहारे, मेरा ध्येय घर बनाना (जीवन-निर्माण) है, चाहे वह परमाणु-क्षेत्र-नियम-की ईंटोंसे ही बने, चाहे उसमें ईश्वर या आत्माका मसाला और लग जाय।

अन्ध-विश्वासोंके बन्धन टूटना और चहार-दीवारियोंका गिरना कठिन होनेपर भी इतना कठिन नहीं है जितना कि जीवनका घर बनाना। अच्छी-से-अच्छी सरकार और समाज-व्यवस्था बनानेपर भी स्वार्थी व्यक्ति अन्यायसे सफलता पा लेते हैं अधि-कारोंका दुरुपयोग करते हैं, और बहुतसे लोग जीवनभर तपस्या करनेपर भी म० ईसा और म० मार्क्सकी तरह कष्टमय और कष्टान्त जीवन बिताते हैं इनके लिये मानसिक समाधान क्या ? हरएक आदमी म० मार्क्स नहीं है, वह अगर म० ईसा बन-जाय तो भी दुःख सहनके लिये अपने स्वर्गीय पिता-का सहारा चाहता है, भले ही वह स्वर्गीय पिता

सिर्फ मनमें ही हो, पर जो मनमें होता है उसीके अनुसार तो मानव जीवनका निर्माण होता है। बाहरी वस्तु तो मनमें आनेके लिये निमित्तमात्र है। बाहरी वस्तुके बिना भी अगर कोई बात मनमें बस जाय तो जीवन निर्माण उसीके आधारसे होने लगता है।

एक आदमी सोचता है कि जगतमें तीन ही तत्त्व हैं--परमाणु, क्षेत्र और नियम। नियममें गुरुत्वाकर्षण, रसायनाकर्षण, स्नेहाकर्षण आदि बहुतसे नियम हैं पर ऐसा कोई नियम नहीं है कि यदि मैं अपनी चतुराईसे दूसरोंको ठग लूं, किसी तरह समाजकी आंखोंमें धूल झोंककर दूसरोंका हिस्सा हड़प जाऊं, दूसरोंकी कम-से-कम पर्वाह कर अपना मतलब गांठ लूं तो वह नियम मुझे दंड दे या रोक सके। समाज और सरकारकी व्यवस्थाएँ जरूर हैं पर वे ऐसी नहीं हैं जो मेरी गहरी चालोंको पकड़ सकें। अथवा उनका संचालन मेरे ही हाथमें आसकता है तब सत्ता वैभव प्रचारके साधन हाथमें होनेसे मैं ऐसी चाल चल सकता हूँ कि बद होकर भी बदनामीसे बचा रहूं, स्वार्थी होकर भी परोपकारी कहलाऊँ, लूटकर भी दानी उदार कहलाऊँ। मुझे अपने मतलबसे मतलब। दुनिया जहन्नुममें जाय मुझे क्या देना लेना।

मैंने जो यह एक आदमीका चित्र खींचा है वह किसी आसाधारण दुर्जनका चित्र नहीं है, किन्तु प्रागैतिहासिक कालसे लेकर आज तकके औसत आदमीका चित्र है। तन मनकी शक्तिके असातुर प्रायः हर एक आदमी इसी राहपर चलता रहा है। बुद्धिवादियोंके उक्त तीन तत्त्वोंमें उसकी चिकित्सा नहीं होपाई है। उस चिकित्साके लिये ईश्वर आत्मा आदिके मनोवैज्ञानिक तत्त्वोंकी खोज करना पड़ी है। जिस दिन ये खोजे गये उस दिन सिर्फ खोजनेवालोंने अपनी दूकानदारी खड़ी करनेके लिये नहीं खोजे, मनुष्यकी चिकित्सा करनेके लिये खोजे। हां! पीछेसे इनके नामपर दूकानदारी, और वंचना भी हुई। चिकित्सा शास्त्र शुरूमें कुछ करामत दिखा देता है तभी उसकी ओटमें दूसरे लोग उसकी दूकानदारी चलाते है और वंचनाका खेल दिखाते हैं, मूलमें ही दूकानदारी नहीं होती।

यद्यपि मनोवैज्ञानिक तत्त्वोंसे भी सारी समस्या सुलझ नहीं गई, फिर भी फीसदी दस बीस आदमियोंने फायदा जरूर उठाया, और पूरा फायदा नहीं तो चतुर्थांश अष्टमांश फायदा जरूर उठाया। हम इनकी तसल्ली, इनका सहारा क्यों छीने? खासकर उस हालतमें जब कि हम इन्हें बुद्धिवादी सहारा दे नहीं पाते हैं।

कहा जासकता है कि इनका काफी दुरुपयोग होता है और काफी निष्फलता भी है। पर क्या अनीश्वरवाद नैरात्म्यवादका दुरुपयोग न होगा? क्या इससे निरंकुशता उच्छृंखलताका तांडव-नृत्य न होगा? क्या इस राहपर चलनेवाले सभी मार्क्स और बुद्ध बन जायँगे? दुरुपयोग दोनोंका है इसके लिये दुरुपयोग रोकनेकी ही पूरी कोशिश करना चाहिये। दुरुपयोग हर-एक चीजका होता है पर दुरुपयोगके डरसे उसके लाभको छोड़ा नहीं जा सकता। नहीं तो आदमी आदमी न रहे। ईश्वरवादका दुरुपयोग होता है इसलिये ईश्वरवाद छोड़िये, अनीश्वरवादका दुरुपयोग होता है इसलिये अनीश्वरवाद छोड़िये, फिर रखिये क्या? आत्मवादका भी दुरुपयोग, अनात्मवादका भी दुरुपयोग, इसलिये दोनोंका त्याग, तब रहे क्या? अगर दोनोंसे परे अनिर्वचनीयवाद, संशयवाद, शून्यवाद आदि निकालें जाँय तो उनका दुरुपयोग भी होगा इसलिये उनका भी त्याग किया जायगा तब जड़ बनने या पशु बननेके सिवाय आदमीको रास्ता ही न रहेगा।

हां! दुरुपयोग सदुपयोगका टोटल जरूर मिलाना चाहिये। दुरुपयोग अधिक हो तो छोड़ देना चाहिये। ईश्वरवाद आत्मवादका दुरुपयोग सदुपयोगसे कम ही है। और जो दुरुपयोग है वह अनीश्वरवाद अनात्मवादमें भी कम नहीं है। इस

लिये मेरा यही रास्ता ठीक है कि जो ईश्वरवाद-आत्मवादके रास्ते अधिक लाभ उठा सकते हैं उन्हें उसी राह चलाना चाहिये, जो अनीश्वरवाद-अनात्मवादके सहारे अधिक लाभ उठा सकते हैं उन्हें उसी राह चलना चाहिये। और दोनों पक्षोंके दुरुपयोगको रोकनेकी पूरी कोशिश करना चाहिये।

अनीश्वरवाद अनात्मवाद आदि आध्यात्मिक अराजकवाद है। अराजकवाद बहुत ऊंची व्यवस्था है। आज राज्यके नामपर लाखों करोड़ों आदमी गुलछर्रे उड़ा रहे हैं और उत्पादक श्रमके बिना ही व्यवस्थाके नामपर जनताकी कमाईका मक्खन हड़प रहे हैं, व्यवस्थाके लिये नौकर रक्खे गये आदमी व्यक्तिके सिरपर सवार है, महायुद्ध खून-खच्चर आदिका दौर-दौरा है, रिश्वतखोरी जनताका मांस चींथ रही है; इसकी अपेक्षा यह कितना अच्छा है कि दुनियामें कोई सरकार न हो, सब लोग अपने मनुष्योचित विवेक और संयमसे सहयोगी बनकर काम करें, न किसीको किसीकी धौंस सहना पड़े न किसीको हुजूर सरकार कहना पड़े, न दर्जनों करोंके रूपमें अपनी कमाई लुटवाना पड़े। अराजकवादका यह कितना सरल सुन्दर चित्र है। इसमें भी सन्देह नहीं कि इसी दिशामें आगे बढ़नेपर मनुष्यका वास्तविक विकास होसकता है। सैकड़ों आदमी ऐसे मिल सकते हैं जो अराजकवादी युगमें भी अपनी मनुष्यता कायम रख सकते हैं। इसलिये बुद्धिवादी की तरह अराजकवादी भी कह सकता है कि हम एक सरकारके बदले दूसरी सरकार देकर एक बुराईके बदले दूसरी नहीं दे सकते, हम तो सिर्फ तीन चीजें देना चाहते हैं विवेक, संयम और सहयोग। सरकार-की शृंखलासे मुक्त होकर मनुष्य इन्हीं तीनोंके सहारे अपना घर बनानेके लिये स्वतन्त्र होगा।

अराजकवादके ऐसे सरल सुन्दर निर्दोष सन्देश-को पाकर भी आज हम राज्यसंस्थाको हटा नहीं सकते, क्योंकि राज्यसंस्थाके तांडवकी अपेक्षा आज अराजकताका तांडव प्रलय तांडव ही होगा। विवेक, संयम, सहयोग, ये तीन तत्व मनुष्यमें होनेपर भी इतने व्यापक और गम्भीर रूपमें नहीं हैं कि आज अराजकताकी स्वतन्त्रताको पचा सकें। यही बात अनात्मवाद अनीश्वरवादके अराजकवादके बारेमें है। बड़ा सुन्दर है यह अराजकवाद, और धन्य हैं वे जो इसीके सहारे मानवता कायम रख सके हैं पर ऊंचे दर्जेकी यह धन्यता जिनको नहीं मिल पाई उन्हें ईश्वरवाद या आत्मवादका बोझ उसी तरह उठाना पड़ेगा जिस प्रकार आजका अधन्य मनुष्य सरकार-का बोझ उठाये हुए है। उसकी सेवा सरकार उठा देनेमें नहीं है किन्तु सरकार बदलने या सरकार सुधारनेमें है।

साधन साध्य विवेक

बुद्धिवादका समर्थक होनेपर भी बहुतसे उग्र-बुद्धिवादियोंके बारेमें मेरी यह शिकायत है कि धर्मवादियोंकी तरह वे भी इकतरफा बहुत झुक जाते हैं और अंतिम साध्यको भूल जाते हैं। धर्मवादी जब देखता है कि अमुक आदमी ईश्वरवादी नहीं है या अमुक धार्मिक क्रियाकांड नहीं करता तब वह उसे बेकार बेजिम्मेदार नीतिहीन आदि समझ लेता है, इसी तरह बुद्धिवादी जब देखता है कि अमुक आदमी ईश्वर या आत्मा मानता है भावनाकी खुराकके रूपमें कुछ क्रियाकांड करता है तो यह भी उसे मूढ़ बेकार आदि समझ लेता है, वह यह नहीं देखना चाहता कि इनका उपयोग यह किस रूपमें करता है। अन्तिम साध्यको भूलकर दोनों ही साधनमें अटक कर रह जाते हैं।

हमारा पथ सच्चिदानन्दमय होना चाहिये। सत्-का सार चित् है चित्का सार आनन्द। ईश्वरवाद अ-नीश्वरवाद, आत्मवाद अनात्मवाद आदि सब चित्के विलास हैं, चित्के बाद आनन्द है, चिद्विलासका मूल्य आनन्द-प्रापकताकी दृष्टिसे है। मैं ईश्वरवाद-अनीश्वरवाद, दोनों ही राहोंसे आनन्दकी प्राप्ति मानता

हूं। पात्रता, रुचि, संस्कारादिके अनुसार दोनोंका उपयोग करता हूं। बुद्धिको भी खुराक देता हूं भावनाको भी खुराक देता हूं। हां! दोनों राहोंकी बुराइयोंको हटानेकी पूरी चेष्टा भी करता हूँ।

मैं समझता हूं कि इस लम्बे-चौड़े खुलासेसे पाठक मेरे विचारोंको स्पष्ट समझ जायँगे, मुझे उग्र-बुद्धिवादी या उग्र भावनावादी समझकर भ्रममें न रहेंगे। वास्तवमें मैं कल्याणवाद या सत्यवादका प्रचारक हूं जिसमें विज्ञान और धर्म, बुद्धि और भावना दोनों ही समन्वित होते हैं।

सत्याश्रम वर्धा सत्यभक्त

ता० २२-५-४६

———

आत्मा और पुद्गलका अनादि-सम्बन्ध

(लेखक—श्री लोकपाल)

—※—

आत्माका स्वभाव पुद्गलसे एकदम भिन्न है। आत्मा चेतन तथा अमूर्तीक है और पुद्गल जड तथा मूर्तिक। आत्मा पुद्गलका सम्बन्ध स्वभावतः नहीं होना चाहिए। स्वभावसे आत्मा कभी भी पुद्गलका साथ नहीं चाह सकता और पुद्गल तो इच्छाविहीन जड ही है उसे क्या? जहाँ चाहे रख दीजिए या लगा दीजिए। फिर ऐसी हालतमें यह जो कहा जाता है कि आत्मा और पुद्गलका सम्बन्ध अनादि कालसे चला आता है—पुद्गलसे आत्मा बंधा हुआ है—यह क्यों और कैसे है? इसका समाधान अब तक ऐसा ठीक-ठीक तथा विशेषरूपमें नहीं हो पाया जिससे सचमुच आदमी केवल मानकर ही न चले किन्तु समझकर माने और तदनुसार चले जिससे श्रद्धान और दृढ एवं पक्का तथा पुर-असर हो। जब आत्मा और पुद्गलकी प्रकृति नहीं मिलती, एकतरफसे सांसारिक भाषामें दुश्मनी ही है तो फिर यह मेल-मिलाप और बंध वगैरह क्यों? आत्मा स्वभावतः ही पुद्गलसे मिलना या बंधना नहीं चाहता, न चाह सकता है यदि एकबार वह निर्मल—परम विशुद्ध होजाय। फिर पुद्गलमें कौन-सी शक्ति है कि उसने आत्माको बांध रखा है, जबकि वह स्वयं जड है तब ऐसा क्यों होता है? यह प्रश्न ऐसा है कि किसी भी समझदार आदमीके दिमागमें उत्पन्न हुआ करता है जब वह सिद्धान्तका पीछा करते २ यहां तक पहुँच जाता है। फिर उसे प्रायः यह समझकर संतोष कर लेना पड़ता है कि किसी सर्वज्ञने ऐसा कहा है इसलिए ऐसा ही होगा और यह बात केवल जन्मजात विश्वाससे ही हो सकती है जो केवल एक जैनीके दिलमें ही हो सकती है। दूसरे इसे क्यों मानने लगे। तुम यदि अपने सर्वज्ञकी व्याख्या नहीं कर सकते तो फिर मेरा ईश्वर ही कौन खराब है। मैं ही क्यों फिर अपने ईश्वरको छोड़ूँ जब तुम भी वहीं आकर रुक जाते हो। भाई, यहां तक तो बात मानने लायक हो भी सकती है कि आत्मा है और पुद्गल है और दोनों भिन्न-भिन्न हैं—इत्यादि। पर जब दोनोंका स्वभाव—Nature—प्रकृति एकदम विपरीत—भिन्न-भिन्न

है—दोनोंमें स्वाभाविकतया ही मेल नहीं होसकता—और यह सब भी जब आप ही कहते हैं तो हम यह कैसे मानलें कि आत्मा अनादि कालसे इन जड पुद्गलोंद्वारा बंधा चला आता है या बधा रह सकता है। यह कैसे संभव है, तर्क-द्वारा यदि कुछ समझा सकें तो समझाइये, वर्ना आप अपने सिद्धान्तोंकी पूजा कीजिए, मै तो अपनेकी कर ही रहा हूं। मैं ऐसी हालतमें क्यों आपकी बातें मानने लगा। ऐसी ही भावना हर-एक आदमीके दिलमें जैनधर्मको जाननेके बाद भी होती है या हो सकती है—फिर वह सोचता है कि भाई यही कहावत ठीक है कि "स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः" सभी धर्म ऐसे ही या एक-सां ही हैं। कोई कहीं जाकर गुम या चुप हो जाता है कोई कहीं। फिर जैसे चलता है वैसे चलने दो। अदला-बदली या परिवर्तनादि करनेसे क्या फायदा? यह तो कोरा मानव स्वभावानुकूल मनोवैज्ञानिक असर (effect) ऐसी बातोंका हर-एकके ऊपर पड़ता है। जहां कहीं भी शुबहा या सन्देहका मौका या छिद्र मिला कि मनुष्य उस किसी भी नए रास्तेको नहीं पसंद करेगा या नहीं करता है—भले ही उसमें चारों तरफ रत्न या सुवर्णकी खानें ही क्यों न भरी पड़ी हों। मनुष्य भरसक जहां पड़ा है वहीं पड़ा रहना चाहता है यदि उसे दूसरी अवस्थामे लेजानेकी इच्छा रखनेवाला उसकी सारी शंकाओं या प्रश्नोंका ठीक-ठीक संतोषजनक समाधान न कर सके यही बात और भी विशेषरूपसे हमारे धर्मोके साथ भी है। जैनधर्ममे बड़ी-बड़ी खूबियाँ एवं अच्छाइयाँ—आखिरी चरमसीमा या दर्जेकी सभी जगह कूट-कूटकर भरी पड़ी है पर यहां पहुँचकर जो हम ठीक जवाब नहीं दे पाते है इससे उन लोगोंके लिए जिनके दिलमे जन्मजात श्रद्धा नहीं—हमारा और सब कुछ कहना सुनना बेकार—बेमतलब—अप्रभावकारी हो जाता है। फिर वे आगे ध्यान नहीं देते। भले ही आप सही हों और सचमुच ही आप उन्हें आनन-फाननमें स्वर्गका अधिकारी (जैसा अधिकतर धर्मवालोंका चरम आदर्श है या समझा जाता है) बनादें या अपने कथनानुसार एकदम मोक्ष ही क्यों न दिलवा दें पर फिर वे हठ-धर्मीको अख्तियार कर लेते है और आपका सारा कथन टांय-टांय फिस हो जाता है।

इसलिए जैनधर्मको पूर्णरूपसे प्रस्थापित (establish) करनेके लिये इन प्राथमिक या आरंभिक (elementary) बातोंका तर्कपूर्ण उत्तर देना अत्यन्त आवश्यक है। मेरे मनमें भी ये प्रश्न आज न जाने कितने वर्षोंमे उठ रहे हैं पर उनका ठीक-ठीक समाधान अब तक नहीं हुआ था। अब एकाएक कुछ उत्तर मनमें उदित हुए है जिन्हें यहां देदेना मैं अपना फर्ज समझता हूँ। ताकि और जो लोग इससे लाभ ले सकें लेलें। हम आत्माके कार्यों तक तो अनुमानद्वारा ही जा सकते है या जा पाते है, स्वय आत्माको प्रत्यक्ष देखने या समझनेवाला तो जैसा हम कहते है वही हैं या हो सकता है जिसे हम तीर्थंकर, केवली सवज्ञ एवं सिद्ध कहते है। दृष्टान्त एवं उदाहरण द्वारा जहाँ तक हम समझ या समझा सकते है उतना ही तो हमे आगे बढ़ने और बढ़ानेमे सहायक होता है या होसकता है। और इसी तरह तर्क, अनुमान, प्रमाण इत्यादिपर सारी मान्यताएं आधारित है।

आत्मा और पुद्गल अथवा चेतन और जड़ (Matter) पदार्थ इस संसारमे—लोकमे सब जगह भरे पड़े हैं। जीवके आत्म-प्रदेशमें (उतनी जगह Space में जितनी कि जीवने घेर रखी है) पुद्गल भरे पड़े है। ऐसा माननेमे कोई दिक्कत किसीको नहीं होना चाहिए। यह तो एक तर्कपूर्ण--बुद्धिगम्य एवं वैज्ञानिक तथ्यसे भी खंडित नहीं होता। आत्मा चेतन तथा पुद्गल जड है। यह साबित करना यहां मेरा विषय नहीं है। इसपर तो बहुत कुछ कहा और लिखा जा-

चुका है जिसे कोई भाई मालूम कर सकता है। आत्मा निराकार परवस्तुसे शून्य- Matterless and Formless है। निराकारका मतलब वही है जैसा है हमारे यहां शास्त्रोंमे समझाया गया है। ये सब बाकी बातें हमारे शास्त्रोंसे देखकर या जानकर समझने और माननेमे कोई कठिनाई नहीं होती और न है। मै उनके वर्णन या Detail और ब्योरामे यहां नही जाना चाहता। हाँ, तो आत्माके अपने प्रदेशमें पुद्गल भरा हुआ है। जबतक आत्मा इस संसारमें है तबतक इस पुद्गल-सम्बन्धसे छुटकारा नहीं पासकता। यह तो प्रायः होना ही है जब दोनों एक तरह एक-साथ है। ऐसी हालतमें जब उन पुद्गलोमे जो आत्मप्रदेशमें स्थित है प्रकम्पन, हलनचलन-हिलनाडुलना होता है तब आत्माके प्रदेशमें भी या यों कहिए कि आत्मामें भी यह प्रकम्पन, हलन-चलन अथवा हलचल होती है। पुद्गल तो आत्मप्रदेशमें और उसके बाहर भी ठसाठस भरे है उनमे हलचल तो होती ही रहती फिर इस हलचलमे आत्मप्रदेशके पुद्गलमें हलचल होते रहना स्वाभाविक है और उससे फिर आत्मामें या आत्माके अपने प्रदेशमें भी। पुद्गल ही चारों तरफ भरे पड़े हों सो बात नहीं, आत्माएँ भी चारों तरफ भरी पड़ी है। आत्मामें तो अन्य आत्माओंको समा सकनेकी भी शक्ति है, क्योंकि वह Bodyless अशरीरी या Formless (केवल spirit जैसा कि कहा जाता है) है—एक आत्माके प्रदेशोंमें दूसरी कितनी ही आत्माएँ घुस सकती या रह सकती है। इस विषयपर भी ग्रन्थोंमे बहुत कुछ लिखा जा चुका है। इसतरह पुद्गलों और आत्माओंका एक दूसरेके साथ अभिन्न सन्निकटत्व चला ही आता है। और एक दूसरेके प्रदेश एक दूसरेके कारण हलचल करते ही रहते है। अर्थात् उनमें गति या हलन-चलन, जिसे हमारे यहां "कम्पन" नाम दिया गया है, होता रहता है। पुद्गल के हिलनेसे आत्मप्रदेश हिलता है और आत्म-प्रदेश के हिलनेसे पुद्गल हिलते है। ऐसी हालतमें हिलते-हिलाते रहनेमे ठीक वही दशा या बात हो जाती है जैसे कि किसी एक आत्मप्रदेशके अंदर जितने पुद्गल रहते है उनके भीतर अपने आप इसतरह के अविरल शाश्वत कंपनो या हलन-चलनसे एक तरतीब या संगठन या गुट्ट-सा बन जाता है। यह बात साधारणतः सभीकी समझमें आ सकती है—थोड़ा गौर करने मात्रमें ही। यहां कोई खास दृष्टान्त मेरे ध्यानमें अभी तक इस विषयपर या इसके आगे जो बातें मै कहूँगा उनपर नहीं आया है फिर भी विषयको समझनेमे कोई कठिनाई मेरी समझमें तो नहीं होनी चाहिए। जैसे किसी घड़ेमें हर एक साइजकी लंबी, मोटी, पतली, गोल, छोटी-बड़ी चीजे रखी हों। जब हम घड़ेको हिलाते-डुलाते हैं तब वे एक-दूसरमे इस तरह बैठ जाती है कि फिर केवल घड़ेको उलट देने मात्रसे ही वे चीजें नीचे नहीं गिर सकती। इसी तरहके अनेकों उदाहरण या दृष्टान्त हम स्वयं सोचकर अपने समझनेके लिए निकाल सकते है। कहनेका तात्पर्य यह कि इसतरह किसी आत्म-प्रदेशके अंदर मौजूद पुद्गल एक खास प्रकारकी बनावट या संघ या गठनमें गठित हो जाते है या होकर रहते है। यह सब तो स्वाभाविकतः ही हुआ। इसमें कोई दूसरा निमित्त नहीं। यह तो एक तरहकी प्रारम्भिक दशा मान ली गई है केवल बातको समझान मात्रके लिए, वैसे तो अनादिकालीन पुद्गल भी है और जीव भी और दोनों ही एक-दूसरेसे अभिन्न रूपमें भरे पड़े है। फिर उनमें बंध कैसे हुआ है या होता रहता है इसी को समझानेके लिए इन सबकी जरूरत है, जिससे साधारण ज्ञानवाला भी तर्कपूर्ण पाकर समझ जाए एवं संतोषित हो जाय—कि हां, बात ठीक है और यह संभव है। तथा आगे बढ़नेपर जब वह तारतम्यतायुक्त सभी कुछ चूलमें चूल बैठता हुआ एवं तर्कपूर्ण तथा युक्तियुक्त पावे तो सभी को स्वीकार कर सके या कर ले—निःशंक होकर।

हां, तो इस तरह आत्मप्रदेशके पुद्गल एक खास तरहके गठनमें गठित हो जाते हैं या हो रहते हैं। इसी तरह सोचते हुए जब हम और आगे बढ़ें तो यह सोच विचार या समझ सकते हैं कि इस तरह ये पुद्गल गठित होकर किसी आत्म-प्रदेशमें इस तरह सुगठित हो जाते है कि और दूसरे पुद्गलोंके मुकाबले (comparison) में उनकी एक स्वयं स्वतंत्र सत्ता-सी हो जाती है, जैसे नदियों या झीलोंमे कंकड़ बन जाते है या समुद्रोंमें मूंगेके पहाड़। ये कंकड़ या मूंगेके पहाड़ स्वयं निर्जीव है पर बनते-बनते बन ही जाते है। जैसे कोई स्पञ्ज हो और उसमें अन्दर सब जगह पानी ही पानी भरा हो और जहाँ जहाँ वह स्पञ्ज ले जाई जाए उसके अन्दरका पानी भी वहां वहां जाय। या कोई फल ले लीजिए जैसे नारंगी या संतरा। संतरेमे रस तो सभी जगह मौजूद है पर कुछ कड़ी सूखी चीजें रेशे या जेर्रे भी है जो गारने से निकलती है। पर यह रस और सूखी चीज इस तरह एक-दूसरेमें मिले हैं कि साथ-साथ ही चलते है। एक और उदाहरण लीजिए, जैसे किसी गोल गेंदके अन्दर हवा गैस या कुछ और चीजें भर दी गई हों—ठोंक-ठोंककर एकदम ठसाठस—तो गेदको उछालनेपर सभी कुछ उसके साथ ही उछलेगा। या यों समझ लीजिए कि शरीरके अन्दर खून पाकर कोई मांसपेशी बढ़ती जाती है—पर खून उसके जर्रे-जर्रेमें मौजूद रहता है—इससे हम कह सकते हैं कि वह मांसपेशी रक्तमय है या उस मांसपेशीमें मौजूद सारा रक्त मांसपेशीमय है। अथवा जैसे कपड़ेको हम पानीमें भिगो दें तो पानी और कपड़ा साथ-साथ ही रहेंगे जबतक कपड़ेसे पानी निचोड़ न दिया जाय। या यों समझिए कि कोई चीज है जिसके चारों तरफ मकड़ीने जाला बुन दिया—या घरकी औरतें जैसे छोटे-छोटे मोती या गुरियां (छोटे-छोटे शीशेके पोत) के अन्दर किसी चीजको छिपा देता हैं इत्यादि। यह कर्मों या पुद्गलोंका गठन कुछ ऐसा स्पंज समान कहीं नरम कहीं कड़ा ठीक-ठीक आत्मप्रदेशकी शकलका या साइज-आकारका ऐसा बन जाता है और उसके अन्दर ठीक-ठीक फिट हो गया होता है कि जहाँ जहाँ यह पुदगल संगठन जाता है आत्मा भी उसके साथ स्वयं स्वाभाविकत: स्पन्जमे रुके पानी या नारंगीके रसके समान या भीगे कपड़में वर्तमान पानीके समान अपने आप ले जाया जाता है।

हमने देखा है कि एक सूखी तोरई तोरी या नेनुआं जिसे जगह-जगह अलग-अलग नामोंसे पुकारते हैं। या इसी किसिमकी जर्रेदार कोई भी तरकारी या फलके अन्दरसे लेकर बाहर तक एक तरहकी बड़ी भारी जर्रेदार बनावट या जाला-सा होता है जो बड़ा ही मजबूत होता है और यदि उसके अन्दर पानी भी डाल दिया जाय तो स्पजके माफिक वह उसे ले जा सकता है। इसी तरह यह हलन-चलन होनेमे और पुद्गलोंमे आपसमें स्कंध या संघ बनते रहनेमें एक तरहकी मजबूत स्थिर—नहीं मिटने वाली या जैसी भी हो—बनावट या शकलका निर्माण स्वयं आत्मप्रदेशके अन्दर होजाता है या होता रहता है। इसे ही हम कह सकते है कि यह पुद्गलोंका बंध हुआ। यह सचमुच ही आत्माको बांध-सा लेता है या बांध लेसकता है जैसा हम ऊपर कह आए हैं।

मैंने पहले भी कहा है कि अभी इस समय तक (यह लेख लिखनेके समय तक) मेरे दिमागमे कोई ऐसे मौजू या ठीक दृष्टान्त या उदाहरण नहीं झलके जिन्हें मैं विषयको समझानेके लिए अकेला या एकदमसे दूं। पर फिर भी आशा है कि लोग इस बातको समझ जायेंगे। जैसे जब किसी पक्षीका वीर्य मादाके गर्भमें जाता है तब उसके चारों तरफ और उसके अन्दर अपने आप बनावट तैयार होने लगती है और बाहर भी एक कड़ी चीज बन

जाती है जिसे अण्डेका खोखला कहते हैं और उसके भीतरकी चीज उसके अन्दर बन्द होजाती है। पर बाहरसे भीतर तक नसों या बारीक रेशों-द्वारा सम्बन्ध कायम रहता है जैसे किसी फल, साग-भाजी या पेड-पौधे या पत्तियोंमें देखनेमें आता है। या आदमी या पशु-पक्षीके शरीरमें ही हम यह करामात अपने चारों तरफ या स्वयं अपने अन्दर ही देखते हैं।

इस तरहसे किसी भी आत्मप्रदेशके अन्दर मौजूद पुद्गलोंकी शकल, रूपरेखा—बनावट—संगठन कुछ इस तरहका होजाता है कि वह पूराका पूरा आत्मप्रदेश छेके तो रहता है ही वह उसे इस तरह आविष्ट, या आवेष्टित कर लेता है कि जिससे वह दोनों एक दूसरेसे बंध-से जाते हैं या बंधे-से रहते है। इस तरहकी बातके होनेका अनुमान करना हरएकके लिए अत्यन्त ही आसान है। फिर जहां-जहां वह पुद्गल शरीर जाता है या आत्मा जाता है दोनों एक दूसरेके साथ चले या चलते जाते है। यही कर्मों या पुद्गलोंका बंध है—जो अनादि कालसे आत्माके साथ चला आता है। और वस्तुस्वभावके अनुरूप by perpetual evolution शाश्वत विकास-द्वारा जब आत्मा पुद्गलोंसे छुटकारा पाजाता है तब उसे मोक्ष या मुक्ति कहते है।

वस्तुएँ अनादिकालीन हैं और उनके स्वभाव या गुण भी उनके साथ ही सदासे हैं। फिर जो कुछ प्रभाव उनके आपसमें एक दूसरेपर क्रिया-प्रतिक्रिया (Action and reaction) या मिलने-बिछुड़नेसे होगा या होता है उसीका नतीजा या उसी के फलस्वरूप यह सब दृश्य जगत या जो कुछ हम देखते-सुनते, जानते या समझते हैं वह सब कुछ है।

संसारकी विचित्रता

यदि हम पुद्गल-संघोंके इस गठन या बनावट-को ठीक-ठीक समझ जायँ तो संसारकी सभी बातोंका उत्तर ठीक-ठीक अपने आप मिल जाय। कोई भी विचित्रता बिना हल हुए (insolved) न रह जाय। जैसे मनुष्यके शरीरमें रक्त, मांस, हड्डी वगैरह बनते है वैसे ही पेड़ों पौधोंमें फल, फूल, पत्ते एवं अन्न बनते है। हर-एक वस्तुके पुद्गल-संघकी बनावट अलग-अलग या भिन्न-भिन्न है। हर-एक वस्तुका रूप, रंग, गुण इत्यादि उसके पुद्गल-संघोंकी बनावटकी विशेषता या विभिन्नता-पर ही निर्भर है। एक ही जमीनसे रस-पानी खींचनेवाले तरह-तरहके पेड़-पौधोंमें क्यों भिन्न-भिन्न तरहके फल, फूल, अन्न भिन्न-भिन्न रूपोंमें गुण एवं स्वादके साथ हो जाते हैं। कोई मीठा, कोई कड़वा, कोई तीखा, कोई अमृत, कोई जहर, कोई टेढ़ा, कोई सीधा, कोई गोल, कोई लम्बा, इत्यादि इत्यादि ? और भी एक ही तरहका अन्न, पानी, खाने-पीनेवाले दो जीवोंके शरीरमें दो तरहकी चीजे पैदा हो जाती हैं एवं उनके बच्चे भी उन्हींके अनुरूप होते हैं—यह सब क्यों ? और कैसे ? यह प्रश्न हमारे आधुनिक वैज्ञानिकोंको चक्करमें डाले हुए है। हमें जानना चाहिए कि जैसे inorganic chemistry मे chemicals का आपसमें action & reaction होता है उसी तरह organicसंसारमें भी होता है। सभीमें Atoms या Molecules की बनावटमें फर्क पड़कर ही कोई तबदीली होती है। जैसे crystals खास चीजके एक ही शकल-सूरतके बनते हैं वैसे ही अन्न पेड़-पौधोंमे भी फल, फूल, पत्ते वगैरह एक खास शकल-सूरतके ही बनते हैं एवं मनुष्य या और प्राणियोंके शरीरके अन्दर भी उसी तरह सब चीजें अपने आप बनती है। हर एक वस्तुके पुद्गल-संघकी बनावटमें फरक है तथा हर-एक बनावट अलग-अलग ढंगसे है। जब क्रिस्टल बनते हैं तो उनके बननेमें भी यही बनावट उनके खास तरहकी शकल-सूरतका कारण होती है। पुद्गलका एक संघ (स्कन्ध) छोटा-से-छोटा संघ—Molecules जिस तरहका या जैसी बनावटका होगा—और उसमें दूसरे और पुद्गल संघ mol-

eculas जैसे-जैसे आते और जुटते जायँगे उनके जुटने या मिलनेका ढंग या तरीका उस एक मंघ molecule की बनावटपर ही निर्भर करता है—जैसे किसी एक मूलमंघ (Molecule) में एक तरफ ऐसा है कि उसी तरफको दूसरा मौलेक्यूल (उपादानभूत-मूल स्कन्ध) सट सकता है दूसरी तरफ नहीं और दूसरा जो मौलेक्यूल आवेगा वह भी एक तरफसे ही उस पहले मौलेक्यूलसे सटेगा—दूसरी तरफसे नहीं इस तरह हर-एक चीज जब स्वाभाविक रूपसे बनती है या बनने लगती है तब उसका एक खास रूप हो जाता है। सबकी अपनी-अपनी तरतीब या शृंखला chain or link & direction of face or direction of attachment अलग-अलग है। जैसे एक लोहा जब तक चुम्बकके पास नहीं लाया जाता उसके भीतरकी बनावट एक खास तरहकी रहती है पर एक चुम्बकके पास लाया जानेपर उसी लोहेके अन्दरकी बनावटमें या उसके बनानेवाले मौलेक्यूलोंकी तरतीबमें फर्क पड़ जाता है, जिसकी वजहसे वह चुंबक हो जाता है। पत्थरका कोयला बहुत दबाव पड़नेसे ही हीरामें परिणत हो जाता है। एक ही चीज इस तरहसे भिन्न-भिन्न वस्तुओंके साथ भिन्न-भिन्न chemical action (रासायनिक प्रक्रिया) द्वारा, जिनसे पुद्गल-संघोंकी बनावटमें स्वयं फरक पड़ जाता है, भिन्न-भिन्न गुणोंकी वस्तुओंमें परिणत हो जाती है।

अनादिकालसे आत्मा (जीव) और पुद्गल एक-साथ इकट्ठा घुले-मिले चले आरहे हैं—फिर पुद्गलोंमें हलन-चलन या कंपन होनेसे और आत्मप्रदेशमें भी कंपन—हलचल होनेसे उस आत्मप्रदेशमें वर्तमान पुद्गल भी एक खास तरह की बनावट और संघोंमें बंध जाते हैं एवं आत्मा को भी इस तरह आबद्ध कर लेते है कि फिर दोनों की गुत्थम-गुत्थी हो जाती है और दोनों एक-दूसरेसे अभिन्न-से हो जाते हैं—इसे ही पुद्गल और आत्माका बंध कहते हैं। यह सब भी ठीक उसी तरह होता है जैसे किसी अन्न या किसी फलका रूप अपने आप तैयार हो जाता है। और भी जैसे पानीके गिलासमें तुखममलंगा इसबगोल या इसी तरहकी और भी ताकतकी दवाइयां होती हैं उन्हें डाल देनेपर ये चीजें फैल और फूलकर सारे गिलासके पानीको सोख लेती है और सब मिल-मिलाकर एक लोंदा-सा तैयार हो जाता है—पानीका फिर न तो पता लगता है न पहले जो चीज छोड़ी गई थी वही अपनी उस शकलमें रह जाती है। पानी और वह दवा एक-साथ ही लोंदेमें इकट्ठा जहाँ जॉय तहाँ तहाँ इकट्ठा हो जायँगे दोनों एक-दूसरेसे बँधे हुए ही जायँगे। पानीका तो कहीं पता भी नहीं रहता उसी तरह और जैसे फल-फल और अन्न वगैरह अपनी-अपनी शकल पकड़ लेते हैं तथा जैसे शरीरधारियोंके शरीरमें रक्त, मांस, मज्जा वगैरह अपने आप अपनी शकल-सूरत और खास तरहकी बनावटोंमें बनते जाते हैं वैसे ही आत्म-प्रदेशमें स्थित पुद्गल भी—आपसी कंपन या हलन-चलन या हलचलकी वजहसे एक खास शकलमें बन जाता तथा आत्मासे बँध जाता है और उसे भी बांध लेता है।

आत्माकी मुक्ति

आत्मा चेतन है—जानने और अनुभव करने वाला। सच पूछिए तो केवल जानना और अनुभव करना (to know & to feel) ही इसकी विशेषताको सूचित करता है। यह केवल ज्ञानमय या ज्ञान-मात्र ही है ऐसा भी कहना अनुचित नहीं होगा। अन्यथा ज्ञानके अतिरिक्त तो हर तरहसे यह शून्य ही है। इसके कोई पौद्गलिक (material) देह या शरीर नहीं है। यह तो स्वयं अशरीरी है। हां, पुद्गलके Matter संयोगसे शरीरधारी हो जाता है। पर पुद्गलके साथ मिलना, बंधना या संयोग इसका स्वभाव नहीं है। न तो वस्तुतः इसके कोई इच्छा

ही है और न इच्छापूर्वक पुद्गलके साथ बँधना ही इसका होता है। यह तो एक संयोगमात्र है। स्वभाव तो इसका हर तरहके Matter या पुद्गल से अलग ही रहनेका है पर अनादिकालीन संयोग—साथ रहना इसे पुद्गलके साथ बांध देता है। पर यह बंध स्वभावानुकूल नहीं होनेसे यह आत्मस्वाभाविक रूपसे ही पुद्गलसे छुटकारा पाता है या पा जाता है। यह छूटना, मुक्ति या मोक्ष तो वस्तुस्वभाव ही है। इसमे कोई तीसरा आधार, कारण या सहायक कुछ भी नहीं है। यह तो स्वयं अपने आप वस्तुस्वभावानुकूल होता है या होता जाता है—जिसे आधुनिक वैज्ञानिक (evolution) या विकासवाद कहते है। आत्मा कर्मो या पुद्गलों-से छुटकारा पानेके सिलसिले या दौरानमें जो रूप या शरीर वगैरह धारण करता है या करता जाता है उसे ही सांसारिक भाषामें (evolution) या विकास कहते है। इसका पूर्ण विकास तो तभी होता है जब इसके स्वभावको आवृत करनेवाले पुद्गलोंसे, जो संयोग या साथ रहनेके कारण ही इससे चिपटे रहते है और इसके गुणोंको ढाँक रहते है, यह छुटकारा पाकर अपने स्वभावमें पूर्णरूपसे विकासित हो जाता है। इसे ही धार्मिक परिभाषामें मोक्ष मुक्ति या निर्वाण होना या सिद्ध पदमें स्थापित होना अथवा ईश्वर हो जाना कहते है। यह आत्माकी सबसे ऊँची अवस्था है जहां इसका पूर्ण ज्ञान विकसित हो जाता है एवं यह परम निर्मल, परमविशुद्ध होकर सचमुच ही केवल-ज्ञान एवं चेतनामय या ज्ञान एवं चेतनामात्र रह जाता है। यह अवस्था प्रायः हर-एक जीव—हर-एक भव्य-प्राणी प्राप्त करता है या कर सकता है।

आत्माका पुद्गलोंके साथ सम्बन्ध मेल या बंध जब केवल संयोगमात्र है तब आत्माका इन पुद्गलोंसे छुटकारा स्वाभाविक एवं वस्तुस्व-भावके कारण ही अपने आप होता है।

आत्माका बंध पुद्गलके साथ कैसे हुआ रहता है। इसके बारेमें वैज्ञानिक explanation विवरण या स्पष्टीकरण) जो कुछ होसकता है उसके लिये अपनी Theory या सिद्धान्त मैं पहले लिख चुका हूं। यह भी ठीक इसी तरहसे है जैसे आज-कलके वैज्ञानिक बिजली (विद्युत—electricity) का electrons द्वारा होना कहते, मानते एवं समझते हैं। electrons को किसीने देखा नहीं:—परन्तु इसके काम या असर देखकर ही अनुमान किया गया है कि ऐसा कुछ है या ऐसा कुछ होनेसे ही जो सब सामने बिजली द्वारा होता हुआ देखा जाता है वह संभव है या उन सबका कोई ठीक explanation "तुकमें तुक बैठनेवाला" सम्भव होता है। यही बात चेतन आत्मा और material पुद्गलके मिलनके सम्बन्धमें भी, जैसा मैंने सुझाव उपस्थित किया है, पूर्ण रूपसे लागू है। यह काम Phenomena किसतरह सम्पादित होता है उसका प्रत्यक्ष दर्शन या प्रत्यक्ष ज्ञान तो अभी हम साधा-रण मानवोंको जितना सीमित ज्ञान, जानकारी या अनुभव है उसमें कैसे सम्भव होसकता है? ऐसी हालतमें यदि हम विद्युतप्रवाह इलेक्ट्रन electrons द्वारा होता है जैसे मानते है उसी तरह यदि तर्क पूर्ण तरीकोंसे इस विषयपर भी विचार करें तो इस विषयमें भी उसी नतीजे (Conclusions) पर पहुंचेगे जो पहले इस बारेमें लिखा जाचुका है और यही इसका most reasonable या Rational ex-planation लगता है (seems to be) जबतक दूसरा कोई इससे बेहतर Theory या सिद्धान्त आगे प्रति-पादित न हो। इस तरहकी बात जैसा पहले कहा जाचुका है। जैनधर्ममें वर्णित सिद्धान्तसे भी मेल खाजाता है और वेदान्त, न्याय, बौद्धधर्मोंसे भी। हां, इसमें केवल यह बात मानना अत्यन्त आव-श्यक है कि संसारका निर्माण किसी बाहरी शक्ति या किसी सर्वशक्तिमान ईश्वरने नहीं किया बल्कि यह सब कुछ स्वयं स्वाभाविक एवं अनादि है। यदि ऐसा मान लिया जाता है और जैनधर्ममें वर्णित

जैनेन्द्रव्याकरणके विषयमें दो भूलें

(युधिष्ठिर मीमांसक)

सन् १६४२ में श्री० पं० नाथूरामजी प्रेमीके विविध विद्वत्ता एवं अन्वेषणपूर्ण लेखोंका संग्रह 'जैन साहित्य और इतिहास' नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। उसमें आचार्य देवनन्दि-विरचित जैनेन्द्रव्याकरणपर एक लेख छपा है। उसमें दो भूलें हैं। उनकी ओर गत अगस्त मासमें श्री० माननीय पण्डितजीका ध्यान आकर्षित किया गया। उन्होंने मेरे पत्रका उत्तर देते हुए लिखा—

"आपने मेरे जैनेन्द्रव्याकरण सम्बन्धी लेखमें जो दो न्यूनताएं बतलाई हैं उनपर मैंने विचार किया। आपने जो प्रमाण दिये हैं वे बिलकुल ठीक हैं। इनके लिये मैं आपका कृतज्ञ हूं।.......

आपने जो न्यूनताएं बतलाई हैं उन्हें एक लेखके रूपमें यदि आप 'अनेकान्त' या 'जैनसिद्धान्त भास्कर' में प्रकाशित करदें तो ज्यादा अच्छा हो।"

श्रीमान् मा० पण्डितजीकी आज्ञानुसार उन दो भूलोंपर यह लेख प्रकाशित कर रहा हूं। आशा है इससे अनेक महानुभावोंको लाभ होगा।

१—डा० काशीनाथ बापूजी पाठकके प्रमाण उद्धृत करते हुए श्री० पण्डितजी ने लिखा है—

"पाणिनीय व्याकरणका सूत्र है—'शरद्वच्छुनकदर्भाद् भृगुवत्साग्रायणेषु' (४।१।१०२)। इसके स्थानमें जैनेन्द्रका सूत्र इस प्रकार है—'शरद्वच्छुनकदर्भाग्निशर्मकृष्णरणात् भृगुवत्साग्रायणवृषगणब्राह्मणवसिष्ठे'—(३।१।१३४)।

इसीका अनुकरणकारीसूत्र शाकटायनमें इस तरहका है—'शरद्वच्छुनकरणाग्निशर्मकृष्णदर्भाद् भृगुवत्सवसिष्ठवृषगणब्राह्मणाग्रायणे।' २।४।३६॥

इस सूत्रकी अमोघा वृत्तिमें "आग्निशर्मायणो वार्षगण्यः। आग्निशर्मिरन्यः" इस तरह व्याख्या की है।

इन सूत्रोंसे यह बात मालूम होती है कि पाणिनिमें 'वार्षगण्य' शब्द सिद्ध नहीं किया गया। जबकि जैनेन्द्रमें किया गया है। 'वार्षगण्य' सांख्यकारिकाके कर्त्ता ईश्वरकृष्णका दूसरा नाम है।" (पृष्ठ ११८)

इस लेखमें दो बातें दर्शाई हैं। एक—जैनेन्द्र व्याकरणके उपर्युक्त सूत्रमें 'वार्षगण्य' की सिद्धि दर्शाई है। दूसरी—पाणिनिमें वार्षगण्यकी सिद्धि नहीं है। ये दोनों बातें ठीक नहीं हैं। जैनेन्द्र और शाकटायनके जो सूत्र ऊपर उद्धृत किये गये हैं उनमें वार्षगण्य गोत्र होनेपर "आग्निशर्मायणः" की सिद्धि दर्शाई है न कि वार्षगण्यकी। वार्षगण्यकी सिद्धि जैनेन्द्र व्याकरणके "गर्गादेर्यञ्" (३।१।६४) (पृष्ठ ३६) से यञ्प्रत्यय होकर होती है। गर्गादिगण (४।१।१०५)

कर्मसिद्धान्त (Karma-Philosophy) को ठीक-ठीक तरह समझ लिया जाय एवं ऊपर लिखे मुताबिक आत्मा और पुद्गलोंके संयोगकी जो व्याख्या दी गई है उसे स्वीकार कर लिया जाय तो फिर किसी भी धर्ममें कोई झगड़ा न तो सिद्धान्तोंका रह जाता है न मान्यताका। हाँ, व्यवहार या आचरण देश, काल, परिस्थिति एवं स्थान या आवश्यकतानुसार भिन्न भिन्न हो सकता है और होगा ही। क्या हमारे धार्मिक नेतागण एवं Philosophers दर्शनके जानकार इधर ध्यान देकर इस चिरकालसे चले आते हुए विवादको दूर करेंगे? यदि ऐसा होजाय तो फिर संसारमें स्थायी शान्ति और फलस्वरूप सच्चा सुख सचमुच स्थापित होजाय।

में 'वृषगण' शब्द पड़ा है (पृष्ठ ४०)। पाणिनिने भी गर्गादिगणमें वृषगण शब्दका पाठ किया है। अब रही आग्निशर्मायण आदि पदोंकी सिद्धि। वह भी पाणिनीय व्याकरणमें विद्यमान है। पाणिनिने नडादिगण (४।१।९९) में "अग्निशर्मन् वृषगणे" तथा "कृष्णरणौ ब्राह्मणवाषिष्ठयोः" दो गण सूत्र पढ़े हैं। भेद केवल इतना ही है कि पाणिनिने ये गणसूत्र पढ़े हैं और जैनेन्द्र और शाकटायन व्याकरणमें इन्हे सूत्रमे सन्निविष्ट कर दिया है।

वार्षगण्य ईश्वरकृष्णका नाम लिखा है और उसके आधारपर जो जैनेन्द्रके कालनिर्णयका प्रयत्न किया गया है वह भी ठीक नहीं। वार्षगण्य सांख्यका एक अत्यन्त प्राचीन आचार्य है। महाभारतमें इसका बहुधा वर्णन मिलता है। तथा पाणिनिके व्याकरणमें वार्षगण्यकी सिद्धि होना भी इसकी प्राचीनतामें प्रत्यक्ष प्रमाण है अत: इस प्रमाणके आधारपर जैनेन्द्रका कालनिर्णय करना ठीक नहीं।

यह भूल डा० वेलवेल्कर ने भी की है देखो.... ..... पृष्ठ......।

२—पृष्ठ १०२ पर लिखा है—"अभयनन्दि कृत महावृत्तिवाले सूत्रपाठमे एकशेषको अनावश्यक बतलाया है—"स्वाभाविकत्वादभिधानस्यैकशेषानारम्भः" (१।१।९९)। और इसीलिये देवनन्दि या पूज्यपादका व्याकरण 'अनेकशेष' कहलाता है। चन्द्रिका टीकाके कर्ता स्वयं ही 'आदावुपज्ञोपक्रमम्' (१।४।११४) सूत्रकी टीकामें उदाहरण देते हैं—"देवोपज्ञमनेकशेष-व्याकरणम्।" यह उदाहरण अभयनन्दिकृत महावृत्तिमें भी दिया गया है।

पुनः पृष्ठ १०३ पर लिखा है—"पाठकोंको स्मरण रखना चाहिये कि उपलब्ध व्याकरणोंमें "अनेकशेष" व्याकरण केवल देवनन्दिकृत ही है दूसरा नहीं।"

यह लेख भी ठीक नहीं है। चान्द्रव्याकरणका समय यद्यपि ऐतिहासिकोंने बहुधा भिन्न-भिन्न माना है परन्तु इसपर सब सहमत हैं कि वह पूज्यपादसे प्राचीन है। चान्द्रव्याकरणमें भी एकशेष प्रकरण नहीं है अतः अनेकशेषव्याकरणकी उपज्ञा आचार्य पूज्यपादकी नहीं है। हमारे मतमें जैनेन्द्रव्याकरणकी विशेषता है संज्ञाका लाघव। यद्यपि पाणिनीय व्याकरणमें भी टि घु आदि लघु संज्ञाएँ हैं तथापि उसमें सर्वनाम, सर्वनामस्थान जैसी महती संज्ञाएँ भी विद्यमान हैं जैनेन्द्रव्याकरणमें कोई भी महती संज्ञा नहीं है।

वस्तुतः व्याकरणमेंसे एकशेष प्रकरणको हटाना आचार्य चन्द्रगोमीकी भी उपज्ञा नहीं है। उसने तो अपने व्याकरणमें आँख मींचकर पातञ्जल महाभाष्यका अनुसरण किया है। पतञ्जलिने पाणिनिके जिन-जिन सूत्रोंका जैसा-जैसा न्यासान्तर दर्शाया चन्द्रगोमीने वैसा ही न्यासान्तर अपने व्याकरणमें रख दिया और जिन सूत्रोंका प्रत्याख्यान किया उनको व्याकरणमें नहीं रक्खा। पतञ्जलिने महाभाष्य १।२।६४ में "अभिधान पुनः स्वाभाविकं" कहकर एकशेपका प्रत्याख्यान किया है। और आगे भी प्रतिसूत्र 'अयं योगः शक्योऽवक्तुम्' लिखा है।

महाभाष्यसे भी प्राचीन माथुरी वृत्तिका एक उद्धरण पुरुषोत्तमदेवने भाषावृत्ति १।२।५७ में दिया है—" माथुर्यां तु वृत्तौ अशिष्यग्रहणमापादमनुवर्तते "। इस उद्धरणके अनुसार एकशेपकी अशिष्यता स्वयं सूत्रकार पाणिनिने दर्शाई है ऐसा सिद्ध होता है।

ऐसी अवस्थामें उपलब्ध व्याकरणोंमें जैनेन्द्र व्याकरण ही अनेकशेष व्याकरण है और अनेकशेष व्याकरणकी उपज्ञा आचार्य पूज्यपादकी है यह ठीक नहीं।

इस विपयपर हमने अपने "संस्कृत व्याकरणशास्त्रका इतिहास" ग्रन्थमें विस्तारसे लिखा है। यह ग्रन्थ छप रहा है।

आशा है विद्वान महानुभाव इसपर विचार करेंगे।

मेरे मनुष्य जन्मका फल

(श्रीजुगलकिशोर कागजी)

—※—

मेरी जो आत्मा इस समय शरीरके सहारेसे जीवित रह रही है उसे मैं इसप्रकारका अभ्यास कराऊँ जिससे उसका आत्मबल बढ़ता जावे और बढ़ते-बढ़ते पूर्ण बल प्राप्त करके बिना शरीरके मेलके स्वयं अपने ही आधारसे जीवित व सुखी रह सके।

आत्माका स्वभाव सुख है। आत्माका जब तक शरीरसे सम्बन्ध बना रहेगा तब तक उसका सुख शरीरके आधीन ही रहेगा अतः आत्माको सुखी रखनेके लिये शरीरको स्वस्थ रखने योग्य क्रियायें करनी पड़ती हैं—शरीरकी रक्षाके अनेक उपाय करने पड़ते हैं।

शरीरका स्वभाव शारीरिक गुण और पर्यायोंके अधीन है और आत्माका स्वभाव आत्माके अधीन है फिर भी दोनोंके एक-साथ मेलके कारण एक दूसरेको हानि व लाभ होता रहता है। शरीरको हानि होनेसे आत्माको दुःख होता है, शरीरकी अवस्था अनुकूल रहनेसे—स्वस्थ रहनेसे—शारीरिक बलका लाभ होनेसे आत्माको सुख होता है। 'पहला सुख निरोगी काया' यह सब भली-भांति जानते ही हैं।

जब तक मेरी आत्माका मेल शरीरके साथ बना रहेगा मेरी आत्मा ऐसी क्रियायें व व्यवहार करती रहेगी जिसके कारण शरीरकी रक्षा होती रहे। परन्तु जो भी व्यवहार करना पड़े उसमें इस बातका विचार अवश्य करना पड़ेगा कि अन्य किसी भी प्राणीके शरीरको किसी प्रकारका कष्ट न पहुँचे, कारण कि जिसप्रकार मेरी आत्माकी खुशी मेरे शरीरके स्वस्थ रहनेपर निर्भर है उसी प्रकार दूसरे प्राणीकी खुशी भी उसके शरीरके स्वस्थ रहनेपर ही है। प्रत्येक प्राणीका स्वभाव सुख ही है और वह सदा दुःखोंसे डरता है। और सुख ही चाहता है।

दुःख दो प्रकारके होते हैं—एक तो शरीर-सम्बन्धी और दूसरे मनसम्बन्धी। शरीरसम्बन्धी दुःखसे बचनेके लिये शरीरकी प्रकृतिके अनुकूल शुद्ध साफ ताजा ऋतुके अनुकूल नियत समयपर भूखसे कुछ कमती भोजन करना आवश्यक है। शरीरकी अस्वस्थ दशाके हो जानेपर तुरन्त ही उसकी ठीक-ठीक चिकित्साके द्वारा शुद्ध औषधिका सेवन व अनुकूल पदार्थोंका सेवन ही शारीरिक हानिको दूर करनेका निमित्त है।

अपने शरीरके स्वस्थ रहते हुए ही मैं शारीरिक दुःखसे निवृत्त रह सकता हूं। शरीरके रोगके समय मुझे संसारके सभी पदार्थ व मेल बुरे अनुभव होते हैं। शरीरका दुःख स्वयं मुझे ही भोगना पड़ता है। मुझे कोई भी ऐसा नहीं दीखता जो मेरे दुःखमें हिस्सा बटा ले। अपने शरीरकी रक्षाके लिये शरीरमें उत्पन्न हुए रोगको नष्ट करनेके लिये मैं अपनी प्यारी सम्पत्तिकी भी परवाह न करके उसको चिकित्सा व औषधिके निमित्त खर्चकर देता हूं। शरीरसे बढ़कर मुझे कोई अन्य वस्तु शरीरके समान प्यारी या मूल्यवान नहीं—समस्त संसारकी सम्पत्ति व विभूति एक तरफ और मेरे शरीरकी रक्षा-स्वास्थ्य-सुख दूसरी तरफ।

जब मेरा शरीर ही इस समय मेरा सर्वस्व है तो भला दूसरे मेरी आत्माके समान जो आत्मा

व जीव हैं उनका शरीर उनको भी सुखका साधन व सर्वस्व क्यों न हो।

शरीरके स्वस्थ रहते हुए भी अच्छीतरह सुखपूर्वक समय बिताते हुए भी आत्मामें एक चिंता-सी बनी रहती है, उधेड़-बुन सी लगी रहती है, उलझन-सुलझन-सी रहती है। कभी तो मन इतना सुखी-सा होजाता है कि बस मेरे बराबर कोई दूसरा नहीं, सब कुछ मेरे लिये और मेरे ही अधीन है। और जो चीज बाकी रह गई है वे मुझे अधिक-से-अधिक प्राप्त होनी चाहिये। और कभी इतना दुःखी होजाता है कि मेरे बराबर कोई दुःखी नहीं, अतः बराबर बेचैन-सा बना रहता है। जो पदार्थ या सम्बन्ध उसको प्यारा या सुखरूप जान पड़ता था वही कुछ समय पश्चात् बुरा या दुःखरूप जान पड़ने लगता है—किसी वस्तु या सम्बन्धसे मेलकी चिन्ता और किसी सम्बन्ध या मेलको छोड़नेकी चिन्ता लगी रहती है—किसीके मेलसे जिस समय जिस मेलमें लाभ दीखता है वह सुखी होजाता है उसी मेलमें जिस समय हानि देखता है वह दुःखी होजाता है—इस तरह शारीरिक सुख-दुःखसे भिन्न दूसरा कारण मन-सम्बन्धी भी दुःख-सुख होता है।

मन-सम्बन्धी दुःखको दूर करनेके लिये कोई न तो औषधि है, न कोई चिकित्सा है, न एकके मनकी बातको कोई दूसरा जान पाता है। प्रत्येक प्राणी स्वयं अपने आप ही अनुभव करता रहता है, और मन-सम्बन्धी दुःखोंसे रहित होनेके उपाय सोचता रहता है।

जब कोई गाली देता है, झूठ बोलता है, माल चुराकर ले जाता है, धोखा देता है, छेड़ता है, मारता है, पीटता है, किसी स्थानमें बंदकर देता है तब उस समय मन-संबंधी दुःख, अधिक उत्पन्न हो जाता है, जो कि एक ऐसा वैरका—चिन्ताका—दुःखका बीज आत्मामें उत्पन्नकर देता है जिससे समय-समयपर उसका स्मरण आजानेपर आत्मा दुःखी होकर उसका बदला लेनेका प्रयत्न करने लग जाती है।

जब मेरी आत्मा मन-संबंधी दुःखोंके कारणोंसे बचना चाहती है, तो फिर मुझे दूसरे प्राणियोंके हृदयमें चिन्ताओंके उत्पन्न करनेवाले कार्य करना कैसे शोभा दे सकते है? जैसा मैं वैसे वे —इसकी कसौटी तो आत्मा स्वय ही है कोई दूसरा अन्य पदाथ नहीं, अपने आप ही वैद्य है, अपने विचार ही औषधि है, अपनी आत्माके अनुकूल दूसरी आत्माओंके सुख व दुःखका अनुभव ही शान्ति है, और सत्य है, शुभ है, भाव अहिंसा है—और इसी प्रकार के अधीन रहते हुए दूसरे जीव व पदार्थोंसे व्यवहार व संबंध सत्य व्यवहार, शुभ व्यवहार और व्यावहारिक अहिंसा है।

जितना भी व्यवहार है वह सब मेरी आत्मा की खुशी व सुखके लिये है। आत्माका सावधानता-पूर्वक रहते हुए जो अपने शरीरके साथ व अन्य शरीरसहित व शरीररहित जड़ पदार्थों के साथ जो व्यापार है उसका ध्येय अपनी व दूसरी आत्माओंकी रक्षा ही है।

अपनी आत्माका वास्तविक ध्येय आत्माको स्वतन्त्र शरीरके निमित्त तथा व्यवहारसे रहित करनेका ही है, ताकि शारीरिक दुःख व मानसिक दुःखोंसे यह आत्मा सदाके लिये निवृत हो जावे जब तक आत्मा शरीरके साथ रहते हुए शरीर और आत्माको एक माननेके कारण अपना पूर्ण आत्मबल प्राप्त नहीं कर लेगी तब तक शरीरका संबंध व शरीरके निमित्तसे उत्पन्न होनेवाले शारीरिक व मानसिक दुःख आत्माको अप्रिय लगनेवाले दुःख भोगने ही पड़ेंगे।

आत्मा इस मनुष्य-देहको प्राप्त होकर जो भी व्यवहार शरीरकी स्थितिको भली-भाँति रखनेके लिये कर रही है उसका मूल प्रयोजन यह ही है कि

कविवर बनारसीदास

(ले०—कुमार वीरेन्द्रप्रसाद जैन)

शांत-रसकी भगीरथी प्रवाहित करनेवाले अध्यात्मवादका कोना-कोना झांक आनेवाले लोक-कल्याणार्थ सवस्व समर्पण करनेवाले, उदार-चेता कर्मठ, कविवर बनारसीदासजीने स्वकृति-सुधासे शृंगारोन्मुख ज्ञानहीन जनताको संसार-सागरसे तिरकर, उस परमसुख एवं परमानन्द मुक्तिको प्राप्त करनेके हेतु सीधा-सच्चा-सरल पथरूपी

कुछ समय प्रति-दिन आत्माको ऐसा मिल जावे जबकि आत्मा आत्माके लिये अपनी आत्माके अन्दर अपनी आत्माका ध्यान करनेका अभ्यास करने लग जावे—अर्थात् दृष्टि अपने इष्ट ध्येयपर जमा लेवे। जब तक शरीर स्वस्थ रहेगा—तब तक यह ध्यान व दृष्टि बनती रहेगी, और आत्मा शरीर-की शक्तिसे भिन्न अपनी निज शक्तिको शनैः शनैः बढ़ाती चली जावेगी। ज्यों ज्यों आत्मशक्ति बढ़ती जावेगी त्यों त्यों मानसिक दुःख कमती होते चले जावेंगे और अन्तमें समस्त मानसिक दुःखोंके कारणोंको आत्मासे भिन्न करके निज पूर्ण ध्यान-में आत्मा लीन व एक होकर सदाके लिये पूर्ण ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यमे रम जावेगी। यह ही मनुष्य जन्मका पूर्ण फल है, जिसे प्रत्येक आत्मा चाहती है और यही प्रत्येक आत्माका स्वभाव है शरीरके साथ वास्तविक व्यवहार इसकी ही सिद्धिके अर्थ हैं। जितने प्राणी इस प्रकार सिद्ध अवस्थाको प्राप्त हो चुके हैं वे सिद्ध भगवान हैं शरीरसे रहित हैं—दुःखोंसे रहित हैं—पूर्ण सुखी हैं—। मैं उन्हींका सहारा लेकर और जिस मार्गपर वे चले हैं उसी पर चलकर उन जैसा बननेका प्रयत्न करता हूँ।

कविता-स्रोत बहाया; जिसका पानकर भग्नाश जनताने विषयात्मक वृत्ति बदली। ऐसे महान् कवि-शिरोमणि बनारसीदासजीके जीवन-वृत्तपर एक विहंगम दृष्टिपात करना आवश्यक है। उनका जीवन-वृत्त जाननेके निमित्त, हमें उनके अनूठे ग्रन्थ 'अर्धकथानक' का ही आश्रय लेना पड़ेगा, उसके आधारपर जन्मादि इसप्रकार है:—

"सम्वत् सोलह-सौ तेताल, माघ मास सित पक्ष रसाल।
एकादशी वार रविनन्द, नखत रोहिणी वृषको चन्द॥
रोहिन त्रितिय चरन अनुसार, खरगसैन घर सुत अवतार।
दीनों नाम विक्रमजीत, गावहिं कामिन मंगल-गीत॥"

कविवरका अध्ययन सात वर्षकी अवस्थासे ही प्रारम्भ होगया था, इससमय आप प्रकाण्ड पं० पाण्डे रूपचन्द्रकी छत्रछायामें विद्योपार्जन करते थे, परन्तु मुगलराज्यके भयसे आपका दस वर्षकी आयुमें पाणिग्रहण हो गया, इसके कुछ समय तक अध्य-यन कार्य बन्द रहा। चौदह वर्षकी अवस्थामें आप-ने पुनः पढ़ना प्रारम्भ किया।

अब यह कविवरकी यौवन-अवस्था थी। उनका गात उन्मादयुक्त था, वे इसके प्रभावसे विरक्त न रह सके, इसके सामने सिर टेकना पड़ा, विषय-वासनामें लिप्त होना पड़ा। यथा—

'तजि कुल कान लोककी लाज, भयो बनारसि आसिखबाज।

और..........

"कबहूं आइ शब्द उर धरै, कबहूं जाइ आसिखी करै।
पोथी एक बनाई नई, मित हजार दोहा चौपई॥
तामें नवरस रचना लिखी, पै विशेष बरनन आसिखी"

कविवरके तीन विवाह हुए थे, तथा उनका

वैवाहिक जीवन आनन्दमय-सा रहा, आपकी पत्नी आदर्श एवं पतिव्रता थी, आपके नौ पुत्र हुए, पर दुर्भाग्यवश सब ही महाकालके पथिक बने।

"कविवरको काव्य-कलाके दर्शन तो बाल्याव-स्थासे ही हो गये थे, और कवित्व उनका जीवन-सहचर-सा होगया था। इस समय आपकी कविता-धारा शृंगार-रसमें ही प्रवाहित हुई थी, किन्तु परिवर्तन हुआ। प्रकृतिका यह अटल नियम है—

रातके बाद दिन होता है।
संध्याके बाद प्रभात होता है।
मरणके बाद जन्म होता है।
अवननिके बाद अभ्युदय होता है।

एकबार कवि-पुंगव गोमतीके तटपर अपनी रसिक-मंडलीके साथ शीतल समीर सेवन कर रहे थे। सहसा कविवरकी दृष्टि गोमतीकी तरल तरंगोंपर पड़ी और वे उसकी तुलना मनसे करने लगे, तब वे वैराग्यात्मक भाव-सागरमें स्नान करने लगे और एकाएक बगलमे दबा हुआ स्वरचित शृङ्गारिक काव्य गोमतीकी लोललहरोंमे सदाके लिए समर्पित कर दिया। इतना महान त्याग क्षणभरकी सुमतिके प्रभावसे कर डाला। इसपर उनके साथियों ने क्रन्दन किया पर अब क्या होसकता था। यहां से कविका जीवन-उपन्यास सदाके लिये पलट गया। इतना ही नहीं उनका लौकिक प्रेम पारलौकिकतामे परिणत हो गया। यथा—

'तब अपजसी बनारसी अवजस भयो विख्यात।'

अबसे आपका शेषांश समय व्यापार तथा धर्म-प्रभावनामें ही व्यतीत हुआ। आपने व्यापार-में बड़ी कठिनाइयोंका सामना किया। आपमे स्वाभिमान था। यही कारण था कि आपने जहाँके शाह शाहजहाँके यहां सन्मान पाया, शाहजहां आपकी धर्मपरायणता, साधुता तथा दृढ़तापर मंत्रमुग्ध-सा रहता था। अर्धकथानक लिखनेके पश्चात् आप कबतक जीवित रहे, यह अज्ञात है। कविवरकी मृत्युके विषयमें किंवदन्ती है, कि कविवर जब मृत्यु-शय्यापर पड़े थे उस समय कंठ रुंध गया था, और तब कविवर अपना अन्त समय समझ भगवत् ध्यानमे निमग्न हो गए। आपकी मौन-मग्नता देख मूर्ख जन कहने लगे कि आपके प्राण माया एवं पारिवारिकजनोंमे अटके है। इसपर कविवरने संकेतोंसे पट्टी और लेखनी मांगकर दो छन्द गढ़कर लिख दिये।

"ज्ञान कुतक्का हाथ, मारि अरि मोहना।
प्रगट्यो रूप स्वरूप, अनन्त सु मोहना॥
जापरजैको अन्त, सत्यकर मानना।
चले बनारसीदास, फेरि नहि आवना॥

हमारे चरितनायक, कर्मवीर, कविचूडामणि बनारसीदासजीका काव्य-निर्झर शान्तरसके सलिलका बहा है; उसमे अलौकिक आभा है, अध्यात्मवादकी चरम-सीमा है, मन मोहनेकी महान् क्षमता है और है उसमें सौष्ठवता, गेयता तथा गम्भीरताके साथ-साथ सरसता।

उनकी कविता गीतात्मक है, जो अपनी मधुर स्वर-लहरीसे सीधी मनुष्यके वक्षःस्थलपर ठहरती है और हृदस्थलके प्रत्येक सूक्ष्म भाग तकको झंकृत करती है। जिसकी झंकारसे मानवके मानससे सात्विकता, धर्मपरायणता और दयाकी स्वच्छ सरिता बह निकलती है जो संसारकी संतप्ततामे शीतलताके संचारणार्थ सहायता प्रदान करती है।

उन्होंने तात्कालिक प्रचलित सभी काव्य-पद्धतियोंमे सफलकाव्यांगपूर्ण रचना की है। आपने अवधी और खड़ी बोलीको अपनाया है। उसमे भी शुद्ध तत्सम तथा तद्भव शब्दोंको और रूपकों तथा अलंकारोंको व्यवहृत कर भाषाको पूर्ण साहित्यिक बना दिया है। भाषा प्रांजल तथा अध्यात्मवाद जैसे नीरस विषयमें होनेपर भी ओज, माधुर्य, प्रसाद आदि गुणोंसे युक्त है,।

उनके हृद्रूपी सरोवरमे चार बृहत् कुसुम

खिले; जो संसारके सामने 'समयसार', 'अर्ध-कथानक', 'बनारसीविलास', और 'नाममाला' के रूपमें प्रकट हुए। उनके भीने-भीने सौरभने विश्वमें विमल वातावरणका विनिर्माण किया।

१. समयसार—यह प्राकृत भाषाके समयसार पर लिखे गये संस्कृत समयसार नाटकके आधार पर रचा गया है। यह हिन्दी साहित्य-सदनका विशाल बहिर्द्वार तथा नींव है। इसमें कविने अध्यात्म-मरुभूमिमे अपने शान्त-रसके सिंचनसे सुन्दर-सुषमावाले उद्यानकी सृष्टि की है, जिसमें विचरण करते ही बनता है। उसके एक सुछन्दका रसास्वादन कीजियेः—

"काया चित्रसारीमें करम परजंक भारी,
मायाको सबारी सेज चादर कलपना।
शैन करै चेतन अचेतनता नींद लिए,
मोहकी मरोर यहै लोचनको ढपना॥
उदै बल जोर यहै श्वासको शबद घोर,
विषै सुखकारी जाकी दौर यहै सपना।
ऐसी मूढ़ दशामें मगन रहै तिहुं काल,
धावे भ्रम-जालमें न पावे रूप अपना"

२. अर्धकथानक—कविका 'आत्मचरित्र' है। इसमें कविने जिस निपुणतासे आत्मवर्णन किया है, वह पठनीय है। उसमें कविके व्यक्तित्वकी छाप है। हिन्दी-साहित्यके क्षेत्रमें यह आत्म-चरित्र-चित्रणका पहला ग्रन्थ है, एवं चरित्र-चित्रणकी शैलीकी सृष्टि यहींसे हुई। इसप्रकार हमारे कविराज चरित्र-चित्रण-शैलीके प्रवर्तक एवं संस्थापक भी हैं। 'अर्धकथानक' कविवरको एक प्रौढ़ सत्समालोचक भी बनानेको पर्याप्त है।

३. बनारसी-विलास—बनारसीदासजीकी विमल वाणीसे विस्वरित होनेवाले अमृतोपदेशका संग्रह है, जो पं० जगजीवनदासजी द्वारा संकलित किया गया है। इससे यह स्पष्ट है कि कविने जो कुछ रचा है वह लोक-कल्याणका महान्, उद्देश्य दृष्टिकोणमें रखते हुए रचा। इसलिए नहीं कि वे साहित्य-सदनमें सर्वोत्कृष्ट स्थानपर स्थित होवें। इससे कविकी अन्तर-आत्मा झलक पड़ती है, इसके एक दो शिक्षाप्रद पदोंकी मर्म-स्पर्शताकी अनुभूति कीजिए।

१. कुल-कलंक दलमलहि, पापमल-पंक पखारहि।
दारुण संकट हरहि, जगत-महिमा विस्तारहि॥
सुरग मुकति पद रचहि, सुकृत संचरहिं करुणारसि।
सुरगन वदहि चरन, शील-गुण कहत बनारसि॥
२. ज्यों सुवास फल-फूलमें, दही-दूध में घीव।
पावक काठ-पाषाणमें, त्यों शरीरमें जीव॥

४. नाममाला—यह एक कोष-ग्रन्थ है यह महाकवि धनञ्जयकी संस्कृत रचना नाममालाका प्रायः सुन्दर हिन्दी-अनुवाद है। अनुवाद उत्तम है। साहित्य-प्रेमियोंके कंठ करने योग्य है। उदाहरणार्थ एक दोहेका ही दर्शन कीजिये—

सम्यक सत्य अमोघ सत निःसंदेह विनधार।
ठीक यथारथ उचित तथ मिथ्या आदिश्रकार॥

हिन्दी-व्योम-वितानमें कविशिरोमणि बनारसीदासजी मध्यान्हकालीन जाज्वल्यमान मार्तंडकी नाईं प्रखर किरणोंवाले दीप्तमान हैं। उनकी आभा अमर है। उनकी समता रखनेवाले प्रायः महात्मा तुलसीदासजी ही हैं। कहा जाता है कि एकबार बनारसीदासजी तथा तुलसीदासजीका साक्षात्कार हुआ था। उस समय कविवरने एक अपनी सुरचना तुलसीदासजीको सुनाई। इसपर महात्मा तुलसीदासजीने अपना ग्रन्थ 'रामचरित-मानस' कविवरको भेट किया। पुनः भेट होनेपर जब तुलसीदासजी ने रामायणके विषयमें पूछा तो कविवरने······ "विराजै रामायण घट मांहिं" रचना तत्काल रचकर सुनाई। इस अध्यात्म-रचनाको श्रवणकर तुलसीदासजीने बनारसीदासजीको 'पार्श्वनाथस्तोत्र' एवं 'भक्तिविरदावलि' शीर्षक अपनी सुन्दर रचना समर्पित की।

अहार-क्षेत्रके प्राचीन मूर्तिलेख

(संग्राहक—पं० गोविन्ददास जैन, न्यायतीर्थ, शास्त्री)

[वर्ष १० किरण १ से आगे]

—)✻(—

(नं० ४२)

दोनों ओर इन्द्र खड़े हैं। मूर्ति कमरके पासमें टूट गई है। दोनों धड़ उठाकर इकट्ठे कर दिये हैं। शिलालेखके कुछ अक्षर घिस गये है। अतः पूरे पढ़े नहीं गये। करीब ५ फुट ऊँची खड्गासन है। पाषाण काला तथा चमकदार है।

लेख—संवत् १२०३ माघ सुदी १३ जैसवालान्वये साहु खोने भार्या यशकरी सुत नायक साहु भ्रातृ पाल्हण-वील्हे माल्हा परमे महिणि सुतश्रीरा प्रणमन्ति नित्यम्।

संवत् १२०३ माघसुदी १३ जैसवालान्वये साहु बाहड भार्या शिवदेवि सुत साहु सोमिनि भ्राता साहु माल्ह-जनप्राहड लाखू लाल्हे प्रणमन्ति नित्यम्।

भावार्थः—जैसवालवंशमें पैदा होनेवाले साहु खोने उनकी धर्मपत्नी यशकरी उनके पुत्र साहु नायक उनके भाई साहु पाल्हण-वील्हे-माल्हा-परमे-माहिणि उनके पुत्र श्रीराने संवत् १२०३ माघ सुदी १३ को बिम्बप्रतिष्ठा कराई।

तथा जैसवालवंशमें पैदा होनेवाले साहु बाहड़ उनकी धर्मपत्नी शिवदेवि उनके पुत्र साहु सोमिन उनके भाई साहु माल्ह-जनप्राहड़-लाखू-लाल्हेने संवत् १२०३ के माघ सुदी १३ को बिम्बप्रतिष्ठा कराई।

नोटः—यह प्रतिबिम्ब दो धर्मात्मा महाशयोंने अपनी गाढ़ी कमाईकी द्रव्य लगाकर प्रतिष्ठित कराई है।

(नं० ४३)

मूर्त्तिका शिर और हाथोंके अतिरिक्त बाकी हिस्सा नहीं है। चिन्हसे पता चलता है कि पुष्पदन्तकी प्रतिमा है। करीब २। फुट ऊँची पद्मासन है। पाषाण काला है।

लेख—संवत् १२१३ अषाडसुदी २ भौमे गृहपत्यन्वये साहुजसकरस्तस्य भार्या रोहणी तयोः पुत्रवासलस्तस्य-लघुभ्रात. साहु नाने तस्य भार्या पाल्हा तथा अल्हा नित्य प्रणमन्ति।

भावार्थः—गृहपतिवंशमें पैदा होनेवाले साहु जशकर उनकी धर्मपत्नी रोहणी–उन दोनोंके पुत्र बासल उनके छोटे भाई साहु नाने उनकी धर्मपत्नी पल्हा और अल्हा ने सवत् १२१३ के असाढ़ सुदी ८ भौमको प्रतिष्ठा कराई।

कविवर तुलसी तथा बनारसी दोनों ही हिन्दी-साहित्यके अमर कलाकार है। दोनोंकी भाषा परिमार्जित है। रूपकों तथा अलङ्कारोंके आभूषणोंसे युक्त है, और संस्कृतके पुटसे ओत-प्रोत। यदि दोनोंमें कोई अन्तर है तो वह यह कि तुलसीका काव्य-क्षेत्र विस्तृत और लौकिक है, और कविवर बनारसीका क्षेत्र कुछ सीमित और पारलौकिक अध्यात्मवाद है फिर भी दोनों कवियोंकी कविता लोक-कल्याणके महान् उद्देश्यसे परिपूरित है तुलसीमें साकार ईश्वर-उपासनाकी प्रधानता है तो बनारसीमें है प्रत्येक आत्माके परमात्मा होनेके विवेचनकी मुख्यता। इस प्रकार दोनों ही साहित्यसदनकी अविनाशी विभूतियाँ है।

(नं० ५४)

मूर्त्तिका शिर और दोनों हाथ नहीं हैं। बाकी आंगोपांग उपलब्ध हैं। चिन्ह बैलका है। करीब २ फुट ऊँची पद्मासन है। पाषाण काला तथा चमकदार है।

लेख—खण्डेलवालान्वये साहु धामदेव भार्या पल्हा पुत्रसालू भार्या वस्ना संवत् १२२३ वैशाखसुदी ८ प्रणमन्ति नित्यम्।

भावार्थः—खण्डेलवाल वंशमें पैदा होनेवाले साहु धामदेव उनकी पत्नी पल्हा उनके पुत्र सालू उनकी पत्नी वस्नाने संवत् १२२३ के वैशाख सुदी ८ को प्रतिष्ठा कराई।

(नं० ५५)

मूर्त्तिके आसनके अतिरिक्त बाकी हिस्सा नहीं है। चिन्ह चन्द्रका है। करीब २ फुट ऊँची पद्मासन है। पाषाण काला तथा चमकदार है।

लेख—संवत् १२०७ माघवदी ८ गुरौ ग्रहपत्यन्वये साहु सवधऊ तद्भार्या महनी तत्पुत्र उदयबंधु प्रणमन्ति श्रेयसे।

भावार्थः—गृहपति वंशमें पैदा होनेवाले शाह सवधऊ उनकी धर्मपत्नी महनी उसके पुत्र उदयबंधु ने संवत् १२०७ के माघ वदी ८ गुरुवारको बिम्बप्रतिष्ठा कराई।

(नं० ५६)

मूर्त्तिके आसन और आधे हाथोंके अतिरिक्त बाकी हिस्सा खण्डित है। शेरका चिन्ह है। करीब २ फुट ऊँची पद्मासन है। पाषाण काला है।

लेख—संवत् १२११ फागुनसुदी ८ शुक्रे श्रीमाथुरान्वये साहु जिनदेव सुत साहु अर्हत भार्या किणवती सुत साहु वीठु नित्यं प्रणमन्ति।

भावार्थः—माथुरवंशमें पैदा होनेवाले शाह जिनदेव उनके पुत्र शाह आर्हत उनकी धर्मपत्नी किणवती उसके पुत्र शाह वीठुने संवत् १२११ के फागुन सुदी ८ शुक्रवारको प्रतिष्ठा कराई।

(नं० ५७)

मूर्त्तिके आसन और आधे हाथोंके अतिरिक्त बाकी हिस्सा खण्डित है। लेख प्रायः घिस गया है। अतः पूरा स्पष्ट नहीं पढ़ा गया। चिन्ह हिरणका है। करीब २ फुट ऊँची पद्मासन है। पाषाण काला और चमकदार है।

लेख—संवत् १२३० फागुनसुदी १२ सनी……… ……सुतषडगण भार्या शान्तिणी सुत गांगदेव-सोमदेव-उदय-गोरद प्रणमन्ति।

भावार्थः—संवत् १२३० के फागुन सुदी १२ शनिवारको....शाह षडगण उनकी पत्नी शान्तिणी उनके पुत्र गांगदेव-सोमदेव-उदय-गोरद ने यह बिम्ब प्रतिष्ठा कराई।

(नं० ५८)

मूर्त्तिके दोनों ओर इन्द्र खड़े है। शिर खण्डित है। बाकी सर्वाङ्ग सुन्दर है। चिन्ह बकरेका है। करीब ३ फुट ऊँची खड्गासन है। पाषाण काला है। पालिस चमकदार है।

लेख—सवत् १२०३ गोलापूर्वान्वये साहु सुपट तस्य पुत्रः शांति तस्य पुत्र यशकर कुंथुनाथं प्रणमन्ति नित्यम्।

भावार्थः—गोलापूर्व वंशमें पैदा होनेवाले साहु सुपट उनके पुत्र शान्ति उनके पुत्र यशकरने श्रीकुन्थुनाथकी प्रतिमा संवत् १२०३ मे प्रतिष्ठा कराई।

(नं० ५९)

मूर्त्तिके दोनों तरफ इन्द्र खड़े हैं। घुटनों तक पैरोंके अतिरिक्त बाकी हिस्से अनुपलब्ध है। चिन्ह कुछ नहीं है। करीब ६ फुट ऊँची खड्गासन है। पाषाण काला तथा पालिस चमकदार है।

लेख—संवत् १२०३ माघसुदी १३ जैसवालान्वये साहु घोने भार्या जसकरी सुतनायक साहु शान्तिपाल-वील्हे पाल्हा-परमे-महिपाल सुतश्रीरा प्रणमन्ति नित्यम्।

संवत् १२०३ माघसुदी १३ जैसवालान्वये साहु

वाहड भार्या शिवदेवि सुत सोम-जनप्राहडलाखूलाले प्रणमन्ति नित्यम्।

भावार्थः—जैसवाल वंशमें पैदा होनेवाले साहु पोने उनकी धर्मपत्नी यशकरी उनके पुत्र नायक शाह शान्तिपाल-वील्हे-माल्हा-परमे-महीपाल महीपालके पुत्र श्रीराने संवत् १२०३ के माघसुदी १३ को बिम्बप्रतिष्ठा कराई।

तथा जैसवाल वंशमें पैदा होनेवाले शाह वाहड़ उनकी धर्मपत्नी शिवदेवी उनके पुत्र सोम-जनप्राहड़-लाखू-लाले इन्होंने संवत् १२०३ माघ-सुदी १३ को बिम्बप्रतिष्ठा कराई।

नोटः—यह मूर्ति एक वंशके दो भिन्न प्रतिष्ठापकोंने प्रतिष्ठित कराई।

(नं० ६०)

मूर्त्तिका सिर्फ एक घुटना मय आसनके उपलब्ध है। बाकी हिस्से नहीं है। लेख करीब आधेसे ज्यादा खण्डित होगया है। चिन्ह घोड़ाका है। करीब १॥ फुट ऊँची पद्मासन है। पाषाण काला है।

लेख—संवत् १२०३ गोलापूर्वान्वये साहुपद्म साहुणाल्ह········ ···················· ।

भावार्थः गोलापूर्व वंशमें पैदा होने वाले साहु पद्म तथा साहु णाल्हने····· संवत् १२०३ में यह बिम्बप्रतिष्ठा कराई।

(नं० ६१)

दोनों ओर इन्द्र खड़े है। आधे पैरोंके अतिरिक्त बाकी हिस्सा खण्डित है। शिलालेख जोड़कर लिया गया है। करीब ५ फुट ऊँची खड्गासन है। पाषाण काला है।

लेख—साहु देवचन्द्र प्रणमन्ति नित्यम्।

भावार्थ—साहु देवचन्द्र जिनबिम्ब प्रतिष्ठित कराके प्रतिदिन नमस्कार करते हैं।

नोटः—मूर्तिमें संवत् तथा तिथि नहीं दिये गये है।

(नं० ६२)

मूर्तिका शिर नहीं है। बाकी सर्वाङ्ग सुन्दर है। यह प्रतिमा चिन्हको देखकर पुष्पदन्तकी प्रतीत होती है। करीब २॥ फुट ऊँची खड्गासन है। पाषाण काला तथा चमकदार है।

लेख—संवत् १२०७ माघ वदी ८ जैसवालान्वये साहु तनस्तत्सुताः श्रीदेव-नूकान्त-भूपसिंह प्रणमन्ति नित्यम्।

भावार्थः—जैसवाल वंशमें पैदा होनेवाले साहु तन उनके पुत्र श्रीदेव-नूकान्त-भूपसिंहने संवत् १२०७ के माघ वदी ८ को बिम्बप्रतिष्ठा कराई।

(नं० ६३)

मूर्तिका शिर धड़से अलग है। अवगाहनासे पता चलता है कि मूर्ति विशाल थी। चिन्हसे प्रतीत होता है कि प्रतिमा ऋषभदेव तीर्थंकरकी है।

लेख—संवत् १२१० वैशाख सुदी १३ ग्रहपत्यन्वये साहु श्रीसाढू भार्या मना तयोः सुत साहु शीले भार्या रूपा तयोः सुत देवचन्द्र एते प्रणमन्ति नित्यम्।

भावार्थः—गृहपति वंशमें पैदा होनेवाले साहु साढू उनकी धर्मपत्नी मना उनके पुत्र साहु शीले उनकी पत्नी रूपा उन दोनोंके पुत्र देवचन्द्र इन्होंने संवत् १२१० के वैशाख सुदी १३ को यह बिम्ब प्रतिष्ठित कराई।

(नं० ६४)

मूर्तिका शिर नहीं है। बाकी सर्वाङ्ग सुन्दर है। चिन्हको देखकर मुनिसुव्रतकी प्रतीत होती है। करीब ३ फुट ऊँची पद्मासन है। पद्मापाण काला है।

लेख—संवत् १२८८ माघ सुदी १३ गुरौ प्रख्यातवंशे गोलापूर्वान्वये साहुरासल सुत साढू गृहपतिवंशे साहु आमदेव-हामरमल सुत पण्डित श्रीमालधन तथा साहु निकट सुत साहु सीहालहाणरस्तत्पुत्र जनपति

ज्ञानचाकर-वामदेव तथा गोपाल्ह पुत्र नागदेव प्रणमन्ति । चारउ प्रणमन्ति तटे मदनसागरनिर्मलम् ।

भावार्थः—प्रसिद्ध वंश गोलापूर्व अन्वयमें पैदा होनेवाले शाह राशल उनके पुत्र साढू तथा गृहपति वंशमें पैदा होनेवाले शाह आमदेव-हामरमल उनके पुत्र पण्डित श्री मालधन तथा शाह निकट उनके पुत्र शाह सीहाल-हारण उनके पुत्र जनपति ज्ञानचाकर वामदेव तथा गोपाल्ह उनके पुत्र नागदेवने संवत् १२८८ के माघ सुदी १३ गुरुवारको निर्मल मदनसागरके किनारे बिम्ब प्रतिष्ठा कराई।

नोट—यह प्रतिबिम्ब दो वंशोंके दो धार्मिक पुरुषोंने प्रतिष्ठित कराई है। मदनसागरके तट पर आज भी जिनमन्दिरके बड़े-बड़े भग्नावशेष उपलब्ध हैं और जिनसे जान पड़ता है कि वहाँ लेखमें उल्लिखित दोनों धर्मात्माओंके द्वारा बनाया गया यह जिनमन्दिर होगा और जिसमें प्रतिष्ठितकी गई प्रतिमाका उक्त लेख है।

(नं० ६५)

मूर्तिका शिर धड़से अलग है। अवगाहना विशाल है। यह चिन्हसे पुष्पदन्तकी प्रतीत होती है। करीब २॥ फुट ऊंची पद्मासन है। पापाण काला है।

लेख—संवत् १२०७ माघ वदी ८ खण्डेलवालान्वये साहु माहवस्तत्सुत वालप्रसन भार्या सावित्री तत्सुत बीकऊ नित्यं प्रणमन्ति ।

भावार्थः—खण्डेलवाल वंशमें पैदा होनेवाले साहु माहव उनके पुत्र वालप्रसन उनकी पत्नी सावित्री उनके पुत्र बीकऊने संवत् १२०७ माघ वदी ८ को बिम्ब-प्रतिष्ठा कराई।

(नं० ६६)

मूर्तिके कुछ पैर और आसनके अतिरिक्त कुछ नहीं है। अन्दाजा ३ फुट ऊंची खड्गासन है। चिन्हमें पुष्पदन्तकी प्रतीत होती है। काले पापाणकी निर्मित है।

लेख—संवत् १२०७ माघवदी ८ गृहपत्यन्वये साहुरूपसिंह तस्य भार्या लखमा तत्सुत मातनपति तस्य भार्या लाहणा ।

भावार्थः—गृहपति वंशमें पैदा होनेवाले साहु रूपसिंह उनकी धर्मपत्नी लखमा उसके पुत्र मातनपति उसकी पत्नी लाहणा इन्होंने संवत् १२०७ के माघ वदी ८ को प्रतिष्ठा कराई।

(नं० ६७)

मूर्तिके कुछ पैर तथा आसनके अतिरिक्त कुछ नहीं है। दोनों ओर इन्द्र खड़े हैं। करीब ३ फुट ऊंची है। चिन्ह हाथीका है। पापाण काला है।

लेख—साहु लखन नित्यं प्रणमन्ति ।

भावार्थ—शाह लखन नित्य प्रणाम करते है।

नोटः—मूर्त्तिपर संवत् आदि नहीं दिया गया।

(नं० ६८)

मूर्तिके दोनों ओर इन्द्र खड़े है। कुछ पैरोंके अतिरिक्त बाकी हिस्सा खण्डित है। चिन्ह सूअरका प्रतीत होता है। करीब ३ फुट ऊंची खड्गासन है। पापाण काला तथा चमकदार है।

लेख—संवत् १२१६ माघसुदी ३ शुक्रे साहु आमदेव-देवचन्द्र प्रणमन्ति नित्यम् ।

भावाथः—संवत् १२१६ के माघसुदी ३ शुक्रवारको आमदेव—देवचन्द्रने बिम्बप्रतिष्ठा कराई।

(क्रमशः)

अष्टसहस्रीकी एक प्रशस्ति

[कई वर्ष हुए, एटाके बड़े मन्दिरके शास्त्रभण्डारको देखते हुए मुझे आप्तमीमांसालंकृति अर्थात् अष्टसहस्री-की एक प्रति देखनेको मिली थी, जिसकी पत्रसंख्या ३४३ है और जिसपर ग्रन्थ नं० ४८ पड़ा है। यह प्रति जारखी वाले पं० जीवारामजीके हाथकी लिखी हुई है, संवत् १९४० में लिखी गई है और संवत् १९४१ में इस प्रतिको उक्त पडितजीसे छुटीलालने प्राप्त किया है। पं० जीवारामजीने जिस प्रतिपरसे यह प्रति उतारी है वह ज्येष्ठ सुदि त्रयोदशी संवत् १७६२ को तक्षकपुरके नेमिनाथ-मंदिरमें लिखी गई है और उसे नरेन्द्रकीर्ति गुरुके शिष्य पं० लालचन्द्रने लिखा है, जो उस समय स्याद्वादविद्याके अध्ययनमें अग्रगण्य थे और जिनके शिष्य पं० लक्ष्मीदासने वादिराज श्रेष्ठिके मुखसे इस पवित्र शास्त्र (अष्टसहस्री) का अध्ययन किया था। उस प्रतिके अन्तमें उनकी लेखक-प्रशस्ति लगी हुई थी, जिसमें अष्टसहस्रीकी स्तुति भी दी हुई है और अन्य भी कुछ खास बातोंका उल्लेख है। इस प्रशस्तिकी भी पं० जीवारामजीने अपनी प्रतिमें नकल उतारी है और यह बड़ा ही अच्छा किया है। यह प्रशस्ति दसवें परिच्छेदकी समाप्तिके बाद "श्रीमदकलंकशशधरकुलविद्यानन्दसम्भवा भूयात्। गुरुमीमांसालंकृतिरष्टसहस्री सतामृद्धयै ॥ १ ॥ इति श्रीमदाप्तमीमांसा-लंकृतिः पूर्णा ॥ छ ॥" इन वाक्योंको देनेके अनन्तर "अथ प्रशस्ति" इस वाक्यसे प्रारंभ होती है। अतः यहाँपर विद्वानों तथा इतिहासज्ञोंकी जानकारीके लिये इस प्रशस्तिको ज्यों-का-त्यों उद्धृत किया जाता है—जहाँ कहीं कुछ शब्दाऽशुद्धि जान पड़ी उसका संकेत ब्रेकटके भीतर कर दिया गया है। इस प्रशस्तिके साथ जुड़ी हुई अष्टसहस्रीकी स्तुतिमें एक खास बातका उल्लेख किया गया है और वह है 'सामन्तभद्र' नामकी वरवृत्ति पुस्तकका—स्वामी समन्तभद्रके द्वारा स्वोपज्ञ वृत्तिके रूपमें लिखे गये उत्तम टीका-ग्रन्थका—उल्लेख, जिसे पृथ्वीपर प्रसिद्ध बतलाया है और लिखा है कि 'इन कार्णाटक तथा गौर्जर टीकाकारोंका कोई खास विशेष नहीं है, 'सामन्तभद्र' नामकी वरवृत्ति पुस्तक सबको समानरूपसे बराबर इष्ट रही है—सभीने उसे अपनाया है। इससे आचार्य वसुनन्दीने देवागमवृत्तिके मंगलाचरणमें जिस 'सामन्त-भद्रमत' का उल्लेख किया है, और उसे वन्दना की है वह इस 'सामन्तभद्र' वृत्तिका ही उल्लेख जान पड़ता है। इसी तरह शाकटायन व्याकरणका अभयचन्द्रसूरि-कृत वृत्तिमें, 'उपज्ञाते' सूत्रकी व्याख्या करते हुए, जो उदाहरण स्वोपज्ञ कृतियोंके दिये हैं उनमें 'सामन्तभद्रं महाभाष्यम्' नामका उदाहरण भी इसी वरवृत्तिका द्योतक है जिसके लिये वहाँ 'महाभाष्य' शब्दका प्रयोग किया गया है। इन सब उल्लेखोंपरसे ऐसा मालूम होता है कि स्वामी समन्तभद्रके नामपर जो महाभाष्य चढ़ा हुआ है वह संभवतः उनके देवागमसूत्रपर रचा हुआ उनका स्वोपज्ञ भाष्य है। इस विषयकी विशेष खोज होनेकी जरूरत है। विद्वानोंको इसके लिये प्रयत्न करना चाहिये।—सम्पादक]

अथ प्रशस्ति[:]

वर्षे नेत्रषडश्वसोम१७६२निहिते ज्येष्ठे च मासेनघे
शुभ्रे पक्ष इति त्रयोदशीदिने श्रीतक्षकाख्ये पुरे।
नेमिस्वामिगृहे व्यलीलिखदिदं देवागमालंकृत[:]
पुस्तं पूज्यनरेंद्रकीर्तिसुगुरोः श्रीलालचन्द्रो वटुः ॥ १ ॥
त्रैविद्यविद्याविविदां बुधानां पराजये पुष्टतरा बभूव।
स्याद्वादविद्याध्ययनेग्रगण्यः श्रीलालचंद्रो भुवि सार्थनामा ॥ २ ॥
तद्बोध्यैः कविवादिवाग्मिप्रगुणालंकारवद्भिः समा-

रोपगौणविरोधिज्ञप्तिवशतमाभिश्च षड्वैस्तकैः (?)
एतच्छ्रुं ष्ठिसुवादिराजमुखतोधीतं सुमृष्टत्र(श्र)तं
स्याद्वादांबुधिराजरश्मिरुचिरं लक्ष्म्यादिदासैर्बुधैः ॥ ३ ॥
अथाष्टसहस्री स्तूयते—
अष्टसहस्री कुरुते दुष्टसहस्रीं सुनिर्म्मदां भुवने ।
कष्टसहस्रीन्नाश(न्नश्य)ति धृष्टसहस्रीपदप्रणताम् ॥ ३ ॥
सर्प्पत्सौगतसर्प्पेस(द)र्प्पदमनी शून्यांधकारार्करु—
ग्यौगारण्यकृशाणुरन्नकणभुकूल्लात्राचले ह्रादिनी ।
स्तार्न्मीमांसकमांसराक्षसवधूरद्वैतकादंविनी
वात्या श्रीजिनशासनाब्धि-विधुभा देवागमालंकृतिः ॥ ४ ॥
रे चार्व्वाक वराककाक कटुका(कं) किं रारटीत्युत्कट—
मेकं मानमपास्य मानयुगलं मन्यस्व तद्वृद्धितः ।
सांख्यासंख्यकुतर्कशंखसहजं त्यक्त्वा समुक्तोपम-(?)
स्त्वं रे शैव शिवायनं शिवगतौ त्यक्तोद्यतस्ताद्वरिः (?) ॥ ५ ॥
आमामं निखिलप्रवादिविसरो जैनैरमाचक्रता(?)—
द्वादं स्वेप्सितसिद्धयेनुसर्तिभिस्तन्नो न दुःखावहं ।
यद्बौद्धोधम एष बुद्धिविधवासूनुर्हि हास्याय तन
कुर्व्वाणः स्वमतास्थितिं स्थितिपदभ्रष्टः प्रमीतो यथा ॥ ६ ॥
निजागमत्तवाग्मरोछ(च्छ)लदनल्पयुक्त्युत्कटान (?)
प्रचंडदृढदयोन्नतीन् प्रकटितस्वस्वगर्ज्जोत्करान् ।
गजानिव कुवादिनो नयनखं प्रमादंष्ट्रिणं
परः किमु विदारये[ज]झटिति जैनसिंहं विना ॥ ७ ॥
एवं संकेतसंस्थाप्रतिपदनिचयाः संति कर्णाटजाता(नां)
इत्थं संकेतसंस्था[:]लघुभिरपि कृताः श्रीसमन्तादिभद्रैः
ईदृक्संकेतसंस्थास्त इह जिनपदे पुस्तकेपूपपन्नः(न्नाः)
ज्ञेयाश्चान्येषु धीभिन्निजमतिबलतस्ते यथास्थानमाप्ताः ॥ ८ ॥
कार्णाटकानां खलु गौर्जराणां न विद्यते कोपि विशेष एषां
सामन्तभद्रं वरवृत्तिपुस्तं समं समेष्टां प्रथितप्रथिव्यां ॥ ९ ॥
अष्टसहस्रीपुस्तकं त्रिकालं त्रिशुद्धया लालचंद्रो लक्ष्मीदास-
शिष्ययुतौ (तो ?) नंनमीतीति भद्रम् ॥ १० ॥ अनुक्रमे श्लोक
८७०० सित्यासीसै मूल जीवारामजीजारखीवाले
पंडितजी संवत् १९४० त्या द्रम् १० अनुक्रमे श्लोक
८७०० सित्यासीसै मूल जीवारामजीजारखीवाले पंडितजी सं० १९४१
शुक्ग माघे छटीलालश्री श्री के दः पं० जीवारामजी
श्री श्री श्री श्री

पांडे रूपचन्द और उनका साहित्य

(ले० पं० परमानन्द जैन शास्त्री)

—:)❀(:—

पांडे रूपचन्दजी विक्रमकी १७ वीं शताब्दीके विद्वान थे, काव्य-व्याकरणादिके साथ जैन सिद्धान्तके भी अच्छे पंडित थे और भट्टारकीय पंडित होनेके कारण 'पांडे' की उपाधिसे अलंकृत थे। आपको हिन्दीके सिवाय, संस्कृत भाषाके विविध छन्दोंमें भी कविता करनेका अच्छा अभ्यास था। आपने 'समवसरण' नामक संस्कृत पूजापाठकी प्रशस्तिमें अपना जो परिचय दिया है उससे मालूम होता है कि आपका जन्म-स्थान 'कुरु' नामके देशमें स्थित 'सलेमपुर' था। आप अग्रवाल वंशके भूषण गर्गगोत्री थे। आपके पितामहका नाम मामट और पिताका नाम भगवानदास था। भगवानदासकी दो पत्नियां थीं, जिनमें प्रथमसे ब्रह्मदास नामके पुत्रका जन्म हुआ था। दूसरी पत्नी 'चाचो' से पांच पुत्र समुत्पन्न हुए थे—हरिराज, भूपति, अभयराज, कीर्तिचन्द्र और रूपचन्द्र। इनमें अन्तिम रूपचन्द्र ही प्रसिद्ध कवि थे और जैनसिद्धान्तके अच्छे मर्मज्ञ विद्वान थे। वे ज्ञानप्राप्तके लिये बनारस गये थे और वहांसे शब्द और अर्थरूपी सुधारसका पानकर दरियापुरमें लौटकर आये थे[1]।

हिन्दीके प्रसिद्ध कवि बनारसीदासजीने अपने 'अर्धकथानक' मे लिखा है कि संवत् १६६२ में आगरामें पं० रूपचन्द्रजी गुनीका आगमन हुआ और उन्होंने तिहुना साहूके मन्दिरमें डेरा किया। उस समय आगरामें सब आध्यात्मियोंने मिलकर विचार किया कि पांडेजीसे आचार्य नेमिचन्द्र-सिद्धान्तचक्रवर्तीके द्वारा संकलित गोम्मटसार नामक सिद्धान्तग्रन्थका वांचन कराया जाय। चुनाँचे पंडितजीने गोम्मटसार ग्रन्थका प्रवचन किया और मार्गणा, गुणस्थान, जीवस्थान तथा कर्मबन्धादिके स्वरूपका विशद विवेचन किया। साथ ही, क्रियाकाण्ड और निश्चयनय व्यवहार-नयकी यथार्थ कथनीका रहस्य भी समझाया। और यह भी बतलाया कि जो नयदृष्टिसे विहीन है उन्हें वस्तुतत्त्वकी उपलब्धि नहीं होती तथा

१ नाभेयभुक्तिरुचिरे कुरुनाम्नि देशे,
शुद्धे सलेमपुरवाक्यपद्दिरूपसिद्धे।
अग्रोत्कान्वय--विभूषण--गर्गगोत्रः,
श्रीमामटस्य तनयो भगवानदासः ॥१॥
तत्पूर्वपत्न्या प्रभवः प्रतापी,
श्रीब्रह्मदासेति समासवृत्तः।
द्वितीय 'चाचो' इति संज्ञिकाया,
पत्न्यां भवाः पंचसुताः प्रसिद्धाः ॥२॥
हरिरिव हरिराजो भूपतिर्भूमिवोच्यः (!)
भवदभयराजः कीर्तिचन्द्रः सुकीर्तिः।
तदनुजकविरूपो रूपचन्द्रो वितन्द्रो,
विमलसुमतिचक्षुर्जैनसिद्धान्त-दक्षः ॥३॥
स रूपचन्द्रोऽथ समाव्रजत्पुरी,
बनारसी बोधविधानलब्धये।
आस्वाद्य शब्दार्थसुधारसं ततः,
संप्राप्तवांस्तद्दरियापुरं पुरं ॥४॥

वस्तुस्वभावसे रहित पुरुष सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकते। पांडे रूपचन्द्रजीके वस्तुतत्त्व विवेचनमें पं० बनारसीदासका वह एकान्त अभिनिवेश दूर होगया, जो उन्हें और उनके साथियोंको 'नाटक समयसार' की रायमल्लीय टीकाके अध्ययन करनेसे होगया था और जिसके कारण वे जप, तप, सामायिक, प्रतिक्रमणादि क्रियाओंको छोड़कर भगवानका चढ़ाया हुआ नैवेद्य भी खाने लगे थे। यह दशा केवल बनारसीदासकी ही नहीं हुई; किन्तु उनके साथी चन्द्रभान, उदयकरन और थानमल्लकी भी होगई थी। ये चारों ही जनें नग्न होकर एक कोठरीमें फिरते थे और कहते थे कि 'हम मुनिराज हैं। हमारे कुछ भी परिग्रह नहीं है' जैसा कि अर्धकथानकके निम्न दोहेसे स्पष्ट है :—

"नगन होंहि चारों जने, फिरहि कोठरी मांहि।
कहहिं भये मुनिराज हम, कछू परिग्रह नांहि॥"

पांडे रूपचन्द्रजीके वचनोंको सुनकर बनारसीदासजीका परिणमन और ही रूप होगया। उनकी दृष्टिमें सत्यता और श्रद्धामें निर्मलताका प्रादुर्भाव हुआ। उन्हें अपनी भूल मालूम हुई और उन्होंने उसे दूर किया। उस समय उनके हृदयमें अनुपम ज्ञानज्योति जागृत हो उठी थी और इसीसे उन्होंने अपनेको 'स्याद्वादपरिणतिसे परिणत' बतलाया है।

सं० १६९३ में पं० बनारसीदासजीने आचार्य अमृतचन्द्रके 'नाटकसमयसारकलश' का हिन्दी पद्यानुवाद किया और संवत् १६९४ में पांडे रूपचन्द्रजीका स्वर्गवास होगया[1]।

अर्धकथानकके इस उल्लेखसे मालूम होता है कि प्रस्तुत पांडे रूपचन्द्र ही उक्त 'समवसरण' पाठके रचयिता हैं। चूँकि उक्त पाठ भी संवत् १६९२ में रचा गया है और पं० बनारसीदासजीने उक्त घटनाका समय भी अर्धकथानकमें सं० १६९२ दिया है। इससे मालूम होता है कि उक्त पाठ आगरेकी उपर्युक्त घटनासे पूर्व ही रचा गया है। इसीसे प्रशस्तिमें उसका कोई उल्लेख नहीं है। अन्यथा पांडे रूपचन्दजी उस घटनाका उल्लेख उसमें अवश्य ही करते। अस्तु, नाटक समयसारमें इन्हीं रूपचन्द्रजीका समुल्लेख किया गया है वे सं० १६९२ के रूपचन्द्रजीसे भिन्न नहीं हैं।

इनकी संस्कृतभाषाकी एक मात्रकृति 'समवसरणपाठ' अथवा 'केवलज्ञान कल्याणार्चा' है। इसमें जैनतीर्थंकरके केवलज्ञान प्राप्त कर लेनेपर जो अन्तबाह्य विभूति प्राप्त होती है अथवा ज्ञानावरण,

1 अनायास इस ही समय,
नगर आगरे थान।
रूपचन्द्र पंडित गुनी,
आयो आगम जान॥६३०॥
तिहुना साहु देहरा किया,
तहां आय तिन डेरा लिया। अर्धक०

सब अध्यात्मी कियो विचार,
ग्रंथ बंचायौ गोम्मटसार॥६३१॥
तामें गुनथानक परवान,
कह्यो ज्ञान अरु क्रिया विधान।
जो जिय जिस गुनथानक होइ,
जैसी क्रिया करै सब कोइ॥६३२॥
भिन्न भिन्न विवरण विस्तार,
अन्तर नियत बहुरि विवहार।
सबकी कथा सब विध कही,
सुनिकैं संसै कछु ना रही॥६३३॥
तब बनारसी औरहि भयो,
स्याद्वाद परिनति-परिनयो।
पांडे रूपचन्द्र गुरु पास,
सुन्यौ ग्रन्थ मन भयौ हुलास॥६३४॥
फिर तिस समै बरसकै बीच,
रूपचन्दकौं आई मीच।
सुन सुन रूपचन्द्रके बैन,
बानारसी भयौ दिढ जैन॥६३५॥

दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तरायरूप घातिया कर्मोंके विनाशसे जो अनन्त चतुष्टयरूप आत्मनिधि की समुपलब्धि होती है उसका वर्णन है। साथ ही, बाह्यमें जो समवसरणादि विभूतिका प्रदर्शन होता है वह सब उनके गुणातिशय अथवा पुण्यातिशयका महत्व है—वे उस विभूतिमें सर्वथा अलिप्त अंतरीक्ष विराजमान रहते हैं और वीतरागविज्ञानरूप आत्मनिधिके द्वारा जगतका कल्याण करते हैं—संसारके दुखी प्राणियोंको दुखसे छुटकारा पाने और शाश्वत सुख प्राप्त करनेका सुगम मार्ग बतलाते हैं।

कविने इस पाठकी रचना आचार्य जिनसेनके आदिपुराणगत 'समवसरण' विषयक कथनको दृष्टि में रखते हुए की है। प्रस्तुत ग्रन्थ दिल्लीके बादशाह जहांगीरके पुत्र शाहजहांके राज्यकालमें, संवत् १६६२ के आश्विन महीनेके कृष्णपक्षमें, नवमी गुरुवारके दिन, सिद्धयोगमें और पुनर्वसुनक्षत्रमें समाप्त हुआ हैं; जैसा कि उसके निम्न पद्यमें स्पष्ट है:—

श्रीमत्संवत्सरेऽस्मिन्नरपतिनुतयद्विक्रमादित्यराज्ये-
ऽतीते दृगनंदभद्राशुकृतपरिमिते(१६६२)कृष्णपक्षेषमासे ।
देवाचार्यप्रचारे शुभनवमतिथौ सिद्धयोगे प्रसिद्धे ।
पौनर्वस्विन्दुडस्थे (?) समवसृतिमह प्राप्तमाप्ता समाप्ति ॥२४

ग्रन्थकर्ताने इस पाठके बनवानेवाले श्रावकके कुटुम्बका विस्तृत परिचय दिया है। जो इस प्रकार है:—

मूलसंघान्तर्गत नन्दिसंघ बलात्कारगण, सरस्वतिगच्छके प्रसिद्ध कुन्दकुन्दान्वयमें वादीरूपी हस्तियोंके मदको भेदन करनेवाले सिंहकीर्ति हुए। उनके पट्टपर धर्मकीर्ति, धर्मकीर्तिके पट्टपर ज्ञानभूषण और ज्ञानभूषणके पट्टपर भारतीभूषण तपस्वी भट्टारकोंके द्वारा अभिवन्दनीय विगतदूषण भट्टारक जगत्भूषण हुए। इन्हीं भट्टारक जगद्भूषणकी गोलापूर्व[1] आम्नायमें दिव्यनयन हुए। उनकी पत्नीका नाम दुर्गा था। उससे दो पुत्र हुए। चक्रसेन और मित्रसेन। चक्रसेनकी स्त्रीका नाम कृष्णावती था और उससे केवलसेन और धर्मसेन नामके दो पुत्र हुए। मित्रसेनकी धर्मपत्नीका नाम यशोदा था उससे भी दो पुत्र उत्पन्न हुए थे। उनमें प्रथम पुत्रका नाम भगवानदास था, जो बड़ा ही प्रतापी और संघका अधिनायक था। और दूसरा पुत्र हरिवंश भी धर्मप्रेमी और गुणसम्पन्न था। भगवानदासकी पत्नीका नाम केशरिदे था, उससे तीन पुत्र उत्पन्न हुए थे—महासेन, जिनदास और मुनिसुव्रत। संघाधिप भगवानदासने जिनेन्द्र भगवान्‌की प्रतिष्ठा करवाई थी और संघराजकी पदवीको भी प्राप्त किया था। वह दान-मानमें कर्णके समान था। इन्हीं भगवानदासकी प्रेरणासे पंडित रूपचन्द्रजीने प्रस्तुत पाठकी रचना की थी। पांडे रूपचन्द्रजीने इस ग्रन्थप्रशस्तिमें

१ गोलापूर्व जाति जैनसमाजकी ८४ उपजातियोंमेंसे एक है। इस जातिका अधिकतर निवास बुन्देलखण्डमें पाया जाता है। यह जाति विक्रमकी १२ वीं से १४ वीं शताब्दी तक खूब समृद्ध रही है। इसके द्वारा प्रतिष्ठित मूर्तियां १२०२ से १२४७ तककी पाई जाती हैं। ये प्राचीन मूर्तियां महोवा, छतरपुर, पपौरा, आहार और नावई आदि के स्थानोंमें उपलब्ध होती हैं जिनपर प्रतिष्ठा करने-कराने आदिका समय भी अंकित है। इसके द्वारा निर्मित अनेक शिखरबन्द मन्दिर भी यत्र तत्र मिलते हैं, जो उस जातिकी धर्मनिष्ठाके प्रतीक हैं, अनेक ग्रंथोंका निर्माण भी किया और कराया गया है। सं० १५४० में श्रावण वदि १० को मूलसंघ सरस्वति गच्छके भ० जिनचन्द्रके प्रशिष्य भ० भुवनकीर्तिके समय गोलापूर्व जातिके साहू सानगतिके सुपुत्र पद्मने कर्मक्षय निमित्त उत्तरपुराण लिखा था। यह ग्रंथ नागौर भंडारमें सुरक्षित है। इन सब उल्लेखोंसे इस जातिकी महत्ता और ऐतिहासिकताका भली-भांति परिज्ञान हो जाता है। आज भी इसमें अनेक प्रतिष्ठित विद्वान और श्रीमान पाये जाते हैं। अन्वेषण होनेपर इस जातिके विकास आदि पर भी विचार किया जा सकता है। चंदेरी और उसके आस-पास स्थानोंमें भी इस जातिके अनुयायी रहे हैं।

नेत्रसिंह नामके अपने एक प्रधान शिष्यका भी उल्लेख किया है पर वे कौन थे और कहांके निवासी थे यह कुछ मालूम नहीं होसका।

उक्त पाठके अतिरिक्त पांडे रूपचन्द्रजीकी निम्न कृतियोंका उल्लेख और भी मिलता है जिनमेंसे रूपचन्द्र-शतक, पंचमँगलपाठ और कुछ जकड़ी आदि प्रकाशित भी हो चुके है, परन्तु नेमिनाथ-रास और अनेक पद तथा मस्कृतका उक्त पाठ अभी तक अप्रकाशित ही हैं। रूपचन्द्रशतकमे सौ दोहे पाये जाते है, जो बड़े ही शिक्षाप्रद हैं और विषयाभिलाषी भोगी जनों को उनसे विमुख करानेकी प्रौढ शिक्षाको लिये हुए है। साथ ही आत्मस्वरूपके निदर्शक है। पाठकोंकी जानकारीके लिये कुछ दोहे लिखित गुटकेपरसे नीचे दिये जाते हैं:—

सेवत विषय अनादितै, तिसना कभी न बुझाय।
ज्यों जलतै सरितापती, ईंधन सिखि अधिकाय ॥२६॥
परकी संगति तुम गए, खोई अपनी जाति।
आपा-पर न पिछानहू, रहे प्रमाद्दनि माति ॥४२॥
पर संजोगतै बंध है, पर वियोगतै मोख।
चेतन परके मिलनमें, लागत हैं बहु दोष ॥४६॥
मोह मनै तुम आपको, जानत हो परदर्व।
ज्यों जन मातो कनकतो, कनकहि देखै सर्व ॥५१॥
पाहन मांहि सुवर्ण ज्यों, दारु विषे हुत भोज।
त्यों तुम व्यापक घट विषै, देखहु कर किन खोज ॥५३॥
पुहपन विषै सुवास ज्यों, तिलन विषैं ज्यों तेल।
त्यौं तुम घटमें रहत हौ, जिनि जानहु यह खेल ॥५४॥
दरशन ज्ञान चरित्तमें, वसै वस्तु घट मांहि।
मूरख मरम न जानहीं, बाहरि खोजन जांहि ॥५५॥
चेतनके परचै बिना, तप जप सब अकयत्थ।
कन बिन तुष ज्यौं फटकतै, कछु न आवै हत्थ ॥८५॥
चेतनसौं परचै नहीं, कहा भये व्रत धारि।
सालि विहूने खेत की, वृथा बनावत वारि ॥८६॥
बिना तत्व परचै लगत, अपर भाव अभिराम।
ताम और रस रुचित हैं, अमृत न चाख्यौ जाम ॥८८॥
सुने परिचये अनुभए, बार बार परभाव।
कबहुँ भूलि न परिनए, ज्ञायक शुद्ध स्वभाव ॥८६॥

नेमिनाथरास भी एक सुन्दर कृति है जिसे मैंने सं० १६४४ में जयपुरमें आमेरके भट्टारक महेन्द्रकीर्तिके ग्रंथभंडारको अवलोकन करते हुए एक गुटकेमें देखा था और उसका आदि अंतभाग नोट किया था। परन्तु वह मेरी नोटबुक इस समय सामने न होनेसे उसके सम्बन्धमें कुछ न लिख कर उनकी अन्य रचनाओंके सम्बंधमें ही विचार करता हूं।

इनकी एक और नई रचना प्राप्त हुई है, उसका नाम है, 'खटोलनागीत'। इस रूपक खटोलनागीत में १३ पद्य दिये हुए हैं जो भावपूर्ण हैं और आत्मसंबोधनकी भावनाको लिये हुए है। उनमें बतलाया है कि यह जीव संसाररूपी रति-मन्दिरमें एक खटोलने पर लेटा हुआ है, जिसके क्रोध, मान, माया, लोभ रूप चार पग है, काम और कपट दो सीरा तथा चिन्ता और रति दोनों पाटी हैं। वह अविरत आदि दृढ बानोंसे बुना हुआ है, जिसमें मिथ्यात्वरूपी विशाल 'माई' लगी हुई है। वह आशारूपी अडवायनि और शंकादिक आठ दोषरूप सालोंसे भरा हुआ है, मनरूपी बाढ़ईने उसे बनाया और गढ़ा है। ऐसे उस खटोलनेपर यह जीवरूपी पथिक राग-द्वेषरूपी गेडुवा और कुमतिरूपी सुकोमल सौर से शरीरको ढककर पर-परिणतिरूपी गौरीके साथ सो रहा है, सोते हुए उसे विषयकी अभिलाषा हुई, उसी समय पांच इन्द्रियरूपी चोरोंने मिलकर उसके आवास (निवास स्थान) को लूट लिया। इस जीवको अनादि काल सोते हुए व्यतीत होगया तो भी वह नहीं जागा, तब श्रीगुरुने सम्यक्त्वरूपी विहान (सवेरा) के होनेका संकेत किया और कहा कि अब काल रात्रि व्यतीत होगई है, और ज्ञानसूर्यका उदय हुआ है, जिसे सुनकर इस जीवका भ्रमरूपी अज्ञान नष्ट हो गया और वह अपने आत्मस्वरूपको पानेके लिये उत्सुक हो उठा, और तत्काल ही खटोलनेसे उठकर और अशेष परिग्रहका परित्यागकर दिगम्बर वेष धारण किया तथा समाधिमें

लीन होकर सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूपी रत्नत्रयके अनुष्ठान द्वारा सदाके लिये कर्मबन्धनसे उन्मुक्त हो गया—वह अपने स्वरूपको प्राप्तकर निजानन्द रस में मग्न होगया। खटोलना गीतके वे पद्य इस प्रकार हैं:—

भव-रतिमंदिर पोढियो खटोला मेरो कोपादिक पग चारि।
काम-कपट-सीरा दोऊ, चिन्ता रति दोऊ पाटि ॥१॥
अविरति दिढ वाननि, वुनो मिथ्या माई विसाल।
आशा अडवाइनि दई, शंकादिक वसु साल ॥२॥
रचिउ गठिउ मन वाढई, बहु विधि कर्म सहाय।
प्रथम ध्यान दोउ कारने, वा सिरुवा नीलाइ (?) ॥३॥
राग द्वेष दोउ गेडुवा, कुमति सुकोमल सोरि।
जीव पथिक तहं पोढियो, पर-परिणति- संगगौरि ॥४॥
मोह नींद सूतें रहिउ, लागी विषय-हवास।
पंच करण चोरनि मिलै, मूसउ सकल अवास ॥५॥
अनादिकाल सोते गयो' अजहु न जागइ मान।
मोह नींद टूटे नहीं, क्यों पावै निरवान ॥६॥
सोते सोते जागिया, ते नर चतुर सुजानि।
गुरु चरणायुध बोलियों, समकित भयउ विहान ॥७॥
काल रयन तब बीतई, ऊगो ज्ञान सुभानु।
भ्रांति तिमिर जब नाशियो, प्रगटउ अविचल थान ॥८॥
छोडि खटोला तुरत ही, धरिवि दिगम्बर वेष।
गुप्त रत्न तीनों लिये, तेरि गये शिव देश ॥९॥
सिद्ध सदा जहां निवसही, चरम शरीर प्रमाण।
किंचिदून मयनोझित, मूसा गगन समान ॥१०॥
परम सुखामृत पीवके, भाई सहज समाधि।
अजर अमरते होय रहै, नासो सकल उपाधि ॥११॥
सो अवहीं जागिसी, कब लहिं सो अवकाश।
मोह नींद कब टूटसी, कब लहिहौं शिववास ॥१२॥
रूपचन्द्र जन वीनवै, हूजौ तुव गुण लाहु।
ते जागा जे जागसी, तेहउ वंदउ साहु ॥१३॥

इति खटोलागीत समाप्त।

इसके सिवाय आपके अनेक आध्यात्मिक पद भी गुटकोंमे लिखे हुए मिलते हैं, जो बहुत ही सरल और भावपूर्ण है, पाठकोंकी जानकारीके लिये उनमेंसे एक छोटा पद नीचे उद्धृत किया जाता है:—

जिय परसों किति प्रीत करीरे ॥

तू सुजान परके रंग राचो प्रकृति विरोध न समुझि परीरे ।१॥
परिहर सहज ज्ञानगुण अपनो मूढपनौं तैं चित धरीरे ॥२॥
अहँकार ममता भ्रम भूल्यौ चित चेतो एको न धरीरे ॥३॥
परको संगति चहुंगति भीतरि कौन-कौन ते विपति भरीरे ।४॥
रूपचन्द्र चित चेतन काहि न अब, तेरी मति कौनें हरीरे ।५॥

इन सब रचनाओंपरसे विज्ञ पाठक पांडे रूपचन्द्रजीके व्यक्तित्वका अनुमान कर सकते हैं, और उनकी रचनाएँ कितनी सरल और भावपूर्ण हैं इसका भी अनुभव कर सकते है।

साहित्य-परिचय और समालोचन

[इस स्तम्भमें समालोचनार्थ आये नये ग्रन्थादि साहित्यका परिचय और समालोचन किया जाता है। समालोचनाके लिये प्रत्येक ग्रन्थादिकी दो-दो प्रतियां आना जरूरी है। —सम्पादक]

जैनाचार्य—लेखक पं० मूलचन्द्रजी, वत्सल, दमोह। प्रकाशक, दि० जैन पुस्तकालय, सूरत। पृष्ठ संख्या १६८। मूल्य, एक रुपया दस आना।

इस पुस्तकमे २८ जैनाचार्यों और उनकी कृतियोंका संक्षिप्त परिचय दिया हुआ है। भगवान महावीरके बाद जैनधर्मके अहिंसादि सिद्धान्तोंका प्रचार करनेवाले अनेक जैनाचार्य, विद्वान्, राजा, और राज्यमंत्री तथा नगर सेठ आदि प्रसिद्ध व्यक्ति हुए है। उनके सम्बन्धमें एक प्रामाणिक इतिवृत्तके लिखे जानेकी बड़ी आवश्यकता है। वत्सलजीने इस दिशामें जो प्रयत्न किया है वह अभिनंदनीय है। परन्तु प्रस्तुत पुस्तकमें प्रूफ आदि प्रेस-सम्बन्धि अशुद्धियोंके अतिरिक्त कुछ ऐसी अशुद्धियाँ भी पाई जाती है जो खटकने योग्य हैं। ऐसी पुस्तकमे ऐतिहासिक अशुद्धियाँ नहीं रहनी चाहिये। बतौर उदाहरणके यहाँ एक-दो अशुद्धियोंका दिग्दर्शन पाठकोंकी जानकारीके लिये नीचे दिया जाता है:—

पृष्ठ ५३ पर आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीकी कृतियोंका परिचय कराते हुए उनकी कृति गोम्मटसारकी चार टीकाओंका समुल्लेख किया है और लिखा है कि—चामुण्डरायकी कर्नाटक-वृत्ति, केशववर्णीकी संस्कृत टीका, और अभयचन्द्रकी मंदप्रबोधिका और पं० टोडरमलकी सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, ये चार टीकाएँ है।

इसमें चामुण्डरायकी वृत्तिको कर्नाटकी बतलाया गया है, जो ठीक नहीं है, चामुण्डरायने गोम्मटसारपर कोई कर्नाटक वृत्ति बनाई हो, इसका कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता और न गोम्मटसार कर्मकाण्डकी ९७२ नं० की गाथासे ही इस बातकी कोई सूचना मिलती है। दूसरे केशववर्णीकी टीका संस्कृतमें नहीं है वह कर्नाटक भाषामें लिखी गई है, उसीके आधारसे दूसरे नेमिचन्द्रने अपनी 'जीवतत्त्वप्रबोधिका' नामकी संस्कृत टीका लिखी है[1]। आचार्य अभयचन्द्रने अपनी मन्दप्रबोधिका टीकामें गोम्मटसारकी एक और 'पंजिका' टीकाका उल्लेख किया है और वह इस प्रकार है:—"अथवा सम्मूर्च्छनगर्भोपपातान्नाश्रित्य जन्म भवतीति गोम्मटसारपंचिकाकारादीनामभिप्रायः।" इस पंजिका टीकाका उल्लेख मैंने सन् १९४४ के मार्च महीनेके 'अनेकान्त' वर्ष ६ किरण ८ के पृष्ठ २६४ पेजके दूसरे कालमके नीचे दूसरे फुट नोटमे किया था।

इसके अतिरिक्त दशवी शताब्दीके आचार्य अमृतचंद्रका समय १२ वीं शताब्दी बतलाया है जो ठीक नहीं है। तथा आचार्य विद्यानन्दका परिचय देते हुए उन्हें भी राजावली कथाके आधारोंपर १६ वी शताब्दीके विद्यानन्दकी घटनाओंके साथ सम्बद्ध कर दिया है। देवेन्द्रकीर्तिने अपने शिष्य विद्यानन्दकी तारीफ की है न कि उन तार्किक विद्यानन्दकी। इसी तरह शुभचन्द्रका परिचय देते हुए, भट्टारक विश्वभूषणकी काल्पनिक कथाके आधारपर बिना किसी जांच पड़तालके, भर्तृहरि, सिन्धुल राजा मुञ्ज और शुभचन्द्रको सम-सामयिक भी प्रकट किया गया है जिनमे शताब्दियोंका अन्तर है। यह सब कथन ऐतिहासिक दृष्टिसे असंगत है, और वह इतिहासकी अनभिज्ञताको व्यक्त करता है। ऐसी पुस्तकोंमे इसप्रकारकी त्रुटियोंका रह जाना अवश्य खटकता है। आशा है लेखक महानुभाव दूसरे संस्करणमें आवश्यक सुधार करनेका प्रयत्न करेंगे।—परमानन्द जैन।

---

१ देखो अनेकान्त वर्ष ४ किरण १ मे प्रकाशित डा० ए० एन० उपाध्येका लेख।

संशोधन

अनेकान्तकी गत किरणमें पृष्ठ ३० पर Thinkers की जगह Thinless और पृष्ठ ३४ पर दो जगह Electron के स्थानपर Election तथा Ion के स्थान पर Iow गलत छप गया है अतः पाठक अपनी अपनी प्रतिमें उसे सुधार लेनेकी कृपा करें। —प्रकाशक।

Regd. No. D. 397

हमारे सुरुचिपूर्ण प्रकाशन

१. अनित्य-भावना—आ० पद्मनन्दिकृत भावपूर्ण और हृदयग्राही महत्वकी कृति, साहित्य-तपस्वी पण्डित जुगलकिशोर मुख्तारके हिन्दी-पद्यानुवाद और भावार्थ सहित। मूल्य चार आना।

२. आचार्य प्रभाचन्द्रका तत्त्वार्थसूत्र—सरल-संक्षिप्त नया सूत्र-ग्रन्थ, पं० जुगलकिशोर मुख्तारकी सुबोध हिन्दी-व्याख्यासहित। मूल्य चार आना।

३. न्याय-दीपिका—(महत्वका सर्वप्रिय संस्करण)—अभिनव धर्मभूषण विरचित न्याय-विषयकी सुबोध प्राथमिक रचना। न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल कोठियाद्वारा सम्पादित, हिन्दी-अनुवाद, विस्तृत (१०१ पृष्ठकी) प्रस्तावना, प्राक्कथन, परिशिष्टादिसे विशिष्ट, ४०० पृष्ठप्रमाण, लागत मूल्य पाँच रुपया। विद्वानों, छात्रों और स्वाध्याय-प्रेमियोंने इस संस्करणको बहुत पसन्द किया है। इसकी थोड़ी ही प्रतियाँ शेष रही हैं। शीघ्रता करें। फिर न मिलने पर पछताना पड़ेगा।

४. सत्साधुस्मरणमङ्गलपाठ—अभूतपूर्व सुन्दर और विशिष्ट सङ्कलन, सङ्कलयिता पंडित जुगलकिशोर मुख्तार। भगवान महावीरसे लेकर जिनसेनाचार्य पर्यन्तके २१ महान् जैनाचार्योंके प्रभावक गुणस्मरणोंसे युक्त। मूल्य आठ आना।

५. अध्यात्मकमलमार्तण्ड—पञ्चाध्यायी तथा लाटीसंहिता आदि ग्रन्थोंके रचयिता पंडित राजमल्ल विरचित अपूर्व आध्यात्मिक कृति, न्यायाचार्य पंडित दरबारीलाल कोठिया और पं० परमानन्द शास्त्रीके सरल हिन्दी-अनुवादादिसहित तथा मुख्तार पंडित जुगलकिशोरद्वारा लिखित विस्तृत प्रस्तावनासे विशिष्ट। मूल्य डेढ़ रुपया।

६. उमास्वामिश्रावकाचारपरीक्षा—मुख्तार श्री-जुगलकिशोरद्वारा लिखित ग्रन्थ-परीक्षाओंका इतिहास-सहित प्रथम अंश। मूल्य चार आना।

७. विवाह-समुद्देश्य—पंडित जुगलकिशोर मुख्तारद्वारा रचित विवाहके रहस्यको बतलानेवाली और विवाहोंके अवसरपर वितरण करने योग्य सुन्दर कृति। मूल्य आठ आना।

नये प्रकाशन

१. आप्तपरीक्षा-स्वोपज्ञटीकासहित—(अनेक विशेषताओंसे विशिष्ट महत्वपूर्ण अभिनव संस्करण) तार्किकशिरोमणि विद्यानन्दस्वामि-विरचित आप्तविषय-की अद्वितीय रचना, न्यायाचार्य पण्डित दरबारीलाल कोठियाद्वारा प्राचीन प्रतियोंपरसे संशोधित और सम्पादित, हिन्दी-अनुवाद, विस्तृत प्रस्तावना, और अनेक परिशिष्टोंसे अलङ्कृत $\frac{२०\times२६}{८}$ पेजी साइज, लगभग चार-सौ पृष्ठ प्रमाण, मूल्य आठ रुपया। यह संस्करण शीघ्र प्रकाशित होरहा है।

२. श्रीपुरपार्श्वनाथ-स्तोत्र—उक्त विद्यानन्दाचार्य-विरचित महत्वका स्तोत्र, हिन्दी-अनुवाद तथा प्रस्तावनादि सहित। सम्पादक—न्यायाचार्य पण्डित दरबारीलाल कोठिया। मूल्य एक रुपया।

३. शासन चतुस्त्रिंशिका—विक्रमकी १३ वीं शताब्दीके विद्वान् मुनि मदनकीर्ति-विरचित तीर्थ-परिचयात्मक ऐतिहासिक अपूर्व रचना, हिन्दी अनुवाद-सहित। सम्पादक—न्यायाचार्य पण्डित दरबारीलाल कोठिया। मूल्य बारह आना।

व्यवस्थापक—वीरसेवामन्दिर,

७/३३ दरियागंज, देहली।

प्रकाशक-परमानन्द जैन शास्त्री, वीरसेवामंदिर ७/३३ दरियागंज देहली, मुद्रक-अजितकुमार जैन शास्त्री, अकलंकप्रेस, सदरबाजार, देहली

अनेकान्त

सम्पादक
जुगलकिशोर मुख्तार

सहायक सम्पादक
दरबारीलाल न्यायाचार्य



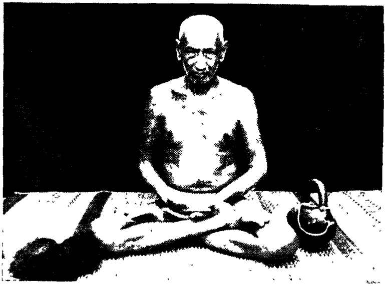
श्री १०५ क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी न्यायाचार्य

विषय-सूची

आवश्यक सूचना

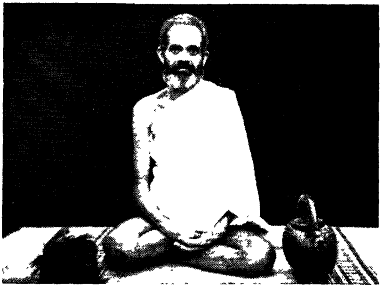
वीरसेवामन्दिरका आफिस और स्टाफ अब सरसावासे देहली आगया है और 'अनेकान्त' का प्रकाशन देहलीमे होने लगा है। अत: 'अनेकान्त' में समालोचना तथा परिवर्तनके लिये लेखक तथा पत्र-कार अपनी पुस्तकें और पत्र-पत्रिकाएं निम्न पतेपर भेजें। वीरसेवामन्दिरके सुरुचिपूर्ण प्रकाशनोंको मँगानेके लिये भी निम्न पतेपर ही पत्रव्यवहार करें।

व्यवस्थापक—
वीरसेवामन्दिर,
७/३३ दरियागंज, देहली



श्री १०५ पूज्य—
क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी

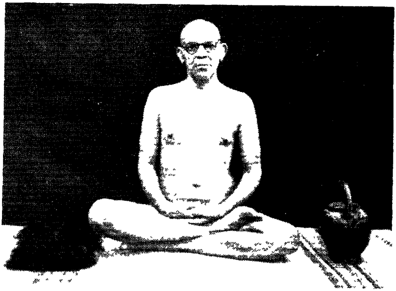
[आपका गत आश्विन कृष्णा ४ वीरनिर्वाण सं० २४७५, ता० ११ सितम्बर १९४९ को देहलीमें ७५ वाँ जन्म-दिवस अपूर्व समारोहके साथ मनाया गया।]



श्री १०५ पूज्य—
क्षुल्लक पूर्णसागरजी



श्री १०५ पूज्य—
क्षुल्लक चिदानन्दजी



श्री १०५ पूज्य—
क्षुल्लक निजानन्दजी

ॐ अर्हम्

वार्षिक मूल्य ५)

अनेकान्त

विश्व तत्त्व-प्रकाशक — वस्तुतत्त्व-संद्योतक

एक किरणका मूल्य ।।)

नीतिविरोधध्वंसी लोकव्यवहारवर्तकः सम्यक् ।
परमागमस्य बीजं भुवनैकगुरुर्जयत्यनेकान्तः ॥

वर्ष १० किरण ३ | वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम), ७/३३ दरियागंज, देहली
आश्विन, वीरनिर्वाण-संवत् २४७५, विक्रम-संवत् २००६ | सितम्बर १९४९

साधु-महिमा

भोतन-भाग तज्यौ गहि जोग, संजोग-वियोग समान निहारें ।
चंदन लावत सर्प कटावत, पुष्प चढ़ावत खड्ग प्रहारें ॥
देहसौं भिन्न लखें निज चिन्ह, न भिन्न परीसहमें गुन धारें ।
'द्यानत' साध समाधि अराधिकें, मोहनिवारिकें ज्योति विथारें ॥

भू-जल-पावक-वृक्ष-शशी-रवि, मेघ नभं गुन आवुह सारें ।
थान नदीतट ग्रीषम भूधर, पावस वृक्षतलें निशि टारें ॥
वज्र परें नहि ध्यान टरें, शिव-चाहक चाहको दाह विडारें ।
'द्यानत' साध समाधि अराधिकें, मोहनिवारिकें ज्योति विथारें ॥

—कवि द्यानतराय

जिनके घटमें प्रगट्यौ परमारथ, राग विरोध हिये न विथारें ।
करकें अनुभौ निज आतमको, विषयासुखसौं हित मूल निवारें ।
हरिकें ममता धरिकें समता अपनौ बल फोरि जु कर्म विडारें ।
जिनकी है यह करतूति सुजान सु आप तिरें परजीवन तारें ॥

श्री पार्श्वनाथाष्टक

(मालिनी)

अजमभरमपारं मार-दुर्वार-वारं, गलित-बहल-खेदं सर्व्वतत्त्वानुवेदं ।
कमठ-मद-विदारं सूरि-सिद्धांत-सारं, विगत-वृजिन-यूथं नौम्यहं पार्श्वनाथं ॥ १ ॥
प्रहत-मदन-व्रातं केवलज्ञानरूपं, मरकतमणि-देहं सौम्य-भावानुगेहं ।
सुर्भारत-गुण-पूरं पंच-संसार-दूरं, विगत-वृजिन-यूथं नौम्यहं पार्श्वनाथं ॥ २ ॥
सकल-सुजनरूपं धौत-निःशेष तापं, भव-गहन-कुठारं सर्व्व-दुःखाऽपहारं ॥
अतुलित-तनु-कामं घात्यघाति-प्रणाशं, विगत-वृजिन-यूथं नौम्यहं पार्श्वनाथं ॥ ३ ॥
असदृशमभिमानं पूज्यमानं च मानं, त्रिभुवन-वनतेसिं(?)क्लेश-वल्ली-हुताशं ।
स्त्रमन-श्रुतमनीशं शुद्धबोध-प्रकाशं, विगत-वृजिन-यूथं नौम्यहं पार्श्वनाथं ॥ ४ ॥
गत-मदकर मोहं दिव्य-निर्घोष-वाहं, विधुत-तिमिर-जालं मोह-मल्ल-प्रमल्लं ।
विलसदमल-कायं मुक्ति-सामस्त्य-गेहं, विगत-वृजिन-यूथं नौम्यहं पार्श्वनाथं ॥ ५ ॥
सुभग-वृष-विराजं योगिनं ध्यान-पुंजं, त्रुटित-जनन-बंधं साधु-लोक-प्रबोधं ।
सपदि कलित-मोक्षं भ्रांति-मेधा-विपक्षं, विगत-वृजिन-यूथं नौम्यहं पार्श्वनाथ ॥ ६ ॥
अनुपम-सुख-मूर्तिं प्रातिहार्याऽष्ट-युक्तं, खचर-नर-सुरेशं पंच-कल्याण-कोपं ।
धृत-फणि-मणिदीपं सर्व्व-जीवानुकंपं, विगत-वृजिन-यूथं नौम्यहं पार्श्वनाथं ॥ ७ ॥
अमर-गुण-नृपालं किन्नरी-नाट्य-शालं, फणिपति-कृत-सेवं देवराजाऽधिदेवं ।
असम-बल-निवासं मुक्ति-कांता-निवासं, विगत-वृजिन-यूथं नौम्यहं पार्श्वनाथं ॥ ८ ॥
मदन-मद-हर-श्रीवीरसेनस्य शिष्यैः, शुभग-वचन-पूरै राजसेनैः प्रणीतं ।
जपति पठति नित्यं पार्श्वनाथाऽष्टकं यः, स भवति शिवभूमौ मुक्तिसीमंतिनीशः ॥९॥

॥ इति पार्श्वनाथाष्टकं समाप्तम् ॥

[नोटः—यह सुन्दर स्तोत्र श्रीवीरसेनके शिष्य राजसेनका बनाया हुआ है और हालमें देहलीके दिगम्बर जैन पंचायती मन्दिरसे प्राप्त हुआ है ।
—सम्पादक]

शौच-धर्म

(प्रवक्ता श्री १०५ पूज्य क्षुल्लकगणेशप्रसादजी वर्णी)

(सागर-चातुर्मासमें दिया गया वर्णीजीका एक प्रवचन)

—०❀●—

आज शौचधर्म है। शौचका अर्थ होता है पवित्रता। सबको अपनी आत्मा पवित्र बनानी चाहिये। पवित्रता लोभ-कषायके दूर होनेपर ही हो सकती है। लोभ, यह एक ऐसी कषाय है जोकि बहुत देरमें पिंड छोड़ती है। क्रोध नष्ट हो जाता है, मान नष्ट हो जाता है, माया नष्ट हो जाती है पर लोभ दशम गुणस्थान तक साथ लगा रहता है। लोभके अभावमें यह बात अवश्य है कि वह यथाख्यातचारित्र प्राप्त करा देता है। यह बात क्रोध,मान और मायाके अभावमें नहीं होती। लोभ करना बड़ा बुरा है, जो अधिक लोभ करता है उसकी बड़ी दुर्दशा होती है। मुजफ्फरनगरके पास एक सटैरो गांव है। वहां एक अच्छा धनाढ्य जैन रहता था। उसकी प्रकृति कृपण थी। घर आए हुएको दो रोटियां खिलाना भी उसे भारी मालूम होता था। एक बार एक जैनी जो साधारण परिस्थितिका था शामके समय उसके घर आकर ठहर गया, पर उसने उससे ब्यालूकी बात भी न पूछी। उसे दो परांयठा भारी हो गये। ठहरनेवाला आदमी बड़ा टंच था। उसने एक थैलीमें दस-पच्चीस रुपये और कुछ कंकड पत्थर भरकर मुंह बंद किया और उस आदमीसे कहा जिसके यहाँ ठहरा था कि इसमें कुछ जोखिम है आप अच्छी तरहसे रख लीजिये, वह खोलकर देखने लगा तो उसने कहा, क्या आवश्यकता है? आपका मुझे विश्वास है आप ऐसी-की-ऐसी ही कल दे दीजिये। अच्छी बात कहकर उसने वह थैली रख ली। सवेरा हुआ। उसने कहा, अब जाओ थैली निकाल दूं? उसे डर था कि यदि यह कुछ समय तक ठहरेगा तो भोजन कराना पड़ेगा। वह समझ गया। उसने कहा कि मुझे आज भोजन तो करना ही नहीं है सिर्फ नहा-धोकर दर्शनकर आऊं। फिर थैली लेकर चला जाऊंगा। वह चुप रह गया, यह नहा-धोकर जब मन्दिरसे आया और रास्ता चलने लगा। तब बोला कि मैं अब जाता हूँ। मेरी थैली निकाल दो। थैली लेकर वह जहांसे दो चार भले आदमी जा रहे थे खोलकर रोने लगा कि जिस किसी तरह जो १० गिन्नी और दो चार मुहरें इकट्ठी कर पाई थीं, पर आज वे कंकड़ पत्थर हो गईं। यदि इनकी बात कहता हूँ तो कौन मानेगा, भले आदमी हैं। मैं तो लुट गया। भीड़ इकट्ठी हो गई लोगोंने काना-फूंसी करके उससे कहा कि अपनी इज्जतमें बट्टा न लगाओ। चुपकेमे दस गिन्नी और ४ मुहरें लाकर देदो। इज्जतका ख्यालकर वह गिन्नी और मुहरें लाकर उसे देने लगा तो वह बोला, इस तरह मैं नहीं ले सकता, पंचोंके सामने लूंगा। पंच जुड़े। पंचोंके सामने उस घरमालिकने उसे १० गिन्नियां और ४ मुहरें दीं और हाथ जोड़े। अब उसने कहा कि यदि सत्य बात सुनना चाहते हो तो यह है कि मैं बंजी करनेवाला आदमी हूँ। मेरे पास गिन्नी और मुहरें कहांसे आ सकती हैं। मैं इनके घर कल शामको ब्यालूके वक्त आया पर इनसे दो परांयठा नहीं खिलाये गये। इनके दो परांयठाके लोभने मुझे यह षड्यन्त्र करनेको बाध्य किया, मुझे न गिन्नी चाहिये न मुहरें। दरअसल बात ऐसी ही है जो अधिक लुब्धक होता है उसकी ऐसी ही दशा होती है।

इस पञ्चाध्यायीमें अभी सम्यक्त्वका ही प्रकरण चलरहा है कलसे संवेगगुणका वर्णन चालू है। संवेगका अर्थ धर्म और उसके फलमें सातिशय अनुराग होना है। पंच परमेष्ठियोंमें अनुराग होना भी संवेग ही है। यहां अनुरागका अर्थ विषयेच्छा नहीं है। आप जिनेन्द्रदेवके दर्शन करने मन्दिर आते हैं। इसमें आपके क्या विषयेच्छा है? विषयोंकी इच्छा घटाने के लिये ही तो आप मन्दिर आते हैं। समन्तभद्र-स्वामी भगवान् महावीरका स्तवन करते हुए युक्त्यनुशासनमें कहते हैं—

"न रागान्नः स्तोत्रं भवति भवपाशच्छिदि मुनौ,
न चान्येषु द्वेषादपगुणकथाभ्यासखलता।"

भगवन्! मैंने जो आपका यह स्तवन किया है सो रागवश नहीं किया है। आप संसारके पाश-बन्धनको छेदन करनेवाले हैं। आपमें राग करनेमें विषयकी पूर्त्ति क्या हो सकेगी? वीतरागका दर्शन करना और मुनिके लिये भक्तिपूर्वक आहार देना मोक्ष-मार्ग है—इन दोनों ही कार्योंसे मोक्षमार्गमें सद्यः प्रवेश हो सकता है। संवेगका एक अर्थ संसार-भीरुता है। संसारसे भय खाना बुद्धिमानोंका कर्त्तव्य है। लेकिन संसारसे भय तो तब हो न, जब उसकी विषमताका ध्यान किया जाय। संसारके स्वरूपका जैसा-जैसा चिन्तन किया जाता है वैसा-वैसा ही उससे भय होता जाता है। नरकादि गतियोंमें कैसा क्या दुःख होता है, जरा इस बातको सोचो तो सही, अभी रोमांच निकल आवेंगे। हम सांसारिक पदार्थोंकी अभिलाषामें इतने अधिक व्यस्त रहते हैं जिसका कि कुछ ठिकाना नहीं। पर अभिलाषा करनेसे विषयोंकी प्राप्ति होजाती हो सो बात नहीं। मेरा अनुभव तो ऐसा है ज्यों-ज्यों विषयोंकी अभिलाषा की जाती है त्यों-त्यों वे दुर्लभ होते जाते हैं। बरुआसागरकी बात है। मैं और मोतीलालजी दोनों थे। मनमें अभिलाषा उत्पन्न हुई, रसखीर खायें। मूलचन्दजीसे रस बुला देनेको कहा। उन्होंने बहुत-सा रस बुला दिया। हम दोनोंको रसखीर खानेकी अभिलाषा थी इसलिये मन्दिरसे जल्दी आगये और ८ बजेसे ११ बजेतक रसको साफकर खीर बनाते रहे, बनाते-बनाते मध्याह्नकी सामायिकका वक्त हो गया सोचा कि सामायिक करली जाय बाद भोजन किया जाय। सामायिकके बाद भोजनके लिये बैठे तो बाईजी पहले पूड़ी परोसने लगी, हमने कहा खीरके बनानेमें हम लोगोंने ३ घन्टे खर्च किये सो फोकटमें जावेंगे। पहले खीर दो। बाईजीने थालियोंमें खीर परोस दी। हम लोग अभिलाषाकी तीव्रतासे उसे गर्म ही खाने लगे, बाईजीने बहुत रोका, ठन्डी होजाने दो तब तक एक-दो पूड़िया खालो। पर आसक्ति तो उसी ओर लगी हुई थी। हम दोनोंने खीरका एक-एक ग्रास मुँहमें दिया कि दो मक्खियां लड़ती लड़ती आईं और हमारी थालीमें और एक दूसरी मोतीलालकी थालीमें आगिरी। अन्तराय होगया, हम दोनों ऐसे ही उठ गये। विश्वास हुआ कि विषयोंकी अभिलाषा करनेसे उनकी प्राप्ति नहीं होती। अब एक उदाहरण सुनो जहां बिना अभिलाषा किये पदार्थ मिल जाते हैं। मैं तो अपन-बीती ही आपको अधिकतर सुना देता हूं। इसमें मेरी आत्म-प्रशंसा न समझना, नहीं, कहो तो दूसरेका नाम ले दिया करूंगा। नैनागिरकी बात है। हम दस-पांच आदमी बैठे शास्त्रचर्चा कर रहे थे, परस्परमें चर्चा चल पड़ी कि अमुकका पुण्य अच्छा है। एकने कह दिया कि वर्णीजीका पुण्य सबमें अच्छा है। इन्हें मनचाहीं वस्तुएँ प्राप्त होजाती हैं। एक बोला यदि इन्हें आज भोजनके पहले यहाँ अंगूर मिल जायं तो हम जानें इनका पुण्य सबसे अच्छा है। मुझसे न रहा गया। मैंने कहा, यदि उदय होगा तो यहीं मिल जावेंगे। उसने कहा, यहीं और अभी भोजनके पहले मिलना चाहिये, मैंने फिर भी कहा, यदि होगा तो कौन देख आया। मैं भोजन करने बैठा ही था कि इतनेमें अयोध्याप्रसाद दिल्लीसे सागर होते हुवे रेशन्दीगिरि पहुँचे और बोले वर्णीजीने भोजन तो नहीं कर लिया। मैं अंगूर लाया हूँ। भाग्यकी बात है उस जंगलमें भी बिना इच्छा किये ही अंगूर मिल गये। इससे यह अनुभव होता है कि पदार्थोंकी अभिलाषासे ही

उनकी प्राप्ति नहीं होजाती। पर किया क्या जाय ? अनादिकालसे जो यह मोह साथमें लगा हुआ है वही दुनियाको नाच नचा रहा है। एकने कहा है—

'मोह महा रिपु-वैर कियो अति सब जिय बन्धन डारो,
घर कारागृह बनिता बेडी परिजन जिय रखवारा

मोहरूपी प्रबल वैरीने ऐसा भारी वैर किया कि सब जीवोंको बन्धनमें डाल दिया है। घरको कारागृह बनाया है, स्त्रीको बेड़ी और परिवारके लोगोंको रक्षक—पहरेदार बनाया है। यथार्थमें यह स्त्री एक बेड़ीके समान है। लोकमन दाऊकी यह कहानी याद आती है। वह कहा करता था कि "ब्रह्माके पेटमें चारों वर्णके मनुष्य भरे हुए थे। उनमें उन्हें जब कष्ट होने लगा तो उन्होंने ब्राह्मणोंसे कहा देखो, मुझे कष्ट हो रहा है आप लोग बाहर निकल जाओ तो अच्छा है। ब्राह्मणोंने पूछा, बाहर जाकर क्या करेंगे ? ब्रह्माने कहा दुनियासे पुजना और क्या करोगे। पृथ्वीके देव बनकर रहो। ब्राह्मण बाहर निकल गये। अब क्षत्रियोंसे कहा, तुम भी बाहर निकल जाओ तो हमारी पीड़ा कम हो जाय। क्षत्रियोंने कहा, ऐसा सुन्दर स्थान छोड़कर कहां जायें ? क्या करेंगे ? ब्रह्माने कहा सबपर राज्य करना, राज्यके लोभसे क्षत्रिय बाहर निकल आये। अब वैश्योंसे कहा, भैया ! तुम लोग भी बुड्ढे पर दयाकर बाहर होजाओ तो अच्छा है। बाहर जाकर क्या करेंगे ? खूब धन कमाना और मजेसे ऐश आराम करना, ब्रह्माने कहा। धनके लोभमें वैश्य भी बाहर हुए। अब रहे शूद्र। सो जब शूद्रोंसे बाहर निकलनेको कहा तो उन्होंने कहा, जितने अच्छे-अच्छे कार्य थे सो तो उन तीनने हथिया लिये, हम लोग क्या करेंगे ? ब्रह्माने उन्हें प्रेमसे समझाया कि तुम सबकी सेवा कर दिया करो, सेवामें बड़ा पुण्य है। अच्छा कहकर शूद्र भी बाहर आगये। अब भीतर रह गई स्त्रियां। उनसे भी कहा आप लोग भी कृपा करो तो अच्छा हो। हम अबला आपका आश्रय छोड़कर कहां जायंगी ? ऐसा स्त्रियोंने पूछा। ब्रह्माजीने उत्तर दिया कि मर्दोंके शिर-पर सवार रहकर उन्हें अपने बन्धनमें रखना।" यह कहानी है तो हसानकी ही, पर वास्तवमें विचार करो तो यह स्त्रियां है बेड़ीके तुल्य। इन्हींके चक्करमें पड़कर मनुष्य एकसे दो, दोसे तीन, तीनसे चार और इसी तरह अनेक होता रहता है—अपने आपको एक बड़े परिवारके बीचमें इन्हींकी कृपासे पाता है। संसार ही ऐसा है दोष किसे दिया जाय ? संसारका स्वभाव ही ऐसा है जो 'बोले सो फसे।'

एक जंगलमें एक साधु रहता था। बड़ा तपस्वी था। जिसे जो कह दे उसे उसकी प्राप्ति अवश्य हो जाती। एक राजाके लड़का नहीं था। वह साधुके पास आया। साधु उसकी भक्तिसे प्रसन्न हो गया। राजाने पुत्रका वरदान मांगा। साधुने स्वीकार कर लिया। राजा अपने घर गया। अब जब रानी ऋतुमती होनेके बाद गर्भधारण करनेमें तत्पर हुई तब दुनियामें कोई मरा ही नहीं, उसके गर्भमें किसे भेजा जाय ? मेरी बात झूठी न पड़ जाय इसके ख्यालसे साधु स्वयं मरकर उसके गर्भमें पहुँच गया। जब नौ महीना गर्भके दुःख सहे तो उसे अपनी सब गल्ती अनुभवमें आने लगी। पर अब कर ही क्या सकता था। ९ माह बाद पुत्र हुआ। पर वह पुत्र अपनी साधु अवस्थाका ख्यालकर किसीसे कुछ बोलता नहीं था। गूंगा माना जाने लगा। राजाने इतनेमें ही संतोष कर लिया। चलो बोलता नहीं, न बोलने दो। निपूता तो नहीं कहलाऊंगा। लड़का बड़ा हुआ। एक दिन वह उद्यानमें क्रीड़ाके अर्थ गया। एक पेड़के नीचे खड़ा था। उसी समय एक शिकारी वहाँ आया। उस शिकारीको उस दिन शिकारमें कुछ भी नहीं मिला था। निराश होकर अपने घरको लौट रहा था। इतनेमें उस वृक्ष पर एक चिड़िया बोल उठी। शिकारीका ध्यान उन चिड़ियोंपर गया और उसने उस वृक्षपर जाल डालकर सब चिड़ियोंको फँसा लिया। यह देखकर राजाका लड़का बोल उठा, 'बोले सो फंसे' राजाके लड़केके मुखसे यह शब्द सुनकर शिकारी शुभ खबर देनेके लिये राजाके पास दौड़ा गया

और बोला। महाराज, आपका लड़का तो बोलता है। राजाने खुश होकर पांच गांव तथा अपने सब आभूषण इनाममें दिये। जब लड़का खेलकर आया तब राजाने कहा बेटा बोलो। लड़का चुप था। कुछ भी नहीं बोला। राजाको शिकारीपर क्रोध आया कि यह भी हमारी हंसी करने लगा। इसे फांसीकी सजा दी जाय, ऐसा सेवकोंसे कहा। जब सेवकगण उसे फांसीके लिये लेजाने लगे तो उसने कहा कि मुझे ५ मिनिटका समय दिया जाय और उस लड़केको बुलाया जाय। लड़का बुलाया गया। उसने उसे गोदमें बैठाकर कहा। भैया, मेरी फांसी तो होती ही है तुम उतना ही बोल दो जितना कि उस वृक्षके नीचे बोले थे। लड़केको दया आई। यह व्यर्थ ही मारा जायगा। यह सोचकर उसने कहा—'बोले सो फंसे'। राजाको शिकारीकी बातपर विश्वास हो गया। सो उसकी सजा माफ करदी गई और पांच गांव जो इनाममें दिये थे वे भी कायम रक्खे गये। अब राजाने लड़केसे कहा बेटा बोलते क्यों नहीं? लड़केने अपना सारा किस्सा सुनाया कि मैं साधु था। तुम्हारी भक्तिसे प्रसन्न हो गया था उसीके फलस्वरूप मेरी यह दुर्गति हुई है। किस्सा तो कल्पित होता है। पर उससे सार ग्रहण करलिया जाता है। विचार करो यह राग-द्वेष ही तो दुःखका कारण है। राग-द्वेषसे ही विषयासक्ति बढ़ती है। आसक्ति कम हो जाय तो विषय उतना हानिकर नहीं है। आत्मानुशासनमें गुणभद्राचार्यसे कोई प्रश्न करता है कि 'आप, पाप न करो, पाप न करो ऐसा द्राविड़ी उपदेश क्यों देते हो? सीधा यही कहो न, कि पुण्य न करो। न पुण्य किया जायगा, न सम्पदा प्राप्त होगी, न उसका उपभोग होगा और न तब पाप होगा।' इसके उत्तरमें गुणभद्र स्वामी लिखते है कि:—

'न सुखानुभवात्पापं पापं तद्धेतुघातकारम्भात्।
नाजार्णं मिष्टान्नाद्ननु तन्मात्राद्यतिक्रमणात्।

अरे! सुखका अनुभव करनेसे पाप नहीं होता किन्तु उसके हेतुओंका विघात करनेसे होता है। मिष्टान्न खानेसे अजीर्ण नहीं होता किन्तु उसकी मात्राका उल्लंघन करनेसे होता है। मात्राका उल्लंघन अत्यासक्तिमें ही होता है।

सम्यग्दृष्टिकी एक पहचान अनुकम्पा भी है। अनुकम्पाका अर्थ है परदुःखप्रहाणेच्छा। परके दुखको नष्ट करनेकी इच्छा होना ही अनुकम्पा है। मनुष्य मात्रको चाहिये कि किसीको दुखी देखे तो उसका दुःख दूर करनेका भरसक प्रयत्न करे। समस्त जीवोंके साथ मैत्रीभाव होना चाहिये। पर 'दुःखानुत्पत्यभिलाषो मैत्री' दूसरेको दुःख उत्पन्न ही न हो यह मैत्रीका अर्थ है। अनुकम्पासे मैत्री गुण प्रशस्त और उससे भी उत्तम माध्यस्थ्य गुण है, जिसमें न राग है न द्वेष है दोनोंका विकल्प ही नहीं है। वैयावृत्य भी इसी अनुकम्पा गुणका एक कार्य है। हृदयमें अनुकम्पा न होगी तो दूसरेकी वैयावृत्ति क्या करोगे। भक्तिपूर्वक जो मुनियोंको आहारादि दिया जाता है वह वैयावृत्य है। उसमें पञ्चाश्चर्य आदि अतिशय होते है। पर किसी दरिद्रीको भोजन दिया जाता है उसमें भक्ति नहीं होती। इसमें दया ही होती है और दयाका फल स्वर्गादिक है। मुनिदान एवं पूजनका फल मोक्ष है। स्वर्गादिकी प्राप्ति हो जावे, यह दूसरी बात है। किसान खेतमें बीज डालता है अनाजके लिये भुसाके लिये नहीं। वह तो अपने आप होजाता है। इसी प्रकार कोई कार्य करो मोक्षकी इच्छासे करो यह स्वर्गादि भुसाके समान जरा-सी मन्दकषायसे प्राप्त हो सकते हैं और अनन्त बार प्राप्त हुए हैं।

आज शौच धर्म है। इसमें लोभका त्याग करना पड़ता है। यदि आप लोग लोभको अच्छा समझते हो तो मोक्षका लोभ रख लो, अन्य विषयसामग्रीका लोभ छोड़ दो। मोक्षका लोभ संसारका कारण नहीं है। पर विषयका लोभ अनन्त संसारका कारण है।"

आत्मा, कर्म, सृष्टि और मुक्ति

(ले० श्री लोकपाल)

—*—

जैनधर्मकी कर्म-व्यवस्थाका वर्णन पूर्ण वैज्ञानिक, तर्कपूर्ण एवं आधुनिक विज्ञानसे सिद्ध है। इसे ठीक-ठीक जाननेके लिये आधुनिक विज्ञानके Atomic theory अणुविज्ञानका कुछ ज्ञान एकदम आवश्यक है। यह होनेसे ही इसकी पेचीदगियों और गूढ़ताओं या गुत्थियोंको कोई ठीक-ठीक समझते हुए जैनधर्मके कर्म-विज्ञान Karma Philosphy में एक अन्तर्दृष्टि-सी पा सकता है। अन्यथा ज्ञान कोरा किताबी ही रह जाता है या काफी गहरी वस्तु-स्थिति तथा क्रम-विकास evolution को एकदम ठीक-ठीक समझनेके नजदीक नहीं होता। जैसी जैनधर्ममें वर्णित कर्मोंकी व्याख्या है, यदि उसे लोग पूरा पूरा समझ लें तो फिर कोई बात या विचित्रता ही समझनेके लिये बाकी नहीं रह जाती। इससे ठीक-ठीक यह जाना जा सकेगा कि कोई जन्म, मरण या दूसरी अवस्थाएँ क्यों तथा कैसे होती हैं। इस विषयपर यदि कोई विद्वान वैज्ञानिक ढंगसे विस्तृतरूपमें लिखे तो आज संसारमें इसे एक नूतन आविष्कार कहेंगे। इतना ही नहीं, यह संसारकी व्यवस्थाओंमें एक क्रान्ति ला देगा, सब कुछ या सब प्रचलित धारणाएँ उथल-पुथल हो जायेंगी और एक नया संसार नये सिरेसे बन जायगा, जिसमें सचमुच ही सत्ययुगके पहलेकी बातें सुख-शान्ति और आनंदका राज्य होगा।

जैसे लोगोंने ईश्वर और प्रकृतिको अनादि माना है वैसे ही हमने भी आत्मा और पुद्गल (Matter) को अनादि माना है और यह माना है कि अनादिकालसे सांसारिक आत्मा पुद्गल (कर्मपरमाणुओं) से घिरा चला आता है। पुद्गलके इस घेरेको, जो आत्माको घेरे रहता है, हम "कर्मशरीर" कहते हैं। इसमेंसे हर समय अनंतानंत पुद्गल परमाणु छूटते रहते हैं ;इस तरह इस "कर्मशरीर" में कुछ न कुछ परिवर्तन (Change) होता रहता है और यही परिवर्तन जीवों और शरीर-धारियोंकी उत्पत्ति, मृत्यु तथा और दूसरी अवस्थाओंके होने और बदलनेका कारण (Basis Cause & reason) है, जिसे हम सृष्टि कहते हैं। आत्मा और पुद्गल ये ही दोनों मिलकर सारी सृष्टिकी रचना करते हैं। ये ही इसके कारण है। परन्तु पुद्गल तो जड़ है इससे आत्माको ही हम विशेषतः सृष्टिकर्त्ता कहें तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। जैसे जलमें मिट्टीके बारीक कण डाल दिये जायें तो वह जलको गंदा कर देंगे और यदि कोई रंग डाल दिया जाय तो वह जलको रंगीन कर देगा। जलका निर्मलरूप जब इस प्रकार मलसहित-गंदा या विकृत हो जाता है तब उसमें पड़ने वाला प्रतिबिम्ब भी साफ नहीं दिखलाई पड़ता, सब कुछ मिट्टीके कणोंके कारण धुंधला हो जाता है या रंगके कारण रंगीन। फिर भी जल सदा जल ही रहता है और उपयुक्त दवाई (Chamical) डालनेसे मिट्टी हटाकर या रंग हटाकर फिर अपने असलरूपमें लाया जा सकता है। इतना ही नहीं जल चाहे गंदा हो या रंगीन उसमें वस्तुओंका प्रतिबिम्ब तो पड़ेगा ही या पड़ता ही है। यह जलका स्वाभाविक गुण है जो उससे अलग नहीं किया जा सकता, इससे हम

देखते हैं कि प्रतिबिम्ब जो जलमें किसी वस्तुका पड़ता है वह मिट्टीके कण मौजूद रहनेसे केवल धुंधला-मिट्टीके कणोंसे भरा-सा रंग रहनेपर रंगीन दिखलाई पडता है पर जैसे-जैसे ये कण साफ या कम होते जायेंगे वैसे २ प्रतिच्छाया या प्रतिबिम्ब भी साफ होता जायगा। मिट्टीके कणोंकी जगह यदि हम किसी ऐसी वस्तुके कण पानीमे डाल दें जो पानीको गंदला या धूमिल न करें बल्कि उसमें अधिक चमक लादे तो जो प्रतिबिम्ब उस हालतमें दिखलाई देगा वह उस वस्तुके कणोंके कारण एकदम शुद्ध तथा निर्मल तो नहीं होगा पर उसको हम प्रकाशयुक्त या किसी और ही तरहका पावेंगे। इसतरह हम देखते है कि विभिन्न वस्तुओंके कणोंको जलमें डालनेसे एक ही चीजका प्रतिबिम्ब विभिन्नरूपमें दिखलाई पडेगा। ऐसा होनेमे न तो जलका दोष है न उस चीजका जिसका प्रतिबिम्ब जलमें पड़ रहा है और न प्रतिबिम्बका ही जो हर वक्त हर हालतमे है या रहता है। एक ही किस्मका पर केवल मिट्टी आदिके कणोंके जलमें मौजूद रहनेसे प्रतिबिम्बमे भी वे मौजूद रहते हैं। और इसी कारण कोई भी प्रतिबिंब निर्मल नहीं एवं साफ नहीं दर्शित होता। ये कण प्रतिबिंबके साथ घुल-मिल नहीं जाते, न प्रतिबिंब ही उनसे घुल-मिलकर एकाकार हो जाता है। ये दोनों दो चीजें हैं। और किसी भी हालतमे एक दूसरेसे मिलकर एक नहीं हो सकतीं मिट्टी वगैरहके ये कण प्रतिबिंबमें न तो सट जाते हैं न प्रतिबिम्बके ऊपर उनका कोई एक दूसरेको बदल देनेवाला प्रभाव Actino & reaction ही होता है, उनके रहनेसे प्रतिबिंब विकृत भी नहीं होता वह तो हर हालतमें हर वक्त अपने स्वाभाविक रूपमें ही रहता है। फिर भी हम देखते हैं कि इन कणोंके जलमें रहनेसे वे प्रतिबिम्बमें भी रहते हैं और इसी कारण प्रतिबिम्ब जैसा दिखलाई देना चाहिये वैसा नहीं दिखलाई देता।

इसी तरह यदि आत्माको हम प्रतिबिम्बकी जगह मान लें और कर्मपरमाणुओंको मिट्टी आदि तरह तरहकी चीजोंके कण तो हम समझ सकेंगे कि आत्मा और कर्म दो भिन्न-भिन्न वस्तु होते हुये भी और एक-दूसरेसे न मिलते हुये भी या एक-दूसरेमें मौजूद या एक-साथ रहते हुये भी एक-दूसरेरूप नहीं होसकते। न एक दूसरेमें मिल ही सकते हैं फिर भी कर्मद्वारा आत्मप्रदेशमें असर इस तरहका पड़ता है जिससे आत्माका ज्ञान या दर्शन जैसा होना चाहिये या जैसा रहना चाहिये (परम शुद्ध एवं निर्मल) वह नहीं रहता या नहीं होता। आत्मा यदि परम शुद्ध रहता उसके (आत्माके) प्रदेश या शरीरमें या आत्मा जिस स्थानको घेरे हुए है उतने या उसी स्थान या प्रदेशमे ये कर्मके परमाणु उपस्थित नहीं रहते तो उसका ज्ञान परम निर्मल और विशुद्ध होता। पर ये परमाणु उस प्रदेशमें उपस्थित रहकर उसके अन्दर प्रतिबिम्बित वस्तुओंका रूप जैसा दिखलाई देना चाहिये वैसा नहीं दिखलाई देने देते।

आधुनिक विज्ञानमें जो Scattering of rays वगैरहके बारेमें वैज्ञानिकोंने बातें बतलाई हैं उन्हें जाननेवाला इस विषयपर गौर कर विभिन्न वस्तुओंके अणुओं atoms का प्रभाव प्रकाश-किरणोंपर क्या पड़ता है उसे समझकर काफी जानकारी प्राप्त कर सकता है।

आत्मा चेतन है और जल, मिट्टी इत्यादि वस्तुओंके कण या किसी चीजका प्रतिबिम्ब (जो जलमें पड़ रहा हो) ये सब अचेतन या जड़ है। ऐसी हालतमें इन वस्तुओंका दृष्टान्त देकर आत्माकी बातें ठीक-ठीक समझाना या समझना भी एकदम आसान नहीं। फिर भी कुछ यत्न और कोशिशसे काफी जानकारी इस तरह हासिल की जा सकती है।

आत्मा और पुद्गल इस संसारमें सर्वदासे मौजूद हैं और हर जगह दोनों ही मौजूद हैं। जिन प्रदेशोंमें जगहोंमें या जितने आकाश स्थलमें आत्मा विद्यमान है या आकाशका जितना थोड़ा या ज्यादा प्रदेश किसी एक आत्माने छेंक रखा है उसके भीतर पुद्गल परमाणु भी वर्तमान है ऐसा सभी

जगह है। हर समय रहता है और सर्वदासे ऐसा हो है। ऐसी हालतमें इन परमाणुओंका असर ठीक उसी तरह आत्मापर पड़ता है, जैसे जलमें दिखाई देनेवाले प्रतिबिंबपर जलमें वर्तमान मिट्टी इत्यादिके कणोंका। इस तरह आत्मा भी अनादि कालसे है, और पुद्गल भी, और जब तक किसी भी तरह आत्मा इन पुद्गलपरमाणुओंसे छुटकारा नहीं पाता तब तक वह परमनिमल नहीं कहा जा सकता। न उसका ज्ञान ही "केवलज्ञान" हो सकता है और न वह मोक्ष ही प्राप्त कर सकता है।

फिर प्रश्न यह उठता है कि जबतक आत्मा संसारमें है, जहां हर जगह हर वक्त पुद्गल परमाणु मौजूद है। फिर वह कैसे छुटकारा पा सकेगा। ऐसी हालतमे जबतक कि वह किसी ऐसी जगह या स्थानमें न पहुँच जाय जहां पुद्गल न हों। फिर तो वह जगह ऐसी ही होगी जहां मोक्षके समय ही आत्मा जा सकेगी। या मोक्ष हो जानेपर ही जासकेगी। पर ऊपर यह कहा जा चुका है कि वगैर पुद्गलोंसे छुटकारा पाये मोक्ष नहीं हो सकता। फिर ये दोनों बातें एक दूसरेकी विरोधी हो जाती है। और देखनेमें तो इससे यही साबित होता है कि फिर ऐसी हालतमें आत्माको कभी मोक्षकी प्राप्ति ही न हो सकेगी?

पर ऐसी बात नहीं है थोड़ा गौरसे सोचनेपर इस गुत्थीको भी हम सुलझा पावेंगे। और आगे समझ सकेंगे।

बात है भी ऐसी ही कि आत्मा जबतक संसारमे है या रहता है, कर्मोंसे या पुद्गलों (कर्मपरमाणुओं) से छुटकारा नहीं पाता है क्योंकि वे तो हर वक्त उसके प्रदेशमें विद्यमान है। आत्मा तो स्वयं कुछ करता नहीं, जिससे इन पुद्गलोंसे छुटकारा पा जावे। या कर भी क्या सकता है जब उसके अन्दर और बाहर हर तरफ, हर जगह, हर वक्तमे पुद्गल वर्तमान ही हैं। स्वयं वह कहीं आ जा भी नहीं सकता। उसे तो स्थानान्तरित करनेवाला या एक जगहसे दूसरी जगह ले जानेवाला भी तो पुद्गल ही है। वह स्वयं तो केवल ज्ञानानंदमय चेतन है। वह तो केवल जानता याँ अनुभव करता है। बस, ऐसी हालतमें आत्मा कैसे या क्यों कर केवलज्ञान या निर्मल ज्ञानको प्राप्त होगा या होता है, यह एक बहुत कठिन समस्या है जिसे यहाँ सुलझाना या हल करना है।

आत्मा संसारमें रहते-रहते जब कभी मानवशरीर पाता है तब समय, संयोग तथा सुयोग पाकर (जिसे हमारे शास्त्रकारोंने निमित्तकारण तथा काललब्धि कहा है) जब ऐसी अवस्थामें आता है कि वस्तुरूप ठीक-ठाक समझने लग जाय तब उसका ध्यान बाहरसे मुड़कर अपने अंदर आना आरम्भ हो जाता है। और यहींसे उसके लिये केवलज्ञान या मोक्षप्राप्तिका प्रारम्भिक विषयप्रवेश आरम्भ होता है। और जैसे-जैसे अनेकानेक कारणों या जरियों द्वारा उसका ज्ञान बढ़ता जाता है अथवा यों कहिये कि साफ या निर्मल होता जाता है वह एक ऐसी स्थितिमे आ जाता है जबकि उसके अन्दरके पुद्गलोंकी बनावट या गठन (तरतीब) में इसतरहका फर्क आ जाता है या आने लगता है कि उनका असर एकदम मटमैला या अंधकारपूर्ण न होकर चमकदार या प्रकाशपूर्ण होने लगता है। जैसे कि जलमे मिट्टीके कण न डालकर अबरख, या शीशे या हीरेके कण डाल दिये जांय। आधुनिक विज्ञानद्वारा ये बातें हम जान सकते है कि किसी भी वस्तुका रूप या आंतरिक और बाह्यरूप और गुण वगैरह उसकी Atomic Construction (आणविक बनावट) पर ही निर्भर करते है। यदि हम किसी वस्तुकी एटोमिक बनावटको किसी तरह बदल सकें तो उस वस्तुको हम किसी दूसरी वस्तुमें परिणत कर देंगे, जिसका रूप और गुण वगैरह पहली वस्तुसे एकदम भिन्न होंगे। इस प्रकार आत्मामें जो चेतना (जानने तथा अनुभव करनेका (गुण) है। और पुद्गलके

साथ रहनेसे उसमें जो हलन-चलन इत्यादिकी मानसिक या शारीरिक क्रिया करनेकी शक्ति रहती है उसके कारण हरदम उसके (आत्माके) प्रदेशोंमें विद्यमान पुद्गलोंके संगठन—पुद्गलस्कन्धोंकी बनावट या एटोमिक बनावट या हरएक ऐटमकी एटोमिक बनावटमें हर वक्त परिवर्तन या हेर-फेर जारी रहता है या होता रहता है और यही सब जन्म, मृत्यु, बीमारी आदि तथा एक जगहसे दूसरी जगह आने, जाने, किसी खास व्यक्तिका जन्म किसी खास स्थानमें किसी खास व्यक्तिके यहां होने तथा स्वभावादिकी विशेषताका कारण है।

इन कर्मपुद्गलोंकी बनावटमें वस्तुस्वरूपकी ठीक-ठीक जानकारी तथा ज्ञानका विस्तार और आचरण वगैरहका असर, ज्ञानकी (सम्यग्ज्ञान) की हालतमें जबकि शरीरधारी मानवका ध्यान अपनी आत्माके अन्दरकी तरफ झुकना या लगना आरंभ हो जाता है तब उसके प्रदेशोंमें विमान पुद्गलोंकी बनावट या पुद्गलस्कंधोंकी बनावटमें ऐसा परिवर्तन होने लगता है कि वे धुंधले और अंधकार या काले पर्देकी तरह ढकनेवाले न होकर शीशेकी तरह पारदर्शक होते जाते हैं। और यह बात जितनी अधिकाधिक होती जाती है आत्माका ज्ञान विकसित, निर्मल और शुद्ध होता जाता है। (इसके बारेमें जैनशास्त्रोंमें बड़ा विस्तृत विवरण है जिसे कोई भी जाननेकी चेष्टा करनेसे जान सकता है) ऐसी अवस्थामें या इसतरह परिवर्तन होते-होते एक समय ऐसा आता है जबकि किसी खास आत्माके अन्दर (उसके आत्म-प्रदेशोंमें) विद्यमान पुद्गल स्कन्ध प्रायः एकदम पारदर्शक हो जाते हैं और तब निर्मल "केवलज्ञान" आत्माके अंदर झलक जाता है जिसका तुरन्त असर यह होता है कि कर्म उसके आत्मप्रदेशमें और भी कम होने शुरू हो जाते हैं और वह आत्मा अन्तको सबकर्मोंसे रहित होकर अपने ऊर्ध्वगमनस्वभावसे लोकके अग्रभागमें जाकर स्थित होजाता है, जहां फिर उसके साथ कर्मपुद्गलोंका सम्बन्ध नहीं हो सकता। आत्माकी इस परमशुद्ध अवस्थाको ही मुक्ति अथवा मोक्ष कहते हैं।



आ० विद्यानन्दके समयपर नवीन प्रकाश

(न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल जैन, कोठिया)

आचार्य विद्यानन्दने अपने किसी भी ग्रन्थमें अपना समय नहीं दिया। अतः उनके समयपर प्रमाणपूर्वक विचार किया जाता है।

१. विद्यानन्दने न्यायदर्शनप्रणेता अक्षपाद गौतमके न्यायसूत्र, न्यायसूत्रपर लिखे गये वात्स्यायनके[१] न्यायभाष्य और न्यायसूत्र तथा न्यायभाष्यपर रचे गये उद्योतकरके न्यायवार्त्तिक, इन तीनोंका तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक (पृ०२०५,२०६, २८३–३०६) आदिमें नामोल्लेखपूर्वक और बिना नामोल्लेखके भी सुविस्तृत समालोचन किया है। उद्योतकरका समय ६०० ई० माना जाता है। अतः विद्यानन्द ई० सन ६००के पूर्ववर्ती नहीं हैं।

२. तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक (पृ० १००,४२७) और अष्टसहस्री (पृ० २८४) आदि ग्रन्थोंमें विद्यानन्दने प्रसिद्ध वैयाकरण एवं शब्दाद्वैतप्रतिष्ठाता भर्तृहरिका नाम लेकर और बिना नाम लिये उनके 'वाक्यपदीय' ग्रन्थकी अनेक कारिकाओंको उद्धृत करके उनका खण्डन किया है। भर्तृहरिका अस्तित्वसमय ई० सन ६०० से ई० ६५० तक सुनिर्णीत है[२]। अतः विद्यानन्द ई० सन ६५० के पूर्वकालीन नहीं है।

३. जैमिनि, शबर, कुमारिल भट्ट और प्रभाकर इन मीमांसक विद्वानोंके सिद्धान्तोंका विद्यानन्दने नामोल्लेख और बिना नामोल्लेखके अपने प्रायः सभी ग्रन्थोंमें निरसन किया है। कुमारिल भट्ट और प्रभाकरका समय ईसाकी सातवीं शताब्दी (ई० ६२५ से ६८०) है। अतः विद्यानन्द उनके (ई० सन ६८० के) पश्चाद्वर्ती हैं।

४. कणादके वैशेषिकसूत्र, और वैशेषिकसूत्रपर लिखे गये प्रशस्तपादके[१] प्रशस्तपादभाष्य तथा प्रशस्तपादभाष्यपर भी रची गई व्योमशिवाचार्यकी व्योमवती टीकाका विद्यानन्दने आप्तपरीक्षा[२] आदिमें आलोचन किया है। व्योमशिवाचार्यका समय ई० सनकी सातवीं शताब्दीका उत्तरार्ध (ई० ६५० से ७०० तक) बतलाया जाता है[३]। अतः विद्यानन्द ई० सन ७०० के पूर्ववर्ती नहीं हैं।

५ धर्मकीर्ति और उनके अनुगामी प्रज्ञाकर तथा धर्मोत्तरका अष्टसहस्री (पृ० ८१,१२२,२७८), प्रमाणपरीक्षा (पृ० ५३) आदिमें नामोल्लेखपूर्वक खण्डन किया गया है। धर्मकीर्तिका ई० ६२५, प्रज्ञाकरका ई० ७०० और धर्मोत्तरका ई० ७२५ अस्तित्वकाल माना जाता है[४]। अतः आ० विद्यानन्द ई० सन ७२५ के पश्चात्कालीन है।

---

१ इनका समय प्रायः ईसाकी तीसरी, चौथी शताब्दी माना जाता है।

२ चीनी यात्री इत्सिंगने अपनी भारतयात्राका विवरण ई० सन् ६९१–९२ में लिखा है और उसमें उसने यह समुल्लेख किया है कि 'भर्तृहरिकी मृत्यु हुए ४० वर्ष हो गये'। अतः भर्तृहरिका समय ई० सन ६५० तक निश्चित है। देखो, अकलंकग्र० की प्रस्तावना।

१ ये ईसाकी चौथी शतीके विद्वान् माने जाते हैं। २ आ० प० पृ० ६ में व्योमवती पृ० १४६ के 'द्रव्यत्वोपलक्षित समवायको द्रव्यलक्षण' माननेके विचारका खण्डन किया गया है। तथा इसी ग्रन्थ के पृ० २६ पर व्योमवती पृ० १०७ से समवायलक्षणका समस्त पदकृत्य दिया गया है।

३ प्रमेयक मा० प्रस्ता पृ० १३

४ देखो, वादन्यायका परिशिष्ट नं० १।

६. अष्टसहस्री (पृ० १८) में मण्डनमिश्रका नामोल्लेखपूर्वक आलोचन किया गया है और श्लोकवार्त्तिक (पृ० ९४) में मण्डनमिश्रके 'ब्रह्मसिद्धि' ग्रन्थसे 'आहुर्विधातृ प्रत्यक्ष' पद्यवाक्यको उद्धृत करके कदर्थन किया गया है। शङ्कराचार्यके प्रधान शिष्य सुरेश्वरके बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्त्तिक (३-५) में 'यथा विशुद्धमाकाशं' 'तथेदममल ब्रह्म' ये दो (४३, ४४ वें) पद्य अष्टसहस्री (पृ० ६३) में बिना नामोल्लेखके और अष्टसहस्री (पृ० १६१) में 'यदुक्तं बृहदारण्यकवार्त्तिके' शब्दोंके उल्लेखपूर्वक उक्त वार्त्तिक ग्रन्थसे ही 'आत्मापि सदिदं ब्रह्म', 'आत्मा ब्रह्मेति पारोक्ष्य-' ये दो पद्य उद्धृत किये गये हैं। मण्डनमिश्रका[1] ई० ६७० से ७२० और सुरेश्वर मिश्रका[2] ई० ७८८ से ८२० समय समझा जाता है। अतः आ० विद्यानन्द इनके पूर्ववर्ती नहीं है—सुरेश्वर मिश्रके प्रायः समकालीन हैं, जैसा कि आगे सिद्ध किया जावेगा। विद्यानन्दके ग्रन्थोंमें सुरेश्वरमिश्र (७८८-८२० ई०) के उत्तरवर्ती किसी भी ग्रन्थकारका खण्डन न होनेसे सुरेश्वर मिश्रका समय विद्यानन्दकी पूर्वावधि समझना चाहिए।

अब हम आ. विद्यानन्दकी उत्तरावधिपर विचार करते हैं।

१. वादिराजसूरिने अपने पार्श्वनाथचरित (श्लोक २८) और न्यायविनिश्चयविवरण[3] (प्रशस्तिश्लो० २) में आ० विद्यानन्दकी स्तुति की है। वादिराज सूरिका समय ई० सन् १०२५ सुनिश्चित है। अतः विद्यानन्द ई० सन् १०२५ के पूर्ववर्ती हैं—पश्चाद्वर्ती नहीं।

२. प्रशस्तपादभाष्यपर क्रमशः चार प्रसिद्ध टीकाएँ लिखी गई हैं—पहली व्योमशिवकी व्योमवती, दूसरी श्रीधरकी न्यायकन्दली, तीसरी उदयनकी किरणावली और चौथी श्रीवत्साचार्यकी न्यायलीलावती। आ. विद्यानन्दने इन चार टीकाओंमें पहली व्योमशिवकी व्योमवती टीकाका तो निरसन किया है, परन्तु अन्तिम तीन टीकाओंका उन्होंने निरसन नहीं किया। श्रीधरने अपनी न्यायकन्दली टीका शक सं० ९१३, ई० ९९१में बनाई है[1]। अतः श्रीधरका समय ई० सन् ९९१ है। और उदयनने अपनी लक्षणावली शकसं० ९०६, ई० सन ९८४ में समाप्त की है[2]। इसलिये उदयनका समय ई० सन् ९८४ है। अतएव विद्यानन्द ई० सन ९८४ के बादके नहीं है।

३. उद्योतकर (ई० ६००) के न्यायवार्त्तिकपर वाचस्पति मिश्र (ई० ८४१) ने तात्पर्यटीका लिखी है। विद्यानन्दने तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक (पृ० २०६, २८३, २८४ आदि) में न्यायभाष्यकार और न्यायवार्त्तिककारका तो दशों जगह नामोल्लेख करके खण्डन किया है। परन्तु तात्पर्यटीकाकारके किसी भी पदवाक्यादिका कहीं भी खण्डन नहीं किया है। हाँ, एक जगह (तत्त्वार्थश्लो० पृ० २०६ में) 'न्यायवार्त्तिकटीकाकार' के नामसे उनके व्याख्यानका प्रत्याख्यान हो जानेका उल्लेख जरूर मिलता है और जिसपरसे मुझे यह भ्रान्ति[3] हुई थी कि विद्यानन्दने वाचस्पति मिश्रकी तात्पर्यटीकाका भी खण्डन किया है। परन्तु उक्त उल्लेखपर जब मैंने गहराई और सूक्ष्मतासे एकसे अधिक बार विचार किया और ग्रन्थोंके सन्दर्भोंका बारीकीसे मिलान किया तो मुझे वह उल्लेख अभ्रान्त प्रतीत नहीं हुआ। वह उल्लेख निम्न प्रकार है :—

१ देखो, बृहती द्वितीय भागकी प्रस्तावना।

२ गोपीनाथ कविराज—'अच्युत' वर्ष ३, अङ्क ४ पृष्ठ २५-२६।

३ न्यायविनिश्चयविवरणके मध्यमें भी वादिराजसूरिने विद्यानन्दका स्मरण किया है। देखो, आप्तपरीक्षा, प्रस्तावना (लि०) पृ० ४२ का फुटनोट।

१ 'अधिकदशोत्तरनवशतशाकाब्दे न्यायकन्दली रचिता। श्रीपाण्डुदासयाचित-भट्ट-श्री-श्रीधरेणेयम् ॥'

२ देखो, न्यायदीपिका प्रस्तावना पृ० ६१।

३ 'विद्यानन्दका समय' अनेकान्त वर्ष ६, किरण ६-७।

'तदनेन न्यायवार्तिकटीकाकारव्याख्यानमनुमानसूत्रस्य त्रिसूत्रीकरणेन प्रत्याख्यात प्रतिपत्तव्यमिति, लिङ्गलक्षणाना-मन्वयित्वादीनां त्रयेण पक्षधर्मत्वादीनामिव न प्रयोजनम्।'

इस उल्लेखमें टीका' शब्द अधिक है और वह लेखककी भूलसे ज्यादा लिखा गया जान पड़ता है—ग्रन्थकारका स्वयंका दिया हुआ वह शब्द प्रतीत नहीं होता, क्योंकि यदि ग्रन्थकारको 'टीका' शब्दके प्रदानसे वाचस्पति मिश्रकी तात्पर्यटीका विवक्षित हो तो उनका आगेका हेतुरूप कथन सङ्गत नहीं बैठता। कारण, अन्वयी, व्यतिरेकी और अन्वयव्यतिरेकी इन तीन हेतुओंका कथन पक्ष-धर्मत्व, सपक्षसत्व और विपक्षाद्व्यावृत्ति इन तीन हेतुओंके कथनकी तरह न्यायवार्त्तिककार उद्योत-करका अपना मत है—उद्योतकरने ही 'पूर्ववच्छेषवत्' आदि अनुमानसूत्रका त्रिसूत्रीकरणरूपसे व्याख्यान किया है अर्थात् उन्होंने उक्त अनुमानसूत्रके तीन व्याख्यान प्रदर्शित किये हैं,[1] तात्पर्यटीकाकार वाच-स्पति मिश्रने नहीं, बल्कि वाचस्पति मिश्र स्वयं उन व्याख्यानोंको उद्योतकरका मत बतलाते हैं[2]। विद्या-नन्दने दो एक जगह[1] और भी 'पूर्ववत्' आदि अनु-मानसूत्रके त्रिसूत्रीकरणरूप व्याख्यानका उल्लेख किया है और उसका समालोचन किया है। उसपरसे भी विद्यानन्दको न्यायवार्त्तिककारका ही मत-निरसन अभिप्रेत मालूम होता है। अतः उक्त उल्लेखमें विद्या-नन्दके द्वारा दिया गया 'टीका' शब्द नहीं होना चाहिए—प्रतिलेखकके द्वारा ही वह भ्रान्तिसे अधिक लिखा गया जान पड़ता है। प्रतिलेखक न्यूनाधिक लिख जाना जैसी भूलें बहुधा कर जाते हैं।

अथवा ग्रन्थकारका भी यदि दिया हुआ 'टीका' शब्द हो तो उससे उन्हें तात्पर्यटीका विवक्षित रही हो; सो बात नहीं मालूम होती क्योंकि उनके उत्तर-ग्रन्थका सम्बन्ध न्यायवार्त्तिकसे ही है—तात्पर्यटीका-से नहीं। अतः 'न्यायवार्त्तिकटीका' शब्दका 'न्याय-वार्त्तिककी टीका' ऐसा अर्थ न करके 'न्यायवार्त्तिक-रूप टीका' ऐसा अर्थ करना चाहिए, क्योंकि न्याय-वार्त्तिक भी न्यायसूत्र और न्यायभाष्यकी टीका (व्याख्या) है। इस तरह कोई असङ्गति अथवा असम्बद्धता नहीं रहती। अतएव विद्यानन्दके ग्रन्थों-में वाचस्पति मिश्रका खण्डन न होनेसे वे उनके पूर्व-वर्ती सिद्ध होते हैं। वाचस्पति मिश्रका समय ई० सन ८४१ निश्चित है। अतः विद्यानन्दकी उत्तरा-वधि ई० सन ८४० होना चाहिए। वाचस्पति मिश्रके समकालीन न्यायमञ्जरीकार जयन्तभट्ट भी हुए हैं। उनका भी विद्यानन्दके ग्रन्थोंमें कोई समालोचन उपलब्ध नहीं होता। यदि विद्यानन्द उनके उत्तर-कालीन होते तो वे न्यायदर्शनके (इन वाचस्पतिमिश्र और जयन्तभट्ट जैसे) प्रमुख विद्वानोंका भी प्रभा-चन्द्रकी तरह आलोचन करते।

इस तरह पूर्ववर्ती ग्रन्थकारोंके समालोचन और उत्तरवर्ती ग्रन्थकर्ताओंके असमालोचनके आधारसे विद्यानन्दका समय ई० सन् ७७५ से ई० सन् ८४० निर्धारित होता है।

इस समयकी पुष्टि दूसरे अन्य प्रमाणोंसे भी

१ यथा—(क)'त्रिविधमिति। अन्वयी, व्यतिरेकी, अन्वय-व्यतिरेकी च। तत्रान्वयव्यतिरेकी विवक्षितत्तज्जातीयोपपत्तौ विपक्षावृत्तिः,यथा अनित्यः शब्दः सामान्यविशेषवत्वे सत्य-स्मदादिबाह्यकरणप्रत्यक्षत्वात् घटवदिति''''।'–पृ० ४६।

(ख) अथवा त्रिविधमिति। लिङ्गस्य प्रसिद्ध-सदसन्दि-ग्धतामाह। प्रसिद्धमिति पक्षे व्यापकम्, सदिति सजाती-येऽस्ति, असन्दिग्धमिति सजातीयाविनाभावि।'–पृ० ४६।

(ग) 'अथवा त्रिविधमिति नियमार्थम्। अनेकधा भिन्नस्यानुमानस्य त्रिविधेन पूर्ववदादिना संग्रह इति नियमं दर्शयति।' —पृ० ४६।

२ यथा—'तदेवं स्वमतेन सूत्रं व्याख्याय भाष्यकृन्मतेन व्याचष्टे।' पृ० १७४, 'स्वमतेन व्याख्यान्तरमाह अथवा''''''।' पृ० १७८, त्रिविधपदस्य तात्पर्यान्तरमाह अथवेति।'—पृ० १७९।

१ तत्त्वार्थश्लोक.पृ० २०५, प्रमाणपरी०पृ० ७५।

होती है और जो इस प्रकार हैं:—

१. सुप्रसिद्ध तार्किक भट्टाकलङ्कदेवकी अष्टशती-पर विद्यानन्दने अष्टसहस्री टीका लिखी है। यद्यपि यह टीका आप्तमीमांसापर रची गई है तथापि विद्यानन्दने अष्टसहस्रीमें अकलङ्कदेवकी अष्टशतीको आत्मसात् करके उसके प्रत्येक पदवाक्यादिका व्याख्यान किया है। अकलङ्कदेवके ग्रन्थवाक्योंका व्याख्यान करनेवाले सर्वप्रथम व्यक्ति आ० विद्यानन्द हैं। विद्यानन्दकी अकलङ्कदेवके प्रति अगाध श्रद्धा थी और वे उन्हें अपना आदर्श मानते थे। इसपरसे डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषण, म० म० गोपीनाथ कविराज जैसे कुछ विद्वानोंको यह भ्रम हुआ है[1] कि अकलङ्कदेव अष्टसहस्रीकारके गुरु थे। परन्तु ऐतिहासिक अनुसन्धानमें प्रकट है कि अकलङ्कदेव अष्टसहस्रीकारके गुरु नहीं थे और न अष्टसहस्रीकारने उन्हें अपना गुरु बतलाया है। पर हाँ, इतना जरूर है कि वे अकलङ्कदेवके पदचिन्होंपर चले है और उनके द्वारा प्रदर्शित दिशापर जैनन्यायका उन्होंने सम्पुष्ट और समृद्ध किया है। अकलङ्कदेवका समय श्री० पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने विभिन्न विप्रतिपत्तियोंके निरसनपूर्वक अनेक प्रमाणोंसे ई० सन् ६२० से ६८० निर्णीत किया है[2]। अतः विद्यानन्द ई० सन् ६८० के उत्तरवर्ती है, यह निश्चित है।

२. अष्टसहस्रीकी अन्तिम प्रशस्तिमें विद्यानन्दने दो पद्य दिये है[3]। दूसरे पद्यमें उन्होंने अपनी अष्टसहस्रीको कुमारसेनकी उक्तियोंसे वर्धमानार्थ बतलाया है अर्थात् कुमारसेन नामके पूर्ववर्ती विद्वानाचार्यके सम्भवतः आप्तमीमांसापर लिखे गये किसी महत्वपूर्ण विवरणसे अष्टसहस्रीके अर्थको प्रवृद्ध किया प्रगट किया है। विद्यानन्दके इस उल्लेखसे स्पष्ट है कि वे कुमारसेनके उत्तरकालीन है। कुमारसेनका समय ई० सन् ७८३ के कुछ पूर्व माना जाता है[1], क्योंकि शकसं० ७०५ ई०, सन ७८३ में अपने हरिवंशपुराणको बनानेवाले पुन्नाटसंघी द्वितीय जिनसेनने इनका स्मरण किया है[2]। अतः विद्यानन्द ई० सन् ७८० (कुमारसेनके अनुमानित समय) के बाद हुए है।

३. चूंकि विद्यानन्दसे सुपरिचित कुमारसेनका हरिवंशपुराणकार (ई० ७८३) ने स्मरण किया है, किन्तु आ० विद्यानन्दका उन्होंने स्मरण नहीं किया। इससे प्रतीत होता है कि उस समय कुमारसेन तो यशस्वी वृद्ध ग्रन्थकार रहे होंगे और उनका यश सर्वत्र फैल रहा होगा[3]। परन्तु विद्यानन्द उस समय बाल होंगे तथा वे ग्रन्थकार नहीं बन सके होंगे। अतः इससे भी विद्यानन्दका उपर्युक्त निर्धारित समय—ई० सन ७७५ से ई० सन ८४०—प्रमाणित होता है।

४. आ० विद्यानन्दने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकके अन्तमें प्रशस्तिरूपमें एक उल्लेखनीय निम्न पद्य दिया है:—

'जीयात्सज्जनताऽऽश्रयः शिव-सुधाधारावधान-प्रभुः,
ध्वस्त-ध्वान्त-ततिः समुन्नतगतिस्तीव्र-प्रतापान्वितः।
प्रोर्जज्योतिरिवावगाहनकृतानन्तस्थितिर्मानितः,
सन्मार्गस्त्रितयात्मकोऽखिल मल-प्रज्वालन-प्रक्षमः ॥'

१ देखो, अच्युत (मासिकपत्र पृष्ठ २८) वर्ष ३, अङ्क ४।

२ देखो, न्यायकुमुद प्र० भा० प्रस्ता०।

३ "श्रीमदकलङ्कशशधरकुलविद्यानन्दसम्भवा भूयात्।
गुरुमीमांसालङ्कृतिरष्टसहस्री सतामृद्धयै ॥ १ ॥
कष्ट-सहस्री सिद्धा साऽष्टसहस्रीयमत्र मे पुष्यात्।
शश्वदभीष्टसहस्रीं कुमारसेनोक्तिवर्धमानार्था ॥ २ ॥"

इन दो पद्योंके मध्यमें जो कनडी पद्य मुद्रित अष्टसहस्रीमें पाया जाता है वह अनावश्यक और असङ्गत प्रतीत होता है और इसलिये वह अष्टसहस्रीकारका पद्य मालूम नहीं होता।—लेखक।

१ न्यायकुमुद प्र० प्र० पृ० ११३।

२ 'आकूपारं यशो लोके प्रभाचन्द्रोदयोज्वलम्।
गुरोः कुमारसेनस्य विचरत्यजितात्मकम् ॥'
—हरिवंश.१–३८।

३ 'गुरोः कुमारसेनस्य यशो अजितात्मक विचरति' शब्दोंमे भी यही प्रतीत होता है।

इस प्रशस्ति-पद्यमें विद्यानन्दने 'शिवमार्ग' मोक्ष मार्गका जयकार तो किया ही है किन्तु जान पड़ता है उन्होंने अपने समयके गङ्गनरेश शिवमार द्वितीय का भी जयकार एवं यशोगान किया है। शिवमार द्वितीय पश्चिमी गङ्गवंशी श्रीपुरुष नरेशका उत्तराधिकारी और उसका पुत्र था, जो ई० सन् ८१० के लगभग राज्याधिकारी हुआ था। इसने श्रवण-बेलगोलकी छोटी पहाड़ीपर एक वसदि बनवाई थी, जिसका नाम 'शिवमारनवसदि' था। चन्द्रनाथ-स्वामी वसदिके निकट एक चट्टानपर कनडीमें मात्र इतना लेख अङ्कित है—"शिवमारनवसदि[1]"। इस अभिलेखका समय भाषा-लिपिविज्ञानकी दृष्टिसे लगभग ८१० ई० माना जाता है[2]। राइस सा० का कथन है कि इस नरेशने कुम्मडवाडमें भी एक वसदि निर्माण कराई थी। इससे ज्ञात होता है कि शिवमार द्वितीय अपने पिता श्रीपुरुषकी तरह ही जैनधर्मका उत्कट समर्थक एवं प्रभावक था। अतः अधिक सम्भव है कि विद्यानन्दने अपने श्लोकवार्त्तिककी रचना इसी शिवमार द्वितीय गङ्ग-नरेशके राज्यकालमें की होगी और इसलिये उन्होंने अपने समयके इस राजाका 'शिव-सुधाधाराव-धान-प्रभुः' शब्दोंद्वारा उल्लेख किया है तथा 'सज्जनताऽऽश्रयः', 'तीव्र-प्रतापान्वितः' आदि पदों द्वारा उसके गुणोंका वर्णन किया है। उक्त पद्य अन्तिम प्रशस्तिरूप है, इसलिये उसमें ग्रन्थकारद्वारा अपना समय सूचित करनेके लिये तत्कालीन राजाका नाम देना उचित ही है। यद्यपि उक्त पद्यमें 'शिव-मार' राजाका पूरा नाम नहीं है—केवल 'शिव' पदका ही प्रयोग है तथापि नामैकदेश ग्रहणसे भी पूरे नामका ग्रहण कर लिया जाता है, जैसे पार्श्वसे पार्श्वनाथ, रामसे रामचन्द्र आदि। दूसरे, 'शिव' के आगे 'प्रभु' पद भी दिया गया है, जो राजाका भी प्रकारान्तरसे बोधक है। तीसरे, 'तीव्रप्रतापा-न्वितः' आदि पदप्रयोगोंसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि वहाँ ग्रन्थकारको अपने समयके राजाका उल्लेख करना अभीष्ट है और इसलिये 'शिवप्रभु', 'शिव-मारप्रभु' एक ही बात है।

डफ सा० ने विद्यानन्दका समय ई० सन ८१० बतलाया है[1]। सम्भव है उन्होंने श्लोकवार्त्तिकके इस प्रशस्तिपद्यपरसे ही, जिसमें शिवमारका उल्लेख सम्भाव्य है, विद्यानन्दका उक्त समय बत-लाया है। क्योंकि गंगवंशी शिवमार नरेशका समय ई० ८१० के लगभग माना जाता है जैसा कि पहले कहा जाचुका है।

इस शिवमारका भतीजा और विजयादित्यका लड़का राचमल्ल सत्यवाक्य प्रथम[2] शिवमारके राज्यका उत्तराधिकारी हुआ था तथा ई० सन् ८१६ के आस-पास राजगद्दीपर बैठा था। विद्यानन्दने अपने उत्तरग्रन्थोंमें 'सत्यवाक्य' के नामसे इसका भी उल्लेख किया प्रतीत होता है। यथा—

(क) स्थेयाज्जातजयध्वजाप्रतिनिधिः प्रोद्भूतभूरिप्रभुः,
प्रध्वस्ताखिल-दुर्नय-द्विषदिभः सन्नीति-सामर्थ्यतः।
सन्मार्गस्त्रिविधः कुमार्गमथनोऽर्हन् वीरनाथः श्रिये,
शश्वत्संस्तुतिगोचरोऽनघधियां श्रीसत्यवाक्याधिपः॥

❀ ❀ ❀ ❀

(ख) प्रोक्तं युक्त्यनुशासनं विजयिभिः स्याद्वादमार्गानुगै-
र्विद्यानन्दबुधैरलङ्कृतमिदं श्रीसत्यवाक्याधिपैः॥
—युक्त्यनुशासनालङ्कार प्रशस्ति।

१ देखो, शि० नं० २५६ (४१५)। २ मेडिवल जैनिज्म पृ० २४-२५। ३ देखो, मैसूर और कुर्ग पृ० ४१।

१ देखो, जैनसि० भा० वर्ष ३, किरण ३ गत बा० कामताप्रसादजीका लेख।

२ गंगवंशमें होनेवाले कुछ राजाओंकी 'सत्यवाक्य' उपाधि थी। इस उपाधिको धारण करनेवाले चार राजा हुए हैं—प्रथम सत्यवाक्य ई० सन् ८१५ के बाद, द्वितीय सत्यवाक्य ई० ८७० से ६०७, तृतीय सत्यवाक्य ई० ६२० और चौथे सत्यवाक्य ई० ६७७। यह मुझे बा० ज्योति-प्रसादजी, एम. ए. एल एल. बी. ने बतलाया है जिसके लिये मैं उनका आभारी हूँ।

(ग) जयन्ति निर्जिताशेषसर्वथैकान्तनीतयः ।
सत्यवाक्याधिपाः शश्वद्विद्यानन्दा जिनेश्वराः ॥
—प्रमाणपरीक्षा मङ्गलपद्य ।

(घ) विद्यानन्दैः स्वशक्त्या कथमपि कथितं
सत्यवाक्यार्थसिद्धयै ।—आप्तपरी० श्लो. १२३ ।

विद्यानन्दके प्रमाणपरीक्षा और युक्त्यनुशासनालङ्कारके प्रशस्ति-उल्लेखोंपरसे बा० कामताप्रसादजी भी यही लिखते हैं[1] । इससे मालूम होता है कि विद्यानन्द गङ्गनरेश शिवमार द्वितीय (ई० ८१०) और राचमल्ल सत्यवाक्य प्रथम (ई० ८१६) के समकालीन हैं और उन्होंने अपनी कृतियाँ प्रायः इन्हींके राज्य-समयमें बनाइ है। विद्यानन्दमहोदय और तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक तो शिवमार द्वितीयके और आप्तपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा तथा युक्त्यनुशासनालंकृति ये तीन कृतियाँ राचमल्ल सत्यवाक्य प्रथम (इ० ८१६-८३०) के राज्य-कालमें बनी जान पड़ती है। अष्टसहस्री, जो श्लोकवार्तिकके बादकी और आप्तपरीक्षा आदिक पूर्वकी रचना है, करीब ई० ८१०-८१५ में रची गई प्रतीत होती हैं। तथा पत्रपरीक्षा, श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र और सत्यशासनपरीक्षा ये तीन रचनाएँ ई० सन् ८३०-८४० में रची ज्ञात होती हैं। इससे भी आ० विद्यानन्दका समय पूर्वोक्त ई० सन् ७७५ से ई० सन् ८४० प्रमाणित होता है।

यहाँ एक खास बात और ध्यान देने योग्य है। वह यह कि शिवमारके पूर्वाधिकारी पश्चिमी गङ्गवंशी राजा श्रीपुरुषका शक सं० ६६८, ई० सन ७७६ का लिखा हुआ एक दानपत्र मिला है जिसमे उसके द्वारा श्रीपुरके जैन मन्दिरके लिये दान दिये जानेका उल्लेख है[2] । यह श्रीपुरका जैनमन्दिर सम्भवतः वही प्रसिद्ध जैनमन्दिर है जहाँ भगवान पार्श्वनाथकी अतिशयपूर्ण प्रतिमा अधर रहती थी और जिसे लक्ष्य करके ही विद्यानन्दने श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र रचा था। श्रीपुरुषका राज्य-समय ई० सन् ७२६ से ई० सन ७७६ तक बतलाया जाता है[1] । विद्यानन्दने अपनी रचनाओंमें श्रीपुरुषराजा (शिवमारके पिता एवं पूर्वाधिकारी) का उत्तरवर्ती राजाओं (शिवमार द्वि०, उसके उत्तराधिकारी राचमल्ल सत्यवाक्य प्रथम और इसके पिता विजयादित्य) की तरह कोई उल्लेख नहीं किया। इससे यह महत्वपूर्ण बात प्रकट होती है कि श्रीपुरुषके राज्य-काल (ई० ७२६-ई० ७७६) मे विद्यानन्द ग्रन्थकार नहीं बन सके होंगे और यदि यह भी कहा जाय कि वे उस समय कुमारावस्थाको भी प्राप्त नहीं हो सके होंगे तो कोई आश्चर्य नहीं है। अतः इन सब प्रमाणोंसे आचार्य विद्यानन्दका समय ई० सन ७७५ से ई० सन् ८४० निर्णीत होता है।

यहाँ यह शङ्का की जासकती है कि जिस प्रकार हरिवंशपुराणकार जिनसेन द्वितीय (ई० ७८३) ने अपने समकालीन वीरसेनस्वामी (ई० ८१६) और जिनसेनस्वामी प्रथम (ई० ८३७) का स्मरण किया है उसी प्रकार इन आचार्योंने अपने समकालीन आचार्य विद्यानन्द (ई० ७७५—८४०) का स्मरण अथवा उनके ग्रन्थवाक्योंका उल्लेख क्यों नहीं किया ? इसका उत्तर यह है इन आचार्योंकी वृद्धावस्थाके समय ही आ० विद्यानन्दका ग्रन्थ-रचनाकार्य प्रारम्भ हुआ है और इसलिये विद्यानन्द उनके द्वारा स्मृत नहीं हुए और न उनके ग्रन्थवाक्योंके उन्होंने उल्लेख किये है। इसके अतिरिक्त एक दूसरे की कार्यप्रवृत्तिसे अपरिचित रहना अथवा ग्रन्थकाररूपसे प्रसिद्ध न होना भी अनुल्लेखमें कारण सम्भव है। अस्तु।

१ देखो, जैनसिद्धान्तभास्कर भाग ३, किरण ३ ।
२. देखो, Guerinot no 121 अथवा जैनसि० भा० भा० ४, कि० ३ पृ० १२८ का ८ नं० का उद्धरण ।

१ देखो, श्रीज्योतिप्रसाद जैन एम. ए. का लेख—Jain Antiquary. Vol. X. II. N. 1. जुलाई १६४६ ।

अहार-क्षेत्रके प्राचीन मूर्तिलेख

(संग्राहक—पं० गोविन्ददास जैन न्यायतीर्थ, शास्त्री)

[गताङ्क से आगे]

(न० ६९)

मूर्ति यद्यपि देशी पाषाणकी है तो भी मनोज्ञ है। लेख कुछ घिस गया है। करीब १ फुट ऊंची खड्गासन है। चिन्ह हिरणका है ।

लेख—देउवालान्वये रयन प्रणमन्ति सं० ११२३

भावार्थ—देउवाल वंशमें पैदा होनेवाले (शाह) रयनने संवत् ११२३ में प्रतिष्ठा कराई।

नोट—उपलब्ध मूर्तिलेखोंमें यह सबसे प्राचीन लेख है।

(न० ७०)

मूर्ति के कई उपांग खंडित हो चुके हैं। चिन्ह सिंहका है। पाषाण देशी है। करीब १॥ फुट ऊंची खड्गासन है।

लेख—खंडिलवालान्वये साहु बालचन्द्र भार्या सावित्री -मवी-बील्हा प्रणमन्ति ।

भावार्थ—खंडेलवाल वंशमें पैदा होनेवाले शाह बालचन्द्र उनकी पत्नी सावित्री-मवी-बील्हाने बिम्बप्रतिष्ठा कराई।

(न० ७१)

मूर्तिके आसन और कुछ हाथोंके अतिरिक्त कुछ नहीं है। चिन्ह कछुवाका है। कुछ लेख टूट गया है। करीव २ फुट ऊंची पद्मासन है। पाषाण काला है।

लेख—संवत् ११९९ चैत्र सुदी १३ गर्गराटान्वये साहु वाघ सुत साहु लाल साहुणीनाथ तस्य सुत साहु आल्हण।

भावार्थ—गर्गराट वंशमें पैदा होनेवाले शाह वाघ उनके पुत्र शाह लाल-साहुणीनाथ उसके पुत्र शाह अल्हणने संवत् ११९९ के चैत्र सुदी १३ को बिम्बप्रतिष्ठा कराई।

(न० ७२)

मूर्तिका शिर नहीं है। सिर्फ संवत् पढ़ा गया। बाकी हिस्सा घिस गया है। करीब १॥ फुट ऊंची पद्मासन देशी पाषाणकी है ।

लेख—संवत् १२१२

नोट—यह मूर्ति संवत् १२१२ में प्रतिष्ठित हुई है।

(न० ७३)

मूर्तिके कुछ पैरों और आसनके सिवाय कुछ नहीं है। चिन्ह कछुवाका प्रतीत होता है। करीब ३ फुट ऊंची खड्गासन है। पाषाण काला है।

लेख—संवत् १२१३ भट्टारकश्रीमाणिक्यदेवगुणय-देवौ नित्यं प्रणमन्तः।

भावार्थ:—भट्टारक माणिक्यदेव तथा गुणयदेव इन्होंने संवत् १२१३ में मूर्तिकी प्रतिष्ठा कराई।

(न० ७४)

मूर्तिका धड़ वगैरह कुछ नहीं है। सिर्फ आसन और कुछ हिस्से हाथ पैरोंके हैं। चिन्ह कमलका है। करीब २॥ फुट ऊंची पद्मासन है। पाषाण काला है। पालिश चमकदार है।

लेख—संवत् १२०३ आषाढ सुदी २ सोमे उत्तरामे साहुसेल्ह भार्या सहना तस्य पुत्र उदय तस्य पाल्हण-राल्हण नायक प्रणमन्ति।

भावार्थ:—शाह सेल्ह उनकी धर्मपत्नी सहना उसके पुत्र उदय उसके पाल्हण राल्हण नायकने १२०३ के आषाढ़ सुदी २ सोमवार उत्तरा नक्षत्रमें बिम्बप्रतिष्ठा कराई।

(न० ७५)

मूर्तिका आसन और कुछ हिस्सा हाथ-पैरोंका उपलब्ध है। लेख बीच २ में छिल गया है। अतः कुछ भाग पढ़ा नहीं जासका। २। फुट ऊंची पद्मा-

सन है। पाषाण काला है।

लेख—संवत् १२००..........साहु श्रीहरिषेण भार्या रुद्री सुतसोमदेव माल्ह-साहु-खिसारमा—प्रणमन्ति नित्यम्।

भावार्थः—संवत् १२०० में शाह श्रीहरिषेण उनकी पत्नी रुद्री उसके पुत्र सोमदेव-माल्ह शाह णिसारमाने बिम्ब प्रतिष्ठित कराई। गोत्रकी जगह 'महेशाणऊ अन्वये' पढ़ा गया है।

(नं० ७६)

मूर्तिका शिर नहीं है। दाँया हाथ कुहिनिके ऊपरसे टूट गया है। करीब २। फुट ऊंची पद्मासन है। पाषाण काला और पालिश चमकदार है। चिन्ह बैलका है।

लेख—संवत् १२३७ मार्गशिर सुदी ३ शुक्रे अवधपुरान्वये साहु ताहहल साहु सीले-उल्हे-साहु जाल्ल-शिवराज कीत् बाल्हे सर्वश्रेष्ठीप्रसादं भवतु—प्रणमन्ति।

भावार्थः—अवधपुरियावंशमें पैदा होनेवाले शाह ताहहल शाह सीले- उल्हेशाह जाल्लू-शिवराज- कीत्- बाल्हेने संवत् १२३७ के अगहन सुदी ३ शुक्रवारको प्रतिष्ठा कराई। सब सेठोंका प्रसाद (प्रसन्नता) होवे।

नोट—प्रतीत होता है कि इसकी कई श्रेष्ठिवरोंने मिलकर प्रतिष्ठा कराई है।

(नं० ७७)

मूर्तिका ऊपरी धड़ नहीं है। दाँयां घुटना तथा दोनों हथेलियाँ टूट गई हैं। करीब २। फुट ऊंची पद्मासन है। चिन्ह कमलका है। पालिश चिकनी है।

लेख—संवत् १२१३ पण्डितश्री मंह--वर्म्म--आर्यिका श्रीमतीशिवणी—प्रणमन्ति।

भावार्थ—पण्डित श्रीमह—वर्म्म—आर्यिका श्री मती शिवणीने संवत् १२१३ में बिम्ब प्रतिष्ठा कराई।

(नं० ७८)

यह मूर्ति देशी पाषाणकी है। आभूषणों आदि से मालूम होता है कि यह पद्मावती या किसी दूसरी देवीकी मूर्ति है। दोनों तरफ दो देवी बैठी हैं। कुछ ऊंचे हिस्सेपर दोनों तरफ पैरोंके निशाने हैं, जो उसके ऊपर निर्मित मूर्तिके सूचक हैं। जो संभवतः पार्श्वनाथकी होगी और जो अब खंडित हो चुकी है। यह करीब २॥ फुट ऊंची खड्गासन है।

लेख—अवधपुरान्वये साहु हुसल—भार्यागांगी एते नित्यं प्रणमन्ति। सम्वत् १२१६ अषाढ़ वदी ८ सोमे।

भावार्थः—अवधपुरिया वंशमें पैदा होनेवाले शाहु हसल..............उनकी पत्नी गांगी ने सम्बत् १२१६ के अषाढ़ वदी ८ सोमके दिन बिम्ब प्रतिष्ठा कराई।

(नं० ७६)

मूर्तिका पैरोंके ऊपरका हिस्सा टूट गया है। यह देशी पाषाणकी बनी हुई है। पाषाण कुछ मटमैला है। चिन्ह बन्दरका है। दोनों तरफ दो देवियाँ बैठी हैं। आसनसे कुछ ऊपर पैरोंके चिन्ह हैं। जो अन्य मूर्तियोंके सूचक हैं। मूर्ति खड्गासन है।

लेख—साहु भीमदेव भार्या श्रीचन्द्रवती। सम्वत् १२३७ मार्गसिर सुदी ३ शुक्रे।

भावार्थ—सम्वत् १२३७ के अगहन सुदी ३ शुक्रवारको शाह भीमदेव उनकी पत्नी चन्द्रवतीने बिम्ब प्रतिष्ठा कराई।

(नं० ८०)

यह मूर्ति किसी देवीकी मालूम होती है। अनुमानतः पद्मावतीदेवी होना चाहिये। पाषाण देशी है। पालिश मटियाले रंगका है। पैरोंके ऊपरका हिस्सा मय धड़के नहीं है। करीब १॥ फुट खड्गासन होगी।

लेख—गोलापूर्वान्वये साहु महिपति पुत्री हम्मा प्रणमन्तः। १२१८।

भावार्थ—गोलापूर्व वंशमें पैदा होनेवाले शाह महीपति तथा उनकी पुत्री हम्माने सं० १२१८ में यह प्रतिष्ठा कराई।

(नं० ८१)

यह मूर्त्ति देशी पाषाणकी बनी है। चिन्ह सिंह का है। करीब १॥ फुट पद्मासन है। पालिश कुछ मटियाले रंगका है।

लेख—सम्वत् १२१३ अषाढ़ सुदी २ साहु रामचन्द्र भार्या पल्हा—प्रणमन्ति ।

भावार्थ—सं० १२१३ के अषाढ़ सुदी २ को शाह रामचन्द्र तथा उनकी पत्नी पल्हाने बिम्ब-प्रतिष्ठा कराई।

(नं० ८२)

मूर्ति करीब १० इंचके लगभग खड्गासन होगी। पाषाण देशी है। पालिश वगैरह नहीं है। चिन्ह कोई नहीं है। पत्थर कुछ लाल है।

लेख—सम्वत् १२३७ मार्ग सुदी २ सुक्रे शाहु........ प्रणमन्ति नित्यम् ।

भावार्थ—यह मूर्त्ति सं० १२३७ के अगहनसुदी २ को प्रतिष्ठित हुई।

नोट—मूर्तिके प्रतिष्ठापकका नाम नहीं पढ़ा जा सका।

(नं० ८३)

मूर्त्तिका शिर नहीं है। धड़ भी नहीं है। करीब २ फुट ऊंची पद्मासन है। चिन्ह बैलका है। पाषाण काला तथा चमकदार है।

लेख—१२०७ माघ वदी ८ साहु—प्रणमन्ति नित्यम् ।

भावार्थ—सम्वत् १२०७ के माघवदी ८ को प्रतिष्ठित हुई।

नोट—प्रतिष्ठापकका नाम वंश वगैरह घिस-गया है। अतः पढ़ा नहीं गया।

(नं० ८४)

मूर्तिका सिर्फ एक टाँगको छोड़कर बाकी हिस्सा नहीं है। करीब ३ फुट ऊँची पद्मासन है। पाषाण काला है। पालिश चमकदार है।

लेख—सम्वत् १२१० वैशाख सुदी १३ गृहपत्यन्वये साहुकुलधर सुत.............................

भावार्थ—गृहपति वंशमें पैदा होनेवाले शाह कुलधर उनके पुत्र............................... ने सम्वत् १२१० के वैशाख सुदी १३ को इस प्रतिबिम्बकी प्रतिष्ठा कराई।

(नं० ८४)

मूर्तिका सिर्फ आसनका टुकड़ा उपलब्ध है। लेखमें सिर्फ सम्वत् पढ़ा जासका। बाकी हिस्सा टूट गया है। पाषाण काला है।

लेख—सम्वत् १२२५ ....

भावार्थ—इस मूर्तिकी प्रतिष्ठा सम्वत् १२२५ में हुई।

(नं० ८६)

मूर्त्तिका शिर नहीं है। तथा धड़का दायां भाग नहीं है। अतः लेख आधा ही मिल पाया। करीब २ फुट ऊँची पद्मासन है। पाषाण काला तथा पालिश चमकदार है। चिन्ह बैलका है।

लेख—सम्वत् १२०६ वैशाखसुदी १३.................... पंडित विक्रमशिष्येन ठक्कुरदददेसुतेन पद्मसिंहेन पुण्याय कारापितेयम् ।

भावार्थ—पण्डित विक्रमके शिष्य ठक्कुर ददे उनके पुत्र पद्मसिंहने संवत् १२०६ के वैशाख सुदी १३ को प्रतिष्ठा कराई।

(नं० ८७)

मूर्त्तिका सिर नहीं है। आसन विशाल है। करीब ३ फुट ऊंची पद्मासन है। पाषाण काला है। पालिश चमकदार है। चिन्ह नहीं है।

लेख—सं० १२०७ माघवदी ८ बाणपुरे गृहपत्यन्वये कोच्छल गोत्रे साहुरुद्र—तस्सुतः पाभिण मोल्लाया-तथा साहु माहवली रैमले पुत्र हरिषेण भिणे-तत्सु कारापितेयं नित्यं प्रणमन्ति ।

भावार्थ—वानपुरमें गृहपति वंशमें पैदा होने वाले कोच्छल गोत्रमें शाह रुद्र उनके पुत्र पाभिण मोल्लया-और शाह माहवली रैमले पुत्र हरिषेण उनके पुत्र भिणेने इस प्रतिबिम्बकी १२०७ के माघवदी ८ को प्रतिष्ठा कराई।

(नं० ८८)

मूर्तिका तमाम हिस्सा टूट गया है। सिर्फ कुछ भाग बचा है। उसीसे कुछ लेख लिया गया है। मूर्तिकी अवगाहना करीब १।। फुट रही होगी। पद्मासन है। काला पाषाण है। पालिश चमकदार है।

लेख—सं० १२१३ सिद्धान्तीदेवश्री सा……………

भावार्थ—मूर्तिके प्रतिष्ठापक सिद्धान्तीदेवश्री हैं। इन्होंने सं० १२१३ में बिम्ब प्रतिष्ठा कराई।

(नं० ८६)

यह लेख वेदिकासे लिया गया है। वेदिका देशी पाषाणकी बनाई गई है, जो कुछ पीला रुख लिये है। इसकी तीन कटनी हैं। हरएक कटनीमें कंगूरेदार काम है। ऊपरी हिस्सेमें जलधारका जल बाहर जाने के लिये टोंटी है। अनुमानतः अभिषेकके लिये ही वेदी बनाई गई थी।

(नीचे) लेख—सं० १२१३ आषाढ़सुदी २ सोमदिन गृहपत्यन्वये कोच्छल्लगोत्रे बाणपुरवास्तव्य तद् सुतमाहवा पुत्र हरिषेण उदइ-जलखूविभ्रदू प्रणमन्ति नित्यम्।

(ऊपर) लेख—हरषेण पुत्र हाडदेव पुत्र महीपाल गांसव-सवचन्द्रलाहदेव माहिश्चन्द्र महदेव एते प्रणमन्ति नित्यम्।

भावार्थ:—गृहपतिवंशके कोछल गोत्रमें पैदा-होनेवाले बाणपुरनिवासी शाह तद उनके पुत्र माहवा उनके पुत्र माले उनके पुत्र हरिषेण-उदइ जलखू-विभ्रइने संवत १२१३ के अषाड़सुदी २ सोमवारको प्रतिष्ठा कराई।

(ऊपरी भागमें)

हरिषेण उनके पुत्र हाडदेव उनके पत्र महीपाल गांसव-सवचन्द्र-लाहदेव-महिचन्द्र-सहदेव ये प्रणाम करते हैं।

(नं० ६०)

यह मूर्ति पीतलकी बनी हुई है। करीब ६ इंच पद्मासन होगी। चिन्हकी जगह कुछ नहीं।

लेख—संवत १८६१ वैशाखशुक्लपंचम्यां सोमवासरे श्री०मूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुन्दकुन्दाम्नाये श्रीजिनप्रतिमा प्रतिष्ठितेयं। गोलापूर्ववंशे पड़ेले सिंघई बाजुराय तस्य पुत्र दोय चन्द्रभान-सायकरायन नित्यं प्रणमन्ति।

भावार्थ:—सम्बत् १८६१ के वैशाख सुदी पंचमी सोमवारको श्रीमूलसंघ-बलात्कारगणमें सरस्वती गच्छमें श्रीकुन्दकुन्दाम्नायमें यह श्रीप्रतिमा प्रतिष्ठित हुई।

गोलापूर्व वंशमें पैदा होनेवाले पड़ेले सिघई बाजुराय उनके पुत्र दो--चन्द्रभान-सायकरायन प्रतिदिन प्रणाम करते हैं।

(नं० ६१)

यह मूर्ति सर्वाङ्ग सुन्दर है। पीतलकी बनाई गई है। करीब ६ इन्च ऊँची पद्मासन है। चिन्ह सर्पका है।

लेख—सम्वत् १८८१ शुभवृषे नाम फाल्गुनसुदी ३ सोमवासरे ग्राम अहारमध्ये सकल पंचान प्रणमन्ति।

भावार्थ—ग्राम अहारवासी सकलपंचोंने संवत् १८८१ के फागुन सुदी ३ सोमवारको बिम्ब प्रतिष्ठा कराई।

(नं० ६२)

यह प्रतिमा पीतलकी बनी है। सर्वांगसुन्दर है। करीब २ इंच ऊंची पद्माशन है। चिन्ह सर्पका है।

लेख—संवत् १६६३ म १ महसह।

भावर्थः—यह प्रतिमा संवत १६६३ में प्रतिष्ठित हुई।

(नं० ६३)

यह प्रतिमा सर्वांग सुन्दर है, पीतलकी बनी हुई है। करीब ३ इञ्च पद्मासन होगी। चिन्ह सर्पका है

लेख—संवत् १७२५ वर्षे अगहन बदी ५…………।

भावार्थः—सं १७२५ के अगहन वदी ५ को बिम्ब प्रतिष्ठा हुई।—(अगले अङ्कमें समाप्त)

ग्वालियरके किलेका इतिहास और जैन पुरातत्व

(ले० परमानन्द जैन, शास्त्री)

किलेका इतिहास

जैन साहित्यमें वर्त्तमान ग्वालियरका उल्लेख गोपायलु, गोपाद्रि, गोपगिरि, गोपाचल, गोपायल और गोयलगढ़ आदि नामोंसे किया गया है। ग्वालियरकी इस प्रसिद्धिका कारण जहां उसका पुरातन दुर्ग (किला) है वहां भारतीय (हिन्दू, बौद्ध और जैनियोंके) पुरातत्त्वकी प्राचीन एवं विपुल सामग्रीकी उपलब्धि भी है। भारतीय इतिहासमें ग्वालियरका स्थान बहुत ही महत्वपूर्ण है, वहाँपर प्राचीन अवशेषोंकी कमी नहीं है, उसके प्रसिद्ध सूबों और किलोंमें इतिहासकी महत्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध होती है। ग्वालियरका यह किला पहाड़की एक चट्टानपर स्थित है। यह पहाड़ डेढ़ मील लम्बा और ३०० गज चौड़ा है। इसके ऊपर बलुआ पत्थरकी चट्टानें हैं उनकी नुकीली चोटियाँ निकली हुई हैं जिनसे किलेकी प्राकृतिक दीवार बन गई है। कहा जाता है कि इसे सूरजसेन नामके राजाने बनवाया था, वहां 'ग्वालिय' नामका एक साधु रहता था, जिसने राजा सूरजसेनके कुष्ठ रोगको दूर किया था। अतः उसकी स्मृतिमें ही ग्वालियर नाम प्रसिद्धिको प्राप्त हुआ है। पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि ग्वालियरके इस किलेका अस्तित्व विक्रमकी छठी शताब्दीमें था, क्योंकि ग्वालियरकी पहाड़ीपर स्थित 'मात्रिचेता' द्वारा निर्मापित सूर्यमन्दिरके शिलालेखमें उक्त दुर्गका उल्लेख पाया जाता है। दूसरे, किलेमें स्थित चतुर्भुजमन्दिरके वि० संवत ९३२-३३ के दो शिलावाक्योंमें भी उक्त दुर्गका उल्लेख पाया जाता है। हाँ, शिलालेखोंसे इस बातका पता जरूर चलता है कि उत्तरभारतके प्रतिहार राजा मिहिरभोजने जीतकर इसे अपने राज्य कन्नौज में शामिल कर लिया था और उसे विक्रमकी ११वीं शताब्दीके प्रारंभमें कच्छपघट या कछवाहा वंशके वज्रदामन् नामके राजाने—जिसका राज्यशासन १००७ से १०३७ तक रहा है, वह जैनधर्मका श्रद्धालु था उसने संवत् १०३४ में एक जैनमूर्तिकी प्रतिष्ठा भी करवाई थी। उस मूर्तिकी पीठपर जो लेख[1] अंकित है उसमें उसकी जैनधर्ममें आस्था होनेका प्रमाण स्पष्ट है। इस वंशके अन्य राजाओंने जैन धर्मके संरक्षण प्रचार एवं प्रसार करनेमें क्या कुछ सहयोग दिया यह बात अवश्य विचारणीय है और अन्वेषणीय है, कन्नौजके प्रतिहारवंशी राजासे ग्वालियरको जीतकर उसपर अपना अधिकार कर लिया था। इस वंशके मंगलराज, कीर्तिराज, भुवनपाल, देवपाल, पद्मपाल, सूर्यपाल, महीपाल, भुवनपाल और मधुसूदनादि अन्य राजाओंने ग्वालियरपर लगभग दो-सौ वर्षतक अपना शासन किया है; किन्तु बादमें पुनः प्रतिहारवंशकी द्वितीय शाखाके राजाओंका उसपर अधिकार हो गया था; परन्तु वि० संवत् १२४६ में दिल्लीके शासक अल्तमसने ग्वालियर पर घेरा डालकर दुर्गका विनाश किया, उस समय राजपूतोंकी शक्ति कुछ क्षीण हो चुकी थी, घोर संग्राम हुआ और राजपूतोंने अपने शौर्यका पूरा परिचय भी दिया; परन्तु मुट्ठीभर राजपूत उस विशाल सेनासे कब तक लोहा लेते, आखिर राजपूतोंने अपनी आनकी रक्षाके हित युद्धमें मरजाना ही श्रेष्ठ समझा, और राजपूतनियोंने 'जौहर' द्वारा अपने सतीत्वका परिचय दिया—वे अग्निकी विशाल ज्वालामें जलकर भस्म हो गईं—और राजपूत अपनी वीरताका परिचय देते हुए वीरगतिको प्राप्त हुए और किलेपर अल्तमसका अधिकार हो गया।

---

१ संवत १०३४ श्रीवज्रदामभट्टाराजाधिराज वइसाख वदि पाचमि। । देखो, जनरल एशियाटिकसोसाइटी आफबंगाल पृ० ४१०—४११।

सन् १३६८ (वि० सं० १४५५) में तैमूरलंगने भारतपर जब आक्रमण किया, तब अवसर पाकर तोमरवंशी वीरसिंह नामके एक सरदारने ग्वालियर पर अधिकार कर लिया और वह उक्त वंशके आधीन सन् १५३६ (वि० संवत् १५६३) तक रहा। इसके बाद उक्त दुर्गपर इब्राहीमलोदीका अधिकार हो गया। मुसलमानोंने अपने शासनकालमें उक्त किलेको कैदखाना ही बनाकर रक्खा। पश्चात् दुर्गपर मुगलोंका अधिकार हो गया। जब बाबर उस दुर्गको देखनेके लिये गया, तब उसने उरवाही द्वारके दोनों ओर चट्टानोंपर उत्कीर्ण हुई उन नग्न दिगम्बर जैन मूर्तियोंके विनाश करनेकी आज्ञा दे दी [१]। यह उसका कार्य कितना नृशंस एवं घृणापूर्ण था, इसे बतलानेकी आवश्यकता नहीं।

सन् १८१८ में दुर्गपर मराठोंका अधिकार हो गया, तबसे अबतक वहांपर उन्हींका शासन चल रहा है।

जैन मन्दिर और मूर्तियां

यह किला कलाकी दृष्टिसे बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। किले में कई जगह जैन मूर्तियां खुदी हुई हैं। इस किलेमें शहरके लिये एक सड़क जाती है, इस सड़कके किनारे दोनों ओर विशाल चट्टानोंपर उत्कीर्ण हुई कुछ जैन मूर्तियां अङ्कित हैं। ये सब मूर्तियां पाषाणोंका कर्कश चट्टानोंको खोदकर बनाई गई हैं। किलेमें हाथी दरवाजा और सासबहूके मन्दिरोंके मध्यमें एक जैन मन्दिर है जिसे मुगलशासनकालमें एक मस्जिदके रूपमें बदल दिया गया था। खुदाई करनेपर नीचेको एक कमरा मिला है जिसमें कई नग्न जैन मूर्तियां हैं और एक लेख भी सन् ११०८ (वि० सं० ११६५) का है। ये मूर्तियां कायोत्सर्ग तथा पद्मासन दोनों प्रकारकी हैं। उत्तरकी वेदीमें सात फण सहित भगवान श्री पार्श्वनाथकी सुन्दर पद्मासन मूर्ति है। दक्षिणकी भीतपर भी पांच वेदियां हैं जिनमेंसे दोके स्थान रिक्त हैं, जान पड़ता है कि उनकी मूर्तियां विनष्ट करदी गई है। उत्तरकी वेदीमें दो नग्न कायोत्सग मूर्तियाँ अभी भी मौजूद है। और मध्यमें ६ फुट आठ इंच लम्बा आसन एक जैन मूर्तिका है, दक्षिणी वेदीपर भी दो पद्मासन नग्न मूर्तियां है।

किलेकी उर्वाहीद्वारकी मूर्तियोंमें भगवान आदिनाथकी मूर्ति सबसे विशाल है, उसके पैरोंकी लम्बाई नौ फुट है और इस तरह पैरोंसे तीन चार गुणी ऊंची है। मूर्तिकी कुल ऊंचाई ५७ फीटसे कम नहीं है। श्वेताम्बरीय विद्वान मुनि शीलविजय और सौभाग्यविजयने अपनी अपनी तीर्थमालामें इस मूर्तिका प्रमाण बावन गज बतलाया है [१]। जो किसी तरह भी सम्भव नहीं है। और बाबरने अपने आत्म-चरितमें इस मूर्तिको करीब ४० फीट ऊंचा लिखा है [२] जो ठीक नहीं है। साथ ही, आत्मचरितमें उन मूर्तियोंके खंडित करानेका आदेश भी निहित है। यद्यपि अधिकांश मूर्तियां खंडित करा दी गई है, और कुछ मूर्तियोंकी बादमें सरकारकी ओरसे मरम्मत भी करा दी गई है, फिर भी उनमेंकी अधिकांश मूर्तियां अखंडित मौजूद है। किलेसे निकलते ही उरवाही द्वारकी भगवान आदिनाथकी उस विशाल मूर्तिका दर्शन करके दर्शकका चित्त इतना आकृष्ट हो जाता है कि वह कुछ समयके लिये सब कुछ भूल जाता है और उस मूर्तिकी ओर एकटक निर्निमेष देखते हुए भी तबियत नहीं हटती। सचमुचमें यह मूर्ति बहुत ही सुन्दर, कलात्मक और शान्तिका पुंज है। इसके दर्शनसे ही परम शान्तिका स्रोत बहने लगता है। यद्यपि भारतमें श्रमणों (जैनियों) की इस प्रकारकी और

---

१ 'बावनगज प्रतिमा दीसती, गढग्वालेरि सदा सोभती'। ३
—शीलविजय तीर्थमाला पृ० १११।
'गढ़ ग्वालेर बावनगज प्रतिमा बंदू ऋषभ रंग रोली जी''
'सोभाग्यविजय तीर्थमाला १७-२ पृ० ९८।

२ देखो, बाबरका आत्मचरित।

कई प्राचीन मूर्तियां विद्यमान हैं जो भारतीय-श्रमण संस्कृतिकी प्रतिष्ठाकी प्रतीक हैं और जो स्थापत्यकलाकी दृष्टिसे अनूठी एवं बेजोड़ हैं। उदाहरणके लिये श्रवणबेल्गोलाकी बाहुबली स्वामीकी उस विशाल मूर्तिको ही ले लीजिये, वह कितनी आकर्षक, सुन्दर और मनमोहक है, इस बतलानेकी आवश्यकता नहीं। एक बार टाटा कम्पनीका प्रसिद्ध व्यापारी टाटा अपने कई अंग्रेज मित्रोंके साथ दक्षिणकी उस मूर्तिको देखनेके लिये गया, ज्यों ही वह उस मूर्तिके समीप पहुँचा और उसे देखने लगा तो मूर्तिको देखते ही समाधिस्थ हो गया, और वह समाधिमें इतना तल्लीन हो गया कि मानों वह पाषाणके रूपमें स्थित है, तब उनके साथी अङ्गरेज मित्रोंने टाटाको निश्चेष्ट खड़ा हुआ देखकर कहा कि मिस्टर टाटा ! तुम्हें क्या होगया है जो हम लोगोंसे बात भी नहीं करते, चलो अब वापिस चलें; परन्तु टाटा व्यापारी उस समय समाधिमें लीन था, मित्रोंकी बातका कौन जवाब देता, जब उसकी समाधि नहीं खुली तब उन्हें चिन्ता होने लगी; किन्तु आधा घन्टा व्यतीत होते ही समाधि खुल गई और उसने यह भावना व्यक्त की कि मुझे किसी चीजकी आवश्यकता नहीं है; किन्तु मरते समय इस मूर्तिका दर्शन हो। इससे पाठक जैन मूर्तियोंकी उपयोगिताका अन्दाज लगा सकते हैं। ये मूर्तियां कलात्मक, वैराग्योत्पादक और शान्तिकी अग्रदूत हैं। इस प्रकारकी कलापूर्ण एवं प्रशान्त मूर्तियोंका निर्माण करनेवाले शिल्पियों की अटूट साधना, अतुलित धैर्य और कलाकी चतुराईकी जितनी प्रशंसा की जाय वह थोड़ी है। इसी प्रकारकी कलाकी अभिव्यंजक मूर्तियां भगवान नेमिनाथ और भगवान महावीरकी हैं।

बाबा बावड़ी और जैन मूर्तियां

ग्वालियरसे लश्कर जाते समय बीचमें एक मीलके फासलेपर 'बाबा बावड़ी' के नामसे प्रसिद्ध एक स्थान है। सड़कसे करीब डेढ़ फर्लांग चलने और कुछ उचाई चढ़नेपर किलेके नीचे पहाड़की विशाल चट्टानोंको काट कर बहुत सी पद्मासन तथा कायोत्सर्ग मूर्तियाँ उत्कीर्ण की गई हैं। ये मूर्तियाँ प्रशान्त एवं कलापूर्ण तो हैं ही; किन्तु स्थापत्य कला की दृष्टिसे भी अनमोल है। इनकी ऊँचाई १५-२० फुटसे कम नहीं है। इतनी बड़ी पद्मासन मूर्तियों मेरे देखनेमें अन्यत्र कहीं नहीं आईं। बावड़ीके बगलमें दाहिनी ओर एक विशाल खड्गासन मूर्ति है। उसके नीचे एक विशाल शिलालेख भी लगा हुआ है। जिससे मालूम होता है कि इस मूर्तिकी प्रतिष्ठा वि० सं० १५२५ में तोमरवंशी राजा डूंगर सिंहके सुपुत्र कीर्तिसिंह या करणसिंहके राज्यकाल में हुई है।

खेद है कि इन सभी मूर्तियोंके मुख प्रायः खंडित हैं जो मुसलिम युगमें होने वाले धार्मिक विद्वेषका परिणाम जान पड़ता है। इन मूर्तियोंकी केवल मुखाकृतिको ही नहीं बिगाड़ा गया किन्तु किसी किसी मूर्तिके हाथ-पैर भी खण्डित कर दिये गये हैं। इतना ही नहीं किन्तु विद्वेषियोंने कितनी ही मूर्तियोंको गारा-मिट्टीसे भी चिनवा दिया था और सामनेकी विशाल मूर्तिको गारा मिट्टीसे छाप कर उसे एक कब्रका रूप भी दे दिया था। परन्तु सितम्बर सन् १९४७ के दंगेके समय उनसे उक्त स्थानकी प्राप्ति हुई है।

जैनयोंकी ऐसी विशाल-काय मूर्तियाँ, जो कलाकी दृष्टिसे अपना सानी नहीं रखतीं, उन्हें बिना किसी कारणके खंडित करना साम्प्रदायिक व्यामोहका ही परिणाम जान पड़ता है। अब अहिंसा और सत्यके पुजारी भारतके आध्यात्मिक संत पूज्य वर्णी गणेशप्रसादजीने मुरार (ग्वालियर) के चातुर्मासके समय उन मूर्तियोंके जीर्णोद्धारके लिये समाजसे आर्थिक सहायता भी दिला दी, और फलस्वरूप कुछ मूर्तियोंका जीर्णोद्धार भी होगया शेषके और होनेकी आवश्यकता है।

बाबरके आत्मचरितमें किलेकी इन मूर्तियोंके खंडित करानेकी आज्ञाका उल्लेख पूर्व किया जाचुका है। मुस्लिम युगमें अनेक विशाल जिनमंदिरोंको तोड़कर उनके पाषाणों आदिसे अनेक मस्जिदोंका निर्माण किया गया है। चुनाँचे देहलीमें अनंगपाल द्वितीय और तृतीयके शासनकालमें निर्मित हुए अनेक जिनमन्दिरों तथा पश्चात्वर्ती अन्य अनेक मन्दिरोंको विनष्ट कर कुतुबमीनारके प्रसिद्ध लोहेकी लाटके चारों ओर पासवाली बड़ी मस्जिद इन्हीं मन्दिरोंके पाषाणोंसे बनाई गई है।

संवत् १२४६ में जब शहाबुद्दीन गौरीने दिल्ली पर कब्जा किया तब अजमेरको विजय करके वहांपर बने हुए दि० जैन मन्दिरको ढाई दिनके अंदर उसे मस्जिदका रूप दे दिया गया था, और जिसे ढाई दिनका 'झोंपड़ा' इस नामसे पुकारा जाता है। गत वर्ष विद्वत्परिषद्के सोनगढ़ अधिवेशनसे वापिस लौटते समय गिरनारजी, शत्रुञ्जय और आबू आदिकी यात्रा करते हुए अजमेरमें आये, तब ढाई दिनके उस झोंपड़ेको देखनेसे मालूम हुआ कि वास्तवमें वह एक जिनमन्दिर था, उसमें उसकी शिखरकी छत तथा दर्वाजेके अतिरिक्त अन्य किसी स्थानपर कोई विकृति नहीं आई है। उसकी अन्दर की छतोंपर जो देशी पाषाणपर अनेक बेल-बूटे बने हुए हैं। वे सब आबूके मन्दिरोंकी शिल्पकलासे बहुत कुछ मिलते-जुलते है। उसमें सात 'स्वस्तिक' (सांथिया) भी बने हुए हैं। बेल-बूटोंमें केवल पाषाणका ही अन्तर नहीं है, किंतु सूक्ष्मकलामें भी विशेषता पाई जाती है और जिसे आबूके मन्दिरोंकी छतोंमें उत्कीर्ण किया गया है। स्व० महामना गौरीशंकर हीराचन्द्रजी ओझाने भी अपने राजपूतानेके इतिहास प्रथम भागमें 'ढाई दिनके झोंपड़े' को जिन मन्दिर लिखा है। अजमेरके भट्टारकीय जिनमन्दिरमें बगलमे जो तीन विशाल मूर्तियां विराजमान हैं, उन्हें ढाई दिनके झोंपड़ेवाले मंदिरकी मूर्तियां बतलाया जाता है, उनपर मूर्तिलेख भी अंकित हैं परन्तु शीघ्रता और अवकाशकी कमीके कारण मैं उन्हें नोट नहीं कर सका। अतः उनके सम्बन्धमें निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जासकता।

संग्रहालय

ग्वालियरके किलेमें इस समय एक म्यूजियम (संग्रहालय) है जिसमें हिंदू, जैन और बौद्धोंके प्राचीन अवशेषों, मूर्तियों, शिलालेखों और सिक्कों आदिका संग्रह किया गया है। उसमें ऐतिहासिक पुरातन सामग्रीका जो संकलन अथवा संचय किया गया है वह बहुत ही महत्वपूर्ण है। यदि इन अवशेषोंका पूरा परिचय और संगृहीत शिलावाक्यों एवं मूर्तिलेखोंका संग्रह पुरातत्व विभागको ओरसे प्रकाशित होजाय तो उससे ऐतिहासिक अनुसंधानमें विशेष सहायता मिल सकती है। इस संग्रहालयमें जैनियोंकी गुप्तकालीन खड्गासन मूर्ति भी रक्खी हुई है जो बहुत ही कलात्मक और दर्शकको अपनी ओर आकृष्ट करती है। अन्य दूसरी मूर्तियां भी बहुत ही सुन्दर हैं। और वे अपनी प्राचीनता प्रकट करती हैं। किलेकी इन सब मूर्तियोंका निर्माण ग्वालियरके तोमर अथवा तंवर वंशी राजा डूंगरसिंह और उनके पुत्र कीर्तिसिंह या करणसिंहके राज्यकालमें हुआ है। ये तोमरवंशके प्रसिद्ध शासक थे। इनकी जैनधर्मपर बड़ी आस्था थी, और तत्कालीन भ० गुणकीर्ति आदिके प्रभावसे प्रभावित थे। इनके राज्यकालमें ग्वालियर और उसके सूबों तथा समीपवर्ती इलाकोंमें जैनधर्मने खूब समृद्धि पाई। राजा डूंगरसिंह और कीर्तिसिंहका राज्यकाल वि० सं० १४८१ से वि० सं० १५३६ तक सुनिश्चित है। जैन मूर्तियोंकी खुदाईका कार्य राजा डूंगरसिंहने शुरू किया था, वह उसे अपने जीवनकालमें पूरा नहीं करा सका, तब उसे उसके पुत्र कीर्तिसिंहने पूरा कराया था। जैनमूर्तियोंकी खुदाई का यह कार्य ३३ वर्ष पर्यंत चला है, इतने लम्बे अर्सेमें सैकड़ों मूर्तियां उत्कीर्ण हुई हैं और

उनपर सहस्रों रुपये व्यय किये गये हैं। यद्यपि ग्वालियरमें जैनाचार्यों, मुनियों, भट्टारकों और विद्वानोंका सतत समागम रहा है उनकी निस्पृहता एवं निरीहता, त्याग और तपश्चर्या तथा अहिंसा और सत्यकी निष्ठाका महत्व वहांकी भूमिके कण-कणमें समाया हुआ था, और जनताके हृदयमें जैनधर्मके प्रति अगाध श्रद्धा एवं आस्थाका भाव घर किये हुए था, और उससे जैन संस्कृतिके प्रचारमें बड़ी मदद मिली है। वहांके पुरातत्त्वकी विपुल सामग्रीको देखते हुए यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि ग्वालियरमें जैनशासनका प्रचार एवं प्रसार प्राचीन समयमें हो रहा है।

दूबकुंडके शिलालेख

इसकी पुष्टि दूबकुण्डवाले वि० सं० ११४५ के उस शिलावाक्यसे होती है जो बहुत ही महत्वपूर्ण है। और जिससे विक्रमकी १२ वीं सदीमें जैनाचार्योंके विहार और धर्मोपदेश आदिका कितना ही परिचय मिल जाता है।

शिलालेखमें महत्वकी बात तो यह है कि ग्वालियरमें कच्छपघट (कछवाहा) वंशके शासकोंके समयमें भी जैनमंदिर मौजूद थे और नूतन मन्दिरोंका भी निर्माण हुआ था, साथ ही शिलालेखमें उल्लिखित लाड-वागडगणके देवसेन, कुलभूषण, दुलभसेन, अंवरसेन और शान्तिषेण इन पांच दिगम्बर जैनाचार्योंका समुल्लेख पाया जाता है जो उक्त प्रशस्तिके लेखक एवं शान्तिषेणके शिष्य विजयकीर्तिसे पूर्ववर्ती हैं। यदि इन पांचों आचार्योंका समय १२५ वर्ष भी मान लिया जाय जो अधिक नहीं है तो उसे ११४५ मेंसे घटाने पर देवसेनका समय १०२० के करीब आ जाता है। ये देवसेन अपने समयके प्रसिद्ध विद्वान् थे, और लाड बागड़ गणके उन्नत रोहणाद्रि थे, विशुद्ध रत्नत्रयके धारक थे और समस्त आचार्य जिनकी आज्ञाको नतमस्तक होकर हृदयमें धारण करते थे[१]।

दूबकुण्डमें, जिसका पुराना नाम 'चंडोभ' है, एक जैन स्तूपपर सं० ११५२ का एक और शिलालेख अंकित है जिसमें सं० ११५२ की वैशाखसुदी ५ को काष्ठासंघके महान आचार्य श्रीदेवसेनकी पादुका-युगल उत्कीर्ण है[२]। वह शिलालेख तीन पंक्तियोंमें विभक्त है। इसी स्तूपके नीचे एक भग्न मूर्ति उत्कीर्ण है जिसपर 'श्रीदेव' लिखा है, जो अधूरा नाम मालूम होता है पूरा नाम 'श्रीदेवसेन' रहा होगा। ग्वालियरमें भट्टारकों की प्राचीन गद्दी रही है और उसमें देवसेन, विमलसेन, भावसेन, सहस्रकीर्ति, गुणकीर्ति, यशःकीर्ति, मलयकीर्ति और गुणभद्रादि नामके अनेक भट्टारक हुए हैं। इनमें भ० देवसेन, यशःकीर्ति और गुणभद्रने अपभ्रंश भाषामें अनेक ग्रंथोंकी रचना की है और इन्हींके समयमें कवि रइधूने भी विविध ग्रन्थोंका निर्माण किया है[३]। इससे स्पष्ट मालूम होता है कि विक्रमकी १५ वीं १६ वीं शताब्दीमें ग्वालियरमें जैनशासनका बड़ा प्रचार था। वहांके जैनधर्मविषयक भारी पुरातत्त्वको देखते हुए यह कहना अत्युक्ति नहीं होगा कि वहां विविध वंशके शासकोंके समयमें जैनधर्मने खूब समृद्धि पाई थी। और वहांके श्रावकोंमें धार्मिक प्रेम और परोपकारकी वृत्ति पाई जाती थी।

---

१ आसीद्विशुद्धतरबोधचरित्रदृष्टि-
नि:शेषसूरिनतमस्तकधारिताज्ञ:।
श्रीलाटवागडगणोन्नतरोहणाद्रि-
माणिक्यभूतचरितो गुरुदेवसेनः॥

२ पंक्ति १—सं० ११५२ वैशाखसुदि पञ्चम्यां
२—श्री काष्ठासंघ महाचार्यवर्यश्रीदेव
३—सेनपादुकायुगलम्।

See Acheological Survey of india V. II 2. P. 102.

३—देखो, वर्णीअभिनन्दनमें प्रकाशित 'महाकवि रइधू नामका मेरा विस्तृत लेख।

ग्वालियरके अन्य जिलों एवं ग्रामोंमें उपलब्ध सामग्री

ग्वालियर स्टेटके वर्तमान क्षेत्रमें भेलसा (विदिशा), वेसनगर, उदयगिरि, बडोह (भिलसा) बरो (बडनगर) जि० अमझेरा, मंदसौर (दशपुर), नरवर, ग्यारसपुर, सुहानियाँ, गूडर, भीमपुर, पद्मावती, जारा जि० तोंबरधार, चंदरा, मुरार आदि नगरोंमें बौद्ध और हिन्दुओंके प्राचीन पुरातत्त्व अवशेषोंके साथ जैनियोंके भी प्राचीन पुरातत्त्व अवशेष उपलब्ध होते हैं। यद्यपि जैनियोंके पुरातत्त्वके सम्बन्धमें कोई विशेष अन्वेषण नहीं किया गया और न जैन मूर्तियोंके सम्बंधमें विशेष जानकारी ही प्राप्त की गई है जिसके किये जानेकी खास जरूरत है। परन्तु इन स्थानोंके सम्बंधमें जो कुछ परिचय ज्ञात हो सका है उसे नीचे दिया जाता है:—

भिलसा—यह एक प्राचीन स्थान है। यहाँपर पुरातत्त्वके अनेक प्राचीन अवशेष पाए जाते हैं। नगरके समीप ही बौद्धोंके ६० स्तूप हैं जो ईस्वी सन की तीसरी शताब्दीसे पूर्व और ईस्वीसन् १०० तक के हैं। पंडित देवीदासने आचार्य नरेन्द्रसेनके सिद्धान्तसारकी हिन्दी गद्यटीका सं० १८४४में यहां ही पूर्ण की थी।

वेसनगर—भिलसाके उत्तर-पश्चिममें एक समृद्धिशाली प्राचीन नगर था जो शुंगराजा अग्निमित्रका राज्यस्थान भी रहा है। और जिसे पाली भाषाके ग्रन्थोंमें 'चैत्यगिरी' नामसे उल्लेखित किया गया है। यहाँपर बौद्धोंके प्राचीन स्मारक पाए जाते हैं। इसमें उज्जैनके क्षत्रपोंके नागों और गुप्तोंके सिक्के भी प्राप्त हुए हैं। जैनियोंका तो यह महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है, जैन लेखोंमें इसे 'भद्दलपुर' कहा है जो १० वें तीर्थङ्कर शीतलनाथका जन्मस्थान रहा है। यहांपर जैनियोंकी एक गुप्तकालीन सुन्दर एवं कलापूर्ण मूर्ति मिली है. जो गूजरी महलके संग्रहालयमें रक्खी हुई है।

उदयगिरि—उक्त भेलसा जिलेमें उदयगिरि नामका एक प्राचीन स्थान है—भेलसासे ४ मील दूर पहाड़ीमें कटे हुए मन्दिर हैं। पहाड़ी पौन मीलके करीब लम्बी और ३८० फुटकी ऊँचाईको लिये हुए है। यहां बीस गुफाएँ हैं। जिनमें प्रथम और बीसवें नम्बरकी गुफा जैनियोंकी हैं, उनमें २० वीं गुफा जैनियोंके तेवीसवें तीर्थंकर श्रीपार्श्वनाथकी है। उसमें सन् ४२५-४२६ का गुप्तकालीन एक अभिलेख है जो बहुत ही महत्वपूर्ण है। और जो इस प्रकार है:—

"सिद्धोंको नमस्कार। श्रीसंयुक्त गुणसमुद्र-गुप्तान्वयके सम्राट कुमारगुप्तके वर्द्धमान राज्य शासनके १०६वें वर्ष और कार्तिक महीनेकी कृष्ण पंचमीके दिन गुहाद्वारमें विस्तृत सर्पफणसे युक्त शत्रुओंको जीतनेवाले जिन श्रेष्ठ पार्श्वनाथजिनकी मूर्ति शमदम वान शंकरने बनवाई। जो आचार्य भद्रान्वयके भूषण और आर्यकुलोत्पन्न आचार्य गोशम मुनिके शिष्य तथा दूसरोंके द्वारा अजेय रिपुघ्न मानी अश्वपति भट संघिल और पद्मावतीके पुत्र शंकर इस नामसे लोकमें विश्रुत तथा शास्त्रोक्त यतिमार्गमें स्थित था और वह उत्तर कुरुवोंके सदृश उत्तर प्रान्तके श्रेष्ठ देशमें उत्पन्न हुआ था उसके इस पावन कार्यमें जो पुण्य हुआ हो वह सब कर्मरूपी शत्रु-समूहके क्षयके लिये हो।" वह मूल लेख इस प्रकार है:—

१—नमः सिद्धेभ्यः [॥] श्रीसंयुतानां गुणतोयधीनां गुप्तान्वयानां नृपसत्तमानाम्।

२—राज्ये कुलस्याधि विवर्द्धमाने षड्भिर्युते वर्षशतेथ मासे [॥] सुकार्तिके बहुलदिनेथ पंचमे।

३—गुहामुखे स्फटविकटोत्कटामिमां, जितद्विषो जिनवर पार्श्वसंज्ञिको जिनाकृतिं शम-दमवान।

४—चीकरत् [॥]आचार्यभद्रान्वयभूषणस्य शिष्यो ह्यसा वार्य्यकुलोद्गतस्य आचार्यगोश—

५—र्म्म मुनेस्सुतास्तु पद्मावतावश्वपते र्भटस्य [॥] परैरजेयस्य रिपुघ्न मानिनस्स सघिल—

६—स्येतित्यभिविश्रुतो भुवि स्वसञ्ज्ञया शंकरनाम शब्दितो विधान युक्तं यतिमार्गमस्थितः [॥]
७—स उत्तराणां सदशे कुरूणां उदग्दिशा देशवरे प्रसूतः
६—क्षयाय कर्म्मारिगणस्य धीमान् यदत्र पुण्यं तदपास सर्ज्ज [॥] ——फ्लीट गुप्त अभिलेख पृ० २५८।

इस लेखमें उल्लिखित आचार्य भद्र और उनके अन्वयमें प्रसिद्ध मुनि गोशर्म, कहांके निवासी थे और उनकी गुरु परम्परा क्या है? यह कुछ मालूम नहीं हो सका।

बड़ोह—यह स्थान भी भेलसा जिलेमें है। यहां एक प्राचीन जिन मन्दिर है, जो लगभग ६०० ईस्वी का बना हुआ है। इस मंदिरमें १६ गर्भगृह है जिन-में भगवान महावीर (वर्द्धमान), मल्लिनाथ, अजित-नाथ, आदिनाथ पार्श्वनाथ, भुजबली (बाहुबली) और शांतिनाथ आदि जैनतीर्थंकरोंकी मूर्तियाँ अंकित है। यह मन्दिर भी दर्शनीय हैं

बरो (बड़नगर)—जि० अमझेरामें बहुत प्राचीन स्थान है। यह पुरातन समयमें बहुत ही सम्पन्न एवं धन-जनसे परिपूर्ण रहा है, परन्तु वर्तमानमें वह एक छोटे-से नगरके रूपमें दृष्टिगोचर हो रहा है। इसके आस-पास अनेक पुरातन ध्वंसावशेष हैं जो पथारी तक विस्तृत हैं। प्रस्तुत नगर गयानाथ पहाड़ की तलहटीमें बसा हुआ है, जो विन्ध्यका ही एक भाग जान पड़ता है। और वह भेलसाके उत्तर तक आता है। इस नगरके तालाबके किनारे हिन्दू और जैनोंके मन्दिर बने हुए हैं। उनमें एक विशाल जैन मंदिर भी है जिसमें १६ वेदियोंपर जैन तीर्थंकरोंकी कलात्मक सुन्दर मूर्तियाँ विद्यमान है। मध्यमें किसी मुनिका समाधिस्थान भी बना हुआ है। १७वीं शताब्दीमें पन्नाके राजा छत्रशालने इसे नष्ट किया था।

मंदसौर—भारतीय संस्कृतिका अनुपम केन्द्र रहा है। इसका प्राचीन नाम 'दशपुर' है। नासिकसे ईस्वी सन्के प्रथमभागका छत्रपोंका एक अभिलेख मिला है जिसमें उसका उल्लेख है। एक शिलालेख सन् ४३७ का कुमारगुप्त प्रथमके समयका पाया जाता है। यहां जैन श्रमण संस्कृतिके बहुतसे प्राचीन जैन स्मारक हैं। विक्रमकी दूसरी तीसरी शताब्दीके प्रसिद्ध दिगम्बर जैनाचार्य समन्तभद्रने वाद-भेरी बजाई थी। जैसा कि 'दशपुरनगरे भेरी मया ताडिता' वाक्यसे प्रकट है। संस्कृत-हिन्दीभाषाके प्रसिद्ध विद्वान् पं० भागचन्द्रजी यहांके ही निवासी थे। यहां रहकर उन्होंने कई ग्रंथोंकी टीकाओंका निर्माण किया है। आज भी यहां जैनमंदिर और शास्त्र-भंडार विद्यमान है और श्रावकगण अपने धर्मका यथेष्ट पालन करते है।

नरवर—सिपरी और सोनागिरके मध्यमें बसा हुआ है। यहांपर नागराजा गणपतिके सिक्के प्राप्त हुए हैं जिसका उल्लेख समुद्रगुप्तके इलाहाबादवाले लेखमें पाया जाता है। यह नगर भी अनेक राजा-ओंकी राजधानी रहा है। यहां एक किला भी है। जिसमें विक्रमकी १२ वीं१३ वीं शताब्दीकी संगमर-मरकी अत्यंत सुन्दर कलापूर्ण जैन तीर्थंकरोंकी मूर्ति-यां पाई जाती है। जो उरवाही द्वारपर नवीन मन्दिरमें विराजमान हैं जिनपर वि० सं० १२१३, १२०६, १३४० और १३४८ के मूर्तिलेख अंकित हैं। किलेकी कितनी ही पुरातन मूर्तियां खंडित कर दी गई है।

ग्यारसपुर—यह नगर भेलसासे उत्तर-पूर्व २४ मीलकी दूरीपर बसा हुआ है। यह स्थान बहुत प्राचीन और प्रसिद्ध रहा है। यहांपर सबसे विश्रुत मन्दिर 'अठखंभा' है। इसकी बनावट कलापूर्ण तो है ही; किन्तु उसके स्तम्भोंपर नक्काशीका कार्य बहुत ही सुन्दर है। और वह दर्शनीय भी है। एक खंभे पर सन् ६८२ (वि० सं० १०३६) का एक अभिलेख किसी यात्रीका उत्कीर्ण है। यहां सबसे पुराना और सुन्दर जैन मंदिर पहाड़ीकी नौकपर 'माता'के नामसे प्रसिद्ध है, जो संभवतः नौमी, दशमी सदीका बन-वाया हुआ होगा। इसमें वेदीपर एक बड़ी दिगम्बर सुन्दर जैन मूर्ति है और पासमें ३-४ मूर्तियां और

भी हैं। तथा कमरेके अन्दर और भी बहुत-सी जैन मूर्तियाँ विराजमान हैं। इन सब मूर्तियोंपर अंकित अभिलेखोंका संकलन करना बहुत आवश्यक है।

सुहानियाँ—यह स्थान पुरातन कालमें जैन संस्कृतिका केन्द्र रहा है और वह ग्वालियरसे उत्तरकी ओर २४ मील, तथा कटवरसे १४ मील उत्तर-पूर्व है। और अहसिन नदीके उत्तरीय तटपर स्थित है। कहा जाता है कि यह नगर पहले बहुत समृद्ध था और १२ कोश जितने विस्तृत मैदानमें आवाद था। इसके चार फाटक थे, जिनके चिन्ह आज भी उपलब्ध होते हैं। सुना जाता है कि इस नगरको राजा सूरसेनके पूर्वजोंने बसाया था। कनिंघम साहबको यहां वि० सं० १०१३, १०३४, और १४६७ के मूर्तिलेख प्राप्त हुए थे। जिनमेंसे प्रथममें बतलाया है कि "वि० सं० १०१३ (६५६ A. D.) मे माधवके पुत्र महेन्द्रचन्द्रने, जो संभवत: ग्वालियरका राजा था एक जैन मूर्ति सुहस्य (Suhamya जो ग्वालियरके समीप है) मे अर्पण की[१]।" और दूसरे लेखसे स्पष्ट है कि वि० सं० १०३४ (६६७ A. D.) में कच्छपघट या कछवाहा वंशके राजा वज्रदामनने उक्त संवतके वैशाखवदी पंचमीको मूर्ति प्रतिष्ठित कराई थी[२]। तृतीय लेख जैनियोंके १६ वें तीर्थंकर भगवान् शान्तिनाथकी १५ फुट ऊँची खड्गासन मूर्ति जो चेतननाथके नामसे प्रसिद्ध है यह स्थान भीमकी लाटसे करीब एक मील दूर है। इस मूर्तिके बगलमें दो खड्गासन मूर्तियां और भी है। इसके शिरके पास १४ पंक्तिका एक लेख है जो पूरा पढ़ने में नहीं आता किंतु 'सिद्धिरस्तु १४६७ वैशाखसुदी ११ रवौ" पढ़ा जाता है। इस ग्रामके पश्चिममें एक स्तम्भ है जिसे भीमकी लाट कहा जाता है। दक्षिणकी ओर कई दि० जैन मूर्तियां है। इस नगरको कन्नौजके राजा विजयचन्दने सन् ११७० में अपने अधिकारमें ले लिया था। आजकल यह स्थान अतिशयक्षेत्रके नामसे प्रसिद्ध है। इस सम्बन्धमें एक दिलचस्प घटना घटित हुई, जो इस प्रकार सुननेमें आई है। कुछ समय पहले बाबा गुमानीलालजीको रात्रिमें एक स्वप्न हुआ, कि एक मूर्ति तेलीके घरकी देहरीके नीचे गड़ी है तुम जाकर खोद लाओ। बाबाजीने तेलीसे उस मूर्तिके सम्बन्धमें कहा तो उसने इंकार कर दिया तब बाबाजीने गांवके अन्य लोगोंको सब हाल बताकर आप शांतिनाथ भगवानकी उस मूर्तिके सामने आहारादिके त्यागका नियमकर कायोत्सर्गमें स्थित हो गए। और कुछ समय बाद उसी मूर्तिके समक्ष ध्यानस्थ बैठे रहे। दो दिनके पश्चात् सहसा ग्राममें पत्थर वर्षा होने लगी जिससे गांवके लोग दुखी हुए और उन्होंने तेलीके घरसे खोदकर वह मूर्ति बाबाजीको लाकर देदी। तबसे बाबाजीका प्रभाव उस गांवपर हो गया है और शांतिनाथकी उस मूर्तिपर अधिक श्रद्धा हो गई है।

शांतिनाथकी यह दिव्य मूर्ति और बगलवाली दोनों मूर्तियां अखण्डित है। शिरके पास भामण्डलकाचिन्ह भी उत्कीर्ण है और सिंहमुख सिंहासनपर कमल बना हुआ है जिसपर वह सातिशय प्रशांत कलाभिव्यजक मूर्ति स्थित है उसके बगलमें यक्ष-यक्षणियोंकी मूर्तियां भी अंकित है। इनके समीप ही दो पद्मासन मूर्तियाँ अष्ट प्रातिहार्य और यक्ष-यक्षणियों सहित भगवान नेमिनाथ और पार्श्वनाथकी है। इस मूर्तिके आस-पास बहुत-सी खण्डित मूर्तियां पड़ी हुई हैं। जिससे मालूम होता है कि इस स्थानके दो-तीन मील इर्द-गिर्द जैनियोंके पुरातत्त्वकी महत्वपूर्ण सामग्री यत्र तत्र बिखरी हुई पड़ी है और कुछ अभी भूगर्भमें भी दबी हुई है जिसको निकालकर प्रकाशमें लानेकी बड़ी आवश्यकता है। पर खेद है

१ सं० १०१३ माधवसुतेन महिचन्द्रकेन भी—[खो ?] दित्ता।

२ "संवत् १०३४ श्रीवज्रदामममहाराजाधिराज वइसाखवदि पाचंमि"

—देखो, जनरल आफ दी एशियाटिक सोसाइटी बंगाल भाग × × ×। P. ४१०. ४११ सन् १८६२

कि जैन समाजका ध्यान इधर नहीं है। मैं यह पहले बतला चुका हूं कि यह मूर्ति सं० १४६७ की है उस समय ग्वालियरमें तोमरवंशी राजा वीरमदेवका राज्य था। वीरमदेव कुशल राजनीतिज्ञ था। इनके राज्यमें प्रजा सुखी थी, जैसवालवंशी कुशराज राजा वीरमदेवके मन्त्री थे, जो पृथ्वीके पालन करनेमें समर्थ, और पृथ्वीके संरक्षणमें सावधान और राजनीतिमें भी कुशल थे।

प्रस्तुत सुहानियां आजकल अतिशयक्षेत्रके रूपमें प्रसिद्ध है, वहां मेला भी लगता है। और मुरैनाके कोई सज्जन, जिनके नामकी मुझे इस समय स्मृति नहीं है, मंत्री है।

गूड़र—यह स्थान भी प्राचीन है और १२वीं १३ वीं शताब्दीमें प्रसिद्ध रहा है। यहाँपर जैनियोंके शांतिनाथ, कुंथनाथ और अरहनाथकी वि. सं. १२०६ की मूर्तियाँ पाई जाती है। इन सबमें बड़ी मूर्ति ६ फुट ऊँची है, जो बहुत ही सुन्दर, चित्ताकर्षक और कलापूर्ण है। कलाकी दृष्टिसे इस प्रकारकी मनोहर मूर्तियाँ कम ही पाई जाती है। इसकी कोमलता और विशालता चतुर शिल्पीकी आत्म-साधनाका सजीव-चित्रण है। दृष्टि पड़ते ही दर्शक उस मूर्तिकी ओर आकृष्ट हुए बिना नहीं रहता और वह कुछ समयके लिये अपनेको भूल जाता है। और अपने स्वरूपमें निमग्न होनेका प्रयत्न करता है। साथ ही ज्ञानी आत्मा चैतन्यजिनप्रतिमा बननेका अभ्यास भी करने लगता है। इस कालमें जैन मूर्तियोंका निर्माण बहुत अधिक हुआ है। परन्तु वह सब स्थापत्य-कलाकी दृष्टिसे प्रायः सर्वांग पूर्ण हुआ है।

भीमपुर—में नरवरके जज्जयेलवंशी आसलदेव राजाके अधिकारी जैत्रसिंहने एक जैनमंदिर बनवाया था जिसका वि० सं० १३१६का ४० पंक्तियोंका एक शिलालेख भी उपलब्ध है जिसकी मूल छाप ग्वालियर पुरातत्त्व विभागकी कृपासे मुझे प्राप्त हुई है। उसके पढ़नेका अभीतक अवकाश नहीं मिला, इसीसे उसे यहां नहीं दिया जारहा है।

पद्मावती—यह वही प्रसिद्ध नगरी है जिसका उल्लेख खजुराहेके वि० सं० १०५२ के शिलालेख[1]में किया गया है और बतलाया है कि नगरी ऊंचे-ऊंचे गगनचुम्बी भवनोंसे सुशोभित थी। उसके राजमार्गमें बड़े-बड़े तेज तुरग दौड़ते थे और जिसकी चमकती हुई स्वच्छ एवं शुभ्र दीवारें आकाशसे बातें करती थीं। यह नागराजाओंकी राजधानी थी। पद्मावतीपुरवाल जातिके निकासका केन्द्र थी। कवि रइधूके ग्रन्थोंमें उल्लिखित 'पोमावइ पुरवाडवंस' वाक्य पद्मावती नगरीका ही वाचक है उसीसे पद्मावती-पुरवालका उदय हुआ है। विष्णुपुराणके कथनानुसार इस नगरीमें नौ नाग राजाओंने राज्य किया है। पदमपवाया (पद्मावती) से नौ नागराजाओंके सिक्के भी मिले हैं।

ग्यारहवीं शताब्दीमें रचित 'सरस्वतीकंठाभरण' में भी 'विशाला' पद्मावतीका वर्णन है।

जोरा—जिला तोंवरघारसे दो दिगम्बर मूर्तियां प्राप्त हुई है जो बहुत ही सुन्दर एवं चित्ताकर्षक हैं। ये दोनों मूर्तियां लश्करके सरकारी म्यूजियममें रक्खी हुई है[2]।

चंदेरी जि० नरवर—यह भी प्राचीन स्थान है। इससे नौ मील बूढ़ी चंदेरा है जो ध्वंसावशेषोंका एक ढेर है। चंदेरीको चंदलवंशी राजाओंने बसाया था। यह नगर तनजेब जैसे बारीक और सुन्दर कपड़ोंके बनानेमें प्रसिद्ध था। किसी समय यह नगर श्रमण संस्कृति (जैन) के प्राचीन गौरवका केन्द्र बना हुआ था। इसके किलेके पास की खंडहर पहाड़ीपर उकेरी गई विशाल जिन प्रतिमाएं उसका उज्ज्वल प्रमाण है। यहां जो मूर्तियां है और उनके साथ यक्ष-यक्षिणी आदिकी जो मूर्तियां उत्कीर्ण है, उनमें अङ्कित लेखोंसे वे तेरहवीं शताब्दीके उत्तरार्धकी प्रतीत होती है; क्योंकि

1 Epigraphia Indea V.L I.P. 149

२ देखो, ग्वालियर गजटियर जिल्द १ में प्रकाशित चित्र।

उनपर संवत् १२८३ से लेकर १२६३ तकका संवत् उत्कीर्ण है। हां, बूढी चंदेरीमें १०वीं ११वीं शताब्दी तककी मूर्तियां पाइ जाती हैं।

मुरार—ग्वालियरमें पं० हरिहरनिवासजी द्विवेदी-को एक गुप्तकालीन चतुर्मुख सर्वतोभद्र प्रतिमाकी प्राप्ति हुई है जो उन्हींके पास सुरक्षित है। उनपर गुप्त लिपिमें लेख भी अङ्कित है। यह मूर्ति उन्हें मुरारसे एक मीलकी दूरीपर मिली थी[१]।

इन स्थानोंके अतिरिक्त बरई, सेसई, ईंदार, गोलकोट, पचराई, उज्जैन, और तुमुन आदि स्थानोंमें जैन पुरातत्वकी महत्वपूर्ण सामग्री विद्यमान है। यदि जैन समाज ग्वालियर और उसके जिलों अथवा सूबोंमें प्राप्त सामग्रीपरसे ऐतिहासिक इतिवृत्तका संकलन एवं अन्वेषणका कार्य प्रारम्भ करे, जो भारी अर्थव्ययको लिये हुए है, तो उसपर-से जो मूल्यवान् सामग्री प्राप्त होगी, उससे कितनी ही ऐतिहासिक उलझनें दूर हो जावेंगी। और वह जैन इतिहासके लिये ही नहीं किन्तु भारतीय इति-हासके लिये हितकर होगी। क्या जैन समाज अपना लक्ष्य इस ओर भी देगा? अन्यथा आज जो महत्वपूर्ण सामग्री यत्र तत्र बिखरी पड़ी है वह भी विनष्ट हो जायगी और उसका प्राप्त करना फि बड़ा ही दुष्कर होगा।

कतिपय जैनमन्दिर व मूर्तिनिर्मापकोंके समुल्लेख

(१) दूबकुण्ड (चंडोभ) के उक्त शिलालेखमें, जिसका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। मुनि विजयकीर्तिके उपदेशसे जैसवालवंशी श्रावक दाहड, कूकेक, सूर्पट, देवधर और महीचन्द्र आदि चतुर श्रावकोंने वि० सं० ११४५ में विशाल जैनमंदिर-का निर्माण कराया था और जिसके पूजन, संरक्षण एवं जीर्णोद्धार आदि कार्योंके लिये कच्छपवंशी राजा विक्रमसिंहने महाचक्र नामके ग्राममें कुछ जमीन आदि भी प्रदान की[1]।

(२) जैसवालवंशी कुशराजने, जो तोमरवंशी राजा वीरमदेवके महामात्य थे, भगवान चन्द्रप्रभका एक चैत्यालय बनवाया था और पद्मनाभ नामके कायस्थ विद्वानसे 'यशोधरचरित्र' अपरनाम 'दयासुन्दरविधान' नामका एक संस्कृत काव्यग्रन्थ भी बनवाया था, जिसे पद्मनाभने भट्टारक गुण-कीर्तिके उपदेशसे पूर्वसूत्रानुसार रचा था[२]।

(३) अरुणमणिके 'अजितपुराण'में जिसका रचनाकाल सं० १७१६ है, भट्टारक श्रुतकीर्तिके शिष्य बुधराघवके द्वारा गोपाचल (ग्वालियर)में जैनमन्दिर के बनानेका उल्लेख निम्न शब्दोंमें पाया जाता है:-

"तच्छिष्य जातो बुधराघवाख्यो,
गोपाचले कारितजैनधामा"

(४) अग्रवालकुलावतंस, संसारशरीरभोगों-से उदासीन, धर्मध्यानसे संतृप्त शास्त्रोंके अर्थरूपी रत्नसमूहसे भूषित तथा एकादश प्रतिमाओंके संपालक खेल्हा नामके ब्रह्मचारीश्रावकने चन्द्रप्रभ भगवानकी विशाल मूर्तिका निर्माण ग्वालियरमें

१ देखो, मंगलप्रभातमें प्रकाशित 'ग्वालियरकी जैन मूर्तियां' नामका लेख।

1 See Epigraphica indca. Vo L. II. P. 237

२ जाता श्रीकुशराज एवं सकलक्ष्मापालचूडामणिः
श्रीमत्तोमरवीरमस्य विदितो विश्वासपात्रं महान्।
मंत्री मंत्रविचक्षणः क्षणमयः क्षीणारिपक्षः क्षणात्।
क्षोण्यामीक्षणरक्षणक्षममतिः जैनेन्द्रपूजारतः॥
स्वर्गस्पर्द्धिसमृद्धिकोऽतिविमलश्चैत्यालयः कारितो।
लोकानां हृदयंगमो बहुधनैश्चन्द्रप्रभस्य प्रभोः॥
ये नैतत्समकालमेव रुचिरं भव्यं च काव्यं तथा।
साधुश्रीकुशराजकेन सुधिया कीर्तिश्चिरस्थापकम्॥
× × × ×
उपदेशेन ग्रन्थोऽयं गुणकीर्तिमहामुनेः।
कायस्थपद्मनाम्ना रचितः पूर्वसूत्रतः॥
—यशोधरचरित्र प्रशस्ति।

करवाया था[१]।

(५) साहू खेमसिंहके पुत्र कमलसिंहने, दुर्गति-का नाशक, मिथ्यात्वरूपी गिरीन्द्रको विनष्ट करनेके लिये वज्रके समान, और रोग-शोक आदि दुःखोंकी नाशक भगवान आदिनाथकी ११ हाथ (१६॥ फुट) ऊंची सातिशय एक विशाल मूर्तिका निर्माण कराया था और उसकी प्रतिष्ठा भी कराई थी[२]।

१ तात्तम्मि खणि थंभयय-भार-भारेण,
सिरि अयरवालंकवसम्मि सारेण।
ससार-तणु भाय-निव्विएणचित्तेण,
धरधम्मझाणामएणेव तित्तेण॥
सत्थत्थरयणोहभूसियसदेहेण,
दहएगपडिमाणपालणसणेहेण।
खेल्हाहिहाणेण णमिऊण गुरुतेण,
जसकित्तिविणयत्तु मंडियगुणोहेण।
भो मयहाण-दावग्गिउल्हवणघणदाण,
संसार-जलराशि उत्तार-वरजाण।
तुम्हं पसाएण भव-दुह-कयंतस्स,
ससिपहजिणेंदस्स पडिमा विसुद्धस्स।
काराविया मइं जि गोवायले तुंग,
उड्ढुचाविणामेण तित्थमि सुहसंग।
कविरइधूविरचितसम्मइजिनचरिउ-प्रशस्ति।

२ जो देवाहिदेवतित्थंकरु,
आइणाहतित्थेस सुहंकरु।
तहु पडिमा दुग्गइ णिएणासणि,
जा मिच्छत्तगिरिंद सरासणि।
जा पुणु भव्वह सुहगइ सासणि,
जा महिराय-सोय-दुह-णासणि।
सा एयारह करथिरहंगि,
काराविय णिरुवम अइतुंगी।
अग्गणिय अण पडिमको लक्खइ,
सुरगुरु ताह गणण अह अक्खइ।
कर वि पइट्ठ तिलउ पुणु दिएणउ
चिरु सांच पविहिउ कलिमलु छिण्णउ॥

(६) कविवर रइधूकी सम्यक्त्वकौमुदीकी खंडित प्रशस्तिसे मालूम होता है कि गोलालारीय कुलमें समुत्पन्न कुमुदचन्द्रने भी जिनबिम्बकी प्रतिष्ठा गोपाचलमें राजा कीर्तिसिंहके राज्यकालमें सम्पन्न कराई थी[१]। परन्तु प्रशस्ति अधूरी होनेसे उनके वंशादिका कोई परिचय नहीं दिया जासका।

बाबा बावड़ीके दाहिनी ओर एक सुन्दर खड्गासन मूर्ति भगवान पार्श्वनाथकी है, जिसके शिरका भाग अंगुली व पैर खंडित दशामें है। उसके नीचे सं० १५२५ का एक लेख भी अंकित है जिसमें गोलालारीय वंशके द्वारा भ० सिंहकीर्तिके उपदेशसे उक्त संवतमें प्रतिष्ठित करानेका उल्लेख किया गया है. नोटबुक सामने न होनेसे लेख यहां नहीं दिया जासका। इसी लाइनमें पद्मासन व खड्गासन विशाल मूर्तियाँ और भी अंकित हैं।

(७) वि० सं० १५२१ में साहू पद्मसिंहने महाकवि पुष्पदन्तका आदिपुराण लिखवाया था, उसमें ग्रंथ लिखाकर दान देने वालेकी दातृप्रशस्तिमें पद्मसिंहके परिवारका परिचय कराते हुए लिखा है कि पद्मसिंहने आदिनाथका एक जिनायतन बनवाया था और उसकी प्रतिष्ठा भी करवाई थी तथा एक लाख ग्रंथ लिखवाए थे और चौबीस जिनालय (जिनमन्दिर) भी बनवाए थे जैसा कि उक्त प्रशस्ति-की निम्न पंक्तियोंसे प्रकट है:—

"एयारहि मज्झि सिरिपोमसिंह,
जिणसासणणंदणवणसुसिंह।
पुणु च जिणायदणु जि विचित्तु,
ससिहर सुपाडिहेरहं जुत्तु।

चउविहसंघहं विणय पयासिउ,
कज्जु सयलु जा सिद्धु सुहासिउ।
—कविरइधूरचितसम्मत्तगुणणिधाण प्रशस्ति।

१ जेण पइट्ठाविय जिणबिंबइ।
सम्यक्त्वकौमुदी, कविरइधूकृत।
१ देखो, जैन साहित्यसंशोधक खंड २ अंक १ पृ० ८० ।

णिम्माविश्र भवंवुहि जाण वत्तु,
रयणत्तयजुय जुय पास जुत्त ।
कारिय पइट्ठ जिण समयदिट्ठ,
श्रवलोइ वि सयल सचित्त हिट्ट ।
विज्जुल चंचल लच्छी सहाउ,
श्रालोइवि हुउ जिणधम्मभाव ।
जिण गंथु लिहाविउ लक्ख एक्कु,
सावय लक्खाहारातिरिक्कु ।
मुणि भोयणु भुंजाविय सहासु,
चउवीस जिणालउ किउ सुभासु ।

—श्रादिपुराणलेखकप्रशस्ति ।

ये पद्मसिंह ग्वालियरके निवासी थे और देव-शास्त्र-गुरुके भक्त थे और विपुल धनादिसे सम्पन्न थे, तभी वे जैनधर्मके प्रचारमें अपने द्रव्यका सदुपयोगकर पुण्यका अर्जन कर सके है। और उन्होंने अपनी चंचला लक्ष्मीका जो सदुपयोग किया, वह सब अनुकरणीय है। उनमें अतिथि-सत्कारकी भी सुदृढ भावना थी, यही कारण है कि वे मुनियों अथवा अन्य साधर्मी श्रावकोंको भोजन कराकर आहार करते थे।

(८) भ० गुणभद्रने संघवइ (संघपति) उद्धरणके जिनालयमें ठहरकर लब्धिविधानकथाकी रचना साहु सारंगदेवके पुत्र देवदासकी प्रेरणासे की थी? जिससे स्पष्ट है कि संघपति उद्धरणने जिनमंदिर भी बनवाया था

इस तरह जैन साहित्य और उसकालके मूर्ति लेखोंके संकलन करनेसे तात्कालिक सन्तजनों, राजाओं, मंत्रियों और राजश्रेष्ठियों वगैरहके इतिवृत्तका और उनके द्वारा होनेवाले महत्वपूर्ण कार्योंका इतिवृत्त लिखा जा सकता है। इन सब उद्धरणों आदि परसे ग्वालियरकी महत्ताका अनुमान लगाया जा सकता है।

ग्रन्थरचनाके कतिपय उल्लेख

विक्रमकी १०वीं शताब्दीसे १८वीं शताब्दी तक भट्टारकों, आचार्यो और विद्वानोंकी जो परम्परा ग्वालियर और उसके सूबों तथा पासके विभिन्न राजाओंके शासनकालमें रही है, अभीतक उसका पूरा इतिवृत्त प्राप्त नहीं है। इसीसे शृंखलाबद्ध कोई इतिहास सामग्रीके अभावमें नहीं लिखा जा सकता। जो कुछ सामग्री संकलित की जा सकी उसीके आधारसे यह लेख लिखा गया है।

ग्वालियरमें भट्टारकोंकी पुरानी गद्दी रही है, वहां विविध साहित्यकी सृष्टि और अनेक मंदिर-मूर्तियोंका निर्माण आदि कार्य भी सम्पन्न हुआ है। वहांकी भट्टारक-परम्पराका भी पूरा इतिवृत्त ज्ञात नहीं है। फिर ग्रन्थरचनादिके सम्बन्धमें जो कुछ उल्लेख प्राप्त हुए है उन्हें नीचे दिया जाता है:—

विक्रमकी १५ वीं और १७ वीं शताब्दीमें भट्टारक यश-कीर्ति, कवि रइधू, भ० गुणभद्र, कवि पद्मनाभकायस्थ, कवि परिमल और कवि ब्रह्म-गुलालने जो भट्टारक जगभूषणके शिष्य थे, त्रेपन-क्रिया और कृपणजगावनचरित आदि कितने ही ग्रंथोंकी रचना सं० १६६५ और १६७१ के मध्यमें की है।

(१) विक्रमकी १५ वीं शताब्दीके उपान्त्य समयमें भ० यशःकीर्तिने वि० सं० १४९७ वे में पाण्डवपुराण और सं० १५०० में हरिवंशपुराणकी रचना अपभ्रंश भाषामें की है। तथा जिनरात्रि-कथा और रविव्रतकथा भी इन्हींकी बनाई हुई है। चन्द्रप्रभचरित भी इन्हीं यशःकीर्तिका बनाया हुआ कहा जाता है। स्वयंभूदेवके 'हरिवंशपुराण' की जीर्ण-शीर्ण खंडित प्रतिका समुद्धार भी इन्होंने किया था। यह भ० गुणकीर्तिके लघुभ्राता और शिष्य थे।

(२) कवि रइधूने, जो हरिसिंह संघवीके पुत्र थे। इनकी जाति पद्मावतीपुरवाल थी। इन्होंने भ० यशःकीर्तिके प्रसादसे अनेक ग्रन्थोंकी रचना वि० सं० १४९२ में लेकर सं० १५२१ से पूर्व तक की है। इनकी अभी तक २३ कृतियोंका पता चला है जिनमें २०

कृतियां अभी तक मेरे देखनेमें आई है, शेष तीन कृतियां और भी अन्वेषणीय है। इनके विशेष परिचयके लिये 'वर्णी अभिनन्दन' ग्रन्थ देखना चाहिये।

(३) भ० गुणभद्र, जो भ० मलयकीर्तिके शिष्य थे उन्होंने अपभ्रंश भाषामें छोटी छोटी १५ कथाओंकी सृष्टि की है[1]। इनका समय वि० की १६ वीं शताब्दीका पूर्वार्द्ध है।

(४) कवि परिमलने सं० १६५१ में, जो ग्वालियरके निवासी थे, आगरेमें आकर श्रीपालचरितकी रचना की है। इसके सिवाय और भी ग्रन्थोंका वहां निमाण हुआ है। जिनके सम्बन्धमें मेरा अन्वेषणकार्य चालू है, प्राप्त होनेपर उनका परिचय भी करानेका प्रयत्न किया जावेगा।

इसके अतिरिक्त ग्रंथोंकी अनेक प्रतिलिपियां वहां हुई एवं कराई है और ब० पद्मसिंहके द्वारा एक लक्षग्रन्थ लिखवानेका उल्लेख भी ऊपर किया जा चुका है। उसके सिवाय और भी बहुतसे ग्रन्थ समय समयपर लिखवाए गये है। वि० सं० १४८६ में भ० यशःकीर्तिने राजा डूंगरसिंहके राजकालमें कवि श्रीधरका 'सुकमालचरिउ' और विबुध श्रीधरका संस्कृत भविष्यदत्तचरितकी प्रतिलिपि अपने ज्ञानावरणीय कर्मके क्षयार्थ करवाई थी। सं० १५२१ में ज्ञानार्णव और महाकवि पुष्पदन्तके आदिपुराण आदि अनेक ग्रन्थोंकी प्रतिलिपियां कराई गई है। इनके अतिरिक्त और भी अनेक ग्रन्थोंकी प्रतिलिपियां की गई है जो यत्र तत्र भंडारोंमें उपलब्ध होती है। ग्वालियरके स्वय भट्टारकीय शास्त्रभंडारमें सहस्रों ग्रन्थ है जिनकी प्रतिलिपियां भी प्रायः वहां हुई है। वहां शांतिनाथमंदिरके शास्त्रभंडारमे 'ज्ञानार्णव' और आचार्य वीरनन्दिके 'चन्द्रप्रभ चरित' की सुन्दर एवं शुद्ध प्रतिलिपियां मौजूद है। इनके सिवाय लश्करकी तेरापंथी और बीसपंथी मन्दिरोंके शास्त्रभंडारोंमें भी अनेक हस्तलिखित ग्रन्थ है जिनमें अधिकांश वहां ही प्रतिलिपि किये गए हैं।

श्वेताम्बरसम्प्रदायमें भी ग्वालियरका कम महत्व नहीं है। पूर्वकालमें ग्वालियर राज्यकी जो सीमा थी उसमें वर्तमान भरतपुर स्टेटका बयाना ग्राम, जो पहले कभी बड़े नगरके रूपमें रहा है और जिसका प्राचीन नाम 'श्रीपथायां पुरि' अर्थात् श्रीपथपुरि अथवा श्रीपथ नामका नगर था, ग्वालियर राज्यकी सीमाके अन्दर अन्तर्निहित था। यह बयाना दूबकुण्डसे ८० मील उत्तरमें है। दूबकुण्डके उस शिलालेखमें उल्लिखित राजा विजयपाल जो संभवतः विजयाधिराजके नामसे ख्यात थे, बयानाके शासक थे। इनके राज्यकालमें सं० ११०० का एक शिलालेख, जो कम्पाकगच्छके श्वेताम्बराचार्य श्रीमहेश्वर सूरिके समय लिखा गया है, इंडियन एण्टीक्वेरीमें प्रकाशित हुआ है।

प्रभावकचरितसे ज्ञात होता है कि ग्वालियरमें २३ हाथ उन्नत मंदिरमें भगवान महावीरकी लेप्यमय प्रतिमा विराजमान की गई थी[1]।

कहा जाता है कि ११ वीं शताब्दीके विद्वान् प्रद्युम्नसूरिने अपनी वादशक्तिसे ग्वालियरके तत्कालीन राजाको अनुरंजित किया था। और विक्रमकी १२ वीं शताब्दीके विद्वान वादिदेवसूरिने गंगाधर नामक किसी ब्राह्मण विद्वानको वादमें पराजित किया था। इनके सिवाय सकलतीर्थस्तोत्रमें भी ग्वालियरको तीर्थके रूपमें उल्लेखित किया गया है जिनसे स्पष्ट है कि ग्वालियरकी श्वेताम्बर साहित्यमें भी प्रसिद्धि रही है।

उपसंहार

ऊपरके इस सब विवेचनपरसे पाठक यह भली भांति जान सकते है कि जैन पुरातत्वमें ग्वालियरका कितना महत्वपूर्ण स्थान है। और वहांकी पुरातत्वविषयक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक सामग्रीको लक्ष्यमें रखते हुए यह निष्कर्ष निकालना अधिक सुसंगत है कि ग्वालियर जैनसंस्कृतिका प्रभावशाली केन्द्र रहा है।

---

1 देखो, अनेकान्त वर्ष ८ किरण ६-७ में प्रकाशित 'अपभ्रंशकथाका जैन साहित्य'।

1 तथा गोप्यगिरौ लेप्यमयबिम्बयुतं नृपः।
श्रीवीरमन्दिरं तत्र त्रयोविंशतिहस्तकम् ॥

ऐतिहासिक भारतकी आद्य मूर्तियां

जैन, बौद्ध या हिन्दू

(ले०— श्री बालचन्द्र जैन, एम० ए०)

—*—

मूर्तिनिर्माणके दो ही उद्देश्य हो सकते हैं—प्रथम तो किसी अमूर्त भावको मूर्त रूप देना और द्वितीय, किसीकी स्मृतिको स्थायी बनाए रखना। भासकी कृतिसे हमें ज्ञात होता है कि प्राचीनकालमें देवकुल बनाए जानेकी प्रथा थी। इन देवकुलोंमें स्थानीय राजवंशोंके प्रतापी राजाओं की मूर्तियां स्थापित की जाती थीं। यह तो नहीं कहा जा सकता कि इन देवकुलोंमें स्थापित मूर्तियोंकी पूजा होती थी कि नहीं, पर इतना अवश्य ज्ञात हो सका है कि राजाकी मृत्युके पश्चात ही उसकी मूर्तिका निर्माण होता था और वह देवकुलमें रखी जाती थी। एक घटना मिलती है कि कुमार भरतको महाराज दशरथकी मृत्युकी प्रथम सूचना देवकुलमें ही मिली थी जहां उन्होंने अन्य पूर्वजोंके साथ महाराज दशरथकी मूर्ति भी देखी। देवकुलोंके अस्तित्वके ऐतिहासिक प्रमाण मथुरा प्रान्तसे प्राप्त कुषाणवंशी राजाओंकी मूर्तियों तथा परखम और पटनाकी अजातशत्रु और नन्दिवर्धनकी मूर्तियोंमें मिलते हैं।

अजातशत्रु और नन्दिवर्धनकी मूर्तियोंके संबंधमें विद्वानोंमें मतभेद है। ये किसकी मूर्तियां हैं और किस कालकी हैं। इसपर भिन्न भिन्न विद्वानोंने भिन्न भिन्न प्रकारसे विचार किया है और उनके निर्णय भी भिन्न हैं। कुछ भी हो, मूर्तिके रोबीले आकार, उच्चकाय, शैलीकी प्राचीनता और अङ्कित लिपि तथा नामोल्लेखसे इन्हें उन्हीं महान सम्राटोंकी मूर्ति मानना ही पड़ेगा जिन्होंने लगातार अनेक वर्षों एकछत्र राज्य किया और जिनके वैभव और प्रभुत्व का दबदबा उस समय समस्त उत्तर भारतमें था।

अजातशत्रुकी कही जानेवाली मूर्ति पर डा० जायसवालने अजातशत्रु और कुणिक दोनों नाम पढ़े थे जो बौद्ध और जैन ग्रंथोंसे समर्थित हैं। यह अनुमान किया जा सकता है कि कुणिक नामधारी व्यक्तिने ही अपने सामर्थ्य और प्रभुत्वके बलपर अजातशत्रुकी उपाधि ग्रहण की हो।

नन्दिवर्धनका वंशगत धर्म जैनधर्म था। हाथी गुफाके लेखमें 'कलिंगजिन मगध ले जानेका उल्लेख' इस कथन की पुष्टि करता है। चन्द्रगुप्त मौर्यसे पूर्व नन्द समस्त उत्तर भारतका एकछत्र सम्राट था। उसकी शक्ति और सेनाके आतंकसे ही सिकन्दरको पूर्वकी ओर बढ़नेके अपने निश्चयको बदलकर वापस लौटना पड़ा था।

हम यहां मोहेंजोदरो, हड़प्पा तथा सिंधु-सभ्यता के अन्य केन्द्रोंके संबन्धमें चर्चा नहीं करेंगे क्योंकि वहांके धर्मके बारेमें पुरातत्त्व-विज्ञ अभी तक किसी निर्णयपर नहीं पहुँच सके हैं। पर उस संस्कृतिपर भी जैन प्रभाव लक्षित होता है।

ऐतिहासिक भारतकी मूर्तिकलापर दृष्टिपात करनेपर हम देखते हैं कि वैदिक देवताओं तथा राम कृष्ण आदिकी मूर्ति हमें उतनी प्राचीन नहीं मिलतीं जितनीकि जैनतीर्थकरों और बुद्ध तथा बोधिसत्वों की मिलती हैं। 'कौन मेरे इन्द्रको खरीदेगा' इस वाक्यसे यह निर्णय नहीं किया जा सकता कि वैदिक

युगमें इन्द्रकी मूर्तियां बनती थीं। रुद्र या शिवके वैदिक या आर्य देवता न होनेमें तो किसी संशयकी आवश्यकता ही नहीं।

अब हमें देखना यह है कि आद्य मूर्ति-निर्माण में किसे प्रथम स्थान प्राप्त है जैन तीर्थंकरोंको या बुद्ध और बोधिसत्वोंको। सर्वप्रथम हम बुद्धकी प्रथममूर्तिके निर्माणके सम्बन्धमें विचार करेंगे। बुद्धनिर्वाणके शताब्दियों पश्चात् तक बुद्धकी मूर्ति बनानेका एक प्रकारसे निषेध ही रहा, बोधिवृक्ष धर्मचक्र, छत्र, वज्रासन, स्तूप आदि चिन्होंसे ही बुद्धको लक्षित कराया जाता था। बोध गया, भरहुत और सांचीकी ईस्वी पूर्व २री और ३री शती की कलामें कहीं भी बुद्धकी मूर्ति नहीं पाई जाती। इसके बाद गांधार और मथुरामें बुद्ध मूर्तियोंका निर्माण होना प्रारम्भ हुआ। इस बीच अवश्य कोई ऐसा घटना हुई होगी जिसने बुद्धमूर्तिके निर्माणको प्रोत्साहन दिया। मथुराकी बनी मूर्तियोंको तो किसीन भी ईस्वी प्रथम शतीसे पूर्वकी नहीं माना है। उनका समय कुषाणवंशी महाराज हुविष्क(२री शती)का राज्यकाल हो सकता है क्योंकि हम जानते हैं कि मथुरा की कलाप्रवृत्तियोंमें हुविष्कका विशेष सहयोग रहा है। कई विद्वान मथुराकी कलापर गांधार प्रभाव भी मानते हैं। डा० बचफर दोनों शैलियोंको स्वतन्त्र और मौलिक मानते हैं। गांधार कला ईसाका प्रथम शतीमें और मथुरा कला कनिष्कके मथुराको अधिकृत करनेके ठीक बाद ही। दूसरे विद्वान मथुराकी मूर्तिको गांधारमूर्तिसे एक शती उत्तरकी मानते हैं। डाक्टर डब्ल्यू कोन भी मथुराकी मूर्तिको स्वतन्त्र मानते हैं। स्वर्गीय डा० कुमार स्वामीका भी ऐसा ही मत है। सन १९३१ में उन्होंने लिखा था कि गांधार बुद्धमूर्ति ईस्वी सन्के उत्तरकी ही होना चाहिए और उसमें भी एक शती उत्तरकी मथुराकी मूर्ति। डा० स्टेन कोनोका मत है कि गांधार शैली कुषाणयुगमें ही प्रारंभ हुई थी अर्थात् उस समय जब भारतमें यूनानी प्रभाव हर प्रकारसे नष्ट हो चुका था। इसीप्रकार डा० हेल्फेल्डने भी गांधारकलाको यूनानी-बेक्ट्रियन साम्राज्यके शताब्दियों पश्चात्का माना है।

एक बुद्धमूर्तिपर ३१८ वर्ष अंकित है। अनुमान किया जा सकता है कि सेल्यूकसका संवत् होगा। जिसके अनुसार मूर्तिका समय ६ ईस्वी होगा। इसप्रकार गांधारकला मथुराकलासे पूर्वकी प्रतीत होती है। लेकिन भावुकताके वश होकर कई लोग ऐसा भी सोचने लगते हैं कि बुद्धकी प्रथम मूर्ति भारतीयों द्वारा ही बनाई गई होगी।

सिक्कोंपर भी हमें बुद्धकी मूर्ति प्राप्त हुई है। कनिष्कके सिक्कोंपर तो वह स्पष्ट Bodds या बुद्ध नामसे अभिलिखित भी है। लेकिन कनिष्कसे पूर्वके राजा मोग और कुजूल कडफिसके सिक्कोंपर भी बुद्धमूर्ति देखी जाती है।

महाराज मोगका एक सिक्का है जिसमें एक-ओर सूंडमें माला लिए दौड़ता हुआ हाथी और दूसरी ओर सिंहासन या चौकीपर पालथीमारे कोई व्यक्ति बैठा है। इसे राजाकी मूर्ति नहीं कहा जा सकता, जिस वस्तुको तलवार कहा जाता है वह वास्तवमें तलवार नहीं है। हम जानते हैं कि शकोंके अस्त्र भाले और धनुष थे न कि तलवार। सिक्केके दोनों ओरका मिलान कर देनेपर यह निष्कर्ष निकला कि पद्मासन-अवस्थित बुद्धको माला अर्पित करनेके लिए हाथी दौड़ा आ रहा है। कुजूल कडफिसके सिक्केपर सामने बैठे हुए बुद्धकी मूर्ति अंकित है।

इन प्रमाणोंसे हम इस निर्णयपर पहुंचे कि राजा मोगके गान्धार विजयके पूर्व ही गांधारमें बुद्धमूर्तिका प्रचार हो चला था। कोई भी राजा विजयके पश्चात् विजित देशकी प्रजाको यह जतानेके लिये कि मैं तुम्हारा हूं वहांकी सभ्यता संस्कृति तथा अन्य चिन्होंको स्वीकृत कर लेता है। महाराजा मोगने भी ठीक उसीप्रकार शिव और बुद्धको अपने सिक्कोंपर अंकित किया। महाराजा मोगने गांधारप्रदेशको ७०

ईस्वीमें विजित किया।

इस प्रकार गांधार मूर्तिका कम-से-कम प्रथम शती ई० पूर्वका प्रारम्भ होना ही चाहिए और वह मथुराके बुद्धसे कम-से-कम एक शती प्राचीन है।

आद्य बुद्धमूर्तिका समय हम जान चुके ईसा पूर्वकी पहली शती है। लेकिन यदि हम जैन-मूर्ति-निर्माणको देखें तो वह इससे कई शताब्दी पूर्व तककी मिलेगी।

(१) कुशाणवंशी राजाओंके कालकी मथुरासे प्राप्त (ईस्वी शती प्रथम)।

(२) ईस्वी पूर्व दूसरी शतीकी लिपिमें अभिलिखित मूर्ति—मथुरासे प्राप्त।

(३)पटना संग्रहालयमें प्रदर्शित मौर्यकालीन पालिसयुक्त नग्न तीर्थंकरमूर्ति (ईस्वीपूर्व ३री शती।

(४) हाथी गुफाके लेखमें उल्लिखित कलिंग जिनकी मूर्ति, जिसे नन्द अपने साथ मगध लेगया था और फिर खारवेल वापस लाया था (ईस्वी पूर्व ४ थी शती)।

इस प्रकार ऐतिहासिक भारतकी अबतककी ज्ञात मूर्तिकलामें समयकी दृष्टिसे जैन तीर्थंकरोंको प्रथम स्थान प्राप्त है।

वर्णी बापू।

(रचयित्री सौ० चमेलीदेवी जैन, हिन्दीरत्न)

वर्णी बापू ! तुम समाजके महा प्रतिष्ठित मानव हो।
करने को कल्याण सबों का इन्द्रप्रस्थ मे आये हो॥
धन्य मात वह धन्य तात वह जिनने तुम्हें जनाया है।
धन्य देश वह धन्य ग्राम वह जहां जन्म तुम पाया है॥
मात चिरोंजा-उजियारीके, हीरापूत कहाये हो।
ग्राम हंसेरा झांसी मे जनि, जग आनन्द बढ़ाये हो॥
आश्विन वदि की पूत चौथ को, मात-पिता हर्षाये हो।
दिया बड़ों ने आशिष तुमको, धर्मवीर कहलाये हो॥
वैष्णव कुल मे जन्म लिया पर, जैनधर्म तुम पाया है।
मात चिरोंजा ने पाकर तुमको विद्वद्रत्न बनाया है॥
बाबा भागीरथकी संगति से चारित्र बढ़ाया है।
श्रद्धा-ज्ञान-चरित्र-त्रयीका, उत्तम पथ तुम पाया है॥
लोक-जाति-उत्थान करण को, अपना ध्येय बनाया है।
व्याप्त हुआ अज्ञान तिमिरको, तुमने ही तो हटाया है॥
खोले गुरुकुल खोलीं शालां, विद्यालय बहु खोले है।
घूम घूम कर तुमने सबको, ज्ञान महत्व बताया है॥
फैल रही थीं रूढ़ि-रीतियां उन्हें तुम्हीं ने भगाया है।
दे उपदेश मधुर-वाणी का, पान तुम्हीं ने कराया है॥

हिन्द-सैन्यकी रक्षा करने, चादर तुम दे डाली हो।
कर्म-वीर कमठ जन-नायक, महा मान्य कहलाये हो॥
श्रावकके ग्यारह दरजे चढ़कर क्षुल्लक पद तुम पाये हो।
संघ सहित कल्याण मार्गमें सतत लगे औ लगाये हो॥
तुच्छ भेंट भावोंकी लेकर चरणों शीष झुकाये हो।
करनेको कल्याण सबोंका इन्द्रप्रस्थमें आये हो॥

नोट—वर्णी जयन्तिके उपलक्ष्यमें यह कविता रची गई।

वर्णीजी और उनकी जयन्ती

आजके आध्यात्मिक संसारमें श्री १०५ क्षुल्लक पूज्य गणेशप्रसादजी वर्णी न्यायाचार्यका अग्र-स्थान है। आश्विन कृष्ण ४ वीरनिर्वाण-संवत २४७५, ११ सितम्बर १९४९ को देहलीमें आपका ७५ वां जन्म-दिवस बड़ी धूमधामके साथ मनाया गया। आपके व्यक्तित्व और वाणीमें कितना प्रभाव एवं आकर्षण है वह इसीसे मालूम हो जाता है कि आपके उपदेशसे समाजने लाखों रुपयोंका दान किया है और अनेक विद्यालय, गुरुकुल तथा पाठशालाएँ स्थापित की हैं। हालमें आपके जन्म-दिनपर भी महामना दानवीर सेठ शान्तिप्रसादजी जैन डालमियानगरने आपके द्वारा संस्थापित स्याद्वादमहाविद्यालय बनारसके लिये एक लाखका उल्लेखनीय महत्वपूर्ण दान किया है। इसी प्रकार देहली समाजके प्रमुख और वर्णीसंघको उत्तरप्रान्तमें लानेवालोंमें अग्रणी ला० राजकृष्ण प्रेमचन्दजी जैनने भी छात्रवृत्तिफंडके लिये इक्यावन हजारका आदर्श दान दिया है।

हमारे कितने ही जिज्ञासु पाठकोंके हृदयमें यह जिज्ञासा होगी कि वर्णीजी क्या हैं? और क्यों उनका इतना प्रभाव है?

इसका एक ही उत्तर है और वह यह कि पूज्य वर्णीजी महा मानव हैं। जिन विशेषताओं और बातोंसे मानवको महा मानव कहा जाता है वे सब विशेषताएँ और बातें पूज्य वर्णीजीमें पाई जाती हैं। बौद्धोंके एक प्राचीन ग्रन्थमें बुद्ध और आनन्दके संवादमें एक उल्लेखनीय प्रश्नोत्तर आया है। आनन्दने[1] बुद्धसे प्रश्न किया कि "महापुरुष किसे कहते हैं और उसका क्या लक्षण है?" बुद्धने उत्तर दिया कि "जो लोकापवादसे नहीं डरता है, सत्यका अनुयायी है, अपार करुणाका आगार है और जगतका कल्याण करनेके लिये सतत यह भावना भाता है कि 'मैं जगतका हित करनेके लिये बुद्ध बनूं'—'बुद्धो भवेयं जगतो हिताय'। वह महापुरुष है।" यही बातें पूज्य वर्णीजीमें पाई जाती हैं।

लोकापवादपर विजय

कोई पच्चीस-तीस वर्ष पहलेकी बात है। पूज्य वर्णीजीने समाज-सुधारका एक आन्दोलन यह उठाया कि विवाहमें—बरात और फेनारोंमें औरतें न जायें, क्योंकि यह एक अच्छी प्रथा नहीं है और उससे व्यर्थ अपव्यय होता है। परन्तु वर्णीजीके सद्भावनापूर्ण इस आन्दोलनके विरुद्ध नीमटोरिया (झांसी)में एक बरातमें औरतें गईं। जब वर्णीजीको मालूम हुआ तो वे वहां पहुंचे और सारी औरतोंको वापिस कराया। इसकी औरतोंके चित्तपर बुरी प्रतिक्रिया हुई। उन्होंने विवेक खोकर वर्णीजीको भारी गालियां दीं, भला-बुरा कहा और खूब कोसा। किन्तु वर्णीजीके मनपर उसका कोई असर

[1] आनन्द महात्मा बुद्धका प्रिय और प्रधान शिष्य था।

नहीं हुआ—उनके दिलमें रत्ती भर भी क्रोध या रोषकी मात्रा उदित नहीं हुई। परिणाम यह हुआ कि कुछ समयके बाद उन औरतोंने अपने किये पर बड़ा पश्चात्ताप किया और गलती महसूस की। आज फलतः सारे बुन्देलखण्डमें बरातोंमें औरतोंका जाना प्रायः सर्वथा बन्द होगया है।

अभी उस दिन कुछ गुमराह भाइयोंने एक परचा निकाला और उसमें पूज्य वर्णीजीको पूंजीपतियोंका हामी (समर्थक) बतलाया। जब यह बात वर्णीजीको मालूम हुई तो वे हंसकर सौम्य भाषामें बोले—'भइया! मैं तो त्यागी हूं और त्यागका ही उपदेश देकर सबको त्यागी बनाता हूं। पूंजीपतियोंसे भी पूंजीका त्याग कराना चाहता हूं और उन्हें त्यागी बनाना चाहता हूं।' यह कितना मधुर और सात्विक उत्तर उन भाइयोंको दिया। वास्तवमें वर्णीजीको क्या पूंजीपति क्या अपूंजीपति, क्या विद्वान क्या मूर्ख, क्या स्त्री क्या पुरुष, क्या बालक क्या वृद्ध सभासे अपार वात्सल्य और धर्मानुराग है। वे सबका कल्याण चाहते हैं और समान भावसे सबको उपदेश देते हैं। गांधीजीके लिये बिड़ला जैसे व्यक्ति स्नेह-पात्र थे, तो इसका मतलब यह नहीं कि वे गरीबोंकी उपेक्षा करते थे, उनपर स्नेह नहीं करते थे। सच बात तो यह है कि उनका समूचा जीवन ही गरीबों-की सेवा और उनकी गरीबी दूर करनेमें बीता है। उन्हें अमीर और गरीब दोनोंपर स्नेह और प्रेम था। यही बात पूज्य वर्णीजीमें है। हमें बुन्देलखण्डका स्वयं अनुभव है। वहां गरीबोंका जितना हित और सेवा पूज्य वर्णीजीने की है उतनी दूसरोंने नहीं की। उन्होंने गरीब विद्यार्थियों, उद्योगहीनों और निराश्रि-तोंकी सतत सहायता की और कराई है। अब तो वे सारे भारतकी विभूति बन गये है। और प्राणिमात्रके कल्याणमें उद्यत हैं। उनका अपार वात्सल्यभाव और मन्दकषायभाव अतुलनीय एवं अचिन्तनीय है। लोकापवादकी ऐसी-ऐसी अनेक घटनाएं उनपर घटित हुई हैं पर वे उनपर विजयी हुए और उनसे डरे नहीं।

सत्यानुसरण

पूज्य वर्णीजी वैष्णव कुलमें उत्पन्न हुए है, किंतु उन्होंने अमूढदृष्टि और परीक्षकबुद्धिसे जैनधर्मको आत्मधर्म एवं सत्यधर्म मान कर उसे अपनाया है। उनका विवेक और श्रद्धा कितनी जागृत और सुलझी हुई है, यह बात एक निम्न घटनासे मालूम होजाती है। पिछले दिनों जब वर्णीजी सहारनपुर पहुँचे तो वहां एक विशाल सार्वजनिक सभामें उपदेश करते हुए उनसे एक अजैन भाईने प्रश्न किया कि 'जिन विशे-षताओंके कारण आपने जैनधर्म ग्रहण किया है क्या वे विशेषताएँ आपको हिन्दू धर्ममें नहीं मिलीं।' वर्णीजीने इसके उत्तरमें कहा कि 'जितना सूक्ष्म और विशद विचार तथा आचार हमें जैनधर्ममें मिला है उतना षड्दर्शनोंमेंसे किसीमें भी नहीं मिला।' यदि हो तो बतलायें, मैं आज ही उस धर्मको स्वीकार करलूं। परन्तु मैंने सब दर्शनोंके आचार-विचारों-को गहराईसे देखा और जाना है मुझे तो एक भी दर्शनमें जैनधर्ममें वर्णित अहिंसा और अपरिग्रहका अद्वितीय एवं सूक्ष्म आचार-विचार नहीं मिला इसीसे मैंने जैनधर्म स्वीकार किया है। यदि सारी दुनिया जैनधर्म स्वीकार करले तो एक भी लड़ाई-झगड़ा न हो। जितने भी लड़ाई-झगड़े होते हैं वे हिंसा और परिग्रहको लेकर ही होते हैं। संसारमें सुख और शान्ति तभी हो सकती है जब अहिंसा और अप-रिग्रहका आचार-विचार सर्वत्र होजाय।' यह है पूज्य वर्णीजीका विवेक और श्रद्धापूर्वक किया गया सत्या-नुसरण। स्वामी समन्तभद्रने आप्तकी परीक्षा करके उन्हें अपना उपास्य माना है। वास्तवमें परीक्षकमें दो गुण होते हैं, श्रद्धा और गुणज्ञता (विवेक)। इन दोके बिना परीक्षक नहीं हो सकता है। पूज्य वर्णीजीमें हम दोनों गुण देखते हैं और इसलिये म० बुद्धके शब्दोंमें उन्हें 'सत्यका अनुयायी' पाते हैं।

अपार करुणा

पूज्य वर्णीजी कितने कारुणिक और पर-दुःख-कातर हैं यह उनकी जीवनव्यापी अनेक घटना-

ओंसे प्रकट है। उनकी करुणाकी न सीमा है, न पार है। जो अहिंसक और सन्मार्गगामी है उनपर उनका वात्सल्यभावरहता ही है किन्तु जो अहिंसक और सन्मार्गगामी नहीं हैं—हिंसक तथा कुमार्गगामी है उनपर भी उनकी करुणाका प्रवाह सविशेष वहा करता है। वे देशके ही नहीं सारी दुनियाके किसी भी व्यक्तिको दुखी देख कर दुःख-कातर हो जाते है, उसके दुखःमोचनकी भावना करने लगते है। गत विश्वयुद्धकी विनाशपूर्ण खबरोंको सुनकर उन्हें मर्मान्तक दुःख होता था और उनकी करुणाका प्रवाह बहने लगता था। सन ४५में जब आजाद-हिन्द-फौजके सैनिकोंके विरुद्ध राजद्रोहका अभियोग लगाया गया और उन्हें फांसीके तख्तपर चढ़ाया जाने वाला था उस समय सारे देशमें सरकारके इस कार्यका विरोध हो रहा था और उनकी रक्षाके लिये धन इकट्ठा किया जा रहा था। जबलपुरमें एक सार्वजनिक सभामें, जो इसी लिये की गई थी, पूज्य वर्णीजीका हृदय करुणासे भर आया और बोले—'जिनकी रक्षाके लिये ४० करोड़ मानव प्रयत्नशील हैं उन्हें कोई शक्ति फांसीके तख्तेपर नहीं चढ़ा सकती। आप विश्वास रखिये, मेरा अन्त करण कहता है कि आजाद-हिन्द-सैनिकोंका बाल भी बांका नहीं हो सकता है।' इतना कहा और अपनी चादर भी उनकी सहायताके लिये दे डाली जिसका उपस्थित जनता और अध्यक्ष मध्यप्रान्तके गृहमन्त्री पं० द्वारकाप्रसाद मिश्रपर बड़ा ही प्रभाव पड़ा। कहनेका तात्पर्य यह कि पूज्य वर्णीजीका हृदय करुणासे भरा हुआ है और इसलिये वे करुणाके आगार है। वास्तवमें जिसका हृदय इस प्रकारकी करुणासे भरा हुआ होता है वे ही अपायविचय धर्मध्यानका चिन्तवन कर पाते है और वे ही तीर्थंकर (जनतोद्धारक) बनते है।

जगत्कल्याणकी सतत भावना

पूज्य वर्णीजीमें अपार करुणाके सिवाय जगत्कल्याणकी भी सतत भावना रहती है। हर समय और हरेक अवसरपर प्राणिमात्रको अपना आत्म-कल्याण करनेके लिये वे प्रेरणा करते है और अपना मर्मस्पर्शी उपदेश देते है। विहारप्रान्तसे मध्यप्रांत, यू० पी० और देहली तक पैदल यात्रा करके जो उन्होंने लाखों व्यक्तियोंको धर्मोपदेश किया है और उन्हें सदाचारके मार्गमें लगाया है वह उनकी जगत्कल्याणकी भावनाका ही सुफल है। आज जब एक जगहसे दूसरी जगह जानेके लिये अनेक साधन है उस समय उन्होंने पैदल चलकर भारतीय प्राचीन सन्तोंका ही श्रेष्ठ आदर्श उपस्थित किया है। इतिहासमें यह उल्लेखनीय इतनी लम्बी पैदल यात्रा और ने भी की हो, यह ज्ञात नहीं। पर पूज्य वर्णीजीकी यह लम्बी पैदल-यात्रा इतिहासमें सदा स्मरणीय रहेगी। साथमें उनकी यह जगत्कल्याणकी भावना भी। आजके विश्वको त्रस्त देखकर वे हमेशा कहा करते है कि 'एक हवाईजहाज लो, और साथमें दस-पन्द्रह मर्मज्ञ विद्वानोंको और यूरोपमें जाकर अहिंसा और अपरिग्रह धर्मका प्रचार करो। साथमें हम भी चलनेको तैयार है। जहां शराब और मांस की दूकाने है और नाचघर बने हुए है वहां जा कर सदाचार और अहिंसाका उपदेश करो। आज लोगोंका कितना भारी पतन हो रहा है। देशके लाखों मानवोंका चरित्र बिगड़ रहा है उन्हें सच्चा मार्ग दिखाओ।' यह है पूज्य वर्णीजीकी जगत्कल्याणकी भावना और हार्दिक मर्मस्पर्शी उपदेश।

पूज्य वर्णीजीमें ऐसे-ऐसे अनेक गुण है जिनका यहां उल्लेख करना शक्य नहीं है। संक्षेपमें, उनका जीवनचरित्र महापुरुषका जीवनचरित्र है और इसलिये उन्हें करोड़ों नर-नारी महान् सन्त एवं महापुरुष मानते है और अपनी श्रद्धाञ्जलि उनके चरणोंमें अर्पित करते है। हम भी उनके चरणोंमें अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते है। और भावना करते है कि वे चिरकाल तक हम लोगोंके मध्यमें रहकर हमें आत्मकल्याणके मार्गमें लगाते रहें।

—दरबारीलाल कोठिया।

साहित्य-परिचय और समालोचन

[इस स्तम्भमें समालोचनार्थ आये नये ग्रन्थादि साहित्यका परिचय और समालोचन किया जाता है। समालोचनाके लिये प्रत्येक ग्रन्थादिकी दो-दो प्रतियां आना जरूरी है। —सम्पादक]

आमेर-शास्त्रभण्डार जयपुरकी ग्रन्थ-सूची—सम्पादक पं० कस्तूरचन्द्रजी शास्त्री एम० ए०, प्रकाशक रामचन्द्रजी-खिन्दूका मंत्री श्रीदि०जैन महावीर तीर्थक्षेत्र कमेटी महावीरपार्करोड, जयपुर। पृष्ठ-संख्या २१८, मूल्य पांच रुपया।

प्रस्तुत ग्रन्थका विषय उसके नामसे स्पष्ट है—इसमें भट्टारकमहेन्द्रकीर्ति-आमेरशास्त्र-भंडारके हस्तलिखित ८०० तथा महावीरक्षेत्रभंडारके ३०० ग्रन्थोंकी सूचीका संग्रह किया गया है। प्राचीन समयमें आमेरको जयपुर राज्यकी राजधानी बननेका भी सौभाग्य प्राप्त हुआ था; परन्तु खेद है कि आज वह अनेक जीर्ण-शीर्ण खंडहरोंको लिये हुए कालकी विचित्र परिणतिकी ओर संकेत कररहा है। यह नगर पहाड़ोंकी त्रिकोणमें नीचे जयपुरसे ७ मीलकी दूरीपर बसा हुआ है। अनेक बडी-बड़ी अट्टालिकाएँ धराशायी पड़ी है और वे खंडहर नगरकी प्राचीनताके सद्योतक तथा-उत्थान-पतनके स्पष्ट प्रतीक है। यहाका किला भी कलाकी दृष्टिसे बड़े महत्वका है। यहां कई जैनमन्दिर और एक नशियां जी भी है। उन सब मन्दिरोंमें एक मन्दिर प्रमुख है जो जैनियोंके बाईसवे तीर्थंकर भगवान् नेमिनाथका है जिसे 'सांवला' जीके नामसे पुकारा जाता है। इस मन्दिरकी भीतरी शिखरका भाग और एक वेदीपरका सोनेका कार्य दोनों ही दर्शनीय है। इसी मन्दिरमें भट्टारक महेन्द्रकीर्तिका उक्त शास्त्रभंडार है जिसे मैंने सन् ४४ में देखा था और जिसके सब ग्रन्थोंको महावीरतीर्थक्षेत्रकमेटीके मंत्री और पं० चैनसुखदासजीके सौजन्यसे आमेरसे लाकर जयपुर सेठ बधीचन्दजीके मकानके एक कमरेमे रक्खा थे। उन्हींपरसे तथा अतिशयक्षेत्र महावीरजीके शास्त्रभण्डार ग्रन्थोंपरसे ही इस सूचीका निर्माण किया गया है। यद्यपि इस सूचीमें खटकने योग्य त्रुटियाँ है परन्तु फिर भी महावीरतीर्थक्षेत्रकमेटीकी ओरसे साहित्य प्रकाशनका यह कार्य अभिनन्दनीय है।

सूचीमें उल्लिखित अपभ्रंश भाषाका जो भी अप्रकाशित साहित्य है कमेटीको चाहिये कि वह उसे प्रकाशित करनेका शीघ्र प्रयत्न करे, जिससे अपभ्रंश भाषाके उत्थान-पतनके इतिवृत्त लिखनेमें सहायता मिल सके। साथ ही, हिन्दीकी जननी देशी-भाषाका, जिसे 'अवहट्ट' या अपभ्रंश कहा जाता है, प्रामाणिक इतिहास जनताके सामने आसके। सूचीकी सफाई साधारण है परन्तु मूल्य ५) रुपया कुछ अधिक प्रतीत होता है। पुस्तक अन्वेषक विद्वानोंके बड़े कामकी है। —परमानन्द जैन।

वीरसेवामन्दिरकी विशेष बैठक

२ अक्तूबर १९४१ को जैनमन्दिर न्यू देहलीमें वीरसेवामन्दिरकी श्री १०५ क्षुल्लक पूज्य गणेशप्रसादजी वर्णी न्यायाचार्यकी अध्यक्षतामें एक विशेष बैठक बुलाई गई थी, जिसमें बा० छोटेलालजी जैन कलकत्ता, ला० कपूरचन्दजी कानपुर, पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार अधिष्ठाता वीरसेवामन्दिर, बा० जयभगवानजी वकील पानीपत, ला० जुगलकिशोरजी कागजी देहली, पं० वंशीधरजी व्याकरणाचार्य बीना, पं० राजेन्द्रकुमारजी जैन न्यायतीर्थ देहली, ला० रघुवीरसिंह प्रेमचन्दजी देहली, रायसाहब ला० उल्फतरायजी देहली, ला० पन्नालालजी अग्रवाल देहली, सेठ बैजनाथजी सरावगी कलकत्ता, ला० श्यामलालजी न्यू देहली, ला० प्रेमचन्दजी देहली, पं० दरबारीलालजी कोठिया-न्यायाचार्य देहली, पं परमानन्दजो शास्त्री देहली, श्रीबालचन्दजी एम० ए० शास्त्री देहली आदि महानुभाव उपस्थित थे। बैठकमें अनेक महत्वपूर्ण विषयोंपर विचार हुआ और वीरसेवामन्दिरकी प्रबन्धसमिति तथा कार्यसमितिके सदस्योंका नया चुनाव हुआ जिसका विशेष विवरण अगले अंकमें प्रकाशित होगा।

—संवाददाता

सिद्धचक्रविधान भेंट

हालमें हमने विधि और मन्त्रादि सहित सिद्धचक्रविधान प्रकाशित कराया है जिन मन्दिरोंके लिये उसकी जरूरत होवे लिखकर हमसे मंगा लेवें।

—ला० रघुवीरसिंह प्रेमचन्द जैन,
जैनावाच कम्पनी, सदर बाजार, देहली

वीरसेवामन्दिरको प्राप्त सहायता

अनेकान्तकी गत किरण १में प्रकाशित सहायताके बाद वीरसेवामन्दिरको जो सहायता प्राप्त हुई है वह क्रमशः निम्न प्रकार है और उसके लिये दातार महानुभाव धन्यवादके पात्र हैं:—

१११) पं० सागरचन्दजी जैन, धर्मपुरा, देहली

१००) बा. सुरेन्द्रनाथ नरेन्द्रनाथजी जैन, कलकत्ता (बा. नरेन्द्रनाथकी अस्वस्थताके कारण निकाले हुए दानमेंसे वीरसेवामन्दिर ग्रन्थमाला को)।

५) मुन्शी सुमेरचन्दजी जैन अरायजनवीस देहली (माताजीके स्वर्गवासके अवसरपर निकाले हुए दानमेंसे)।

११) पं० मक्खनलालजी जैन (प्रचारक) देहली।

११३) दिगम्बर जैनसमाज मुरादाबाद, मार्फत पं० दरबारीलालजी कोठिया न्यायाचार्यके मयसफर खर्च १२) के

५०) सेठ जगन्नाथजी जैन पांड्या माइकामाइन्स ओनर झूमरीतलैया (हजारीबाग), मार्फत पं० गोविन्दराम जैन न्यायतीर्थ।

४) जैन पंचायत किशनगढ़ (जयपुर)।

३९४)

अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर'

अनेकान्तको प्राप्त सहायता

गत किरण नं० ११-१२, वर्ष ९ में प्रकाशित सहायताके बाद अनेकान्तको जो सहायता प्राप्त हुई है वह निम्न प्रकार है और उसके लिये दातार महानुभाव धन्यवादके पात्र हैं:—

५) श्री सेठ गेंदीलालजी गंगवाल जयपुर, पुत्र विवाहोपलक्ष्यमें मार्फत पं० भँवरलालजी शास्त्री।

२) श्रीमंगतरामजी साधु बुलन्दशहर पौत्रीके विवाहोपलक्ष्यमें।

११) श्रीमाणिकचन्दजी गाँधी फल्टण (सतारा) स्व. श्री १०५ क्षुल्लक वीरसागरजी (वीरचंद कोदरजी गाँधी) के स्वर्गवास पर।

११) ला० बनवारीलालजी जैन, मुहल्ला इमली, देहली।

२९)

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

Regd. No. D. 397

प्रकाशक- परमानन्द जैन शास्त्री, वीरसेवामंदिर ७/३३ दरियागंज देहली, मुद्रक- अजितकुमार जैन शास्त्री, अकलंकप्रेस, सदरबाजार, देहली।

अनेकान्त

वर्ष १०] अक्टूबर-नवम्बर, १९४९ [किरण ४-५

सम्पादक
जुगलकिशोर मुख्तार

सहायक सम्पादक
दरबारीलाल न्यायाचार्य

—: विषय-सूची :—

श्रीमाताजीका वियोग !

अपने और वीरसेवामन्दिरके बहुत बड़े प्रेमी श्रीमान् बाबू छोटेलालजी और बाबू नन्दलालजी जैन कलकत्ताके पत्रोंसे यह मालूम करके चित्तको बड़ा ही आघात पहुंचा कि उनकी पूज्य श्रीमाताजीका अगहन (मंगसिर) सुदि एकादशी ता० १ दिसम्बर बृहस्पतिवारको रात्रिके २॥ बजे ८५-८६ वर्षकी अवस्थामें समाधिमरणपूर्वक स्वर्गवास हो गया है ! माताजी यद्यपि वृद्धावस्था आदिके कारण कुछ अर्सेसे बीमार चल रही थीं परन्तु अपने धर्म कर्ममें सदा सावधान रहती थीं, उनकी आत्मा बड़ी बलवान थी और उन्होंने अन्तमें बड़ी ही वीरताका परिचय दिया है। आपने अपना मरण निकट समझकर ४५ दिन पहलेसे अन्नका, २० दिन पहलेसे दूधका और ७-८ दिन-पहलेसे जलका भी त्याग कर दिया था। साथ ही सब सम्बन्धियों तथा परिग्रहसे भी अपना मोह हटा लिया था और अपनी सारी धन-सम्पत्तिको सत्कार्योंके लिये दान कर दिया था। अन्त समय तक आप बराबर श्री जिनेन्द्रदेवका स्मरण और धर्मका श्रवण करती रही हैं। ब्रह्मचारी भगतजी और ब्रह्मचारिणी चमेलीबाईजी दोनों आपको बड़ी तत्परताके साथ नित्य धर्म-श्रवण कराते थे। अन्तमें श्रीबाहुबलीजीकी प्रतिमाके दर्शनार्थ जिस समय आपने अपने हाथ जोड़े उसी क्षण आपका प्राणपखेरू उड़ गया !!! कितना सुन्दर तथा ईर्षाके योग्य मरण है ! ऐसे सन्मरणका फल परलोकमें सद्गतिका होना अवश्यंभावी है। आप सात पुत्रोंकी माता, बड़ी भाग्यशालिनी तथा बहुत ही सज्जनस्वभावकी महिलारत्न थीं और आपका बहुत बड़ा कुटुम्ब तथा परिवार है। सबसे एकदम मोह छोड़ कर इसतरह अपने आत्मार्थको साधना कोई कम वीरताका काम नहीं है। आपके इस वियोगसे बाबू छोटेलालजी आदिको जो भारी दुःख पहुँचा है उसकी कल्पना नहीं की जासकती। बाबू छोटेलालजी भाई गुलजारीलालजी सहित अपनी चिकित्साके लिये जयपुर थे, उन्हें अन्त समयमें मातृसेवासे वंचित रहना पड़ा, इसके लिये बड़ा ही खेद हुआ। आप दुःखके साथ लिखते हैं—

"मुझे तो जितना बड़ा दुलार और स्नेह माताजीसे मिलता रहा है उसे मैं क्या लिखूं। आज मैं अपनेको सर्वहारा समझ रहा हूं। मेरा निरोगताके लिये वह दिवारात्रि श्रीपार्श्वप्रभुसे प्रार्थना करती रहती थीं। कल संध्याको कलकत्तासे जो पत्र आया था उसमें भी यही लिखा था कि 'मॉजीने कहा है कि छोटेलालको लिख दो कि वह अभी न आवे—पूर्ण स्वस्थता प्राप्तकर ही आवे' और पत्रके बाद कल ही रातको उनके स्वर्गवासका तार आगया। बाबूजी, मैं क्या लिखूं मेरे हृदयपर तो वज्रपात-सा हो गया ! रह-रहकर उनकी स्नेहमई बातें मुझे याद आरही हैं। शक्तिहीन होनेपर भी मेरी बीमारीके समय मेरे शरीरपर हाथ फेरती थीं और कहती थीं कि बेटा, मॉका हाथ शान्ति करता है। बड़ा आश्वासन देती रहती थीं बड़ी शान्तिके साथ। क्या लिखूं, आज तो इतना सदमा पहुंचा है कि मैं सम्हल नहीं पा रहा हूँ

समझमें नहीं आता कि बाबूसाहबको इस दुःखके अवसरपर कैसे सान्त्वना दी जाय ! माताजी का आदर्श देहत्याग तथा मोहका त्याग और संसारस्वरूपका विचार ही उनके हृदयमें शान्ति ला सकेगा। आपके तथा सभी कुटुम्बी जनोंके इस दुःखमें मेरी तथा वीरसेवामन्दिर परिवारकी हार्दिक समवेदना है। और हम सबकी यही भावना है कि माताजीको परलोकमें पूर्णतः सुख-शान्तिकी प्राप्ति होवे।

जुगलकिशोर मुख्तार

ॐ अर्हम्

अनेकान्त

विश्वतत्त्व-प्रकाशक

वस्तुतत्त्व-संघोतक

वार्षिक मूल्य ५)

एक किरणका मूल्य १)

नीतिविरोधध्वंसी लोकव्यवहारवर्तकः सम्यक् ।
परमागमस्य बीजं भुवनैकगुरुर्जयत्यनेकान्तः ॥

वर्ष १० किरण ५-६ | वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम), ७/३३ दरियागंज, देहली
कातिक-मंगसिर, वीरनिर्वाण-संवत २४७६, विक्रम-संवत २००६ | अक्टूबर-नवम्बर १९४९

★ वीर-वन्दना ★

•••○○•••

जीते भय, उपसर्ग-परीषह
जीते, जिनने मनको मार ;
जीतीं पंचेन्द्रियाँ जिन्होंने
औ' क्रोधादि कषायें चार ।
राग-द्वेष-कामादिक जीते,
मोह-शत्रुके सब हथियार ;
सुख-दुख जीते, उन वीरोंको
नमन करूँ मैं बारम्बार ॥१॥

'युगवीर'

अनेकान्तवाद और स्व० पं० अम्बादासजी शास्त्री

[सागरमें एक कलशोत्सवके अवसरपर, जिसका आयोजन श्रीटीकाराम प्यारेलालजी मलैयाकी ओरसे संवत् १९७२ में हुआ था, हिन्दू विश्वविद्यालय बनारसके संस्कृतके प्रिन्सिपल श्रीमान् निखिल-विद्यावारिधि पण्डित अम्बादासजी शास्त्री भी पधारे थे और उनका बड़ा शानदार स्वागत हुआ था। उस समय आयोजित सभामें शास्त्रीजीने जैनधर्मके 'अनेकान्तवाद' पर जो अपना ओजस्वी मार्मिक भाषण दिया था और जिसे सुनकर अच्छे-अच्छे विद्वान् मुग्ध हो गए थे उसे वर्णीगणेशप्रसादजीने हाल ही में प्रकाशित अपनी 'मेरी जीवनगाथा' नामकी पुस्तकमें संकलित और संग्रहीत किया है। उसीपरसे अनेकान्त-पाठकोंके लिए उपयोगी समझकर उसे यहां उद्धृत किया जाता है। इससे पाठकोंको सहज ही यह मालूम हो सकेगा कि जैनधर्मके 'अनेकान्त' सिद्धान्तका गहरा अध्ययन करनेवाले उच्चकोटिके निष्पक्ष विद्वान् भी उसे कितना अधिक महत्व तथा ऊंचा स्थान प्रदान करते हैं और इसलिये जैनियोंको अपने सिद्धान्तोंको अजैन विद्वानोंके परिचयमें लानेकी कितनी अधिक आवश्यकता है, इसे बतलानेकी जरूरत नहीं रहती। —सम्पादक]

पदार्थ नित्यानित्यात्मक है, अन्यथा संसार और मोक्षकी व्यवस्था नहीं बन सकती, क्योंकि सर्वथा नित्य माननेमें परिणाम नहीं बनेगा, यदि परिणाम मानोगे तो नित्य माननेमें विरोध आवेगा। श्रीसमन्तभद्रस्वामीने लिखा है—

'नित्यैकान्तपक्षेऽपि विक्रिया नोपपद्यते।
प्रागेव कारकाभावः क्व प्रमाणं क्व तत्फलम् ॥'

यह सिद्धान्त निर्विवाद है कि पदार्थ चाहे नित्य मानो चाहे अनित्य, किसी-न-किसी रूपसे रहेगा ही। यदि नित्य है तो किस अवस्थामें है? यहाँ दो ही विकल्प हो सकते है या तो शुद्ध स्वरूप होगा या अशुद्ध स्वरूप होगा। यदि शुद्ध है तो सर्वदा शुद्ध ही रहेगा; क्योंकि सर्वथा नित्य माना है और इस दशामें संसार-प्रक्रिया न बनगी। यदि अशुद्ध है तो सर्वथा संसार ही रहेगा और ऐसा माननेसे संसार एवं मोक्षकी जो प्रक्रिया मानी है उसका लोप हो जायेगा, अतः सर्वथा नित्य मानना अनुभवके प्रतिकूल है।

यदि सर्वथा अनित्य है ऐसा माना जाय तो जो प्रथम समयमें है वह दूसरेमें न रहेगा और तब पुण्य-पाप तथा उसके फलका सर्वथा लोप होजावेगा। कल्पना कीजिये, किसी आत्माने किसीके मारनेका अभिप्राय किया वह क्षणिक होनेसे नष्ट होगया अन्यने हिंसा की, क्षणिक होनेके कारण हिंसा करनेवाला भी नष्ट होगया बन्ध अन्यको होगा, क्षणिक होनेसे बन्धक आत्मा नष्ट होगया फलका भोक्ता अन्य ही हुआ...इस प्रकार यह क्षणिकत्वकी कल्पना श्रेष्ठ नहीं, प्रत्यक्ष विरोध आता है अतः केवल अनित्यकी कल्पना सत्य नहीं। जैसा कि कहा भी है—

'परिणामिनोऽप्यभावात्क्षणिकं परिणाममात्रमिति वस्तु।
तस्यामिह परलोको न स्यात्कारणमथापि कार्यं वा ॥'

बौद्धोंकी यह मान्यता है कि 'कारणसे कार्य सर्वथा भिन्न है, कारण वह कहलाता है जो पूर्वक्षणवर्ती हो, और कार्य वह है जो उत्तरक्षणवर्ती हो। परन्तु ऐसा माननेमें सर्वथा कार्यकारणभाव नहीं बनता। जब कि कारण सर्वथा नाश होजाता है तब कार्यकी उत्पत्तिमें उसका ऐसा कौन-सा अंश शेष रह जाता है जो कि कार्यरूप परिणमन करेगा? कुछ ज्ञानमे नहीं आता। जैसे, दो परमाणुओंसे द्वयणुक होता

है यदि वे दोनों सर्वथा नष्ट होगये तो द्व्यणुक किससे हुआ? समझमें नहीं आता। यदि सर्वथा असत्से कार्य होने लगे तो मृत्पिण्डके अभावमें भी घटकी उत्पत्ति होने लगेगी पर ऐसा देखा नहीं जाता, इससे सिद्ध होता है कि परमाणुका सर्वथा नाश नहीं होता किन्तु जब वह दूसरे परमाणुके साथ मिलनेके सन्मुख होता है तब उसका सूक्ष्म परिणमन बदल कर कुछ वृद्धिरूप होजाता है और जिस परमाणुके साथ मिलता है उसका भी सूक्ष्म परिणमन बदलकर वृद्धिरूप हो जाता है। इसीप्रकार जब बहुतसे परमाणुओंका सम्बन्ध हो जाता है तब स्कन्ध बन जाता है। स्कन्ध दशामें उन सब परमाणुओंका स्थूलरूप परिणमन होजाता है। और ऐसा होनेमें वह चक्षुरिन्द्रियके विषय हो जाते हैं। कहनेका तात्पर्य यह है कि वे सब परमाणु स्कन्ध दशामें जितने थे उतने ही हैं, केवल उनकी जो सूक्ष्म पर्याय थी वह स्थूलभावको प्राप्त होगई। एवं यदि कारणसे कार्य सर्वथा भिन्न हो तो कार्य होना असम्भव हो जावे क्योंकि संसारमें जितने कार्य हैं वे निमित्त और उपादान कारणसे उत्पन्न होते हैं। निमित्त तो सहकारीमात्र हैं पर उपादानकारण कार्यरूप परिणमनको प्राप्त होता है। जिस प्रकार सहकारी कारण भिन्न है उस प्रकार उपादान कारण कार्यसे भिन्न नहीं है किन्तु उपादान अपनी पूर्व पर्यायको त्याग कर ही उत्तर अवस्थाको प्राप्त होता है। इसी उत्तर अवस्थाका नाम कार्य है। यह नियम सर्वत्र लागू होता है—आत्मामें भी यह नियम लागू होता है—आत्मा भी सर्वथा भिन्न कार्यको उत्पन्न नहीं करती। जैसे सब आस्तिक महाशयोंने आत्माकी संसार और मुक्ति दो दशाएं मानी हैं। यहां पर यह प्रश्न स्वाभाविक है कि यदि कारणसे कार्य सर्वथा भिन्न है तो संसार और मुक्ति ये दोनों कार्य किस द्रव्यके अस्तित्वमें हैं, सिद्ध करना चाहिए। यदि पुद्गल द्रव्यके अस्तित्वमें है तो आत्माको भक्ति, प्रव्रज्या, सन्यास, यम-नियम, व्रत, तप आदिका उपदेश देना निरर्थक है क्योंकि आत्मा तो सर्वथा निर्लेप है अतः अगत्या मानना पड़ेगा कि आत्माकी ही अशुद्ध अवस्थाका नाम संसार है। अब यहां पर यह विचारणीय है कि यदि संसार अवस्था आत्माका कार्य है और कारणसे कार्य सर्वथा भिन्न है तो आत्माका उससे क्या बिगाड़ हुआ? उसे संसार-मोचनके लिये जो उपदेश दिया जाता है उसका क्या प्रयोजन है? अतः कहना पड़ेगा कि जो अशुद्ध अवस्था है वह आत्माका ही परिणमनविशेष है, वही आत्माको संसारमें नाना यातनाएँ देता है, अतः उसका त्याग करना ही श्रेयस्कर है। जैसे जल स्वभावसे शीत है परन्तु जब अग्निका सम्बन्ध पाता है तब उष्ण अवस्थाको प्राप्त हो जाता है, इसका यह अर्थ हुआ कि जिस प्रकार जलका पहले शीतपर्यायके साथ तादात्म्य था। उसी प्रकार अब उष्णपर्यायके साथ तादात्म्य होगया परन्तु जलत्वकी अपेक्षा वह नित्य रहा। यह ठीक है कि जलकी उष्णपर्याय अस्वाभाविक है—'परपदार्थजन्य है अतः हेय है। इसी तरह आत्मा एक द्रव्य है उसकी जो संसार पर्याय है वह औपाधिक है उसके सद्भावमें आत्माके नाना विकृत परिणाम होते हैं जो कि आत्माके लिये अहितकर है। जैसे, जब तक आत्माकी संसार अवस्था रहती है तब तक यह आत्मा ही कभी मनुष्य हो जाता है, कभी पशु बन जाता है, कभी देव तो कभी नारकी हो जाता है तथा उन उन पर्यायोंके अनुकूल अनन्त दुःखोंका पात्र होता है इसीसे आर्ष उपदेश प्रव्रज्या ग्रहण करनेका है।

यहां पर कोई कहता है कि यदि पर्यायके साथ द्रव्यका तादात्म्य सम्बन्ध है तो वह पर्याय विनष्ट क्यों हो जाती है। इसका यह अर्थ है कि तादात्म्य सम्बन्ध एक तो नित्य होता है और एक अनित्य होता है। पदार्थोंके साथ जो सम्बन्ध है वह अनित्य है और गुणोंके साथ जो सम्बन्ध है वह निरन्तर रहता है अतः नित्य है। इसीलिये जैनाचार्योंने गुणोंको सहभावी और पर्यायोंको क्रमवर्ती माना है। यही कारण है कि जो गुण परमाणुमें हैं वे ही

स्कन्धमें हैं परन्तु जो पर्यायें इस समयमें हैं वे दूसरे समयमें नहीं हो सकतीं। यदि यह व्यवस्था न मानी जावे तो किसी पदार्थकी व्यवस्था नहीं बन सकती। जैसे, सुवर्णको लीजिए, उसमें जो स्पर्श, रस, गंध और वर्ण है वे, सोना चाहे किसीभी पर्यायमें रहे, रहेंगे केवल उसकी पर्यायोंमें ही पलटन होगा।

यही व्यवस्था जिन द्रव्योंको सर्वथा नित्य माना है उनमें है। यदि संसार अवस्थाका नाश न होता तो मोक्षका कोई पात्र न होता। इससे यह सिद्ध हुआ कि संसारमें ऐसी कोई भी वस्तु नहीं जो नित्यानित्यात्मक न हो। तथा हि—

आदीपमाव्योम समस्वभावं स्याद्वादमुद्रानतिभेदि वस्तु।
तन्नित्यमेवैकमनित्यमन्यदिति त्वदाज्ञाद्विषतां प्रलापः॥

कहनेका तात्पर्य यह है कि दीपकसे लेकर आकाश पर्यन्त सभी पदार्थ नित्यानित्यात्मक है, इसको सिद्ध करनेवाली स्याद्वादमुद्रा है, उनमें दीपकको सर्वथा अनित्य और आकाशको सर्वथा नित्य माननेवाले जो भी पुरुष हैं वे आपकी आज्ञाके वैरी है। यदि दीपक, घट, पटादि सर्वथा अनित्य ही होते तो आज संसारका विलोप हो जाता। केवल दीपक पर्यायका नाश होता है न कि पुद्गलके जिन परमाणुओंसे दीपक पर्याय बनी है उनका नाश होता है। तत्त्वकी बात तो यह है कि न तो किसी पदार्थका नाश होता है और न किसी पदार्थकी उत्पत्ति होती है। मूलपदार्थ दो है जीव और अजीव। न ये उत्पन्न होते हैं और न नष्ट होते हैं। केवल पर्यायोंकी उत्पत्ति होती है और उन्हींका विनाश होता है। सामान्यरूपसे द्रव्यका न तो उत्पाद है और न विनाश है परन्तु विशेषरूपसे उत्पाद भी है और विनाश भी है। तथा हि—

'न सामान्यात्मनोदेति न व्येति व्यक्तमन्वयात्।
व्येत्युदेति विशेषात्ते सहैकत्रोदयादि सत्॥'

जैसे पदार्थ नित्यानित्यात्मक है वैसे ही तत् अतत्, सत् असत् और एकानेक रूप भी है। जैसे, एक आत्मा द्रव्य लीजिये, वह तत् भी है अतत् भी है, एक भी है अनेक भी है, सत् भी है असत् भी है तथा नित्य भी है अनित्य भी है।

यहां पर आपाततः प्रत्येक मनुष्यको यह शङ्का हो सकती है कि इस प्रकार परस्पर-विरोधी धर्म एक स्थानपर कैसे रह सकते हैं और इसीसे वेदान्तसूत्रमें व्यासजीने एक स्थानपर लिखा है—

'नैकस्मिन्नसम्भवात्'

अर्थात् एक पदार्थमें परस्पर-विरुद्ध नित्यानित्यत्वादि नहीं रह सकते। परन्तु जैनाचार्योंने स्याद्वादसिद्धान्तसे इन परस्पर विरोधी धर्मोंका एक स्थान में भी रहना सिद्ध किया है और वह युक्ति-युक्त भी है; क्योंकि वह विरोधी धर्म विभिन्न अपेक्षाओंसे एक वस्तुमें रहते हैं, न कि एक ही अपेक्षासे। देवदत्त पिता है और पुत्र भी है परन्तु एककी ही अपेक्षा उक्त दोनों रूप देवदत्तमें सिद्ध नहीं हो सकते। वह अपने पुत्रकी अपेक्षा पिता है अपने पिताकी अपेक्षा पुत्र भी है। इसी प्रकार सामान्यकी अपेक्षा पदार्थ नित्य है—उत्पाद और विनाशसे रहित है तथा विशेषकी अपेक्षा अनित्य है—उत्पाद और विनाशसे युक्त है। सामान्यकी अपेक्षा पदार्थ एक है परन्तु अपनी पर्यायोंकी अपेक्षा वही पदार्थ अनेक हो जाता है। जैसे, सामान्य जलत्वकी अपेक्षासे जल एक है परन्तु तत्तत्पर्यायोंकी अपेक्षा वही जल तरङ्ग, बबूला, हिम आदि अनेकरूप होता देखा जाता है। जैनाचार्योंने स्याद्वादसिद्धान्तसे उक्त धर्मोंका अच्छा समन्वय किया है। देखिये—

'स्याद्वादो हि सकलवस्तुतत्त्वसाधकमेवमेकमस्खलितं साधनमर्हद्देवस्य, स तु सर्वमनेकान्तमनुशास्ति सर्वस्य वस्तुनोऽनेकान्तात्मकत्वात्। अत्र त्वात्मवस्तुनो ज्ञानमात्रतयानुशास्यमानोऽपि न तत्परिदोषः ज्ञानमात्रस्यात्मवस्तुनः स्वयमेवानेकान्तात्मकत्वात्। तत्र यदेव तत् तदेवातत्, यदेवैकं तदेवानेकम्, यदेव सत् तदेवासत्, यदेव नित्यं तदेवानित्यमित्येकवस्तुवस्तुत्वनिष्पादकविरुद्धशक्तिद्वयप्रकाशनमनेकान्तः। तत्स्वात्मकवस्तुनो ज्ञानमात्रत्वेऽप्यन्तश्चकचकायमानरूपेण तत्त्वात् बहिरुन्मिषदनन्तज्ञेयतापन्नस्वरूपतातिरिक्तपररूपेणासत्वात् सहक्रमप्रवृत्तानन्तचिदंशसमुदयरूपाविभागैकद्रव्येणैकत्वात् अविभागैकद्रव्य-

व्याप्तसहक्रमप्रवृत्तानन्तचिदंशरूपपर्यायैरनेकत्वात् स्वद्रव्य-क्षेत्रकालभावभवनशक्तिस्वभावत्वेन सत्त्वात्, परद्रव्यक्षेत्र-कालभावभवनशक्तिस्वभावत्वेनासत्त्वात् अनादिनिधना-विभागैकवृत्तिपरिणतत्वेन नित्यत्वात् क्रमप्रवृत्तैकसमया-वच्छिन्नानेकवृत्त्यंशपरिणतत्वेनानित्यत्वात् तदतत्त्वमेका-नेकत्वं सदसत्त्वं नित्यानित्यत्वञ्च प्रकाशत एव।

ननु यदि ज्ञानमात्रत्वेऽप्यात्मवस्तुनः स्वयमेवानेकान्तः प्रकाशते तर्हि किमर्थमर्हद्भिस्तत्साधनत्वेनानुशास्यतेऽने-कान्तः? अज्ञानिनां ज्ञानमात्रात्मवस्तुप्रसिद्ध्यर्थमिति ब्रूमः। न खल्वनेकान्तमन्तरेण ज्ञानमात्रमात्मवस्त्वेव प्रसि-द्ध्यति। तथा हि—इह हि स्वभावत एव बहुभावनिर्भर-विश्वे सर्वभावानां स्वभावेनाद्वैतेऽपि द्वैतस्य निषेद्धुमशक्य-त्वात् समस्तमेव वस्तु स्वपररूपप्रवृत्तिव्यावृत्तिभ्यामुभय-भावाध्यवसितमेव। तत्र यदाऽयं ज्ञानमात्रो भावः शेष-भावैः सह स्वरसभरप्रवृत्तज्ञातृज्ञेयसम्बन्धतयाऽनादिज्ञेय-परिणमनात् ज्ञानत्वं पररूपेण प्रतिपद्याज्ञानीभूत्वा तमुपैति तदा स्वरूपेण तत्त्वं द्योतयित्वा ज्ञातृत्वेन परिणमनात् ज्ञानी कुर्वन्ननेकान्त एव तमुद्गमयति। १ यदा तु सर्वं वै खल्विदमात्मेति अज्ञानत्वं ज्ञानरूपेण प्रतिपद्य विश्वो-पादानेनात्मानं नाशयति तदा पररूपेणातत्त्वं द्योतयित्वा विश्वाद् भिन्नं ज्ञानं दर्शयन् अनेकान्त एव नाशयितुं न ददाति। २ यदाऽनेकज्ञेयाकारैः खण्डितसकलैकज्ञानाकारो नाशमुपैति तदा द्रव्येणैकत्वं द्योतयन् अनेकान्त एव तमुज्जीवयति। ३ यदा त्वैकज्ञानाकारोपादानायानेकज्ञेया-कारत्यागेनात्मानं नाशयति तदा पर्यायैरनेकत्वं द्योतयन् अनेकान्त एव नाशयितुं न ददाति। ४ यदा ज्ञायमान-परद्रव्यपरिणमनात् ज्ञातृद्रव्यं परद्रव्यत्वेन प्रतिपद्य नाश-मुपैति तदा स्वद्रव्येण सत्त्वं द्योतयन् अनेकान्त एव तमुज्जीवयति। ५ यदा तु सर्वद्रव्याण्यहमेवेति परद्रव्यं ज्ञातृद्रव्यत्वेन प्रतिपद्यात्मानं नाशयति तदा परद्रव्येणासत्त्वं द्योतयन् अनेकान्त एव नाशयितुं न ददाति। ६ यदा परक्षेत्रगतज्ञेयार्थपरिणमनात् परक्षेत्रेण ज्ञानं सत् प्रति-पद्य नाशमुपैति तदा स्वक्षेत्रेणास्तित्वं द्योतयन्ननेकान्त एव तमुज्जीवयति। ७ यदा तु स्वक्षेत्रे भवनाय परक्षेत्रे ज्ञेयाकारत्यागेन ज्ञानं तुच्छीकुर्वन्नात्मानं नाशयति तदा स्वक्षेत्र एव ज्ञानस्य परक्षेत्रगतज्ञेयाकारपरिणमनस्वभाव-त्वात् परक्षेत्रेण नास्तित्वं द्योतयन्ननेकान्त एव नाशयितुं न ददाति। ८ यदा पूर्वालम्बितार्थविनाशकाले ज्ञानस्यासत्त्वं प्रतिपद्य नाशमुपैति तदा स्वकालेन सत्त्वं द्योतयन्ननेकान्त एव तमुज्जीवयति। ९ यदा त्वर्थालम्बन-काल एव ज्ञानस्य सत्त्वं प्रतिपद्यात्मानं नाशयति तदा परका-लेनासत्त्वं द्योतयन्ननेकान्त एव नाशयितुं न ददाति। १० यदा ज्ञायमानपरभावपरिणमनात् ज्ञायकभावं परभावत्वेन प्रतिपद्य नाशमुपैति तदा स्वभावेन सत्त्वं द्योतयन्ननेकान्त एव तमुज्जीवयति। ११ यदा तु सर्वे भावा अहमेवेति परभावं ज्ञायकभावत्वेन प्रतिपद्यात्मानं नाशयति तदा परभावेनासत्त्वं द्योतयन्ननेकान्त एव नाशयितुं न ददाति। १२ यदा नित्यज्ञानविशेषैः खण्डितनित्यज्ञानसामान्यो नाशमुपैति तदा ज्ञानसामान्यरूपेण नित्यत्वं द्योतयन् अने-कान्त एव नाशयितुं न ददाति। १३ यदा तु नित्यज्ञान-सामान्योपादानायानित्यज्ञानविशेषत्यागेनात्मानं नाशयति तदा ज्ञानविशेषरूपेणानेकत्वं द्योतयन्ननेकान्त एव तं नाशयितुं न ददाति।' १४ ·······

यह गद्य श्रीअमृतचन्द्रस्वामीने समयसारके अन्त में, जो स्याद्वादाधिकार है, उसमें लिखी है। इसका भाव यह है कि—

स्याद्वाद ही एक समस्त वस्तुका साधनेवाला निर्बाध अर्हन्त भगवानका शासन है और वह समस्त पदार्थोंको अनेकान्तात्मक अनुशासन करता है, क्योंकि सकल पदार्थ अनेकधर्मस्वरूप हैं। इस अनेकान्तके द्वारा जो पदार्थ अनेकधर्म-स्वरूप कहे जाते हैं वह असत्य कल्पना नहीं है बल्कि वस्तुस्वरूप ही ऐसा है। यहां पर जो आत्मा नामक वस्तुको ज्ञानमात्र कहा है उसमें स्याद्वाद-का विरोध नहीं है। ज्ञानमात्र जो आत्मवस्तु है वह स्वयमेव अनेकान्तात्मक है। यही दिखलाते हैं—

अनेकान्तका ऐसा स्वरूप है कि जो वस्तु तत्स्वरूप है वही वस्तु अतत्स्वरूप भी है, जो वस्तु एक है वही अनेक भी है तथा जो पदार्थ नित्य है वही अनित्य भी है। इसप्रकार एक ही वस्तुमें वस्तुत्वको प्रतिपा-दन करनेवाला एवं परस्पर विरुद्ध शक्तिद्वयको

प्रकाशित करनेवाला अनेकान्त है। इसीको स्पष्ट करते हैं—

जैसे आत्माको ज्ञानमात्र कहा है, यहां यद्यपि आत्मा अन्तरंगमें देदीप्यमान ज्ञानस्वरूपकी अपेक्षा तत्त्वरूप है तथापि बाह्यमें उदयरूप जो अनन्त ज्ञेय हैं वह जब ज्ञानमें प्रतिभासित होते हैं तब ज्ञानमें उनका विकल्प होता है इसप्रकार ज्ञेयतापन्न जो ज्ञान-कारूप है जोकि ज्ञानसे भिन्न पररूप है उसकी अपेक्षा अतत्त्वरूप भी है अर्थात् ज्ञान ज्ञेयरूप नहीं होता। सहप्रवृत्त और क्रमप्रवृत्त अनन्त चिदंशोंके समुदाय-रूप जो अविभागी एक द्रव्य है उसकी अपेक्षा एक स्व-रूप है अर्थात् द्रव्यमें जितने गुण हैं वे अन्वयरूप-से ही उसमें सदा रहते हैं विशेष रूपसे नहीं। ऐसा नहीं है कि प्रथम समयमें जितने गुण हैं वे ही द्वितीय समयमें रहते हों और वे ही अनन्त काल तक रहे आते हों। चूंकि पर्याय समय समयमें बदलती रहती है और द्रव्यमें जितने गुण हैं वे सब पर्याय-शून्य नहीं है अतः गुणोंमें भी परिवर्तन होना अनि-वार्य है। इससे सिद्ध यह हुआ कि गुण सामान्यतया ध्रौव्यरूप रहते हैं पर विशेषकी अपेक्षा वे भी उत्पा-दव्ययरूप होते हैं। इसका खुलासा यह है कि जो गुण पहले जिसरूप था दूसरे समयमें अन्यरूप हो जाता है, जैसे जो आम्र अपनी अपक्व अवस्थामें हरित होता है वही पक्व अवस्थामें पीत होजाता है। यहां हरितत्व और पीतत्वकी अपेक्षा रूपमें परिवर्तन हुआ है पर सामान्यरूपकी अपेक्षा क्या हुआ? दोनों ही दशाओंमें रूप तो रहता ही है। इसप्रकार एक ही अविभागी द्रव्य, अपने सहभावी गुणों और क्रमभावी पर्यायोंकी अपेक्षा अनेकरूपसे व्यवहृत होता है अर्थात् सह-क्रमप्रवृत्त चिदंश समु-दायरूप अविभागी द्रव्यकी अपेक्षा तो आत्मा एक-स्वरूप है और चिदंशरूप पर्यायोंकी विवक्षासे अनेकस्वरूप है।

एवं स्वद्रव्य क्षेत्र काल भावरूप होनेके योग्य जो शक्ति है, अतः उसके स्वभावसे जब वस्तुका निरूपण करते हैं तब वस्तु सत्स्वरूप होती है और परद्रव्य क्षेत्र काल भावरूप होनेके योग्य जो शक्ति है, अतः उसके अभावरूपसे जब वस्तुका निरूपण करते है तब असत्स्वरूप होती है। श्रीसमन्तभद्रस्वामीने कहा है कि—

'सदेव सर्वं को नेच्छेत्स्वरूपादिचतुष्टयात्।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ॥'

अर्थात् स्वद्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षा सम्पूर्ण विश्व सत् ही और परद्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपे-क्षा असत् ही है...इसे कौन नहीं स्वीकृत करेगा? क्योंकि ऐसा माने बिना पदार्थकी व्यवस्था नहीं हो सकती।

अर्थका अनर्थ

(श्री पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री)

'ज्ञानोदय' पत्रकी ४-५ संख्यामें 'शूद्रमुक्ति' शीर्षकसे सिद्धांतशास्त्री पं० फूलचन्द्रजीका एक लेख प्रकाशित हुआ है। पं०जी सिद्धान्तशास्त्रोंके ज्ञाता माने जाते हैं। आपने धवला और जयधवला-का सम्पादन किया है। साथ ही आप प्रबल सुधारक भी हैं। किन्तु जो सुधार आपको वांछनीय हैं जैन शास्त्रोंसे उनका समर्थन नहीं होता। अतः आप प्रायः यह कहते और लिखते रहते हैं कि मूल-सिद्धान्तग्रन्थोंसे अमुक बातका समर्थन नहीं होता। ग्रन्थकारोंने परिस्थितिवश ऐसा लिख दिया है। पहले कर्मसिद्धान्तके विषयमें आपने अपनी कुछ नवीन मान्यताएँ इसी आधारपर रक्खी थीं। अब आप शूद्रोंको मुक्तिका अधिकारी सिद्ध करना चाहते है। और उसके लिये आपने धवलासे उच्चगोत्रका

लक्षण उद्धृत करके उसपरसे अपने अनुकूल मन्तव्य निकालनेकी चेष्टा की है। तथा आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीके उच्चगोत्रके लक्षणको धवलाके प्रतिकूल अत एव परिस्थितिजन्य बतलाया है। एवं पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धिके एक वाक्यका भी स्वमनोऽनुकूल अर्थ किया है। इस तरह अर्थका अनर्थ करनेसे शास्त्रज्ञ तो भ्रममें नहीं पड़ सकते किन्तु जो स्वयं शास्त्रज्ञ नहीं हैं और अन्य शास्त्रज्ञोंकी बातको ही प्रमाण मानकर चलते हैं, वे इससे भ्रममें पड़ सकते हैं, अतः प्रकृत लेखके उक्त मन्तव्योंपर प्रकाश डाला जाता है।

धवलाका लक्षण इसप्रकार है—

"दीक्षायोग्यसाध्वाचरणानां साध्वाचारैः कृतसम्बधानाम् आर्यप्रत्ययाभिधानव्यवहारनिबन्धनानां सन्तानः उच्चैर्गोत्रम्। ....तद्विपरीतं नीचैर्गोत्रम्।"

'जो दीक्षायोग्य साधु आचरणवाले हों, जिन्होंने साधु आचारवालोंके साथ सम्बन्ध स्थापित कर लिया हो तथा जिनमें यह 'आर्य' है इस प्रकारकी ज्ञानकी प्रवृत्ति हो और यह 'आर्य' है इस प्रकारका शाब्दिक व्यवहार होने लगा हो उनकी परम्पराको उच्चगोत्र कहते हैं और इसके विपरीत नीचगोत्र है।

गोत्रका सामान्यलक्षण जीवस्थान चूलिका अधिकारकी धवला टीकामें इस प्रकार किया है—

'गोत्रं कुलं वंशः सन्तानमित्येकोऽर्थः'

गोत्र, कुल, वंश, और सन्तान ये एकार्थवाची नाम हैं।

ये सब लिखकर पं० जीने उसपरसे निम्न निष्कर्ष निकाले हैं—

१–'आर्य होकर भी जो दीक्षायोग्य साधु आचारवाले हैं वे उच्चगोत्री और शेष नीचगोत्री हैं।

२–सन्तानका अर्थ पुत्र, पौत्री, प्रपौत्रीकी परम्परा न होकर आचारवालोंकी परम्परा है गोमट्टसार कर्मकाण्डमें सन्तानक्रमसे आये हुए जीवके आचारको गोत्र कहा है। धवला टीकाके उक्त लक्षणको देखनेसे मालूम पड़ता है कि यह लक्षण उलटकर लिखा गया है। सन्तान (परम्परा) यह गोत्रका मुख्य वाचार्थ है और आचार उसका निमित्त है। किन्तु कर्मकाण्डमें आचारको गोत्रका वाच्यार्थ मान लिया गया है।'

पं० जीका निष्कर्ष नं० २ आपत्तिजनक है। आपने सन्तानका प्रसिद्ध अर्थ त्याग कर जो नया अर्थ किया है उसका समर्थन धवलाके उक्त लक्षणोंसे तो नहीं होता। प्रथम तो धवलाकारने स्वयं ही सन्तान शब्दका अर्थ गोत्र, कुल और वंश किया है। इन सब अर्थोंको छोड़ कर एक नया अर्थ घड़ना कोई मान नहीं रखता। दूसरे, धवलाकारने उच्चगोत्रके लक्षणमें केवल दीक्षायोग्य साधु आचरणवालोंकी परम्पराको उच्चगोत्र नहीं कहा, बल्कि उसके साथमें एक विशेषण और लगाया है कि 'जिन्होंने साधु आचारवालोंके साथ सम्बन्ध' (मूलमें 'कृतसम्बन्ध' शब्द है)। यदि सन्तानका अर्थ 'परम्परा' मात्र लिया जाता है तो यह विशेषण व्यर्थ पड़ जाता है क्योंकि जब दीक्षायोग्य आचरणवालोंकी परम्परा ही उच्चगोत्र अभीष्ट है तो उनके दीक्षायोग्य साधु आचारवालोंसे सम्बन्ध स्थापित करने या न करनेका कोई महत्व ही नहीं रहता। किन्तु धवलाकारको यह बात अभीष्ट नहीं है कि जिनका केवल व्यक्तिगत आचरण साधु हो किन्तु कौटुम्बिक संबन्ध साधु आचरणवाले पुरुषोंके साथ न हो वे मात्र व्यक्तिगत आचरणके कारण उच्च गोत्री कहलाएं। इसी लिये उन्होंने एक विशेषण और लगा दिया है।

आचार्य नेमिचन्द्रके जिस लक्षणको पं० जी परिस्थितिजन्य बतलाते हैं वह परिस्थितिजन्य नहीं है किन्तु स्वामी वीरसेनके उक्त लक्षणका अनुवाद मात्र है जो पलट कर रख दिया गया है। स्वामी वीरसेन दीक्षाके योग्य साधु-आचरणवालोंकी सन्तानको उच्चगोत्र कहते हैं और आचार्य नेमिचन्द्र सन्तानक्रमसे आये हुए जीवके आचारको गोत्र कहते हैं। अभिप्राय दोनोंका एक है, नेमिचन्द्राचार्यने निमित्त साधु आचरणपर विशेष जोर दे दिया है। केवल इतना ही अन्तर है। जैसे-धनिककी

परिभाषा की जाये कि—जो स्वयं धनवाले है तथा जिन्होंने धनवालोंके साथ सम्बन्ध किया है उनकी सन्तानको धनिक कहते हैं। इसे यूं कहा जाये सन्तान क्रमसे चले आये हुए धनको धनिक कहते हैं। इन दोनों वाक्योंमें जितना अन्तर है उतना ही अन्तर उक्त दोनों लक्षणोंमें भी है। हां, यदि धवलाकारको मात्र व्यक्तिगत आचरण अभीष्ट होता और सन्तानका अर्थ कुल-वंश वगैरह न करके पं० जाको अभीष्ट परम्परा अर्थ किया होता तो नेमिचन्द्राचार्यके लक्षणपर पं० जीकी आपत्ति तथा कल्पना उचित कही जा सकती थी। किन्तु वीरसेन स्वामीको यह अभीष्ट नहीं है, जैसा कि ऊपर बतलाया हैं।

सन्तान शब्दका अर्थ

सन्तान और परम्परामें बहुत अन्तर है। सन्तान उन्हींकी परम्पराको कहते है जिनमें कार्य-कारणभाव होना है जैसे, बीज-वृक्षकी सन्तान। अकलंकदेवने भी अष्टशतीमें सन्तानका यही लक्षण किया है। यथा 'पूर्वापरकालभाविनोरपि हेतु-फलव्यपदेशभाजोरतिशयात्मनोरन्वयः सन्तानः।' अर्थात् पूर्वापरकालभावी होते हुए भी जिनमें कार्य-कारणभाव है उनकी परम्पराको सन्तान कहते हैं। किंतु परम्परा तो पूर्वापरकालभावी उन वस्तुओंकी भी होती है जिनमें कार्य-कारणभाव नहीं है। पिता-पुत्र पूर्वापरकालभावी तो हैं हो किन्तु उनमें कार्यकारणभाव भी है। अतः उनकी परम्परा सन्तान कहलाती है। किन्तु कालक्रमसे होने वाले विभिन्न सन्तानी सदाचारी पुरुषोंके प्रवाहको परम्परा कहते हैं। अतः सन्तानका अर्थ मात्र परम्परा करना भी ठीक नहीं है। सर्वार्थसिद्धि तत्त्वार्थसूत्रकी आद्य टीका है। तत्त्वार्थसूत्रके छठे अध्यायमें प्रत्येक कर्मके आस्रवके कारण बतलाते हुए केवली. श्रुत, संघ, धर्म और देवोंके अवर्णवादको दर्शनमोहनीयकर्मके आस्रवका कारण बतलाया है। सर्वार्थसिद्धमें प्रत्येक का अवर्णवाद उदाहरण देकर बतलाया है। संघका अवर्णवाद बतलाते हुए लिखा है—

'शूद्रत्वाशुचित्वाद्याविर्भावना संघावर्णवादः।'

इसका व्याख्यान राजवार्तिकमें अकलंकदेवने इस प्रकार किया है—'ये श्रमण शूद्र हैं, स्नान न करने से इनका अंग मैलसे भरा है, ये गंदे हैं, निर्लज्ज दिगम्बर है। जब यहीं दुःख भोगते हैं तो परलोकमें ये कैसे सुखी हो सकते हैं, इत्यादि कथन संघका अवर्णवाद है।'

पं० फूलचन्दजी यह मानकर भी कि 'जो दोष जिसमें नहीं है उसका उसमें उद्भावन करना अवर्णवाद है' यह फलितार्थ निकालते हैं कि 'जैन संघमें जो गृहस्थ अवस्थामें शूद्र थे ऐसे मुनि भी पाये जाते थे तभी तो दूसरे लोग उन्हें उपहासमें शूद्र कहते होंगे।' जैन मुनियोंको दूसरे लोग क्यों शूद्र कहते होंगे ये अकलंकदेवके वर्णनसे ही पता चल जाता है। जैनमुनि स्नान नहीं करते, उनका बदन मैला कुचैला रहता था, नंगे डोलते थे, बाह्य शुद्धिका वैसा महत्त्व उनकी दृष्टिमें नहीं था जैसा दूसरे लोगोंकी दृष्टिमें था। अतः उन्हें शूद्र कहा जाता था। न कि शूद्रोंके मुनिपद ग्रहण करनेके कारण। यदि ऐसा माना जायेगा तो अन्य अवर्णवादोंमें भी अनुपपत्ति खड़ी हो जायेगी। उदाहरणके लिये, मधु-मांस वगैरह का सेवन निर्दोष है इत्यादि कथनको श्रुतका अवर्णवाद बतलाया है तो इसपरसे आजके युगका कोई मांसप्रेमी यह भी निष्कर्ष निकाल सकेगा कि पहले श्रुतमें इन्हें निर्दोष बतलाया था तभी तो लोग ऐसा कहते थे। बादको समयके प्रभावके कारण इन चीजों को सदोष बतला दिया।

किसी अंशमें यह ठीक हो सकता है कि किन्हीं ग्रन्थकारों या टीकाकारोंपर समयका प्रभाव पड़ा हो, जिसका प्रत्यक्ष उदाहरण हमारे सामने है। किन्तु सभीको उस किश्तीमें सवार नहीं माना जासकता।

पं० जी जैनसमाजके प्रसिद्ध टीकाकार हैं, आज भी वे सिद्धान्तग्रंथोंकी टीका कर रहे है और सर्वार्थसिद्धिकी उनकी टीका वर्णीग्रन्थमालासे छप रही है। यदि उनमें भी पं० जीने अपने इन नवीन मन्तव्योंको इसी प्रकार भरा होगा तो उससे जैनसिद्धान्तके मन्तव्योंको क्षति पहुँच सकती है, तथा व्यर्थका वितण्डावाद खड़ा हो सकता है इसी भावनासे यह लेख लिखा गया है।

जैन गुहामन्दिर

(श्री बालचन्द्र जैन, एम० ए०)

"जैनोंके गुहामंदिर उतने प्राचीन नहीं है जितने अन्य दोनों सम्प्रदायों (ब्राह्मण और बौद्ध) के। शायद उनमेसे एक भी ७ वीं शती से पूर्वका नहीं है" [१]

"जैन कभी गुहानिर्माता रहे ही नहीं" [२]

उपर्युक्त दोनों कथन यद्यपि सर्वथा असत्य है तो भी उस समयके है जब विदेशी पंडित जैनधर्म को बौद्धधर्मकी ही शाखा मान रहे थे। उन्हें जैन तीर्थंकरों और बुद्धकी मूर्तियोंमे कोई मौलिक भेद प्रतीत न होता था— जैनमूर्तियोंको भी वे चटसे बुद्धमूर्ति कह देते थे। राजगिरकी सोनभांडार गुहाओंमे उत्कीर्ण जिनाकृतियाँ ऐसे ही समयमे फर्गुसनको बुद्धमूर्तियाँ जँची थीं और उसने लिख दिया था कि वहाँ बहुतसे बुद्ध उत्कीर्ण है। प्रस्तुत निबंधमे यह दर्शानेका प्रयत्न किया जाएगा कि जैनोंके गुहामंदिरोंका इतिहास न केवल उतना ही पुराना है जितना कि बौद्धों और ब्राह्मणोंके गुहामंदिरोंका बल्कि ये उनसे भी अधिक प्राचीन है।

स्थान और समयकी दृष्टिसे जैन गुहामंदिरों को तीन समूहोंमें विभक्त किया जा सकता है। १. पूर्वीयसमूह, २. पश्चिमीय समूह और ३. मध्यभारत समूह। पूर्वीयसमूहमे गया जिलेमें बराबर और नागार्जुनी पहाड़ियोंकी मौर्यकालीन गुफाएं, पुरी जिले की खंडगिरि और उदयगिरकी शुंगकालीन गुफाएँ एवं राजगिरकी पूर्वगुप्तकालीन गुफाएं सम्मिलित है; पश्चिमीय समूहमें एलोरा, बदामी, एहोल आदि की गुफाएं स्थान पाती हैं और मध्यभारत समूहसे ग्वालियर किलेके गुहामंदिरोंका बोध होता है। उदयगिरि (भेलसा) की गुप्तकालीन गुफाएं स्थान की दृष्टिसे मध्यभारत समूहमें सम्मिलित की जा सकती है लेकिन समयकी दृष्टिसे इन्हे पूर्वीय समूह के साथ ही जोड़ा जाएगा।

पूर्वीय समूह

बराबर और नागार्जुनी पहाड़ियोंकी गुफाएं

बराबर पहाड़ी गयासे सीधे रास्ते करीब १५-१६ मील और पक्की सड़कसे १६ मील दूर है और पटना-गया मार्गपर स्थित बेला नामक छोटे-से रेलवे स्टेशनसे ८ मील पूर्वको है। नागार्जुनी पहाड़ी बराबर पहाड़ीसे करीब १ मीलकी दूरीपर है, संभव है, इस पहाड़ीपर कभी बौद्ध विद्वान् नागार्जुनके अनुयायियोंका अधिकार रहा हो। बराबर पहाड़ीमे चार और नागार्जुनीमे तीन गुफाएं है। यहाँ गुफाएं खोदना कोई सहज कार्य न था, कठोर तेलिया पत्थरमे इतने विस्तारवाली और काँच जैसी चमकती पालिसयुक्त गुफाएं निर्माण करना अत्यन्त व्ययसाध्य था। बराबर पहाड़ीकी गुफाएं अशोक ने और नागार्जुनीकी उसके पौत्र दशरथने आजीविक साधुओंके निवासके लिए दान की थीं। (एतिहासिकोंका मत है कि इन गुफाओंका दान करनेवाला दशरथ और जैन ग्रन्थोंमे उल्लेखप्राप्त सम्प्रति एक ही व्यक्ति है) पीछेसे ४ थी शतीमें ये गुफाएं ब्राह्मणोंके अधिकारमे आगईं जब शार्दूल वर्माके पुत्र अनन्तवर्माने यहाँ देवमाता कात्यायनी और महादेवकी मूर्तियाँ स्थापित की।

बराबर पहाड़ीकी चार गुफाओंमेंसे लोमस

१. फर्गुसन जे०-'केवटेम्पिल्स आफ् इन्डिया' पृष्ठ ४९०।

२. उक्त ग्रन्थ पृष्ठ ४९०।

ऋषिगुफा यद्यपि मौर्यकालीन ही है पर उसमें उस कालका कोई लेख नहीं है। शेष तीन, सुदामा, विश्वझोपड़ी और करणचौपार अशोक द्वारा दान की गई गुफाएँ हैं। इनमेंसे दो तो राज्याभिषेकके १२ वें वर्ष (२५७ ई० पू०) में और एक उससे भी सात वर्ष पश्चात् (२५० ई० पू०)। पहली दो, सुदामा और विश्वझोपड़ीमें तो स्पष्ट उल्लेख है कि वे आजीविकों को दान की गई थीं। इन गुफाओंके दानसे राजा अशोकके सर्वधर्मसमभावका प्रमाण मिलता है। अशोकके लेखोंसे भी यही विदित होता है कि वह सभी पाषण्डों (मतों) की उन्नति चाहता था और परस्परका विरोध उसे सर्वथा अप्रिय था, वह तो 'सारवढ़ि' (सारवृद्धि) का प्रेमी था। आजीविक सम्प्रदाय उसके कालके प्रधान सम्प्रदायोंमेंसे था, और इसका उल्लेख उसके सातवें स्तंभलेखमें भी मिलता है। आजीविक सम्प्रदाय जैनोंका ही एक भाग था और यह दिगम्बर सम्प्रदायके अत्यन्त निकट था। इसके साधु दिगम्बर साधुओं जैसे ही नग्न रहते थे, प्रायः वैसी ही क्रियाएँ और आचार पालते थे एवं उग्र तपस्वी होते थे। जैन श्वेताम्बर ग्रन्थोंमें उल्लेख मिलते है कि इनका नेता गोशालक विचारोंमें मतभेद उपस्थित हो जानेके कारण महावीरके संघसे अलग हो गया था। तीसरी गुफा करणचौपारका लेख घिस जानेसे उसके दानके संबंधमें कुछ ज्ञात नहीं हो सका।

अब क्रमशः प्रत्येक गुफाका संक्षिप्त विवरण किया जाएगा।

करणचौपार—शिलालेखमें इसे 'सुपिया' गुफा कहा गया है। इसका मुख उत्तरकी ओर है। इसका भीतरी मंडप ३३ × १४ फुट है। दीवारें ६ फुट ऊँची किन्तु छप्परके क्रमशः चढ़ावसे वह करीब ११ फुट हो गया है। पश्चिमी छोरपर मूर्ति स्थापित करनेके लिए चौकी है। इस चौकीको छोड़ शेष सारी-की-सारी गुफा मौर्य-कालीन चमकती हुई पालिसयुक्त है। गुफाके बाहर चट्टानपर शिवलिंग स्थापित है। बाहरी द्वारके दक्षिणी छोरके ऊपरले भागमें ५ पंक्तिका प्राचीन ब्राह्मी लिपिका लेख है, उससे मात्र इतना ही विदित हो पाता है कि गुफाका नाम सुपिया था और राजा प्रियदर्शी (अशोक) ने राज्याभिषेकके १९वें वर्ष (२५० ई० पू०) में इसे दान किया था। मूल लेख इस प्रकार पढ़ा गया है:—

१. ला [जा] पियदसी ए [कु] न [वी]
२. सतिवसा [भसि] त ....
३. ....उथात ....
४. सुपि ये ख ....।
५. ना

उक्त लेखके अतिरिक्त आने-जानेवाले यात्रियोंके भी अनेक छोटे २ स्मारक लेख हैं।

सुदामा गुफा—लेखमें इसे न्यग्रोध गुहा कहा है। यह सुपिया गुफासे विरुद्ध दिशामें है और दक्षिणमुख है। इसमे दो मंडप है, बाहरी और भीतरी मंडप क्रमशः ३३ × २० और १९ फुटके है। गुफाका भीतरी भाग सुन्दरतापूर्वक पालिस किया हुआ है। दीवालें ६॥। फुट ऊँची हैं पर क्रमशः चढ़ावसे छप्परकी ऊँचाई १२ फुट ३ इंच हो गई है। दाहनी ओर दो पंक्तिका अशोकके राज्या-अभिषेकके बारहवें वर्ष (२५७ ई० पू०)का लेख है जो इस प्रकार है।

१. लाजिना पियदसिना दुवादस [वसभि-सितेना] ....

२. [इय] निगोह कुभा दि [ना आजीविकेहि]

इसमें इस लेखके अतिरिक्त यात्रियोंके अनेक छोटे २ लेख है।

लोमसऋषि गुफा—लेखमें यह प्रवरगिरि गुहा कही गई है और सुदामा गुफासे कुछ गजोंकी ही दूरीपर है। गुफा तो पूर्ववत् प्राचीन ही है किन्तु लेख गुप्तकालका है। इसमें सुदामा जैसे ही द्वार है। यह उतनी ही विस्तृत है और इसकी बनावट भी उसके ही जैसी है, लेकिन प्रवेशद्वार का मिहराब अधिक बड़ा, अधिक विस्तृत एवं लकड़ी के ढंगकी बनावटके अनुरूप है, उसमें हाथी और

स्तूप बने है। कनिंघमने इसी आधारपर इसे पिछले कालकी यानो ३री-४थी शतीकी बनो, सोचा था किन्तु बनावटमे सुदामा जैसी ही होने के कारण इसकी प्राचीनतामें संदेह नहीं किया जा सकता। इसमेंसे अशोकका मूल लेख हटाया जाकर शार्दूलवर्मा और अनन्तवर्माके लेख खोदे गए है। उसका हमारे विषयसे कोई सम्बन्ध नहीं है अतः वह यहाँ नहीं दिया जा रहा है।

विश्वझोपडी— लेखमे गुहाका नामोल्लेख नहीं है। यह दक्षिणमुख है और इसका भीतरी मडप भद्दा एवं अपूर्ण है। मंडपमे ही चार पंक्तियोंका लेख है जिससे विदित होता है कि बराबर पहाड़ी का प्राचीन नाम खलटिकपर्वत था और उपयुक्त गुफा अशोकने अपने राज्याभिषेकके बारहवे वर्षमे आजीविकोंको दान दी थी। लेख निम्न प्रकार है:—

१. लाजिना पियदसिना दुवा
२. दस वसाभिसितेन इय
३. कुभा खलटिक पवतसि
४. दीना (जीवि) केहि

गोपी गुफा—यह नागार्जुनी पहाड़ीमे है और भूमिसे करीब ५०-६० फुटकी ऊंचाईपर है। वृक्ष और मुसलमानोंके ईदगाहसे इसका द्वार रुद्ध है। यह ईदगाह और सीढ़ियां भी मुसलमानोंने आज से करीब २००-२५० वर्ष पूर्व बनवाई थीं। गुफा की लम्बाई पूर्व-पश्चिम ४५ फुट और चौड़ाई १६ फुट है। दीवालें ६ फुट ऊँची है पर छप्पर क्रमशः चढ़ावके कारण १० फुट ऊंचा है। गुफाका भीतरी भाग खूब अच्छी तरह पालिस किया हुआ तथा बिल्कुल सादा है। अनन्तवर्माके लेखमे इसे 'विंध्यभूधरगुहा' कहे जानेसे विदित होता है कि उस समय तक इसका प्राचीन नाम विस्मृत हो चुका था अथवा पुराना लेख पढ़ा नहीं जा सका था जिसमे इसका पुराना नाम उल्लिखित है। बाहरी दीवालके ठीक ऊपर ही वह लेख इस प्रकार है:—

१. गोपिक [ा] कुभा दशलथेन देवानां पियेना
२. आनंतलिय अभिसितेन [आजीविकेहि]
३. भदंतेहि वासनिषिढियाये निषिढे
४. आ चंदमसूलियं

लेखसे विदित होता है कि गुफाका नाम गोपिका गुफा था और वह देवानांप्रिय दशरथने राज्याभिषेकके बाद ही (२१४ ई० पू०) भदंतोंको वासनिषिद्याके अर्थ चन्द्र-सूर्यकी स्थिति पर्यंत काल के लिये दान की थी। द्वारके बायें ओर अनन्तवर्मा का लेख है जिसमे कात्यायनीकी मूर्तिकी स्थापनाका उल्लेख है।

वहियाका गुफा—यह नागार्जुन पहाड़ीमे ही उत्तरकी ओर है। इसमे एक ही मडप है और वह १६×११ फुटका है। इसमे पालिस बहुत ही अच्छी तरह की गई है। दीवाले ५ फुट ऊंची है पर छप्पर क्रमशः चढ़ावके कारण ७½ फुट ऊंचा है। गुफामें जो लेख है वह बिल्कुल गोपी गुफा जैसा है किन्तु उसमें इस गुफाका नाम वहियाका गुहा कहा गया है। इस लेखके अतिरिक्त गुप्तकालके तथा ६ठी-७वीं शतीके अन्य कई लेख भी हैं।

वेदथिका गुफा—यह भी नागार्जुनी पहाड़ीमे है और वहियाका गुफाके पश्चिममे उसीसे लगी हुई है। इसका द्वार प्राकृतिक है। गुफाका विस्तार १६॥।×११। फुट है और वह ईंटोंकी दीवालसे द्विधा विभक्त है। इसमें एक छोटी-सी खिड़की भी है। इस गुफामे वैशिष्ट्य यह है कि इसकी दीवालें सीधी नहीं है बल्कि मुड़ी हुई है। भीतरका समस्त भाग अत्यन्त पालिसदार है। द्वारकी दाहनी चौखट पर चार पंक्तियोंका लेख खुदा हुआ है जो पहली दो गुफाओंके लेखोंकी ही प्रतिलिपि है। विभिन्नता है तो गुफाके नामोल्लेखमे जहाँ इसे वेदथिका गुहा कहा गया है।

उदयगिरि और खंडगिरि (उडीसा)की गुफाएं—जैन इतिहास और कलाकी दृष्टिसे उदयगिरि और खंडगिरिको विशेष महत्वका स्थान प्राप्त है। इन पहाड़ियोंकी गुफायें ईस्वी पूर्व दूसरी और पहली शतीकी हैं। प्रस्तुत निबंधमें विस्तार भयसे उनका सम्पूर्ण

परिचय न दिया जा सकेगा, संक्षिप्त परिचय से और कहीं-कहीं तो नामोल्लेखसे ही संतोष कर लिया जाएगा और फिर कभी स्वतन्त्ररूपसे इनके विषयमें लिखा जायगा।

सीढ़ियोंके मार्गसे दर्शक एक छोटे-से गुफा-समूह तक पहुंचते हैं, जिनमें छोटा हाथी गुफा और जयविजय गुफाएं हैं। इन्हें पीछे छोड़ते हुए आगे ३० गज करीब बढ़नेपर लम्बी और दो-मंजली रानीगुफापर पहुंच जाते हैं, यह खंडगिरि की गुफाओंमें सबसे लम्बी और शिल्पांकनमें भी सबसे बड़ी-चढ़ी है। इसकी निचली मंजिल की प्रधान गैलरीमें तीन कमरे हैं, दाएं और बाएं १, १ कमरा है। उपरली मंजिलकी गैलरीमें चार कमरे और दाएं-बाएं १,१, कमरा है। कमरोंके मापके अनुसार उनमें १ से ३ तक द्वार हैं। स्तभशीर्षोपर दो-दो पंखयुक्त पशु हैं। निचली और उपरली मंजिलोंके बरामदे और कमरे भिन्न २ विस्तारके हैं। यहाँकी सभी गुफाओंमें पार्श्वनाथको विशिष्ट स्थान प्राप्त है। उनके जीवनसे संबंधित घटनाएं भी उत्कीर्ण की गई हैं। इसके अतिरिक्त विद्याधरों, संगीतोत्सवों आदि के भी परिचय दिए गए हैं।

बाजाघर—प्रथम शती ई० पू० की गुफा है। इसके बाएं छोटा हाथी गुफा है।

अलकपुरी—छोटा हाथी गुफाके बाएं है। इसका समय रानी गुफासे किञ्चित उत्तर है। यह भी दो मंजली है, प्रत्येक मंजिलमें एक-एक आयताकार कमरा है, नीचेका कमरा २१×७ का है और उसमें ३ द्वार हैं। ऊपरी कमरा २१॥ ×७ का है जिसके द्वार अधिक ऊँचे और चौड़े हैं। कमरोंमें सिंह, पखयुक्त घोड़े, मनुष्यके चेहरेवाले पशु आदि उत्कीर्ण हैं।

जयविजय गुफा — अलकपुरीके बाएं है। इसमें दो कमरे और एक बरामदा है जो १३×४ का है। जय-विजयके ऊपर ११×७ मापकी एक अन्य खुली गुफा है। ठकुरानी, पनस, पातालपुरीमेंसे पाताल-पुरीमें बरामदेसे चार कमरोंके लिए चार द्वार हैं। कमरोंका माप १६×७ फुट है। बगलके कमरे ८×७ के हैं।

मचपुरी या मर्त्यपुरी—दोमंजिली गुफा है। इसमें ३२×११ का बरामदा और दो कमरे १७×७ के हैं प्रत्येकमें गधर्व आदि उत्कीर्ण हैं। इस गुफाका महत्व इस कारण और भी बढ़ जाता है कि इसमें हाथीगुफाके लेखसे किंचित उत्तर कालका एक लेख उत्कीण है जिससे खारवेलके उत्तराधिकारी के विषयमें जानकारी प्राप्त होती है जिसने यह गुफा खुदवाई थी। उक्त लेख इस प्रकार है:-

खरस माहराजस कलिंगाधिपतिनो महा [मेघ] वाहकुदेपसिरिनो लेन [ं] एक दूसरा लेख भी है— कुमारो बडुखस लेनं।

स्वर्गपुरी गुफा—ई० पू० २ री शतीकी है। इसका सामनेका कमरा २४॥ फुट लंबा है। इसमें तीन पंक्तियोंका लेख भी है जो खारवेलकी पट्टरानीका है। लेखमें खारवेलको कलिंगचक्रवर्ती कहा गया है। मूल लेख इस प्रकार है :—

१. अरहंत पसादाय [ं] कालिंगा [ना] [मम] नानं लेनं कारित राजिना ल [।]लाक [स]

२. हथिस हंसपपोतस धु [ड] ना कलिंगच [कवतिनो सिरि खा] रवेलस

३. अगमहिसी [न]। कारि [तं]

गणेश गुफा—स्वर्गपुरीसे ५० गजकी दूरीपर है। यह रानीगुफाके ही समकालीन है। इसका बरामदा ३०×६ का है। यहां पद्मासन तीर्थंकर, यक्ष आदि उत्कीर्ण हैं। ८ वीं-९ वीं शतीका एक नागरी लेख भी निम्न प्रकार हैं:—

१ श्री शान्तिकर मौराज्यादाचन्द्राक्कं

२ गृहे गृहे खाद [?] स [?] ह्ने पुनः प्रंगे [?]

३ जाह्य विराजे जने इज्यागभमसुद

४ भूतो नन्नटस्य सुतो भिषक भोमातो

५ याचते वान्यप्रस्थ सम्वत्सरात्पुनः[1]

धानघर—स्वर्गपुरीसे २० गजकी दूरीपर है। इसका मंडप १८×७ का है और उसमें तीन द्वार

१ इपिग्राफिआ इंडिका जिल्द १३।

भी हैं। वरामदाका माप १६×६ है और वह ६½ फुट ऊँचा है।

हाथीगुफा—स्वर्गपुरीसे ही ४० फुट दूर वायव्य-कोणमें है। यह प्राकृतिक गुफा है, विशाल है, आकार अनियमित है। गुफाका द्वार १२ फुट ऊँचा और गुफाका माप २८×५६ है। यह सर्वाधिक परिचित एवं ख्यातिप्राप्त गुफा है क्योंकि यहीं खारवेलका वह प्रसिद्ध एवं महत्वपूर्ण लेख उत्कीर्ण है जो इसकी ८४ वर्ग फुट जगह घेरे हुए है। लेख यहाँ नहीं दिया जा रहा है।

सर्प गुफा—हाथीगुफासे ५० गजपर है। तीन फणवाली सर्पाकृतिके कारण इसका यह नाम पड़ा है। इसमें दो छोटे लेख हैं:—

पहला—१. चूलकमस कोठाजेया च

दूसरा—१. कंमस हल्खि

२. णय च पसादो

वाघ गुफा—सर्पगुफासे ५० फुट है। इसमें 'नगर अखडभस सभूतिनो लेनं' खुदा है।

जम्बेश्वर गुफा—मे 'सहदास वारियाय नाकि यस लेनं' और

हरिदास गुफा—में 'चूलकरमस पसातो कोठा जोय [।] च' लेख खुदे है।

जगन्नाथ गुफा—२७½×७की है और उसमें चार सादे द्वार है।

अनंत गुफा—का वरामदा २७॥×८॥ का है। इसमें 'दोहदसमनान लेनं' उत्कीर्ण हैं।

तत्त्वा गुफा—का पहला लेख तो घिस गया है, दूसरा 'पादमूलिकस कुसुमास लेनं फि' है।

इसके अनंतर पानघर, खंडगिरि, तेन्तुली आदि गुफाएं हैं।

नवमुनि गुफा—में अनेक तीर्थंकर तथा शासन-देवियां उत्कीर्ण है। १० वीं शतीके नागरी लेख भी है जो इस प्रकार हैं :—

पहला—१. ओं श्री मदुद्योतकेसरिदेवस्य प्रवर्धमाने विजयराज्ये संवत् १८

२. श्रीआर्यसंघप्रतिबद्धगृहकुलविनिर्गत-देशीगणाचार्यश्रीकुलचन्द्र

३. भट्टारकस्य तस्य शिष्यसुभचन्द्रस्य

दूसरा—श्रीधर छात्र

तीसरा—१. ओं श्री आचार्यकुलचन्द्रस्य तस्य

२. शिष्य स्वल्लशुभचन्द्रस्य

३. छात्र विजो

बारभुजी गुफा—में बारह भुजावाली देवी तथा अन्य पशु आदिक हैं।

त्रिशूल गुफा—में २४ तीर्थंकरोंकी मूर्तियाँ है लेकिन यहाँ पार्श्वनाथ महावीरके पूर्व, कतारमें नहीं बल्कि बीचमे विराजमान है। वे मूलनायक है।

एक अन्य खुली गुफामे तीन आकृतियां हैं, उनमें अम्बिका और ऋषभनाथ है। आकाशगंगा, गुप्तगंगा, राधाकुंड, और श्यामकुंड ये कुंड भी है।

ललाटेन्दुकेशरी—में एक मध्यकालीन लेख उत्कीर्ण है। इसकी भाषा संस्कृत है पर वह अशुद्ध एवं अव्यवस्थित है। लेखमें खंडगिरिको कुमारपर्वत कहा गया है जबकि हाथीगुफाके लेखमे उदयगिरि को कुमारीपर्वत कहा है। अनुमान किया जा सकता है कि कुमार और कुमारी दोनोंके अलग अलग नाम रहे हों, और यदि दोनों पहाड़ियोंका एक ही नाम रहा हो तो लेखमे अशुद्धि है, जो उसे देखते हुए संभव ही है। लेख निम्न प्रकार है:—

१. ओं श्री उद्योतकेसरी विजयराज्य संवत् ५

२. श्री कुमारपर्व्वते स्थाने जीर्न्न वापि जीर्न्न इसन

३. उद्योतित तस्मीन् थाने चतुर्विंशति तीर्थंकर

४. स्थापित प्रतीष्ठा काले हरि प जसनंदिक

५. क्न ? द ? ति ? द्रथ ? श्री परस्यनाथस्य कर्म्मारव्य:

राजगिरकी गुफाएं

सोनभंडार गुफाएं—गरम झरनोंसे करीब एक मील की दूरीपर वैभारगिरिकी दक्षिणी तलहटीमें स्थित हैं। पहली गुफा ३४×१७ फुटकी है और इसका द्वार ६॥×३। फुट है। इसमें एक खिड़की भी है जो

३×३॥ की है। कनिंघमने इस गुफाको ही सप्तपर्णी गुफा माना था जिसमें महाकाश्यपकी अध्यक्षता में बौद्धोंकी प्रथम संगीति बैठी थी। बेग्लर इस बात मे सहमत तो न था पर वह इन्हें बुद्ध और आनंद की गुफाएं मानता था। लेकिन गुफाके द्वारके दाहने ३ री-४थी शतीके अक्षरों में दो पंक्तियोंमें खुदे उपजाति छन्दके संस्कृत श्लोकमे उक्त दोनों धारणाएं निरर्थक हो जाती है। वह लेख इस प्रकार है:—

१. निर्व्वाणलाभाय तपस्वियोग्ये शुभे गुहेर्हत्प्र [ति] माप्रतिष्ठिते [।]

२. आचार्य्यरत्नं मुनिवैरदेवः विमुक्तये कारय दीर्घ ? तेज [: ॥] लेखमें गुफाएं निर्माण कराने वाले वैरदेवको मुनि कहा है न कि भिक्षु। मुनि शब्द जैन साधुओंके लिये प्रयोगमें आता है(बौद्ध साधुओंके लिए भिक्षु शब्दका ही प्रयोग किया जाता है) वैर शब्द--जो कि वज्रका जैन प्राकृत रूप है--से भी ऐसा ही समर्थन प्राप्त होता है। ये गुफाएं निर्माण होनेके समयसे ही जैन गुफाएं हैं, जैन होनेके ही कारण चीनी यात्रीने इनका उल्लेख भी नहीं किया। इस लेखके अतिरिक्त गुफाकी भीतरी और बाहिरी दीवालोंपर छोटे-छोटे बहुतसे लेख है। जैन लोग इस गुफाका संबंध राजा श्रेणिक बिम्बिसार और उसकी रानी चेलनासे जोड़ते है, वह भ्रांति भी उक्त लेखसे निरर्थक सिद्ध हो जाती है। इसी गुफामें द्वारके निकट शिखराकार चतुर्मुख मूर्ति रखी हुई है जिसका गुफासे कोई मौलिक संबंध नहीं है। उसमें चारों ओर तीर्थंकर मूर्तियोंके नीचे क्रमशः धर्मचक्रके दोनों ओर जोड़े में हाथी, घोड़ा, बैल और बंदर लांछनरूपमें हैं जिन से वे मूर्तियां प्रथम चार तीर्थंकरों की जानी जा सकती हैं।

दूसरी गुफा पहलीके पूर्वमे उसीसे लगी हुई है। यह २२॥×१७ की है। इसकी छत गिर पड़ी है। यहां भी अनेक जैन तीर्थंकर उत्कीर्ण हैं।

उदयगिरिकी गुफाएं (भेलसा)—समयकी दृष्टि से इन्हें पूर्वीय समूहके साथ ही जोड़ लिया गया है। यद्यपि स्थानकी दृष्टिसे ये मध्यभारतसमूहके साथ हैं। भेलमासे करीब ४-५ मील दूर उदयगिरि पहाड़ीमे बीस गुहामंदिर है और वे सबके सब गुप्तकालके है। पाषाणकी दृष्टिसे यह पहाड़ी गुफाएं खोदनेके लिये उपयुक्त न थी फिर भी यहां अनेक ऐसी मूर्तियां निर्माण की गई हैं जो अद्वितीय हैं। गुफाओंमेंसे पहली और बीसवीं गुफा जैन हैं। बीसवीं गुफा पहाड़ीके ऊपरी भागमें है। इसमें खुदे हुए लेखसे विदित होता है कि यहां पार्श्वनाथ की मूर्तिका निर्माण किया गया था। लेख कुमारगुप्त प्रथमके राज्यकालमें गुप्तसंवत् १०६ में खोदा गया था। मूल लेख इस प्रकार है:—

१. नमः सिद्धेभ्यः [॥]

श्रीसंयुतानां गुणतोयधीनां गुप्तान्वयानां नृपसत्तमानां।

२. राज्ये कुलस्याधिविवर्द्धमाने षड्भिर्य्युतैः वर्षशतेथ मासे [॥]

सुकार्त्तिके बहुलदिनेथ पंचमे

३. गुहामुखे स्फटविकटोत्कटामिमां[।]

जितद्विषो जिनवरपार्श्वसंज्ञिकां जिनाकृतिं शमदमवान-

४. चीकरत् [॥]

आचार्य्यभद्रान्वयभूषणस्य शिष्यो ह्यसावार्य्य-कुलोद्गतस्य [।]

आचार्य्यगोश

५. र्म्ममुनेस्सुतस्तु पद्मावतावश्वपतेर्ब्भटस्य [॥]

परैरजेयस्य रिपुघ्नमानिनस्य संघिल

६. स्येत्यभिविश्रुतो भुवि [।]

स्वसंज्ञया शंकरनामशब्दितो विधानयुक्तं यति-मार्गमास्थितः [॥]

७. स उत्तराणां सदृशे कुरूणां उदग्दिशादेशवरे प्रसूतः [।]

क्षयाय कर्मारिगणस्य धीमान् यदत्र पुण्यं तद-पाससर्ज्ज [॥] [1]

[1] फ्लीट कार्पस इन्स्क्रप्शन इंडिकेरम जिल्द ३।

पश्चिमीय समूह

बादामी—यहां तीन ब्राह्मण गुफाओं के साथ एक जैनगुफा भी है जिनके निर्माणकालमें विशेष अंतर नहीं है। जैनगुफाका निर्माणकाल ६५० ई० होना चाहिए। गुफाका बरामदा ३१×६॥ फुटका है और १६ फुट ऊंचा है। सामने चौखूटे स्तंभ हैं जो एलीफेन्टा शैली से मिलते जुलते हैं। पीछे भी चार स्तंभ हैं। गर्भगृहमें चार सीढ़ियां चढ़कर जाते हैं। यहां पीछेकी दीवालमें सिंहासनपर महावीर-स्वामी विराजमान हैं, दोनों ओर दो चंवरधारी हैं। बरामदेके दोनों छोरोंपर क्रमशः पार्श्वनाथ और बाहुबलि करीब ७॥ फुट ऊंचे उत्कीर्ण हैं। इसीप्रकार स्तंभों और अन्य दीवालोंमें भी तीर्थंकरमूर्तियां उत्कीर्ण हैं।

धाराशिव—पूनासे मद्रास रेलमार्ग द्वारा जाते, सोलापुरसे ३७ मील उत्तरमें यह स्थान है। गांव से करीब दो मील ईशान कोणमें जैनगुफाओंका समूह है। अब तो उनके सामने महादेवमंदिर भी बन गया है। बाएं छोरपर जो गुफा है वह छोटी-सी और अधबनी है किन्तु उसके बाद की गुफा विशाल और सचमुच सुन्दर है। उसका बरामदा ७४×१० फुटका है, और उसमें स्तंभोंके ऊपर तीर्थंकर-मूर्तियां, अलंकरण, चैत्यद्वार आदि सभी कुछ है। बत्तीस खंभे छतको सम्हाले हुए हैं। मण्डपमें चारों ओर बाईस कोठरियां और पीछे के हिस्से में गर्भगृह है जहां सप्तफणयुक्त पद्मासन पार्श्वनाथ ध्यानमुद्रामें विराजमान हैं। उनके सिरपर त्रिछत्र है, कंधोंके ऊपर दोनों ओर गंधर्व आदि उत्कीर्ण हैं। सर्पफणोंमें प्रत्येकपर छोटा सा मुकुट-जैसा है। मूर्तिके चारों ओर प्रदक्षिणामार्ग है। तीसरी गुफाका मंडप ५६ वर्ग फुट है और वह ११ फुट ऊंचा है, उसमें बीस खंभे और पांच द्वार हैं। बरामदेमें छह सादे अठकोण खंभे हैं। चौथी गुफाका मण्डप २४ फुट ऊंचा और २६ फुट चौड़ा है। इसमें चार खंभे हैं। दीवालोंमें चार कोठरियां तथा पिछली दीवाल में गर्भगृह है। दीवालोंपर कोई कारीगरी न होने एवं खंभोंकी शैलीसे यह एलोरासे भी प्राचीन अनुमानित की जा सकती है अर्थात् ७ वीं शतीके मध्यकी।

ऐहोल—यहांकी गुफा बादामीकी गुफासे अधिक लम्बी है। उसका बरामदा ३६×७॥ फुट है और उसमें चार खंभे है, छत मकर, पुष्प आदि से अलंकृत है। बाईं दीवालमें बादामीकी ही तरह पार्श्वनाथकी मूर्ति है जिसके एक ओर नाग और दूसरी ओर नागी स्थित हैं। दाहने छोरपर एक ओर जिन हैं जिसके दोनों ओर दो स्त्रीमूर्तियां हैं और उनके पीछे एक वृक्ष है जिसकी शाखाओं पर दो आकृतियां उत्कीर्ण हैं। हालका प्रवेशमार्ग आठ फुट है और दो खंभोंसे त्रिधा विभक्त है। हालका माप १५×१८ है, उसके दोनों ओर १४×५ के दो प्रार्थनागृह भी हैं। छतके ठीक बीच एक विस्तृत कमल तथा चारों कोनोंमें चार छोटे कमल एवं बीच-बीचमें मकर, मत्स्य, पुष्प आदि चित्रित हैं। गर्भगृहका प्रवेशद्वार भी दो खंभोंसे त्रिधा विभक्त है। यहां भी बदामी जैसी पद्मासन तीर्थंकर मूर्ति है। बाएं ओर की दीवालमें सिंहासनपर महावीर तथा दर्जन करीब अन्य पुरुष—उनमेंसे कुछ हाथियों पर आरूढ़—वंदनाके लिए आते हुये दर्शाये गए हैं[1]।

एलोराकी गुफाएं—पश्चिमीय समूह में एलोरा की गुफाएं सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। ये संख्यामें भी अधिक हैं और विस्तारमें भी, इनकी कला पूर्ण-विकसित होचुकी है। इनसे प्रभावित होकर आखिर फर्गुसनको स्वीकृत करना ही पड़ा कि "कुछ भी हो, जिन शिल्पियोंने एलोराकी इन दो सभाओं (इन्द्रसभा और जगन्नाथ सभा) का निर्माण किया, वे सचमुच उनमें स्थान पाने योग्य हैं जिन्होंने अपने देवताओंके सम्मानमें जीवित पाषाणको अमर मंदिर बना दिया"। एलोराकी जैन गुफाएं

१. विशेष विवरणके लिए देखें, आर्क० सर्वे ऑफ वेस्टर्न इंडिया प्रथम रिपोर्ट पृष्ठ ३७।

ब्राह्मण गुफाओंमें अंतिम, डूमर लेणसे उत्तरकी ओर करीब २०० गजपर है। ये ईस्वी सनकी ८वीं शतीसे १३ वीं शती तककी हैं। इन्द्रसभा और जगन्नाथ सभा एक-एक गुफा नहीं बल्कि गुफा समूह हैं। इनका विस्तार और अलंकरण कैलाश मंदिरके सिवाय किसी भी ब्राह्मण गुफामंदिरसे होड़ कर सकता है। इन गुफाओंके मंडप भी बड़े २ विस्तार वाले है जिनमें यात्रीसंघ सुविधापूर्वक बैठ सके।

छोटा कैलाश—ब्राह्मणोंके कैलाशमंदिरके आधार पर ही इसका निर्माण-कार्य प्रारम्भ किया गया था जो दुर्भाग्यसे कभी पूरा नहीं हो सका। इसे भी कैलाशमंदिरकी ही तरह ठीक उसीके अनुरूप एक ही शिलाका तराशा जा रहा था इसलिए इसे छोटा कैलाश कहते हैं। इसका मंडप करीब ३५-३६ फुट का है और उसमें १६ स्तंभ हैं, पीछेकी ओर गर्भ-गृह है जिसका विस्तार१४॥ × ११॥ है। समूचा मंदिर एक ही शिलाका है और ८० फुट चौड़ा तथा करीब १३० फुट ऊंचा है। बाहरमे इसकी बनावट द्रविड शैलीकी है लेकिन शिखर उतना ऊंचा नहीं है डिजाइन तो कैलाश जैसी है ही। सफाई करते मिट्टी आदि हटानेपर इसमे बहुत-सी खंडित मूर्तियां प्राप्त हुई थीं। उनमेसे एक मस्तकविहीन मूर्तिपर शक सं० ११६६ (ई० १२४६) का लेख मिला था जिसके अनुसार वह श्रीवर्धनापुरके किसी निवासी द्वारा दान की गई ज्ञात हो सकी थी।

इन्द्रसभा—इस गुफासमूहमें दो-दो मंजिली, एक एकमंजिली गुफा तथा अनेक छोटे-छोटे मंदिर सम्मिलित है। इन्द्रसभाके कोर्टके बाहरकी दीवाल के उत्तरी छोरमें पार्श्वनाथपर कमठ द्वारा किए गए उपसर्गकी घटना उत्कीर्ण है। नग्न पार्श्वनाथ कायोत्सर्ग आसानमें ध्यानस्थ खड़े है, ऊपर सप्तफण सर्प छाया किए हुए हैं, एक नागी छत्र लिए हुए है। छत्रवालीके नीचेकी ओर दो अन्य नागीं एक हाथ जोड़े और दूसरी आश्चर्यभरे दुखी मुद्रामें है। इसी ओर ऊपर भैंसेपर सवार कोई असुर रौद्ररूपमें अपने शस्त्रास्त्रों सहित आक्रमण करता हुआ दिखाया गया है। ऊपर कोई शंख बजा रहा है, कोई बरछा लिए आक्रमणको उद्यत है। दाहनी ओर सिंहपर सवार कमठ आक्रमण करनेकी स्थितिमें सिंह दहाड़ रहा है और सामने खड़े व्यक्तिको टुकड़े २ कर देनेके लिए उछल पड़ा है। नीचेकी ओर दो भक्त एक पुरुष और एक स्त्री। दृश्य बिलकुल सजीव है, आकृतियोंके मुखपर जो भाव अंकित किए गए है वे बिलकुल सजीव हैं और एक क्षण को ऐसा प्रतीत होता है कि उक्त घटना हमारी आंखों के ही सामने हो रही है।

दक्षिणी छोरपर बाहुबलि हैं, लताएं उनके शरीरपर छा गई हैं। गर्भगृहमें पद्मासन महावीर ध्यानमुद्रामें विराजमान है, ऊपर दुंदुभि तथा अन्य वाद्य बजाए जा रहे है।

पीछेकी ओर वृक्षके नीचे हाथीपर बैठे किसी यक्षकी मूर्ति है जिसे सभी विद्वानोंने एकमतसे इन्द्र माना है। वास्तवमें महावीरका यक्ष मातंग है। दूसरी ओर यक्षी सिद्धायिकाकी मूर्ति है जिसे अभी तक इन्द्राणी या अम्बिका माना जा रहा है।

कोर्टमें प्रविष्ट होनेपर मंडप मिलता है जिसमें चौमुख महावीर हैं। सिंहासनपर धर्मचक्र और सिंह है। मंडप और उसके द्वार बिल्कुल कैलाश जैसे ही हैं और इसी शैलीके आधारपर ८वीं शतीके माने जा सकते हैं। कोर्टके बाएँ भी हॉल है, उसमें दक्षिणी दीवालमें पार्श्वनाथ और उनके सामने ही बाहुबलि खुदे है। यहां ये बाहरकी मूर्तियोंसे अपेक्षाकृत बड़े हैं। पिछली दीवालमें पूर्ववत् यक्ष मातंग और यक्षी सिद्धायिका (इन्द्र-इन्द्राणी) एवं गर्भगृहमें सिंहासनपर महावीर विराजमान हैं, उनके मस्तकपर त्रिछत्र हैं नीचेके हॉलमें प्रविष्ट होनेपर बरामदा मिलता है और उसके आगे १८ खंभों वाला हॉल, जिसके कुछ खंभे तो चट्टानमें ही कटे हैं। खंभोंपर मनुष्यकायप्रमाण दो तीर्थंकर मूर्तियां हैं जिन्हें लेखके आधारपर शान्तिनाथ

मान सकते है। लेख नागरी लिपिमें है और एक अन्य नागरी लेखसे, जिसे फ्लीटने ६ वीं, १० वीं शतीका माना है, प्राचीन है। दोनों लेख इस प्रकार हैं :—

प्रथम— १. सोहिलब्रह्म
२. चारिणः शान्तिभट्टा
३. एक प्रतिमेयं

द्वितीय— श्री नागवर्म्माकि (कृ) ता प्रतिमा

कोर्टके बाएं ओरके हालमें भी कनड़ी लिपि के लेखोंके चिन्ह हैं जिन्हें लिपिके आधारपर फ्लीटने ७५०-८५० ई०का माना है। बरामदाके पूर्वी छोरसे उपरली मंजिलके लिये सीढ़ियां है। सीढ़ीके ऊपर विस्तृत हॉल है जिसकी छत चित्रित है। हालके खंभे लंकेश्वर गुहासे मिलते हैं इसलिए इन्हें ८वीं शतीका माना जा सकता है। बरामदेमें हालमें तथा अन्य दीवालोंपर पहले जैसे ही महावीर पार्श्वनाथ, बाहुबलि,यक्ष मातंग और यक्षी सिद्धायिका आदि स्थित है। महावीरकी मूर्ति १२ फुट ऊंची हैं। छतपर विस्तृत एवं सुन्दर कमल चित्रित हैं जिसके रंग आज भी चमकते हैं। चारों कोनोंपर दीपक रखनेके छेद है। यहांसे आग्नेय कोणके द्वारसे एक अन्य गुफामें पहुंचते है। यहां भी पूर्ववत मूर्तियां है और चित्रकारी भी लक्षित होती है बड़े हालसे ही एक मार्ग पश्चिमकी ओरकी एक अन्य गुफाको जाता है। यहां प्रविष्ट होते ही दाहनी ओर चतुर्भुजी तथा दूसरी अष्टभुजी देवी स्थित है।

जगन्नाथसभा—इन्द्रसभाके पीछे ही जगन्नाथ-सभा है। सफाई की जाते समय इसमेंसे बहुत-सी मूर्तियां प्राप्त हुई थीं जिनसे विदित होता है कि यहां भारी तादादमें मूर्तियां खोदीं गईं थीं। कोर्टके पश्चिमकी ओर मंडप है जिसमें पहले जैसे ही गर्भगृहमें महावीर, दाहने बाहुबलि और बाएं पार्श्वनाथकी मूर्तियां उत्कीर्ण हैं। यक्ष मातंग और यक्षी सिद्धायिका भी उसी प्रकार ही है। दीवालोंपर कनडी लेखोंके कुछ अक्षर देखे जाते हैं जो ८००-८५० ई०के होंगे। सामने दाहने ओरकी छोटी कोठरीमें भी पूर्ववत् आकृतियां हैं। दीवालोंपर महावीर ५०-६० बार, पार्श्वनाथ ६-१० बार एवं इनके चारों ओर अन्य जिन तथा भक्तसमूह उत्कीर्ण हैं। पीछेकी दीवाल पर यक्ष मातंग और यक्षी सिद्धायिका तथा बाहर द्वाररक्षक स्थित है। गर्भगृहमें चार सिंहोंके आसन पर तीर्थंकर, धर्मचक्रको बौना उठाए हुए ऊपर त्रिछत्र और सिंहासनके निम्न भागमें हरिण लांछन है जिससे हम इसे शान्तिनाथकी मूर्ति कह सकते है। अन्य बातोंमें यह इन्द्रसभा जैसी ही है।

पार्श्वनाथ—पहाड़ीके जिस हिस्सेमें ये गुफाएं है, उसके सिरपर पार्श्वनाथकी विशाल मूर्ति है। तीर्थंकर पार्श्वनाथ पद्मासनमें सिंहासनपर आसीन है, नीचे आसनपर धर्मचक्रकी पूजा हो रही है, पूजा करनेवालोंमें शिव और पार्वती भी सम्मिलित है। मूर्ति १६ फुट ऊंची तथा ६ फुट चौड़ी है। इसपर खुदे हुए लेखसे विदित होता है कि पहाड़ीका प्राचीन नाम चारणाद्रि था। लेख श्लोकबद्ध है और इस प्रकार है.—

१. स्वस्ति श्री शाके ११५६ जयसंवछरे[1] [फाल्गुण सुध त्रितिया बुधे]

[2] श्रीर्धनापुर[1] जभा[1] र्जनि राणुगिः।
तत्पुत्रो म्हालुगिः स्वर्णा[?]वल्लभो जगताप्यभूत् ॥१॥
ताभ्यं[3] व भूव[?]श्चत्वरः[4] पुत्राश्चक्रेश्वरादयः।
मुख्यश्चक्रेश्वरस्तेषु[5] दाधर्मगुणोत्तरः ॥२॥
२. चरयं श्रीपार्श्वनाथस्य गिरौ[6] चारणसेवित।
चक्रेश्वरो सृजदानाढ्ता[7] हुतीं च क्रमणा ॥३॥
वहूनि विंवानि जिनेश्वराणं[8] महान्ति[9] तनैव-विरच्य सर्वतः।
श्राचारणाद्रिर्गमितः सुतीर्थता कैलासभूभृद्भरतेन यद्वत् ॥४॥
धम्मकमूर्तिः स्थिरशुद्धदृष्टिहृद्यो सतीवल्लभ

१. संवत्सरे पढ़े २. श्री वर्धनापुर पढ़े ३. ताभ्या पढ़े ४. चत्वारःपढ़े ५.दानधर्म० ६. चारण० ७. दानाभृतासंदद्रास्य८ जिनेश्वराणा ९. महान्ति

१. पं भगवान लाल इन्द्राजी 'दीनो सती' पढ़ते है।

कल्पवृक्षः । उदयगत निर्मलधर्मपालश्चक्रेश्वर, पञ्चमचक्रपाणि ॥४॥ शुभं भवतु ॥

फाल्गुण त्रितीयां बुधे

उक्त लेखसे ज्ञात होता है कि शक सं० ११५६ फाल्गुण शुक्ल तृतोया बुधवारको श्रीवर्धनापुरके चक्रेश्वर नामके व्यक्तिने चारण ऋषियोंसे सेवित इस पहाड़ीपर कर्मोके क्षयहेतु श्री पार्श्वनाथका चैत्य और साथही साथ अनेक विशाल जिनमूर्तियां भी निर्माण कराई और इस प्रकार यह चारणाद्रि पर्वत एक तीर्थ बना दिया गया जिस प्रकार भरतने कैलाशको बना दिया था। पांचवें श्लोकमें चक्रेश्वर-को अनेक गुण-युक्त, धर्मपालक तथा पंचमचक्रपाणि (चक्रवर्ती या नारायण) कहा गया है।

पहाड़ीके नीचे और भी गुफाएं हैं पर वे टूट फूट चुकी है।

पाटन—पीतलखोराके निकट पाटन ग्रामके पूर्व में कनहर पहाड़ीके पश्चिमी भागमें दो गुफाएं नागार्जुनकी कोठरी और सीताकीन्हानी खुदी हुई है। दोनों गुफाएं प्राय, एक-सी है, उनका आकार अनियमित है और उनमें अनेक दिगम्बर मूर्तियां उत्कीर्ण है। पहला गुफाका वरामदा एक छोरपर १८×६ और दूसरेपर १८×४ है और दो खंभोंसे सधा हुआ है। दूसरी गुफाका वरामदा २४ फुट लंबा है और उसमें भी दो खंभे है। वरामदाके बाएं एक छोटा-सा कमरा भी है। हाल २०×१४ और २०×१६ का है, उसमें भी दो खंभे हैं, इनमेंसे एक पर स्थूल पुरुष और दूसरेपर बालक लिए स्त्री उत्कीर्ण है। पिछली दीवालमें कमलपर तीर्थंकर आसीन हैं। सिरपर तीन छत्र, कंधोंके ऊपर विद्याधर आदि और दोनों ओर दो चंवरधारी हैं। पीछेको ओर दक्षिणी दीवालमें आदमकद खड़े जिन उत्कीर्ण हैं, उनके पीछे प्रभामंडल, सिरपर तीन छत्र आदि हैं। गुफाकी बनावट एलोराको अन्तिम कालीन गुफाओं जैसो ही है अतः ये उसी कालकी होनी चाहिए।

चामर लेण—नासिक से कुछ दूर वायव्य कोण-में ११-१२ वीं शतीको गुफाएं हैं। इनमेंसे दो गुफाओंमें भद्दी जिन-कृतियां पद्मासन ध्यान-मुद्रा में हैं। एकको दीवालमें सिंहासनपर जिन हैं, उनके मस्तकपर २ तथा कतारोंमें १६ जिन है। गुफा के पीछे सर्पफणयुक्त पार्श्वनाथको अधूरी मूर्ति है।

भामेर—खानदेशके निजामपुर डिस्ट्रीक्टमें धूलियासे ३० मील दूर कुछ गुफाएं हैं। इनमेंसे तीसरी सचमुच गुफा है, इसका वरामदा ७४ फुट है और उसमें तीन द्वार २४×२०के वरामदोंमें जाते है। जो एकदम अंधियारे है। दीवालोंपर पार्श्व-नाथ तथा अन्य तीर्थकरोंकी भद्दी आकृतियां बनी है। शैली चामरलेण जैसी ही है।

बामचन्द्र—पूनासे करीब १५ मील वायव्य कोण में एक छोटा-सा गुहामंदिर तथा दो अधूरे गुहा-मंदिर है। अब इनमें शिवलिंग स्थापित है। मंडप १५॥ वर्गफुट, छत नीचा, चार स्तंभ, गर्भगृहके द्वार की चौखट अलगसे जोड़ी हुई। यहां जो भी आकृ-तियां मिलती है वे तेल और सिंदूर आदिसे इतनी पोत दी गई है कि पहचानी नहीं जाती।

अंकाइ तंकाइ गुफाएं—अंकाइ गांवमें १००गज की दूरीपर सात गुफाओंका समूह है,गुफाएं है तो छोटी पर शिल्पकी दृष्टिसे महत्वकी है। पहली गुफा दो-मंजिली है। नीचेकी मंजिलका सामनेका भाग दो खंभोंके आधारपर स्थित है। दोनों खंभोंपर द्वार-पाल जैसी आकृतियां उत्कीर्ण है। वरामदेसे मंडपमें जानेका द्वार तो शिल्पसे भरपूर है वहां सूक्ष्म-से सूक्ष्म अंकन किया गया है। भीतरी मंडप वर्गाकार है, उसकी छतको चार खंभे साधे हुए हैं। सभी खंभे ११-१२ वीं शतीकी शैलीके है। गर्भगृहका द्वार भी पूर्ववत् शिल्पपूर्ण है। ऊपरी मंजिलका द्वार उतना शिल्पित नहीं है, भीतरी हाल तो बिल-कुल ही सादा है।

दूसरी गुफा पहले जैसी ही है और दो-मंजिली है। नीचेकी मंजिलका वरामदा २६×१२ फुट है, उसके दोनों छोरोंपर जो मूर्तियां है जो दीवाल में उत्कीर्ण की हुई नहीं बल्कि स्वतंत्र पाषाणकी हैं।

यहां भी इन्द्र-इन्द्राणी (संभवतः मातंग और सिद्धायिका) स्थित हैं। इन्द्राणीको तो गांववालोंने पोतपातकर भवानी बना लिया है। दूसरी मंजिलके लिये सीढ़ियोंपे चढ़कर सादे द्वारसे होकर छज्जेपर पहुचते है जिसके दोनों छोरोंपर विशालाकृति सिंह उत्कीर्ण है। गर्भगृह ९×६ फुट है और उसमें मूर्ति की चौकी बनी हुई है।

तीसरी गुफा दूसरी गुफाकी निचली मंजिल जैसी है। सामनेका कमरा २५×९ फुट है। दोनों छोरोंपर विशाल आकारके इन्द्र-इन्द्राणी? स्थित है। मंडप २१×२५ और उसमें चार खंभे है। छतपर जो कमल बना है वह अन्य स्थानोंकी अपेक्षा अधिक सुन्दर तथा आकर्षक है। उसमें पंखुड़ियोंका चार कतारे हैं, उन पंखुड़ियोंपर नाचती या वाद्य बजाता देवियां दिखाई गई है, देवदेवियों के अनेक जोड़ अपने अपने वाहनोंपर आसीन हैं और तीर्थकरोंके जन्मकल्याणक उत्सवकी ओर संकेत करते है। गभगृहमें आदमकद खड़े तीर्थंकर है, संभवतः शांतिनाथ निचली चोकीपर दोनों तरफ भक्त और सिंह, मध्यमें धर्मचक्र और उसके दोनों तरफ हाथी, नाच मृगलाछन तथा छातीपर श्रीवत्सांक इनके दोनो ओर छोटे-छोटे खंभोंपर पंचफणयुक्त पार्श्वनाथ खड़े है। शांतिनाथके कंधोंके ऊपर विद्याधर तथा उनके भी ऊपर गजलक्ष्मी। हाथियों के ऊपर पुष्पवृष्टि करते गंधर्वोंके जोड़े और सबसे ऊपर तोरण बना है। इस प्रकार यह शैली अधिक प्राचीन प्रतीत नहीं होती, १२वीं–१३वींशतीकी कला है। गुफामे कुछ ऐसे भी छेद है जिनमें महमूद गजनवीके आक्रमणकालमें तीर्थंकर–मूर्तियां छिपा दी गई हों अथवा जिनका उपयोग अलाउद्दीन खिलजीके रक्तपातभरे राज्यकालमे हुआ हो।

चौथी गुफाके बरामदेमें दो खंभे है, बरामदा ३०×८ फुट है। द्वार तो तीसरी गुफा जैसा ही है। मंडप १८ फुट ऊँचा और २४ फुट चौड़ा है, उसके बीचमें दो खंभे हैं। बरामदेके बाएं खंभेपर लेख भी है पर पढ़ा नहीं जाता। अक्षरोंसे हो उसे ११–१२वीं शतीका अनुमानित किया जा सकता है। इनके अतिरिक्त कुछ गुफाएं पूर्वकी ओर भी हैं पर वे सब टूटी फूटी है।

मध्यभारत समूह

मध्यभारतमें गुहामंदिर दो ही स्थानोंमें है और दोनों ही स्थान भूतपूर्व ग्वालियर रियासतमें है। एक तो भेलसाके पास उदयगिरि पहाड़ी, जिसका वर्णन समयक्रमके आधारपर पूर्वीय समूहके साथ किया जा चुका है और दूसरा ग्वालियरका किला। ग्वालियर-किलेके गुफामन्दिर संख्या, विस्तार तथा मूर्तियोंकी ऊँचाईके कारण विशेष आकर्षण की वस्तु है। उक्त किला एक स्वतंत्र पहाड़ीपर है, वास्तवमें किला और पहाड़ी अलग अलग नहीं बल्कि एक ही वस्तु है। यह उत्तर-दक्षिण करीब २ मील लम्बा, पूर्व-पश्चिम आधा मील चौड़ा एवं ३०० फुट ऊँचा है। किलेमें कोई भी अधिक प्राचीन जैन वस्तु प्राप्त नहीं हुई है, सासबहू मंदिर जिसे कुछ लोग जैनमन्दिर कहते है, भी संभवतः ई० १०९३ में निर्माण किया गया था[1]।

१५वीं शतीमे तोमर राजाओंके राज्यकालमें जैनोंका जोर बढ़ा और उस समय पूरी पहाड़ीको जैन-तीर्थ बना दिया गया। सारी पहाड़ीपर ऊपर नीचे, चारों ओर गुफामन्दिर खोद दिये गए और उनमें विशाल मूर्तियोंका भी निर्माण किया गया। यद्यपि ये गुफामन्दिर और मूर्तियां संख्या और विस्तारमें सर्वाधिक है फिर भी एलोरा तो क्या अन्य स्थानोंकी अपेक्षा भी इनका उतना अधिक महत्व नहीं आंका जा सकता क्योंकि एक तो ये अर्वाचीन है और दूसरे ये उतनी कलापूर्णभी नहीं है।

उरवाही द्वारपर पहला और महत्वपूर्ण समूह है जिसमे करीब २५ विशाल नग्न तीर्थंकर-मूर्तियां मन्दिरोंके साथ खोदी गई है। इनमे सबसे बड़ी

१ कनिंघम, रिपोर्ट जिल्द २, पृष्ट ३६०।

५७ फुट ऊँची है। यहीं आदिनाथ और नेमिनाथकी ३०–३० फुट ऊँची मूर्तियां हैं, साथ ही साथ अनेक छोटी छोटी मूर्तियां तथा अलंकरण आदि है पर उनमें कोई आकर्षण नहीं है। दूसरा समूह आधा मील ऊपर और जाने पर मिलता है जहां २०-३० फटकी मूर्तियां तथा ८--१५ फुट तककी बहुतसी मूर्तियां उत्कीर्ण हैं। इस समूहमें सचमुच गुफा कही जा सकनेवाली गुफाएं भी है। इनके अतिरिक्त पहाड़ीके चारों ओर तीन-चार गुफामन्दिर समूह है, उनमेंसे सर्वाधिक महत्त्व का समूह है एक पत्थर की बावड़ीके पासका। इस गुफासमहमे पार्श्वनाथ की पद्मासन मूर्ति करीब २० फुट ऊंची है, ऋषभनाथ अजितनाथ आदि की कायोत्सर्ग आसन में खड़ी अनेक विशाल मूर्तियां है। समूह से हटकर कुछ गजों की दूरीपर एक विशाल गुफा है जो सही माने में मन्दिर ही है। मन्दिरकी मूलनायक मूर्ति ५५--६० फुट से कम ऊँची न होगी।

इन गुफामन्दिरोंमें अनेक लेख मिले हैं जिनसे विदित होता है कि ये ३३ वर्षमें खोदी जा सकीं थीं (अर्थात् १४४१ से १४७४ में)। कनिंघमका मत है कि ये लेख पीछेसे जोड़े गए है। कुछभी हो, पर इसमें संदेह नहीं कि ये १५वीं शतीके गुफामन्दिर है कला और शैलीकी दृष्टिसे ये अन्य स्थानीय गुफामन्दिरोंकी अपेक्षा अधिक निम्न श्रेणीके है।

उपसंहार—इस प्रकार हम देखते है कि गुफामंदिरोंका इतिहास जैनोंसे ही प्रारंभ होता है और उन्हींपर आकर समाप्त होजाता है— ग्वालियर किलेके गुफामन्दिरोंके उत्तर-कालमें शायद अन्यत्र कहीं कोई गुफामन्दिर खोदाही नहीं गया। जहां तक शिल्प का क्षेत्र है जैन अन्य दोनों, ब्राह्मण बौद्ध सम्प्रदायोंसे किसी प्रकार पिछड़े नहीं है-- अजन्ता की गुफाओंका विशेष महत्व उनके चित्रोंके कारण है-। उदयगिरि और खडगिरिकी गुफाएं तो गुफा-निर्माणके इतिहासमें सर्वोच्चस्थान प्राप्त किये हुए है, और इन्हींसे दोमंजिलोगुफाओंका इतिहास प्रारंभ होता है।

कलाकी दृष्टिसे शित्तन्नवासलके मंदिरभी उल्लेखनीय है। इसीप्रकार सौराष्ट्रमे गिरनारकी बाबा प्यारा मठ तथा ऊपरकोटकी गुफाएं भी जैन गुहामंदिर निर्माणकी प्राचीनता सिद्ध करती हैं। इन गुहाओंमें अनेक जैन चिन्ह प्राप्त हुये है और बर्जेस ने यहीं पार्श्वनाथकी एक मूर्ति भी देखी है, इसी स्थानसे क्षत्रपकालीन उत्कीर्ण लेख भी प्राप्त हुआ था जिसमें 'केवलिज्ञानसंप्राप्तानां' पद पढ़ा गया था।

ऐसी स्थितिमें फर्गुसनके इस कथनका 'कि जैन कभी गुहानिर्माता रहे ही नहीं' क्या मूल्य है इसे पाठक स्वयं समझ सकते है।

———

आखिर यह सब झगड़ा क्यों !

[ले० श्री बा० अनन्तप्रसाद जैन बी० ए०, बी० एस-सी० इंजीनियर]

यों तो जितने मनुष्य उतने ही मत, परन्तु सामूहिक रूपमें किसी एक विशेष आचार-व्यवहार एवं सिद्धान्तको माननेवाले अपनेको अलग-अलग सम्प्रदाय या धर्मका अनुयायी मानते और कहते हैं। संसारकी वर्तमान सामाजिक व्यवस्थाओंमें कोई भी व्यक्ति जन्मसे ही किसी धर्म या सम्प्रदायका अंग होजाता है। जो धर्म उसके बाप-दादे मानते आये है, वही उसका भी धर्म हो जाता है। बादको उसी कुटुम्ब या समाजमें रहते २ उस व्यक्तिकी प्रवृत्तियां, विश्वास, मान्यतायें, धारणायें और रीति नीति तथा व्यवहार सभी कुछ सांचेमें ढले जैसे हो जाते है। विभिन्न धर्मावलम्बियोंने अपने धर्मको श्रेष्ठ और दूसरोंके धर्मोंको गलत या हीन कह-कह कर एक ऐसा वातावरण सदियोंसे कायम कर रखा है कि जो भी इसमें प्रवेश करता है, वह भी उन्हीं विरोधी भावनाओंको दृढ़तासे अपना लेता है। उपर्युक्त धार्मिक शिक्षाओंके अभावने इस विरोधको सदा बढाया एवं पुष्ट ही किया है। शक्तिशाली या कमजोर राजाओं सम्राटों और नरेशोंने या उनके मंत्री, प्रशंसक और खुशामदियोंने राजाओं तथा राज्यसत्ताका प्रभाव एवं दबदबा बनाए रखने या अन्य प्रकारसे स्वार्थ साधनके लिये तरह-तरहके शास्त्रोंकी अपने मनोनुकूल व्याख्यायें व्यवस्थायें और परिभाषायें समय-समयपर प्रचलित कीं—कहीं कहीं तो काफी अन्याय अत्याचारके द्वारा भी राज्यकी इच्छाओंका प्रचार किया गया। ये सभी विश्वास समयके साथ जोर पकड़ते पकड़ते रूढ़ियोंमें परिणत हो गये और लोगोंने उन्हें ही स्वाभाविक मानकर सारा जोर लगा दिया तथा अब भी लगाते रहे हैं।

इस तरह संसारमें फैले मत-मतान्तरों या धर्मोंकी संख्या काफी बड़ी होगई है। केवल भारतमें ही प्रचलित धर्मों, मत-मतान्तरों, सम्प्रदायों और मान्यताओंकी गिनतीका अंदाजा लगाना प्रायः असंभव-सा ही है। भारतीय दर्शन एक विशेषता रखते हैं। प्रायः सभी धर्म विभिन्न होते हुए भी अपनी मान्यताओ सिद्धान्तों, तर्कशैली एवं आचार-व्यवहारमें बहुत बड़ी समानता रखते हैं। फिर भी आपसी असहयोग या झगड़ा इसी लिये है कि हर एक अपनेको दूसरेसे भिन्न और ऊंचा समझता और वर्तता है तथा दूसरों को हीन दृष्टिसे देखता है। यही बस ठीक नहीं। यदि सभी भारतीय दर्शनोंका समन्वय किया जाय तो किसी प्रश्न या विचारणीय विषयको पूर्णरूपसे समझनेके लिए हर एक दृष्टिकोणको अलग-अलग रूपसे समझनेकी आवश्यकता होगी।

जैनी कहते है कि उनका धर्म सर्व श्रेष्ठ है। ऐसा ही दूसरे भी कहते हैं। सब अपने अपनेको सबसे अधिक ठीक या एकदम ठीक और दूसरोंको गलत कहते है। सभी लोक-कल्याण और व्यक्ति तथा समाजकी उन्नतिका दावा करते हैं और कहते हैं कि केवल उन्हींके धर्मशास्त्रोंमें बतलाए मार्गसे चलकर कोई भी मनुष्य उन्नति कर सकता है। हर एक यह भी कहता है, कि जो ज्ञानवान् मानव सचमुच धर्मतत्त्वोंको जानकार होगा, वह उसीके धार्मिकतत्त्वों को ठीक मानेगा और यदि कोई उसे स्वीकार नहीं करता है तो उसका मतलब यह है कि उसका ज्ञान अपूर्ण है या विकृत है, और ज्ञानके विकासके साथ जब सब बातोंको वह और अधिक समझने लगेगा तब स्वयं उसके धर्मकी श्रेष्ठता स्वीकार कर लेगा। जब वास्तवमें बात ऐसी ही है, और ईमानदारीके साथ लोग सचमुच ऐसा ही समझते और मानते हैं तब फिर झगड़ा किस बातका ? सिवाय इसके कि

हम अपनी ऐंठ या अहंभावमें या अपनेको बड़ा और दूसरोंको छोटा समझते या कहते रहनेके लिये ही यह सब झगड़ा-रगड़ा या द्वेष-विद्वेष बढ़ाते रहें और कोई तथ्यया असलियत इसमें नहीं है। यह तो केवल हमारी संकुचित एवं ओछी मनोवृत्तिका परिचायकमात्र है। यदि सचमुच लोककल्याण अभीष्ट है तो वजाय आपसी झगड़े रगड़े में शक्ति और समयका दुरुपयोग अथवा बर्बादी करनेके लोग उसे अपने अपने ज्ञानकी वृद्धिकी तरफ लगावें तो सचमुच धर्मका पालन भी हो और सबका तथा संसारका भला भी।

अतः संसार-देश-समाज-एवं धर्म और व्यक्तिकी सच्ची उन्नतिके लिये यह आवश्यक है कि हम जैन बौद्ध, वैष्णव, वेदान्ती, आर्यसमाजी आदिका भेद-भाव भूलकर एक दूसरेकी बातोंको जाननेकी चेष्टा करें। इससे ज्ञानकी उत्तरोत्तर वृद्धिद्वारा विज्ञ ज्ञानो समझनेकी शक्ति और मादा अर्जित कर लेनेमें समर्थ हो सकेगा और फिर उसे जो ठीक जंचेगा उसे स्वयं स्वीकार कर लेगा आरंभमें ही द्वेषमूलक झगड़े करके शक्तियोंका व्यर्थ ह्रास कर देना तो कोई बुद्धिमानी नहीं कही जा सकती। यद्यपि अबतक बहुत दिनोंसे यही होता चला आरहा है पर गलत बात गलत ही है चाहे कितनी भी पुरानी क्यों न होजाय। अबतक हमने अपना संसारका एवं मानवमात्रका बड़ा ही भारीनुकसान किया है। इसे—इसबातकी महत्ताको यदि हम अब भी समझले और सच्चे दिलसे दृढता-पूर्वक पुरानी गलत रीतियों, रूढ़ियों, धारणाओं एवं प्रणालियोंसे छुटकारा पा सकें तो पुनर्निर्माण एवं सच्चे उत्थानमें देर नहीं लगेगा।

हमारे अन्दर वही अनंत शक्तिमान आत्मा विद्यमान है जो पहिले कभी था और ठीक रास्ता पकड़ लेनेपर इसे शरीर धारण करना दुःख और अज्ञानका कारण न होकर अनंत सुख, ज्ञान और मोक्षका कारण हो सकेगा। अज्ञान अथवा मूढता-वश हो हम मानव एक-दूसरेसे लड़ते है, एक दूसरेको ऊँचानीचा समझते हैं और तदनुसार व्यवहार करते हैं। यदि यह अज्ञान दूर होजाय तो हम स्वयं अपने आप किसीके बहकावे या भुलावे-में न पड़कर जो सच्चा, अच्छा एवं सर्वश्रेष्ठ होगा उसे जानलेंगे, चुनलेंगे, पसंद तथा स्वीकार कर लेंगे और उसके अनुसार काम भी करने लगेंगे। फिर तो ऐसे सभी लोग लोक-कल्याणमें सावधान एवं अपने और दूसरोंको ज्ञानका लाभ करने-करानेकी तरफ ही सचेष्ट होंगे और उसीमें सतत रचे-पचे रहेंगे ऐसा होनेपर रगड़ा-झगड़ा अपने आप खत्म हो जायगा ज्ञानका उपार्जन और वृद्धि ही मुख्य ध्येय रहेगा।

संसारमें या किसी भी देशमे हरएक प्राणी अपना अपना अलग अलग स्वभाव, मत-व्यवहार, पसंद, ढंग और काम करनेके तरीके रखता है। यह भिन्नता कभी मिटनेकी नहीं। सारे संसारमें इस तरह काल, जलवायु और स्थान या प्रवृत्ति और झुकावके कारण भी एक धर्म, एक रीति-व्यवहार या मान्यतायें हो ही नहीं सकतीं, तब फिर क्यों न ऐसा कियाजाय कि हम वजाय छोटी-छोटी बातोंमें ही समय वर्वाद करनेके सारे संसारमें सम्यक्-ज्ञानकी वृद्धि करें, जो स्वयं ही सब प्रश्नों, शकाओं और गुत्थियों का समाधान करनेवाला है।

श्वेताम्बर-दिगम्बरका झगड़ा या तेरापंथी-बीस-पंथीका झगड़ा या जैनी-आर्यसमाजका झगड़ा तो सचमुच व्यर्थका वितण्डावाद है। यह सब विभिन्न-ताएँ तो एक-न-एक रूपमे सर्वदा रहेंगी ही। लोग अपनी अपनी रुचि समझ एव सुविधाके अनुसार समय समयपर क्षेत्र-काल-देश एवं आवश्यकताओं से मजबूर होकर हेर-फेर करेंगे ही, खासकर अज्ञाना-वस्था या कम ज्ञानकी अवस्थामें दूसरा हो ही क्या सकता है। इसलिये सभी धर्मके पंडितों, विद्वानों, गुरुओं और प्रचारकोंको अब यह चाहिये कि लोकमें ज्ञानकी अधिक-से-अधिक वृद्धिके लिये यत्न, चेष्टा, अध्यवसाय एवं श्रम करें। अपनी बातें अधिकाधिक रूपमें समझें और दूसरोंकी बातों को समझकर उनसे ठंडे दिल एवं दिमागके साथ तुलना करें।

दूसरोंकी बातें स्वयं जानें और अपनी बातें समझने वालोंसे दूसरोंकी बातें जाननेको भी कहें तथा जाननेमें मदद करें तभी शुद्ध ज्ञान होगा और उसका सुसंस्कृत विकास होगा। ऐसा करके ही लोगोंकी मानसिक उन्नति और साथ ही आध्यात्मिक उन्नति भी हो सकेगी।

प्रायः सभी भारतीय धर्मोंमें आत्मलाभ आत्म-ज्ञान(to know the self or self realisation) को ही महत्व दिया गया है और इसी को चरम आदर्श या ध्येय कहा गया है। यही सच्चा पुरुषार्थ है और मानव-जीवन प्राप्त करनेका ध्येय—मतलब या अर्थ भी इसीसे सम्पन्न होता है। अपनेको जानना किसी भी समझदार व्यक्तिका सबसे पहला कर्त्तव्य है और सतत प्रयत्न एवं ध्यान अथवा-तपस्या या योग साधनपूर्वक अपने आत्माको जान कर उसे पा लेना ही हमारे जीवनका एक-मात्र उद्देश्य है। इस कार्य या आदर्शकी सिद्धिके लिए एकाग्रता अविच्छिन्न ध्यान, निर्विकार मनोयोग एवं निश्चितता परम आवश्यक है। निर्मल ज्ञानका होना तो सबका आधार ही है। इस परम इष्ट आत्म-धर्मके साधनद्वारा ही मनुष्य या व्यक्ति दुखोंसे छुटकारा पाकर उन्नति करते-करते ईश्वर हो जा सकता है और इस तरह सारे आवागमन या सांसारिक कष्टोंसे छुटकारा पाकर परम निर्विकल्प एवं परम निराकुल मोक्षसुखका लाभ कर सकता है। इसी एक अंतिम या चरम लक्ष्यकी प्रधानतापूर्वक प्राप्तिके लिए ही सभी धर्मोंने अपना २ मार्ग एवं रीतियाँ निर्धारित या निरूपित की है। जब लक्ष्य एक ही है तब साधन, प्रवृत्ति एवं समझके अनुसार व्यावहारिक विधानोंमें यदि भेद हुआ ही या होगा ही तो उसके कारण व्यर्थ तू-तू मैं-मैं करते रहना सिवा हानिके लाभप्रद कभी नहीं हो सकता। यही कारण है कि हम सब आपसमें एक दूसरेको समझ कर एक-साथ संयुक्त चेष्टा करनेके बजाय लड़ते झगड़ते ही रह गए। इसमें अपने आप गिरे उन्नति-मार्गमें आगे बढ़नेमें वंचित रहे और दूसरोंको भी गिराया तथा वंचित किया।

धार्मिक आचारोंको पूर्णरूपसे निवाहने और ठीक जाननेके लिए देशकी राजनैतिक परिस्थितियोंका एवं सामाजिक संगठनका अनुकूल होना भी अत्यंत जरूरी है। राजनैतिक वातावरण या विधान और व्यवधानोंपर सच्चे धर्मका पालन बहुत कुछ निर्भर रहता है। इसलिए धर्मगुरुओं, पंडितों और उपदेशकोंको यदि सचमुच लोककल्याण इष्ट है। सच्चे धर्मकी स्थापना ही मुख्य लक्ष्य और जाति, सम्प्रदाय, समाज एवं देश अथवा संसारमें सच्चा सुख और स्थायीशान्ति स्थापित करना ही उत्तम आदर्श है तो उन्हें सबसे पहले अपनी सारी शक्ति लगाकर राजनैतिक वातावरणको दुरुस्त करना ही होगा। अन्यथा आज तक हजारों वर्षोंमें कितने ही बड़े-बड़े अवतार बुद्ध, तीर्थंकर, पैगम्बर, मसीहा, उपदेशक, ज्ञानी वगैरह जो हुए हैं उनको शिक्षाओंके होते हुए भी संसार की दुरवस्थाएं एवं दुर्व्यवस्थाएं अब भी बनी हैं, उसमें उनकी भी सारी चेष्टाएं या शिक्षाएं केवल सैकड़ों करोड़ों मानवोंमें गिनतीके कतिपय धनिकोंकी कुछ भलाई करनेके सिवा प्रायः व्यर्थ ही रही है। अब तो एक ऐसे समाजकी स्थापना की जरूरत है जहां प्रायः सब समान हों—न कोई ऊँच हो न कोई नीच हो, यथाशक्ति परिश्रम करनेके बाद आजीविका एवं निर्वाहकी निश्चिन्तता हो और वृद्धावस्था या असहायावस्थामें देख-रेखकी निर्भरता हो। रूसका साम्यवाद तो अपने विनाशीक उपायोंसे आरंभ में सफल होते हुए भी जीवनके मुख्य व्यावहारिक क्षेत्रमें असफल सिद्ध हुआ है। अब तो महात्मा गांधी वाला जैन तीर्थंकरोंका बतलाया हुआ अहिंसामय 'समतावाद' ही हरएक बुराइयोंको दूर कर सकता है। इस 'समतावाद' की सिद्धिके लिए 'आत्मधर्म' का अधिक-से-अधिक व्यापक प्रचार ही इस धरातल पर अधिक-से-अधिक सुख-शान्ति स्थापित कर सकता है। सभी भारतीय धर्म या धर्मतत्व एक स्वरसे इसकी महत्ताका गान गाते हैं। फिर क्यों न सब कोई मिलकर—अपने अपने धर्मोंद्वारा निर्देशित मार्ग

से चलते हुए और एक-दूसरेसे न टकराते हुये आगे आगे बढ़ें। जो जितना ही अधिक बढ़ जाय उतना ही अच्छा। आत्मज्ञानके मार्गमें किसी भी उपाय, अवलम्ब या धर्मका आश्रय ग्रहणकर जो कुछ भी थोड़ा-सा भी यदि कोई अग्रसर हो सके तो वह भी एकदम नहींसे हर हालतमें अच्छा ही है। सैकड़ों-हजारों वर्षोंसे एक खास तरहके संस्कारोंमें पलते रहनेके कारण हममें कोई बात जांचने, देखने, समझने और ग्रहण करनेकी एक खास अपनी दृष्टि या दृष्टिकोण हो गया है। धार्मिक-रोक, व्यवधान और संकुचितताने इस दृष्टिकोणको अत्यन्त संकुचित बना दिया है। इसे अब दूर करना होगा। जरूरत है ज्ञानवृद्धिकी। हम स्वयं अपने ज्ञानकी वृद्धि करें और दूसरोंमें इसकी रुचि उत्पन्न करें। इसके लाभ सबको समझावें एवं हर तरहकी सुविधायें और उपादान उपलब्ध करने और करानेमें सच्चे हृदय से सचेष्ट रहें। तभी हम अपने धर्मकी—हर एक धर्म वाला अपने अपने धर्मकी—और साथ ही साथ व्यक्ति, समाज एवं देश तथा अंतमें संसारकी उन्नति एवं उत्थान कर सकता है। एक वेदान्तीको यह नियम बना लेना चाहिये कि हर वेदान्तके साधक, जिज्ञासु या ज्ञान प्राप्त करनेवालेको जैन, बौद्ध इत्यादि सभी प्रमुख दर्शनोंकी ठीक जानकारी प्राप्त करना और कराना ज्ञानकी विशुद्धता एवं पूर्णताके लिये अनिवार्य बतलावे तथा यही बात जैन और बौद्धोंके लिये भी आवश्यक है कि वे वेदान्त, सांख्य, न्याय इत्यादि दर्शनोंकी जानकारी अपने यहां आवश्यक करार दें। तभी ज्ञानका चौमुखी विकास एवं प्रकाश होगा और हर एक दूसरेकी बातोंको तो जाने ही गा, जो अपनी बातोंकी जानकारीमें दृढ़ता प्राप्त करनेके लिये अत्यन्त आवश्यक है, साथ ही साथ अपनी बातोंका ज्ञान भी अच्छी तरह या सम्यक् प्रकारसे हो सकेगा। अन्यथा तो हर एकका ज्ञान अधूरा या एकतरफा ही रह जाता है। इसीसे साधना जब सफल नहीं होती तब लोग धर्मको ही दोष देते हैं और अपनी गलतियोंको धर्मके माथे थोप देते हैं। यह ठीक नहीं। इस उलटी प्रवृत्तिने हरतरह से सबकी हानि ही की है। ज्ञानकी वृद्धि होनेसे सारी आपत्तियां और भेदभाव अपने आप मिट जायेंगे या शमन हो जायेंगे।

जब आत्मा हजारों-लाखों-करोड़ों क्या अनादिकाल के असंख्यात वर्षोंसे इसी तरह चलता हुआ आता है तो यदि सौ-सौ वर्षका समय या एक-दो जन्म और भी लग जायँ तो कोई खास फर्क नहीं पड़ जाता। झगड़ेकी जड़ यही है कि हम सब कुछ इसी एक जन्म में पा जानेकी हड़बड़ीमें एक-दूसरेसे टक्कर खाते ही रह जाते हैं और कुछ भी नहीं कर पाते। मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं कि खामखाहमें जन्मोंकी संख्या बढ़ाई जाय। आदर्श तो यही रखना चाहिये कि हमें कम-से-कम समयमें और संभवतः इस एक ही मनुष्यभव (जन्म)में मोक्षकी प्राप्ति कर लेनी है—पर यदि यह संभव न हुआ या यदि हम अपने इस चरमोत्कर्ष तक समयाभावसे नहीं पहुंच सके तो आगे भी चेष्टा करनी छोड़ दें सो गलती या भ्रम है। हम अपने समताभावको स्थिर रखते हुये जितना भी आगे बढ़ सकें उतना बढ़ना चाहिये और ऐसा करना आगे-आगेके जन्म या जन्मोंमें उससे भी आगे-आगे बढ़नेमें सहायक होगा न कि पीछे फेरनेमें। इस तरह मनुष्यका सुधार तथा उसे सच्चे सुख एवं स्थायी शांति और निश्चिंततताकी प्राप्तिका एक मात्र साधन 'आत्मधर्म' (Realisation of the self) है जिससे हर धर्म, सम्प्रदाय एवं विभिन्न मतों-दर्शनोंके अनुयायियों अथवा मानने वालोंको अधिक-से-अधिक अपनेमें और संसारमें विस्तृत करना ही अपना ध्येय, इष्ट या लक्ष्य बना लेना चाहिये और इसकी प्रगति तभी अधिक-से-अधिक होगी जब हम कम-से-कम विरोध, विद्वेष तथा विपरीताचरण करेंगे और एकता, अभिन्नता एवं सहयोग या सहगामिताकी भावनाको उत्तरोत्तर वृद्धिगत रखेंगे। यह बात सभीके लिए बराबर रूपसे लागू है चाहे वह वेदान्ती हो, वैदिकमतानुयायी हो, सांख्य हो, नैयायिक हो, बौद्ध हो, जैन हो या और

कोई। हरएक मुख्य धर्मके अन्तर्गत जो छोटे-छोटे भेद, फिरके या मतान्तर होगये हैं उनके लिए भी यही जरूरी है कि अपने चरम आदर्श, उद्देश्य या लक्ष्य की तरफ ध्यान रखें न कि छोटी-छोटी बातोंपर ही झगड़ते रह जाएँ—जैसा वे अबतक करते आये हैं। एक छोटा-सा उदाहरण यहां दिया जा रहा है। भगवान महावीर क्षत्रिके पुत्र थे या ब्राह्मणके ? इसपर झगड़ा करते रहनेके बजाए यदि हम भगवान महावीरने क्या किया और क्या कहा उसको समझने और पालन करनेमें अपनी शक्तियोंको लगावें तो अपना ही नहीं, किन्तु अखिल विश्वका एवं सारे मानव समाजका भी बड़ा भला करेंगे। किसी बातकी असलियतका पता लगाना जरूरी है पर उसीपर वाद-विवाद करते ही रह जाना बुद्धिमानी नहीं।

शास्त्रोंने हमें केवल मार्ग बतलाया है। जैसे अव्यवस्थित घनघोर जंगलके बीचसे होता हुआ एक पहलेका बना हुआ राजमार्ग हमें निर्विघ्न जंगलके बाहर पहुंचानेमें सहायक होता है उसी तरह ये शास्त्र हमें संसाररूपी घनघोर जंगलसे बाहर निकलनेका रास्ता बतलाते है-नहीं तो हम भटकते ही रह जाँय। जो मार्ग इन पुराण-पुरुषोंने सहस्रों वर्षोंके अनुभव, श्रम और तपस्यासे जाननेके बाद निर्धारित किये हैं उनसे लाभ लिये बगैर हमारा काम नहीं चल सकता। पर इन्हें साधन समझनेके बजाय यदि हम सब कुछ का अंत यहीं या इन्हींमें मान लें तो यह हमारी गलती है। इनके बाद भी हमें कहीं 'अनंत' की तरफ जाना है, और जैसे नदीके उस पार किसी पुलके सहारे कोई पहुँच जाता है उसी तरह इन शास्त्रोंकी सहायता लेते हुए हमें आगेका मार्ग प्रशस्त करना है, न कि पुल पार कर वहीं मार्गकी समाप्ति समझ लें और इधर-उधर न ताकें या आगे न बढ़ें। यह समझ लेना कि ज्ञानका या सारे ज्ञानोंका अन्त इन्हीं पूर्वकथित शास्त्रोंमें ही हो गया और अब इन्हें जानने या पढ़ लेनेके बाद कुछ भी नहीं करना है तो यह महज नादानी है अथवा इसे कोरा भ्रम या अज्ञान ही समझना चाहिये।

हमारे अधिकतर पंडित प्रायः उन सभी बातों का विरोध करते हुये पाये जाते है जो उनके शास्त्रों में वर्णित नहीं है या जिनका जिक्र वहां नहीं आया है अथवा कम विस्तारसे लिखा हुआ है। यह उनकी गलती या एकान्तमयी प्रवृत्ति है। ज्ञान अगाध एवं अनंत है। इसके अतिरिक्त सभी शास्त्र तो कौन कहे एक भी शास्त्र स्वयं जिनेन्द्र-प्रणीत नहीं है— 'तीर्थंकरकी धुनि गणधरने सुनि अंग रचे चुनि ज्ञानमई।' इसके बाद भी उन अगोंको गुरुओंने परम्परा से सुन-सुनाकर कंठस्थ कर रखा और बहुत बादमे तब जाकर कहीं किसीने लिपिबद्ध किया जो आज हमारे सम्मुख है। जब भी कोई बात एक आदमी दूसरे आदमीसे कहता है और वह दूसरा तीसरेसे कहता है तभी उसमें शब्दों, वाक्यविन्यासों एवं अर्थमें भी विभिन्नताएं आ ही जाती हैं—यह सर्वथा स्वाभाविक है। फिर भी किसीने बीचमें कुछ अपना मिला दिया तो यह भी कोई ताज्जुबकी बात नहीं। फिर बादमें व्याख्याओं और टीकाओंमें तो बहुत कुछ बढ़ा-चढ़ा दिया गया जिसका कुछ अन्त नहीं। आज अधिकतर लोग इन्हीं व्याख्याओंको 'जिनवाणी' समझकर वैसा ही व्यवहार करते हैं एवं दूसरों को उसमें शंकामात्र करनेसे ही धर्मद्वेषी या द्रोही समझ लेते हैं, यह तो सरासर गलती या अन्याय है। धर्मको सीमित कर देना उसका गला घोट देना है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव एवं सुविधा और सामर्थ्य आदिके अनुसार धर्मका प्रवर्तन होना चाहिये। अन्यथा ढोंग और अतिचारोंका ही धर्मके रूपमें माना जाना और प्रचलित होजाना कोई कैसे रोक सकता है। आज जैनधर्म ही क्यों सभी धर्मोंकी यही हालत है। अब तो समझदारीका व्यवहार करके धर्मका रूप वर्तमान कालादिके अनुसार ऐसा निरूपित करना चाहिये कि उसका आचरण संभव, स्वाभाविक एवं ठीक हो तथा भ्रम और मिथ्यामार्ग एवं ढोंगसे रहित हो। तभी अपना भला होगा और लोकका कल्याण भी। अपनेको जन्मके कारण ऊंचा समझना और दूसरोंको नीचा समझना जैनधर्मके

विपरीत आचरण हैं। सभीके शरीरमें वे ही रस, धातु या खून वगैरह हैं। शरीर तो जैसा एक पापीका वैसा ही प्रायः किसी मुनिका एक समान ही अपवित्रताओंकी खान है। आत्मज्ञान द्वारा आत्मा की उन्नति जितनी-जितनी होती जाय वही शुद्धता कही जासकती है। पर उसके मापनेका कोई बाहरी मापदंड नहीं। इसलिये किसीको नीच या ऊंच कहना, समझना या दूसरोंको भी ऐसा करनेके लिये बहकाना या बाध्य करना जैनधर्म नहीं है। यहाँ तो "समतावाद"की ही प्रधानता एवं महत्ता हर तरफ आदर्श और व्यवहार दोनोंमे ही है। हमारे समाजके अग्रणी पण्डित, विद्वान, त्यागी, एवं समझदार सभी व्यक्तियोंको अहकारोंको छोड़कर स्थिर एवं शान्त चित्तसे ध्यान देकर ऐसे एकान्त मिथ्यात्वों या मिथ्या आचरणोंको शीघ्र दूरकर सच्चे धर्मकी पुनः स्थापना करना कर्त्तव्य है और ऐसा करके ही वे अहिंसाका पालन सचमुच कर सकते हैं। अन्यथा सब कुछ हिंसा, अहंकार, एवं दूसरोंको नीचे गिराना या गिरोंको ऊपर न उठने देनेकी जो अति निम्न प्रवृत्ति है वह सब जैनधर्म या जैनतत्त्वोंके एकदम विपरीत आचरण हैं जैनधर्म ही क्यों कोई भी धर्म संसारमें एकमात्र ऐसा करके ही सच्चा धर्म कहा जा सकता है जो आत्माको ठीक ठीक समझ गया हो उसकी तो यह समतापूर्ण दृष्टि ही एकमात्र पहचान है। जहां यह या ऐसी बात अथवा विश्वास या आचरण न हो वहां आत्मधर्मकी तरफ सच्ची प्रवृत्तिका अभाव ही समझना चाहिये। जो कुछ बाहरसे इसके विपरीत कहा जाय या दिखलाया जाय वह तो फिर कोरा भ्रम, गलत मार्ग, ढोंग या मिथ्यात्वका आचरण ही ठहरा।

धर्म या धर्माचरणकी व्यवस्था और मंदिरों एवं मूर्तियोंका निर्माण ही हुआ है आत्माकी तरफ झुकाव पैदा करनेके लिए और मनुष्यकी उन्नतिके लिये साधन स्वरूप। पर यदि उनसे गिरे हुओंका कुछ लाभ न हो सके तो सब बेकार। इनके द्वारा जितनी अधिक-सेअधिक-संख्यामें लोग धर्म-लाभ कर उन्नति कर सकें—अपनी मानसिक, नैतिक, एवं आध्यात्मिक तरक्की कर सकें, उतनी ही अधिक सफलता इनके होने और रहनेकी कही जा सकती है। धर्मों और मतमतान्तरों की विभिन्नता एवं मान्यताओं या आचरणोंमें फर्क तो किसी-न-किसी रूपमें रहेगा ही उसे एकदम दूर करनेकी सोचना एकदम मिटा देनेके मंसूबे बाँधना गलत एवं बहकी हुई बात है। जरूरत ऐसी हालतमें यह है कि हम बातकी असलियतको समझें और आदर्शोंकी तरफ ध्यान रखते हुए जो कुछ समयानुकूल व्यावहारिक हो तथा एक-दूसरेको आगे बढ़नेमें सहयोग एवं सद्भावना-पूर्वक संभव हो उसे ही अपनावें तभी अपना भी और सभीका भला होगा। आशा है हमारे समाजके प्रमुख व्यक्ति इसपर ध्यान देकर सच्चे अहिंसापूर्ण "आत्मधर्मके" विस्तृत प्रचार एवं विस्तारमें सहायक होकर संसार में ज्ञानकी वृद्धि करेंगे और स्वयं उन्नति करते हुए लोकका सच्चा कल्याण करनेमें सफलीभूत होंगे जो हमारे मानव-जीवनका एकमात्र कर्त्तव्य, ध्येय और असली पुरुषार्थ है।

सच्चे ज्ञानका पुरुषार्थ एवं निर्बाध विकास ही हमारी मूढ़ताओंको दूर कर सारी बुराइयोंको पृथ्वीतलसे विकास मिटा सकनेमें समर्थ होगा। और ज्ञानका सुसंस्कृत चौमुखी विकास हर दृष्टि-कोणकी साधना या जानकारी द्वारा ही संभव है। हरएक धर्म, दर्शन या सिद्धान्त अलग-अलग दृष्टि-कोण उपस्थित करते है। इसलिए ज्ञानके पूर्ण विकास और निर्मलताके लिये सभी दृष्टिकोणोंका जानना आवश्यक है। इसीलिये खामखाहके वैर-विरोधों और रगड़े झगड़ोंको छोड़कर यदि हम सभी धर्मोंकी बातोंको प्रेम और मनोयोगपूर्वक समझें तभी हमारा ज्ञान परिष्कृत होगा और दृष्टि संकुचित न रहकर शुद्ध तथा विकसित होगी। तभी हम सच्चे रूपमें आत्मलाभ कर आत्मकल्याण भी कर सकेंगे।

भट्टारकवादीभसिंहसूरि-विरचित

नवपदार्थनिश्चय

•••○○•••

[गत वर्ष जब वादीभसिंहसूरिके 'स्याद्वादसिद्धि' ग्रन्थका सम्पादन-कार्य कर रहा था, पण्डित परमानन्दजीद्वारा मुझे मालूम हुआ कि वादीभसिंहसूरिकी 'नवपदार्थनिश्चय' नामकी एक और रचना है और जो अभी अप्रकाशित है और इसलिये उसे भी 'स्याद्वादसिद्धि'के साथ निबद्ध एवं प्रकाशित हो जाना चाहिए। मैंने उन्हें एक अभिनव ग्रन्थ-प्राप्तिके लिये अपनी प्रसन्नता प्रकट करते हुए उसे मंगानेको कहा और उसका पूरा परिचय प्राप्त करनेकी अपनी आकांक्षा व्यक्त की। उन्होंने पण्डित के० भुजबलिजी शास्त्री मूडबिद्रीको पत्र लिखा और शास्त्रीजीने शीघ्र जैनमठसे उक्त ग्रन्थ भेज दिया, जिसके लिये दोनों विद्वान् धन्यवादके पात्र हैं।

इस ग्रन्थको मैं बड़ी उत्सुकतासे आद्योपान्त देख गया। परन्तु यह उन्हीं वादीभसिंहसूरिकी कृति मालूम नहीं होती जिनकी स्याद्वादसिद्धि, गद्यचिन्तामणि और क्षत्रचूडामणि ये तीन महत्वपूर्ण एवं प्रौढ कृतियाँ हैं और जिनका समय जिनसेनस्वामी (९ वीं शती) से पूर्ववर्ती है। ग्रन्थकी भाषा, विषय और वर्णन-शैली प्रायः उतनी प्रौढ नहीं हैं और न ग्रन्थका जैसा नाम है वैसा इसमें महत्वपूर्ण विवेचन है—साधारणतौरसे नवपदार्थोंके मात्र लक्षणादि किये गये हैं। अन्तःपरीक्षणपरसे यह प्रसिद्ध और प्राचीन तर्क-काव्यग्रन्थकार वादीभसिंहसूरिसे भिन्न और उत्तरवर्ती दूसरे वादीभसिंहकी रचना जान पड़ती है। अन्तमें जो पुष्पिका-वाक्य पाया जाता है उसपरसे भी वह किसी 'वादीभसिंह' नामधारी भट्टारक विद्वानकी कृति ज्ञात होती है। वह पुष्पिकावाक्य निम्न प्रकार है:—

'इति श्रीभट्टारकवादीभसिंहसूरिविरचितो नवपदार्थनिश्चयः'

इसका सामान्य-परिचय नीचे दिया जाता है—

रचनाके प्रारम्भमें प्रथम पद्यद्वारा अजित जिनको नमस्कार करके तत्त्वोंको कहनेकी प्रतिज्ञा और प्रयोजन बतलाया है। दूसरे पद्यमें उन (सात) तत्त्वोंका नामोल्लेख किया गया है और तीसरेमें जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश इन पांचको अस्तिकाय बतलाया है। आगे इन्हींका कथन चालू हो गया है। ४ से ४३वें पद्यतक जीवतत्त्वका, ४४ से ४९ तक पुद्गलतत्त्वका, ५० से ५३ तक धर्म और अधर्म तत्त्वका, ५४ से ५५ तक दो पद्योंमें आकाशतत्त्वका, ५६ से ५७ तक दो श्लोकोंमें कालतत्त्वका वर्णन किया गया है और ५८ वें पद्यमें जीवको छोड़कर उक्त तत्त्वोंको 'अजीव' निर्दिष्ट किया गया है। इसके बाद ५९ से ६१।। तक ३।। पद्योंमें पुण्यके भावपुण्य और द्रव्यपुण्य ये दो भेद करके कारुण्यादिको भावपुण्य और सातादिको द्रव्यपुण्य बतलाकर द्रव्यपुण्यके धर्म्य, अधर्म्य और निरनुबंधि ये तीन भेद किये गये हैं और धर्म्यद्रव्यपुण्यको सम्यग्दृष्टियोंमें, अधर्म्यद्रव्यपुण्यको मिथ्यादृष्टियोंमें तथा निरनुबन्धि द्रव्यपुण्यको चरमशरीरियोंमें कहा है। इसके आगे २।। श्लोकोंमें पुण्यकी तरह पापके भी भावपाप और द्रव्यपाप ये दो भेद बतलाये हैं और उनका स्वरूपनिर्देश किया है। ६४ से लेकर ७२ तक ९ पद्योंमें आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष तथा मुक्तजीवका कथन किया है। अन्तिम ७३ वें पद्यमें उक्त पदार्थोंका उपसंहार करते हुए उनको जाननेका फल केवलज्ञान बतलाया है। इस तरह

यह रचना ७२ अनुष्टुप् और १ मालिनी कुल ७३ पद्योंमें समाप्त है। रचना साधारण और औपदेशिक है और प्रायः अशुद्ध है। विशेष परिचयके लिये इस पूरी रचनाको यहां 'अनेकान्त' में दिया जाता है। आशा है विद्वज्जन इसके कर्तृत्व, समय और साहित्यादि पर विशेष विचार करेंगे—कोठिया]

नत्वाऽजितं जिनं भक्त्या तत्त्वं जीवादिकं ब्रुवे।
भव्यानां मोक्षसंसिद्ध्यै, ज्ञातुं ध्यातुं च तत्त्वतः १
जीवाऽजीवौ पुण्यपापाऽस्रव-संवर-निर्जराः।
बंध-मोक्षौ च तत्त्वं स्यात् ज्ञेयं श्रद्धेयमात्मनाम् ॥२॥
जीवश्च पुद्गलो धर्मोऽधर्म आकाश इत्यपि।
स्वरूपास्तित्वतोऽस्ति स्यात् कायो द्विगुणसंचयात् ३
इति पंचास्तिकायाः स्युस्तेषु स्यादुपयोगवान।
चिन्मयो निश्चयाज्जीवो भिन्नसाधनसाध्यतः ॥४॥
पंचेन्द्रिय-बल-प्राण स्वायुरुच्छ्वासभेदकैः।
दशप्राणैरजीवद्यो जीविर्ष्यति च जीवति ॥५॥
व्यवहारस्तु जीवः स्याद् भिन्नसाधनसाध्यतः।
एवं च लक्षितो जीवो दशान्वयगुणैर्भवेत् ॥६॥
अस्ति ज्ञाता तथा दृष्टा कर्ता भोक्ताऽवगाहकः।
अतिसूक्ष्मोऽगुरुलघुरमूर्तोऽसंख्यदेशकः ॥७॥
उपलब्ध्युपपोगौ च दृशि ज्ञाने क्रियाचितोः।
संस्काररहितौ तौ च, प्रत्येकं व्यतिरेकगाः ॥८॥
एकादशगुणा जीवे भवेयुः कर्मनिर्मिताः।
अनाद्यनिधनः स्वेन गृहीततनुमात्रकः ॥९॥
स जीवो मुक्त-संसारि-विभेदेन द्विधा भवेत्।
मुक्तजीवस्वरूपस्तु(पं तु),किंचित्प्रवक्ष्यतेऽधुना॥१०॥
आप्ताऽऽगमपदार्थेषु याथात्म्यज्ञान-पूर्विकाम्।
निरस्तदोषां श्रद्धां यः करोत्यष्टाङ्गसङ्गताम् ॥११॥
मूलोत्तरगुणोपेतश्चानुप्रेक्षा-परायणः।
त्रिगुप्ति दशधर्मेषु रतश्चारित्रवान् यतिः ॥१२॥
निर्मल-ध्यानवह्नौ सः कर्माष्टक-समुच्चयम्।
हुता(त्वा)निरस्तदोषोऽसौ शुद्धो लोकाग्र-संस्थितः १३
अनन्तज्ञान दृग्वीर्य-सुखरूपो निरामयः।
निरायुर्नाम-गोत्राभ्यामवाच्यः शुद्धचित्पुनः ॥१४॥
त्यक्तदेहसमः साक्षात्कृतविश्वमपि स्फुटम्।
लोकं त्रिकालविषयं नित्यो भाति निराकुलः ॥१५॥
त्रिलोकाधिपपूज्यं तमुपमातीतं निरंजनम्।
भक्त(क्त्यै)वाहं च मोक्षाय यजामि च नमामि च १६
संसारी कर्मणा स्वस्य चतुर्गतिषु सर्वदा।
जातो नष्टादिकं दुःखमश्नुते हि पुनः पुनः ॥१७॥
देवानां च मनुष्याणां, तिर्यग्नारकयोरपि।
गतिश्चतुर्गतयः स्युर्जीवानां संभवोचिताः ॥१८॥
देवा भवना व्यंतरा ज्योतिष्काः स्वर्गवासिनः।
इति चतुर्भेदतां यान्ति पुण्यकर्मविपाकतः ॥१९॥
तेषामन्तर्भिदा चास्ति ज्ञातव्या स यथागमम्।
मनुष्या द्वितयः कर्म-भोगभूसंभवा इति ॥२०॥
तेषामपि भिदा ज्ञेया तिर्यग्जीवास्तु षडविधाः।
पृथ्वी-जल-तेजो-वायु-वनस्पति-त्रसा इति ॥२१॥
रत्नशर्कराबालुकापंकधूमतमःप्रभाः।
तमस्तमःप्रभाभिख्या भूभिन्ना नारका इति ॥२२॥
द्रव्यादिपंचकं प्राप्त त्याज्यं त्याजन्नवं पुनः।
ग्राहन् ग्राहन् भ्रमत्येवं जीवोऽयं नटवत् क्षितौ ॥२३
मृता नरश्च तिर्यंचो यान्त्येवात्र चतुर्गतिम्।
दवाश्च नारकाश्चैते नरतिर्यग्गतिं मृताः ॥२४॥
एकेन्द्रियादयो जीवाश्चत्वारो दव-नारकाः।
भोगभूनरतिर्यंचो न भवन्ति विशेषतः ॥२५॥
आनतादयः ये देवास्तिर्यंचो न भवन्त्यमी।
सनत्कुमारकल्पाद्या देवाः स्युः संज्ञिनो दश॥२६॥
अब्भूमितरुकायेषु संभवन्त्यपराः सुराः।
अब्भूमितरुकायानां नरतिर्यक्षु संभवः ॥ २७ ॥
दर्शनेन विहीना ये तिर्यंचोऽपि नराश्च ते।
सतेजोवायुकायाः स्युः तेषां तिर्यक्षु संभवः ॥२८॥
सहस्रारान्तदेवाः स्युराजीवकमते स्थिताः।
ब्रह्मान्ताः स्युः परिव्राजो ज्योतिष्कान्ताश्च तापसाः २९
व्रतदर्शनसंयुक्तस्तिर्यक् चासौ नरोऽपि च।
सौधर्मादिपु सर्वेषु कल्पेष्वपि च संभवेत् ॥ ३० ॥
व्रतयुक्तो नरो याति कल्पान्तं भवनादिकम्।
व्रती तिर्यग् भावनाद्यं सहस्रारान्तमेति च ॥३१॥
भोगभूनरतिर्यंचः सम्यग्दर्शनभूषिताः।
सौधर्मैशानकल्पे स्युरन्ये स्युर्भवनादयः ॥ ३२ ॥
अहमिन्द्रा भवेयुस्ते मुनयो जातरूपकाः।
ज्ञानध्यानादिसंपन्ना यान्त्युत्तरमनुत्तरम् ॥३३॥

सप्तमं नरकं यान्ति मत्स्येन पुरुषास्ततः ।
षष्ठं यान्ति स्त्रियोऽतस्तु चतुष्पादास्तु पंचमम् ।।३४।।
चतुर्थं पादरहिताः तृतीयं पक्षिणस्ततः ।
द्वितीयं भेकमुख्यास्तु प्रथमं यान्त्यसंज्ञिनः ।। ३५ ।।
उपर्युपरि यान्त्येव नाधः सर्वेपि कीर्तिताः ।
दुःखं पापातिरेकेणानुभवन्त्यतिदुःसहम् ।। ३६ ।।
प्रथमादिचतुर्थान्तान्निर्गता नरकात् पुनः ।
केचिन्मुक्तिं च यान्ति स्युः पंचमात्तर्पासि स्थिताः ।।३७।।
षष्ठाद् व्रते च तिष्ठन्ति सप्तमान्निर्गताः पुनः ।
तिर्यग्गतिषु जाताः स्युर्नरकस्येदृशी गतिः ।। ६८ ।।
एकेन्द्रियजीवोऽस्मिन् लोके सर्वत्र विद्यते ।
नालिकायां तु विद्यन्ते जीवाः पंचेन्द्रियाः पुन ।।३९।।
सांतद्वीपद्वयार्द्धे च त्रिसमुद्रे च संति वै ।
विकलेन्द्रियास्त्वन्यत्र न सन्तीति विनिश्चयः ।। ४० ।।
सार्धद्वीपद्वये जन्म मनुष्याणां भवेत्पुनः ।
त्रैवर्णिकाः कृतपुण्याःमोक्षं यान्ति नरोत्तमाः ।। ४१ ।।
उपसंहारविसर्पौ देहिनां कर्मनिर्मितौ ।
तद्देहमात्र एव स्यादसंख्यातप्रदेश्यपि ।। ४२ ।।
एवं च कर्मकर्ताऽसौ जीवो भोक्ता च संसृतौ ।
स्थित्युत्पत्तिविनाशात्मा बभ्रमीति निरन्तरम् ।।४३।।
वर्णगंधरसस्पर्शैर्लक्ष्यो यः पुद्गलो भवेत् ।
पूरणो गलनात्माऽसौ बोद्धा कारणकार्यतः ।।४४।।
एकवर्णं च गंधं च रसं चैकं भजन् स्वयम् ।
द्विस्पर्शस्निग्धरूक्षत्वे सूक्ष्मोऽनेकशक्तिभाक् ।।४५।।
द्रव्यादीनां प्रमाणानां मूलप्रथन एव च ।
कारणं परमाणुः स्यात् कार्यं तत्संघ एव सः ।।४६।।
द्विगुणसूक्ष्मः सूक्ष्मश्च सूक्ष्मस्थूलस्थूलसूक्ष्मः ।
स्थूलोऽथ स्थूलस्थूलश्चेत्येवं षोढा भवेत् स च ।।४७।।
कर्मणः प्राक्स्थितः कर्म नोकर्म च ततोऽधिकः ।
एकेन्द्रियस्य विषयः सर्वस्य विषयः क्रमात् ।। ४८ ।।
शब्दमेघतमोवन्हिवायुभूम्युदकप्रभा ।
छायाशरीरभोग्यादि सर्वं पौद्गलिकं भवेत् ।।४९।।
गत्युन्मुखानां जीवानां पुद्गलानां च तां प्रति ।
हेतुर्धर्मास्तिरेव स्यादमूर्तोऽसंख्यदेशकः ।। ५० ।।
स्थित्युन्मुखानां जीवानां पुद्गलानां च तां प्रति ।
हेतुर्भवेदधर्मास्तिरमूर्तोऽसंख्यदेशकः ।। ५१ ।।

जलमिव मत्स्यानां स्यात् छायेवाथ पथिकानां ।
गतेः स्थितेश्चाश्रयौ तौ जीवपुद्गलयोरपि ।।५२।।
पक्षपादौ यथा स्यातां गतिस्थित्योस्तु पक्षिणः ।
हेतू तौ च गतिस्थित्योर्जीवपुद्गलयोरपि ।।५३ ।।
जीवादीनां पदार्थानां अवकाशप्रदायकः ।
आकाशः स्यात्प्रदेशेनानन्तोऽमूर्तश्च निष्क्रियः।।५४।।
यत्राकाशे तु लोक्यंते जीवाद्या लोक एव सः ।
अन्यस्त्वलोक एव स्यादिति ज्ञेयं मनीषिभिः ।।५५।।
षड्द्रव्यं तु भवेदेते वर्तनालक्षणेन च ।
कालेन सहिताः सोऽपि समयावलिके ततः ।।५६।।
उच्छ्वासस्तोकलवाश्च नाडिका मुहूर्ता दिनाः ।
पक्षमासस्त्वयनाब्दा युगाद्याश्चेत्यनंताः स्युः !।।५७।।
द्रव्येपूक्तेषु जीवेन विनाऽन्ये स्युरजीवकाः ।
पुण्यं तु द्विविधं भावद्रव्यपुण्यविभागतः ।।५८।।
कारुण्यप्रसन्नभावौ तपो गुणानुरागश्च ।
प्रशस्तज्ञानध्यानानां प्रवृत्तयश्च भावः स्यात् ।।५९।।
अन्यत्तु भावतो जातः सातं सम्यक्त्वपुंवेदौ ।
हास्यरतिनृदेवायुः सुनामगोत्रात्मकं स्यात् ।।६०।।
तच्च त्रिविधं धर्म्यं चाधर्म्यं निरनुबंधी च ।
सम्यग्दृष्टिषु धर्म्यं स्यादधर्म्यं त्वन्यदृष्टिषु ।।६१।।
चरमदेहिनामन्यत्कर्मनिर्मूलनक्षमम् ।
पापं च द्विविधं द्रव्यभावपापविभागतः ।। ६२ ।।
अकारुण्यादयो भावास्तज्जाताशेषकर्म च ।
अन्यत्स्यात्सर्वदुःखानामाकरं संसृतौ पुनः ।।६३।।
आस्रवः स्याज्ज्ञाताज्ञातपुण्यपापाधिकास्रवः ।
हीनद्रव्यास्रवो भावसांपरायिकास्रवश्च ।। ६४ ।।
ईर्यापथास्रवश्चेति कर्मणामास्रवो दश ।
तेषां स्वरूपभेदस्तु द्रष्टव्यं स्याद्यथाऽऽगमम् ।।६५।।
गुप्त्या समिति धर्मैश्चानुप्रेक्षातपःसयमैः ।
परीषहजयैः साध्यं ज्ञानध्यानप्रवृत्तितः ।। ६६ ।।
कर्मास्रवनिरोधो यः स भवेत्संवरो दश ।
साध्यसाधनसंवरो द्रव्यभावविभेदतः ।। ६७ ।।
पुण्यपापसंवराभ्यां सांपरायिकसंवरः ।
ईर्यापथेन विकलः सकलसंवरश्चेति ? ।। ६८ ।।
तपसा संयमैश्चाथ परीषहजयैरपि ।
कर्मनिर्जरणं यत्तन्निर्जरा सर्वकर्मणाम् ।। ६९ ।।

मिथ्यात्वासंयमौ योग: कषाया अपि हेतव: ।
कर्मबंधस्य बंधोऽपि प्रकृत्यादेश्चतुर्विध: ॥ ७० ॥
कर्मबंधविनिर्मुक्तो जीवो लोकाग्रमध्यग: ।
अनंतज्ञानदृग्वीर्यसुखाद्यष्टगुणैर्युत: ॥ ७१ ॥
सिद्ध: शुद्धो निरातंको निष्कलो निरुपम: स्वयम् ।
नित्यो भाति मुनीन्द्राद्यैर्ध्यायो वंद्यो निरन्तरम् ॥७२॥

इति च नवपदार्थं य: सुधीर्वेत्ति सोऽयं
सकलसुरनरेन्द्रै: पूजित: शुद्धदृष्टि: ।
श्रयति परमसौख्यं सर्वकर्मक्षयोत्थं
विपुलमतुलमुच्चै: केवलज्ञानपूर्णम् ॥ ७५ ॥
इति श्रीमद्भट्टारकवादीभसिंहसूरिविरचितो
नवपदार्थनिश्चय:

॥ समाप्त: ॥

बडली स्तंभखंड लेख

(ई० पू० ४४३ अथवा ३७३)

(श्री बालचन्द्र जैन, एम० ए०)

प्रस्तुत लेख एक सफेद पत्थरपर उत्कीर्ण है और राजपूताना संग्रहालय अजमेरमें सुरक्षित है। उक्त पत्थर किसी षट्कोण स्तंभके द्विधा खंडित टुकड़ेका एक ओरका हिस्सा है। स्वर्गीय महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचंद ओझाने इसे राजपूताना के बडली ग्रामसे करीब आधा मील दूर भैरूंजीके मंदिरसे प्राप्त किया था जहांकि मंदिरका पुजारी इसे तम्बाकू कूटनेके काममें लाता था। इसका मध्यभाग पूरा और आठ इंच चौड़ा है, वायां हिस्सा टूटा हुआ और ३॥ इंच चौड़ा है जबकि दायां हिस्सा केवल दो इंच चौड़ा है और उसमें प्रत्येक पंक्तिमें केवल एक-एक अक्षर ही लक्षित होता है।

उत्कीर्ण लेख कुल १३ × १०½ इंच स्थान घेरे हुए है और प्रत्येक अक्षर भलीभांति साफ-साफ उत्कीर्ण किया हुआ है। लेखकी भाषा प्राकृत और लिपि प्रागशोककालीन ब्राह्मी है। मूल लेख इस प्रकार है:—

	वाएं	बीचमें	दाएं
१.	वि	राय भगव	(त)
२.	८० (४)	चतुरासिति व	(स)
३.	ञाये	सालिमालिनि	(य ?)
४.	रं	नि (व) थ माझिमिके	(य ?)

विराय भगवत...८४ चतुरासितिवसे ... ञाये सालिमालिनिये....रं निविथ माझिमिके
(स्वर्गीय डा० काशीप्रसाद जायसवालका पाठ)

प्रथम पंक्तिमें भगवान वीर (महावीर) का उल्लेख है जिनके सम्मानमें दिये गये दानकी सूचना के लिए यह लेख उत्कीर्ण किया गया था। यहाँ वि के वकारका वृत्त प्रस्तुत लेखमें उत्कीर्ण अन्य वकारों के वृत्तसे छोटा है, इसीप्रकार इ मात्रा भी अपने ढंगकी निराली ही है जो अन्य ब्राह्मी लेखोंमें नहीं देखी जाती। स्वर्गीय महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचंद ओझा इसी कारण उसे ई मात्रा मानते थे किन्तु स्वर्गीय डा० काशीप्रसाद जायसवालने उसे इ मात्रा माना है और उसकी तुलना अशोकके कालसीके लेखमें प्रयुक्त ति की इ मात्रासे की है।

द्वितीय पंक्ति विशेष महत्वकी है क्योंकि यहां किसी ऐसे संवतका उल्लेख किया गया है जो उस समय प्रचलित था और जिसके ८४वें वर्षमें यह लेख उत्कीर्ण किया गया था। चूंकि प्रस्तुत लेखके अक्षर अशोकसे पूर्वके हैं और पिप्रावासे प्राप्त लेखके अक्षरोंसे मिलते है इसलिये यह विचार करना आवश्यक हो जाता है कि क्या अशोकसे पूर्व किसी संवतका प्रचलन था? अशोकसे पूर्व प्रचलित एक ही संवतकी सत्ता अभी तक ज्ञात हो सकी है और वह

है नंदसंवत् जिसका प्रारंभकाल ४५८ ई० पू० सिद्ध हो चुका है (ज० वि० ओ० रि० सो० १६२६ पृष्ठ २३७)। यदि प्रस्तुत लेख नंदसंवत्के ८४वें वर्षमें उत्कीर्ण किया गया हो तो उसके अनुसार इसका समय ३७४ या ३७३ ई० पू० होना चाहिये। दूसरे ओर, यह भी अनुमान किया जा सकता है कि चूंकि इस दानका संबंध भगवान वीरसे है (और दान करनेवाला भी कोई उनका भक्त या अनुयायी ही —अर्थात् जैन—होगा) अतः यह वर्ष उनके निर्वाण संवत्से भी सम्बद्ध हो सकता है। (जैनग्रन्थोंमें प्रायः इस प्रकारके उल्लेख मिलते है कि वीरनिर्वाणके इतने वर्ष बाद अमुक कार्य हुआ, इतने वर्ष बाद अमुक राजा या आचार्य हुआ आदि) यदि हम लेखमें प्रयुक्त संवत्को वीरनिर्वाण संवत् मान ले तो फिर इसका काल ४४३ ई० पू० होना चाहिए।

तृतीय पंक्तिमें, दान करने वाले व्यक्तिका नामोल्लेख है जो कोई स्त्री प्रतीत होती है।

चतुर्थ पंक्तिमें दान की गई वस्तु और दानके स्थान माझमिक (माध्यमिक) का उल्लेख है जिसे पिछले लेखोंमें माध्यमिका कहा है। यह स्थान दक्षिण-पूर्व राजपूतानेमें है और प्राचीन कालमें यह विशाल-नगरी थी जिसका प्रमाण 'अरुणत् यवना साकेतम्, अरुणत् यवनाः माध्यमिकाम्' पतञ्जलिके इन वाक्योंसे मिलता है।

इसप्रकार, प्रस्तुत लेख न केवल जैन इतिहास बल्कि भारतीय इतिहासके लिये विशेष महत्वका है। क्योंकि पहले तो यह अबतक प्राप्त सभी उत्कीर्ण लेखोंमें प्राचीनतम है। दूसरे, यह अशोकसे पूर्व एक स्वतंत्र संवत्के प्रचलनका उल्लेख करता है और तीसरे, इससे यह भी विदित होता है कि ई० पू० ४थी-५वीं शतीमें राजपूतानेमें भगवान वीरके अनुयायी और भक्तोंका निवास था।

यशोधरचरित्रके कर्ता पद्मनाभकायस्थ

(लेखक—पं० परमानन्द जैन, शास्त्री)

—०—

यशोधर-चरित्रके कर्ता कवि पद्मनाभ हैं। इनकी जाति कायस्थ थी। जैन समाजमें कायस्थ जातिके अनेक विद्वान् और कवि हुए हैं। सुप्रसिद्ध 'जीवन्धर चम्पू' और 'धर्मशर्माभ्युदय' महाकाव्योंके कर्ता महाकवि 'हरिचन्द' भी उक्त कायस्थ जाति के विद्वान थे। इनके अतिरिक्त अनेक विद्वान् जैन ग्रन्थोंके लेखक एवं प्रतिलिपिकर्ता हुए हैं। उन्हें जैन धर्मसे भारी प्रेम था और उनके पावन सिद्धान्तों में आस्था थी। इतना ही नहीं, किन्तु उनके ग्रन्थों का अध्ययन करनेसे मालूम होता है कि वे जैन सिद्धान्तके कितने मर्मज्ञ विद्वान थे। यद्यपि वे गृहस्थ थे तो भी गृहस्थोचित सभी कर्तव्योंका पूर्णरूपसे पालन करते थे। उनकी प्रतिभा विशाल थी और कवित्वशक्तिका उनमें विकास था। जैन धर्म कितना समुदार है कि उसका आश्रय पाकर पापीसे पापी अपने जीवनको ऊंचा उठा सकता है। यमपाल चाण्डालकी कथा तो लोक-प्रसिद्ध है ही। यही कारण है कि जैनधर्म विविध वंशों और जातियोंके व्यक्तियोंमें आज भी उज्जीवित है, उन्होंने जैनधर्मको पाकर अपने जीवनको आदर्श बनानेका प्रयत्न किया है। कविवर पद्मनाभका संस्कृत भाषापर तो अधिकार था ही, जैनधर्मके आचार-विचारों और सिद्धान्तोंका भ० गुणकीर्त्तिके सान्निध्यमें अध्ययन किया। फलतः उनकी आस्था जैनधर्ममें हो गई। आज भी जो महानुभाव जैनधर्मके सिद्धान्तोंका अध्ययन करते हैं वे उसकी महत्तासे परिचित हैं।

कविवर पद्मनाभने भट्टारक गुणकीर्तिके उपदेश

से पूर्वसूत्रानुसार 'यशोधर चरित्र' अथवा 'दयासुन्दर-विधान' नामक ग्रन्थकी रचना राजा वीरमेन्द्र अथवा वीरमदेवके राज्यकालमें की है। उनके महामात्य (मंत्री) श्री साधु (साहु) कुशराज जैसवालके अनुरोधसे की है। पद्मनाभ संस्कृतभाषाके अच्छे विद्वान् थे और जैनधर्मसे प्रेम भी था अतः ग्रन्थ बनकर तय्यार हो गया। संतोष नामके जैसवालने उसकी बहुत प्रशंसा की और विजयसिंह जैसवालके पुत्र पृथ्वीराजने उक्त ग्रन्थकी अनुमोदना की थी।

कुशराज जैसवाल कुलके भूषण थे। यह वीरमदेवके मंत्री थे और अपने कार्यमें दक्ष, तथा शत्रुपक्षको क्षणभरमें नष्ट करने वाले, और पृथ्वीकी देख-रेख एवं उसके संरक्षणमें समर्थ बुद्धि थे। आपके पिताका नाम जैनपाल और माताका नाम लोणादेवी था, पितामहका ल्हण और पितामहीका नाम उदितादेवी था आपके पांच और भी भाई थे। जिनमें चार बड़े और एक सबसे छोटा था। हंसराज, सैराज, रैराज, भवराज और क्षेमराज। क्षेमराज इनमें सबसे छोटा और कुशराज उससे बड़ा था। कुशराज बड़ा ही धर्मात्मा, और राजनीतिमें दक्ष था। इसने ग्वालियरमें चन्द्रप्रभजिनका एक विशाल जिनमंदिर बनवाया था और उसकी प्रतिष्ठा भी कराई थी। कुशराजकी तीन पत्नियाँ थीं रल्हो, लक्षणश्री, और कोशीरा ये तीनों ही पत्नियाँ सती, साध्वी और स्त्रीयोचित गुणोंसे अलंकृत थीं। रल्हो गृहकार्यमें कुशल तथा दानशीला थी और नित्य जिनपूजन किया करती थी, इससे कल्याणसिंह नामका एक पुत्र उत्पन्न हुआ था, जो बड़ा ही रूपवान, दानी और जिनगुरुके चरणाराधनमें तत्पर था। दूसरी पत्नी लक्षणश्री भी सुशीला तथा पतिव्रता थी और तीसरी कोशीरा गुणवती एवं सती थी। इसी तरह सर्वगुणसम्पन्न कुशराजने श्रुतभक्तिवश उक्त यशोधरचरित्रकी रचना कराई थी। उक्त ग्रंथमें राजा यशोधर और रानी चन्द्रमतीका जीवनपरिचय दिया हुआ है। यह पौराणिक कथानक बड़ा ही प्रिय, और दयाका स्रोत बहानेवाला है। इसपर अनेक विद्वानों द्वारा प्राकृत संस्कृत और हिंदी गुजराती भाषामें अनेक ग्रंथ रच गये हैं। चूँकि इस काव्यग्रंथमें दयाका कथानक दिया हुआ है इसलिये इस ग्रन्थका नाम 'दयासुन्दरविधानकाव्य' नामसे भी उल्लेखित किया है।

पद्मनाभने अपना यह ग्रंथ राजा वीरमदेवके राज्यकालमें रचा है। वीरमदेव बड़ा ही प्रतापी राजा था, अपने तोमरवंशका भूषण था, लोकमे उसका निर्मल यश व्याप्त था। दान-मान और विवेकमें उस समय उसकी कोई समता करने वाला न था। यह विद्वानोंके लिये विशेष रूपसे आनन्ददायक था और पृथ्वीका यथार्थरूपसे उपभोग करता था। वह ग्वालियरका शासक था और उसका वंश तोमर था। यह वही प्रसिद्ध क्षत्रिय वंश है जिसे दिल्ली को बसाने और उसके पुनरुद्धारका श्रेय प्राप्त है। वीरमदेवके पिता उद्धरणदेव थे, जो राजनीतिमें दक्ष और सर्वगुणसम्पन्न थे। सन् १४०० या इसके आसपास ही राज्यसत्ता वीरमदेवके हाथमें आई थी। ई० सन् १४०५ में मल्लू इकबालखांने ग्वालियरपर चढ़ाई की थी, परन्तु उस समय उसे निराश होकर ही लौटना पड़ा। फिर उसने दूसरी बार भी ग्वालियरपर घेरा डाला, किंतु इस बार आस-पासके इलाकोंको लूटकर उसे वापिस लौटना पड़ा। वीरमदेवने उससे सुलह कर ली थी।

आचार्य अमृतचन्द्रकी 'तत्त्वदीपिका' (प्रवचनसारटीका) की लेखकप्रशस्तिमें, जो वि० सं० १४६६ में लिखी गई है उसमें गोपाद्रि (ग्वालियर) में उस समय वीरमदेवके राज्यका समुल्लेख किया है। वीरमदेवराज्य सं० १४६६ से कुछ बादमें भी रहा है। इससे उसके राज्यकालकी सीमा सन् १४०५ (वि० सं० १४६२)से पूर्व सन् १४१५ (वि० सं०१४७२) तक जान पड़ती है। इसके बाद सन् १४२४ (वि० सं० १४८१) से पूर्व वीरमदेवके पुत्र गणपतिदेवने राज्यका संचालन किया है। इन उल्लेखोंसे स्पष्ट है कि पद्मनाभने स. १४०५ से सन् १४२५ के मध्यकालमें किसी समय यशोधरचरित्रकी रचना की है।

अहार-क्षेत्रके प्राचीन मूर्तिलेख

(संग्राहक—पं० गोविन्ददास जैन न्यायतीर्थ, शास्त्री)

[गताङ्कसे आगे]

—*—

(नं० ६४)

मूर्ति धातुसे बनी है। सर्वाङ्ग सुन्दर है। करीब २ इञ्च ऊँची पद्मासन है। चिन्ह नहीं है।

लेख—संवत् १६७१ वैशाख सुदी ५।

भावार्थ—संवत् १६७१ के वैशाख सुदी ५ को बिम्ब प्रतिष्ठा हुई।

(नं० ६५)

यह मूर्ति पीतलकी बनाई गई है। करीब २ इञ्च ऊँची पद्मासन है। चिन्ह सर्प का है।

लेख—संवत् १६८८ फागुन सुदी ८ भ. जगन्द्रषेण।

भावार्थ—भ० जगन्द्रषेणने संवत् १६८८ के फागुन सुदी ८ को प्रतिष्ठा कराई।

(नं० ६६)

यह मूर्त्ति सफेद पाषाणकी है। मूर्त्ति सर्वाङ्ग सुन्दर है। करीब १॥ फुट ऊँची पद्मासन है। चिन्ह वगेरह कुछ नहीं है। लेख प्रायः घिस चुका है। कुछ हिस्सा पढ़ा जासका।

लेख—संवत् १५४८ वर्षे वैशाख सुदी १२........

भावार्थः—संवत् १५४८ के वैशाखसुदी १२ को बिम्ब प्रतिष्ठा हुई।

(नं० ६७)

यह मूर्त्ति सर्वांग सुन्दर है। सफेद पाषाणकी बनी हुई है। चिन्ह कमलका है। करीब १ फुट ऊँची पद्मासन है।

लेख—संवत् १५४८ वर्षे वैशाख सुदी ३ भौमे संघ भट्टारक श्रीजिनचन्द्रदेव साहु जीवराज पापकोवर एते प्रणमन्ति।

भावार्थः—भट्टारक श्री जिनचन्द्रदेव वा शाह जीवराज-पापकोवरने संवत १५४८ के वैशाख सुदी ३ मंगलवारको बिम्ब प्रतिष्ठा कराई।

(नं० ६८)

यह मूर्त्ति सर्वाङ्ग सुन्दर है। पाषाण देशी है। करीब १॥ फुट ऊँची पद्मासन है। चिन्ह सर्पका है।

लेख—संवत् १८६६ अगहन सुदी ७ भौमे श्री मूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुन्दकुन्दाचार्य-आम्नाये चौधरी...............तस्य पुत्र चौधरी ६ गनेश प्रणमन्ति।

भावार्थः—श्री मूलसंघ, बलात्कारगण, सरस्वती गच्छ कुन्दकुन्द आम्नायमें पैदा होने वाले........ उनके पुत्र चौधरी गनेशने संवत् १८६६ के अगहन सुदी ७ मंगलवारको प्रतिष्ठा कराई।

(नं० ६६)

यह मूर्त्ति सर्वाङ्ग सुन्दर है। पाषाण सफेद है। करीब १॥ फुट पद्मासन है। चिन्ह सर्पका है।

लेख—संवत् १५४८ वर्षे वैशाख सुदी १३........

भावार्थः—संवत् १५४८ के वैशाख सुदी १३ को यह बिम्ब प्रतिष्ठित हुई।

नोटः—लेख घिस गया है। अतः पूरा पढ़ा नहीं गया।

(नं० १००)

मूर्त्तिका शिर नहीं है। पाषाण काला है। करीब ३ फुट ऊंची पद्मासन है। चिन्ह बैलका है। पालिस चमकदार है। संवत्का कुछ भाग टूट गया है। बाकी सर्वाङ्ग सुन्दर है।

लेख—संवत्... ६६ महिषणपुर पुरवाडान्वये साहु श्रीलाखणसुतश्रीबठई भार्या साऊ जसकरी सुत साहु प्रणमन्ति।

भावार्थ—संवत्....६६ (११६६?) में पुरवाल वंशोत्पन्न शाह श्री लाखण उनके पुत्र वठई उसकी पत्नी यशकरी उसके पुत्र साढूने बिम्ब प्रतिष्ठा कराई।

(नं० १०१)

मूर्त्तिका शिर नहीं है। शिलालेखके अक्षर प्रायः मिल गये हैं। करीब ३ फुट ऊंची पद्मासन होगी। पाषाण काला और चमकदार है। चिन्ह बैलका है।

लेख—श्री गोलापूर्वान्वये साहुश्री—साहुलंकके एतयोः सुत साहुश्रीदेवचन्द्र........अस्य सुत सीले एते प्रणमन्ति नित्यम्। सं० १२०३।

भावार्थः—गोलापूर्व वंशमें पैदा होने वाले शाह श्री तथा शाह लंकके इन दोनोंके पुत्र शाह देवचन्द्र उनके पुत्र शीलेने संवत् १२०३ में बिम्ब प्रतिष्ठा कराई।

(नं० १०२)

यह मूर्त्ति भी शिरसे खण्डित है। पाषाण काला तथा चमकदार है। चिन्ह सिंहका है। करीब ३ फुट पद्मासन है।

लेख—संवत् १२०७ अषाढ़ बदी ६ शुक्रे श्री वीर बर्द्धमानस्वामि प्रतिष्ठापितो गृहपत्यन्वये साहु श्री राल्हणश्चतुर्विधदानेन——पठलितविमुक्तसुखशीतलउलकं-प्रवर्द्धितकीर्त्तिलतावगुण्ठितब्रह्माण्डं,........................ तत्सुत श्री अल्हस्तथा तत्सुत साहु मातनेन पौरवालान्वये साहुवासलस्तस्य दुहिता मातिणी साहुश्री महीपति तत्सुत साहु........तत्सुत सोढू एते नित्यं प्रणमन्ति। मंगलं महाश्री।

भावार्थः—श्री वीर वर्द्धमान स्वामीकी प्रतिष्ठा कराने वाले—गृहपति वंशमें पैदा होने वाले शाह श्री राल्हण हैं। जिनकी कीर्त्ति चार प्रकारके दानसे इतनी प्रवर्द्धित हुई कि ब्रह्मांड भर गया। ऐसे राल्हण के पुत्र श्री अल्ह तथा उनके पुत्र शाह मातनने संवत् १२०७ के अषाड़ बदी ६ शुक्रवारको प्रतिष्ठा कराई। तथा पौरवाल वंशमें पैदा होने वाले शाह बासल उनकी पुत्री मातणी तथा शाह श्री महीपति उनके पुत्र शाह........उनके पुत्र सीढू ये सब प्रतिदिन प्रणाम करते हैं। महालक्ष्मी मंगल करे।

(नं० १०३)

मूर्त्तिका शिर नहीं है। करीब ३ फुट ऊंची पद्मासन है। पाषाण काला तथा पालिस चमकदार है। चिन्ह बैलका है।

लेख—संवत् १२०३........सुदी १३........जसकर तत्सुत जसरा तत्पुत्र नायक श्रीराल्हण तत्सुत श्रीजसोधर एते नित्यं प्रणमंति।

भावार्थः—संवत् १२०३ के.......सुदी १३ को शाह यशकर उनके पुत्र यशराज उनके पुत्र नायक श्रीराल्हण उनके पुत्र श्री यशोधरने बिम्ब प्रतिष्ठा कराई।

(नं० १०४)

मूर्तिका शिर नहीं है। पाषाण देशी है। करीब १। फुट ऊँची पद्मासन है। चिन्ह हिरणका है। पालिस मटयाला है। लेख कुछ अंशोंमें घिस गया है।

लेख-संवत् १३२० फाल्गुन सुदी १३ शुक्रे........... साह, मदन भार्या रोहणी सुत घूने भार्या देवा तत्पुत्र माधव भार्या बाछिणी प्रणमंति।

भावार्थः—श्री मदन उनकी पत्नी रोहणी उनके पुत्र घूने उसकी पत्नी देवा उसके पुत्र माधव उसकी पत्नी बाछिणीने संवत् १३२० के फाल्गुन सुदी १३ को प्रतिष्ठा कराई।

(नं० १०५)

मूर्ति देशी पाषाणकी बनी हुई है। करीब १॥ फुट ऊँची पद्मासन है। मूर्ति शिरसे खण्डित है। चिन्ह चंद्रका है।

लेख-संवत् १३३२ अषाढ़ बदी २ साहुपटु........पुत्र सार्यहद भार्या मातिणी प्रणमंति नित्यम्।

भावार्थः—शाह पटु उनके पुत्र सार्यहद उनकी पत्नी मातिणीने संवत १३३२ के अषाढ़ बदी २ को प्रतिष्ठा कराई।

(नं० १०६)

यह मूर्ति करीब २ फुट ऊँची पद्मासन है। काले

पाषाणसे बनी है। पालिस चमकीली है। मूर्ति शिर से खण्डित है। चिन्ह शेरका है।

लेख–...........पण्डितश्रीगंगवर तस्य भार्या जागलवती सुत मांगलदेव श्रीवीरनाथं प्रणमन्ति नित्यम्। संवत् १२०३ माह बदी २।

भावार्थः—........पंडित श्री गंगवर उनकी पत्नी जागलवती उसके पुत्र मांगलदेव श्री वीरनाथको संवत् १२०३ के माघबदी २ को प्रतिष्ठा कराके प्रणाम करते हैं।

(नं० १०७)

यह मूर्ति देशी पाषाणसे बनी हुई है। करीब १ फुट ऊंची पद्मासन है। चिन्ह सर्पका है। पालिस कुछ काला है। ग्राम नारायणपुरके मंदिरमें नं० ११ से लेकर १६ तक विराजमान हैं।

लेख-संवत् १७१३ वर्षे मार्गशिर सुदी १० रवऊ श्री-भट्टारकधवलकीर्त्ति भट्टारक सकलकीर्त्ति.................... प्रणमंति नित्यम्।

भावार्थः—श्री भट्टारक धवलकीर्त्ति और भट्टारक श्री सकलकीर्त्तिने संवत् १७१३ के अगहन सुदी १० रविवारको प्रतिष्ठा कराई।

(नं० १०८)

यह मूर्ति पीतलसे निर्मित है। करीब ४ इञ्च ऊंची पद्मासन है। चिन्ह सर्पका है।

लेख–संवत् १५२४ वर्षे बदी १ शुक्रे दिने गोलापूर्ववंशे बलई तस्य भार्या पन्ना प्रणमंति।

भावार्थः—गोलापूर्व वंशोत्पन्न श्री बलई उनकी पत्नी पन्नाने संवत् १५२४ के बदी १ शुक्रवारको प्रतिष्ठा कराई।

(नं० १०९)

यह मूर्ति सफेद पाषाणकी बनी है। करीब ६ इंच ऊंची पद्मासन है। चिन्ह कमलका है।

लेख–संवत् १५४८ वर्षे बैशाख सुदी ३ भट्टारक श्री जिनचंद्र............... ....।

भावार्थः—भट्टारक श्रीजिनचंद्रने संवत् १५४८ के बैशाख सुदी ३ को प्रतिष्ठा कराई।

नोटः–लेखके अक्षर घिस गये। अतः वह पूरा पढ़ा नहीं गया।

(नं० ११०)

यह मूर्ति देशी पाषाणकी बनी है। करीब २ फुट ऊंची पद्मासन है। चिन्ह शेरका है।

लेख–साह श्री नवल पुत्र नल संवत् ११३१ मय।

भावार्थः—संवत् ११३१ में शाह श्री नवल उनके पुत्र नलने बिम्बप्रतिष्ठा कराई।

नोटः–उपलब्ध लेखोंमें यह दूसरा प्राचीन मूर्ति-लेख है।

(नं० १११)

यह मूर्ति भी खण्डित है। सर्वाङ्ग सुन्दर है।

लेख–संवत् १२३७ मार्गसुदी ३ शुक्रे गोलापूर्वान्वये साह राल्हण तस्य........................ ....प्रणमन्ति।

भावार्थः—संवत् १२३७ के अगहन सुदी ३ शुक्रवारको गोलापूर्व वंशमें पैदा हुए साह राल्हण उसके...........ने बिम्बप्रतिष्ठा कराई। ये सब प्रणाम करते हैं।

(नं० ११२)

लेख–जैसवालान्वये साहु मोतीकांत भार्या माहण प्रणमन्ति नित्यम्।

भावार्थः—जैसवालवंशोत्पन्न शाह मोतीचन्द्र उनकी पत्नी माहण प्रणाम करते हैं।

(नं० ११३)

यह एक तांबेका षोड़शकारण यन्त्र है। थाली की तरह गोल है। उसमें एक लेख है जो नीचे दिया जाता है—

लेख–संवत् १७२० वर्षे फागुन सुदी १० शुक्र ब. स. कुन्दकुन्दाचार्याम्नाये भट्टारकश्रीसकलकीर्त्तिउपदेशात् गोलापूर्वान्वये गोत्रपंथवार पं० परवति तत्सुत-जेष्ठ-डोंगरू-पाक-विशुन-उग्रसेन नित्यं प्रणयन्ति लि० खरगसेनके यन्त्रमें यन्त्र प्रतिष्ठितं।

भावार्थः—गोलापूर्व पैंथवार वंशमें पैदा होनेवाले पण्डित परवत उनके पुत्र डोंगर-पाक-विशनु-उग्रसेन ने कुन्दकुन्दाचार्यकी आम्नायमें हुए भट्टारक सकल-

कीर्त्तिके उपदेशसे संवत् १७२० के फागुन सुदी १० को सिंघई खरगसेनके यन्त्रमें यन्त्र प्रतिष्ठा कराई।

(नं० ११४)

यह एक तांबेका चौकोर यन्त्र है। इसमे निम्न लेख उत्कीर्ण है--

लेख-संवत् १६४२ फागुन सित १० गुरौ भृगे श्रीग्रबरजलालदजराज्ये पैरोजाबादे श्रीमूलसंघबलात्कारगने सरस्वतीगच्छे कुन्दकुन्दाचार्याम्नाये भट्टारकश्रीधर्मकीर्त्तिदेवातत्पट्टे श्रीभट्टारकशील सूत्रदेवातत्पट्टे भट्टारकश्रीज्ञानसूत्रनदेवास्तदाम्नाये श्रीहिरउ पुत्रौ २ दौदिनमरू सत्र दौदि भार्याप्रभा तत्पुत्राः ४ लोह-नत्र लोह-गुप्तधरणीधर भार्या।

भावार्थ:—सं० १६४२ के फागुन सुदी १०वृहस्पति वारको श्रीग्रवरजलाल दजके राज्यमें पैरोजाबाद में श्री मूलसंघ बलात्कारगण सरस्वतीगच्छ कुन्दकुन्दाचार्यकी आम्नायमें भट्टारक श्रीधर्मकीर्तिदेव उनके पट्टाधिकारी भट्टारक श्री शीलसत्रदेव उनके पट्टाधिकारी ज्ञानसत्रदेव उनकी परम्परामे पैदा होनेवाले शाहश्री हिरउ उनके पुत्र २ दौदि नमरू उनमेंसे दौदिकी धर्मपत्नी प्रभा उसके पुत्र लोहनत्रलोह-गुप्त-धरणीधर उसकी पत्नी ....ने यन्त्र प्रतिष्ठित कराया।

(नं० ११५)

यह यन्त्र चौकोर तांबा का बना हुआ है। इस पर निम्न लेख अंकित है—

लेख—कल्पनातिगता बुद्धिः परमावाविभाविका।
ज्ञानं निश्चयतो ज्ञेयं तदन्यव्यवहारतः॥

संवत् १५०२ वर्ष कार्तिक सुदी ५ भौमदिने श्रीकाष्ठासंघे भट्टारक श्रीगुणकीर्तिदेव तत्पट्टे श्रीयशकीर्तिदेव तत्पट्टे श्रीमलैकीर्तिदेवान्वये साहु बरदेवास्तस्य भार्या जैणी तयोः पुत्र साहु रूपचंद्र द्वितीय पुत्र साहु बिहराज तस्य भार्या साहु हांसो माहु बरदेव भ्रात, साहु रूपचंद तस्य पुत्र साहु नानि द्वितीय ममननानि पुत्र आह्न प्रतिष्ठतम्।

भावार्थ:—काष्ठासंघमें भट्टारक श्री गुणकीर्तिदेव उनके पट्टपर बैठनेवाले यशकीर्तिदेव उनके पट्टाधिकारी श्री मलैकीर्तिदेव उनकी परम्परामें होनेवाले साहु बरदेव उनकी पत्नी माध्वी जैणी उन दोनोंके पुत्र साहु रूपचंद्र द्वितीय पुत्र साहु बिहराज उनकी पत्नी हांसो साहु बरदेव उनके भाई साहु रूपचंद्र उसके पुत्र साहु नानि दूसरे ममननानि उनके पुत्र आह्नने संवत् १५०२ के कार्तिक सुदी ५ मंगलको इस यन्त्रकी प्रतिष्ठा कराई।

(नं० ११६)

यह यन्त्र तांबेका गोल है। उसमें यह लेख लिखा है—

लेख—संवत १६८३ फाल्गुन सुदी ३ श्रीधर्मकीर्तिउपदेशात् संमुकुट भा० किशुन पुत्रमोदन-श्याम-रामदास-नन्दराम-सुखानन्द-भगवानदास पुत्रआसा-जातसिरा-रामदामोदर--विरदेराम--किशनदास--वैशाखनन्दनपरवार एते नमन्ति।

भावार्थ:—संवत १६८३ के फाल्गुन सुदी ३ श्रीधर्मकीर्त्तिके उपदेशसे समुकुट भा० किशुन उनके पुत्र मोदन-श्याम-रामदास-नन्दराम-सुखानन्द-भगवानदास भगवानदासके पुत्र आशा-जातसिरा-रामदामोदरविरदेराम-किशनदास वैशाखनन्दन, इन्होंने इसकी प्रतिष्ठा कराई। ये सब इस यंत्रको नमस्कार करते हैं।

(नं० ११७)

यह यंत्र पीतलका है। गोलाकार है। लेख भी अंकित है।

लेख—संवत् १६०७ मार्गशिर शुक्ल १० बुधे श्रीमूलसंघे सरस्वतीगच्छे बलात्कारगने कुन्दकुन्दाचार्याम्नाये भट्टारक श्रीविशालकीर्तिस्तत्पट्टे भट्टारकश्रीपद्मकीर्त्ति तयोः उपदेशात्-जांती-सोहिलवान्........ ..भार्या निवा-भागा तयोः पुत्र यादोंजी भार्या देवा प्रणमन्ति।

भावार्थ—संवत १६०७ के अगहन सुदी १० बुधवारको श्रीमूलसंघके सरस्वतीगच्छ व बलात्कारगणमें कुन्दकुन्दाचार्यकी आम्नायमें होनेवाले भट्टारक विशालकीर्ति उनके पट्टपर बैठनेवाले भट्टारक श्रीपद्मकीर्ति इन दोनोंके उपदेशसे शाह जांती सोहलवान उनकी पत्नी निबा-भागा इन दोनोंके पुत्र यादोंजो उनकी पत्नी देवाने यन्त्रकी प्रतिष्ठा कराई।

संयम

(प्रवक्ता श्री १०५ पूज्य क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी न्यायाचार्य)

[सागर-चातुर्मासमें दिया गया वर्णीजीका एक अन्य प्रवचन]

——×——

आज संयमका दिन है संयमका अर्थ श्री नेमिचंद्र आचार्यने लिखा है कि—

'वदसमिदिकसायाणं दंडाण तहिंदियाण पञ्चण्हं।
धारणपालणणिग्गह चागजओ संयमो भणिओ' ॥

व्रतोंको धारण करना, समितियोंका पालन करना, कषायोंका निग्रह करना, दण्डों—मन, वचन, कायके व्यापारका त्याग करना और इंद्रियोंका जीतना संयम कहलाता है। संयमसे ही संसार-समुद्रसे संतरण हो सकता है। मनुष्यपर्याय पाकर जिन्होंने संयम नहीं धारण किया उन्होंने क्या किया ? भगवान् समन्तभद्रदेवने लिखा है—

हिंसानृतचौर्येभ्यो मैथुनसेवापरिग्रहाभ्याञ्च।
पापप्रणालिकाभ्यो विरतिः संज्ञस्य चारित्रं ॥

हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार और परिग्रह ये पांच पापकी नालियां हैं, इनसे विरक्त होना सो व्रत है। व्रत महाव्रत और अणुव्रतके भेदसे दो प्रकारका है। अभी यहां महाव्रतके धारण करने वाले तो नहीं हैं अन्य स्थानमें हैं पर अणुव्रतके धारण करनेवाले बहुतसे बैठे हैं। ये क्षुल्लकजी बैठे हैं। लंगोटी और चादरको छोड़ दें। अकेला पीछी और कमण्डलु ही परिग्रह रह जाय। यही मुनि कहलाने लगेंगे। जैन कुलमें उत्पन्न हुआ आदमी आरम्भ उद्यम आदिको छोड़कर प्रायः किसी जीवकी हिंसा नहीं करता है। आरम्भमें उद्यम आदिमें हिंसा करनी पड़ती है पर जैन-शासन गृहस्थको ऐसा करनेकी आज्ञा देता है। हम चादरको अपना मानें और उसकी रक्षा करें नहीं यह कहांका धर्म है। आप शरीरको अपना मानें और फोड़ा आदि होने पर उनसे उसको रक्षा नहीं करें ये तो गृहस्थका कर्तव्य नहीं है। आप पशु पालें और उनके घाव आदिमें कीड़े पड़ जानेपर उनसे उनकी रक्षा न करें तो यह अहिंसा नहीं है। गृहस्थ पुरुष अपने पदके अनुकूल ही अहिंसाका पालन कर सकता है।

झूठका आप लोगोंके त्याग होगा हा प्रतिदिनका न हो, पर इन पर्वके दिनोंमें भी कोई झूठ बोलता होगा, यह विश्वास मुझे नहीं होता।

चोरीकी बात पूछिये नहीं, समय ऐसा आगया है कि अचौर्यव्रतका निरतिचार पालन करना हम त्यागियोंके लिये भी दुभर हो रहा है। एक त्यागीने प्रतिज्ञा की थी कि मैं किसीको घूस न दूंगा न किसीसे लूंगा, दोनों हो चोरीमें सम्मिलित है। उसे इटावासे जबलपुर आना था। वह तीन दिन स्टेशनपर गया। पर बाबूने उसे टिकिट नहीं दिया। चौथे दिन जब दो रुपये अंटीमें दिये तब टिकिट मिला। जबलपुर आकर उसने प्रायश्चित्त किया। दूसरेकी क्या कहें, आजकल हम लोग भी तो चोरीका ही खा रहे हैं। जब यहां गेहूँ पैदा हुआ ही नहीं है तब यह निश्चय है कि जो कुछ हमें मिलता है वह सब ब्लैकके द्वारा ही मिलता है वही ब्लैकका द्रव्य हम लोग भी खाते हैं। यदि आप लोग चोर हैं तो हम लोग भी कौन साहूकार हैं ? तुम्हारा दिया हुआ अन्न भी खाते हैं।

मैथुनसेवाके विषयमें तो कुछ कहते नहीं बनता। जवान स्त्री-पुरुषोंका शरीर जर्जर हो गया है। पन्द्रह-पन्द्रह सालकी लड़कियां पिण्डरामें पड़ी हुई हैं। जैसी प्रवृत्ति आप लोगोंकी है उसमें पिण्डरा नहीं रहना पड़े तो कहां रहना पड़े। पं० आशाधरजीने लिखा है कि स्त्रीका सेवन अन्नकी तरह करना चाहिये। जिस प्रकार सीमासे अधिक अन्न खानेपर मृत्यु हो जाती है उसी प्रकार सीमासे अधिक स्त्री-सेवन करनेपर मृत्यु हो जाती है।

लोग कहते हैं कि अंग्रेजोंने भारतवर्ष ले लिया था, अरे, अंग्रेजोंने नहीं लिया था। तुम्हारी विषय-वासनाने लिया था। बेवकूफ पृथ्वीराज यदि एक स्त्री के पीछे जयचंदसे नहीं लड़ता तो मुसलमानोंके पैर यहां कैसे जमते ? और मुसलमानोंके हाथसे राज्य गया सो उसका कारण भी वाजिदअली आदि बादशाहकी विषय-पिपासा ही कारण है। वह अटारीपरसे नीचे उतरता था तो उसे आलम्बनके लिये स्त्रियोंके कुचोंकी आवश्यकता थी। काम पुरुषार्थमें मनुष्य इतने मस्त हो रहे हैं कि कुछ कहते ही नहीं बनता। अष्टमी, चतुर्दशी, अष्टाह्निका सोलहकारण आदि धार्मिक पर्व है। इनमें मनुष्य ब्रह्मचर्यसे रहे तो उसका शरीर तगड़ा हो। आप विषयसेवन करना चाहते है तो उसके योग्य शरीर को भी तो बनाना पड़ेगा। एक-एक पुरुषके चार सालमें चार-चार बच्चे पैदा हो जाते है। किसीको लीवर बढ़ रहा है, किसीकी आँख दुःख रही है, किसीकी नाक बह रही है। फिर भी पैदा किये हो जाते हो। जिस स्त्रीके पेटमें दूसरा बच्चा आगया है उसके साथ विषय सेवन करना महान् अधर्म है। संभव है पेटमें लड़की आई हो, तब ? बच्चा पैदा हो जानेपर भी कुछ समय तक अपना, स्त्रीका तथा बच्चेका शरीर पनपने दिया जाय तो शरीर ठीक रह सकता है। पर क्या कहं लोगोंकी बात इन लोगोंने तो विषयको रोटी-भाजी बना रक्खा है। भाई, मानो चाहे नहीं, मैं तो आप लोगोंसे दो रोटियाँ पाता हूँ,सो उतनेकी बजा देता हूं। आपको आपका मार्ग दिखला देता हूं। आप उसपर जावें आपकी खुशी, न जावें आपकी खुशी।

पाप की चौथी प्रणाली है परिग्रह। गृहस्थ परिग्रहका बिलकुल तो त्याग नहीं कर सकता पर उसका परिमाण अवश्य कर सकता है। आप अनावश्यक परिग्रह नहीं रोकें तो उससे दूसरोंका काम चल जावे। सुना है कि आपके यहां पंजाबके शरणार्थी आने वाले हैं उन्हें आप अच्छी तरह आश्रय दे सकें तो आपके परिग्रहका सामयिक उपयोग होगा। यदि अशान्ति है तो थोड़ासा परिग्रह भी आगे चल कर अधिक परिग्रही बना देता है। एक साधु था। उसके पास गीताकी पोथी थी उसे रखनेके लिए उसने एक बिल्ली पाली, बिल्लीको दूध दही मिले इसलिये गाय पाली, गायकी सेवाके लिये एक स्त्री रखी,स्त्रीकी आजीविकाके लिये भी परिग्रहका संचय करना पड़ा। एक दिन साधु सोचने लगा कि एक छोटी-सी गीताकी पोथीके कारण तो मुझे इतना परिग्रहका संचय करना पड़ा, जो कहीं भागवत ले लेता, तो न मालूम क्या दशा होती ? कहा भी है :—

गीताकी पोथी लई जिसका इतना ठाट।
जो कहुं लेता भागवत होता बाराबाट॥

सम्यग्दर्शनके अनुकम्पा गुणके श्रवण करनेका तो फल होगा जो विपत्तिसे सताये हुए है उन्हें सहारा देना, यह मनुष्यमात्रका कर्तव्य है। आस्तिक्यगुणका अर्थ श्रद्धा और विश्वास है। वह तो आपमें है ही। श्रद्धा न होती तो इतना व्रत उपवास आदिका कष्ट क्यों सहन करते ?। यदि धर्मका फल मिलनेमें कदाचित् विलम्ब हो तो अधैर्यवश उसपर अविश्वास नहीं करना चाहिये एक उदाहरण आप सुनिये—

एक राजा था जो बड़ा लोभी था, वह ६० वर्ष का होगया फिरभी उसके जीसे राज्यका मोह नहीं छूटता था। एक बार उसके यहां एक नट और नटी आये। नृत्य करते-करते नटीको रात्रिके ३ बजे पर राजाकी तरफसे उसे कुछ भी न मिला। जब नटी बिलकुल थक गई तब वह नटसे बोली—

'रात घड़ीभर रह गई थाके पिंजर आय,
कह नटनी सुन मालदेव धीमी ताल बजाय।'

अर्थात् रात बिलकुल थोड़ी रह गई है हमारा शरीर थक गया इसलिए अब धीमी ताल बजाओ।

उत्तर में नट कहता है कि—
'बहुत गई थोड़ी रही थोड़ी हू अो जात।
अब मत चूके नाटनी फल मिलनेकी बात॥'

अर्थात् रात बहुत सी तो निकल चुकी है अब थोड़ी सी बाकी रह गई है सो वह भी चली जावेगी। अतः अपना काम करती चलो; क्योंकि अब फल मिलने की बात है।

यहां दोहा कहनेकी देर थी कि राजाके लड़के ने उसे अपना कई लाखका हार गलेसे उतारकर दे दिया। लड़कीने अपने हाथकी कीमती पहुंची दे दी, और एक वृद्ध साधु बैठा था सो उसने अपना कीमती दुशाला दे दिया। राजाको यह बात बहुत अखरी उसने लड़केसे कहा बेटा! तुम इस दोहापर इतने लट्टू होगये कि ७ लाख रुपयेका हार तुमने दे डाला? मैं बहुत देता दस पचास रुपये देता। लड़केने कहा पिताजी इसके दोहाने मुझे पितृहत्या से बचा लिया यह दोहा सुननेके पहले मेरा विचार हो रहा था कि आप इतने वृद्ध हो गये फिर भी मुझे राज्य नहीं दे रहे अतः नौकरसे विष दिलाकर आपको मार डालूं और स्वयं राज्य करने लगूं; पर यह दोहा सुनकर मेरा विचार बदल गया कि बहुत समय तो बीत गया अब आप हमेशा तो जीते न रहेंगे साल दो सालमें अवश्य खतम हो जाओगे तब राज्य मुझे ही मिलेगा पितृहत्याका पाप क्यों करूं? इस दोहाको सुनकर मैं पापसे बच गया अतः मैंने उसे हार दे दिया, राजाने कहा, ठीक है। अब लड़की से पूछा बेटी तुमने कीमती पहुंची क्यों दे दी, उसने कहा पिताजी! मेरा अनुराग मंत्रीके पुत्रके साथ है मैं चाहती थी कि आप इसके साथ मेरी शादी कर देते और कुछ गांव देकर मुझे खुश कर देते पर मेरी उमर २० वर्षकी होगई आप लोभ वश कुछ करते धरते नहीं इसलिये दोहा सुननेके पहले मैं सोच रही थी कि आज सवेरा होनेके पहले ही इसके साथ कहीं चली जाऊं, पर दोहा सुन कर मुझे विवेक आया कि बहुत समय तो निकल चुका है अब थोड़ा-सा और रह गया है पिताजीके बाद हमारे भाईको राज्य मिलेगा वह हमसे स्नेह रखता है अतः इच्छानुसार काम कर देगा, व्यर्थ की बदनामी क्यों उठाऊं? पिताजी आज मैं कलंक से बच गइ इसीकी खुशीमें मैंने अपनी पहुंची इसे दे दी। राजाने साधुसे भी पूछा कि तुमने अपना दुशाला क्यों दे दिया? उसने कहा महाराज! हमारी आयुका बहुतसा भाग तो बीत चुका अब थोड़ा-सा रह गया है सो वह भी निकल जायगा। मुझे यह कीमती दुशाला क्या शोभा देता है? यह सोच कर मैंने इसे दे दिया। राजा तीनोंके उत्तर सुनकर प्रसन्न हुआ और सवेरा होते ही लड़केको राज्य देकर तथा पुत्रीका मंत्री-पुत्रके साथ विवाहको व्यवस्था कर संन्यासी होगया।

सो भैया! अब फल मिलनेकी बात है जरासे विलम्बके पीछे अपने महासिद्धान्तसे विचलित नहीं होओ।

—:—):(——

सोलहवीं शताब्दीके दो अपभ्रंश काव्य

(लेखक—पं० परमानन्द जैन शास्त्री)

—:-:—

देशभाषा अथवा अवहट्ट या अपभ्रंशभाषा विक्रमकी ८ वीं शताब्दीसे १६ वीं शताब्दी तक कितनी लोकप्रिय रही है, इसे बतलानेकी आवश्यकता नहीं है। इसके अभ्यासी साहित्यिक जन सुपरिचित हैं। इसकी लोक-प्रियताका इससे अधिक और क्या सुबूत होसकता है कि इस भाषा में १६ वीं १७ वीं शताब्दी तक ग्रन्थरचना होती रही है। इस भाषाने हिन्दी भाषाको केवल जन्म ही नहीं दिया किन्तु उसके विकासमें भी बहुत कुछ योग-दान दिया है। आज जबकि हिन्दी राष्ट्रकी भाषाके गौरवको प्राप्त कर रही है तब उसकी जनक भाषाका साहित्य और इतिवृत्तके लिखे जानेकी महती आवश्यकता है। इस भाषाके अप्रकाशित कितने ही ग्रन्थोंका परिचय अनेकान्तमें दिया जा चुका है। आज भी दो नवीन अप्रकाशित अपभ्रंश भाषाके अमरसेनचरित और नागकुमारचरित नामके इन ग्रन्थोंका संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है:—

इनमें से प्रथम ग्रन्थका नाम 'अमरसेन चरित' है जिससे स्पष्ट मालूम होता है कि उक्त ग्रन्थमें मुनि अमरसेनके जीवन परिचयको अङ्कित किया गया है। मुनिअमरसेन कौन थे और उन्होंने अपने जीवनमें आत्म-साधनाके साथ क्या कुछ लोकप्रिय कार्य किये है? यह इस लेखका विषय नहीं है। अतः इसके सम्बन्धमें कुछ न लिख कर इतना लिखना ही पर्याप्त होगा कि इस ग्रंथकी यह एक खण्डित प्रति आमेर शास्त्र-भंडारमें उपलब्ध है जिसकी पत्र संख्या ६६ है, प्रति बहुत ही जीर्ण-शीर्ण अवस्थामें है और खंडित है—उसमें प्रथम पत्र नहीं है। ग्रन्थमें सात सन्धियां है जिनमें उक्त चरित्रका चित्रण किया गया है।

इन ग्रंथोंके कर्ताका नाम कवि माणिक्कराज है, जो 'बुहसूरा' बुधसूराका पुत्र था। यह जायस अथवा जैसवाल कुलरूपी कमलोंको प्रफुल्लित करने के लिये 'तरणि' (सूर्य) था। इसकी माताका नाम 'दीवा' था। जैसाकि नागकुमार चरित प्रशस्तिकी निम्न पंक्तियोंसे प्रकट है:—

"तहिं णिवसइ पंडिउ सत्थखणि,
सिरि जयसवालकुलकमलतरणि।
इक्खाकुवंसमहियलिवरिट्ठु,
बुह सूरा णंदणु सुयगरिट्ठु।
उप्पण्णउ दीवा उयरि खाणु,
बुह माणिकुणामें बुहहिमाणु।"

नागकुमार चरित्रके आदिके दो पत्र नहीं है। इसलिये उक्त ग्रन्थका निर्माण करते समय कवि कहांका निवासी था यह मालूम नहीं हो सका, पर इतना कहा जा सकता है कि वे वहांके जिनमन्दिर में निवास करते थे जिसमें भगवान आदिनाथकी दिव्य मूर्ति विराजमान थी। वह स्थान कहां था उसके सम्बन्धमें निश्चयपूर्वक तो कुछ नहीं कहा जा सकता, किन्तु अमरसेनचरितके बनाते समय वे 'रोहियासिपुर' रोहतकके निवासी थे। जो आज भी यह नगर उसी नामसे उल्लेखित किया जा रहा है। यह नगर आज भी जन-धनसे सम्पन्न है। जान पड़ता है कि सुनपतकी तरह रोहतकमें भी भट्टारकीय गद्दी थी, वहांके पंचायती मन्दिरमें आज भी एक विशाल शास्त्रभंडार है जो भट्टारकीय परम्पराकी स्मृतिका द्योतक है। रोहतकके लिखे हुए अपभ्रंश भाषाके कई ग्रंथ मेरे देखनेमें आए हैं इससे वहांके भंडारमें अपभ्रंश भाषाके ग्रन्थोंका संग्रह रहना बहुत कुछ संभव है। और जबकि वहां भी ग्रन्थ-रचना उस भाषामें हुई है तब इसमें सन्देहको कोई स्थान ही नहीं रहता।

कवि माणिक्कराजने अमरसेनचरितमें अपनी गुरुपरम्परा इस प्रकार बतलाई है:—

तव-तेय-णियत्तणु कियउ खीणु,
सिरिखेमकित्ति पट्टहि पवीणु ।
सिरिहेमकित्ति जिं हयउ वासु,
तहु पट्टवि कुमरविसेण णामु ।
णिग्गंथु दयालउ जइ वरिट्ठु,
जि कहिउ जिणागमभेउ सुट्ठु ।
तहु पट्टि णिविट्ठउ बुह पहाणु,
सिरिहेमचंदु मय-तिमिर-भाणु ।
तं पट्टि धुरंधरु वय पवीणु,
वर पोमणंदि जो तवहं खीणु ।
तं पणविवि णियगुरुसीलखाणि,
णिग्गंथु दयालउ अमियवाणि ।

क्षेमकीर्ति, हेमकीर्ति, कुमारसेन, हेमचन्द्र और पद्मनन्दी । प्रस्तुत पद्मनन्दी तपस्वी, शीलकी खानि, निर्ग्रन्थ, दयालु और अमृतवाणी थे । यही माणिक्कराजके गुरु थे । इन्हींको कविने अपना गुरु बतलाकर उन्हें प्रणाम किया है। इस ग्रंथको अन्तिम प्रशस्तिमें भ० पद्मनन्दीके एक और शिष्य का उल्लेख है जिनका नाम देवनन्दी था और जो श्रावककी एकादश प्रतिमाओंके संपालक, राग-द्वेष-मद-मोहके विनाशक, शुभध्यानमें अनुरक्त और उपशम भावी था । उस समय रोहतकमें उक्त पार्श्वनाथके मन्दिरमें दो विद्वान् और भी रहते थे । ज्येष्ठ जसमलु और लघुबांधव शांतिदास । जैसाकि उक्त प्रशस्तिके निम्न वाक्योंसे प्रकट है:—

'हेमचंदु आयरिउ वरिट्ठउ'
तहु सीसुवि तव-तेय-गरिट्ठउ,
पोमणंदि धरणंदउ मुणिवरु ।
देवणंदि तहु सीसु महीवरु,
एयारह पडिमउ धारंतउ,
राय--रोस--मय--मोह--हणंतउ ।
सुहझाणें उपसमु भावंतउ,
णंदउ बंभलोलु समवंतउ ।
तहं पासजिणेंदह गहरवण,
वे पंडिय णिवसहिं कणयंवण ।
गरुवय जसमलु गुणगणणिहाणु,
बीयउ लहु बंधउ तच्चजाणु ।
सिरिसंतिदास गंथत्थ जाणु,
चच्चइ सिरिपासु विणय-माणु ।

इस चरित ग्रंथका निर्माण कराने वाले सज्जन रोहतकके निवासी थे । उनका कुल अग्रवाल और गोत्र था सिंघल या सिंगल । उनका नाम था देवराज जो चौधरी पदसे अलंकृत थे । इनके पिताका नाम साहू महणा था । प्रस्तुत ग्रंथ चूंकि चौधरी देवराजकी प्रेरणासे बना है अतएव वह उन्हींके नामांकित किया गया है । ग्रंथ प्रशस्तिमें इनके कुटुम्बका विस्तृत परिचय दिया हुआ है, इसी कारण उसे यहां नहीं दिया, पाठक महानुभाव प्रशस्तिपरसे अवलोकन करें ।

इस ग्रंथकी रचना वि० सं० १५७६ के चैत्रसुदी पंचमी शनिवारके दिन कृतिका नक्षत्रके शुभ योगमें पूर्ण की गई है जैसाकि निम्न पद्योंसे प्रकट है:—

"विक्कम रायहु ववगइ कालई,
लेसु मुणीस विसर अंकालइं ।
धरणि अंक सहु चइत विमाणें,
सणिवारेंसुय पंचमिदिवसें ।
कित्तिय णक्खत्तें सुहजोएं,
हुउ उप्पएणउ सुत्त सुहजोएं ।

प्रस्तुत प्रति अपने रचनाकालसे एक वर्ष बादकी लिखी हुई है अर्थात् सं० १५७७ की कार्तिकवदी चतुर्थी रविवारके दिन कुरुजांगल देशके सुवर्णपथ (सुनपत)नामके नगरमें काष्ठासंघ माथुरान्वय पुष्करगणके भट्टारक गुणभद्रकी आम्नायमें उक्त नगरके निवासी अग्रवालवंशी गोयलगोत्री जिनपूजा पुरंदर व्रतवान साहू छल्हूके पुत्र साहू बाटूने इस अमरसेन चरित्रको लिखा था ।

इनकी दूसरी कृति 'नागकुमार चरित्र' है, जिसे उन्होंने संवत् १५७६ में फाल्गुणसुदि नवमीके दिन पूर्ण की है । यह ग्रन्थ नौ संधियोंमें पूर्ण हुआ है जिसकी श्लोक संख्या ३३०० बतलाई गई है

यह ग्रन्थ साहू जगसीके पुत्र साहू टोडरमल्लकी प्रेरणासे रचा गया है और उन्हींके नामांकित किया गया है। ग्रन्थकी कुछ संधियोंकी आदिमें कतिपय संस्कृत पद्य भी पाये जाते है जिनमें साहू टोडरका खुला यशोगान किया गया है—उसे कर्णके समान दानी, विद्वज्जनोंका संपोषक, रूप लावण्यसे युक्त और विवेकी बतलाया है। कविने इस ग्रंथको पूरा कर जब साहू टोडरमलके हाथमें दिया तब उसने उसे अपने शीशपर चढ़ाया और कवि मानिकराजका खूब आदर-सत्कार किया उसने उसे वस्त्रोंके अतिरिक्त कंकण कुंडल और मुद्रिका आदि आभूषणोंसे अलंकृत भी किया। उस समय गुणीजनों की कदर थी; किन्तु आज गुणीजनों और संतजनोंके निरादर करनेवाले तो बहुत हैं; हां गुणग्राहक बहुत ही कम हैं; क्योंकि स्वार्थ-तत्परता और अहंकारने उसका स्थान ले लिया है। अपने स्वार्थकी अथवा कषायकी पूर्ति न होनेपर उनके प्रति अवज्ञा और तिरस्कारकी भावना जागृत हो जाती है। 'गुण न हिरानों किंतु गुणगाहक हिरानों' की नीतिके अनुसार खेद है कि गुणग्राही धर्मात्मा श्रावकोंकी संख्या विरल है—वे थोड़े हैं। अस्तु।

कविने इस ग्रंथकी चौथी संधिके आदिमें साहू टोडरमल्लका जयघोष करते हुए लिखा है कि वह राजसभामें मान्य था, अखण्ड प्रतापी, स्वजनोंका विकासी, और जीवादि सप्ततत्त्वोंका कथन करनेवाला था, विमल गुणोंसे युक्त और भाई तथा पुत्र से अलंकृत था, जैसा कि उसके निम्न पद्यसे प्रकट है:—

"नृपतिसदसि मान्यो यो ह्यखंडप्रतापः,
स्वजनजन विकासी सप्ततत्त्वावभासी।
विमल-गुणनिकेतो भ्रातृ पुत्रो समेतः,
स जयति शिवकामः साधु टोडरुत्ति नामा॥"

इस तरह यह ग्रंथ भी लोक-प्रिय भाषामें लिखा गया है। अपभ्रंश भाषाके साहित्यका अध्ययन करनेसे यह सहज ही मालूम हो जाता है कि उसके द्वारा हिन्दीका विकास कैसे हुआ है? इन दोनों ग्रंथोंका अध्ययन करनेसे यह सहज ही ज्ञात हो जाता है कि इनमें हिंदी भाषाका कितना विकसितरूप पाया जाता है। ग्रन्थमें देशी भाषाके शब्दों की भी बहुतायत है और अपभ्रंश भाषाकी सरलता पद-पदपर दृष्टिगोचर होती है, हां पदलालित्यमें कमी नहीं है। ग्रन्थागत चरितभाग भी सुन्दर है, और उसे पढ़नेके लिये उत्साह होता है। इस प्रकार ये दोनों ही ग्रंथ प्रकाशनके योग्य है।

——(-·-)——



साहित्य-परिचय और समालोचन

[इस स्तम्भमें समालोचनार्थ आये नये ग्रन्थादि साहित्यका परिचय और समालोचन किया जाता है। समालोचनाके लिये प्रत्येक ग्रन्थादिकी दो-दो प्रतियां आना जरूरी है। —सम्पादक]

शासन-चतुस्त्रिंशिका—मूल रचनाकार श्री मदनकीर्ति। सम्पादक और अनुवादक, न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल जैन कोठिया, शास्त्री। प्रकाशक—वीरसेवामंदिर सरसावा, जिला सहारनपुर। पृष्ठ संख्या ४६×२१। लागत मूल्य बारह आने।

श्रीमदनकीर्ति मुनिने दिगम्बर जैन शासनका व्यापक प्रचार और प्रभाव दर्शानेके लिए उक्त चतुस्त्रिंशिकाकी रचना की है। हरएक श्लोकके अन्तमें 'दिग्वाससां शासनम्' पद इसका समर्थन करता है। पुस्तकको सही मानेमें जैन तीर्थोंकी परिचय-पुस्तक कहना चाहिए।

प्रस्तुत संस्करण विद्वान सम्पादकके अनुवाद और परिशिष्टमें दिए गए तीर्थपरिचयसे विशेष महत्वका बन गया है। ग्रन्थमें उल्लेखप्राप्त सभी तीर्थोंका इतिहास तथा वर्तमान स्थानका परिचय करानेका सफल और सही प्रयास किया गया है। कैलासके बारेमें "यह ध्यान रहे कि अष्टापदभी इसी कैलासगिरि का दूसरा नाम है। जैनेतर इसे 'गौरीशंकर पहाड़' भी कहते है।" की सत्यता विचारणीय है।

प्रस्तावनामें सम्पादक महोदयने मुनि मदनकीर्तिके समय और उनके स्थानपर अच्छा प्रकाश डाला है।

छपाई सफाई उत्तम। पुस्तक सर्वसाधारणके लिए उपयोगी है।

श्रीपुर-पार्श्वनाथ स्तोत्र—मूल रचनाकार, श्रीमद्विद्यानन्दस्वामी। संपादक और अनुवादक श्रीन्यायाचार्य प० दरबारीलाल जैन कोठिया, शास्त्री। प्रकाशक, वीरसेवामंदिर सरसावा, जिला सहारनपुर। पृष्ठसंख्या, ८६×२४। लागत मूल्य बारह आने।

मूलस्तोत्र ३० पद्योंमे है और इतनेमे ही रचयिताने आप्तके गुणोंका विवेचन और परीक्षण करते हुए, भगवान पार्श्वनाथमें उन सबका सद्भाव पाकर उन्हें वन्दनीय माना है और उनकी स्तुति की है। कोई समय था जब श्रीपुरके पार्श्वनाथके अतिशय और माहात्म्यकी चर्चा चारों ओर फैली थी। विद्यानन्द भी उससे प्रभावित हुए और उन्होंने श्रीपुर-पार्श्वनाथकी स्तुतिके बहाने एक नवीन दार्शनिक कृति ही उपस्थित कर दी।

संपादकने प्रस्तावनामें स्वयं लिखा है "प्रस्तुत ग्रन्थ 'श्रीपुर पार्श्वनाथस्तोत्र' .. ....स्वामी समन्तभद्र के 'देवागम (आप्तमीमांसा)' स्तोत्र जैसा बड़ा ही सुन्दर और महत्वपूर्ण दार्शनिक कृति है और उसीके समान जटिल एवं दुरूह है।" इसी जटिल और दुरूह महत्वपूर्ण दार्शनिक कृतिको सर्वसाधारणके समझनेके लायक बना देनेके उद्देश्यसे विद्वान संपादकने पद्यार्थ, भावार्थ आदि अनेक प्रकारसे प्रत्येक पद्यका विवेचन किया है।

१६ पृष्ठोंकी प्रस्तावनामें संपादकने 'ग्रन्थका

संक्षिप्त परिचय', 'श्रीपुर और उसके अवस्थानका विचार', (ग्रन्थसंबंधी) कर्तृत्वविषयक भ्रान्ति और उसका निराकरण, ग्रन्थकारकी अन्य रचनाएं, ग्रन्थकारका परिचय और समय, इन शीर्षकोंके अन्तर्गत ग्रन्थकी महत्ता पर प्रकाश डाला है।

छपाई सफाई उत्तम। पुस्तक विद्वानों और सर्वसाधारणके कामकी है।

—बालचन्द्र जैन

द्वासप्तति-तीर्थंकर-जयमाल

[कोई डेढ़-दो वर्षका अर्सा हुआ, कानपुरसे मुख्तारसाहब एक पुराना गुटका लाये थे। इस गुटकेमें कई महत्वकी अप्रकाशित रचनाएं पाई गईं, जिनमेंसे कुछ रचनाएं 'अनेकान्त' में प्रकाशित हो चुकी है। आज उसी गुटकेपरसे एक अप्रकाशित रचना, जिसे उसी समय नोट कर लिया था, यहां प्रकाशित की जा रही है। यह अच्छी, सरल और मधुर रचना है। इसमें भूत, वर्तमान और भविष्यत्के बहत्तर तीर्थंकरोंका अठारह पद्योंमें जय-गान किया गया है। रचना कण्ठस्थ करने योग्य है और बोलनेमें बड़ी प्यारी लगती है। इसके रचयिता ब्र० महेश हैं। ये संस्कृतके साथ अपभ्रंशके भी अच्छे विद्वान जान पड़ते हैं, क्योंकि इनकी एक अपभ्रंश रचना भी पाई जाती है जिसका नाम 'मदनपराजयगीत' है और जिसमें बड़े सुन्दर ढंगसे मदनके पराजय का वर्णन है। इसके दो पद्य नमूनेके तौरपर इस प्रकार हैं :—

"एम मनोभउ जंपइ मोते बलिय न केवि।
हरि-हर बंभ जि अतिबल मइं जीते हैं तेवि ॥ ५ ॥
मोहु कम्मु तब भासइ एवं मयन म गव्वि।
अथि जिनेसु महाबलु जेन पवाहिय सव्वि ॥ ६ ॥"

इस रचनाको भी अगले किसी अङ्कमें पूरा प्रकाशित किया जावेगा, जिससे पाठक उससे भी परिचित हो सकेंगे। ब्र० महेश कब और कहां पैदा हुए है तथा उनकी और कौन २ रचनाएं हैं, यह एक स्वतंत्र लेखका विषय है जिसपर फिर कभी प्रकाश डाला जा सकेगा। —कोठिया]

किवाणं प्रकटित-निर्वाणं सागरमतिसादर-गीर्वाणम्।
नौमि महासाधुं शम-लाभं केवल-विमलविदं विमलाभम् ॥१॥
श्रीयर-मतुल-श्रीधर देहं शुद्धाभ सुविशुद्धप देहम्।
तत्तमभीप्सित-दान-सुरागं जिनममलाभं गत-वसु रागम् ॥२॥
उद्धतमम्युद्धत-परलोकं जिनपतिमग्निं तर्जित शोकम्।
संयममुत्तम-संयम-पात्रं शिवमति-बहुशिव-लक्षण गात्रम् ॥३॥
पुष्पाञ्जलिमखिलाञ्जन-रहितं शिवगणमुत्वणशिवगणमहितं
सोत्सवमुत्साहं जिननाथं ज्ञानमनन्त ज्ञान-सनाथम् ॥४॥
परमेश्वरमागम-परमेशं शुक्ल-विमल लेश्यं विमलेशम्।
स्तौमि यशोधरमुज्वल-यशस कृष्णमतृष्ण हितकरवचसम्॥५॥
ज्ञानमतिं नाशित नरकुमतिं शुद्धमतिं सुलभीकृतसुगतिम्।
श्रीभद्रं प्रणमामि सुकान्ति शान्ति विहित-चतुर्गणशांतिम्॥६॥
वन्दे मुनिवृषभं वृषभेशं प्रभुमजितं बुध-कैरव-मेशम्।
सम्भवमजरामम्भवविलयं[नौम्यभिनन्दनमद्भुतज्ञानम्] ॥१॥
सुमति सुमनो-नुत-पद-पद्मं पद्मप्रभमत्यद्भुत-पद्मम्।
स्तौमि सुपार्श्वमपाकृत-तन्द्र चन्द्रप्रभमाभा-हत-चन्द्रम्॥२॥
सुविधिं भाषित-शुभविधि-रचनं शीतलविभुमतिशीतलवचनं।
श्रेयांसं सुरपति-कृत-पूजं पूज्यतमं वसुपूज्यतनूजम् ॥३॥
विमलं पूरित-सेवक-कामं श्रीमदनन्तजि[न प्रणमामि]।
[..]॥४॥
[..]।
मल्लिमशल्यं सुरभिशरीरं मुनिसुव्रतमघ-मेघ-समीरम् ॥५॥
नमित-सुरासुरकं नमिदेवं नेमिं क्रम-नत-हरि-बलदेवम्।
पार्श्वमुपाश्रित-धरणमपाशं वर्द्धमानमर्हन्तमपाशम् ॥६॥
नौमि महापद्मं च मदाऽहं सूरदेवमित-मानस-दाहम्।
सुप्रभमुरु-भामण्डल-शोभं स्वयमादिप्रभमुज्झित-लोभम् ॥१॥
सर्वायुधमखिलायुध-हीनं जयदेवं नतदेवमहीनम्।
जनित-जनाभ्युदयमुदयदेवं प्रभादेवमिन्द्र-विहित-सेवम् ॥२॥

अस्त-समस्तातङ्कमुदङ्कं प्रश्नकीर्तिमुन्मीलित-पङ्कम् ।
जयजयशब्द-नुत-जयसंशं पूर्णबुद्धिमुन्मीलितसंशं ॥३॥
निष्कषायमत्यस्तकषायं विमलप्रभममलप्रभकायम् ।
बहुलबलं बहलं जिनराजं निर्मलमतिनिर्मल-गुण-भाजम् ॥४॥
चित्रगुप्तमत्यन्तसमाधिं बोधि-निगुप्तान्त-समाधिम् ।
स्वयमादिभुवममायमदर्पं कन्दर्पं सुख-जित-कन्दर्पम् ॥५॥

जयनाथं जयजय-रव-महितं श्रीविमलं त्रिभुवनपरमहितम् ।
दिव्यवादमति-दिव्य-निनादं वन्देऽनन्तवीर(र्यं)मविषादम् ॥६
इति नमति जिनेशान् भूत-सद्भाविनो य-
श्चरण-नत-महेशान् सप्तर्तिं युग्मयुक्ताम् ।
प्रथमममर-सौख्यं दीर्घकालं स भुक्त्वा,
विविध-विबुध-सेव्यः स्यात्पुनस्तीर्थकर्ता ॥१॥

॥ इति द्वासप्ततितीर्थङ्करजयमाला समाप्ता ॥

डा० अम्बेदकर और उनके दार्शनिक विचार

गत १४ नवम्बर (१६४८) को सिद्धार्थ कालेज बम्बईके प्रोफेसर और अनेक ग्रन्थोंके रचयिता सर्वतंत्र स्वतन्त्र पं० माधवाचार्य विद्यामार्त्तण्डके साथ मुझे डाक्टर अम्बेडकरसे, जो स्वतन्त्र भारतकी विधान सभाविदा समितिके अध्यक्ष हैं और जिन्हें स्वतन्त्र भारतके विधान-निर्माता होनेसे वर्तमान भारतमें 'मनु' कहा जाता है तथा जो कानूनके विद्वानोंमें सर्वोच्च एवं विख्यात विद्वान् माने जाते हैं, भेंट करनेका मौका मिला।

डा० साहबसे मिलकर और यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि वे कानूनके पण्डित होनेके सिवाय दर्शनशास्त्रके भी अच्छे विद्वान् हैं और विभिन्न दर्शनोंका उन्होंने गहरा एवं तुलनात्मक अध्ययन किया है। जैन दर्शन और बौद्ध दर्शनका भी उन्होंने अच्छा परिशीलन किया है।

मिलनेके समय मेरे हाथमें 'अनेकान्त' के प्रथम वर्षकी फाइल थी, जिसमें उक्त प्रोफेसर साहबका 'भारतीय दर्शन शास्त्र' शीर्षक महत्वका एक लेख छपा है और जिसमें प्रोफेसर सा० ने जैनदर्शनके स्याद्वाद तथा अनेकान्त सिद्धान्तपर उत्तम विचार प्रदर्शित किये हैं। डा०साहबने बड़े सौजन्य-से मुझसे कुछ प्रश्नोत्तर किये, जिन्हें महत्वके होनेसे नीचे दिया जाता है—

डाक्टर सा०—आपके इस अखबारका नाम 'अनेकान्त' क्यों है?

मैं—'अनेकान्त' जैनदर्शनका एक प्रमुख सिद्धान्त है, जिसका अर्थ नानाधर्मात्मक वस्तु है—अनेकका अर्थ नाना है और अन्तका अर्थ धर्म है और इसलिये दोनोंका सम्मिलित अर्थ नानाधर्मात्मक वस्तु होता है। जैनदर्शनमें विश्व-के समस्त पदार्थोंको नाना धर्मात्मक माना गया है। एक आत्मा पदार्थको लीजिए, वह द्रव्यकी अपेक्षा सदा विद्यमान रहता है—उसका न नाश होता है और न उत्पाद। किन्तु पर्यायोंकी अपेक्षा वह परि-वर्तनशील है—उत्पाद और विनाश होते हैं। जिसे हम डाक्टर या वकील कहते हैं उसे उनका पुत्र 'पिताजी' कहता है और उसके पिताजी 'पुत्र' कहते हैं, भतीजा चाचा और चाचा भतीजा तथा भानजा मामा और मामा भानजा कहकर पुकारते हैं। ये सब धर्म डा० साहब अथवा वकील साहबमें एक-साथ एक-कालमें विद्यमान रहते हैं। भले ही डाक्टर या पिताजी कहनेके समय वे सब धर्म गौण हो जायें, परन्तु वे वहाँ उस समय हैं अवश्य—केवल उनकी विवक्षा न होनेसे वे गौण होजाते हैं। वस्तुके इस नाना धर्मात्मक स्वभावरूप अनेकान्त सिद्धान्तका सूचन अथवा ज्ञापन करनेके लिये इस अखबारका नाम 'अनेकान्त' रखा गया है।

डाक्टरसाहब—दर्शनका अर्थ तो जगतमें शांति का मार्ग दिखानेका है, किन्तु वर्तमानमें जितने दर्शन हैं वे सब परस्पर विवाद करते हैं। उनमें खण्डन और एक-दूसरेपर आक्षेप तथा आक्रमण करनेके सिवाय कुछ नहीं मालूम पड़ता?

मैं—यह बिल्कुल ठीक है कि 'दर्शन' का अर्थ जगतमें शांतिका मार्ग दिखानेका है और इसीलिये दर्शनशास्त्रका लोकमें उदय हुआ है। जब लोकमें धर्मको लेकर अन्धश्रद्धा बढ़ गई और भेड़ियाधसान जैसा लोगोंका गतानुगतिक प्रवर्तन होने लगा तो समझदार लोगोंको दर्शनशास्त्र बनाने पड़े और उनके द्वारा यह बताया गया कि अपने हितका मार्ग परीक्षा करके चुनो। अमुक पुस्तकमें ऐसा लिखा है अथवा अमुक व्यक्तिका ऐसा वचन है इतनेसे उसे मत मान लो, पहले उसकी परीक्षा करलो। पीछे यथार्थ जंचने पर उसे अपनाओ। जैनदर्शनमें स्पष्ट कहा है—

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः॥

मूलतः सभी दर्शनकारोंका यह अभिप्राय रहा है कि मेरे अथवा मेरे दर्शनद्वारा जगतको शांतिका मार्ग दिखे, किन्तु उत्तरकालमें पक्षपातादिके कारण उनके अनुयायिओंने उनके उस अभिप्रायको सुरक्षित नहीं रखा और इसीसे उन्हें खण्डन तथा एक-दूसरेपर आक्रमणके दल-दलमें फँस जाना पड़ा और जिससे वे दर्शन आज विवाद करनेवाले-से प्रतीत होते है।

जैनदर्शनमें इन विवादोंको शमन करने और समन्वय करनेके लिये अहिंसा और स्याद्वाद ये दो शान्तिपूर्ण तरीके बतलाये गये है। अहिंसा आक्षेप और आक्रमणकी भावनाको रोकती है और स्याद्वाद माध्यस्थ्यभावको प्रदान करता है जिससे विवेकके साथ वस्तुनिर्णय तक पहुँचा जाता है। आप देखेंगे, जैनदर्शनमें आक्षेप और आक्रमण नहीं मिलेंगे। हाँ, किसी असत्यार्थका प्रतिवाद जरूर मिलेगा और जोरदार मिलेगा।

डाक्टरसा०—समन्वयका मार्ग तो ठीक नहीं है, उससे जनताको न शान्ति मिल सकती है और न ठीक मार्ग। जो विरोधी है उसका निराकरण होना ही चाहिये?

मैं—मेरा अभिप्राय यह है कि एक वस्तुमें सतत विद्यमान दो धर्मोमेंसे एक एक धर्मको ही यदि कोई मानता है और विरोधी दिखनेसे दूसरे धर्मका वह निराकरण करता है तो स्याद्वादद्वारा यह बतलाया जाता है कि स्यात्—अमुक दृष्टिसे अमुक धर्म है और स्यात्—अमुक दृष्टिसे अमुक धर्म है और इस तरह दोनों धर्म वस्तुमें विद्यमान है। जैसे, वेदान्ती आत्माको सर्वथा नित्य और बौद्ध सर्वथा अनित्य मानते हैं। यहाँ जैनदर्शन स्याद्वादसिद्धान्त द्वारा आत्माको द्रव्य और पर्यायोंकी अपेक्षासे नित्य तथा अनित्य दोनों बतलाता है और उन्हें कथंचित् रूपमें ही स्वीकार करनेके लिये कहता है। यही समन्वय-का मार्ग है। हमारा सब सच और दूसरेका सब झूठ, यह वस्तुनिर्णयकी सम्यक् नीति नहीं है। हिन्दुस्तान हिन्दुओंका ही है, ऐसा मानने और कहनेमें झगड़ा है किन्तु वह जैनों, मुसलमानों, बौद्धों आदि दूसरोंका भी है, ऐसा मानने तथा कहनेमें झगड़ा नहीं होता। स्याद्वाद यही काम करता है और इसीलिये जब हम स्याद्वादकी दृष्टिसे काम लेते है तो सत्यार्थोंमें कोई भी विरोधी नहीं मिलेगा, जिसका निराकरण करना पड़े।

डाक्टरसा०—बुद्ध और महावीरकी सेवाधर्मकी नीति अच्छी है और उसके द्वारा जनताको शांति मिल सकती है?

मैं—सेवाधर्म अहिंसाका ही एक अङ्ग है। अहिंसकको सेवाभावी होना ही चाहिए। महावीर और बुद्धने इस अहिंसाद्वारा ही जनताको बड़ी शान्ति पहुँचाई थी और यही उन दोनों महापुरुषों की जनताजनार्दनकी लोकोत्तर सेवा थी, जिसमें उनके अभ्युदय और कल्याणकी भावना तथा प्रयत्न समाये हुए थे। इन महापुरुषोंके उपदेशोंपर चलकर ही महात्मा गान्धीजीने देशको स्वतन्त्र किया, यह आपको मालूम ही है।

यह चर्चा बड़ी मैत्री और सौजन्यपूर्ण हुई। इसके लिये प्रो. सा. तथा डा. सा. धन्यवादके पात्र हैं।

१० दिसम्बर १९४९, —दरबारीलाल जैन,

जीवन और विश्वके परिवर्तनोंका रहस्य

(ले०—श्री अनन्तप्रसाद जैन B.Sc , Eng., 'लोकपाल')

———x———

[इस लेखमें विद्वान लेखकने जीवन-मरण, सुख-दुःख, संयोग-वियोग, रोग-शोक, आरोग्य, हानि-लाभ, सन्तति-सम्बन्ध, एक वस्तुका दूसरीपर अच्छा-बुरा प्रभाव और आकस्मिक घटनाओं जैसी विश्वकी अनेक जटिल समस्यओंको हल करने और उनके हल द्वारा लोकमें सुख-शांतिका स्रोत कैसे बहाया जा सकता है उसकी दिशाका बोध करानेके लिए एक नई विचार-धारा प्रस्तुत की है। इस विचार-धाराका दृष्टिकोण वैज्ञानिक और आधार जैन-सिद्धांतोंमें वर्णित पुद्गल वर्गणायें और उनकी गति-विधि अथवा कार्य-प्रणाली हैं। ये नाना प्रकारकी पुद्गल वर्गणाएं अथवा पुद्गल परमाणुओंके विविध संघ या स्कंध, जिनमें कर्म-वर्गणाएं अपना विशिष्ट स्थान रखती है, विश्वके सारे परिवर्तनोंके मूलमें स्थित हैं। ये वर्गणाएं निरन्तर बड़ी द्रुति-गतिके साथ एक वस्तुसे निकलती और दूसरी वस्तुओंमें प्रवेश करती तथा परिवर्तित होती रहती हैं और इस तरह मिल-बिछुड़कर अनेक सूक्ष्म-स्थूल, स्थायी वा क्षणिक परिवर्तनोंको बराबर जन्म दिया करती हैं, जिनके लोकमें कुछ अन्य अन्य ही कारण कल्पित किए जाते हैं। हम अपने मन-वचन-कायकी प्रवृत्तियोंको यदि खोटी रक्खें तो उनका खोटा फल हमको कैसे भोगना होगा और अच्छी रखनेपर अच्छे फलका उपभोग कैसे किया जासकेगा और कैसे हम विश्वकी सुख-शांतिमें सहायक हो सकेंगे, यह सब भी सांकेतिक रूपसे इसमें बतलाया गया है। लेख अपने विषयका प्रारम्भिक लेख है और वैज्ञानिकोंको विज्ञान विषयकी एक नई खोजकी तरफ प्रोत्साहित करताहै। अतः वैज्ञानिकोंको इस विषयपर गम्भीरताके साथ विचारकर उसके अनुसन्धानमें प्रगति प्रदान करना चाहिए और जैन विद्वानोंको आगमसे साधक-बाधक प्रमाणोंको उपस्थितकर अनुसन्धान-कार्यमें सुगमता और समीचीनता लानेका भरसक प्रयत्न करनाचाहिए। लेख लोक-हितकी भावनाओंसे ओत-प्रोत है और उसके प्रतिपाद्य-विषयकी वैज्ञानिक सफलता अथवा उसको विज्ञानका पूरा समर्थन मिलनेपर लोकमें जैनदर्शनकी बहुत बड़ी ख्याति एवं प्रभावनाका होना अवश्यंभावी है। इस ओर वैज्ञानिकोंका ध्यान आकृष्ट करने और उन्हें पुद्गल-वर्गणाओंके विशेष वर्णनादिसे सम्बन्ध रखनेवाली उपयुक्त सामग्री देनेकी खास जरूरत है। 'अनेकान्त' इस विषयकी ऐसी सब साधन-सामग्री और उसपर किए गए विद्वानोंके विवेचनोंका स्वागत करेगा।

—सम्पादक]

प्रास्ताविक—आत्मा और पुद्गलके संयुक्त रूपमें ही संसारमें जीवोंकी अवस्थिति है। आत्मा (Soul) और पुद्गल (matter) का सम्बन्ध अनादि कालीन है। आत्मा जब तक मुक्त नहीं हो जाता तब तक प्राय: पुद्गलमय ही रहता है। आत्मा चेतन (जानने और अनुभव करने वाला) है और पुद्गल जड़, अचेतन है। इस शरीरधारी जीवको सांसारिक अवस्थामें चेतनमय पुद्गल या पुद्गलमय चेतन भी कहें तो कोई गलती नहीं। शश्वत विकास होते होते जब यही जीव जघन्य (परम सूक्ष्म निगोदिया) रूपसे निकालकर पूर्ण विकसित मन एवं बुद्धियुक्त मनुष्यका शरीर प्राप्त कर लेता है तब इसे अपने इस पुद्गल शरीरको शुद्धकर अन्तमें इससे छुटकारा पाजानेकी पूर्ण संभावना एवं सुविधा प्राप्त होती है।

स्वतंत्र रूपसे तो आत्मा ईश्वर या सिद्धात्मा होकर ही पूर्ण शुद्ध रह सकता है अन्यथा हर हालतमें यह जड़ या पुद्गल शरीर धारी ही होता है। जो

कुछ हम संसारमें देखते, जानते, सुनते, समझते, भान करते या विचार करते हैं वह सब आत्मा और पुद्-गलको सृष्टि या रचनामात्र ही है। हम जो कुछ भी जानदार देखते हैं वह आत्मा और पुद्गल (Soul and matter) का ही संयुक्तरूप है। आत्माकी चेतनाके कारण उसकी चेतना है और जड़ पुद्गल-के कारण उसका बाह्य रूप। आत्माका यह सरूपी दर्शन या प्रत्यक्ष प्रमाण केवल मात्र उसके इस पुद्-गल या जड़के संयोग और आधारके कारणसे ही संभव है, अन्यथा आत्माका सब कुछ अदृश्य (invisible) एवं अचिन्तनीय ही था। फिर न तो संसार होता, न दर्शन, धर्म, न और कुछ। केवल पुद्गलका ही रूप बनता बिगड़ता रहता— न कोई जानने वाला होता न कुछ जाननेकी जरूरत ही रहती, पर चूँकि हमारे इस संसारमें यह आत्मा भी शामिल है और हम सब जीवमात्र उसीके भिन्न भिन्न रूप हैं, जिसमें मनुष्य विशेष शक्तियोंसे सम्पन्न विवेचना-युक्त होनेसे उसे यह जानना परम आवश्यक हो जाता है कि यह सब क्या है, क्यों है और वह स्वयं क्या है तथा इन सबोंसे उसका क्या सम्बन्ध है ? इनके साथ रहना है या इनसे छुटकारा पाना है ? इत्यादि। और यदि छुटकारा पाना ही ध्येय है तो यह कैसे संभव होगा ? पर जब तक वह स्वयं अपनेको ठीक ठीक न जानले और अपने चारों तरफ फैले हुए विस्तृत इन सब वस्तुओं और बाकी जीवोंके बारेमें भी ठीक जानकारी प्राप्त न करले तब तक वह जो कुछ भी छुटकारेका रास्ता, तरीका या उपाय निश्-चित करेगा वह प्रायः गलत ही होगा और पूरा कार-गर नहीं हो सकता। बात कुछ ऐसी ही प्रायः सभी धर्मों और धर्मतत्त्वोंके साथ रही है। अनेक तरहकी मिथ्या भावनाओं, मान्यताओं और परिभाषाओं का क्यों इतना अधिक खुला प्रचार संसारमें होगया उसके ऊपर मुझे यहां कुछ कहनेका न तो अवकाश है और न कहना इष्ट ही है। मुझे तो यहां यह देखना है कि आखिर इन सब भ्रममार्गोंमें क्या कहीं कोई सच्चा, ठीक सही मार्ग भी छिपा हुआ है, जो उतना आकर्षक न होनेसे या और दूसरे कुछ कारणों-से उसके मानने वालोंकी संख्या बहुत कम हो गई या रह गई है।

अधिकतर लोग अपनी अज्ञानतामें नामके पीछे ही जान देते हैं। विशेषकर वर्तमान संसारमें तो कुछ ऐसी ही परिपाटीकी प्रधानता सभी जगह सभी देशों तथा सभी लोगोंमें पाई जाती है। धर्मका नाम कुछ भी रहे—जिसके समय-समयपर परिवर्तित होते रहनेको कोई रोक नहीं सकता है— हमारा ध्यान तो इस बातपर होना चाहिए कि वह धर्म क्या सिख-लाता है और कहां पहुंचाता है। जैनधर्मका ही नाम यदि आज 'आत्मधर्म' या 'मानवधर्म' या और कुछ भी बदलकर रख दिया जाय तब भी उससे क्या हानि ? यदि तत्त्वोंकी सनातन वैज्ञानिक एवं तर्क-पूर्ण तथा बुद्धिगम्य विवेचनात्मक प्रामाणिकता सर्वदा सत्यके ऊपर ही अवलंबित रहे और उसीका प्रतिपादन करे।

हां, तो जैन धर्ममें वर्णित षट्द्रव्य, पंचास्ति-काय, सप्ततत्त्व और नवपदार्थोंका यथानुरूप शुद्ध निर्धारण एवं विशद व्याख्यान इतना ठीक, युक्ति-युक्त एवं आधुनिक वैज्ञानिक अनुसंधानों और मा-न्यताओं द्वारा अखंडित है कि इससे अधिक सत्य-के मूल तक पहुंचाने वाला तथा वस्तुस्वरूपको अपने असली मूल रूपमें दिखाने एवं निरूपित करनेमें दूसरा कोई दर्शन समर्थ हुआ नहीं दीखता। भले ही बहुतोंने बहुत घुमा-फिराकर या बढ़ा-चढ़ा कर बहुत सी बातें लोगोंको प्रभावित करनेके लिये कहीं हों या अद्भुतताकी पुट देकर आकर्षित करनेके लिये आडबरोंका सिलसिला खड़ा कर रखा हो, पर उससे क्या ? —असल सत्य तो आखिर सत्य ही है, कोई उसे पावे या न पावे अथवा उस तक पहुंचे या न पहुंचे। जो कुछ भी हो, तत्त्वोंको ठीक ठीक जाननेके लिये और वस्तुस्वरूपका पूर्ण निर्मल ज्ञान प्राप्त करनेके लिए यह आवश्यक है कि तर्क और दर्शनके हर तरीकोंको देखा जाय और वस्तुकी या किसी तत्त्वकी परीक्षा सभी दर्शनों एवं विचारों

या दृष्टियोंसे करकेऔर अच्छी समीक्षा करके ही उसका कोई निश्चय किया जाय। इसलिए चाहे जैन दर्शन हो या बौद्ध दर्शन या वेदान्त, सांख्य और चार्वाक सभीकी जानकारी मनन जरूरी हो जाता है। जैनदर्शन स्याद्वाद या अनेकान्तदृष्टि द्वारा ही किसी विषयका निरूपण और निर्धारण करता है, इसीसे संसारकी मूलभूत वस्तुओं और द्रव्योंका अधिक सूक्ष्म रूपमें दिग्दर्शन करनेमें समर्थ हुआ है। यहां उसके केवल दो प्रधान तत्त्वों या द्रव्योंकी आधारभूत वस्तुओं या स्वरूपोंपर विचारविमर्श किया जायगा विशेष विस्तृत जानकारी तो किसी भी प्रामाणिक ग्रन्थसे उपलब्धहो सकती है।

विषय-प्रवेश–आत्मा और पुद्गल (चेतन और जड़)—ये ही दो वस्तुएँ या द्रव्य या तत्व मूल उपादान कारण हैं जिनसे मिलकर हम जीवधारी या शरीरधारी प्राणियोंकी सृष्टि हुई है। संसारके सभी प्राणियों या जीवोंमें मनुष्य प्रमुख है। इस की बनावट भी औरोंकी बनिस्बत (अपेक्षा) अधिक सूक्ष्म, क्लिष्ट, जटिल या उलझनों वाली (Most Complicated) है। जीव या आत्मा और पुद्गल या जड़का अनादि सम्बन्ध चला आता है। आत्मा चेतन या जानने और अनुभव करने वाला है जब कि पुद्गल रूप और शरीर वाला, कर्मका आधार और परिस्पन्दन, कम्पन अथवा हलन-चलनका कारण है। हम जो कुछ भी गतिशीलता या प्रकम्पन देखते या अनुभव करते हैं वह सब केवल पुद्गलके ही कारण है। ये तरह तरह के हर एक प्राणीके शरीर भिन्न भिन्न रूपों और बनावटके कारण भिन्न भिन्न कार्य संपादन करनेकी क्षमता रखने वाले बिजलीके यन्त्रोंके समान ही हैं; जो जब तक बिजली या विद्युत-प्रवाह (Electric currant) जारी रहता है काम करते हैं। यद्यपि बिजली सभीमें एक रूपकी ही है पर यन्त्रोंकी बनावट भिन्न भिन्न होनेसे उनकी कार्य-शक्ति और तज्जन्य कार्य अलग अलग विशिष्टता लिये हुए या विभिन्नता लिये हुए होते हैं। आत्माको यदि हम यहाँ विद्युत शक्तिके और नाना प्रकारके यन्त्रोंको शरीरके रूपमें सोचें तो हर प्राणीमें एक ही तरहकी और एक समान ही शक्तिमान एवं गुणयुक्त आत्मा होनेपर भी हर एक की शक्ति या कार्योंकी भिन्नताका अन्दाज या उनके कारणका अनुमान हम बड़ी आसानीसे लगा सकते हैं और बात समझनेमें कठिनता कम हो जाती है।

सभी शरीरोंमें चेतना आत्माका ही लक्षण या गुण है परन्तु यह चेतना समान होते हुए भी हर एक शरीरके कार्योंमें बड़ी विभिन्नता है, जिसका मात्र कारण पौद्गलिक शरीरकी बनावटकी आन्तरिक या बाह्य विभिन्नता ही है। पुद्गल भी अपने मूल परमाणुरूपमें अकेला कुछ नहीं करता, पर जब ये परमाणु आपसमें मिलकर संघबद्ध हो जाते हैं तब तरह तरहके गुणयुक्त और प्रभावयुक्त होनेसे ही कार्यकारी होते हैं। पुद्गलका परमाणु अकेला प्राय: नहीं रहता है। इन परमाणुओंके संघ सूक्ष्म एवं स्थूल रूपमें बनते हैं। सूक्ष्म संघ आंखोंसे देखनेमें नहीं आते जब कि स्थूल संघ हम अपने चारों तरफ देखते या पाते हैं। अतिसूक्ष्म संघ तो यन्त्रोंसे भी नहीं देखे जाते-केवल उनकी कार्रवाई प्रभाव या (manifestation) द्वारा ही उनका होना या उनकी अवस्थितिका अनुमान किया जाता है। इन परमाणुओं (electrons & Protons ar ions) का सबसे पहला (elementary) संघ जो होता है उसे हम यदि 'मूलसंघ (मूल स्कन्ध), जिसे अंगरेजीमें एटम (atoms) कहते हैं, कहें तो आगे वर्णनमें सुविधा होगी। इन प्राथमिक (poimary) 'मूल संघों' (atom) के मिलनेसे फिर जो द्वितीय श्रेणीका (secondary) संघ (स्कन्ध) बनता है उसे 'वर्गणा' जिसे अंगरेजीमें मोलेक्यूल (molecule) कहते हैं, कहें तो दोनों नामकरण शास्त्रोक्त वर्णनसे भी मेल खायेंगे और आधुनिक विज्ञानसे भी। हमें यहां मुख्य संबन्ध पुद्गलोंके उन संघोंसे हैं जिनको हमारे यहां "कार्माणवर्गणा" नाम दिया गया है।

पुद्गलका जो शरीर आत्माके साथ लगा हुआ है उसके तीन विभाग हैं। एक तो सूक्ष्म या परम सूक्ष्म 'कार्माणशरीर' है जो 'कार्मण वर्गणाओं'-द्वारा निर्मित है, दूसरा 'तैजस शरीर' है और ये दोनों अदृश्य हैं। तीसरा औदारिक शरीर है जिसे हम अपने सामने प्रत्यक्ष देखते हैं। इनका विशद विवरण जैन शास्त्रोंमें मिलता है। कर्मवर्गणाओंका आत्मासे सम्बद्ध होना, बिछुड़ना और उसमे सर्वदा परिवर्तन होते रहनेके कारण जो कुछ असर इस शरीर धारीके कार्यों या सुख-दुख वगैरह पर पड़ता है उसे ही हम संसारावस्था कहते हैं। इन सबका भी विशद व्यवस्थित वर्णन शास्त्रोंमें मिलता है। इन 'कर्मवर्गणाओं' को ही सक्षेपमे "कर्म" कहा गया है। इनमें परिवर्तन कैसे कैसे होता है या हर एक परिवर्तनका क्या-क्या असर पड़ता है और जन्म, मरण, रोग शोक इत्यादि जो कुछ भी जीवके साथ सांसारिक अवस्थामें हर समय होता रहता है उसके उस रूपमे होनेका मूल क्या है या मूलमें वह किस तरह संपादित होता है, यही यहाँ दिग्दर्शन कराना मुख्य ध्येय इस लेखका है (How these fahenomena take place actually) इनके कार्य कारणमें एक अन्तर्दृष्टि प्राप्त करना ही हमारा खास मतलब है। शास्त्रोंमे वर्णित व्याख्याएं केवल फल (result or resultant conclusions) या अन्तिमरूप ही वर्णन करती है बतलाती है कि कौनसी 'कर्मवर्गणा' या कौनसे 'कर्म' लगनेसे अथवा बिछुड़नेसे या उनमें परिवर्तन होनेसे क्या असर होता है। पर इन कर्मवर्गणाओं में यह जो परिवर्तन या आपसी आंतरिक क्रिया प्रक्रिया (internal action and reaction) होती रहती है वह क्यों और कैसे होती हैं तथा इनके होनेका जो प्रभाव पड़ता है वह क्यों और कैसे पड़ता है, यही दिखलाना यहां इष्ट या अपना प्रतिपाद्य विषय है। अब तक जैन शास्त्रोंमे इसकी इस तरहकी व्याख्याके न मिलनेसे आधुनिक वैज्ञानिक समाज इस परम वैज्ञानिक धर्म सिद्धान्त-से प्रायः अनाकर्षित, दूर तथा अपरिचित ही रहा। संसारकी विचित्रताओंका भी कोई समुचित, तर्क-पूर्ण, बुद्धिगम्य, युक्तियुक्त एवं वैज्ञानिक व्याख्यान, विवेचन, उत्तर या वास्तविक कारणों का निरूपण कहीं ऐसा नहीं मिलता जिससे सन्तोष हो सके और इसलिये जिज्ञासु मानव धार्मिक तत्त्वोंकी अन्तर्दृष्टिसे प्रायः वंचित ही रह जाता है या जन्म-जात आस्थाके न होनेसे उसपर विश्वास नहीं ला पाता है। जन्मजात आस्था भी वस्तुके मूलरूप और उसके परिवर्तनादिके कारण-भूत तत्त्वों या उपादानों की क्रिया-प्रक्रियाको प्रत्यक्ष अनुभव करनेके उपरान्त ज्ञानकी निर्मलतामें जितनी पूर्ण रूपसे सहायक एवं कार्यकारी होगी उतनी केवल वर्णित परिणामोंकी विशद व्याख्या द्वारा नहीं हो सकती। क्रिया-प्रक्रिया की साक्षात अन्तर्दृष्टि किसी भी विषयके ज्ञानको प्रत्यक्ष या एकदम निर्मल बना देती है। जहां शंका-का एकदम अभाव हो जाता है। विद्वान केवल मानकर ही नहीं चलता है, बल्कि समझकर या जान कर मानता है और तब चलता है। इसके अतिरिक्त जो जन्मजात जैनी नहीं वे क्यों इस तरहकी बातों को मानने लगे जिनका कोई सबूत ऐसा नहीं जिसे आजकलका वैज्ञानिक संसार अपनी मान्यताको उस पर खड़ा करने या स्थिर करनेके लिये आधाररूपमें सर्वप्रथम किसी नई बातकी जानकारीके लिए आव-श्यक समझता हो। वह सब कुछ तर्कपूर्ण, बुद्धिग-म्य और युक्तियुक्त होते हुए भी साक्षात् देखना, सिद्ध करना, जानना एवं अनुभव करना चाहता है। अन्यथा वह कोई भी ऐसी बात माननेको या स्वी-कार करनेको तैयार नहीं। इसी कठिनाईको दूर करनेके लिये एवं संसारकी विचित्रताओंका एक ऐसा वैज्ञानिक समाधान (solution) उपस्थित कर सकनेके लिये जो वस्तुतः प्रत्यक्ष और प्रयोगात्मक एवं सचमुच कार्यकारी (realistic & practical) हो, यह लेख लिखा गया है।

हरएक मूलधातु (element) का सबसे छोटा अदृश्य (invisible) मूलरूप 'एटम'

(atom) कहा गया है जिसे हमने 'मूलसंघ' नाम दिया है। यह 'मूलसंघ' (atom) परमाणुओं-के मिलने या इकट्ठा होनेसे बनता है। एक मूलधातुके मूलसंघोंकी बनावट एक तरहकी ही होती है और गुण भी इसी कारण एक होते हैं। इस आन्तरिक बनावटमें फर्क पड़ते ही एक मूल-धातु बदल कर दूसरा मूलधातु (Element) हो जायगा। दो मूलधातुओंके गुणादिकमें भिन्नता उनके मूलसंघोंकी बनावटकी भिन्नता के ही कारण होती है। दो या कई मूलधातु (Elements) मिल-कर किसी भी 'वस्तु' (Subitace) का निर्माण करते हैं। किसी 'वस्तु' का सबसे छोटा अदृश्य मूलरूप 'मौलाक्यूल' (molecule) या वर्गणा कहा गया है, जिसमें उस वस्तुके सारे गुण विद्यमान रहते है। यह 'वर्गणा' दो या दो से अधिक मूलधातुओं (Elements) के—मूलसंघोंके—मिलने से कोई भी एक विभिन्न गुणों वाली नई वस्तु (Substance) तैयार हो जाती है। भिन्न-भिन्न वस्तुओंके पारस्परिक गुणोंकी विभिन्नताका कारण उनकी 'वर्गणाओं' की आन्तरिक बनावटकी विभिन्नता ही है। जैसे यह बात निर्जीव वस्तुओं (inorganic substances) में लागू है वैसे ही और उतनी ही (precision) यथार्थता एवं सूक्ष्मताके साथ जीवधारी वस्तुओं (organic and animate) या प्राणियोंके शरीरों के लिए भी लागू है।

हमारा शरीर इन पुद्गल वर्गणाओं (Molecules) का एक बहुत बड़ा बृहत् समूह संघ या संगठन है। इसके भी प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष (अदृश्य) ऐसे दो भाग है। प्रत्यक्षको औदारिक शरीर कहते हैं जो हाड़, मास, रक्त इत्यादि मय है और दूसरे अप्रत्यक्ष भाग तैजस तथा कार्माण शरीर है। संसारमे मृत्यु हो जाने पर यह औदारिक शरीर तो छूट जाता है पर ये कार्माण और तैजस शरीर आत्माके साथ तब तक रहते है जब तक वह इनसे छुटकारा पाकर मोक्ष अथवा मुक्तिकी प्राप्ति नहीं कर लेता है। कार्माण शरीरके द्वारा ही जीव तरह-तरहकी योनियोंमें जन्म लेता है या तरह-तरहके शरीर धारण करता रहता है। यह कार्माणशरीर तथा औदारिक शरीर सभी कुछ पुद्गलोंकी रचना है और पुद्गल वर्गणाओंका भारी समूह है।

कहा गया है कि एक अंगुष्ठ प्रमाण किसी वस्तुमें अनंतानंत वर्गणाएं हैं। बालकी नोकमें या बालूके एक कणमें अनगिनत वर्गणाएं हैं तो फिर समूचे शरीरमें तो इनकी संख्या अपरिमित और असंख्यात—अनंत है ही। यदि यहां गणितके आधार पर बातको समझनेके लिए हम एक विशिष्ट सीमित संख्या थोड़ी देरके लिए मानलें तो दृष्टान्तरूपमें समझना सम्भव हो सकेगा।

संसारमे कोई भी वस्तु अकेली नहीं है! किसी भी एक वस्तु या शरीरके चारों तरफ अनंतानंत वस्तुएं भरी पड़ी है। सभी एक दूसरेके ऊपर अपना अक्षुण्ण प्रभाव डालती रहती है। आधुनिक विज्ञा-नने आकर्षण एवं प्रत्याकर्षणका सिद्धान्त हमारे सामने रखा है—उसके अनुसार भी सभी वस्तुएं एक दूसरेको आकर्षित या प्रभावित करती है। ऐसा नहीं कि केवल बिजली पैदा करने वाली मशीनोंमे ही इलेक्ट्रन (परमाणु) उत्पन्न होता हो—इलेक्ट्रन तो हर समय हर जगह हर वस्तुसे बाहर अनंतानंत निकलते रहते है और अंदर प्रविष्ट भी होते रहते है। ये पुद्गल परमाणु अदृश्य होनेसे दिखलाई नहीं पड़ते। ये कुछ तो 'परमाणु' रूपमें कुछ 'मूल-संघ' के रूपमे और कुछ 'वर्गणाओं' के रूपमें ही निष्क्रमण करते हैं। इनका तारतम्य सतत जारी रहता है; कभी भी नहीं टूटता—चाहे हमें इस क्रिया (Phemomena) की अनुभूति हो या न हो पर यह सर्वदा स्वाभाविक रूपमे होती रहती है। कोई इसे रोक नहीं सकता। इस तरह एक वस्तुका असर हर एक दूसरी वस्तु पर कमोबेश-जैसा जिसका प्रभाव, विस्तार या शक्ति हो उसके मुताबिक पड़ता है। हर एक जीव या आत्मा संसारी दशामें शरीरधारी अवश्य हैं इसलिये हमारे शरीरोंके साथ भी यही बात होती है। हर दम हर समय इन शरीरोंमे हर

तरहके पुद्गल परमाणु, मूलसंघ एवं वर्गणाके रूपमें बाहरसे आते और शरीरोंसे बाहर निकलते रहते हैं। इतना ही नहीं हर शरीरके अन्दर भी इस तरहकी क्रिया-प्रक्रिया हर एक छोटेसे छोटे दो हिस्सों, अंगों, दो किस्मोंकी चीजों या कहीं भी दो नजदीकी रक्त-कणों या मांसपिण्डों तकमें होती ही रहती है। इन पुद्गल परमाणुओंका आदान-प्रदान किसी-न-किसी रूपमें अविराम गतिसे शाश्वत चलता रहता है। यही हर तरहके परिवर्तनोंका मूल कारण है। हर एक ग्रह-उपग्रह भी इसी तरह अविराम गतिसे इन पुद्गलोंको अपने चारों तरफ फेंकते रहते हैं तथा एक दूसरे द्वार फेंके गए पुद्गल एक दूसरे पर या एक दूसरे ग्रह-उप ग्रह पर अवस्थित वस्तुओं जीवों, देहों इत्यादि पर अपना अमिट प्रभाव डालते है। सूर्य तो सारी शक्तियोंका अजस्र स्रोत कहा गया है। यह भी इसी कारण है कि सूर्यसे ये पुद्गल अजस्र प्रवाहके रूपमें चारों तरफ बड़ी तीव्रतम गतिसे निकलते रहते हैं और इसी कारण प्रकाश भी होता है और इस सभी संसारियों या समारकी सभी वस्तुओं पर इनका अक्षुण्ण प्रभाव हर तरह पड़ता या होता रहता है। हमारे वैज्ञानिकोंने जितनी किरणों (rays) या धाराओं (waevs) का अनुसंधान या अनुमान किया है उससे कहीं अधिक अनंतानंत संख्या और रूपोंमें ये पुद्गल दृश्य और अदृश्य धाराओं एवं किरणोंकी बनावट या शकलमें सूर्यसे इस तरह निकलते रहते रहते है जिनका पार पाना या पूरी जानकारी प्राप्त करना असम्भव सा ही जान पड़ता है। ये सारी पुद्गलकी धाराएं जो एक दूसरी वस्तुसे टकराती तथा उनके अन्दर घुसती-निकलती रहती हैं वे हर एक वस्तुकी अंदरूनी मोलेक्यूलर या आणविक बनावटमें कुछ न कुछ कम-बेश स्थायी या क्षणिक (जहां जैसा भी हो) परिवर्तन या प्रभाव अवश्य करती हैं। बहुत सी बातोंको हम स्वयं खुलेआम देखते जानते और अनुभव करते हैं, बहुत सी बातोंको यन्त्रोंकी सहायतासे और बहुतोंको अनमान या आभासमात्रसे ही अधिगत करते हैं पर अभी अनंतानंत Pheuamena क्रियाएं ऐसी हैं जिनका हमें कतई ज्ञान या भान नहीं। हम जानें या न जानें, असर तो हर एकका होता ही है। इस तरह यद्यपि हम समझते हैं कि आधुनिक विज्ञान बहुत बड़ी उन्नति कर गया है पर यदि ठीक तरहसे देखा जाय तो हमारा सारा ज्ञान महासमुद्रमेंसे केवल एक लोटा पानीके बराबरकी तुलना ही रखता है। ज्ञान अपरंपार है—समय और शक्तियां सीमित हैं—इससे पहले जो लोग जान गए और हमारे मार्ग-प्रदर्शनके लिए कुछ कह गये या लिख गये उससे मदद लेना, शिक्षा लेना हमारे आगे बढ़नेके लिए परम आवश्यक है। हमारे जैन शास्त्रकारोंने सर्वज्ञ तीर्थङ्करोंका ज्ञान अपनी शक्तिके अनुसार आगमोंमें भरा; पर अनन्तज्ञान भला कहीं पोथियोंमें भर सकता या समा सकता है? ये शास्त्र तो केवल मार्ग या दिशा इंगित करनेके लिये है, बाकी तो स्वयं चेष्टा कर हम जितना जो कुछ जानलें वही गनीमत और हमारी तथा संसारकी भलाईमें सहायक है। अथवा असली-सच्चा प्रत्यक्ष ज्ञान ही अपनी चीज है।

आत्माको अनादि-कालीन पुद्गलके सम्बन्धसे छुटकारा दिलाकर मोक्ष (मुक्ति) की प्राप्ति कर लेना ही हमारा एकमात्र लक्ष्य, ध्येय एवं कर्तव्य है। ऐसा करके ही हमारे पुरुषार्थकी सिद्धि होती है अन्यथा तो समय और जीवन बर्बाद तथा बेकार ही है। आत्माकी मुक्तिके लिए आत्मा और पुद्गलादिका रूप एवं आपसी व्यवहार और क्रिया-प्रक्रियाका रूप सूक्ष्म रूपसे जान लेना परम आवश्यक है। इसके बगैर कुछ भी नहीं हो सकता या इसकी जानकारीमें भ्रम और गलती रहनेसे हमारा जो कुछ कार्य फलतः होगा वह सब गलत एवं भ्रमपूर्ण तथा उलटा प्रभाव—असर या फल उत्पन्न करने वाला होकर बजाए लाभके हानि ही करेगा। केवल पुस्तकोंकी जानकारी ज्ञानका या शुद्धज्ञानका मापदंड नहीं। पुस्तके तो एक साधन या सहारेकी तरह हैं—उन्हें ही या उन्हीं में हर जानकारीका अन्त

समझ लेना अज्ञानता है। हां, मनुष्यको सीमित शक्तियों एवं समयके कारण उनकी बुद्धि-पूर्वक मदद लेना आगे बढ़ने के लिए आवश्यक है। पर वहां भी मात्र सिद्धांतोंके पचड़-पचड़में अपनेको भुला देना ठीक नहीं—एक सच्चे मार्गकी खोज करना ही हमारा इष्ट या ध्येय अथवा हमारी सारी चेष्टाओंका लक्ष्य होना चाहिए।

जैनसिद्धान्तोंने अनेकान्त-स्याद्वादका व्यवहार करके इसी तरहका एक सीधा-सादा मार्ग सांसारिक आत्माओंको आगे बढ़नेके लिए निर्धारित किया है। जो परम्परासे सर्वज्ञ-तीर्थंकर-जिनद्वारा निर्देशित, निरूपित और व्यक्त किया जाकर आचार्यों तथा दर्शनवेत्ता-गुरुओं और ज्ञानियों द्वारा लिपिबद्ध किया गया है। ज्ञान और अनुभव को ठीक-ठीक व्यक्त करना कठिन ही नहीं प्रायः असम्भव-सा है, लिखना तो और भी दूर की बात है। दूसरों की शिक्षाओं या लेखोंसे तो हम एक सुलझाया हुआ निर्देश ही पाते हैं—असल बात तो उसको जानकर स्वयं अनुभव प्राप्त करना ही सच्चा तथ्य या सारे तत्वोंका सार है।

आत्मा और पुद्गलकी परिभाषाओं, शक्तियों और रूपोंका वर्णन बड़े विशदरूपसे जैन शास्त्रोंमें किया गया है, यहां तो केवल कुछ ऐसी बातों पर प्रकाश डालना है जिन्हें हम केवल पोथियोंको पढ़कर खुलासा जान नहीं पाते हैं। केवल तर्क या श्रद्धापूर्ण तर्क द्वारा ही बहुत-सी बातों को स्वयं सिद्ध कह कर मान लेते हैं, जो हमारे ज्ञानको पूर्णरूपसे विशुद्ध बनाने में असमर्थ रहता है। यही कारण है कि धर्म-तत्वोंका अर्थ लोग मनमाना लगा लेते हैं और फिर व्यवहारमें भी उसी कारण ढोंग और मिथ्या आचार एवं रीति-नीतिका विस्तार बढ़ जाता है। इससे बचने के लिए और संसारको या जिज्ञासु भव्य व्यक्तियोंको तत्वोंका ठीक सच्चा ज्ञान कराने के लिए उनकी सूक्ष्मतम बारीकियोंको आधुनिक वैज्ञानिक तरीकोंसे प्रतिपादन करना अत्यन्त जरूरी है। संसारकी सारी अव्यवस्था या उथल-पुथल इन तत्वोंको ठीक-ठीक न जानने से ही है।

हमारे जैन शास्त्रोंमें पुद्गल-वर्गणाओंका आत्माके ऊपर जो असर होता है उसका अच्छा विवेचन किया हुआ मिलता है, पर वहां ऐसा समाधानात्मक वर्णन न होने से जिससे कि हमें उनकी आन्तरिक क्रिया-प्रक्रियामें एक अन्तर्दृष्टि-सी हो जाय और हम यह जान जांय कि आखिर यह सब सचमुच होता कैसे है—हमारा ज्ञान फिरभी अधूरा ही रह जाता है। यह थोड़ा-सा अव्यक्तपन या धुंधलापन अथवा इस तरह का अधूरापन ही सारे फिसादों एवं झगड़ों की जड़ है। इसे यथासंभव हटाना आवश्यक है। मैंने भी कर्म-वर्गणाओंकी इस गुत्थीको सुलझानेके लिये जो कुछ अपने मनमें तर्क-वितर्क-द्वारा शास्त्रोंको पढ़ने पर निश्चय किया उसे यहां लोगोंकी मददके लिए यथासंभव और यथाशक्ति प्रकाशित कर देना अपना कर्तव्य समझा।

विषय इतना गूढ़, कठिन एवं क्लिष्ट है कि बहुत चेष्टा करने परभी मेरा अपने विचारोंको जल्दी लिपिबद्ध करना संभव नहीं हो सका। कितनी ही बार लिखना आरम्भ किया पर भूमिकामें ही उलझा रहा गया या विषयान्तर हो जानेसे प्रतिपाद्य विषय कुछका कुछ होकर दूसरी तरफ मुड़ गया। खैर, अन्तमें थोड़ी-सी सफलता मिली है, जिसे यहाँ इसलिए व्यक्त किया जाता है कि इससे और दूसरे विचक्षण वैज्ञानिक एवं दार्शनिक लाभ ले सकें। मनुष्यका ज्ञान अपूर्ण है इसलिए लेखकको भी वैसा ही समझना उचित एवं ठीक है। जिस आदमीने अंगूर नहीं खाए हैं वह अंगूरका स्वाद ठीक-ठीक कैसा होता है नहीं जान सकता है। ऐसे ही दूसरे फलोंके स्वादकी बात समझिये। पुस्तकोंसे या दूसरोंके कहने अथवा बतलाने और निर्देश करनेसे हम किसीके बारेमें बहुत-सी ज्ञातव्य बातें जान जाते है जिसे हजारों वर्षोंसे लेकर आज तकके अनुभवका इकट्ठा लाभ कहा जासकता है—फिर भी यह साराका सारा ज्ञान नकली है यदि स्वयं अपनी अनुभूति साथमें न हो या न होसके। इस-

लिए केवल पुस्तकोंके ज्ञानमें अपनेको ज्ञानी समझ लेना महज गलती है। पुस्तकोंकी जानकारीका लाभ लेकर स्वयं अपना अध्यवसाय लगाकर जो कुछ साक्षात् अनुभवमें आवे वही असली या सच्चा शुद्ध ज्ञान किसी वस्तु या विषयका कहा जा सकता है। यही बात जीवनमें संबद्ध प्रश्नोंके लिए भी लागू है।

बाह्य प्रभाव, प्रकम्पन और परिवर्तन—

संसारमें हरएक छोटीसे छोटी या बड़ीसे बड़ी सभी वस्तुओंपर इतनी बाह्य शक्तियाँ (Forces) काम कर रही है कि उनकी बाह्य स्थिति होने हुए भी हर एकका एक एक एटम या मूलसंघ तक कंपन प्रकम्पनसे युक्त ही है। कोई भी वस्तु सर्वथा कंपनसे शून्य नहीं है। छोटी बड़ी शक्तियोंकी आपसी क्रिया-प्रक्रिया इस तरह होती रहती है कि कम्पनसे शून्य होना सभव ही नही। यही कम्पन-प्रकम्पन सब कुछ परिवर्तन या जीवन और सृष्टिका मूल कारण है। यदि यह एक दम शान्त होजाय तो सब कुछ शान्त हो जाय, फिर न परिवतन हो, न जन्म मृत्यु और न नई सृष्टि इत्यादि। यह कम्पन-प्रकम्पन ही मूलतः पुद्गल परमाणुओंके छूटने और आने या निकलने और मिलने का कारण है। जैसे दो चुम्बकों के बीचमें एक खिंचाव रहता है और कोई गुप्त शक्ति बीचकी जगहमें काम करती रहती है—जबतक बीचवाला स्थान स्थिर या शान्त रहता है कोई नई खास बात उत्पन्न नहीं होती—पर जैसे ही उसके अंदर किसी तरह प्रकम्पन या हलनचलन (Disturbance) किसी प्रकारका उत्पन्न होजाय या कर दिया जाय तो तुरन्त विद्युत-बिजलीका जन्म हो जाता है। इलेक्ट्रन (Electrons) छूटने लगते है और उन्हें रास्ता दे देनेसे एक प्रवाह जारी हो जाता है जिसके काम या कारगुजारियाँ (Manifestations) हम बिजलीके रूपमें देखते या पाते है। ये इलेक्ट्रन कहां से निकलते है? ये उन्हीं मौलीक्यूलों (molecules) वर्गणाओंमेंसे निकलते हैं जो किसी भी वस्तुके बनानेवाले अभिन्न अंग या हिस्से हैं। साधारण कम्पन-प्रकम्पन तो हर वस्तु और उसको बनानेवाले मौलीक्यूलोंमें हरवक्त होता रहता है और हर मौलीक्यूलको बनानेवाले इलेक्ट्रनोंमेंसे ह्रास या छूटना और बिछुड़ना एवं दूसरोंसे आते हुए इलेक्ट्रनों द्वारा उनकी वृद्धि या पूर्तिका सिलसिला बराबर ही लगा रहता है। बिजली का उत्पादन तो इन इलेक्ट्रनों पुद्गल परमाणुओंका बहुत बड़ी तादादमें इकट्ठा एक दिशामें विशेषशक्ति (force) द्वारा प्रवाहित करनेका ही रूप है। पर साधारणतः दूसरे रूपोंमें इसी तरहकी कुछ क्रिया-प्रक्रिया बराबर हरवस्तुमे सर्वदा कमबेश जारी रहती है। यही कम्पन और प्रकम्पन हमारे शरीरके अंदर तथा बाहर सब तरफ भरी हुई वस्तुओंकी वर्गणाओं (मौलीक्यूलों) में होते रहनेके कारण उनमेंसे ये पुद्गल परमाणु (इलेक्ट्रन) निकलते और दूसरोंसे आनेवाले पुद्गल-परमाणु उनके अन्दर घुसते और मिलते रहते हैं। चूंकि सभी वस्तुएं संयोगके अनुसार परिवर्तन करती हैं और यह परिवर्तन उनकी वर्गणाओंकी अन्दरूनी बनावटमें हेर-फेर होनेसे ही होता है और इसीलिए यह परिवर्तन या अदला-बदली अथवा वह सब कुछ जो हम इस संसारमें या अपने अन्दर होते हुए देखते, समझते या अनुभव करते हैं वह सब होता है या होता रहता है।

इन पुद्गलपरमाणुओंका आदान-प्रदान और वर्गणाओंकी बनावटमें हेर-फेर होकर एकसे दूसरा होजानेके कारण ही सारी व्यक्त या अव्यक्त, दृश्य या अदृश्य सांसारिक अवस्थाएं बनती बिगड़ती रहती हैं या गतियोंका उत्पाद-विनाश लगा रहता है। जैसे हम भोजन करते हैं और शरीरमें जाकर उसमेंका कुछ भाग रह जाता है और फिर वहांसे उस भोजन का रूप बदलकर मलरूपमें बाहर निकल जाता है फिर भी हमारा बाह्यरूप ज्योंका त्यों दीखता है उसी तरह जहां हरएक वर्गणामें न जाने कितने मूलसंघ और कितने परमाणु रहते हैं उनमेंसे कुछ यदि

निकलते रहें और उसी तरहके उन्हींके स्थानपर दूसरे आते जायं तो ऐसी वर्गणाओंमें फरक नहीं पड़ सकता है और वस्तु प्रायः ज्यों-की-त्यों रहेगी बदलेगी नहीं बाह्यरूप उसका जैसा-का तैसा दिखेगा। पर यह आन्तरिक क्रिया-प्रक्रिया तो फिर भी सदा ही चलती रहेगी।

जहां पुद्गलपरमाणु इस तरहके आवें कि वर्गणाओंकी आन्तरिक बनावट ही बदल जाय तब रासायनिक (chemical) विज्ञानमें वर्णित प्रक्रियाओंद्वारा उस वस्तु (substance) में ही परिवर्तन होकर वह पुरानी वस्तु न रहकर दूसरी वस्तु हो जाती है। जो बात रसायनमें होती है वही और उसी तरहकी बात या क्रियाएं शरीरकी हरएक वर्गणा या मौलीक्यूलके साथ भी पूर्णरूपसे लागू है। और यह सब कुछ कम्पन-प्रकम्पन (हलका भारी स्थायी क्षणिक इत्यादि जो भी हो) द्वारा ही होता है। रासायनिक प्रक्रियाओंमें भी वे ही वस्तुएं आपसमें एक दूसरे पर आक्रमण कर तीसरी वस्तुके उत्पन्न होनेका कारण होती हैं जिनमें आपसी कुछ ऐसी क्रियाएं करके मिलमिलाकर तीसरी वस्तु उत्पन्न करने की स्वाभाविक(affinity) सम्मिलनशक्ति योग्यता या गुण होता है। इसी लिए पुद्गलपरमाणुओंको इसी मिलने या न मिलनेके भेदोंके अनुसार कई भेदोंमें विभाजित किया गया है। आधुनिक विज्ञान अपना सिद्धान्त कुछ ऐसा ही पेश करता है और जैनदर्शन भी कर्मोंके वर्णनमें कुछ इसी तरहकी बात 'स्निग्ध' 'रूक्ष' करके कहता है। जैसे गंधकका तेजाब और जस्त (zinc) को एक जगह शामिल करनेसे जो तीसरी वस्तु उत्पन्न होगी वही हरसमय इन दोनों वस्तुओंके सम्मिलनसे सर्वत्र उत्पन्न होती है, यही एक स्वयंसिद्ध नियम या स्थायित्व इन सारे परिवर्तनोंमें एवं इनको नियमबद्ध कहने या करनेमें अथवा संसारके परिवर्तनोंमें नियमितता रखनेमें समर्थ है। यही बात संसारकी या संसार स्थित किसी भी वस्तु या नियमकी स्थिरता अथवा स्थायित्वका कारण है।

सब कुछ परिवर्तन या पुराना विनाश और नया उत्पादन होते हुये भी मूलभूत सब कुछ ज्यों-का-त्यों स्थिर रहता है। अवस्थाएं ही बदलती हैं, वस्तुका न एकदम विनाश हो सकता है और न नई वस्तुएं एकदम 'कुछ नहीं' से बनाई ही जा सकती हैं। यही नियम उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य नामक तत्वको पूर्ण रूपसे प्रतिपादित करता है। अवस्थाओंके परिवर्तनको ही जैनसिद्धान्तमें 'पर्याय' कहा गया है। हमारे शरीरके अन्दर भी हरएक 'वर्गणा' और 'मूलसंघ' बराबर कम्पायमान होते रहते हैं। यह कम्पन कई तरहका होता है। एक तो प्राकृतिक, जो शरीरके अन्दर शरीर पोषण वगैरहकी क्रियाएं अपने आप होती रहती हैं उनके कारण कम्पन तरह तरहके होते ही रहते है। दूसरे, बाहरी वस्तुओं द्वारा जो शक्तियां अपना प्रभाव डालती है उनके द्वारा दूसरे कम्पन अपने आप होते रहते हैं। तीसरे तरहका कम्पन वह है जिसे हम अपनी चेष्टाओंसे उत्पन्न करते हैं। इसमें भी तीन भेद है। मन-द्वारा, वचन-द्वारा, एवं शारीरिक हलन चलन या गति-द्वारा। इन्हें ही जैन शास्त्रोंमें 'योग' कहा गया है।

जिस समय हम एक विषयको अपने मनमें सोचते रहते हैं उस समय हमारा मानसिक प्रदेश कार्यशील रहता है या कम्पित होता रहता है। एक विषय या एक भावसे दूसरे विषय या भावपर जिस समय मन बदलता या जाता है इन कम्पनोंमें एक तीव्रता अधिक रूपसे आती है। एक ही विषयपर ध्यान लगाए रखनेसे ये कम्पन काफी कम या एक ही तरहके होनेसे शांतताकी भावना या स्थिति बाह्य रूपमें भी प्रदर्शित करते हैं। इसीलिये एकाग्रता या ध्यानकी महिमा बहुत बड़ी कही गई है।

प्रकम्पनादिक और हिंसा—किसी एक जीवित वस्तुका रूपपरिवर्तन होना या एक रूप नष्ट होकर दूसरा उत्पन्न होनेका नाम ही हिंसा (?) है। जब कभी भी हमारे अन्दर कोई विशेष कम्पन होता है तो इस शरीरके अन्दर जो अनंतानंत परम सूक्ष्म

जीवाणु (cells) विद्यमान हैं उनमें असंख्योंका विनाश और असंख्यों नयोंका उत्पाद उसी समय उनकी जगह पर होता है। यह प्रकम्पन जितना तीव्र होगा विनाश और उत्पादकी यह क्रिया उतनी ही बृहत् या बड़ी होगी। मनकी अपेक्षा वचन और उससे भी अधिक कायके हलन-चलनसे उत्तरोत्तर इन जीवाणुओंकी हिंसा अधिकाधिक होती है। इतना ही नहीं हमारे अन्दर यह हलन-चलन या प्रकम्पन होनेसे हमारे शरीरसे निकलने वाले पुद्गलोंकी गति एवं संख्यामें भी तीव्रता या बढ़ोतरी हो जाती है। हमारे चारों तरफ वायुमण्डलमें अनंतानंत जीव ऐसे भरे पड़े हैं जिन्हें हम देख नहीं सकते—इस तरह उनका बड़ा भारी नाश हमारे प्रकम्पनोंसे स्वयमेव होता रहता है। इसी लिए हम जितना जितना भी मन-वचन-कायकी क्रियाओंको कम करें हिंसा उतनी ही कम होगी। और यही अहिंसाका परम आदर्श है। और चूंकि ऐसा करके ही हम पुद्गलोंसे छुटकारा पाकर परम निर्वाण या मोक्षका लाभ करसकते हैं इसीलिए "अहिंसा परमो धर्मः" कहा गया है। जिस समय हमारा मन इतना अधिक एकाग्र होजाय कि कुछ देरके लिए भी यदि ये मानसिक या शारीरिक चेष्टावाले हलन-चलन एकदम बिल्कुल बन्द हो जायँ तो यह पुद्गलोंका पुंज आत्मामेंसे सहसा सारा-का-सारा अपने आप झड़ जाय और आत्मा तुरंत मोक्षका लाभ करले। यह अवस्था परम निर्विकल्प दशामें होती है और परम निर्विकल्प दशा या परमशांत दशाको लानेवाली है। इस परम निर्विकल्पताका तभी लाभ होता है जब पूर्ण ज्ञान उत्पन्न होजाय और हम हर एक बात या कार्यका कारण और असर भूत, वर्तमान, भविष्यके बारेमें जान जांय तथा कोई भी मानसिक विकार किसी तरहका रह ही न जाय और सुख-दुखकी भावना एकदम अपने आप गायब होजाय—यही वह परम निर्विकल्प दशा है जब आत्मा मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

भोजन-पानका भी हिंसा-अहिंसासे बड़ा संबंध है। किसी जीवको मारकर मांस निकालनेमें हम उस जीवकी और उसके शरीरके अन्दर जितने जीवाणु हैं उनकी हत्या तो इकट्ठा करते ही हैं; साथ ही साथ उस तरहका पदार्थ खानेसे हमारे शरीरके अन्दर भी बड़ा ही तीव्र प्रकम्पन और हेर-फेर होता है जो पुनः अनंतानंत जीवाणुओंकी हत्याका भीतरी एवं बाहरी कारण बनता है। इस तरह कोई भी मनुष्य मांस खानेमें हिंसा करके कई गुना और बहुतर्फी हिंसाका भागी होता है। मांस खानेसे भावोंमें जो कलुषता आंतरिक वर्गणाओंमें हेर-फेर होकर उत्पन्न हो जाती है वह आगेके लिये एक स्थायी कारण हिंसाका कायम कर देती है। इस तरह खान पानकी शुद्धि भी आत्म-लाभ और अहिंसाकी साधनाके लिए परम आवश्यक है

परिवर्तनादिके मूलकारणका कुछ स्पष्टीकरणः—

सांसारिक परिवर्तनादिक एवं व्यक्त या अव्यक्त और दृश्य या अदृश्य क्रियाएँ जो जगतमें होती रहती हैं उनका मूल कारण वर्गणाओंकी अन्दरूनी बनावटमें हेर-फेरका होना है; पर हमें यहां गणितकी सहायता लेकर यह देखने या जाननेकी यथाशक्ति चेष्टा करनी है कि आखिर यह सब होता क्यों या कैसे है? तथा क्या और कैसा होनेसे क्या असर पड़ता है? विषय बहुत ही विशाल है पर यहां थोड़ेसे छोटे मोटे दृष्टान्त देकर विषयके दृष्टिकोणकी तरफ लोगोंका ध्यान आकृष्ट या मुखातिब करने मात्रकी चेष्टा ही की जायगी। छोटेसे लेखकी कौन कहे बड़े-बड़े पोथोंमें कितने ही वर्षों तक लिखते रहने पर भी इस विषयका अंत नहीं हो सकता। इस लिए लेखको अंतिम न मान कर केवल मात्र विषयसे परिचय करानेका एक बहुत ही छोटा परमाणु बराबर प्रयास ही मानना चाहिए। साधारण मनुष्यका, ज्ञान अपूर्ण है इस लिए कोई बात ऐसे अपूर्ण ज्ञानवाले मानवकी कही हुई पूर्ण तो कैसे होसकती है? और फिर ऐसी हालतमें गलतियोंका होना भी असम्भव नहीं। किसी भी Theory या सिद्धान्तको तर्क एवं बुद्धिकी कसौटीपर कसकर

तथा व्यवहार और अनुभवकी आगमें तपाकर यदि ठीक पाया जाय तभी स्वीकार करना चाहिए। हमारे आधुनिक वैज्ञानिकोंको इधर विशेष ध्यान देना चाहिए। इधर अनुसंधानका विशाल अनंत तक विस्तृत क्षेत्र पड़ा है और जितनी जितनी जानकारी मिलती जायगी उतनी ही अधिकाधिक दिलचस्पी इधर बढ़ेगी एवं आत्मज्ञान, आत्मलाभ, अथवा सुख-शान्तिका सच्चा मार्ग सुलभ होगा तथा व्यक्ति एवं संसार ऊपर उठनेमें समर्थ होगा।

किसी भी एक व्यक्तिके शरीरमें अनंतानंत पुद्गल वर्गणाएँ है। और ये वर्गणाएँ अनंतानंत प्रकारकी है। यदि बात समझनेके लिए यहां हम यह मान लें कि किसी भी शरीरमे केवल एक सौ (one-hundred प्रकारकी ही वर्गणाएं है और हर एक प्रकारमें एक ही वर्गणा एक तरहकी है तो इस तरह आगे मुख्य विषयको स्पष्ट करनेके लिये जो बातें बतलाई जायेंगी उनका समझने-समझानेमें आसानी होगी।

(१) **मानवजन्म**—अब हमे देखना है कि मानव-जन्म कैसा होता है। किसी पुरुषके शरीरकी वर्गणाओंकी संख्या सौ है और स्त्रीके शरीरकी वर्गणाओंकी संख्या भी सौ ही है। और पुरुषके वीर्यमें रहनेवाले सूक्ष्म, अपर्याप्त जीवाणु (cells) जिनमें आगे चलकर स्त्रीके रजका संयोग होनेसे पूर्ण रूप या शरीर प्राप्त होता है उनको भी वर्गणाओंकी संख्या सौ है। वीर्यमें इसतरहके असंख्य जीवाणु एक साथ रहते है और एक साथके सहगमनमें कई सौ ऐसे जीवाणु गर्भाशयमे चले जाते है। किसी पुरुषके वीर्यमें वे ही जावाणु रहेंगे जिनकी वर्गणाओंमेंसे आधे से-अधिक वर्गणाओंका या अधिकसे अधिक वर्गणाओंका गठन या उनकी बनावट ऐसी होगी जिनके स्वभावकी समानता उस पुरुषके आधेसे अधिक या अधिकसे अधिक वर्गणाओंके गठन एवं स्वभावके साथ होगी। कर्मप्रकृतियों या पुद्गल-वर्गणाओंकी समानता, अनुरूपता या स्वाभाविक प्रकृतिकी सदृशता ही खिंचावका कारण यहां है। प्रकृतियोंमें विषमता होनेपर दोनों इकट्ठा नहीं रह सकते। ये जीवाणु जब स्त्रीके गर्भाशयमें जाते है तो जिन जीवाणुओंकी वर्गणाओंकी अधिक संख्यामें स्त्रीकी वर्गणाओंकी अधिकाधिक या पचास फीसदीसे अधिक संख्या एवं प्रकृतिसे समानता न होगी तो वे बाहर निकल जायंगे—रुक नहीं सकते। फिर रजका साथ हो जानेसे इन जीवाणुओंका अर्ध शरीर पूरा होकर पूर्ण या पूर्ण विकसित हो जाता है। ऐसी हालतमें उनकी वर्गणाओंकी संख्या और प्रकृतिमें भी फर्क आजाता है—तब फिर वे ही जीवाणु गर्भाशयमें रुक सकते हैं जहां आधे-से-अधिक की समानता स्त्रीकी वर्गणाओंके साथ हो यानी पचाससे ऊपर सौ तक जितनी भी अधिक हो सके दोनोंकी वर्गणाओंकी समानता हो। इसके अतिरिक्त भी स्त्रीके शरीरकी वर्गणाओंकी संख्या प्रकृति एवं बनावटमें भी सर्वदा हर समय-हर क्षण परिवर्तन होता रहता है और साथ ही साथ गर्भाशयस्थित जीवाणुओंके भी। इस तरह जिस समय भी यह बात ऐसी होजायगी कि दोनोंकी समानता आधेसे कम हो जाय तो फौरन वह जीवाणु बाहर निकल जायगा। गर्भपातका भी कारण यही है। इस तरह हम देखते हैं कि अन्तको अधिकतर गर्भाशयमें केवल एक ही जीवाणु टिका रहकर जन्म लेता है। कहीं कहीं अधिक बच्चे भी एक-साथ जन्म लेते हैं उसके कारणका उपर्युक्त रीतिसे ठीक-ठीक समाधान या हल मिल जाता है। यह तो एक छोटा-सा उदाहरण बहुत ही संक्षेपमें यहां दिया गया—इसका विस्तृत उपयोग कोई भी जिज्ञासु या अनुसंधान करनेवाला वैज्ञानिक इसी तरह विश्लेषण (Analysis) करते हुए निकाल सकता है।

(२) **सन्तानमें बुद्धि-शक्ति-स्वास्थ्यादि-गुणोंका संयोग**—लड़का, लड़की जो भी उत्पन्न होते हैं उनके गुणादिक या बुद्धि और शक्ति स्वास्थ्य वगैरह हर एक चीजका इन वर्गणाओंकी समानता और

विषमतापर ही सारा दारोमदार है । दो पुरुषोंकी वर्गणाओंकी बनावट एवं संख्यामें जितनी अधिकाधिक समानता होगी उनके रूप, बनावट और स्वभावादि तो समान होंगे ही उनके शरीरके अन्दर खून वगैरहमें भी काफी समानता वर्गणाओंकी समानताके अनुरूप कमोवेश होगी या होती है । यही कारण है कि एक खानदान या वंशके लोगोंमें या पिता-पुत्र और भाई-भाईमें प्रायः काफी समानता होती है । दो यमज (युगलिया) भाइयोंमें तो इतनी अधिक समानता पाई गई है कि यदि एकको सर्दी या बुखार होता है तो दूसरेको भी हो जाता है । हां, दो भाइयोंके एक ही माता-पिताकी संतान होनेपर भी उनकी प्रकृतियोंमें काफी फर्क भी इसी तरह हो सकता है। जैसे एककी सौ वर्गणाओंमें पचहत्तरकी समानता पिताके साथ है जिनमें पचास तो 'सम' प्रकृतिकी हैं और पच्चीस 'विषम' प्रकृतिकी। ये कुल पचहत्तर पिताकी प्रकृतिसे समानता रखती हैं, बाकी पच्चीस वर्गणाएं जो पुत्रमें बचीं वे यदि समप्रकृति की हुई तो उसके अन्दर समप्रकृतिकी वर्गणाओंकी संख्या पचहत्तर हो जाती है और विषमकी सिर्फ २५ ही रह जाती है । अब दूसरे पुत्रको भी इसी तरह देखें तो ठीक इसके विपरीत उसमें विषमप्रकृति वाली वर्गणाओंकी संख्या पचहत्तर हो सकती है और समप्रकृतिकी केवल २५। ऐसी हालतमें दोनोंका स्वभाव एकदम विपरीत होना स्वाभाविक है । ऐसी हालतमें एक दुष्ट हो सकता है और दूसरा एकदम भलामानस । यद्यपि ऐसा कम होता है पर यह भी असंभव नहीं । यह स्वभावोंकी विपरीतता या विभिन्नता वर्गणाओंकी संख्याकी अधिक या कम विभिन्नता और समानतापर निर्भर करती है । इसके अलावा भी जैसे-जैसे बच्चे उम्रमें बढ़ते जाते हैं उनकी वर्गणाओंमें परिवर्तन होता रहता है—किसीमें किसी एक तरहकी वर्गणाओंकी संख्या बढ़ी, किसीमें दूसरी तरहकी—इत्यादि । इस तरह भी स्वभावमें फर्क पड़ता चला जासकता है।

(३) वर्गणाओंकी बनावट आदिपर स्वभावादिका आधार—एक ही तरहकी बनावटवाली वर्गणाओंका अलग-अलग गुट्ट, समुदाय या संगठन होता है । हर संगठनका असर किसी भी जीव या मानव-स्वभावपर उनकी संख्याके अनुपातके अनुसार ही कमोवेश होता है । जैसे किसी व्यक्तिमें विज्ञानकी तरफ झुकाव लानेवाली वर्गणाओंकी संख्या काफी होनेसे उसकी दिलचस्पी विज्ञानकी जानकारी या आविष्कार इत्यादिकी तरफ ज्यादा होगी । उसी तरह-दर्शन, संगीत, राजनीति, व्यापार, घरेलू प्रबन्ध, खेती, पशुपालन, संतानपालन इत्यादि-इत्यादिकी वर्गणाएं अलग-अलग बनावटवाली होती हैं । कोई पुरुष और उसकी पत्नी दोनों दूर-दूर देशोंके और भिन्न-भिन्न संस्कृतियोंके होनेसे उनकी मनोवृत्तियों एवं झुकावोंमें काफी विभिन्नता होगी । उनकी योग्यताओं और रुचियोंमें भी वैचित्र्य होगा । इन सबका समन्वय समुचित परिमाणमें उस संतानमें पाया जायगा जो इनसे उत्पन्न होगी। अतः किसी सन्तानमें तरह-तरहके गुण एक साथ पाए जांय इसके लिये आवश्यकता है कि सुदूर और विभिन्न विचारोंवाले स्त्री-पुरुषोंमें वैवाहिक संबन्ध स्थापित किया जाय।

पिता और माता यदि एक ही कुटुम्बके हों तो जो सन्तान होगी वह और अधिक उनके अनुरूप होगी । ऐसी हालत में वर्गणाओंकी समानता बड़ी आसानी या मोटे तौरपर ही मिल जानेसे लड़का बजाय चलता-पुर्जा—तीव्र बुद्धिवाला—विलक्षण होने के कम बुद्धिवाला हो सकता है । मूर्खता या खानदानी मूढ़ता अधिक मात्रामें सन्तानमें परिलक्षित होनेकी संभावना रहती है। यदि पिता-माता दूर-दूरके या दूर देशोंके हों या दो वर्ण (Race) के हों तो वर्गणाओंकी समानता माता-पिता और पुत्रमें काफी संख्याकी वर्गणाओंको शामिल करनेपर ही उपलब्ध होगी । इस तरह सन्तानकी प्रकृतिमें

काफी वैचित्र्य और चंचलता लक्षित होगी। लड़का अधिक होनहार होगा। लेकिन बादमें उसके लालन-पालन, चारों तरफके लोगोंके साथ मिलना-जुलना, वातावरण, जलवायु इत्यादिका प्रभाव भी उसकी वर्गणाओंमें हरदम परिवर्तन लाता रहता है इसलिए 'तुख्म तासीर सोहबते असर' ये दोनों व्यर्थ नहीं जाते। मनुष्यके स्वभाव या प्रकृतिपर हर वस्तुका, हर बातका, हर वातावरणका असर पड़ता है। वर्गणाओंके गठन या बनावटपर ही किसीका स्वभाव—प्रकृति या उसका सब कुछ निर्भर करता है या यह सब कुछ वर्गणाओं-द्वारा ही बनता-बिगड़ता या परिवर्तित और संचालित होता है।

हर एक जीव या मानव-शरीरके अन्दर अनन्तानन्त प्रकारकी वर्गणाएं हैं। जिन एक तरहकी वर्गणाओंकी संख्या अधिक या काफी मात्रामें होगी, उनके अनुरूप या उनके प्रभाव द्वारा उत्पन्न हुआ स्वभाव या आचरण इत्यादि विशेषरूपसे परिलक्षित होंगे। इनमें भी जिनका उदय ऊपर आता है उनका ही तात्कालिक प्रभाव विशेष दिखलाई पड़ता है। संसारमें जितने व्यक्ति है उतने तरहके स्वभाव और हरएक मनुष्यके अन्दरकी हरएक बनावट या बाहरी शारीरिक व्योरा Details और गुणादिक एकदम पृथक-पृथक या भिन्न-भिन्न होते हैं। इस तरह संसारके किन्हीं भी दो व्यक्तियोंकी कुल वर्गणाएं कभी भी समान नहीं होतीं। जितनी-जितनी समानता दो या अधिक व्यक्तियोंमें वर्गणाओंके गठनकी होगी उनकी वे सब बातें उसी अनुपातमें समान होंगी जो उन समान वर्गणाओंके फलस्वरूप या उनसे प्रभावित होती है। इसी तरह विपरीतता या विभिन्नता भी समझना चाहिए। संसारमें जितने व्यक्ति है उतनी ही विभिन्नता उनकी वर्गणाओंकी बनावट एवं संगठनमें । दो व्यक्तियोंमें यदि पचास-पचास वर्गणाएं शान्तताकी समान हैं तो दोनोंमें शान्त स्वभाव होगा। बाकी पचासमेंसे एकमें यदि बीमारीकी वर्गणाएं अधिक हैं तो वह बीमार होगा और यदि दूसरेमें स्वस्थताकी अधिक हैं तो वह स्वस्थ होगा इत्यादि।

(४) बीमारीकी सन्तति— पिताको यदि कोई बीमारी हो तो उसकी वर्गणाओंमें भी बीमारी या बीमारियोंवाली वर्गणाएं होंगी और उसके वीर्यमें वे ही कीटाणु आवेंगे जिनकी वर्गणाओंकी समानता इनके साथ अधिक-से-अधिक होगी। बहुत-सी बीमारियां बड़ी गहरी छाप लगाने वाली होती है, जिसका मतलब यह कि पुरुषकी कुल वर्गणाओंमें ऐसी बीमारीकी कारणवाली वर्गणाओंकी संख्या काफी बड़ी होती है, जैसे सुजाक, गर्मी, दमा, वगैरह। यही कारण है कि जो संतान ऐसी बीमारीवाले पिताकी होती है उसमें भी ये लक्षण मिलते है। माताके साथ भी ऐसी ही बात है, क्योंकि संतान आखिर उसकी वर्गणाओंसे समानता रखने वाली ही गर्भमें रुक सकती है और फिर बादको माताके साथ रहनेसे उसकी वर्गणाओंमें जो बादको परिवर्तन होते है वे भी तो माताकी वर्गणाओंसे ही प्रभावित होते हैं। इसलिए यह संभव है कि पिताके यहांसे यदि कोई सन्तान बीमारीवाला न भी आया हो तो वह माताकी सुहबत (संगति) मे माताकी बीमारी ले सकता है, इत्यादि।

(५) वातावरणादिका स्वास्थ्यपर असर— हर एक वातावरणमें भरे हुए या स्थान पाए हुए पुद्गलोंका भी संगठन एक खास तरहका ही होता है, जो किसी जगहके जलवायुके कारण होता है। जब एक बच्चा किसी खास वातावरणमें उत्पन्न हुआ तब यदि उसकी वर्गणाओंकी प्रकृति वातावरणकी वर्गणाओंके अनुकूल नहीं हुई तो वह बीमार या अस्वस्थ हो जायगा और यदि वह विषमता अधिक हुई तो उसकी मृत्यु हो जायगी। वह उस वातावरणमें जिन्दा नहीं रह सकता। ऐसी हालतमें यदि लड़केको दूसरे वातावरणमें बदल दिया जाय या दूसरी जगह ले जाया जाय

जो उसकी प्रकृतिके अनुकूल पड़े तो वह जिन्दा रह सकता है या अस्वस्थतासे निकल कर स्वास्थ्य लाभ कर सकता है।

किसीकी सौ वर्गणाओंमेंसे यदि यह मान लिया जाय कि पूर्ण स्वास्थ्यके लिए कम-से-कम ७५ वर्गणाओंकी समानता स्थानीय वातावरणकी वर्गणाओंके साथ होना जरूरी है तो ऐसा होनेपर वह व्यक्ति शक्तिशाली स्वास्थ्यवाला होगा जब कि इससे कम होनेपर उसपर बीमारियोंका दौरा होगा। बीमारियां भी वर्गणाओंके अनुरूप ही होंगी। फिर यदि यह मान लिया जाय कि उस वातावरणमें केवल जीवित मात्र रहनेके लिए कम-से-कम पचास या पचास फी सदी वर्गणाओंकी समानता आवश्यक है तब यदि इसके ऊपर समानता हुई तब तक तो वह जीता रहेगा और जहां इस संख्यासे कमी हुई कि तत्काल उसकी मृत्यु हो जायगी। दवाओं या उपयुक्त उपचारसे अथवा वातावरण या स्थानके परिवर्तन द्वारा समान वर्गणाओंकी संख्यामें काफी वृद्धि होसकती है और होती है और इनका असर हम नित्य प्रत्यक्ष देखते है।

या इसके उलटा होनेसे विपरीत बात भी हो सकती हैं। यही बात मानवके पूरे जीवन पर्यन्त होती रहती है। कहींका वातावरण या जलवायु किसीके लिये लाभकर और कहींका हानिकर होता है— इन सबका कारण स्थानीय पुद्गलवर्गणाओंकी लाभकारक या हानिकारक रचना है। जैसे किसी धातुके साथ गंधककी तेजाब(sulphuric acid) लगा दी जाय तो उसका असर तुरंत पड़ेगा जबकि तेजाबके अलावा बाकी दूसरे किसी तरल पदार्थका उतना असर नहीं होगा। मतलब यह कि गंधकके तेजाबकी वर्गणाओंकी बनावट ऐसी है कि उसका असर उसी तरहका पड़ना है जबकि किसी और दूसरे तरल पदार्थका वैसा नहीं। मनुष्य ही क्यों, जीवमात्रके शरीरके साथ भी क्रिया-प्रक्रिया उन्हीं नियमोंके अनुसार अथवा वातावरण जलवायु संगति खान-पान वगैरहके अनुसार होती हैं। जैसेकि रसायनोंमें एक दूसरेके साथ मिलने-मिलानेपर होती है। फर्क केवल इतना ही है कि एकको हम जीवित रूपमें हाड़, मांस, खून वगैरह करके देखते और जानते हैं जबकि दूसरेको निर्जीव समझते और मानते हैं। परन्तु मूलभूत धातुएं (elements)सभीमें वे ही हैं। इन्हीं मूलभूत धातुओंके सम्मिश्रणके जेरेअसर (प्रभावके अंतर्गत) बेजान(inorganic and inanimate) वस्तुएं भी हैं और जानदार(organic and animate) वस्तुएं भी है। हाँ, अधितर जानदार वस्तुओंकी वर्गणाओंकी बनावट अधिक उलझनोंसे पूर्ण एवं कम्प्लेक्स (complex) होती है बनिस्वत बेजान (inorganic) वस्तुओं (substances) के। इसलिये पारस्परिक क्रिया-प्रक्रिया (action and reaction) का भी उसी तरह गूढ़ या कम्प्लेक्स (complex) होना स्वाभाविक है। फल (effect) भी उसी तरहका होता है। हरएक प्रकृतिकी वर्गणाओंकी बनावट और उनका अपना गुट्ट अलग होता है। जैसे क्रोध उत्पन्न करनेवाली वर्गणाओंकी बनावट एक तरहकी होगी, लोभकी एक तरहकी और कुशीलकी दूसरे तरहकी। इत्यादि। इसी तरह अच्छे गुणोंके लिये भी समझना चाहिये। एक गुण या औगुणके लिये एक ही तरहकी बनावटकी वर्गणाएं हर शरीरमें हर जगह होंगी। जैसे गंधककी तेजाबकी बनावट सभी जगह एक-सी ही होगी या लोहेकी वर्गणाओंकी बनावट एक ही तरहके लोहेके लिये हर जगह हर समय एक-सी ही रहेगी। जिस तरह इन धातुओंकी वर्गणाओंकी बनावटमें विभिन्नता आनेसे इनके मूलरूप, गुण और नाम ही बदल जाते हैं उसी तरह जीवधारी मानवोंकी वर्गणाओंका भी हिसाब-किताब है। किसी भी समय किसी बाहरी या आन्तरिक प्रभाव-द्वारा क्रोधकी वर्गणाएं क्षमामें, करुणामें या किसी भी दूसरे गुण अथवा अवगुणमें परिणत हो सकती है और होती रहती हैं। हर एकका स्थायित्व उनकी बनावटके स्थायित्वपर एवं प्रभाव

उनकी संख्या और संगठनके ऊपर निर्भर करता है। इत्यादि। स्वास्थ्यपर भी इसी तरह असर पड़ता है और परिवर्तन होते हैं। हम जो कहीं किसी खास वातावरणमें एकाएक (अचानक) बीमार पड़ जाते हैं या दूसरेमें जाकर अच्छे हो जाते हैं यह सब इन वर्गणाओंकी समानता और विभिन्नताके ही कारण होता है। कभी ऐसा होता है कि कोई हवा बह जाती है या किसी छूतवाली बीमारीकी छूत लगनेसे एकाएक कोई बीमार हो जाता है, इसका मतलब यह है कि उस मनुष्यमें वैसी वर्गणाएं बन जाती हैं पहलेसे कुछ हों तो उनकी संख्या एकाएक काफी बढ़ जाती है और वे अपना प्रभाव ऊपर कर देती है। दवाइयां खानेसे हमारे अन्दरकी वर्गणाओंमें परिवर्तन होता है और फिर वे वातावरणके जब अनुकूल हो जाती है तब बीमारी छूट जाती है। पथ्य, भोजन, विचार, रहन-सहन इत्यादि हर एक वस्तुका प्रभाव हर वक्त हमारी वर्गणाओंकी बनावटको बदलता रहता है—जैसा कि पहले ऊपर कह आए है—इससे इनका भी असर हम बीमारी वगैरहमें या स्वस्थ-अवस्थामें पूर्ण रूपसे देखते या अनुभव करते है।

(६) **वर्गणाओंके परिवर्तन**—हमारे चारों तरफ पुद्गल भरे पड़े हैं—कुछ परमाणुरूपमें कुछ मूलसंघों (atoms) के रूपमे और कुछ वर्गणाओं (molecules) के रूपमे। हमारे अन्दर भी शरीरमें ये सब वस्तुएं मौजूद हैं। वर्गणाओंकी बनावट ऐसी है कि एक जालीसे उसकी उपमा दी जा सकती है। उसके भीतर भी यों ही छुट्टे पुद्गल इन तीनों रूपोंमें बराबर विद्यमान है या आते-जाते रहते है। जिस समय हमारे शरीरकी वर्गणाओंका कम्पन या प्रकम्पन किसी कारणसे होता है इनकी बनावटके अन्दर एक हलचल मच जाती है और इस हलचलमे बहुतसे परमाणु अपना स्थान छोड़ देते हैं और उनकी जगह नए परमाणु ले लेते हैं। इस तरह इन वर्गणाओंमें परिवर्तन हो जाता है या होता ही रहता है। यह परिवतन कम्पनके कमजोर या अधिक जोर पर कम वेश होता है या कम्पनके कारणों द्वारा विशेष तरीकेसे होनेसे ये परिवर्तन कम-वेश, स्थायी, क्षणिक, कम समय (स्थिति) वाले या अधिक समय (स्थिति) वाले, तीव्र या हलके इत्यादि अनेक प्रकारके होते है। तीव्र कषायोंके कारण जो कम्पन होते हैं उनसे बंध गहरा होता है। बन्धका विभाग हमारे यहां प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग ऐसे चार प्रकार किया गया है और इन सबका जैन शास्त्रोंमें बहुत कुछ विस्तारके साथ वर्णन है।

(८) **बाह्य वस्तुओंका प्रभाव और कारण**—

हम जो कुछ देखते है उसका बहुत बड़ा असर हमारे ऊपर पड़ता है। हर एक वस्तु या शरीरसे अजस्ररूपमें पुद्गलोंका प्रवाह निकलता रहता है। यह प्रवाह इस तरह निकलता रहता है कि जिससे हमें किसी वस्तुके होनेका और उसकी रूपरेखा तथा रङ्गका ठीक-ठीक भान या भास होता है। ये पुद्गल परमाणु, मूलसंघ और वर्गणाओंके रूपमें निकलते रहते है और हमारी आंखोंपर जब पड़ते है या आंखोंके पर्दोंसे अन्दर जाते है तो हमे उनके कारण जो अनुभव होता है वही हमारी देखनेकी शक्ति कही जाती है।

हम जो कुछ भी देखते हैं उसका मूल कारण यह है कि जो वर्गणाएं अजस्ररूपसे किसी भी शरीर या वस्तुके हर हिस्सेसे हर समय निकलती रहती हैं वे उस वस्तुके अनुरूप ठीक ठीक वैसी ही रूप-रेखा-रङ्गवाली सूक्ष्म वर्गणाएं बना देती हैं या ऐसी वर्गणाओंमें परिणत हो जाती हैं जो फिर दृष्टिद्वारा दर्शित एवं प्रतिबिम्ब उत्पन्न करनेवाली वस्तुओंमें प्रतिबिम्बित होती है या फोटो खिंचनेमें सहायक होती हैं। इतना ही नहीं, जो वर्गणाएं एक छोटे लेन्स (Lense) के भीतर घुसती हैं लेन्स की बनावटके अनुसार ही दूसरी तरफ बाहर निकलनेपर उनका फैलाव (Scattering) होता है। सूर्यकिरणें सूर्यसे निकली वर्गणाएं ही हैं, उन्हें भी किसी लेन्स द्वारा एकत्रित किसी वस्तुपर जोरसे आक्रमण करनेके

कारण हो अग्नि उत्पन्न हो जाती है। यह भी ठीक उसी तरह होता है जैसे फिलामेंटमें हम रोशनीका भान करते है जबकि विद्युत प्रवाह जारी रहता है। रंगोंका प्रभाव भी हमारे अन्दरकी वर्गणाओंको एक खास तरतीबमें पुनःसंगठन करनेमें बड़ा भारी कारगर होता है। उपयुक्त रङ्गोंके चुनाव, सम्मिश्रण या सम्मेलन और प्रदर्शन द्वारा हरएक तरहकी बीमारियां स्वयं अच्छी हो सकती हैं और मनपर अच्छा बुरा प्रभाव भी डाला जा सकता है।

यह बात नहीं कि किसी वस्तुसे लगातार निकलनेवाले ये पुद्गल केवल आंखोंमें ही घुसते हों—ये तो सारे शरीरमें सब जगह घुसते और निकलते रहते हैं और कम्पनके अनुसार अपना प्रभाव भी डाल जाते हैं—चाहे स्थायी क्षणिक या कैसा भी क्यों न हो। हमारे शरीरसे भी इसी तरह पुद्गलका अजस्र प्रवाह तेजीसे निकलता रहता है। जिसके कारण ही प्रतिबिंब दृष्टिगोचर होते है या फोटो खींचना या उतारना संभव होता है। यह फोटो या प्रतिबिंबों का बनना इन पुद्गल वर्गणाओंके निष्कासनके कारण ही होता है। यदि ये पुद्गल वर्गणाएँ किसी वस्तु या शरीरसे अजस्ररूपमें नहीं निकलती रहतीं तो फोटो खींचना या प्रतिबिंबोंका बनना या कोई वस्तु देखना या जानना संभव नहीं होता। जिस समय कोई जोरोंका कम्पन शरीरमें अन्दर या बाहर या भावोंमें होता है तब पुद्गलका प्रवाह और तीव्र हो जाता है—आनेवाले पुद्गलों का भी और बाहर निकलनेवाले पुद्गलोंका भी। जब बदनमें थर-थराहट हो, छींकें आवें या कम्पकम्पी हो या रोमांच हो जाय तो वर्गणाओंमें बड़ा भारी परिवर्तन एकाएक होता है। किसी भी सहसा प्रभावकारी डर-भय या इसीतरह के दूसरे Shocks या घटनाओंका बड़ा भारी असर पड़ता है। आकस्मिक आघात Suddeu shocks या आवेगका असर आंधी या बवंडर की तरह पड़ता है अथवा बर्षाती नदियोंमें होनेवाले चक्रोहकी तरह नीचेकी चीज ऊपर और ऊपर को चीज नीचे कर देनेमें होता है। वर्गणाओंकी बनावटमें बड़ा तीव्र परिवर्तन होता है और एकदम दबी हुई निष्क्रिय वर्गणाएं ऊपर आकर अपना प्रभाव तुरन्त प्रकट रूपमें डालने लगती हैं। इसीके द्वारा सहसा क्रोध बदलकर आक्रमणमें परिणत होजाता है या दूसरे निमित्त पाकर अथवा अपनोंपर हाथ उठानेमें अशक्तता महसूस होनेसे मनोभावनाओंमें ऐसा परिवर्तन होजाता है कि जिससे क्रोधकी वर्गणाएं रुलाईमें परिणत हो जाती हैं इत्यादि।

इस तरह जो भी वस्तु जिस अवस्था में हम अच्छी या बुरी देखते हैं यदि उस समय हमारे अन्दर मनोविकार हुए तो उनका असर दुगुना हो जाता है। इसीलिए बुरी वस्तुएं देखकर या अन्य किसी अनिष्ट बातको देखकर घृणा करनेके लिए मना किया गया है। वस्तुस्वरूपका विचार करके घृणा आदि विकारोंको रोकना चाहिए, जिससे हमारे अंदर की पुद्गल वर्गणाओंकी बनावट और समभावी वर्गणाओं की संख्या ठीक रहे। इसीलिए मनुष्यके अन्दर विकार न पैदा हो या कम-से-कम पैदा हो इसके लिए यह आवश्यक है कि हमारे चारों तरफ हर वस्तु सुन्दर होकर अच्छी तरहसे स्थित हो और उनकी तरतीब या सजावट ऐसी हो जिससे हमारे मनपर बुरा असर न पड़कर अच्छा शुभ असर पड़े। अच्छे प्राकृतिक दृश्योंवाले स्थानोंकी महत्ता इसी कारण है। सुन्दर-भव्य वस्तुओंका देखना हमारे भावोंमें या हमारी वर्गणाओंके गठनमें सुन्दरता या भव्यता लाता है। कुरुचिपूर्ण वस्तुओं का दृश्य हानिकारक एवं सुरुचिपूर्ण और मनोहर दृश्योंका असर दोषोंका नाशक है।

सुन्दरता द्वारा मनुष्य ही क्यों पशु भी मोहित एवं प्रभावित होते हैं। मनुष्यकी बनावट या स्वभाव कुछ ऐसा है कि वह सुन्दरताकी तरफ आकर्षित होता है। इस आकर्षणमें अनुराग हो जाना ही प्रेम है। प्रेममें ध्यानकी सबसे अधिक एकाग्रता होती है। निर्जीव वस्तुओं की अपेक्षा जानदार वस्तुओं

में बनावटके अतिरिक्त और भी सुन्दर चेष्टाएं आकषणको अधिकाधिक तीव्र करती है। इस आकर्षणको ही अध्यात्मकी तरफ मोड़ना उन लोगों के लिए अधिक आसान होता है जो संसारी माया-मोहमें बेतरह उलझे हुए और संलग्न हैं। भक्तिमार्ग की व्यापक सफलता इसीमें रही है। अपवाद और अनुचित प्रयोग तो सभी जगहों या सभी वस्तुओं में साधारण अपूर्ण मानवकी अज्ञानावस्था और असहायावस्थाके कारण है, होगए है और होते रहेंगे। इन्हे उचित शिक्षा एवं उपदेश द्वारा सच्चे मार्गमें युक्त करना गुरुओंका काम है। सुन्दरताके देखने और ध्यान करनेसे नए-नए भावोंकी सृष्टि होती है उन्हें शुभ्ररूप देना, अध्यात्मकी तरफ मोड़ना एवं पूज्यतामें युक्तकर वासनाको उनके अन्दर घुसनेसे रोकना आवश्यक है। सौन्दर्य इस तरह मनोहारी होनेसे एकाग्रताके कारण जो अच्छे परिवर्तन हमारी वर्गणाओंमें उत्पन्न करता है वह मानवको सदा शारीरिक, मानसिक और नैतिक सुख प्रदान करनेवाला एवं उन्नतिकारक है। एकाग्रता एक-तरहकी ही वर्गणाओंको बनने देती है इससे तरह तरहके बन्धोंसे इस समय छुटकारा मिल जाता है।

(९) **सुनने आदिका असर**—इसी तरह हम जो कुछ भी अच्छा या बुरा सुनते है उसका भी असर हमारी वर्गणाओंकी बनावटपर तत्काल पड़ता है। और यदि हमारे अन्दर भी उस समय उस तरहके भाव या विकार मौजूद रहे तो उनका असर दुगुना या बहुगुना हो जाता है। अच्छे संगीत का असर अच्छा होता है। बुरी बातें सुनकर मनमें विकार उत्पन्न होता है। और यह सब हमारे अन्तरङ्गके वर्गणाओंमे सद्यः परिवर्तनस्वरूप ही होता है।

मनुष्यकी सारी गतियां ही वर्गणाओंके प्रभाव के अनुसार होती है। मनुष्य अकेला तो है नहीं, उस पर चारों ओरसे असंख्यों शक्तियां एवं प्रभाव एक साथ कम-वेश अपनी शक्तिके अनुसार काम कर रहे या प्रभाव डाल रहे हैं। जिसका प्रभाव जिस दिशामें अधिक जोरदार होगा उधर ही उसकी गति होगी। इतना ही नहीं, वर्षों पहलेसे चलती आती हुई बात किसी निमित्त के मिल जानेसे जोर पकड़ लेती है और तब हम उससे प्रभावित होकर उस मुताबिक आचरण या कार्य करने लगते हैं। जैसे कोई मित्र दिल्लीमें बैठा बार-बार अपने पटना स्थित मित्रको दिल्ली आनेके लिये लिखता है—पर वह नहीं जा पाता। पर एकाएक ऐसा निमित्त मिला कि कोई दूसरा मित्र भी व्यापारके सिलेसिलेमें दिल्ली जा रहा है और आकर इस पहले आदमीसे चलनेको कहता है तो उस दूसरे व्यक्तिकी उपस्थिति, भाव, भाषणका सहारा मिला। नई वर्गणाएं बनीं—पुरानीमें परिवर्तन हुआ तथा सुप्त वर्गणाएँ क्रियाशील हो उठीं, इस तरह वह भी दिल्लीके लिए रवाना हो जाता है। इससे ग्रहोंका प्रभाव कहें या दूसरे कारणोंका, सब बातें मूलमें एकही हैं।

(१०) **ध्यान तथा विचारादिका असर**—इसी प्रकार जो कुछ हम ध्यान करते है या मनमें विचार या भावनाएं लाते है उनका भी पूरा असर हमारे ऊपर पड़ता है। इतना ही नहीं दूसरे लोग जो विचार अपने मनमें करते है उनका भी असर हमारे उपर पड़ता है। हमसे जो लोग मिलते-मिलाते है या हमारे पास रहते है उनका भी बड़ा भारी असर हमारे ऊपर उनके शरीरसे निकलने वाली वर्गणाओंके कारण हमारे अन्दरकी वर्गणाओंमें परिवर्तनस्वरूप तुरन्त पड़ता है या बराबर पड़ता रहता है। इसीलिए दुष्ट-संगति वर्जित और साधु-संगतिकी प्रेरणा सभी जगह मिलती है। दुष्ट यदि कुछ कहे भी नहीं तब भी उसके शरीरसे निकलने वाली वर्गणाएं उसके भावोंके अनुकूल ही होंगी और उनका असर किसी भी आस-पासमें रहनेवालेके ऊपर निर्बाध गतिसे पड़ेगा—इस असरको कोई भी व्यक्ति केवल निवृत्ति या चित्तकी समता या

निर्विकारता द्वारा ही प्रभाव रहित (neutralise) कर सकता है। ऐसी हालतमें दुष्टके शरीरसे निकली वर्गणाएं तो आसपासमें रहनेवालेके शरीरके अन्दर घुसेंगे ही पर यदि वहां कम्पन या भावों में फरक न आवे तो वे बगैर असर या बंध किए अथवा उस दूसरे मनुष्यकी वर्गणाओंमें कोई परिवर्तन उत्पन्न किए बिना ही आप-से-आप एक तरफसे घुसती हुई दूसरी तरफ निकल जायंगी, इत्यादि। इसके विपरीत सत्पुरुषके शरीरसे निकलनेवाली वर्गणाएं उसके स्वभावके अनुकूल शान्त, सरल और समता युक्त होंगी, जिससे उसके आस-पासका वातावरण भी उसी मुताविक प्रभावित होगा—और पासके रहनेवाले प्राणीपर भी उसी तरहका शुभ्र प्रभाव पड़ेगा। सत्पुरुष कुछ करें भी नहीं तब भी संसारका भला केवल उनकी अवस्थिति मात्रसे ही होजाता है। उनके शरीरसे निकलने वाली वर्गणाएं लोककल्याणरूप होने से सारे संसारमें फैलकर अपना भला प्रभाव अंकित करती हैं।

इनके अतिरिक्त भी जब हम किसीके प्रति अच्छे या बुरे भाव रखते हैं या हमारे अन्दर अच्छे या बुरे भाव जब कभी किसी विशेष व्यक्तिके प्रति उत्पन्न होते है तो हमारे अन्दर उसके अनुसार वर्गणाएं बनकर बड़ी तेजोसे बाहर निकलती हैं और उस मनुष्य तक पहुंचती हैं ऐसी हालतमें दो काम एक साथ ही होते हैं। एक यह कि ये वर्गणाएं उस दूसरे मनुष्यके भावोंके या अपनी चंचलता के अनुसार ही उसपर असर करेंगी, न करेंगी या कम-वेश करेंगी। पर इनका एक निश्चित असर उस मनुष्यपर तो अवश्य ही पड़ता है जिसके अन्दर इस तरहकी वर्गणाएं अच्छी या बुरी बनीं। कारण दो हैं एक यह कि वर्गणाएं जो अच्छी या बुरी बनीं सबकी सब तो निकल नहीं जातीं, काफी परिमाणमें अपने अन्दर भी रह जाती हैं और दूसरी वर्गणाओंमें भी अपना असर उत्पन्न करती हैं। इसके अतिरिक्त उनके बाहर निकलनेसे वातावरणमें जो प्रक्रिया होती है वह भी उसीके अनुरूप हानिकारक या बुरी और लाभदायक या अच्छी होती है। इन दोनोंको मिलाकर ही हमारे ऊपर जो उनका असर पड़ता है उसे हमारे भावोंके अनुसार ही अच्छा या बुरा अथवा उलटा—प्रतिक्रियात्मक प्रभाव कहते है। इस तरह अपने भाव, भाषण या व्यवहार अच्छे रखना अपना ही भला करते है।

(१०) **भोजन-पानादिका असर**—इसी तरह जो कुछ हम अन्नपान भोजन करते है उनका तो एकदम ही सीधा (Direct) असर हमारे अन्दर के पुद्गलवर्गणाओंकी बनावटपर पढ़ता है। यों तो इन पुद्गलवर्गणाओंको जैन सिद्धांतने तीन मोटे-मोटे भागोंमें विभक्त किया है। कार्माणवर्गणाएं, तैजस वर्गणाएं और औदारिकशरीर रूपी दृश्य पुद्गलशरीरको बनाने वाली वर्गणाएं। ये तीनों ही एक दूसरेसे अभिन्न रूपसे संबन्धित और मिली-जुली हुई हैं। हर-एकका प्रदेश पूर्णरूप से दूसरेके प्रदेशोंसे समान और एकमेक मिला हुआ है। केवल इस सांसारिक शरीरसे आत्मा के निकलने या मृत्युके समय ही तैजस और कर्माण रूपी सूक्ष्म शरीर तो आत्माके साथ-साथ जाता है पर यह स्थूल औदारिक शरीर यहीं रह जाता हैं। जिस समय भोजन या पेय हमारे शरीरके अन्दर जाता है वहां रासायनिक क्रिया-प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है और उनका असर वर्गणाओंके परिवर्तनमें होने लगता है। यह असर हर एक वर्गणापर पड़ता है ऊपर देखनेमें सारी वर्गणाओं का समूह यह शरीर एक सत्ता-सा दीखता है या रहता है पर अन्दर परिवर्तन हर समय होता रहता है। मनुष्यकी अवस्था या उसका सब कुछ जो एक क्षण पहले था दूसरे क्षण वही नहीं रहता-उसमें परिवर्तन हो जाता है—भले ही इसे हम महसूस करें या न करें अथवा देरसे करें, यह दूसरी बात है।

इस तरह हम जो भी कर्म करते हैं या हमारे शरीर और इंद्रियों तथा मन द्वारा जो भी कुछ होता रहता है अथवा भूतकालमें हुआ उन सबके फल (resultant) रूप हमारी वर्गणाएं बदलकर विशेष रूपमें बन गई होती हैं या बनती रहती हैं, इसलिये हम जो कुछ भी कर्म एक क्षणभर पहले तक कर चुके होते हैं उन सबका असर-प्रभाव (effect) अंतिम संयुक्त फलरूप वर्गणाओंमें हर समय परिवर्तन स्वरूप ही होता है या पड़ता है। यह बात अन्यथा नहीं हो सकती। वर्गणाओंमें जो कुछ भी जब भी जिस तरहका भी फर्क या हेर-फेर उनकी बनावटमें होगा या होता रहता है उसका ही असर हमारे ऊपर या हमारी सारी बातों, व्यवहारों, कार्यों या अवस्थाओंको उत्पन्न करने, बनाने या उनके होनेमें पड़ता है।

इनके अलावा भी ऊपर जैसा कहा जा चुका है उससे यह आगे जानना कठिन नहीं कि किस तरह हमारे खान-पानादिका सद्यः असर या प्रभाव हमारे स्वभाव या कर्म बन्धनों या हरएक बात जो हमसे संबन्धित है उसपर पड़ता है। स्थूल औदारिक वर्गणाओंमें परिवर्तन होनेसे कार्माणवर्गणाओंमें तथा तैजसवर्गणाओंमें भी साथ ही साथ परिवर्तन होगा ही, क्योंकि ये एक शरीर, भव या पर्यायके समय सब साथ ही साथ हैं।

(११) **वायुमंडलका असर**— वायुमण्डल में या हमारे चारों तरफ जो हलचल होती है या होती रहती है उससे भी हमारे चारों तरफ जो पुद्गल भरे पड़े हैं उनमें कम्पन होता रहता है और उनकी सन्निकटतासे हमारे शरीरके अंदर भी यह कम्पन हर समय होता ही रहता है। और हर वस्तु से निःसृत जो पुद्गलवर्गणाएं हैं वे वातावरणमें विद्यमान रहती है और बहती हुई वायुके साथ दूर दूरसे तरह तरहकी दूसरे वातावरणों या स्थानोंकी वर्गणाएं वायु-द्वारा एक जगहसे दूसरी जगह पहुँचाई जाती रहती हैं। फिर उनके ऊपर वर्षा और मेघोंकी घड़घड़ाहट या विजलीकी चमक इत्यादि द्वारा वायुमंडलमें परिवर्तन होता रहता है। इन परिवर्तनों द्वारा हमारी वर्गणाओंकी गठन या बनावटमें भी हेर-फेर होना स्वाभाविक ही है।

(१२) **ग्रहों-उपग्रहोंका असर**—ग्रहों-उपग्रहों से अनंतानन्त पुद्गल वर्गणाएँ बड़ी तेजीसे निकलकर हमारी पृथ्वीपर पड़ती है या इसपरकी हर वस्तुओं से टकराती है और उनपर अपना परिवर्तनकारी असर डालती ही हैं। इनका प्रभाव निश्चित, अनिवार्य और काफी जोरदार होता है।

सूर्यसे तो जितनी तरहकी किरणें या धारायें निकलती हैं वे तो बहुत ही अधिक हैं। असंख्य हैं। केवल कुछ-एकको ही वैज्ञानिकोंने पकड़ा या जान पाया है पर असर तो सबका ही होता है। सूर्य ही क्यों हरएक वस्तु या शरीरसे अनगिनत किस्मोंकी किरणों और धाराओंका अजस्रप्रवाह हर समय निकलता रहता है जिन्हें हमारा विज्ञान अभी तक बहुत ही कम जान पाया है।

सूर्यसे भी जो प्रकाश-किरणें निकलती हैं वे सबकी-सब वर्गणाओंकी तीव्रतम धारा या प्रवाह ही है। हमारे देशके प्रसिद्ध वैज्ञानिक श्रीरमनने जो इन प्रकाश-किरणोंके फैलने और तरह तरहके रंगोंवाली स्पेक्ट्रम (SPectrum) धारियां पर्देपर बनानेके कारणोंके बारेमें जो विशद खोज, अनुसंधान, एवं आविष्कारादि किए हैं वे सब इन वर्गणाओंकी बनावटके वजहसे ही हैं। जैसे एक तरहकी प्रकाश-किरणों या एक तरहकी रंगोंकी वर्गणाओंकी बनावट एक विशेष तरहकी ही होती है और दूसरोंसे भिन्न। जब ये ही प्रकाश-किरणें किसी वस्तुविशेष(auy-particular substance) से होकर गुजरती हैं तो इन दोनोंकी वर्गणाओंमें परमाणुओंका आदान-प्रदान होकर उनकी बनावटमें हेर-फेर हो जाता है जिससे जब किरणें पुनः बाहर निकलती हैं तो उनसे दिखलाई पड़ने वाला रंग भिन्न हो जाता है या दिखलाई पड़ता है। हरएक रंगकी भिन्न-भिन्न बनावटकी वर्गणाएँ जब एक त्रिकोन शीशा(prissu) से होकर गुजरती हैं तब बाहर पर्देपर उन्हें डालनेसे अलग-

अलग रंगोंकी रेखाएं (spectrum) धारियां बन जाती हैं—इसका कारण भी यही है कि शीशेकी वर्गणाओंकी बनावट कुछ ऐसी है कि प्रकाश-किरणों को बनानेवाली अलग अलग किस्मकी वर्गणाओंको अलग-अलग रास्तेसे होकर ही गुजरने देती है जिससे सब इकट्ठी न रहकर अलग-अलग हो जाती हैं। विषय बहुत ही विशाल और सचमुच अभी और बहुत अधिक अनुसंधानकी अपेक्षा रखता है। मतलब यह कि संसारमें जो कुछ भी दृश्य या अदृश्य होरहा है वह सब वर्गणाओंकी ही आपसी क्रिया-प्रक्रिया के फलस्वरूप है। और हर वस्तुका प्रभाव हर वस्तु पर अवश्य पड़ता है।

(१४) **हर वस्तुकी हर समयकी स्थिति**—हर एक वस्तुओंपर चारों तरफकी बाहरी शक्तियां या चारों तरफकी वर्गणाओंका हमला और आकर्षण-प्रत्याकर्षण एवं क्रिया-प्रक्रियाओंका इतना अधिक असर पड़ता है कि इन शक्तियोंमें हेर-फेर या कमती-बेशी होनेके कारण ही हर वस्तु हर वक्त कम्पन या प्रकम्पनकी दशामें रहती है। यदि स्वशक्तियां स्थिररूपसे एक-सा बराबर रहती होतीं तो कोई कम्पन या प्रकम्पन नहीं होता—सब कुछ शान्त ही रहता, कोई गति कहीं नहीं होती, सब कुछ निर्जीव हो जाता। गतिका होना ही जीवनका प्रमाण है। परन्तु हर वस्तु परिवर्तन करती रहती है-बदलती रहती है, इस लिए उनके प्रभावोंमें भी कमी-बेशी होती रहती है और इसी लिए हर वस्तु बराबर (vibration) या कम्पनकी अवस्था (हालत) में रहती हैं। ये ही कम्पन वस्तुओं या उनकी देहोंसे पुद्गलोंके निकलनेमें कारण हैं और हर वस्तुके आंतरिक मौलीक्यूलर या वर्गणाओंके आंतरिक गठनमें तबदीलियोंको करनेवाले होते है, इत्यादि।

(१५) **दूरदेशस्थित विचारोंका असर**-और तो और इंगलैंडमें बैठा हुआ एक आदमी जो मनोभावनाएं अपने अन्दर बनाता बदलता रहता है उसके कारण उसके शरीरसे उसीके अनुसार स्वाभाविक रूपमें वर्गणाएं निःसृत होती रहती है जो नजदीकके वायुमंडल वातावरणमें हल-चल उत्पन्न करती हैं- ठीक उसी तरह जैसे हमारे बोलनेसे हवामें या आकाश-मार्गमें हल-चल (wavce) उत्पन्न होती हैं। इन शब्दों द्वारा उत्पन्न हलचलों (Disturbanles) को हम बेतारके तार रेडियो (wirecess) से बड़ी-बड़ी दूर तक पकड़ कर ठीक ठीक उन्हीं शब्दोंको अपने यहां यन्त्रोंमें उत्पन्न कर सुन लेते हैं। वह समय भी आसकता है जब इसी तरहके यन्त्रों द्वारा हम यहां भारतमें घर बैठे बैठे इंगलैन्डके किसी मानवके हृदय-तलमें होनेवाले अंतर्द्वन्द्वका पूरा पूरा पता यन्त्रों द्वारा लगा लें। कहनेका मतलब यह कि इंगलैन्डका निवासी जो कुछ भावना या कार्य करता है उसका भी असर संसारके वातावरणमें मौजूद है और इस तरह हर एकका असर इकट्ठा होकर हमारे ऊपर भी पड़ता है और हमारी पृथ्वीसे उसी अनुरूप पुद्गलोंका निष्क्रमण होकर और दूसरे ग्रहों-उप-ग्रहोंपर पड़ता है। यही बात दूसरी तरफसे भी है कि इन सभी ग्रहों-उपग्रहोंका कुल सम्मिलित असर जो हमारी पृथ्वीपर या हमारे ऊपर पड़ता है वह वहांके रहने वाले हर एक निवासी या हर वस्तुका (sumtotal) कुल इकट्ठा प्रभाव ही होनेसे हम यह भी कह सकते है कि उन उपग्रहोंके रहनेवाले हर एक प्राणीका असर हमारे ऊपर पड़ता है। चाहे अलग अलग इतना कम क्यों न हो कि उसे हम शून्यके बराबर ही समझें। पर उनका मिल-मिला कर इकट्ठा असर तो बहुत ही वृहत हो जाता है। और इस वृहत असरमें उस क्षुद्र प्राणीका भी कुछ-न-कुछ भाग या हिस्सा या अंश है ही। इस तरह हम देखते हैं कि मनुष्य अकेला नहीं है। इसी संसारमें कौन कहे अखिल विश्वका असर उसके ऊपर पड़ता है और वह भी अपना असर अखिल विश्वके ऊपर हर समय डालता रहता है। जो लोग अपने अज्ञानमें अपना स्वार्थ सबसे अलग होनेमें सोचते हैं वे गलती करते हैं और अन्तमें स्वयं अपने परम स्वार्थकी ही हानि करते है पर यह बात हमारी

समझमें इस लिए नहीं आती कि हम अपने अज्ञानमें इतने अन्धे हो रहे हैं कि जिसकी कोई हद नहीं। हर एक आदमी अपनेको अलग अलग समझता है-और हर एक देशवाला तो अपने देशका ही स्वार्थ देखता है—पर यह सब-कुछ भ्रम और गलती है अंतमें सबका नुकसान ही होता है। कोई भी जीव व्यक्तिरूपसे अलग व्यक्तित्व रखता है जिसका सब-कुछ किसी भी दूसरे प्राणी या व्यक्तिसे एक-दम भिन्न है पर समष्टि-रूपसे वह सारे अखिल विश्वक ही एक छोटा-सा ही सही पर सत्ता और अस्तित्वधारी अपना अलग प्रभाव करनेवाला होता है। जब सब एक दूसरेका विश्वव्यापी लोककल्याण करनेकी भावनासे ओत-प्रोत होंगे और रहेंगे तभी उनका भी सच्चा कल्याण होगा। चाहे वह इंगलैंड हो चाहे अमेरिका चाहे रूस या भारत या और कोई भी हो। अकेला किसीका कल्याण न हुआ न होगा। सच्चा सुख और स्थायी शान्ति विश्वभावना द्वारा ही हो सकता है और इसीमें हर एक व्यक्ति, समाज और देशका सच्चा कल्याण संनिहित है।

मौलेक्यूलर और ऐटोमिक अथवा वर्गणाओं और मूलसंघोंमे जो परिवर्तनादि होते है उन्हे आधुनिक विज्ञानका जानकार तो जानता ही है-पर जो लोग नहीं भी जानते है वे किसी भी विज्ञानके तीसरे वर्षके विद्यार्थीसे आणविक बनावट और उनकी आपसी क्रिया-प्रक्रियाके वारेमें आसानीसे जानकारी प्राप्त कर सकते है। ऐसा करनेसे जैन सिद्धान्तोंमें प्रतिपादित व्यवस्थित कर्मोंका रूप या वर्गणाओंके गठन या परिवर्तनादि और उनका असर अच्छी तरह समझमें आसकते हैं। हर एक जैनधर्मके पंडितको, जानकार और जिज्ञासुको, जो तत्त्वोंकी शुद्ध जानकारी चाहता है इस आधुनिक विज्ञान द्वारा निरूपित एवं प्रतिपादित आणविक-ऐटोमिक व्यवस्थाओंको जानलेना आवश्यक है। अन्यथा उसका ज्ञान कोरा किताबी या जन्मजात श्रद्धा द्वारा उत्पन्न ऊपरसे लादा हुआ-सा ही होगा—स्वयं प्रत्यक्ष दर्शन या अन्तरदृष्टिका जो ज्ञानकी, शुद्धताके लिए परम आवश्यक है, ऐसी दशामें अभाव रहता है। इस अभावकी यथोचित और यथासंभव पूर्ति होजाना हर हालतमें सहायक एवं लाभदायक ही है और कुछ हो या न हो इसी बहाने कम-से-कम एक नए ज्ञानकी उपलब्धि तो हो ही जायगी। ज्ञानका विकास हर हालतमें लाभदायक है।

(१६) मनकी एकाग्रतादिका आश्चर्यजनक प्रभाव—हम अपने मनकी एकाग्रताद्वारा, मनोयोग द्वारा, तपस्या और ध्यान द्वारा अपनी वर्गणाओंमे इस तरहकी तबदीलियां ला सकते हैं या उत्पन्न कर सकते है जिनका बाह्य असर आश्चर्यजनक हो। भावोंकी एकाग्रता बड़ी-से-बड़ी शक्तिकी जननी है। जैसे लोहा साधारण हालतमें चुम्बककी शक्ति नहीं रखता। पर वही जब चुम्बकके सामने लाया जाता है तब उस लोहेके अन्दरकी वर्गणाओं (मौलीक्यूल्स) की बनावटमें कुछ ऐसा हेर फेर या वर्गणाओंमें कुछ ऐसे तरहका संगठन होजाता है या एक ही दिशामें सबकी शक्ति इस तरहसे काम करने लगती है कि उस साधारण लोहेमें भी बड़ी भारी चुम्बककी शक्ति हम सामने पाते हैं। बिजलीके इस तरहके चुम्बकवाले क्रेन टनों बोझा उठा लेते है। इसी तरह हम अपने मनकी एकाग्रता या किसी एक तरफ या एक विषय या एक वस्तुपर ध्यान लगाकर अपने अन्दरकी वर्गणाओंमें ऐसा तारतम्य उत्पन्न कर सकते हैं कि जिनकी सम्मिलित शक्ति बड़े-बड़े आश्चर्य-जनक कार्य कर सकती है। जिसे हम मनोबल या will power कहते है। इसे बहुत लोग आम बोलचालकी सांसारिक भाषामें आत्मबल या आत्मशक्ति भी कहते है। पर आत्मा तो अनन्त शक्तियोंका अक्षय भंडार स्रोत या उन्हें धारण करनेवाला स्वयं है। उसकी शक्तियाँ केवल इस पार्थिव शरीरकी अयोग्यता या कमजोरीके कारणही पूर्ण विकसित नहीं हो पाती या इसकी कार्यक्षमता सीमित रहनेसे आत्माकी शक्ति भी उसी तरह सीमित हो जाती है।

जैसे-जैसे इसका विकास जिस दिशामें होता जाता है एवं इसकी योग्यता बढ़ती जाती है, आत्माकी शक्तियोंका विकास एवं अभ्युदय भी उतना-उतना उस-उस दिशामें होता जाता है। हम सतत प्रयत्न, अभ्यास या एकाग्र चेष्टाओं द्वारा इस शरीर एवं अपनी इन्द्रियोंको इस योग्य जब बना लेते है कि आत्माकी विकसित शक्तियोंका बोझ या भार वहन करनेमें वे समर्थ हो सकें तो वे शक्तियां स्वयं विकसित होकर कार्यशील होती हुई दृष्टिगोचर होती हैं। जैसी बात शारीरिक शक्तियोंके साथ या उनके विकास और अभ्युदयमें है, वही बात मानसिक या दूसरी शक्तियोंके विकास या अभ्युदयमें भी है। हम अपनी धारणा एवं एकाग्र मनोबल द्वारा ध्यान पूर्वक कहीं दूरस्थित अमेरिकाके किसी परिचित व्यक्ति तक अपने मनकी बातें मात्र वर्गणाओं के निकलनेवाली क्रियाओंमें तारतम्यता लाकर पहुँचा सकते हैं अथवा जिधर या जिसका ध्यान हम करते हैं उधर या उस तक वे अपने आप पहुँच जाती है। ऐसा प्रायः देखा जाता है कि दो निकट सम्बन्धी बहुत दूर देशोंमें स्थित एक साथ एक समयमें ही एक दूसरेके बारेमें एक ही किस्मकी बातें सोचते हैं। यह इतनी दूरी तक कार्यशील शक्ति हमारे आत्माकी अपनी शक्ति है, पर वह कार्यशील या गतिशील केवल वर्गणाओं या पुद्गल द्वारा ही होती या दृष्टिगोचर होती हैं। आधुनिक विद्युत् या बिजलीमें अपार शक्तियां हैं, पर जब उस कार्यके योग्य शक्तिशाली यन्त्र होता है तभी वह कार्य करनेकी क्षमता रखती हुई या कार्य साधन करती हुई देखी जाती है। जैसे एक खास तरहके खास काम करने वाले यन्त्रसे दूसरे तरहका कार्य बगैर उस यन्त्रमें उपयुक्त हेर-फेर किए नहीं ले सकते उसी तरह यह जीवधारियोंका भिन्न-भिन्न शरीर भी है। मानवशरीर सबसे अधिक क्षमताशाली है। पर इसकी भी योग्यताका सतत प्रयत्न (practice) और अभ्यास द्वारा विकास किए बिना कुछ नहीं हो सकता। शिक्षाकी भी इसीलिए जरूरत पड़ती है कि अव्यवस्थित वर्गणाओंको एक व्यवस्था में लावें और उनमें तारतम्यता उपस्थित करें—जितनी-जितनी यह व्यवस्था या सुचारु संगठन होता जायगा उतना-उतना हमारी शक्ति हमारा ज्ञान और कार्यक्षमता हर तरहकी मानसिक, शारीरिक, आध्यात्मिक आदिका विकास और अभ्युदय दीख पड़ेगा। मनुष्यजीवन भी सीमित कुछ वर्षोंका ही है—नहीं तो यही यदि अनंत रहता तो एक जन्म या एक पर्याय या एक योनिमें ही सब कुछ अनन्त शक्तियां इसे उपलब्ध हो जातीं। ये शक्तियां संयत जीवन व्यतीत करनेपर एक जन्म या एक पर्याय मे दूसरे पर्यायमे बढ़ती जाती हैं। असंयम होनेसे भी इनकी आपसमें टक्कर होकर विनाश या ह्रास हो जाता है। एक मामूली लोहे और चुम्बक लोहेमें फर्क इतना ही है कि चुम्बक लोहेके अन्दरकी वर्गणाओंमें एक मिलसिला या तारतम्यता या संगठन रहता है, जबकि साधारण लोहेके अन्दरकी वर्गणाओं में नहीं होनेसे उनकी शक्तियां आपसमें ही टकराकर एक दूसरेको बेकार (neutralise) कर देती हैं। पर जब वही चुम्बक द्वारा एक ही दिशाकी तरफ फेर दी जाती है तो उस साधारण लोहेमें भी चुम्बककी शक्ति दृष्टिगोचर होने लगती है। ऐसा नहीं कि यह आकर्षण और प्रत्याकर्षणको चुम्बकीय शक्ति उस लोहेमें कहीं बाहरसे आ जाती हो, यह तो उसकी वर्गणाओं में हर समय निहित रहती है पर अव्यवस्था या बेतरतीबी होनेसे बेकार हुई रहती हैं। जब वही व्यवस्था और तरतीब हो जानेपर इकट्ठा एक दिशामें काम करने लगती है तो हमें सामने उसके कार्य (manifestations) दिखलाई देने लगते है। यही बात आत्मा और शरीरके संबंधमें भी है। शरीर आत्माके वर्तमान रहनेसे गतिशील एवं चेतनमय है और इस तरह पुद्गलकी रचनासे सारा काम होता है। हां, योग्यता और क्षमताकी शक्ति उसमें वर्गणाओंमे उचित प्रयत्न द्वारा उचित रूपमें परिवर्तन पूर्वक लाना आवश्यक है।

आत्मा जबतक मुक्ति नहीं पाता पुद्गलके साथ ही रहता है। और इस पुद्गलशरीरसे छुटकारा पानेके लिए मानवशरीर और उसके पहले अनंतानंत पर्यायों द्वारा शाश्वत विकासकी परम आवश्यकता एवं निर्भरता है। इसके बगैर यह मोक्ष संभव नहीं। संसार द्वारा ही आत्मा या यह शरीधारी मानव इस शरीरके आधारसे कोई अभ्यास, तपस्या या चेष्टा कर सकनेमें समर्थ है। इसलिये यह संसार और शरीर मिथ्या या व्यर्थ न होकर पुरुषार्थकी सच्ची और असली सिद्धिके लिए परम आवश्यक है। इनका लाभ जो नहीं लेता उसका दुर्भाग्य ही समझना चाहिये। लाभ भी तभी ठीक लेना हो सकता है जब तत्वोंका ठीक-ठीक ज्ञान हो। अन्यथा सारी चेष्टाएं विपरीत दिशामें किए गए श्रमके समान ही विफल या हानिकारक हैं।

मनुष्य अपनेको अकेला समझकर अनादिकालीन अज्ञानवश या कर्मोंके वशीभूत किसी बातकी सिद्धिमें या किसी वस्तुकी प्राप्तिमें या सांसारिक धनके लाभमें अपना स्वार्थ समझकर उसके लिये नाना प्रकारकी चेष्टाएं नीची और ऊंची सब तरहकी करता है और दूसरोंको हानि पहुँचाकर भी उस अपने ओछे स्वार्थकी सिद्धिका हरएक उपाय करता है, लेकिन यह नहीं जानता कि सचमुच वह अन्तमें या फलस्वरूप अपनी ही बड़ी भारी हानि इस तरह करता है। सदा पापपंकमें लीन रहनेसे या सांसारिक निम्न स्तरपर रहनेसे वह ऊपर कभी भी नहीं उठ पाता है और इसीमें अज्ञानवश अपना सुख और स्वार्थसिद्धि समझता है। जब संसारका उत्थान होगा—उन्नति होगी तभी संसारमें रहनेवाले देश, समाज या व्यक्तिका भी सचमुच उत्थान या उन्नति होगी अन्यथा संसार यदि निचली स्तरपर ही रहे तो उसके अन्दर रहनेवाला या उसीमें युक्त व्यक्ति, समाज या देश कैसे उन्नति या उत्थान कर सकता है या ऊपर उठ सकता है। हाँ, भले ही कोई एक सीमित दायरे या वृत्त (sphere) के अन्दर उछल-कूदकर अपनेको ऊँचा चढ़ा हुआ या ऊपर उठा हुआ समझ ले तो यह दूसरी बात है। आज इंगलैंड या अमेरिका वगैरह देश या वहांके देशवासी अपनेको उन्नतिशील समझते हैं तो यह उनका कोरा भ्रम है और इसे सिवा अज्ञानतिमिर या अन्धकारके और कुछ नहीं कहा जा सकता। किसी पेड़ पर चढ़कर यदि कोई अपनेको संसारसे ऊंचा समझ ले तो यह नादानी नहीं तो और क्या? यही हालत आज चारों तरफ सचमुच हम देखते या पाते हैं। इतना ही नहीं बाकी लोग भी देखा-देखी इसी भ्रमको असल समझकर उसके पीछे दौड़ते हैं। पर अब समय आगया है जब हम सबोंको असली उन्नति और उत्थानको जानना चाहिये और सबको-सारे संसार और सारे विश्वको एक, निकटतम रूपमें एक दूसरेसे संबन्धित और अन्योन्याश्रयी समझकर ही कोई समाज-व्यवस्था ऐसी स्थापित करनी चाहिये जिससे व्यक्ति भी उठे, समाज भी उठे, देश या राष्ट्र भी उठे और सबके साथ संसार ऊपर उठे और इस तरह संसारके ऊपर उठनेसे सचमुच ये व्यक्ति, समाज, देश या राष्ट्ररूपी इकाइयां भी ऊपर उठें। ऐसा करके ही सच्चा सुख सभीको उपलब्ध होगा और स्थायी, शान्ति सब जगह स्थापित होगी। अभी तो जिसे सुख मानकर पश्चिमीय देश आगे बढ़ रहे हैं वह मृग-मरीचिका मात्र ही है—जितना जितना वे आगे बढ़ेंगे उन्हें यही पता लगेगा कि सुख अभी और आगे है। इस तरह अज्ञान एवं भ्रमके कारण उनका दिन-पर-दिन नैतिक एवं आध्यात्मिक पतन होता जा रहा है—जो एक समय पूर्ण विनाशका ही उत्पन्न करने वाला हो सकता है। अभी घमंडमें ये लोग इस भविष्यको देख नहीं पाते, जो ठीक नहीं।

इतना ही क्यों आधुनिक वैज्ञानिकोंने 'एटमबम' (atomic bomb) बनाए— पर उन्हें सब कुछ मालूम होते हुए भी वे यह भूल गये कि जिस समय एटम टूटेगा उस समय परमाणुओंकी जो बाढ़ उस से निःसृत होगी या निकलेगी वह रूसमें होनेपर भी अमेरिका तक पहुंचेगी और अमेरिकामें होनेपर भी रूसमें पहुँचेगी और किसी बड़े पैमानेपर इस तरह

का युद्ध चाहे संसारके किसी भी कोनेमें क्यों न हो संसारका जो आणुवीय (atomic) समन्वय, स्थिरीकरण, संतुलन (balance) है वह एकदम भंग होकर सभी जगह सभी कुछ छिन्न-भिन्न (disintegrate) कर सकता है। इन वैज्ञानिकोंका इधर ख्याल क्यों नहीं गया यही ताज्जुबकी बात है—पर यह तो, केवल "विनाशकाले विपरीतबुद्धिः" द्वारा होना कोई आश्चर्य नहीं। अबसे भी यदि लोग चेत जांए तो संसारका विनाश बच सकता है। मनुष्य या कोई जीव या संसारकी कोई भी वस्तु अकेली नहीं है सबका एक-दूसरेके साथ अभिन्न या सन्निकट सम्बन्ध (relation) है। हम सब साथ-साथ चलकर ही ऊपर उठ सकते हैं और अपना एवं दूसरोंका या सबका भला एक साथ कर सकते हैं। बाकी दूसरे तरहका कोई भी विचार मिथ्या, भ्रम एवं अज्ञान या अहंकारमय कोरी बहक ही है। इसे बनाए रखना आखिरमें हानिकर और दूर करना या छोड़ना ही लाभदायक एवं सुखकर है।

(१६) **हमारे शारीरिक परिवर्तन**—जैसा आधुनिक वैज्ञानिक कहते हैं, मूलसंघों (एटम atams) की बनावट या आन्तरिक संगठन और तरतीब कुछ उसी तरहकी है जैसे हमारा सूर्यमंडल है—जिसके बीचमें सूर्य और चारों तरफ ग्रह-उपग्रह और नक्षत्र मंडल है। कई एक मूलसंघ मिलकर एक वर्गणा-(मौलीक्यूल (molecule) का सृजन करते है। एक-एक 'एटम' या 'मूलसंघ' में कितने-कितने परमाणु रहते है इसका ठीक-ठीक अन्दाज अभी विज्ञानकी जितनी जानकारी है उसमें नहीं हुआ है। यों भले ही काम चलानेके लिए इकाइयां (units) मान ली गई है। एक एक 'मौलीक्यूल' या 'वर्गणा' में अनगिनत परमाणु होते है या हो सकते हैं। ऐसी हालतमें यह होता है कि बाहरसे सब कुछ स्थिर दीखते हुए भी अन्दर कोई ऐसी बात होती रहती है जिससे किसी एक मौलीक्यूलके कुछ परमाणु (electrons) अपनी जगहसे छूटते रहते हैं और अपने पासके दूसरे मौलीक्यूलोंमें घुसते रहते हैं एवं इनकी जगह पहले मौलीक्यूलमें पासके दूसरे मौलीक्यूलों (वर्गणाओं) से परमाणु आकर लेलेते है। यही बात जब कोई बाहरी शक्ति काम करती है तो अधिक तेजी या परिमाणमें होती है जैसा कि बिजली उत्पन्न करनेमें आज-कल हम सामने प्रत्यक्ष पाते है। इस तरहके आवागमनसे वर्गणाओंके या मूलसंघोंके गुणोंमें कोई हेर-फेर नहीं होता, वे ज्यों-के-त्यों रहते है। जब केवल उनकी अन्दरूनी बनावट—तरतीब या (setting) में फर्क पड़ता है तभी उनके गुणों और स्वभाव या प्रभावमें भी परिवर्तन हो जाता है। अथवा किसी एक वर्गणामें मिलकर उस वर्गणाका सृजन करने वाले कई एक मूलसंघोंमेंसे किसी एक मूलधातु (element) का एक तरहका मूलसंघ निकल जाय और दूसरी वस्तुओंसे या दूसरी वर्गणाओंसे दूसरे मूलधातुका मूलसंघ उसमें आकर मिल जाय तो इस प्रक्रियाको रासायनिक प्रक्रिया (chemical reaction) कहते है और तब वर्गणाका स्वभाव और प्रकृति एवं गुण बदल जाते हैं और हम कहते हैं कि एक वस्तु बदलकर दूसरी हो गई या ऐसी दो वस्तुओंको मिलानेपर जिनमे रासायनिक क्रिया हो सकती है उनसे एक तीसरी नई वस्तु नए गुणों और प्रभावोंवाली उत्पन्न हो गई। यही बात जैसे रसायन-शास्त्रमें है वैसे ही मनुष्यके शरीरके अन्दर भी होती है। सभी जीवधारियोंके साथ भी यही बात है।

विज्ञान कहता है कि पानी (जल) स्वयं तत्व या मूलधातु (element) नहीं है। इसमें दो मूलधातुओंका संयोग है—एक 'हाईड्रोजन' और दूसरा 'आक्सिजन'—पानीका रासायनिक निशान है H2O—जिसका मतलब है कि पानीकी एक वर्गणा या मौलीक्यूलमें हाईड्रोजनका दो मूलसंघ (atom) और आक्सिजनका एक मूलसंघ या एटम रहता है। दोनों गैस या हवाएं हैं। पर दोनोंके मिलनेसे एक तरल पदार्थ—जल बन जाता है। यदि जलको बनाने वाले इन दोनों मूलधातुओं (elements)

में किसी उपाय-द्वारा विभाजन किया जाय तो ये दोनों फिर अपने गैस(gas)के रूपमें आ जावेंगे। इसी तरह गंधकके तेजाबका रासायनिक चिन्ह है ($H_2 SO_4$), जिसका मतलब है कि इसकी एक वर्गणामें दो एटम हाइड्रोजनके, एक एटम गंधकका और चार एटम आक्सिजनके होते हैं। यदि इस गंधकके तेज़ाबको तांबेके साथ युक्त करें तो यह होगा कि हाइड्रोजन अलग हो जायगा और तांबेके साथ गंधक और आक्सिजन वाला भाग तांबे (copper) के साथ मिलकर एक नई वस्तु (substance) बना लेगा। इस नई वस्तुका स्वभाव, बनावट गुण एवं प्रभाव सभी कुछ गंधकके तेज़ाबसे भिन्न होगा। फिर तो यह तेजाब भी नहीं रह जायेगा और जो तेज़ाब की तेजी पहले वाले द्रव्यमें थी वह एकदम समाप्त हो जाएगी। इत्यादि। यह तो हुआ बेजान वस्तुओंकी रासायनिक क्रिया-प्रक्रियाका संक्षिप्त दृष्टान्त। जानदार वस्तुओं या जानदार शरीरोंके अन्दर जो क्रिया-प्रक्रियाएं होती हैं वे इतनी सरल या साधारण न होकर बहुत ही जटिल एवं क्लिष्ट(complex) होती है। जब भी हम भोजन-पान करते हैं तो जो कुछ हमारे शरीरके अन्दर रस जाता है उसकी मूलधातुएं शरीरके अन्दर विद्यमान वर्गणाओंके साथ क्रिया-प्रक्रिया-द्वारा मिल-मिला या बिछुड़कर काफी परिवर्तन हर तरहकी वर्गणाओंमें ला देती हैं। जिनका असर शरीर एवं मन या बुद्धिपर तुरन्त होता हुआ हम देखते हैं।

जो पुद्गल—मैटर (matter) जीवधारियोंके साथ लगा हुआ उनके शरीरका निर्माण करता है उसे जैनशास्त्रोंने दो मुख्य भागोंमे विभक्त किया है—एक तो वह सूक्ष्म शरीर है जो इन्द्रियों-द्वारा देखा या जाना नहीं जाता और जिसे कर्माण शरीर कहते है, और दूसरा स्थूल शरीर है, जो हाड़ मांस-मय दिखलाई देता है। यह कार्माण शरीर आत्माके साथ तब तक रहता है जब तक मुक्ति या मोक्ष नहीं होता।

(१७) कार्माण शरीर और उनमें होने-वाले परिवर्तन और परिणाम—इस कार्माण शरीर के बनाने वाली(molecules constituting this invisible and imperceptible body) वर्गणाओंको हमारे यहां आठ भागोंमे विभाजित किया गया है—जिन्हें अष्ट कर्म कहते हैं। इन अष्ट कर्मों या आठ तरहकी पुद्गल वर्गणाओं(जिन्हें ही संक्षेप में "कर्मवर्गणा" या उससे भी अधिक संक्षेपमें "कर्म" कहते हैं) के आने और शरीरके अन्दर लगने बनने इत्यादि का तथा उनको आत्मा या शरीरसे अलग करनेका या रोकने इत्यादि का भेदकर आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ऐसा विभेद करके पांच अध्यायोंमे छोटे बड़े ग्रंथानुकूल विस्तृत और विशद या संक्षिप्त वर्णन हर जगह जैन-शास्त्रोंमें मिलेगा।

बाहरसे आनेवाली वर्गणाओंका शरीरके अन्दर विद्यमान वर्गणाओंके साथ मिलकर रासायनिक क्रिया-प्रक्रिया रूपसे कुछ स्थायी परिवर्तन उनकी बनावटमें कर देना ही 'बन्ध' है। यह बात हमारे शारीरिक या मानसिक हलन-चलन-द्वारा भी शरीरके अन्दर विद्यमान धातुओं या वर्गणाओंमें क्रिया-प्रक्रिया होकर होती रहती है।

वर्गणाओंकी बनावटमें संयत आहार-विहार और भावोंकी शुद्धता-द्वारा इस तरहका परिवर्तन लाते जाना कि उनका प्रभाव धुंधलापन या अन्धकार उत्पन्न करनेवाला न होकर प्रकाशमय (transparent) होता जाय तो हमारा ज्ञान अधि-काधिक शुभ्र होता जाता है। ये ही वर्गणाएं पूर्णरूप से स्वच्छ निर्मल हो जानेपर संसारकी सभी वस्तुएं ज्यों-की-त्यों हमारे अन्दर झलक जाती है और हमारा ज्ञान पूर्णताको प्राप्त कर पूर्ण निर्विकल्प दशा को उत्पन्न करता है जब मोक्ष लाभ हो जाता है।

हम जिन वस्तुओंको जिस अवस्थामें देखते हैं उनका बड़ा स्थायी असर हमारे ऊपर अनजानमें ही पड़ता रहता है। जिस रूपका हम ध्यान करते है उसका भी बड़ा प्रबल प्रभाव हमारी वर्गणाओंके परिवर्तनादिमें पड़ता है। वर्गणाएं जो भी वस्तुसे,

शरीरसे, रूपसे निकलती हैं वे उसी छापकी इस सूक्ष्म रूपमें पूरीकी पूरी बनी रहती हैं जिसके कारण ही हमें उनके विशद सांसारिक रूपका पूरा ज्ञान होता है। ये वर्गणाएँ लगातार और अधिक समय तक देखने या ध्यान करनेसे हमारे शरीरके अन्दरकी वर्गणाओंमें भी परिवर्तन लाकर उन्हें उसी रूपका भरसक अधिक-से-अधिक बनाती जाती हैं। तीर्थंकरकी मूर्तिका दर्शन या रूपका ध्यान करते रहनेसे हमारा रूप भी हमारे अनजानमें वैसा ही अपने आप होता जाता है। स्त्रीरूपसे किसी देवीका बराबर ध्यान करनेसे जैसे भाव होंगे वैसा ही गठन हमारे शरीरका भी होता जाएगा। वीरका ध्यान करनेसे वीर, भयंकराकृतिसे भयंकरता, शांताकारसे शांतता इत्यादि स्वभावमें उसीत रहकी वर्गणाओंके बननेसे आती हैं। निराकार ध्यान यदि संभव हो तो वह मोक्षमें परम सहायक है। बाल्यरूपका ध्यान करनेसे बूढ़ा भी जवान हो सकता है। इसीलिये ध्यान, पूजन, जप वगैरहकी महत्ता सभी भारतीय धर्मोंमें बहुत बड़ी कही गई है।

इसके अतिरिक्त भी तो कर्माण शरीरमें सर्वदा अदल-बदल हेर-फेर वर्गणाओंकी बनावटमें होता ही रहता है, जिसे हम कर्मोंका बंध कहते हैं और उसीके अनुरूप हमारा सारा व्यवहार एवं आचार होनेसे हम फलस्वरूप सुख-दुःखकी प्राप्ति एव अनुभव होता रहता है। कोई भी जीव अकेला दुख-सुख अनुभव करनेमें समर्थ नहीं। यद्यपि दुख-सुख तो अकेला ही अनुभव होता है पर उसमें निमित्त कारण सारा संसार ही है। मुख्य निमित्त तो कोई व्यक्ति स्वयं है और संयोगिक (casual) निमित्त बाकी सभी कोई या सभी कुछ है। अकेला रहनेमें न दुख होता है न सुख न उनके कारण ही होते हैं— पर चूँकि किसी भी व्यक्ति या जीवधारीके साथ चारों तरफ एक पूरा भरा संसार है और सबका असर सबके ऊपर अनिवार्य रूपसे अक्षुण्ण पड़ता है इसीलिये दुख सुख भी है।

कार्माण शरीरमें जो परिवर्तन होता रहता है उसके अनुसार ही यह शरीरधारी आत्मा सारी सांसारिक अवस्थाओंसे होता हुआ जब ऐसी अवस्थामें पहुँचता है जहाँ उसके वर्तमान शरीरकी कार्माण-वर्गणाओंकी बहुसंख्याका स्थानीय वातावरणकी वर्गणाओंकी बनावट या स्थिति (setting) के साथ अनुकूलता नहीं रहती तो आत्मा इस पार्थिव—स्थूल पुद्गल शरीरको छोड़कर कार्माण शरीरके साथ ऐसी जगह चला जाता है जहां उसका वर्गणाओंकी अनुरूपता अधिक से अधिक संख्या, मात्रा या परिमाणमें होती है। वर्गणाओंमें अपने आप एक स्वभाव, प्रकृति या विशेषताका निर्माण हुआ होता है और वह योनि या पर्याय भी उसीके अनुकूल होती है। सारे विश्वमें ऐसे समय वर्गणाओंकी सबसे अधिक अनुकूलता केवल एक ही स्थान और एक ही पर्याय में होती है। केवल इसीसे हम किसी जीवधारीके शरीरकी रचना करने वाली वर्गणाओंकी अनंतता एवं विविधताकी महानताका अनुमान कर सकते हैं। दृष्टान्तके लिए ऊपर मैंने वर्गणाओंकी संख्या और किस्में केवल एक सौ मान ली हैं; पर वे अगणित, असंख्य और अनंत हैं। अनंत होते हुए भी उनमें व्यवस्था है, यही सबसे बड़ी खूबी है। और इसी व्यवस्थाके कारण संसार या विश्व एक परम व्यवस्थितरूप, चाल या गतिसे चलता जाता है। सभी परिवर्तनादि सुव्यवस्थित एवं सुचारु रूपसे ही होते हैं। कहीं गड़बड़-शड़बड़ या अव्यवस्था नहीं। यदि किसी मनुष्यका देहान्त हो जाता है और मान लिया कि उसे पहले सुजाककी बीमारी थी तो उसकी कार्माण-वर्गणाओंमें ऐसी वर्गणाएं भी होंगी जो इस बीमारीसे संबन्ध रखती है। ऐसी हालतमें यदि उसकी वर्गणाओंका संगठन (setiug) ऐसा हो गया है कि पुनः उसका दूसरा जन्म मनुष्यका ही होगा तो मरनेपर उसका आत्मा ऐसे ही मनुष्यके वीर्यमें जायगा जिसको यह बीमारी हो। इस तरह यह कहना कि पिताके पापोंका फल सन्तानको भोगना पड़ता है वह गलत है। फल तो हर एकको अपने अपने कर्मका ही भोगना पड़ता है।

परन्तु सांसारिक भाषामें एक राजाके पापों या गलतियोंका कटु फल उसके सारे देशको भुगतना पड़ता है ऐसा कहा जाता है। यदि सूक्ष्म दृष्टिसे इसका विश्लेषण किया जाय तो अंतमें यही मिलेगा कि वह सबका सब फल उन सारे लोगोंके अपनेर कर्मोंका ही था जो एक खास तरहकी वर्गणाओंमें निर्मित शरीरके कारण एक-सी दशा, जगह, देश या स्थान इत्यादिमें जन्म लिए हुए है और फिर सबको एक-सी परिस्थितिका सामना करना पड़ा या फल भुगतना पड़ा।

कोई काम या बात सहसा एकाएक नहीं हो जाती—उसके होनेका बीज बहुत समय पहलेसे बोया हुआ रहता है। आज हम किसी मनुष्यके साथ बात कर रहे है या कोई व्यापार करके लाभ उठाते है वह मनुष्य कितने वर्षों पहले उत्पन्न हुआ था। आज जो अन्न हम खाते है वह भी कितने समय पहले उत्पन्न किया गया था। और न जाने कितने लोगों द्वारा कहां कहांसे लाकर हमारे पास पहुंचा, तब घरमें उसे पकाकर भोजन बनाया गया और हमें खानेको मिला इत्यादि। यदि बहुत ही सूक्ष्मरूपसे और गहरे गहरे पैठकर देखा जाय तो यह सब सिलसिला अनादिकालसे ही अपने स्वाभाविकरूपसे चलता चला आता मालूम होगा। हम एक रुपयेकी कोई चीज विलायतकी बनी यहां खरीदते है उसमें न जाने कितनोंका हिस्सा भाग या भाग्य सन्निहित है—यदि विशदरूपमें देखा जाय तो संसारके अधिकसे अधिक लोगोंका हिस्सा किसी ऐसी वस्तुमें सन्निहित मिलेगा। सभी एक दूसरेसे सम्बन्धित है।

ऊपर मुजाककी बीमारीवालेके जीवात्माके बारेमें कहा गया है। यदि मान लें कि उसकी कार्माण वर्गणाओंकी संख्या सौ है तो जहां उसकी वर्गणाओंकी सबसे अधिक संख्यामें समानता होगी उसी पुरुषके वीर्यमें उसका गमन होगा। जैसे किसीके ६६ वर्गणाओंकी समानता है—किसीके ६६, किसीके ६५ तो वह ६६ वालेके वीर्यमें ही जायगा। पर यह अंक तो बहुत ही छोटा है कर्म वर्गणाओंकी संख्या हमारी संसारी भाषामें असंख्य, अगणित या अनंतानंत है। फिर भी उनकी संख्याकी एक कोई खास गिनती विराट विश्वकी गणनामें अवश्य है; क्योंकि सारे संबन्धित कार्य गणितके अंकोंकी गणनाके समान ही निश्चित और स्थायी या फलवाले पूर्ण व्यवस्थित होते है। एक ही नक्षत्रमें और एकसां परिस्थितियोंमें जन्म लिए दो मानवोंका भाग्य प्रायः एकसां होता है। जो कुछ विभिन्नता होती है वह इनमें कुछ फर्क होने तथा और दूसरी बातोंमें फर्क होनेकी वजहसे ही होता है। इत्यादि। विराट विश्वरूपी शरीरका हर एक जीव एक अंग है चाहे वह भले ही तुच्छ-से-तुच्छ क्यों न हो। हर एकका कोई खास कार्य, कर्तव्य, उपयोग और उद्देश्य (use& purpose) होता है। कुछ भी या कोई भी व्यर्थ और बेकार नहीं। हमारे भाग्यके बननेमें तो प्रथमतः हमीं जिम्मेदार है पर निमित्त और उसकी सिद्धि या गठनमें सभीकी सहायता सन्निहित है। इस संबन्ध और स्थितिसे तो छुटकारा केवल तभी मिलता है जब जीव सांसारिक जीवन-मरण छोड़कर मोक्ष लाभ कर लेता है।

देखनेमें तो सभी मनुष्य बाहरसे एकसां मनुष्य है-पर हर एकका रूप, स्वभाव, चेहरा मोहरा, बोली, चाल, लिखनेके अक्षर, शब्द उच्चारण, भाव सब कुछ भिन्न भिन्न है। सबकी वर्गणाओंमें इतनी काफी विभिन्नता है कि एक जीव जो जन्म लेनेवाला है संसारके सारे मनुष्योंसे केवल एकके ही वीर्यमें उसके लिए अपनी वर्गणाओंकी समानता या अनुरूपता मिलेगी और वह वहीं जायगा। दो स्थान एक ही समान उसके लिए नहींहै-या यदि क्षणिक रूपमें कहीं ऐसी बात हो भी जाय तो परिवर्तन-द्वारा वह क्षणिक ही रहेगी। अन्यथा तो इस तरह जन्म लेने वाला जीव बीचमें ही लटका रह जायगा जब तक एकान्त समानता न प्राप्त हो। मानवयोनि ही क्यों, सारे विश्वमें देव, गंधर्व, मानव, जीव, जन्तु, कीड़े, मकोड़े, पेड़, पौधों इत्यादि सभी अनंतानंत

योनियों और जीवधारियोंकी तुलना पर भी यह जन्म लेनेवाला जीव केवल एक ही जगह पैदा होगा या जन्म लेगा या उसका गर्भ गमन होगा। विषय बड़ा ही निगूढ़ है और इसकी धारणा(conception) जरा गम्भीरतापूर्वक विचारनेसे ही होना संभव है। यहां सब बातोंका ब्योरे वार वर्णन संभव नहीं, न शक्ति ही है और न सब कुछ लिखनेका समय ही है।

जिस समय किसी जीवका या मनुष्यकी एक देहका अंत होता है यानि उसकी मृत्यु हो जाती है तब उस जीवके कर्माण शरीरकी बनावटमें जो परिवर्तन पहलेसे हुआ रहता है एवं जो स्थूल पुद्गल शरीरको छोड़नेके समय एकदम होता है वही उससे (space) क्षेत्रोंके फैलाव (size) का आकार अगले भव, जन्म, योनि या पर्यायके अनुकूल बना देता है। या वर्गणाएं स्वयं परिवर्तित होकर उस अगली योनि वाले शरीरको धारण करनेके अनुकूल रूप एवं अवस्था और आकार (size) फैलावमें बन जाते हैं। जब एक बाल (hair) की नोकमें असंख्य वर्गणाएं हैं तो फिर एक अदने अणुवीक्षणीय जीवमें भी अनगिनत या बहुत बड़ी संख्यामें वर्गणाएं हुई तो इसमे क्या ताज्जुब। और भी यह कि वर्गणाओंमें परिवर्तन तो होता ही है—मृत्युके समय जो वर्गणाएं अधिक होती हैं अपने आप छुट जाती हैं— या यदि कम हों तो और जुट जायेंगी। एक हाथीका शरीर एक मानव या चूंटी या इससे भी छोटे जीवके शरीरमें जा सकता है या ठीक इसके विपरीत भी बात हो सकती है। इसमें कोई कठिनाई या असंभवता नहीं।

नोट—पर यहां पर मै स्वयं जैन शास्त्रोंमें वर्णित कुछ बातोंसे अपना मतभेद रखता हूं। मैं तो शाश्वत कर्मविकास (eternal evolution) में विश्वास रखता हूँ फिर उनका यह कहना कि एक मानवका जीव भी पुनः निगोद या एकेन्द्रिय वनस्पति पर्यायमें जन्म ले सकता है इसे अभी तक मैं नहीं मान पाया हूँ। हमारे यहां जीवोंके इन्द्रियोंके विकासानुसार पांच भाग किये गये हैं। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय। पञ्चेन्द्रियमें भी असैनी बेमनवाले और सैनी मनवाले हैं। मेरा ख्याल है कि एक दफा जब जीव एकेन्द्रियसे द्वीन्द्रिय पर्यायका शरीर धारण कर लेगा तो पुनः वह एकेन्द्रिय शरीर नहीं प्राप्त करेगा इत्यादि। एकेन्द्रियमें असंख्यात योनियां या पर्याय है उसी तरह द्वीन्द्रिय वगैरहमें भी अलग-अलग असंख्यात योनियां-पर्याय हैं। जब जीव एक दफा पञ्चेन्द्रिय शरीर धारण कर लेगा तो वह फिर पञ्चेन्द्रिय पर्यायोंमें ही घूमता रहेगा न कि नीचे चला जायगा। हां, देव एवं नारकी अवश्य हो सकता है—जो एकदम भिन्न पर्याएं ही है। जो कुछ भी हो, एक अनेकान्तका मानने वाला मेरे इस मतभेदको बुरा नहीं मानेगा। अभी तक तो मेरा ऐसा ही ख्याल है कि संभवतः तीर्थंकरोंके कहे हुएमें बादको लोगोंने अपने मनसे इस बातको या इस प्रकारके भयको इसलिए जोड़ दिया है कि अज्ञानी या मूढ मानव या थोड़े ज्ञानसे ही अपनेको पूर्ण समझनेवाले लोग स्वेच्छाचारी होकर नीचे न गिर जांय। यही नहीं और भी कितने ही विषयोंमें ऐसा हुआ जान पड़ता है।

यह तो निश्चित बात है कि जीव परमसूक्ष्म अपर्याप्त निगोदिया शरीरसे निकलकर कर्मविकास द्वारा ही मानवशरीर या और बड़ा महामत्स्यका शरीर धारण करता है। हर समय आत्मा या जीव वही रहता है। इसलिए उसमें यह योग्यता तो बराबर ही बनी रहती है कि इस तरह बड़ा-से-बड़ा शरीराकार भी हो जाय और फिर सूक्ष्म-से-सूक्ष्म या छोटे-से-छोटा निगोदिया आकारका शरीर भी धारण कर ले। यह योग्यता उसमें अवश्य सर्वदा रहती है। पर ऐसा कहनेका तात्पर्य लोगोंने बादमे गलत लगा लिया जान पड़ता है कि वह पुनः मानव-भवसे निगोदिया भव या पर्यायमें चला जायगा। यहीं मेरा मतभेद होता है।

यदि सचमुच देखा जाय तो गीताका यह वचन

कि "कर्मण्येवाधिकारस्ते" एकदम गलत हो जाता है। मनुष्य कर्म करनेके लिए भी परम स्वतन्त्र या स्वाधीन नहीं। जब स्वाधीनता नहीं तब फिर अधिकार कैसा? पर सांसारिक भाषामें ऐसा कथनोपकथन होता है और ऐसा न होनेसे फिर तो अज्ञानी मानव बातोंको ठीक-ठीक नहीं समझनेके कारण चुपचाप बैठ जाय, कुछ कर्म या क्रिया संसारमें न करे—यह गलत धारणा बनाकर कि जो कुछ होनेको होगा वह तो अपने आप होगा ही। बात तो है सचमुच ऐसी ही पर इस अर्थमें नहीं जिस अर्थमें एक अनुद्यमी, श्रमसे देह चुराने वाला या आलसी आदमी सोचकर या मानकर चुपचाप पड़े रहनेका एक आसान बहाना निकाले—जैसे कि उसका जन्म संसारमें व्यर्थ ही हो और उसके जन्मका कोई मतलब, ध्येय या अर्थ एकदम न हो, न उसका अपना पार्ट (part) ही अदा करना हो। पर वह काम करे या न करे खाना-पीना भी तो एक काम ही है—यह भी तो तब उसे छोड़ देना ठीक था—पर ऐसी बात नहीं है। संसार तो अग्रसर होता ही जाता है—और उसमें उसे अपने भागका पार्ट अदा करना ही पड़ेगा चाहे वह खुशीसे करे या दुखके साथ। इत्यादि।

आत्मामें स्वयं अपना वीर्य ऐसा है कि जो उसे सतत विकास-द्वारा पुद्गलोंसे छुटकारा दिलानेमें समर्थ होता है। आत्माकी तर्क और बुद्धि द्वारा जितना जाना जा सकता है उतना शास्त्रों-द्वारा हम जान पाते है बाकी तो स्वयं अनुभव द्वारा ही जाना जा सकता है। जैसे साधारणतः मोटे तौर पर भी जिस चिड़ियाको हमने स्वयं आँखोंसे न देखा हो उसके किसी दूसरे द्वारा जबानी वर्णनसे हम ठीक-ठीक सच्चा अनुमान नहीं लगा सकते या अंगूर जिसने स्वयं न चखे हों उसके स्वादका अनुभव केवलमात्र दूसरेके वर्णनसे नहीं हो सकता। फिर आत्मा तो वर्णनातीत ही है। केवल अनुभवगम्य है। तब आत्माका वह वीर्य क्या है जिसके कारण वह पुद्गलोंसे छुटकारा पा जाता है यह बात तो आत्मज्ञानी ही जान सकता है। बतलानेको तो बहुत कुछ शास्त्रोंमें कथनोपकथन हो चुका है। पर स्वच्छ सच्चा ज्ञान तो स्वयं दर्शन और अनुभव द्वारा ही होता है।

संसारकी सारी व्यवस्थाएं इसीलिए बनी हैं कि कहीं व्यवधान न हो और सब काम ठीक-ठीक यथानुरूप और यथायोग्य एवं यथोचित होता जाय। मानव-जीवनका एकमात्र ध्येय ही है अविरल कर्म। संयमित कर्म, संयमित आचार-व्यवहार, संयमित खानपान, संयमित बोलचाल वगैरह ही हमें मोक्षमार्गकी तरफ अग्रसर करते है। चुपचाप बैठे रहना नहीं। जब कर्मवर्गणाओंमें परिवर्तन होकर जरूरत मुताबिक शुद्धता आवेगी तभी कुछ हो सकता है और यह परिवर्तन वगैर कर्मके हो ही नहीं सकता। और इसके अलावा भी भले ही कोई भ्रमपूर्वक मान ले कि वह कर्म नहीं कर रहा है या ऐसा संभव है पर यह क्षणिक ऊपरी ही होगा न स्थायी होगा न सचमुचका ही, न संभव ही है। आज जो हम कर्म करते हैं उसकी प्रेरणाका बीज न जाने किस समय हुआ था—जिस वर्गणाके प्रभावमें जो कर्म होता है न जाने किस भव या किस जन्ममें—जो अनादिकालसे अब तक होता चला आया है—उसका गठन हुआ था—कौन जानता है? इत्यादि। सब कुछ अपने आप होते हुए भी सबका सहयोग एवं सबका सहगमन अनिवार्य है। हम बड़ी भारी विराट विश्व-मशीन या विराट विश्व-शरीरके एक अंग या एक पुर्जामात्र हैं। अपनेको अलग समझकर भ्रममार्गमें चलना नादानी, अज्ञानता या गलती ही है।

व्यक्तिकी कौन कहे, किसी देशका भाग्य भी सैकड़ों-हजारों वर्षोंसे होते आए इतिहासका ही अन्तिम वर्तमान फल (resultant) होता है। किसी धनीका लड़का अपने बाप-दादेका अर्जन किया धन जब प्राप्त करके मौजें उड़ाता है तो उसके इस तरहके मनोभावों, आचार-व्यवहार एवं आचरण वगैरह की रूपरेखा बनानेमें वह उसके पुरखाओं द्वारा

अर्जित किया धन ही मुख्य कारण होता है। यह धन नहीं रहता तो उसका रहन-सहन जीवन दूसरा ही होता। इस तरह उसके जीवन या कार्योंकी नींव न जाने कितने वर्षों पहले ही पड़ गई थी। उसी तरह देशोंके भाग्यके साथ भी बात है और देशोंका भाग्य विश्वके उतार-चढ़ावके साथ ही संबन्ध है। आज एक साधारण भारतवासी आधा पेट भी खाना नहीं पाता है और इंगलैड वाला उससे तिगुना खाता है और मौजें भी करता है। इसका कारण तुरन्तका श्रम या कामना नहीं है पर सैकड़ों-हजारों वर्षोके वातावरण-इतिहास और श्रमका संयुक्त फल ही है।

(१८) व्यक्ति आदिकी उन्नतिमें आवश्यकीय—भविष्यकी बातें लोग बतलाते हैं या ज्योतिषी काफी ठीक-ठीक गणना कर देते हैं—यह कि सब आखिर क्या साबित करते है?—यह कि सब कुछ गणितके अङ्कोंके जोड़, घटाव या गुणनफल या भागफलके निश्चित परिणामके समान ही निश्चित है। न एक अंक इधर हो सकता है न उधर। हां, किसीकी गणना गलत हो तो दूसरी बात है—पर विश्वकी व्यवस्थामें कोई गलतीकी संभावना नहीं। कोई भी व्यक्ति इन बातोंको समझकर और अधिक अध्यवसायी एवं सचेष्ट हो जाता है न कि निष्क्रिय, लापरवाह, आलसी और ढीला-ढाला। निष्क्रियता किसी कमी (defect) गलती या भ्रमकी सूचक है। किसी मनुष्यमें जब ऐसे भाव उत्पन्न हों तो उसे हटानेकी चेष्टा करनी चाहिये क्योंकि सक्रियता ही जीवन और निष्क्रियता ही विनाश है। विश्वकी व्यवस्थाओंके निश्चत रूपका ज्ञान होजाने पर तो आकुलता, उद्वेग और उत्तेजनादिकी कमी होकर निराकुलता, शातता एवं 'समता' की वृद्धि होनी चाहिए। ज्ञानके साथ चारित्रका विकास ही वांछनीय है। बिना ज्ञानके चारित्र ढोंग और अहंकारको ही उत्पादन करता है। फिर भी चारित्रका शुद्ध होना तो हर हालतमें अच्छा, वांछनीय एवं जरूरी ही है। पर चारित्र भी सच्चे मार्ग वाला ही ठीक है। भ्रममार्ग एवं ढोंग और आडम्बर व्यर्थ तो है ही हानिकारक भी है। चारित्र हो तो ज्ञानप्राप्तिका सर्वप्रथम उद्योग या चेष्टा करके जितना भी हो शुद्ध ज्ञान उपलब्ध कर लेना चाहिए तभी आत्माकी शुद्धि उत्थान और कल्याण हो सकेगा। अपना सच्चा कल्याण ही लोक-कल्याण है और लोक-कल्याण ही अपना सच्चा कल्याण है। हिंसात्मक साम्यवाद (communism) से गुत्थियोंको नहीं सुलझाया जा सकता है, केवल अहिंसात्मक 'समतावाद' (Equalism) से ही संसारके दुःखों और अशान्तिका अन्त होना संभव है। 'समतावाद' (Equalism) साम्यवाद (communism) का ही पूर्ण अहिंसात्मक रूप और नामकरण है। जब तक सामाजिक विषमता रहेगी एक शोषण करने वाला तथा दूसरा शोषित रहेगा ही। यथासंभव आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक 'समता' (Equality) व्यक्ति, देश एवं संसारकी उन्नतिके लिए परम आवश्यक है। ऐसा होनेसे ही विश्वमें सच्चा सुख एवं स्थायी शांति स्थापित हो सकती है।

(१९) संतानादिके भविष्यकी उज्ज्वलतामें आवश्यक कर्त्तव्य—जिस समय कोई जीव गर्भमें आजाता है उसके ऊपर अक्षुण्ण रूपसे माताके रहन-सहन, खान-पान, व्यवहार और भावनाओंका असर पड़ता है। उस जीवके शरीरमें भी उसी अनुरूप वर्गणाओंका सृजन होता है। अतः माताके लिए यह परम आवश्यक है कि ऊंचे उन्नतिशील-शुभ्र भाव रखे एवं खान-पानादि ठीक रखे। तभी संतान उन्नतिशील होगी। पिताका वीर्य होनेसे पिताके स्वभावका असर तो रहता ही है—पर माताके सहयोगमें इस तरह खराब असरोंको कर और बुरी वर्गणाओंको भी परिवर्तित कर अच्छा बनाया जा सकता है। अतः व्यक्ति या संसारके उज्ज्वल भविष्यके लिए यह परम आवश्यक है कि स्त्रियोंको पूर्ण सुविधाएं एवं हर एक साधन इसके

लिए उपलब्ध बनाए जाएँ तथा उन्हें हर तरह ऐसा योग्य बनाया जाय कि भावी सन्तान उन्नतिशील ही हो। संसारको उन्नतिके लिए स्त्रियोंकी उन्नति सर्व-प्रथम आवश्यक है।

व्यक्ति समाज और देश या राष्ट्रकी उन्नतिके लिए माताओं (स्त्रियों) की महत्ता पुरुषोंसे कई गुनी है। स्त्रियां उन्नत-शील विचारों वाली होंगी तो संतान भी स्वाभाविकतः वैसी ही या उन्नति-शील झुकाववाली होनेसे आसानीसे तरक्कीकी तरफ बढ़ेगी—अपनी भी तरक्की करेगी—शुभ्र आचारणों और ऊंचे विचारों वाली होंगी एव उसके सहयोग या संगतिमें आनेवाले भी उसके प्रभावसे शुद्धता प्राप्त करेंगे और उसकी अगली संतान भी अच्छे वीर्यसे होनेके कारण उत्तरोत्तर अच्छी होगी। इसी तरह समाज देश या राष्ट्र उन्नतिशील और शुद्ध आचारणों वाला हो सकता है। इसके लिए स्त्रियोंकी शिक्षा और उन्हें सुसंस्कृत करना पुरुषों-की अपेक्षा पहले और अधिक आवश्यक है। पर अभी तो सभी कुछ उलटा ही होता आया है और अभी भी हो रहा है। संसारके सच्चे उत्थानके लिए इस व्यवस्थाको बदलना होगा और स्त्रियोंको उचित सुयोग्य शिक्षा द्वारा उन्नतिशील बनाना होगा।

गर्भमें नौ महीने रहनेके उपरान्त जन्म हो जाने पर बालक जो दुग्धपान करता है, जिस धायके हाथमें खेलता है उन सबका असर तो पड़ता ही है और उसके बादमें भी जैसी संगति और वातावरण में वह पाला जाता है उसीके अनुरूप वह हो जाता है। और बादमें शिक्षाका बड़ा भारी प्रभाव उसके भावोंको बदलनेमें होता है। इस लिए यह परम आवश्यक है कि संसारमें शिक्षा जो दी जाय उसमें शुद्धता, स्फूर्ति एवं आत्मविश्वास तथा उत्थानकी बातें और शाश्वत अविरल कर्ममें श्रद्धा उत्पन्न की जाय। कोई काम छोटा नहीं बल्कि किसी कामको न करना या घृणा करना या छोटा समझना ही छोटापना, तुच्छता एवं आत्माको नीचा ले जाना वाला अकल्याणकारक है। हर एक बात या विषय पर स्वयं अपने आप मनन करके उससे समुचित निर्णय निकालनेकी आदत डालकर स्वतन्त्र बुद्धिके विकासका सिलसिला उनमें उत्पन्न करना आवश्यक है। वर्तमानमें धर्मोका जो रूप हो गया है वह इस बुद्धिके विकासको एक-दम संकुचित कर देता है, जो आगे चलकर सारे द्वन्द्वों, उत्पातों, संघर्षों और युद्धोंका मूल कारण हो जाता है। धार्मिक संकुचितता दूर करना आवश्यक है यदि विश्वशान्ति सचमुच इष्ट हो तो। ज्ञानकी वृद्धि हो जानेपर स्वयमेव व्यक्ति अपना मार्ग और धर्म, विश्वास और सिद्धांत चुन लेगा। ऐसा करके ही लोककल्याण और व्यक्तिका सच्चा कल्याण हो सकता है। स्वयं उठो और दूसरोंको भी उठाओ तभी हमारा उठना भी स्थायी हो सकता है। किसीको तुच्छ, छोटा, नीच वगैरह समझना स्वयं अपने भावोंको ऊपर उठने नहीं देता न शुभ्रता ही लाने देता है। हम अहंकार में सच्ची उन्नति और उसका ठीक सत्य मार्ग भूल कर ढोंग और मायाचारको अपना लेते हैं। यह अन्तमें आत्माको गिरानेवाला अकल्याणकारी ही है। अपने आत्माकी विशुद्धिके लिए अपने भावोंको उन्नत रखना ही एक मात्र उपाय है। भाव जितने-जितने शुभ्र एवं उन्नत होंगे हमारी कार्माण वर्गणाओंमें भी समुचित परिवर्तन होकर हमारे आत्माके ज्ञान का विकास भी होगा और शुभ्रता आकर हम अधिकाधिक सच्चे सुख और मोक्षके परम सुखका नजदीक होते जायंगे। आज जो चारों तरफ विडम्बनाएं दृष्टिगोचर होती हैं उनका कारण तत्वों की ठीक-ठीक जानकारीका व्यापक अभाव ही है। आत्माका जो रूप जैन सिद्धांतोंमें निरूपित किया है वह व्यक्तिको सबसे ऊपर और सबसे अधिक सीधे तौरसे या शीघ्रता पूर्वक उन्नत करनेमें समर्थ है। पर विभिन्न मानवोंका स्वभाव विभिन्न परि-स्थितियां, वातावरण और समाज एवं व्यवस्था में पले होनेके कारण बहुत ही भिन्न है। इसलिए

एक धर्मका होना तो सभी जगह एकदम संभव नहीं। लोग अपने अज्ञान और अशक्त अवस्थामें अपने मतलब लायक उसमें फेर बदल कर ही लेंगे। इसलिए साधनों, ध्येयों एवं मान्यताओंमें विभिन्नता रहते हुए भी बजाय द्वेष-विद्वेषके सबको एक दूसरे की सहायता और सहयोग द्वारा जितना भी व्यवहारतः संभव हो सके स्वयं आगे बढ़ना और बाकी सभीको आगे बढ़ाना चाहिए। ऐसा करते-करते जब काफी ज्ञानका विकास होजायगा एवं काफी व्यापक रूपमें व्यक्ति तथा समाज सचमुच उन्नतिशील होगा तो अपने आप धीरे धीरे सारी व्यवस्थाएं ठीक होती जायंगी। विरोध कम होता जायगा।

(२०) **आजकी आवश्यकता**—आज जरूरत है संसारमें यथा शक्ति सच्चे ज्ञानका अधिक-से-अधिक व्यापक प्रचार करनेकी। छोटे-बड़ेका भेद-भाव मिटाकर सबको हर संभव सुविधाएं उन्नति करने लायक उपलब्ध करनेकी। द्वेष-विद्वेषकी भावना दूर हटाकर हर एककी बातें एक दूसरा जाने, समझे और विभिन्नताओंकी परवाह न करते हुए जहां समानता मिले उसे ही सुदृढ़ करे और उसीको बढ़ाते हुए हर कोई आगे बढ़े। ऐसा करके ही व्यक्ति, समाज, सम्प्रदाय, देश एवं संसारकी सच्ची उन्नति एवं सच्चा कल्याण होगा तथा सच्चे सुख और स्थायी शान्तिकी स्थापना हो सकेगी।

(नोट—इस लेखको समझ लेनेके बाद जैन तत्त्वोंको समझनेमें आसानी होगी। जो लोग जीवन, मरण, संसार, दुख-सुख और मोक्ष आदिके असली तत्वोंको ठीक-ठीक सत्य-सत्य जानना चाहें उन्हें यह लेख पढ़नेके बाद—बा० सूरजभानु वकील द्वारा लिखित—हिन्दी द्रव्य-सग्रहकी हिन्दी टीका या अंग्रेजीमें Sacred Books of the Jains Volume V–Dravya Sangraha (द्रव्य-संग्रह) पढ़ना चाहिये—इसके बाद और दूसरी पुस्तकोंमें समयसार या फिर जितनी पुस्तकें देख सकें देख जांय तो अच्छा ही है।)

पटना, ता० १-११-४९

स्वाध्यायप्रेमियोंके लिये उत्तम अवसर

भारतकी राजधानी देहलीमें वीरसेवामन्दिरके तत्त्वावधानमें समाजके जिनवाणीभक्त दानी महानुभावोंकी आर्थिक सहायतासे एक सस्ती जैन ग्रन्थमालाकी स्थापना हुई है। ग्रन्थमाला-का प्रत्येक ग्रन्थ गृहस्थोपयोगी है—स्त्री पुरुष और बच्चोंके लिए उसका लेना बड़ा ही लाभदायक और अत्यन्त आवश्यक है। इसलिये प्रत्येक सद्गृहस्थका कर्त्तव्य है कि वह इन ग्रन्थरत्नोंको खरीदकर जिनवाणीके स्वाध्यायसे आत्म-कल्याण करे। इस ग्रन्थमालासे प्रकाशित ग्रंथोंको प्रायः लागतसे भी कम मूल्यमें दिये जानेकी योजना की गई। अभी नीचे लिखे ग्रन्थ छप रहे हैं। जिन ८ ग्रन्थोंका लागत मूल्य १५) है, वे पूरा सेट लेनेवाले सज्जनोंको लागतसे भी कम मूल्य १२) में और पद्मपुराणको छोड़कर शेष ७ ग्रन्थोंका सेट सिर्फ ७) में देनेका निश्चय किया है। जिन्हें इन ग्रंथरत्नोंकी आवश्यकता हो वे ग्राहकोंमें अपना नाम लिखवाकर और अपना मूल्य भेजकर 'वीरसेवामन्दिर आफिस ७।३३ दरियागंज देहली' से रसीद लेलें। ग्रन्थ जैसे-जैसे तैयार होते जायेंगे उसी क्रमसे व उनके पास पहुंचते रहेंगे।

१	रत्नकरण्डश्रावकाचार—सजिल्द लगभग ८०० पृष्ठ (मूल० समन्तभद्राचार्य, टी० पं० सदासुखदासजी	३)
२	मोक्षमार्गप्रकाशक—सजिल्द लगभग ५०० पृष्ठ (पं० टोडरमलजी, ग्रन्थकारकी स्वहस्त लिखित प्रति परसे संशोधित)	२।।)
३	जैनमहिलाशिक्षासंग्रह—पृष्ठ २४०	१)
४	सुखकी झलक—पृष्ठ १६० (पूज्यवर्णीजीके प्रवचनोंका सुन्दर संकलन)	।।=)
५	श्रावकधर्म संग्रह—पृष्ठ २४० (पं० दरयावसिंह, श्रावकोपयोगी पुस्तक)	१)
६	सरलजैनधर्म—पृष्ठ ११२ (बालकोपयोगी पुस्तक)	।=)
७	छहढाला—पृष्ठ १०० (पं० दौलतरामजी व पं० बुधजनजी कृत)	।)
८	पद्मपुराण—(सजिल्द बड़ा साइज) पृष्ठ ८०० (मूल० रविषेणाचार्य, टी० पं० दौलतरामजी)	६।)

मूल्य भेजने तथा ग्रन्थ मंगानेका पताः—

मन्त्री—सस्ती ग्रन्थमाला
नं० ७।३३ दरियागंज, देहली।

जिन ग्राहकोंका पेशगी मूल्य आजायगा उनमेंसे देहलीवालोंको ग्रन्थ उनके मकानपर भिजवा दिये जावेंगे। शेष बाहरके सज्जनोंको ग्रन्थोंका सेट पोष्टेज वी० पी० से भेज दिया जायगा।

अनेकान्तकी सहायताके चार मार्ग

(१) २५), ५०), १००) या इससे अधिक रकम देकर सहायकोंकी चार श्रेणियोंमेंसे किसीमें अपना नाम लिखना।

(२) अपनी ओरसे असमर्थोंको तथा अजैन संस्थाओंको अनेकान्त फ्री (बिना मूल्य) या अर्ध-मूल्यमें भिजवाना और इस तरह दूसरोंको अनेकान्त के पढ़नेकी सविशेष प्रेरणा करना। इस मदमें सहायता देनेवालोंकी ओरसे प्रत्येक बारह रुपयेकी सहायताके पीछे अनेकान्त तीनको फ्री अथवा छहको अर्धमूल्यमें भेजा जा सकेगा।

(३) उत्सव-विवाहादि दानके अवसरोंपर अनेकान्तका बराबर खयाल रखना और उसे अच्छी सहायता भेजना तथा भिजवाना, जिससे अनेकान्त अपने अच्छे विशेषाङ्क निकाल सके, उपहार-ग्रन्थों-की योजना कर सके और उत्तम लेखोंपर पुरस्कार भी दे सके। स्वतः अपनी ओरसे उपहार-ग्रन्थोंकी योजना भी इस मदमें शामिल होगी।

(४) अनेकान्तके ग्राहक बनना, दूसरोंको बनाना और अनेकान्तके लिये अच्छे-अच्छे लेख लिखकर भेजना, लेखोंकी सामग्री जुटाना तथा उसमें प्रकाशित होनेके लिये उपयोगी चित्रोंकी योजना करना और कराना।—सम्पादक 'अनेकान्त'

Regd. No. D, 793.

हमारे सुरुचिपूर्ण प्रकाशन

१. अनित्य-भावना—आ० पद्मनन्दिकृत भावपूर्ण और हृदयग्राही महत्वकी कृति, साहित्य-तपस्वी पण्डित जुगलकिशोर मुख्तारके हिन्दी-पद्यानुवाद और भावार्थ सहित। मूल्य चार आना।

२. आचार्य प्रभाचन्द्रका तत्त्वार्थसूत्र—सरल-संक्षिप्त नया सूत्र-ग्रन्थ, पं० जुगलकिशोर मुख्तारकी सुबोध हिन्दी-व्याख्यासहित। मूल्य चार आना।

३. न्याय-दीपिका—(महत्वका सर्वप्रिय संस्करण)—अभिनव धर्मभूषण विरचित न्याय-विषयकी सुबोध प्राथमिक रचना। न्यायाचार्य प० दरबारीलाल कोठियाद्वारा सम्पादित, हिन्दी-अनुवाद, विस्तृत (१०१ पृष्ठकी) प्रस्तावना, प्राक्कथन, परिशिष्टादिसे विशिष्ट, ४०० पृष्ठ प्रमाण, लागत मूल्य पाँच रुपया। विद्वानों, छात्रों और स्वाध्याय-प्रेमियोंने इस संस्करणको बहुत पसन्द किया है। इसकी थोड़ी ही प्रतियाँ शेष रही हैं। शीघ्रता करें। फिर न मिलनेपर पछताना पड़ेगा।

४. सत्साधुस्मरणमङ्गलपाठ—अभूतपूर्व सुन्दर और विशिष्ट सङ्कलन, सङ्कलयिता पंडित जुगलकिशोर मुख्तार। भगवान महावीरसे लेकर जिनसेनाचार्य पर्यन्तके २१ महान् जैनाचार्योंके प्रभावक गुणस्मरणोंसे युक्त। मूल्य आठ आना।

५. अध्यात्मकमलमार्तण्ड—पञ्चाध्यायी तथा लाटीसंहिता आदि ग्रन्थोंके रचयिता पंडित राजमल्ल विरचित अपूर्व आध्यात्मिक कृति, न्यायाचार्य पंडित दरबारीलाल कोठिया और पं० परमानन्द शास्त्रीके सरल हिन्दी-अनुवादादिसहित तथा मुख्तार पंडित जुगलकिशोरद्वारा लिखित विस्तृत प्रस्तावनासे विशिष्ट। मूल्य डेढ़ रुपया।

६. उमास्वामिश्रावकाचारपरीक्षा—मुख्तार श्री पं०जुगलकिशोरद्वारा लिखित ग्रन्थ-परीक्षाओंका इतिहास-सहित प्रथम अंश। मूल्य चार आना।

७. विवाह-समुद्देश्य—पंडित जुगलकिशोर मुख्तारद्वारा रचित विवाहके रहस्यको बतलानेवाली और विवाहोंके अवसरपर वितरण करने योग्य सुन्दर कृति। मूल्य आठ आना।

नये प्रकाशन

१. आप्तपरीक्षा-स्वोपज्ञटीकासहित—(अनेक विशेषताओंसे विशिष्ट महत्वपूर्ण अभिनव संस्करण) तार्किकशिरोमणि विद्यानन्दस्वामि-विरचित आप्तविषयकी अद्वितीय रचना, न्यायाचार्य पण्डित दरबारीलाल कोठियाद्वारा प्राचीन प्रतियोंपरसे संशोधित और सम्पादित, हिन्दी-अनुवाद, विस्तृत प्रस्तावना, और समाजके बहुश्रुत विद्वान प० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री द्वारा लिखित महत्वके प्राक्कथन तथा अनेक परिशिष्टोंसे अलङ्कृत २०×२६ = पेजी साइज, लगभग चार-सौ पृष्ठ प्रमाण, लागत मूल्य आठ रुपया। यह संस्करण प्रकाशित होगया है।

२. श्रीपुरपार्श्वनाथ-स्तोत्र—श्री विद्यानन्दाचार्य-विरचित महत्वका स्तोत्र हिन्दी-अनुवाद तथा प्रस्तावनादि सहित। सम्पादक—न्यायाचार्य पण्डित दरबारीलाल कोठिया। मूल्य बारह आना।

३. शासनचतुस्त्रिंशिका—विक्रमकी १३ वीं शताब्दीके विद्वान मुनि मदनकीर्ति-विरचित तीर्थ-परिचयात्मक ऐतिहासिक अपूर्व रचना, हिन्दी अनुवाद-सहित। सम्पादक—न्यायाचार्य पण्डित दरबारीलाल कोठिया। मूल्य बारह आना।

व्यवस्थापक—वीरसेवामन्दिर,

७/३३ दरियागंज, देहली।

प्रकाशक-परमानन्द जैन शास्त्री, वीरसेवामंदिर ७/३३ दरियागंज देहली, मुद्रक-अजितकुमार जैन शास्त्री, अकलंक प्रेस, सदरबाजार, देहली।

अनेकान्त

वर्ष १०] दिसम्बर १९४९ [किरण ६

सम्पादक
जुगलकिशोर मुख्तार

सहायक सम्पादक
दरबारीलाल न्यायाचार्य

—: विषय-सूची :—

आप्तपरीक्षाका सुन्दर नया संस्करण

'आप्तपरीक्षा' के प्रेमी विद्यार्थी, विद्वान् और पाठक अर्सेसे जिस संस्करणको प्रतीक्षा कर रहे थे वह छप कर तैयार हो गया है। इस संस्करणपर विद्वानोंने अपनी सम्मतियां भेजते हुए हर्ष व्यक्त किया है। विद्वच्छिरोमणि कवि-तार्किकचक्रवर्ती प्रो. महादेव शास्त्री पाण्डेय प्रोफेसर हिन्दूविश्वविद्यालय काशी लिखते हैं—'मैंने 'आप्तपरीक्षा' की भाषाव्याख्या, जिसके निर्माता श्रीदरबारीलालजी जैसे विज्ञ हैं, विमर्शपूर्वक देखी। इस व्याख्याके कर्तृत्वमें अध्ययन, श्रम, गवेषणा तथा भाषासौष्ठव विशद प्रकारसे उपलब्ध होता है। पदार्थविवेचन स्पष्ट, शुद्ध और अस्खलित भावसे किया गया है। मार्मिक स्थलोंकी ग्रन्थियां ऐसी उद्घाटित हुई हैं कि उससे अध्येतृवर्गको सुगमता प्राप्त करनेमें विशेष बुद्धिव्यायामका प्रसङ्ग कदाचित् उपस्थित हो सके। यह प्रयत्न राष्ट्रभाषाके भण्डारके लिए सफल होगा।'

गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेज बनारसके सुप्रसिद्ध विद्वान् प्रो० मुकुन्द शास्त्री खिस्ते साहित्याचार्य लिखते हैं—'आज इस 'आप्तपरीक्षाके' भाषानुवादको देखकर मुझे परम सन्तोष हो रहा है। इसमें पं० दरबारीलालजी जैनने ऐसी रीतिका आश्रयण किया है जिससे कठिन-से-कठिन रहस्य सरलतासे समझमें आजावें। यह हिन्दी भाषानुवाद केवल साधारण जनोंके लिये ही नहीं, किन्तु संस्कृत जानने वालोंके लिए भी अतीव उपयोगी है, इससे समाजका परम उपकार होगा।'

जैनसमाजके मूर्धन्य प्रसिद्ध मुनि कान्तिसागर सम्पादक 'ज्ञानोदय' भारतीयज्ञानपीठ काशी अपनी सम्मतिमें लिखते हैं—"आप्तपरीक्षा' के प्रस्तुत संस्करणमें विद्यानन्दकी दार्शनिक प्रतिभा और प्रौढता पृष्ठ-पृष्ठपर है। इस सुन्दर संस्करणमें सम्पादकने जो प्रयत्न किया है वह अनुकरणीय है।'

गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेज बनारसके प्रिन्सिपल श्रीनारायणशास्त्री खिस्ते अपनी संस्कृत भाषामें निबद्ध सम्मतिमें लिखते हैं—'मैंने मुनि विद्यानन्द विरचित स्वोपज्ञटीकासहित आप्तपरीक्षाको आपाततः ही देखा, परन्तु इतनेसे ही स्थालीपुलाकन्यायसे जो परीक्षण हुआ उससे इसकी परम उपादेयता अच्छी तरह ज्ञात होगई। इसका सम्पादन भी नवीन प्रणालीसे बहुत उत्तम हुआ, जो अत्यन्त प्रमोदजनक है।'

श्रीभूपनारायण झा शास्त्री प्रो. गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेज बनारस अपनी संस्कृत पद्यमय सम्मतिमें लिखते हैं—'हिन्दी व्याख्यासहित 'आप्तपरीक्षा' का, जिसकी स्वोपज्ञवृत्ति अनेक समीक्षाओंसे उल्लसित है, देखकर मन प्रसन्न हुआ। इस व्याख्यामें कोई क्लिष्ट पद ऐसा नहीं रहा जिसे स्पष्ट न किया गया हो। अन्तमें निबद्ध परिशिष्ट और भी अधिक मेरे मनको प्रमुदित करता है। इस विद्वन्मान्य उच्च विद्वान्की यह कृति प्रशंसा योग्य है।'

इस संस्करणकी विशेषताएँ निम्न हैं:—

१. इसका प्राक्कथन बहुश्रुत विद्वान् और स्याद्वादमहाविद्यालय काशीके प्रधानाध्यापक पण्डित कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने लिखा है जो विचारपूर्ण है।

२. इसमें ५४पेजकी प्रस्तावना, ७ परिशिष्ट, मूलग्रन्थको शुद्ध करके उसमें पैराग्राफ, उत्थानिकावाक्य, विषयविभाजन (ईश्वरपरीक्षा आदि) जैसा निर्माणकार्य किया गया है। तात्पर्य यह कि पिछले मुद्रित दोनों संस्करणोंसे इस संस्करणको अधिक लोकप्रिय और उपयोगी बनानेका प्रयत्न किया गया है।

'व्यवस्थापक' वीरसेवामन्दिर, ७/३३ दरियागंज, देहली।

ॐ अर्हम्



वार्षिक मूल्य ५)

एक किरणका मूल्य ।)

वर्ष १० | वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम), ७/३३ दरियागंज, देहली | दिसम्बर
किरण ६ | पौषशुक्ल, वीरनिर्वाण-संवत् २४७६, विक्रम-संवत् २००६ | १९४९

विद्यानन्द-प्रशस्ति

विद्यानन्द हिमाचल-मुख-पद्म विनिर्गता सुगम्भीरा ।
आप्तपरीक्षा-टीका गङ्गावच्चिरतरं जयतु ॥ १ ॥
भास्वद्भासिरदोषा कुमति-मत-ध्वान्त-भेदने पट्वी ।
आप्तपरीक्षाऽलंकृतिराऽऽचन्द्रार्कं चिरं जयतु ॥ २ ॥
स जयतु विद्यानन्दो रत्नत्रय-भूरिभूषणः सततम् ।
तत्त्वार्थार्णव-तरणे सदुपायः प्रकटितो येन ॥ ३ ॥

—आप्तपरीक्षा-टीकान्तगता

'विद्यानन्दरूप हिमाचलके मुखरूप पद्मद्रहसे निकली हुई सुन्दर-सातिशय गम्भीर जो आप्तपरीक्षाकी टीका है वह गंगाकी तरह चिरकाल तक जयवन्त होवे—लोकमें अपने प्रभावादिको विस्तृत करे ॥ सूर्यके समान दीप्तिमती और कुमतियों तथा कुमतोंके अन्धकारको विनष्ट करनेमें समर्थ जो आप्तपरीक्षाकी निर्दोष अलंकृति—उसे सुभूषित करनेवाली स्वोपज्ञ टीका है वह सूर्य-चन्द्रमाकी अवस्थिति पर्यन्त चिर-जयवती होवे ॥ (और) जो रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र) रूप बहुत बहुमूल्य आभूषणोंसे निरन्तर भूषित हैं और जिन्होंने तत्त्वार्थरूप समुद्रको तिरनेका उसके पार पहुँचनेका-समीचीन उपाय (अपने आप्तपरीक्षा-तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकादि ग्रन्थोंद्वारा) प्रकट किया है वे श्रीविद्यानन्द आचार्य सदा जयवन्त हों—लोकहृदयमें अपने तत्त्वज्ञानका सिक्का बराबर जमाए रहें।'

सिद्धसेन-दृष्टिप्रबोध-द्वात्रिंशिका

[विंशतितमी द्वात्रिंशिका]

——:——

उत्पाद विगम-ध्रौव्य-द्रव्य-पर्याय-संग्रहम् । कृत्स्नं श्रीवर्द्धमानस्य वर्द्धमास्य शासनम् ॥१॥
अपायापोहतोऽन्योऽन्यं हन्यतो वा तदेव वा । ग्रन्थार्थः स्वपराऽन्वर्थो विध्युपाय-विकल्पतः ॥२॥
वार्क्षचिकित्सितमानाध्वमणिरागादिभक्तिवत् । नानात्वैक्योभयाऽनुक्तिविषमं सममर्थतः ॥३॥
प्रमाणान्यनुवर्तन्ते विषये सर्ववादिनाम् । संज्ञाऽभिप्राय-भेदात्तु विवदन्ति तपस्विनः ॥४॥
न यथार्थ-परिज्ञानाद्दोषशान्तिन वाऽन्यथा । प्रकोप-सम-सामान्याव्यभिचाराच्च तद्वताम् ॥५॥
येन दोषा नि(वि)रुध्यन्ते ज्ञानेनाचरितेन वा । स सोऽभ्युपायस्तच्छान्तावनासक्तमवेद्यत् ॥६॥
यथाप्रकारा यावन्तः संसारावेशहेतवः । तावन्तस्तद्विपर्यासा निर्वाणाऽवाप्ति-हेतवः ॥७॥
सामान्यं सर्वसत्त्वानामवश्यं जन्मकारणम् । शरीरेन्द्रियभोगानामविशिष्टं विशिष्यते ॥८॥
विकल्प-प्रभवं जन्म सामान्यं नाऽतिवर्तते । हेतावपचिते शेषं किं परिज्ञाय वा न वा ॥९॥
गुरु-लाघव-संदिग्ध-विपरीताः प्रतिक्रियाः । लघ्वसंदिग्धविज्ञानं त्वास्य द्विष्टस्य सिध्यति ॥१०॥
द्रव्यसत्त्वादिनानात्वं नानीत सममात्मनः । विषयेन्द्रियचेतस्यमनेनाहमनीत वा ॥११॥
बौद्धमध्रुवमद्रव्यसांख्यं काणादमन्यथा । लोकः पुरुष इत्येतदवक्तव्यं शरीरवत ॥१२॥
निमित्तेश्वर-कर्तारः प्रकाश-नृप-शिल्पिवत् । यथेष्ट-साधनोत्कर्ष-विशेषापायवृत्तयः ॥१३॥
स्वभावोऽर्थोऽन्तराभावा नियमा व्यभिचारतः । इष्टतोऽन्यदनेनोक्ता देश-काल-समाधयः ॥१४॥
लक्ष्य-लक्षणयोरेवं देशधम-विकल्पतः । सदादि-प्रतिभेदाच्च निह्नव-प्रतियोजनाः ॥१५॥
चैतन्य-बुद्धयोर्विच्छेदः परिणामेष्वसंश्रयात् । न विकल्पान्तरंभोक्तुरनेनोक्तं सुखादिवत् ॥१६॥
शरीरविभुता तुल्यमानन्त्यगुणदोषतः (वत्) । संसार-प्राप्त्यभिव्यक्तिर्विकल्पाः कारणात्मनः ॥१७॥
गुण-प्रचय-संस्कार-वृत्तयः कर्मवृत्तयः । अनाद्यनन्तरावश्ययथा चेतरयोगतः ॥१८॥
भूतप्रत्येकसंयोग(घात)सामान्यार्थान्तरात्मकम् । पंचधा बहुधा वाऽपि कार्यादेकादिवे(चे)न्द्रियम् ॥१९॥
जाति-प्रत्यय-सामान्य-चर-स्थिर-चरन्मनः । उभयं विभवा देहलोकयोरनुगामि च ॥२०॥
रूपादिमात्रं द्रव्यं च पिंडं एकविकल्पवान् । समस्त-व्यस्त-वृत्तिभ्यामर्थे-परिणतेरपि ॥२१॥
सदसत्सदसन्नेति कार्य-कारण-संभवः । अनित्य-नित्य-शून्यत्वे शेषमित्युपपादितम् ॥२२॥
अवस्थितं जगत्सत्वाद्धात्वसत्प्रक्रियात्मकम् । धर्माऽधर्मस्वभावेष्टिपुरुषार्थ-निमित्ततः ॥२३॥
समग्र-विकलादेश-त्यागाऽभिप्राय-तत्कथा । सामान्याव्यासतः शैद्यर्यविपक्षाचार्य-शक्तितः ॥२४॥
द्वीप-वेलोदधि-व्यास-संख्या-भोग-विभूतयः । स्वर्गापायानुभागाश्च सनिमित्ता यथेष्टतः ॥२५॥
ज्ञानाऽऽचारविशेषाभ्यामाचारा द्विध्रयते जनः । स नाऽस्त्युत्तान गंभीरः सुख-दुःखात्ययो हितः ॥२६॥
दृष्टान्तश्रविकैर्लोकः परिपक्ति शुभाऽशुभैः । सुखार्थ-संशय-प्राप्ति-प्रतिषेध-महाफलैः ॥२७॥
ज्ञानात्कृत्स्नेष्टधर्मात्मपरमेश्वरतः शिवम् । कर्मोपयोगवैराग्यं धाम-प्राप्तिश्च योगतः ॥२८॥
पृथक्सहाविनिर्भागैर्दया-वैराग्य-संविदाम । ऐश्वर्य-मोक्षोपशम-समावेश-विकल्पतः ॥२९॥
आगमाऽभ्युदयज्ञान-योगाध्याहार-धारणा । भावना-प्राणसंरोध-कृच्छ्रयत्न-व्रतानि च ॥३०॥
दोषव्यक्ति-प्रसंख्यान-विषयाऽतिशयात्ययैः । परमैश्वर्यसंयोग-ज्ञानैश्वर्यं विकल्पयेत ॥३१॥
प्रसिद्ध-प्राविभास्येति कामतस्तीर्थ-भक्तयः । ननु श्रीवर्द्धमानस्य वाचो युक्तः परस्परम् ॥३२॥

इति श्रीसिद्धसेनाचार्यप्रणीत-दृष्टिप्रबोधद्वात्रिंशिका ।

स्याद्वाद

[ले० पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य]

[न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमारजी भारतीय दर्शनशास्त्रके अधिकारी और प्रतिष्ठित विद्वान् तथा लेखक हैं। हिन्दूविश्वविद्यालय काशीमें आप बौद्धदर्शनके प्राध्यापक (प्रोफेसर) तथा जैनदर्शनके अनेक ग्रन्थों के सम्पादक हैं। आपको विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावनाएँ भारतीय दर्शनशास्त्रके जिज्ञासुओं और विद्वानोंके लिये पढ़ने योग्य हैं। न्यायविनिश्चयविवरणकी, जो हालमें भारतीयज्ञानपीठ काशीसे मुद्रित हुआ है, प्रस्तावनामें जैन-दर्शनके स्याद्वाद और अनेकान्तवादपर विस्तृत तथा महत्वका आपने विचार किया है और उन विद्वानोंकी भूल-भ्रान्तियोंको दूर किया है जिन्होंने अपने दर्शनग्रन्थोंमें जैनदर्शनके स्याद्वाद और अनेकान्तवादको गलत रूपमें समझा तथा उल्लेखित किया है। प्रस्तुत लेखमें ऐसे ही विद्वानोंकी भूलोंका निरसन किया गया है और जिसे वहाँसे उद्धृत करके यहां दिया जारहा है। पाठकों तथा संबद्ध दर्शनग्रन्थके लेखक विद्वानोंसे अनुरोध है कि वे इस लेखको तथा इतः पूर्व प्रकाशित 'संजयवेलट्ठिपुत्त और स्याद्वाद' शीर्षक हमारे लेखको अवश्य पढ़ें।

—स० सम्पादक]

जैनदर्शनने सामान्यरूपसे यावत् सत्को परिणामीनित्य माना है। प्रत्येक सत् अनन्तधर्मात्मक है। उसका पूर्णरूप वचनोंके अगोचर है। अनेकान्त अर्थका निर्दुष्टरूपसे कथन करनेवाली भाषा स्याद्वाद रूप होती है। उसमें जिस धर्मका निरूपण होता है उसके साथ 'स्यात्' शब्द इसलिये लगा दिया जाता है जिससे पूरी वस्तु उसी धर्मरूप न समझ ली जाय। अविवक्षित शेष धर्मोंका अस्तित्व भी उसमें है, यह प्रतिपादन 'स्यात्' शब्दसे होता है।

स्याद्वादका अर्थ है—स्यात्-अमुक निश्चित अपेक्षासे। अमुक निश्चित अपेक्षासे घट अस्ति ही है और अमुक निश्चित अपेक्षासे घट नास्ति ही है। स्यात्का अर्थ न तो शायद है न सम्भवतः और न कदाचित् ही। 'स्यात्' शब्द सुनिश्चित दृष्टिकोणका प्रतीक है। इस शब्दके अर्थको पुराने मतवादी दार्शनिकोंने ईमानदारीसे समझनेका प्रयास तो नहीं ही किया था किन्तु आज भी वैज्ञानिक दृष्टिकी दुहाई देनेवाले दर्शनलेखक उसी भ्रान्तपरम्पराका पोषण करते आते हैं।

स्याद्वाद—सुनयका निरूपण करनेवाली भाषा पद्धति है। 'स्यात्' शब्द यह निश्चितरूपसे बताता है कि वस्तु केवल इसी धर्मवाली ही नहीं है उसमें इसके अतिरिक्त भी धर्म विद्यमान हैं। तात्पर्य यह कि—अविवक्षित शेष धर्मोंका प्रतिनिधित्व 'स्यात्' शब्द करता है। 'रूपवान् घटः' यह वाक्य भी अपने भीतर 'स्यात्' शब्दको छिपाये हुए है। इसका अर्थ है कि 'स्यात् रूपवान् घटः' अर्थात् चक्षु इन्द्रिय-के द्वारा ग्राह्य होनेसे या रूप गुणकी सत्ता होनेसे घड़ा रूपवान् है, पर रूपवान् ही नहीं है उसमें रस, गन्ध, स्पर्श आदि अनेक गुण, छोटा बड़ा आदि अनेक धर्म विद्यमान हैं। इन अविवक्षित गुण-धर्मोंके अस्तित्वकी रक्षा करनेवाला 'स्यात्' शब्द है। 'स्यात्' का अर्थ शायद या सम्भावना नहीं है किन्तु निश्चय है। अर्थात् घड़ेमें रूपके अस्तित्वकी सूचना तो 'रूपवान्' शब्द दे ही रहा है पर उन उपेक्षित शेष धर्मोंके अस्तित्वकी सूचना 'स्यात्' शब्दसे होती है। सारांश यह कि 'स्यात्' शब्द 'रूपवान्' के साथ नहीं जुटता है, किन्तु अविवक्षित धर्मोंके साथ। वह

'रूपवान्' को पूरी वस्तुपर अधिकार जमानेसे रोकता है और कह देता है कि वस्तु बहुत बड़ी है उसमें रूप भी एक है। ऐसे अनन्त गुण-धर्म वस्तुमें लहरा रहे हैं। अभी रूपकी विवक्षा या दृष्टि होनेसे वह सामने है या शब्दसे उच्चरित हो रहा है सो वह मुख्य हो सकता है पर वही सब कुछ नहीं है। दूसरे क्षणमें रसकी मुख्यता होनेपर रूप गौण हो जायगा और वह अविवक्षित शेष धर्मोंकी राशिमें शामिल हो जायगा।

'स्यात्' शब्द एक प्रहरी है, जो उच्चरित धर्मको इधर-उधर नहीं जाने देता है। वह उन अविवक्षित धर्मोंका संरक्षक है। इसलिये 'रूपवान्' के साथ 'स्यात्' शब्दका अन्वय करके जो लोग घड़ेमें रूपकी भी स्थितिको स्यात्का शायद या संभावना अर्थ करके संदिग्ध बनाना चाहते हैं वे भ्रममें हैं। इसी तरह 'स्यादस्ति घटः' वाक्यमें 'घटः अस्ति' यह अस्तित्व अंश घटमें सुनिश्चित रूपसे विद्यमान है। 'स्यात्' शब्द उस अस्तित्वकी स्थिति कमजोर नहीं बनाता किन्तु उसकी वास्तविक आंशिक स्थितिकी सूचना देकर अन्य नास्ति आदि धर्मोंके सद्भावका प्रतिनिधित्व करता है। सारांश यह कि 'स्यात्' पद एक स्वतंत्र पद है जो वस्तुके शेषांशका प्रतिनिधित्व करता है। उसे डर है कि कहीं 'अस्ति' नामका धर्म जिसे शब्दसे उच्चरित होनेके कारण प्रमुखता मिली है पूरी वस्तुको न हड़प जाय, अपने अन्य नास्ति आदि सहयोगियोंके स्थानको समाप्त न कर जाय। इसलिये वह प्रतिवाक्यमें चेतावनी देता रहता है कि भाई अस्ति, तुम वस्तुके एक अंश हो, तुम अपने अन्य नास्ति आदि भाइयोंके हकको हड़पनेकी चेष्टा नहीं करना। इस भयका कारण है—'नित्य ही है' 'अनित्य ही है' आदि अंशवाक्योंने अपना पूर्ण अधिकार वस्तुपर जमाकर अनधिकार चेष्टा की है और जगत्‌में अनेक तरहसे वितण्डा और संघर्ष उत्पन्न किये हैं। इसके फलस्वरूप पदार्थके साथ अन्याय हुआ ही है, पर इस वाद-प्रतिवादने अनेक मतवादोंकी सृष्टि करके अहंकार, हिंसा, संघर्ष, अनुदारता, परमतासहिष्णुता आदिसे विश्वको अशांत और आकुलतामय बना दिया है। 'स्यात्' शब्द वाक्यके उस जहरको निकाल देता है जिससे अहकारका सर्जन होता है और वस्तुके अन्य धर्मों-के अस्तित्वसे इनकार करके पदार्थके साथ अन्याय होता है।

स्यात्' शब्द एक निश्चित अपेक्षाको द्योतन करके जहाँ 'अस्तित्व' धर्मकी स्थिति सुदृढ़ सहेतुक बनाता है वहाँ वह उसकी उस सर्वहरा प्रवृत्तिको भी नष्ट करता है जिससे वह पूरी वस्तुका मालिक बनना चाहता है। वह न्यायाधीशकी तरह तुरन्त कह देता है कि—हे अस्ति! तुम अपने अधिकारकी सीमा को समझो। स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी दृष्टिसे जिस प्रकार तुम घटमें रहते हो उसी तरह परद्रव्यादिकी अपेक्षा 'नास्ति' नामका तुम्हारा भाई भी उसी घटमें है। इसी प्रकार घटका परिवार बहुत बड़ा है। अभी तुम्हारा नाम लेकर पुकारा गया है इसका इतना ही अर्थ है कि इस समय तुमसे काम है, तुम्हारा प्रयोजन है, तुम्हारी विवक्षा है। अतः इस समय तुम मुख्य हो। पर इसका अर्थ यह कदापि नहीं है जो तुम अपने समानाधिकारी भाइयोंके सद्भावको भी नष्ट करनेका दुष्प्रयास करो। वास्तविक बात तो यह है कि यदि परकी अपेक्षा 'नास्ति' धर्म न हो तो जिस घड़ेमें तुम रहते हो वह घड़ा घड़ा ही न रहेगा कपड़ा आदि पररूप होजायगा। अतः जैसी तुम्हारी स्थिति है वैसी ही पररूपकी अपेक्षा 'नास्ति'आदि धर्मकी भी स्थिति है। तुम उनकी हिंसा न कर सको इसके लिये अहिंसाका प्रतीक 'स्यात्' शब्द तुमसे पहले ही वाक्यमें लगा दिया जाता है। भाई अस्ति, यह तुम्हारा दोष नहीं है। तुम तो बराबर अपने नास्ति आदि अनन्य भाइयोंको वस्तुमें रहने देते हो और बड़े प्रेमसे सबके सब अनन्त धर्मभाई रहते हो, पर इन वस्तुदर्शियोंकी दृष्टिको क्या कहा जाय। इनकी दृष्टि ही एकाङ्गी है। ये शब्दके द्वारा तुममेंसे किसी एक 'अस्ति' आदिको मुख्य करके उसकी स्थिति इतनी अहङ्कारपूर्ण कर देना चाहते हैं जिससे वह 'अस्ति'

अन्यका निराकरण करने लग जाय। बस, 'स्यात्' शब्द एक अञ्जन है जो उनकी दृष्टिको विकृत नहीं होने देता और उसे निर्मल तथा पूर्णदर्शी बनाता है। इस अविवक्षितसंरक्षक, दृष्टिविषहारी, शब्दको सुधारूप बनानेवाले, सचेतक प्रहरी, अहिंसक भावनाके प्रतीक, जीवन्त न्यायरूप, सुनिश्चित अपेक्षा-द्योतक 'स्यात्' शब्दके साथ हमारे दार्शनिकोंने न्याय तो किया ही नहीं किन्तु उसके स्वरूपका 'शायद' संभव है, कदाचित्' जैसे भ्रष्ट पर्यायोंसे विकृत करनेका दुष्ट प्रयत्न अवश्य किया है तथा किया जा रहा है।

सबसे थोथा तर्क तो यह दिया जाता है कि घड़ा जब अस्ति है तो नास्ति कैसे हो सकता है, घड़ा जब एक है तो अनेक कैसे हो सकता है, यह तो प्रत्यक्ष विरोध है, पर विचार तो करो घड़ा घड़ा ही है कपड़ा नहीं, कुरसी नहीं, टेबिल नहीं, गाय नहीं, घोड़ा नहीं, तात्पर्य यह कि वह घटभिन्न अनन्त पदार्थरूप नहीं है। तो यह कहनेमे आपको क्यों संकोच होता है कि घड़ा अपने स्वरूपसे 'अस्ति' है घटभिन्न पररूपोंसे नास्ति है। इस घड़ेमें अनन्त पररूपोंकी अपेक्षा 'नास्तित्व' धर्म है, नहीं तो दुनियांमें कोई शक्ति घड़ेको कपड़ा आदि बननेसे नहीं रोक सकती। यह 'नास्ति' धर्म ही घड़ेको घड़ेरूपमें कायम रखनेका हेतु है। इसी 'नास्ति' धर्मकी सूचना 'अस्ति' के प्रयोगके समय 'स्यात्' शब्द दे देता है। इसी तरह घड़ा एक है। पर वही घड़ा रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, छोटा, बड़ा, हलका, भारी आदि अनन्त शक्तियोंकी दृष्टिसे अनेक रूपमे दिखाई देता है या नहीं? यह आप स्वयं बतावें। यदि अनेक रूपमें दिखाई देता है तो आपको यह कहनेमें क्यों कष्ट होता है कि 'घड़ाद्रव्य एक है, पर अपने गुण धर्म शक्ति आदिकी दृष्टिसे अनेक है'। कृपा कर सोचिए कि वस्तुमें जब अनेक बिरोधी धर्मोंका प्रत्यक्ष हो ही रहा है और स्वयं वस्तु अनन्त विरोधी धर्मोंका अविरोधी क्रीडा-स्थल है तब हमें उसके स्वरूपको विकृतरूपमें देखनेकी दुर्दृष्टि तो नहीं करनी चाहिये जो 'स्यात्' शब्द वस्तुके इस पूर्णरूप दर्शनकी याद दिलाता है उसे ही हम 'विरोध संशय' जैसी गालियोंसे दुरदुराते हैं, किमाश्चर्यमतः परम्। यहाँ धर्मकीर्तिका यह श्लोकांश ध्यानमें आजाता है—

'यदीयं स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयम्।'

अर्थात्—यदि यह अनेकधर्मरूपता वस्तुको स्वयं पसन्द है, वस्तु स्वयं राजी है उसमें है, तो हम बीचमें काजी बननेवाले कौन? जगत्का एक-एक कण इस अनन्तधर्मताका आकार है। हमें अपनी दृष्टि निर्मल और विशाल बनानेकी आवश्यकता है। वस्तुमें कोई विरोध नहीं है। विरोध हमारी दृष्टिमें है। और इस दृष्टिविरोधकी अमृतौषधि 'स्यात्' शब्द है, जो रोगी को कटु तो जरूर मालूम होती है पर इसके बिना यह दृष्टिविषम-ज्वर उतर भी नहीं सकता।

प्रो. बलदेव उपाध्यायने भारतीय दर्शन (पृ० १५५) में स्याद्वादका अर्थ बताते हुए लिखा है कि—"स्यात् (शायद, सम्भवतः) शब्द अस् धातुके विधिलिङ्के रूपका तिङन्त प्रतिरूपक अव्यय माना जाता है। घड़ेके विषयमें हमारा परामर्श 'स्यादस्ति-संभवतः यह विद्यमान है' इसी रूपमें होना चाहिये।" यहाँ 'स्यात्' शब्दको शायदका पर्यायवाची तो उपाध्यायजी स्वीकार नहीं करना चाहते। इसीलिये वे शायद शब्दको कोष्ठकमें लिखकर भी आगे 'सम्भवतः' शब्दका समर्थन करते है। वैदिक आचार्योंमें शंकराचार्यने शांकरभाष्यमें स्याद्वादको संशयरूप लिखा है इसका संस्कार आज भी कुछ विद्वानोंके माथेमें पड़ा हुआ है और वे उस संस्कारवश 'स्यात्' का अर्थ शायद लिख ही जाते हैं। जब यह स्पष्टरूपसे अवधारण करके कहा जाता है कि—'घटः स्यादस्ति' अर्थात् घड़ा अपने स्वरूपसे है ही। 'घटः स्यान्नास्ति'—घट स्वभिन्न स्वरूपसे नहीं ही है, तब संशयको स्थान कहाँ है? 'स्यात्' शब्द जिस धर्मका प्रतिपादन किया जारहा है उससे भिन्न अन्य धर्मोंके सद्भावको सूचित करता है। वह प्रतिसमय श्रोताको यह सूचना देना चाहता है कि वक्ताके शब्दोंसे वस्तुके जिस स्वरूपका निरूपण हो रहा है

वस्तु उतनी ही नहीं है उसमें अन्य धर्म भी विद्यमान हैं। जब कि संशय और शायदमें एक भी धर्म निश्चित नहीं होता। जैनके अनेकान्तमें अनन्त धर्म निश्चित है, उनके दृष्टिकोण निश्चित हैं तब संशय और शायदकी उस भ्रान्त परम्पराको आज भी अपनेको तटस्थ माननेवाले विद्वान् भी चलाए जाते है यह रूढ़िवादका ही माहात्म्य है।

इसी संस्कारवश प्रो. बलदेवजी स्यात्के पर्यायवाचियोंमें शायद शब्दको लिखकर (पृ० १५३) जैनदर्शनकी समीक्षा करते समय शंकराचार्यकी बकालत इन शब्दोंमें करते है कि—"यह निश्चित ही है कि इसी समन्वयकी दृष्टिसे वह पदार्थोंके विभिन्न रूपों का समीकरण करता जाता तो समग्र विश्वमें अनुस्यूत परमतत्त्व तक अवश्य ही पहुँच जाता। इसी दृष्टिको ध्यानमें रखकर शंकराचार्यने इस 'स्याद्वाद' का मार्मिक अपने शारीरिक भाष्य (२, २, ३३) में प्रबल युक्तियोंके सहारे किया है।" पर उपाध्याय जी, जब आप स्यात्का अर्थ निश्चित रूपसे 'संशय' नहीं मानते तब शंकराचार्यके खण्डनका मार्मिकत्व क्या रह जाता है? आप कृपाकर स्व. महामहोपाध्याय डा० गंगानाथझाके इन वाक्योंको देखें—"जब से मैंने शंकराचार्यद्वारा जैनसिद्धान्तका खण्डन पढ़ा है तबसे मुझे विश्वास हुआ है कि इस सिद्धान्तमें बहुत कुछ है जिसे वेदान्तके आचार्योंने नहीं समझा।" श्री फणिभूषण अधिकारी तो और स्पष्ट लिखते है कि—"जैनधर्मके स्याद्वाद-सिद्धान्त को जितना गलत समझा गया है उतना किसी अन्य सिद्धान्तको नहीं। यहाँ तक कि शंकराचार्य भी इस दोषसे मुक्त नहीं हैं। उन्होंने भी इस सिद्धान्तके प्रति अन्याय किया है। यह बात अल्पज्ञ पुरुषोंके लिये क्षम्य हो सकती थी। किन्तु यदि मुझे कहनेका अधिकार है तो मैं भारतके इस महान् विद्वान्के लिये तो अक्षम्य ही कहूँगा, यद्यपि मैं इस महर्षिको अतीव आदरकी दृष्टिसे देखता हूँ। ऐसा जान पड़ता है उन्होंने इस धर्मके दर्शनशास्त्रके मूल ग्रन्थोंके अध्ययनकी परवाह नहीं की।"

जैन दर्शन स्याद्वाद सिद्धान्तके अनुसार वस्तुस्थितिके आधारसे समन्वय करता है। जो धर्म वस्तुमें विद्यमान है उन्हींका समन्वय हो सकता है। जैनदर्शनको आप वास्तव बहुत्ववादी लिख आये है। अनेक स्वतंत्र सत्व्यवहारके लिये सद्रूपसे एक कहे जायँ पर वह काल्पनिक एकत्व वस्तु नहीं हो सकता? यह कैसे संभव है कि चेतन और अचेतन दोनों ही एक सत्के प्रातिभासिक विवर्त हों।

जिस काल्पनिक समन्वयकी ओर उपाध्यायजी संकेत करते है उस ओर भी जैन दार्शनिकोंने प्रारम्भसे दृष्टिपात किया है। परमसंग्रहनयकी दृष्टिसे सद्रूपसे यावत् चेतन अचेतन द्रव्योंका संग्रह करके 'एकं सत्' इस शब्दव्यवहारके होनेमें जैन दार्शनिकोंको कोई आपत्ति नहीं है। सैकड़ों काल्पनिक व्यवहार होते हैं, पर इससे मौलिक तत्त्वव्यवस्था नहीं की जा सकती? एक देश या राष्ट्र अपनेमें क्या वस्तु है? समय समयपर होनेवाली बुद्धिगत दैशिक एकताके सिवाय एक देश या एक राष्ट्रका स्वतंत्र अस्तित्व ही क्या है? अस्तित्व जुदा जुदा भूखण्डोंका अपना है। उसमें व्यवहारकी सुविधाके लिये प्रान्त और देश संज्ञाएं जैसे काल्पनिक है व्यवहारसत्य है उसी तरह एक सत् या एक ब्रह्म काल्पनिक सत् होकर व्यवहारसत्य बन सकता है और कल्पनाकी दौड़का चरम-बिन्दु भी हो सकता है पर उसका तत्त्वसत् या परमार्थसत् होना नितान्त असम्भव है। आज विज्ञान एटम तकका विश्लेषण कर चुका है और सब मौलिक अणुओंकी पृथक् सत्ता स्वीकार करता है। उनमें अभेद और इतना बड़ा अभेद जिसमें चेतन अचेतन मूर्त अमूर्त आदि सभी लीन हो जायँ कल्पनासाम्राज्यकी अन्तिमकोटि है और इस कल्पनाकोटिको परमार्थसत् न माननेके कारण यदि जैनदर्शनका स्याद्वादसिद्धान्त आपको मूलभूत तत्त्वके स्वरूप समझानेमे नितान्त असमर्थ प्रतीत होता है तो हो, पर वह वस्तुसीमाका उल्लंघन नहीं कर सकता और न कल्पनालोककी लम्बी दौड़ ही लगा सकता है।

स्यात् शब्दको उपाध्यायजी संशयका पर्यायवाची नहीं मानते यह तो प्रायः निश्चित है क्योंकि आप स्वयं लिखते हैं पृ० १७३) कि—"यह अनेकान्तवाद संशयवादका रूपान्तर नहीं है," पर आप उसे संभववाद अवश्य कहना चाहते हैं। परन्तु 'स्यात्' का अर्थ 'संभवतः' करना भी न्यायसंगत नहीं है क्योंकि संभावना संशयमें जो कोटियाँ उपस्थित होती हैं उनकी अर्धनिश्चितताकी ओर संकेत मात्र है, निश्चय इससे भिन्न ही है। उपाध्यायजी स्याद्वादको संशयवाद और निश्चयवादके बीच संभावनावादकी जगह रखना चाहते हैं जो एक अनध्यवसायात्मक अनिश्चयके समान है। परन्तु जब स्याद्वाद स्पष्टरूपसे डंकेकी चोट यह कह रहा है कि—घड़ा स्यादस्ति अर्थात् अपने स्वरूप, अपने क्षेत्र, अपने काल और अपने आकार इस स्वचतुष्टयकी अपेक्षा है ही यह निश्चित अवधारण है। घड़ा स्वसे भिन्न यावत् पर–पदार्थोंकी दृष्टिसे नहीं हो है यह भी निश्चित अवधारण है। इस तरह जब दोनों धर्मोंका अपने अपने दृष्टिकोणसे घड़ा अविरोधी आधार है तब घड़ेको हम उभय दृष्टिसे अस्ति-नास्तिरूप भी निश्चित ही कहते हैं। पर शब्दमें यह सामर्थ्य नहीं है कि घटके पूर्णरूपको जिसमें अस्ति-नास्ति जैसे एक-अनेक, नित्य-अनित्य आदि अनेकों युगलधर्म लहरा रहे हैं—कह सके, अतः समग्रभावसे घड़ा अवक्तव्य है। इस प्रकार जब स्याद्वाद सुनिश्चित दृष्टिकोणोंसे तत्तत् धर्मोके वास्तविक निश्चयकी घोषणा करता है तब इसे संभावनावादमें कैसे रखा जा सकता है? स्यात् शब्दके साथ ही एवकार लगा रहता है जो निर्दिष्ट धर्मका अवधारण सूचित करता है तथा स्यात् शब्द उस निर्दिष्ट धर्मसे अतिरिक्त अन्य धर्मोंकी निश्चित स्थितिकी सूचना देता है। जिससे श्रोता यह न समझ ले कि वस्तु इसी धर्मरूप है। यह स्याद्वाद कल्पितधर्मों तक व्यवहारके लिये भले ही पहुँच जाय पर वस्तव्यवस्थाके लिये वस्तुकी सीमाको नहीं लाँघता। अतः न यह संशयवाद है, न अनिश्चयवाद और न संभावनावाद ही, किन्तु खरा अपेक्षा-प्रयुक्त निश्चयवाद है।

इसी तरह डा० देवराजजीका पूर्वी और पश्चिमी दर्शन (पृष्ठ ६५) में किया गया स्यात् शब्दका 'कदाचित्' अनुवाद भी भ्रामक है। कदाचित् शब्द कालापेक्ष है, इसका सीधा अर्थ है किसी समय। और प्रचलित अर्थमें यह सशयकी ओर ही झुकाता है। स्यात् का प्राचीन अर्थ है कथंचित्—अर्थात् किसी निश्चित प्रकारसे, स्पष्ट शब्दोंमें अमुक निश्चित दृष्टिकोणसे। इस प्रकार अपेक्षा-प्रयुक्त निश्चयवाद ही स्याद्वादका अभ्रान्त वाच्यार्थ है।

महापडित राहुलसांकृत्यायनने तथा इतः पूर्व प्रो० जैकोबी आदिने स्याद्वादकी उत्पत्तिको संजय वेलट्ठिपुत्तके मतसे बतानेका प्रयत्न किया है। राहुलजीने दर्शनदिग्दर्शन (पृ० ४९६) में लिखा है कि—"आधुनिक जैनदर्शनका आधार स्यादाद है। जो मालूम होता है संजयवेलट्ठिपुत्तके चार अंगवाले अनेकान्तवादको लेकर उसे सात अंगवाला किया गया है। संजयने तत्त्वों (परलोक देवता) के बारेमें कुछ भी निश्चयात्मक रूपसे कहनेसे इन्कार करते हुए उस इन्कारको चार प्रकार कहा है—

१ है? नहीं कह सकता।

२ नहीं है? नहीं कह सकता।

३ है भी और नहीं भी? नहीं कह सकता।

४ न है और न नहीं है? नहीं कह सकता।

इसकी तुलना कीजिए जैनोंके सात प्रकारके स्याद्वादसे—

१ है? हो सकता है (स्यादस्ति)

२ नहीं है? नहीं भी होसकता है (स्यान्नास्ति)

३ है भी और नहीं भी? है भी और नहीं भी हो सकता (स्यादस्ति च नास्ति च)।

उक्त तीनों उत्तर क्या कहे जा सकते हैं (=वक्तव्य हैं)? इसका उत्तर जैन 'नहीं' में देते हैं—

४ स्याद् (हो सकता है) क्या यह कहा जा

सकता (=वक्तव्य) है? नहीं, स्याद् अ-वक्तव्य है।

५ 'स्यादस्ति' क्या यह वक्तव्य है? नहीं, 'स्याद् अस्ति' अवक्तव्य है।

६ 'स्याद् नास्ति' क्या यह वक्तव्य है? नहीं, 'स्याद् नास्ति' अवक्तव्य है।

७ 'स्याद् अस्ति च नास्ति च' क्या यह वक्तव्य है? नहीं, 'स्यादस्ति च नास्ति च' अवक्तव्य है।

दोनोंके मिलानेसे मालूम होगा कि जैनोंने संजयके पहिलेवाले तीन वाक्यों (प्रश्न और उत्तर दोनों) को अलग करके अपने स्यद्वादकी छह भंगियाँ बनाई हैं और उसके चौथे वाक्य 'न है और न नहीं है' को जोड़कर 'स्याद्' भी अवक्तव्य है, यह सातवाँ भंग तैयार कर अपनी सप्तभंगी पूरी की।'

इस प्रकार एक भी सिद्धान्त (=वाद) की स्थापना न करना जो कि संजयका वाद था, उसीको संजयके अनुयायिओंके लुप्त होजानेपर जैनोंने अपना लिया और उसकी चतुर्भंगी न्यायको सप्तभंगीमें परिणत कर दिया।"

राहुलजीने उक्त सन्दर्भमें सप्तभंगी और स्याद्वादके स्वरूपको न समझ कर केवल शब्दसाम्यमें एक नये मतकी सृष्टि की है। यह तो ऐसा ही है जैसे कि चोरसे "क्या तुम अमुक जगह गये थे? यह पूछने पर वह कहे कि नहीं कह सकता कि गया था" और जज अन्य प्रमाणोंसे यह सिद्ध कर दे कि चोर अमुक जगह गया था। तब शब्दसाम्य देखकर यह कहना कि जजका फैसला चोरके बयानसे निकला है।

संजयबेलट्ठिपुत्तके दर्शनका विवेचन स्वयं राहुलजीने (पृ० ४६१) इन शब्दोंमें किया है"यदि आप पूछें—'क्या परलोक है?' तो यदि मैं समझता होऊँ कि परलोक है तो आपको बतलाऊँ कि परलोक है। मैं ऐसा भी नहीं कहता वैसा भी नहीं कहता दूसरी तरहसे भी नहीं कहता। मैं यह भी नहीं कहता कि वह नहीं है। मैं यह भी नहीं कहता कि वह नहीं नहीं है। परलोक नहीं है। परलोक नहीं नहीं है। परलोक है भी और नहीं भी है। परलोक न है और न नहीं है।"

संजयके परलोक, देवता, कर्मफल और मुक्तिके सम्बन्धके ये विचार शतप्रतिशत अनिश्चयवादके हैं। वह स्पष्ट कहता है कि—"यदि मैं जानता होऊँ तो बताऊँ।" संजयको परलोक मुक्ति आदिके स्वरूपका कुछ भी निश्चय नहीं था, इसलिये उसका दर्शन वकील राहुलजीके मानवकी सहज बुद्धिको भ्रममें नहीं डालना चाहता और न कुछ निश्चयकर भ्रान्त धारणाओंकी पुष्टि ही करना चाहता है। तात्पर्य यह कि संजय घोर अनिश्चयवादी था।

बुद्ध और संजय—बुद्धने "लोक नित्य है[1], अनित्य है[2], नित्य-अनित्य है[3], न नित्य न अनित्य है[4]; लोक अन्तवान है[1], नहीं है[2], है नहीं है[3], न है न नहीं है[4]; निर्वाणके बाद तथागत होते है[1], नहीं होते[2], होते-नहीं होते[3], न होते न नहीं होते[4]; जीव शरीरसे भिन्न है[1], जीव शरीरसे भिन्न नहीं है[2] " (माध्यमिकवृत्ति पृ० ४४६) इन चौदह वस्तुओंको अव्याकृत कहा है। मज्झिमनिकाय (२।२।३) में इनकी संख्या दश है। इसमें आदिके दो प्रश्नोंमें तीसरा और चौथा विकल्प नहीं गिना गया है। इनके अव्याकृत होनेका कारण बुद्धने बताया है कि इनके बारेमें कहना सार्थक नहीं, भिक्षुचर्याके लिए उपयोगी नहीं, न यह निर्वेद, निरोध, शान्ति या परमज्ञान, निर्वाणके लिये आवश्यक है। तात्पर्य यह कि बुद्धकी दृष्टिमें इनका जानना मुमुक्षुके लिये आवश्यक नहीं था। दूसरे शब्दोंमें बुद्ध भी संजयकी तरह इनके बारेमें कुछ कहकर मानवकी सहज बुद्धिको भ्रममें नहीं डालना चाहते थे और न भ्रान्त धारणाओंको पुष्ट करना चाहते थे। हाँ, संजय जब अपनी अज्ञानता या अनिश्चयको साफ साफ शब्दोंमें कह देता है कि यदि मैं जानता होऊँ तो बताऊँ, तब बुद्ध अपने जानने न जाननेका उल्लेख न करके उस रहस्यका शिष्योंके लिये अनुपयोगी बताकर अपना पीछा छुड़ा लेते हैं। किसी भी तार्किकका यह प्रश्न अभी तक असमाहित ही रह जाता है कि इस अव्याकृतता और संजयके अनिश्चयवादमें क्या

अन्तर है ? सिवाय इसके कि संजय फक्कड़की तरह खरी बात कह देता है और बुद्ध बड़े आदमियोंकी शालीनताका निर्वाह करते है।

बुद्ध और संजय ही क्या, उस समयके वातावरणमें आत्मा, लोक-परलोक और मुक्तिके स्वरूप-सम्बन्धमें-है (सत्), नहीं (असत्),है-नहीं (सदसत् उभय), न है न नहीं है (अवक्तव्य या अनुभय)। ये चार कोटियाँ गूंज रही थीं। कोई भी प्राश्निक किसी भी तीर्थंकर या आचार्यसे बिना किसी संकोचक अपने प्रश्नको एक साँसमें ही उक्त चार कोटियोंमें विभाजित करके ही पूछता था। जिस प्रकार आज कोई भी प्रश्न मजदूर और पूंजीपति, शोषक और शोष्यके द्वन्द्वकी छायामे ही सामने आता है, उसी प्रकार उस समय आत्मा आदि अतीन्द्रिय पदार्थोंके प्रश्न सत् असत् उभय और अनुभय-अनिर्वचनीय इस चतुष्कोटिमें आवेष्ठित रहते थे। उपनिषद् या ऋग्वेदमे इस चतुष्कोटिके दर्शन होते है। विश्वके स्वरूपके सम्बन्धमें असत्से सत् हुआ ? या सत् से सत् हुआ ? यह सदसत् दोनों रूपसे अनिर्वचनीय है ? इत्यादि प्रश्न उपनिषद् और वेदमे बराबर उपलब्ध होते है ? ऐसी दशामें राहुलजीका स्याद्वादके विषयमें यह फतवा देदेना कि संजयके प्रश्नोंके शब्दोंसे या उसकी चतुर्भंगीको तोड़-मरोड़कर सप्तभंगी बनी—कहां तक उचित है, यह वे स्वयं विचारें। बुद्धके समकालीन जो छह तीर्थिक थे उनमे महावीर निग्गण्ठ नाथपुत्रकी, सवज्ञ और सर्वदर्शीके रूपमे प्रसिद्धि थी। वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी थे या नहीं यह इस समयकी चर्चाका विषय नहीं है, पर वे विशिष्ट तत्त्वविचारक थे और किसी भी प्रश्नको संजयकी तरह अनिश्चय कोटि या विक्षेप* कोटिमें या बुद्धकी तरह अव्याकृत कोटिमे डालने वाले नहीं थे और न शिष्योंकी सहज जिज्ञासाको अनुपयोगिताके भयप्रद चक्करमें डुबा देना चाहते थे। उनका विश्वास था कि संघके पँचमेल व्यक्ति जब तक वस्तुतत्त्वका ठीक निर्णय नहीं कर लेते तब तक उनमें बौद्धिक दृढ़ता और मानसबल नहीं आसकता। वे सदा अपने समानशील अन्य संघके भिक्षुओंके सामने अपनी बौद्धिक दीनताके कारण हतप्रभ रहेंगे और इसका असर उसके जीवन और आचारपर आये बिना न रहेगा। वे अपने शिष्योंको पर्देबन्द पद्मनियोंकी तरह जगतके स्वरूप-विचारकी बाह्य हवासे अपरिचित नहीं रखना थे, किन्तु चाहते थे कि प्रत्येक प्राणी अपनी सहज जिज्ञासा और मननशक्तिको वस्तुके यथार्थ स्वरूपके विचारकी ओर लगावे। न उन्हें बुद्धकी तरह यह भय व्याप्त था कि यदि आत्माके सम्बन्धमें 'है' कहते है तो शाश्वतवाद अर्थात् उपनिषद्वादियोंकी तरह लोग नित्यत्वकी ओर झुक जायेंगे और नहीं कहनेसे उच्छेदवाद अर्थात् चार्वाककी तरह नास्तित्वका प्रसंग प्राप्त होगा। अतः इस प्रश्नको अव्याकृत रखना ही श्रेष्ठ है। वे चाहते थे कि मौजूद-तर्कोंका और संशयोंका समाधान वस्तुस्थितिके आधारसे होना ही चाहिए। अतः उन्होंने वस्तुस्वरूपका अनुभव कर यह बताया कि जगतका प्रत्येक सत् चाहे वह चेतनजातीय हो या अचेतनजातीय, परिवर्तनशील है। वह निसर्गतः प्रतिक्षण परिवर्तित होता रहता है। उसकी पर्याय बदलती रहती है। उसका परिणमन कभी सदृश भी होता है कभी विसदृश भी। पर परिणमनसामान्यके प्रभावसे कोई भी अछूता नहीं रहता। यह एक मौलिक नियम है कि किसी भी सत्का विश्वसे सर्वथा उच्छेद नहीं हो सकता, यह परिवर्तित होकर भी अपनी मौलिकता या सत्ताको नहीं खो सकता। एक परमाणु है वह हाइड्रोजन बन जाय, जल बन जाय, भाप बन जाय, फिर पानी हो जाय, पृथ्वी बन जाय और अनन्त आकृतियों या पर्यायोंको धारण करले, पर अपने द्रव्यत्व या मौलिकत्वको नहीं खो सकता। किसीकी ताकत नहीं जो उस परमाणुकी हस्ती या अस्तित्वको मिटा सके। तात्पर्य यह कि

* प्रो० धर्मानन्द कोसाम्बीने संजयके वादको विक्षेपवाद संज्ञा दी है। देखो, भारतीय संस्कृति और अहिंसा पृष्ठ ४७।

जगत्‌में जितने 'सत्' है उतने बने रहेंगे। उनमेसे एक भी कम नहीं हो सकता, एक दूसरेमें बिलीन नहीं हो सकता। इसी तरह न कोई नया 'सत्' उत्पन्न हो सकता है। जितने हैं उनका ही आपसी संयोग वियोगोंके आधारसे यह विश्व जगत् (*गच्छतीति जगत् अर्थात् नाना रूपोंको प्राप्त होना*) बनता रहता है।

तात्पर्य यह कि—विश्वमें जितने सत् है उनमेंसे न तो एक कम हो सकता है और न एक बढ़ सकता है। अनन्त जड परमाणु, अनन्त आत्माएं, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाश और असंख्य कालाणु इतने सत् हैं। इनमें धर्म, अधर्म, आकाश और काल अपने स्वाभाविकरूपमें सदा विद्यमान रहते हैं उनका विलक्षण परिणमन नहीं होता। इसका अर्थ यह नहीं कि ये कूटस्थ नित्य हैं किन्तु इनका प्रतिक्षण जो परिणमन होता है वह सदृश स्वाभाविक परिणमन ही होता है। आत्मा और पुद्‌गल ये दो द्रव्य एक दूसरेको प्रभावित करते हैं। जिस समय आत्मा शुद्ध हो जाता है उस समय वह भी अपने प्रतिक्षण भावी स्वाभाविक परिणमनका ही स्वामी रहता है। उसमें विलक्षण परिणति नहीं होती। जब तक आत्मा अशुद्ध है तब तक ही इसके परिणमनपर सजातीय जीवान्तरका और विजातीय पुद्‌गलका प्रभाव आनेसे विलक्षणता आती है। इसकी नानारूपता प्रत्येकको स्वानुभवसिद्ध है। जड पुद्‌गल ही एक ऐसा विलक्षण द्रव्य है जो सदा सजातीयसे भी प्रभावित होता है और विजातीय चेतनसे भी। इसी पुद्‌गल द्रव्यका चमत्कार आज विज्ञानके द्वारा हम सबके सामने प्रस्तुत है। इसीके हीनाधिक संयोग-वियोगोंके फलस्वरूप असंख्य आविष्कार हो रहे हैं। विद्युत्, शब्द आदि इसीके रूपान्तर हैं, इसीकी शक्तियां हैं। जीवकी अशुद्ध दशा इसीके संपर्कसे होती है। अनादिसे जीव और पुद्‌गलका ऐसा संयोग है जो पर्यायान्तर लेनेपर भी जीव इसके संयोगसे मुक्त नहीं हो पाता और उसमें विभाव परिणमन—राग-द्वेष-मोह-अज्ञानरूप दशाएँ होती रहती हैं। जब यह जीव अपनी चारित्रप्रसाधनाद्वारा इतना समर्थ और स्वरूपप्रतिष्ठ हो जाता है कि उसपर बाह्य जगत्‌का कोई भी प्रभाव न पड़ सके तो वह मुक्त होजाता है और अपने अनन्त चैतन्यमें स्थिर हो जाता है। यह मुक्त जीव अपने प्रतिक्षण परिवर्तित स्वाभाविक चैतन्यमें लीन रहता है। फिर उसमें अशुद्ध दशा नहीं होती। अन्ततः पुद्‌गल परमाणु ही ऐसे है जिनमें शुद्ध या अशुद्ध किसी भी दशामें दूसरे संयोगके आधारसे नाना आकृतियाँ और अनेक परिणमन संभव हैं तथा होते रहते है। इस जगत् व्यवस्थामें किसी एक ईश्वर जैसे नियन्ताका कोई स्थान नहीं है, यह तो अपने अपने संयोग-वियोगोंसे परिणमनशील है। प्रत्येक पदार्थका अपना सहज स्वभावजन्य प्रतिक्षणभावी परिणमनचक्र चालू है। यदि कोई दूसरा संयोग आ पड़ा और उस द्रव्यने इसके प्रभावको आत्मसात् किया तो परिणमन तत्प्रभावित हो जायगा, अन्यथा वह अपनी गतिसे बदलता जायगा। हाइड्रोजनका एक अणु अपनी गतिसे प्रतिक्षण हाइड्रोजनरूपमें बदल रहा है। यदि आक्सीजनका अणु उसमें आजुटा तो दोनोंका जल रूप परिणमन हो जायगा। वे एक बिन्दुरूपसे सदृश संयुक्त परिणमन कर लेगें। यदि किसी वैज्ञानिकके विश्लेषणप्रयोगका निमित्त मिला तो वे दोनों फिर जुदा जुदा भी हो सकते हैं। यदि अग्निका संयोग मिल गया भाप बन जायंगे। यदि सांपके मुखका संयोग मिला विषबिन्दु हो जायेंगे। तात्पर्य यह कि यह विश्व साधारणतया पुद्‌गल और अशुद्ध जीवके निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धका वास्तविक उद्यान है। परिणमनचक्रपर प्रत्येक द्रव्य चढ़ा हुआ है। वह अपनी अनन्त योग्यताओंके अनुसार अनन्त परिणमनोंको क्रमशः धारण करता है। समस्त 'सत्' के समुदायका नाम लोक या विश्व है। इस दृष्टिसे अब आप लोकके

शाश्वत और अशाश्वतवाले प्रश्नको विचारिए—

(१) क्या लोक शाश्वत है ? हाँ, लोक शाश्वत है। द्रव्योंकी संख्याकी दृष्टिसे, अर्थात् जितने सत् इसमें हैं उनमेंका एक भी सत् कम नहीं हो सकता और न उनमें किसी नये सत्की वृद्धि ही हो सकती है। न एक सत दूसरेमें विलीन ही होसकता है। कभी भी ऐसा समय नहीं आ सकता जो इसके अंगभूत द्रव्योंका लोप होजाय या वे समाप्त होजायँ।

(२) क्या लोक अशाश्वत है ? हाँ, लोक अशाश्वत है, अंगभूत द्रव्योंके प्रतिक्षणभावि परिणमनों-की दृष्टिसे, अर्थात् जितने सत् हैं वे प्रतिक्षण सदृश या विसदृश परिणमन करते रहते हैं। इसमें दो क्षण तक ठहरनेवाला कोई परिणमन नहीं है। जो हमें अनेक क्षण ठहरनेवाला परिणमन दिखाई देता है वह प्रतिक्षणभावी सदृश परिणमनका स्थूल दृष्टि-से अवलोकनमात्र है। इस तरह सतत परिवर्तनशील संयोग-वियोगोंकी दृष्टिसे विचार कीजिए तो लोक अशाश्वत है, अनित्य है, प्रतिक्षण परिवर्तित है।

(३) क्या लोक शाश्वत और अशाश्वत दोनों रूप है ? हाँ, क्रमशः उपर्युक्त दोनों दृष्टियोंसे विचार कीजिए तो लोक शाश्वत भी है (द्रव्यदृष्टिसे) अशाश्वत भी है (पर्यायदृष्टिसे)। दोनों दृष्टिकोणों-का क्रमशः प्रयुक्त करनेपर और उन दोनोंपर स्थूल दृष्टिसे विचार करनेपर जगत् उभयरूप ही प्रतिभा-सित होता है।

(४) क्या लोक शाश्वत और अशाश्वत दोनों रूप नहीं है ? आखिर उसका पूर्ण रूप क्या है ? हाँ, लोकका पूर्ण रूप अवक्तव्य है, नहीं कहा जासकता। कोई शब्द ऐसा नहीं जो एक-साथ शाश्वत और अशाश्वत इन दोनों स्वरूपोंको तथा उसमें विद्यमान अन्य अनन्त धर्मोंको युगपत् कह सके। अतः शब्द-की असामर्थ्यके कारण जगतका पूर्ण रूप अवक्तव्य है, अनुभय है, वचनातीत है।

इस निरूपणमें आप देखेंगे कि वस्तुका पूर्ण रूप वचनोंके अगोचर है, अनिर्वचनीय या अवक्तव्य है। यह चौथा उत्तर वस्तुके पूर्ण रूपको युगपत् कहनेकी दृष्टिसे है। पर वही जगत् शाश्वत कहा जाता है द्रव्यदृष्टिसे, अशाश्वत कहा जाता है पर्यायदृष्टिसे। इस तरह मूलतः चौथा, पहला और दूसरा ये तीन ही प्रश्न मौलिक हैं। तीसरा उभयरूपताका प्रश्न तो प्रथम और द्वितीयके संयोग-रूप है। अब आप विचारें कि संजयने जब लोकके शाश्वत और अशाश्वत आदिके बारेमें स्पष्ट कह दिया कि मैं जानता होऊँ तो बताऊँ और बुद्धने कह दिया कि इनके चक्करमें न पड़ो, इसका जानना उपयोगी नहीं तब महावीरने उन प्रश्नोंका वस्तु-स्थितिके अनुसार यथार्थ उत्तर दिया और शिष्यों-की जिज्ञासाका समाधानकरउनकोबौद्धिक दीनतासे त्राण दिया। इन प्रश्नोंका स्वरूप इस प्रकार है—

प्रश्न	संजय	बुद्ध	महावीर
१. क्या लोक शाश्वत है ?	मैं जानता होऊं तो बताऊँ (अनिचय, विक्षेप)	इसका जानना अनुपयोगी है (अव्याकृत, अकथनीय)	हाँ, लोक द्रव्यदृष्टिसे शाश्वत है, इसके किसी भी सत्का सर्वथा नाश नहीं होता।
२. क्या लोक अशाश्वत है ?	,,	,,	हाँ, लोक अपने प्रतिक्षण-भावी परिवर्तनोंकी दृष्टिसे अशाश्वत है, कोई भी पदार्थ दो क्षण स्थायी नहीं।
३. क्या लोक शाश्वत और अशाश्वत है ?	,,	,,	हाँ, दोनों दृष्टिकोणोंसे क्रमशः विचार करनेपर लोकको

४. क्या लोक दोनों रूप नहीं है अनुभय है ?	”	”	शाश्वत भी कहते है और अशाश्वत भी । हाँ, ऐसा कोई शब्द नहीं जो लोकके परिपूर्ण स्वरूपको एक-साथ समग्रभावसे कह सके, उसमें शाश्वत और अशाश्वतके सिवाय भी अनन्त रूप विद्यमान हैं अतः समग्रभावसे वस्तु अनुभय है, अवक्तव्य है, अनिर्वच-नीय है ।

संजय और बुद्ध जिन प्रश्नोंका समाधान नहीं करते, उन्हें अनिश्चय या अव्याकृत कहकर अपना पिण्ड छुड़ा लेते हैं, महावीर उन्हींका वास्तविक युक्तिसंगत समाधान करते है। इसपर भी राहुलजी और धर्मानन्द को साम्बो आदि यह कहनेका साहस करते है कि 'संजयके अनुयायिओंके लुप्त होजानेपर संजयके वादको ही जैनियोंने अपना लिया।' यह तो ऐसा ही है कि जैसे कोई कहे भारतमें रही परतंत्रता-को ही परतंत्रताविधायक अंग्रेजोंके चले जानेपर भारतीयोंने उसे अपरतंत्रता (स्वतंत्रता) रूपसे अप-ना लिया है क्योंकि अपरतंत्रतामें भी 'परतंत्रता' ये पांच अक्षर तो मौजूद हैं ही। या हिंसाको ही बुद्ध और महावीरने उसके अनुयायिओंके लुप्त होनेपर अहिंसारूपसे अपना लिया है क्योंकि अहिंसामें भी 'हिंसा' ये दो अक्षर हैं ही । यह देखकर तो और भी आश्चर्य होता है कि—आप (पृष्ठ ४८४) अनिश्चिततावादियोंकी सूचीमें संजयके साथ निग्गंठनाथपुत्त (महावीर)का नाम भी लिख जाते हैं, तथा (पृष्ठ ४६१) संजयको अनेकान्तवादी। क्या इसे धर्मकीर्तिके शब्दोंमें "धिग् व्यापकं तमः' नहीं कहा जा सकता ?

स्यात् शब्दके प्रयोगसे साधारणतया लोगोंको संशय, अनिश्चय या संभावनाका भ्रम होता है । पर यह तो भाषाकी पुरानी शैली है उस प्रसंगकी, जहां एक वादका स्थापन नहीं होता। एकाधिक भेद या विकल्पकी सूचना जहां करनी होती है वहां 'स्यात्' पदका प्रयोग भाषाकी शैलीका एक रूप रहा है जैसा कि मज्झिमनिकायके महाराहुलोवाद सुत्तके निम्न लिखित अवतरणसे ज्ञात होता है—"कतमा च रा-हुल तेजोधातु ? तेजोधातु सिया अज्झत्तिका सिया बाहिरा।"

अर्थात् तेजोधातु स्यात् आध्यात्मिक है स्यात् बाह्य है। यहाँ सिया (स्यात्) शब्दका प्रयोग तेजोधातुके निश्चित भेदोंकी सूचना देता है न कि उन भेदोंका संशय, अनिश्चय या संभावना बताता है। आध्या-त्मिक भेदके साथ प्रयुक्त होनेवाला स्यात् शब्द इस बातका द्योतन करता है कि तेजोधातु मात्र आध्यात्मिक ही नहीं है किन्तु उससे व्यतिरिक्त बाह्य भी है। इस तरह 'स्यादस्ति' में अस्तिके साथ लगा हुआ 'स्यात्' शब्द सूचित करता है कि अस्तिसे भिन्न धर्म भी वस्तुमें है केवल अस्ति धर्म-रूप ही वस्तु नहीं है। इस तरह 'स्यात्' शब्द न शायदका, न अनिश्चयका और न संभावनाका सूचक है किन्तु निर्दिष्ट धर्मके सिवाय अन्य अशेष धर्मोंकी सूचना देता है जिससे श्रोता वस्तुको निर्दिष्ट धर्ममात्ररूप ही न समझ बैठे।

सप्तभङ्गी—वस्तु मूलतः अनन्तधर्मात्मक है। उसमें विभिन्न दृष्टियोंसे विभिन्न विवक्षाओंसे अनंत

धर्म हैं। प्रत्येक धर्मका विरोधी धर्म भी दृष्टिभेदसे वस्तुमें सम्भव है। जैसे 'घटः स्यादस्ति' में घट है ही अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी मर्यादासे। जिस प्रकार घटमें स्वचतुष्टयकी अपेक्षा अस्तित्व धर्म है उसी तरह घट व्यतिरिक्त अन्य पदार्थोंका नास्तित्व भी घटमें है। यदि घटभिन्न पदार्थोंका नास्तित्व घटमे न पाया जाय तो घट और अन्य पदार्थ मिलकर एक होजायेंगे। अतः घट 'स्यादस्ति' और 'स्यान्नास्ति' रूप हैं। इसी तरह वस्तुमे द्रव्यदृष्टिसे नित्यत्व, पर्यायदृष्टिमे अनित्यत्व आदि अनेको विरोधी धर्मयुगल रहते है। एक वस्तुमें अनन्त सप्तभङ्ग बनते है। जब हम घटके अस्तित्वका विचार करते है तो अस्तित्वविषयक सात भङ्ग होसकते है। जैसे संजयके प्रश्नोत्तर या बुद्धके अव्याकृत प्रश्नोत्तरमें हम चार कोटि तो निश्चतरूपसे देखते हैं—सत्, असत्, उभय और अनुभय। उसी तरह गणितके हिसावसे तीन मूलभङ्गोंको मिलानेपर अधिक-से-अधिक सात अपुनरुक्त भंग होसकते हैं। जैसे घड़ेके अस्तित्वका विचार प्रस्तुत है तो पहला अस्तित्व धर्म, दूसरा तद्विरोधी नास्तित्व धर्म और तीसरा धर्म होगा अवक्तव्य जो वस्तुके पूर्ण रूपकी सूचना देता है कि वस्तु पूर्णरूपसे वचनके अगोचर है। उसके विराट् रूपको शब्द नहीं छू सकते। अवक्तव्य धर्म इस अपेक्षासे है कि दोनों धर्मोंको युगपत कहनेवाला शब्द संसारमे नहीं है अतः वस्तु यथार्थतः वचनातीत हैं, अवक्तव्य है। इस तरह मूलमे तीन भङ्ग है—

१ स्यादस्ति घटः। २ स्यान्नास्ति घटः। ३ स्यादवक्तव्यो घटः।

अवक्तव्यके साथ 'स्यात्' पद लगानेका भी अर्थ है कि वस्तु युगपत् पूर्णरूपमें यदि अवक्तव्य है तो क्रमशः अपने अपूर्णरूपमें वक्तव्य भी है और अस्ति नास्ति आदि रूपसे वचनोंका विषय भी होती है। अतः वस्तु स्याद्वक्तव्य है। जब मूल भङ्ग तीन हैं तब इनके द्विसंयोगी भङ्ग भी तीन होंगे तथा त्रिसंयोगी भङ्ग एक होगा। जिस तरह चतुष्कोटिमें सत् और असत्को मिलाकर प्रश्न होता है कि 'क्या सत् होकरके भी वस्तु असत् है?' इसी तरह ये भी प्रश्न होसकते हैं कि १ क्या सत् होकर भी वस्तु अवक्तव्य है ? २ क्या असत् होकर भी वस्तु अवक्तव्य है ? ३ क्या सत्-असत् होकर भी वस्तु अवक्तव्य है ? इन तीनों प्रश्नोंका समाधान संयोगज चार भंगोंमें है। अर्थात्—

(४) अस्ति नास्ति उभयरूप वस्तु है-- स्वचतुष्टय और परचतुष्टयपर क्रमशः दृष्टि रखनेपर और दोनोंकी सामूहिक विवक्षा रहनेपर।

(५) अस्ति अवक्तव्य वस्तु है—प्रथम समयमें स्वचतुष्टय और द्वितीय समयमे युगपत् स्वपरचतुष्टयपर क्रमशः दृष्टि रखनेपर और दोनोंकी सामूहिक विवक्षा रहनेपर।

(६) नास्ति अवक्तव्य वस्तु है—प्रथम समयमें परचतुष्टय और द्वितीय समयमे युगवत् स्वपरचतुष्टयकी क्रमशः दृष्टि रखनेपर और दोनोंकी सामूहिक विवक्षा रहनेपर।

(७) अस्ति नास्ति अवक्तव्य वस्तु है—प्रथम समयमे स्वचतुष्टय, द्वितीय समयमे परचतुष्टय तथा तृतीय समयमे युगपत् स्वपरचतुष्टयपर क्रमशः दृष्टि रखनेपर और तीनोंकी सामूहिक विवक्षा रहनेपर।

जब अस्ति और नास्तिकी तरह अवक्तव्य भी वस्तुका धर्म है तब जैसे अस्ति और नास्तिको मिलाकर चौथा भङ्ग बन जाता है वैसे ही अवक्तव्यके साथ भी अस्ति, नास्ति और अस्तिनास्ति मिलकर पाँचवें, छठवें और सातवें भङ्गकी सृष्टि हो जाती हैं। इस तरह गणितके सिद्धान्तके अनुसार तीन मूल वस्तुओंके अधिक-से-अधिक अपुनरुक्त सात ही भङ्ग हो सकते हैं। तात्पर्य यह कि वस्तुके प्रत्येक धर्मको लेकर सात प्रकारकी जिज्ञासा होसकती है,

सात प्रकारके प्रश्न होसकते हैं अतः उनके उत्तर भी सात प्रकारके ही होते हैं।

दर्शनदिग्दर्शनमें श्रीराहुलजीने पाँचवें, छठवें और सातवें भंगको जिस भ्रष्ट तरीकेसे तोड़ा मरोड़ा है यह उनकी अपनी निरी कल्पना और अतिसाहस है। जब वे दर्शनोंको व्यापक, नई और वैज्ञानिक दृष्टिसे देखना चाहते हैं तो किसी भी दर्शनकी समीक्षा उसके स्वरूपको ठीक समझ कर ही करनी चाहिए। वे अवक्तव्य नामक धर्मको, जो कि सत्के साथ स्वतंत्रभावसे द्विसंयोगी हुआ है, तोड़कर अवक्तव्य करके संजयके 'नहीं' के साथ मेल बैठा देते हैं और संजयके[1] घोर अनिश्चयवादको ही अनेकान्तवाद कह देते है! 'किमाश्चर्यमतः परम्'?

श्रीसम्पूर्णानन्दजी 'जैनधर्म' पुस्तककी प्रस्तावना (पृ० ३) में अनेकान्तवादकी ग्राह्यता स्वीकार करके भी सप्तभङ्गीन्यायको बालकी खाल निकालनेके समान आवश्यकतासे अधिक बारीकीमें जाना समझते हैं। पर सप्तभङ्गीको आजसे अढाई हजार वर्ष पहले के वातावरणमें देखनेपर वे स्वयं उसे समयकी मांग कहे बिना नहीं रह सकते। अढाई हजार वर्ष पहले आबालगोपाल प्रत्येक प्रश्नको सहज तरीकेसे 'सत् असत् उभय और अनुभय' इन चार कोटियोंमें गूंथकर ही उपस्थित करते थे और उस समयके भारतीय आचार्य उत्तर भी चतुष्कोटिका ही, हाँ या ना में देते थे तब जैन तीर्थंकर महावीरने मूल तीन भंगोके गणितके नियमानुसार अधिक-से-अधिक सात प्रश्न बनाकर उनका समाधान सप्तभङ्गीद्वारा किया जो निश्चितरूपसे वस्तुकी सीमाके भीतर ही रही है। अनेकान्तवादने जगत्के वास्तविक अनेक सत्का अपलाप नहीं किया और न वह केवल कल्पनाके क्षेत्रमें विचरा है।

मेरा उन दार्शनिकोंसे निवेदन है कि भारतीय-परम्परामें जो सत्यकी धारा है उसे दर्शनग्रन्थ लिखते समय भी कायम रखें और समीक्षाका स्तम्भ तो बहुत सावधानी और उत्तरदायित्वके साथ लिखनेकी कृपा करें जिससे दर्शन केवल विवाद और भ्रान्त परम्पराओंका अजायबघर न बने। वह जीवनमें संवाद लावे और दर्शनप्रणेताओंको समुचित न्याय दे सके।

---

१ जैन कथा—ग्रथोंमे महावीरके बालजीवनकी एक घटनाका वर्णन आता है कि 'संजय और विजय नामके दो साधुओंका संशय महावीरको देखते ही नष्ट हो गया था, इस लिये इनका नाम सन्मति रक्खा गया था।' संभव है यह संजय-विजय संजय वेलट्ठिपुत्त ही हों और इसीके संशय या अनिश्चयका नाश महावीरके सप्तभंगीन्यायसे हुआ हो और वेलट्ठिपुत्त विशेषण ही भ्रष्ट होकर विजय नामका दूसरा साधु बन गया हो।

——:—:——

आप्तपरीक्षाका प्राक्कथन

(ले०—विद्वद्वर्य पं० कैलाशचन्द्रजी, शास्त्री)

——:०:——

[वीरसेवामन्दिरसे जो हालमें 'आप्तपरीक्षा' का नया संस्करण प्रकाशित हुआ है उसीमें विद्वान् लेखकने अपना यह विचारपूर्ण 'प्राक्कथन' लिखा है। यह प्राक्कथन तत्त्व-जिज्ञासुओं और इतिहास-प्रेमियोंके लिए खास तौरसे पढने योग्य है। इसमें संक्षेपमें कई उलझे विषयोंपर अच्छा और समाधानकारक प्रकाश डाला गया है हम अपने 'अनेकान्त' के प्रेमी पाठकोंके लिए भी उसे वहाँसे उद्धृत करके यहाँ दे रहे हैं।

—सम्पादक]

आप्तका अर्थ है—प्रामाणिक, सच्चा, कभी धोखा न देनेवाला, जो प्रामाणिक है, सच्चा है वही आप्त है। उसीका सब विश्वास करते है। लोकमें ऐसे आप्त पुरुष सदा सर्वत्र पाये जाते है जो किसी एक खास विषयमें प्रामाणिक माने जाते है या व्यक्ति-विशेष, समाजविशेष और देशविशेषके प्रति प्रामाणिक होते हैं। किन्तु सब विषयोंमें खासकर उन विषयोंमें, जो हमारी इन्द्रियोंके अगोचर है, सदा सबके प्रति जो प्रामाणिक हो ऐसा आप्त-व्यक्ति प्रथम तो होना ही दुर्लभ है। और यदि वह हो भी तो उसको आप्तताकी जांच करके उसे आप्त मान लेना कठिन है।

प्रस्तुत ग्रन्थके द्वारा आचार्य विद्यानन्दने उसी कठिन कार्यको सुगम करनेका सफल प्रयास किया है।

वैदिक दर्शनोंकी उत्पत्ति—प्राचीनकालसे ही भारतवर्ष दो विभिन्न संस्कृतियोंका संघर्षस्थल रहा है। जिस समय वैदिक आर्य सप्तसिंधु देशमें निवास करते थे और उन्हें गंगा-यमुना और उनके पूर्वके देशोंका पता तक नहीं था तब भी यहाँ श्रमण संस्कृति फैली हुई थी, जिसके संस्थापक भगवान ऋषभदेव थे। जब वैदिक आर्य पूरबकी ओर बढ़े तो उनका श्रमणोंके साथ संघर्ष हुआ। उसके फलस्वरूप ही उपनिषदोंकी सृष्टि हुई और याज्ञिक क्रियाकाण्डका स्थान आत्मविद्याने लिया। तथा इन्द्र, वरुण, सूर्य, अग्नि आदि देवताओंके स्थानमें ब्रह्माकी प्रतिष्ठा हुई। माण्डूक्य उपनिषद्में लिखा है कि 'दो प्रकारकी विद्याएँ अवश्य जाननी चाहिये—एक उच्च विद्या और दूसरी नीची विद्या। नीची विद्या वह है जो वेदोंसे प्राप्त होती है और उच्च विद्या वह है जिससे अविनाशी ब्रह्म मिलता है।' इस तरह जब वेदोंसे प्राप्त ज्ञानको नीचा माना जाने लगा और जिससे अविनाशी ब्रह्मकी प्राप्ति हो उसे उच्च विद्या माना जाने लगा तो उस उच्च विद्याकी खोज होना स्वाभाविक ही था। इसी प्रयत्नके फलस्वरूप उत्तरकालमें अनेक वैदिक दर्शनोंकी सृष्टि हुई, जो परस्परमें विरोधी मान्यताएँ रखते हुए भी वेदके प्रामाण्यको स्वीकार करनेके कारण वैदिक दर्शन कहलाये।

सर्वज्ञताको लेकर श्रेणी-विभाग—वैदिक परम्पराके अनुयायी दर्शनोंमे सर्वज्ञताको लेकर दो पक्ष है। मीमांसक किसी सर्वज्ञकी सत्ताको स्वीकार नहीं करता, शेष वैदिक दर्शन स्वीकार करते है। किन्तु श्रमण-परम्पराके अनुयायी सांख्य, बौद्ध और जैन सर्वज्ञताको स्वीकार करते हैं। इसी तरह श्रमण परम्पराके अनुयायी तीनों दर्शन अनीश्वरवादी हैं, किन्तु वैदिक दर्शनोंमें मीमांसकके सिवा शेष सब ईश्वरवादी हैं। ईश्वरवादी ईश्वरको जगतकी उत्पत्तिमें निमित्तकारण मानते हैं और चूंकि ईश्वर जगतकी रचना करता है इस लिये उसे समस्त

कारकोंका ज्ञान होना आवश्यक है। अतः वे अनादि अनन्त ईश्वरमें सर्वज्ञताको भी अनादि-अनन्त मानते हैं। अन्य जो जीवात्मा योगाभ्यासके द्वारा समस्त पदार्थोंका ज्ञान प्राप्त करते हैं–यानी सर्वज्ञ होते हैं वे मुक्त हो जाते हैं और मुक्त होते ही उनका समस्त ज्ञान जाता रहता है। अतः ईश्वर मुक्तात्माओंमे विलक्षण है। निरीश्वरवादी दर्शनोंमें बौद्ध तो अनात्मवादी है, सांख्य ज्ञानको प्रकृतिका धर्म मानता है, अतः पुरुष और प्रकृतिका सम्बन्ध छूटते ही मुक्तात्मा ज्ञानशून्य हो जाता है। केवल एक जैन-दर्शन ही ऐसा है जो मुक्त होजानेपर भी जीवकी सर्वज्ञता स्वीकार करता है; क्योंकि उसमें चैतन्यको ज्ञानदर्शनमय ही माना गया है।

सर्वज्ञतापर जोर—ऐसा प्रतीत होता है कि शुद्ध जीवको सर्वज्ञतापर जितना जोर जैनदर्शनने दिया तथा उसकी मर्यादाको विस्तृत किया, दूसरे किसी दर्शनने न तो उतना उसपर जोर दिया और न उसकी इतनी विस्तृत रूप-रेखा ही अंकित की। बौद्ध त्रिपिटकामें बुद्धके समकालीन धर्मप्रवक्ताओंकी कुछ चर्चा पाई जाती है, उनमें जैनधर्मके अन्तिम तीर्थङ्कर निग्गंठनाथपुत्त (महावीर) की भी काफी चर्चा है। उससे[1] पता चलता है कि उस समय लोगोंमें यह चर्चा थी कि निग्गंठनाथपुत्त अपनेको सर्वज्ञ कहते हैं और उन्हें हर समय ज्ञानदर्शन मौजूद रहता है। यह चर्चा बुद्धके सामने भी पहुँची थी। इससे भी उक्त धारणाकी पुष्टि होती है।

अतः यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि जैनदर्शनके सर्वज्ञतापर इतना जोर देनेका कारण क्या है?

उसका कारण—जैनधर्म आत्मवादी है और आत्माको ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि गुणमय मानता है। तथा उसमें गुण और गुणीकी पृथक् और स्वतंत्र सत्ता नहीं है। द्रव्य अनन्त गुणोंका अखण्ड पिण्ड होनेके सिवा और कुछ भी नहीं है। आत्माके वे स्वाभाविक गुण संसार-अवस्थामें कर्मोंसे आच्छादित होनेके कारण विकृत हो जाते हैं। आत्माका स्वाभाविक ज्ञान और सुख गुण कर्मावृत होनेके साथ ही साथ पराधीन भी हो जाता है। जिससे ऐसा प्रतीत होने लगता है कि इन्द्रियोंके बिना आत्माको ज्ञान और सुख हो ही नहीं सकता। किन्तु ऐसा है नहीं, इन्द्रियके बिना भी ज्ञान और सुख रहता है। अतः जैसे सोनेको आगमें तपानेसे उसमें मिले हुए मलके जल जाने या अलग होजानेसे सोना शुद्ध हो जाता है और उसके स्वाभाविक गुण एकदम चमक उठते हैं वैसे ही ध्यानरूपी अग्निमें कर्मरूपी मैलको जला डालनेपर आत्मा शुद्ध हो जाता है और उसके स्वाभाविक गुण अपने पूर्ण रूपमें प्रकाशमान हो जाते हैं। आत्माको कर्मरूपी मलसे मुक्त करके अपने शुद्ध स्वरूपमें स्थित करना ही जैनधर्मका चरम लक्ष्य है, उसीका नाम मुक्ति या मोक्ष है। प्रत्येक आत्मा उसे प्राप्त करनेकी शक्ति रखता है जब कोई विशिष्ट आत्मा चार घाति कर्मोको नष्ट करके पूर्ण ज्ञानी हो जाता है तब वह अन्य जीवोंको मोक्षमार्गका उपदेश देता है। इस तरह एक ओर तो वह वीतरागी हो जाता है और दूसरी ओर पूर्ण ज्ञानी हो जाता है। ऐसा होनेसे ही न तो उसके कथनमें अज्ञानजन्य असत्यता रहती है। और न राग-द्वेषजन्य असत्यता रहती है। इसीसे स्वामी समन्तभद्रने आप्तका लक्षण इस प्रकार किया है:—

आप्तेनोच्छिन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना।
भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत् ॥ ५ ॥

—रत्नक० श्रा०।

आप्तको नियमसे वीतरागी, सर्वज्ञ और आगमका उपदेष्टा होना ही चाहिए, बिना इनके आप्तता हो नही सकती।'

यह ऊपर लिख आये हैं कि ईश्वरवादियोंने ईश्वरको सर्वज्ञ माना है, क्योंकि वह सृष्टिका रचयिता है, साथ ही साथ वह जीवको उसके कर्मोंका

१ बुद्धचर्या पृ० २२९।

फल देता है, वही उसे स्वर्ग या नरक भेजता है, उसी के अनुग्रहसे ऋषियोंके द्वारा वेदका अवतार होता है। किन्तु जैनदर्शन सृष्टिको अनादि मानता है, कर्म फल देनेके लिये भी किसी माध्यमको उसे आवश्यकता नहीं है। उसे तो मात्र मोक्षमार्गका उपदेश देनेके लिये ही एक ऐसे आप्त पुरुषकी आवश्यकता रहती है जो राग-द्वेषकी घाटीको पार करके और अज्ञानके वीहड़ जङ्गलसे निकालकर मनुष्योंको यह बतलाये कि कैसे उस घाटीको पार किया जाता है और किस प्रकार अज्ञान दूर हो सकता है?

आत्मज्ञ बनाम सर्वज्ञ—अब प्रश्न यह हो सकता है कि मात्र मोक्षमार्गका उपदेश देनेके लिये सर्वज्ञ होनेकी या उस उपदेष्टाको सर्वज्ञ माननेकी क्या आवश्यकता है? मोक्षका सम्बन्ध आत्मासे है अतः उसके लिये तो केवल आत्मज्ञ होना पर्याप्त है। उपनिषदोंमें भी 'यो आत्मविद् स सर्वविद्' लिखकर आत्मज्ञको ही सर्वज्ञ कहा है। बौद्धोंने भी हेयोपादेय तत्त्वके ज्ञाताको ही सर्वज्ञ[1] माना है।

इस प्रश्नका समाधान दिगम्बर[2] और श्वेताम्बर दोनोंके आगमोंमें एक ही-से शब्दोंमें मिलता है और वह है—'जो एकको जानता है वह सबको जानता है।' क्योंकि आत्मा ज्ञानमय है और ज्ञान प्रत्येक आत्मामें तरतमांशरूपमें पाया जाता है। अतः ज्ञानरूप अंशी अपने सब अंशोंमें व्याप्त होकर रहता है। और ज्ञानके अंश जिन्हें ज्ञानविशेष कहा जा सकता है, अनन्त द्रव्य-पर्यायोंके ज्ञायक है। अतः अनन्त द्रव्य-पर्यायोंके ज्ञायकस्वरूप ज्ञानांशोंसे परिपूर्ण ज्ञानमय आत्माको जानना ही सबको जानना है। आचार्य कुन्दकुन्दने अपने प्रवचनसारमें तर्कपूर्ण आगमिक शैलीमें आत्माकी सर्वज्ञताका सुन्दर और सरल तात्त्विक उपपादन किया है। उसके प्रकाशमें जब हम उनके ही नियमसार[3] नामक ग्रन्थके शुद्धोपयोगाधिकारमें आई गाथामें पढ़ते हैं—'व्यवहारनयसे केवली भगवान सबको जानते देखते हैं और निश्चयसे आत्माको जानते हैं' तो उससे यह भ्रम नहीं होता कि कुन्दकुन्द केवलज्ञानीको मात्र आत्मज्ञानी ही मानते हैं। क्योंकि वह तो कहते हैं कि 'जो सबको नहीं जानता वह एकको जान ही नहीं सकता।' उनके मतसे आत्मज्ञ और सर्वज्ञ ये दोनों शब्द दो विभिन्न दृष्टिकोणोंसे एक ही अर्थके प्रतिपादक है। अन्तर इतना है कि 'सर्वज्ञ' शब्दमें सब मुख्य हो जाते हैं, आत्मा गौण पड़ जाती है जो निश्चयनयको अभीष्ट नहीं है। किन्तु 'आत्मज्ञ' शब्दमें आत्मा ही मुख्य है शेष सब गौण हैं। अतः निश्चयनयसे आत्मा आत्मज्ञ है और व्यवहारनयसे सर्वज्ञ है। आध्यात्मिक दर्शनमें आत्माकी अखण्डता, अनश्वरता, अभेद्यता, शुद्धता आदि ही ग्राह्य है क्योंकि वस्तुस्वरूप ही वैसा है। उसीको प्राप्त करनेका प्रयत्न मोक्षमार्गके द्वारा किया जाता है। अतः प्रत्येक सम्यग्दृष्टि—जिसे निश्चयकी भाषामें आत्मदृष्टि कहना उपयुक्त होगा—आत्माको पूर्णरूप से जाननेका और जानकर उसीमें स्थित होनेका प्रयत्न करता है। उस प्रयत्नमें सफल होनेपर हो वह सर्वज्ञ सर्वदर्शी हो जाता है। अतः आत्मज्ञतामेंसे सर्वज्ञता फलित होती है। सर्वज्ञतामेंसे आत्मज्ञता फलित नहीं होती; क्योंकि मुमुक्षका प्रयत्न आत्मज्ञताके लिये होता है सर्वज्ञताके लिये नहीं। अतः अध्यात्मदर्शनमें केवलीको आत्मज्ञ कहना ही वास्तविक है, भूतार्थ है और सर्वज्ञ कहना अवास्तविक है, अभूतार्थ है। भूतार्थ और अभूतार्थका इतना हो अभिप्राय है। इस नयदृष्टिको भुलाकर यदि यह अर्थ निकालनेकी चेष्टा की जायगी कि व्यवहारनय जो कुछ कहता है वह दृष्टिभेदसे अयथार्थ न होकर सवथा अयथार्थ है तब तो स्याद्वादनयगर्भित जिनवाणीको छोड़कर जैनोंको भी शुद्धाद्वैतको अपनाना पड़ेगा। जैनसिद्धान्तरूपी वन विविध भंगोंसे गहन है उसे पार करना दुरूह है। मार्गभ्रष्ट हुए लोगोंको नयचक्रके संचारमें प्रवीण गुरु ही मार्ग

१ 'हेयोपादेयतत्त्वस्य साभ्युपायस्य वेदकः।'
' यः प्रमाणमसाविष्टो न तु सर्वस्य वेदकः॥'—प्र० वा०।
२ प्रवच० गा० १-४८, ४९। ३ गा० १५६।

पर लगा सकते थे। खेद है कि आज ऐसे गुरु नहीं हैं और जिनवाणीके ज्ञाता विद्वान् लोग स्वपक्षपात या अज्ञानके वशीभूत होकर अथका अनर्थ करते हैं, यह जिनवाणीके आराधकोंका महद् दुर्भाग्य है, अस्तु।

सर्वज्ञकी चर्चाका अवतरण—ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य समन्तभद्रके समयमें बाह्य विभूति और चमत्कारोंको ही तीर्थंकर होनेका मुख्य चिह्न माना जाने लगा था। साधारण जनता तो सदासे इन्हीं चमत्कारोंकी चकाचौंधके वशीभूत होती आई है। बुद्ध और महावीरके समयमें भी उन्हींकी बहुलता दृष्टिगोचर होती है। बुद्धको[1] अपने नये अनुयायियोंको प्रभावित करनेके लिये चमत्कार दिखाना पड़ता था। आचार्य समन्तभद्र जैसे परीक्षाप्रधानी महान् दार्शनिकको यह बात बहुत खटकी; क्योंकि चमत्कारोंकी चकाचौंधमें आप्तपुरुषकी असली विशेषताएँ जनताकी दृष्टिसे ओझल होती जाती थीं। अतः उन्होंने 'आप्तमीमांसा' नामसे एक प्रकरण-ग्रन्थ रचा जिसमें यह सिद्ध किया कि देवोंका आगमन, आकाशमें गमन, शरीरकी विशेषताएँ तो मायावी जनोंमें भी देखी जाती हैं, जादूगर भी जादूके जोरसे बहुत-सी ऐसी बातें दिखा देता है जो जनसाधारणकी बुद्धिसे परे होती हैं। अतः इन बातोंसे किसीको आप्त नहीं माना जा सकता। आप्तपुरुष तो वही है जो निर्दोष हो, जिसका वचन युक्ति और आगमसे अविरुद्ध हो। इस तरह उन्होंने आप्तकी मीमांसा करते हुए आगममान्य सर्वज्ञताको तर्ककी कसौटीपर कसकर दर्शनशास्त्रमें सर्वज्ञकी चर्चाका अवतरण किया।

इस प्रसंगमें सर्वज्ञको न माननेवाले मीमांसककी चर्चा कर देना प्रासंगिक होगा।

स्वामीसमन्तभद्र और शवरस्वामी—मीमांसक वेदको अपौरुषेय और स्वतः प्रमाण मानते हैं। शवरस्वामीने अपने शावर भाष्यमें लिखा है कि वेद भूत, वर्तमान और भावी तथा सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट पदार्थोंका ज्ञान करानेमें समर्थ है। यथा—

"चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टमित्येवं जातीयकमर्थमवगमयितुमलम्" [शा० १-१-२]

श्रमणसंस्कृति केवल निरीश्वरवादी ही नहीं है किन्तु वेदके प्रामाण्य और उसके अपौरुषेयत्वको भी वह स्वीकार नहीं करती। जैन और बौद्ध दार्शनिकोंने ईश्वरकी ही तरह वेदके प्रामाण्य और अपौरुषेयत्वकी खूब आलोचना की है। अतः जब वेदवादी वेदको त्रिकालदर्शी बतलाते थे तो जैन और बौद्ध दार्शनिक पुरुषविशेषको त्रिकालदर्शी सिद्ध करते थे। शवरस्वामीकी उक्त पंक्तियाँ पढ़कर आचार्य समन्तभद्रकी सर्वज्ञसाधिका कारिकाका स्मरण वरवस हो आता है। जो इस प्रकार है—

सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः ॥ ५ ॥

भाष्यके सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट शब्द तथा कारिकाके सूक्ष्म, अन्तरित और दूरार्थ शब्द एकार्थवाची हैं। दोनोंमें प्रतिबिम्ब-प्रतिबिम्बकभाव जैसा झलकता है। और ऐसा लगता है कि एकने दूसरेके विरोधमें अपने शब्द कहे है। शवरस्वामीका समय ई० स० २५० से ४०० तक अनुमान किया जाता है। स्वामी समन्तभद्रका भी लगभग यही समय माना जाता है। विद्वानोंमें[1] ऐसी मान्यता प्रचलित है कि शवरस्वामी जैनोंके भयसे बनमें शबर अर्थात् भीलका वेष धारण करके रहता था इसलिये उसे शवरस्वामी कहते थे। शिलालेखों वगैरहसे स्पष्ट है कि आचार्य समन्तभद्र अपने समयके प्रखर तार्किक, वाग्मी और वादी थे तथा उन्होंने जगह-जगह भ्रमणकर शास्त्रार्थमें प्रतिवादियोंको परास्त किया था। हो सकता है कि उन्हींके भयसे शवरस्वामीको वनमें शबरका भेष बनाकर रहना पड़ा हो। और इसीलिये समन्तभद्रका निराकरण करने

1. बुद्धचर्या, पृ० २६, ८६ आदि।

1. हिन्दतत्त्वज्ञानना इतिहास उ० पृ० ११२।

का उन्हें साहस न हुआ हो। जो हो, अभी इस विषयमें कुछ निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। किन्तु इतना सुनिश्चित है कि शाबरभाष्यके टीकाकार कुमारिलने समन्तभद्रकी सर्वज्ञताविषयक मान्यताको खूब आड़े हाथों लिया है। पहले तो उसने यही आपत्ति उठाई है कि कोई पुरुष अतीन्द्रियार्थदर्शी नहीं हो सकता। किन्तु चूंकि ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वरको अवतारका रूप देकर पुरुष मान लिया गया था और उन्हें भी सर्वज्ञ माना जाता था अतः उसे कहना पड़ा कि ये त्रिमूर्ति तो वेदमय है अतः वे सर्वज्ञ भले ही हों किन्तु मनुष्य सर्वज्ञ कैसे हो सकता है? उसे भय था कि यदि पुरुषकी सर्वज्ञता सिद्ध हुई जाती है तो वेदके प्रामाण्यको गहरा धक्का पहुँचेगा तथा धर्ममें जो वेदका ही एकाधिकार या वेदके पोषक ब्राह्मणोंका एकाधिकार चला आता है उसकी नींव ही हिल जावेगी। अतः कुमारिल कहता है[1] कि भाई! हम तो मनुष्यके धर्मज्ञ होनेका निषेध करते हैं। धर्मको छोड़कर यदि मनुष्य शेष सबको भी जान ले तो कौन मना करता है?

जैसे आचार्य समन्तभद्रके द्वारा स्थापित सर्वज्ञताका खण्डन करके कुमारिलने अपने पूर्वज शबरस्वामीका बदला चुकाया वैसे ही कुमारिलका खण्डन करके अपने पूर्वज स्वामी समन्तभद्रका बदला भट्टाकलङ्कने और मय व्याजके स्वामी विद्यानन्दिने चुकाया। विद्यानन्दिने आप्तमीमांसाको लक्ष्यमें रख कर ही अपनी आप्तपरीक्षाकी रचना की। जहाँ तक हम जानते हैं देव या तीर्थंकर लिये आप्त शब्दका व्यवहार स्वामी समन्तभद्रने ही प्रचलित किया है। जो एक न केवल मार्गदर्शक किन्तु मोक्षमार्गदर्शकके लिये सर्वथा संगत है।

आप्तमीमांसा और आप्तपरीक्षा—मीमांसा और परीक्षामें अन्तर है। आचार्य हेमचन्द्रके अनुसार मीमांसा शब्द 'आदरणीय विचार' का वाचक है[1] जिसमें अन्य विचारोंके साथ सोपाय मोक्षका भी विचार किया गया हो वह मीमांसा है और न्यायपूर्वक परीक्षा करनका नाम परीक्षा है। इस दृष्टिसे तो आप्तमीमांसाको आप्तपरीक्षा कहना ही संगत होगा, क्योंकि आप्तमीमांसामें विभिन्न विचारोंकी परीक्षाके द्वारा जैन आप्तप्रतिपादित स्याद्वादन्यायकी ही प्रतिष्ठा की गई है, जबकि आप्तपरीक्षामें मोक्षमार्गोपदेशकत्वको आधार बनाकर विभिन्न आप्तपुरुषोंकी तथा उनके द्वारा प्रतिपादित तत्त्वोंकी समीक्षा करके जैन आप्तमें ही उसकी प्रतिष्ठा की गई है। यद्यपि आप्तपरीक्षामें ईश्वर, कपिल, बुद्ध, ब्रह्म आदि सभी प्रमुख आप्तोंकी परीक्षा की गई है, किन्तु उसका प्रमुख और आद्य भाग तो ईश्वरपरीक्षा है जिसमें ईश्वरके सृष्टिकर्तृत्वकी सभी दृष्टिकोणोंसे विवेचना करके उसकी धज्जियाँ उड़ा दी गई हैं। कुल १२४ कारिकाओंमेंसे ७७ कारिका इस परीक्षाने घेर रक्खी हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि ईश्वरके सृष्टिकर्तृत्वके निराकरणके लिये ही यह परीक्षाग्रंथ रचा गया है। और तत्कालीन परिस्थितिको देखते हुए यह उचित भी जान पड़ता है; क्योंकि उस समय शङ्करके अद्वैतवादने तो जन्म ही लिया था। बौद्धोंके पैर उखड़ चुके थे। कपिल बेचारेको पूछता कौन था। ईश्वरके रूपमें विष्णु और शिवकी पूजाका जोर था। अतः विद्यानन्दिने उसकी ही खबर लेना उचित समझा होगा।

विद्यानन्दके उल्लेखोंकी समीक्षा—स्वामी विद्यानन्दने आप्तपरीक्षाकी रचना 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' आदि मंगलश्लोकको लेकर ही की है और उक्त मंगलश्लोकको अपनी आप्तपरीक्षाकी कारिकाओंमें ही सम्मिलित कर लिया है। जिसका नम्बर ३ है। दूसरी कारिकामें शास्त्रके आदिमें स्तवन करनेका

---

१ धर्मज्ञत्वनिषेधस्तु केवलोऽत्रोपयुज्यते।
सर्वमन्यद् विजानानः पुरुषः केन वार्यते॥

१ न्यायतः परीक्षणं परीक्षा। पूजितविचारवचनश्च मीमांसाशब्दः। प्रमा० मीमां०—पृ० २।

उद्देश्य बताते हुए उत्तरार्द्धमें "इत्याहुस्तद्गुणस्तोत्रं शास्त्रादौ मुनिपुङ्गवाः" लिखा है। इसकी टीकामें उन्होंने "मुनिपुङ्गवाः" का अर्थ "सूत्रकारादयः" किया है। आगे तीसरी कारिका, जो कि उक्त मंगल-श्लोक ही है, की उत्थानिकामें भी "किं पुनस्तत्परमेष्ठिनो गुणस्तोत्रं शास्त्रादौ सूत्रकाराः प्राहुः" "सूत्रकार" पदका उल्लेख किया है। चौथी कारिकाकी उत्थानिकामें उक्त सूत्रकारके लिये "भगवद्भिः" जैसे पूज्य शब्दका प्रयोग किया गया है। इससे स्पष्ट है कि विद्यानन्दि उक्त मंगलश्लोकको तत्त्वार्थसूत्रकार भगवान उमास्वामीकी ही रचना मानते हैं। आप्त-परीक्षाके अन्तमें उन्होंने पुनः इसी बातका उल्लेख करके उसमें इतना और जोड़ दिया है कि स्वामीने जिस तीर्थोपम स्तोत्र (उक्त मंगलश्लोक) की मीमांसा की विद्यानन्दिने उसीका व्याख्यान किया। यह स्पष्ट है कि "स्वामिमीमांसित" से विद्यानन्दिका आशय स्वामी समन्तभद्रविरचित आप्तमीमांसासे है। अर्थात् वे ऐसा मानते हैं कि स्वामी समन्तभद्र की आप्तमीमांसा भी उक्त मंगलश्लोकके आधारपर ही रची गई है। किन्तु विद्यानन्दिके इस कथनकी पुष्टिकी बात तो दूर उसका संकेत तक भी आप्तमीमांसा से नहीं मिलता और न किसी अन्य स्तोत्रसे ही विद्यानन्दिकी बातका समर्थन होता है। यद्यपि स्वामी समन्तभद्रने अपने आप्तको 'निर्दोष' और 'युक्ति-शास्त्राविरोधिवाक्' बतलाया है तथा 'निर्दोष' पदसे "कर्मभूभृत्भेतृत्व" और "युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्" पदसे सर्वज्ञत्व उन्हें अभीष्ट है यह भी ठीक है, दोनोंकी सिद्धि भी उन्होंने की है। किन्तु उनकी सारी शक्ति तो "युक्तिशास्त्राविरोधवाक्त्व" के समर्थनमें ही लगी है। उनका आप्त इसलिये आप्त नहीं है कि वह कर्मभूभृत्भेत्ता है या सर्वज्ञ है। वह तो इसीलिये आप्त है कि उसका 'इष्ट' 'प्रसिद्ध' से बाधित नहीं होता। अपने आप्तकी इसी विशेषता (स्याद्वाद) को दर्शाते-दर्शाते तथा उसका समर्थन करते-करते वे ११३वीं कारिका तक जा पहुँचते हैं जिसका अन्तिम चरण है—"इति स्याद्वादसंस्थितिः।" यह 'स्याद्वाद-संस्थितिः' ही उन्हें अभीष्ट है वही आप्तमीमांसाका मुख्य ही नहीं, किन्तु एकमात्र प्रतिपाद्य विषय है। इसके बाद अन्तिम ११४वीं कारिका आजाती है जिसमें लिखा है कि हितेच्छु लोगोंके लिये सम्यक् और मिथ्या उपदेशके भेदको जानकारी करानेके उद्देश्यसे यह आप्तमीमांसा बनाई।

आप्तमीमांसापर अष्टशतीकार भट्टाकलंकदेवने भी इस तरहका कोई संकेत नहीं किया। उन्होंने आप्तमीमांका अर्थ 'सर्वज्ञविशेषपरीक्षा' अवश्य किया है अतः विद्यानन्दिकी उक्त उक्तिका समर्थन किसी भी स्तोत्रसे नहीं होता। फिर भी आचार्य समन्तभद्रके समयनिर्धारणके लिये विशेष चिन्तित रहनेवाले विद्वानोंने विद्यानन्दिकी इस उक्तिको प्रमाण मानकर और उसके साथमें अपनी मान्यताको (कि उक्त मंगलश्लोक आचार्य पूज्यपादकृत सर्वार्थसिद्धिका मंगलाचरण है तत्त्वार्थसूत्रका नहीं) संबद्ध करके लिख ही तो दिया[1]— 'जो कुछ हो, पर स्वामी समन्तभद्रके बारेमें अनेकविध ऊहापोहके पश्चात् मुझको अब अतिस्पष्ट होगया है कि वे पूज्यपाद देवनन्दिके पूर्व तो हुए ही नहीं'। 'पूज्यपादके द्वारा स्तुत आप्तके समर्थनमें ही उन्होंने आप्तमीमांसा लिखी है' यह बात विद्यानन्दने आप्तपरीक्षा तथा अष्टसहस्रीमें सर्वथा स्पष्टरूपसे लिखी है।' यह कितना साहसपूर्ण कथन है। आचार्य विद्यानंदने तो पूज्यपाद या उनकी सर्वार्थसिद्धि टीकाका उल्लेख तक नहीं किया। प्रत्युत आप्तपरीक्षामें उक्त मंगलश्लोकको स्पष्टरूपसे सूत्र-कारकृत बतलाया है और अष्टसहस्रीके प्रारम्भमें 'निःश्रेयसशास्त्रस्यादौ...... मुनिभिः संस्तुतेन' आदि लिखकर स्पष्टरूपसे 'मोक्षशास्त्र—तत्त्वार्थसूत्रका निर्देश किया है। पता नहीं पं० सुखलालजी जैसे दूरदर्शी बहुश्रुत विद्वानने ऐसा कैसे लिख दिया। हो सकता है परनिर्भर होनेके कारण उन्हें दूसरोंने ऐसा ही बतलाया हो, क्योंकि पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यने न्यायकुमुदचंद्र भाग २ की प्रस्तावना[2] में पं०

1 'अकलंकग्रन्थत्रय' के प्राक्कथनमें।

2 पृ० २५-२६।

सुखलालजीके उक्त कथनका पोषण किया है। किंतु न्यायाचार्यजी अपनी भूलको एक बार तो स्वीकार कर चुके हैं। तथापि भारतीयज्ञानपीठ काशीसे प्रकाशित तत्त्वार्थवृत्तिकी प्रस्तावनामें[1] उन्होंने उक्त मंगलश्लोक-की कर्तृकताके सम्बन्धमें अपनी उसी पुरानी बातको संदेहके रूपमें पुनः उठाया है। किंतु यह सुनिश्चित है कि विद्यानन्द उक्त मंगलश्लोकको सूत्रकार उमा-स्वामीकृत ही मानते थे। अतः उनके उल्लेखोंके आधारपर स्वामी समन्तभद्रको पूज्यपादके बादका विद्वान तो नहीं ही माना जा सकता।

समन्तभद्र और पात्रस्वामी —प्रारम्भमें कुछ भ्रामक उल्लेखोंके आधारपर ऐसा मान लिया गया था कि विद्यानंदि और पात्रकेसरी एक ही व्यक्ति है। उसके बाद गायकवाड्सीरीज बड़ौदासे प्रकाशित तत्त्वसंग्रह नामक बौद्धग्रन्थमें पूवपक्षरूपमें दिगम्बराचार्य पात्रस्वामीके नामसे कुछ कारिकाएँ उद्धृत पाई गई। तब इस बातकी खोज हुई और पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारने अनेक प्रमाणोंके आधार-पर यह निर्विवाद सिद्ध कर दिया कि पात्रस्वामी या पात्रकेसरी विद्यानन्दसे पृथक् एक स्वतंत्र आचार्य होगये हैं। फिर भी पं० सुखलालजीने[2] स्वामी समन्तभद्र और पात्रस्वामीके एक व्यक्ति होनेकी सम्भावना की है जो मात्र भ्रामक है क्योंकि पात्र-केसरीका नाम तथा उनके त्रिलक्षणकदर्थन आदि ग्रन्थोंका जुदा उल्लेख मिलता है जिनका स्वामी समन्तभद्रसे कोई सम्बन्ध नहीं है। हाँ, मात्र 'स्वामी' पदसे दोनोंका बादरायण सम्बन्ध बैठानेसे इति-हासकी हत्या अवश्य हो जायेगी।

विद्यानन्दका समय —प्रस्तावनामें विद्वान सम्पादकने आचार्य विद्यानन्दके समयकी विवेचना करके एक तरहसे उसे निर्णीत ही कर दिया है। अतः उसके सम्बन्धमें कुछ कहना अनावश्यक है।

इतना प्रासङ्गिक कथन कर देनेके पश्चात् प्रस्तुत संस्करणके सम्बन्धमें भी दो शब्द कहना उचित होगा। आप्तपरीक्षा मूल तो हिन्दी अनुवादके साथ एक बार प्रकाशित हो चुकी है किंतु उसकी टीका हिन्दी अनुवाद के साथ प्रथम बार ही प्रकाशित होरही है। अनुवादक और सम्पादक पण्डित दरबारीलालजी कोठिया, जैन सामाजके सुपरिचित लेखक और विद्वान है। आपका दर्शनशास्त्रका तुलनात्मक अध्ययन गम्भीर है, लेखनी परिमार्जित है और भाषा प्रौढ़ किन्तु शैली विशद है। दार्शनिक ग्रन्थोंका अनुवादकार्य कितना गुरुतर है इसे वही अनुभव कर सकते हैं जिन्हें उससे काम पड़ा है। फिर आप्तपरीक्षा तो दर्शन-शास्त्रकी अनेक गहन चर्चाओंसे ओत प्रोत है। अतः उसका अनुवादकार्य सरल कैसे हो सकता है तथापि अनुवादक अपनी उक्त विशेषताओंके कारण उसमें कहाँ तक सफल होसके है, इसका अनुभव तो पाठक स्वयं ही कर सकेंगे। मैं तो अनुवादकको उनकी इस कृतिके लिये हृदयसे शुभाशीर्वाद देता हूँ।

अन्तमें उस संस्थाके सम्बन्धमें भी दो शब्द कहना आवश्यक है जिससे प्रस्तुत ग्रन्थ सुन्दररूपमें प्रका-शित हो रहा है। वीरसेवामन्दिर एक ऐसे ज्ञाना-राधक तपस्वीकी साधनाका फल है जिसे जिनवाणी-की निःस्वार्थ सेवा करते-करते अर्ध शताब्दीसे भी अधिक हो गई और जिसने अपना तन, मन, धन, सवस्व अर्पण कर दिया, फिर भी जो सदा जवान है और ७२ वर्षकी उम्र होनेपर भी उसी लगन, उसी उत्साह और तत्परतासे कार्यमें संलग्न है। उसने न जाने कितने आचार्यों और ग्रन्थकारोंको प्रकाशमें लाया है, न जाने कितने भूले हुए ग्रन्थरत्नोंकी याद दिलाई है और उनकी खोज की है। दिगम्बर जैना-चार्योंके समय-निर्धारणमें उसने अपार श्रम किया है। उसने ऐसी खोजें की हैं जिसके आधारपर उसे विश्वविद्यालयोंसे डाक्टरेटकी डिग्रियां मिलना साधारण बात थी। मगर चूंकि वह जैन है, जैनों तक ही उसकी खोज सीमित है, आजके जमानेकी टीपटाप उसमें नहीं है। अतः उसे जैसा श्रेय और

१ पृ. ८६। २ अकलंकग्रन्थत्रयके प्राक्कथनमें।

साहाय्य मिलना चाहिए था वह भी नहीं मिला। फिर भी वह प्रसन्न है और कार्यमें रत है। उस निस्स्वार्थसेवी विद्याव्यसनी नररत्नका नाम है— जुगलकिशोरजी मुख्तार। उनका सान्निध्य पाकर कोठियाजीकी प्रतिभा और पं. परमानन्दजीकी अन्वेषक अभिरुचि चमक उठी है। भगवान् जिनेन्द्रदेवसे प्रार्थना है कि मुख्तार सा० शतायु हों और यह त्रिमूर्ति जिनवाणीकी सेवामें सदा संलग्न रहे।

ब्रह्मचर्य

(प्रवक्ता श्री १०५ पूज्य क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी न्यायाचार्य)

[सागर-चातुर्माससें दिया गया वर्णीजीका एक दूसरा प्रवचन]

'सर्वे पदा हस्तिपदे निमग्नाः' हाथीके पैरमें सबके पैर समा सकते है। ब्रह्मचर्यके निरूपणसे ही सबका निरूपण हो जाता है। 'ब्रह्मचर्य' इस नामसे ही आनन्द आता है तब उसके पालन करनेमें क्यों नहीं आवेगा। जो अखण्ड असि-धारा-व्रत धारण करता है उसके प्रभावका क्या कहना है? एक स्त्री कुएपर पानी भरने गई। उससे जीवानी नीचे गिर गई। बेचारी घबड़ा गई। एक साधुके पास पहुंची, बोली—मेरा यह पाप कैसे छूटेगा? साधुने कहा कि—"यदि तुम्हारे यहाँ असिधारा-व्रत धारण करनेवाले स्त्री-पुरुष भोजन कर जायें तो तेरा यह पाप छूट जाये।" 'असिधारा-व्रत है क्या?'—स्त्रीने पूछा। यह उसीसे पूछ लेना, पर इतना मैं बताए देता हूँ कि जिस दिन तेरा पाप छूट जायगा उस दिन तेरे चोकेका चन्देवा कालेसे सफेद होजायगा। उस स्त्रीने अच्छे-अच्छे साधुओंको भोजन कराया, पर चन्देवा कालेसे सफेद नहीं हुआ। बीस वर्ष बाद दो स्त्री-पुरुषोंको उसने भोजन कराया जिससे उसका चन्देवा सफेद होगया। उसने पूछा—'क्या आपके असिधारा-व्रत है? उन्होंने कहा 'हाँ'। उसने पूछा— "असिधारा-व्रत क्या कहलाता है?" तब उन्होंने कहा—कि 'यह लड़की, जो आज मेरी स्त्री है, बाल्य अवस्था में किसी आर्यिकाके पास कृष्णपक्षमें ब्रह्मचर्यका नियम ले चुकी थी और मैं भी एक मुनिराजके पास शुक्लपक्षमें ब्रह्मचर्यका नियम ले चुका था। अनजानमें हम दोनोंका विवाह होगया। मैंने उससे कामसेवनका अभिप्राय प्रकट किया तब उसने कहा कि मेरे तो कृष्णपक्षमें ब्रह्मचर्यका नियम है। मैं शान्त रह गया। शुक्लपक्षमें स्त्रीने अपना अभिप्राय प्रकट किया तब मैंने कहा कि मैं शुक्लपक्षमें ब्रह्मचर्यमे रहनेका नियम कर चुका हूँ। स्त्री शान्त रह गई। हम दोनों आरम्भसे ही साथ-साथ रहते है, पर किसीके हृदयमें विकार उत्पन्न नहीं होता। यही असिधारा-व्रत है।' असिधारा-व्रतके प्रभावसे उस स्त्रीका काला चन्देवा सफेद होगया। इसमें आश्चर्यकी क्या बात है? अरे! उससे तो संसारकी अनन्त कालिमा नष्ट हो सकती है। जिस समय आपको ब्रह्मचर्यका रसास्वाद हो जायगा उस समय आपका आनन्द शब्दों द्वारा नहीं कहा जा सकेगा। यह, जिसे कि आप आनन्द समझते हैं, आनन्द नहीं है, यह तो खाज खुजलाना मात्र है। पर आप उसमें इतने आसक्त हो रहे हैं कि कुछ कहते नहीं बनता। पटियां पाड़ लीं और मुंहपर तेल चपड़ लिया, बस सुन्दरता बढ़ गई। अरे! जिससे सुन्दरता बढ़ती है वह तो तुम्हारे पास है ही नहीं। आप लोग विषयको रोटी-भाजी समझ रहे है, कुछ तो विवेक रखिये। मैं यह नहीं कहता कि आप घर-द्वार छोड़कर बाबा बन जाओ। मेरे कहनेका अभिप्राय इतना ही है कि आप स्वस्त्रीमें संतोष

रक्खें और उसमें भी अपने विषयकी सीमा निश्चित करलें। आप लोगोंका ब्रह्मचर्य बाबा लोगोंके ब्रह्मचर्य से कहीं अधिक प्रशंसनीय है। उनके पास तो ब्रह्मचर्य-विघातके साधन ही नहीं है पर आप लोग साधनके रहते हुए भी ब्रह्मचर्यकी रक्षा करते हैं। आप लोगोंकी इस ओर दृष्टि ही नहीं है। यदि होती तो अपने आश्रित रहनेवाली इन स्त्रियोंका सुधार नहीं करते? ये विलासिताकी ओर बढ़ रही हैं और आप उन्हें उनके साधन जुटा रहे हैं। आप लोगों को गोरी चमड़ी मिल जाय मानो स्वर्ग मिल गया। (रोषमें आकर) मेरे हाथमें सत्ता नहीं है, नहीं तो मैं आप लोगोंको एक दिनमें ठीक कर देता। मैं उस गुरुके पास पढ़ा हूँ जिसकी स्त्रीका हाल सुनो तो आप दंग रह जायें।

पं० ठाकुरदासजीके पास मैं पढ़ता था। उनका दूसरा विवाह हुआ था। पण्डितजीकी उमर चालीस वर्षकी थी और उनकी स्त्रीकी उमर सोलह वर्षकी। वह इतनी सुन्दर थी कि देवकन्या-सी लगती थी। वह जो भी वस्त्र पहिन ले उसे अच्छा लगता था। पण्डितजीको ५०) मासिक मिलता था। उसमेंसे वे अपनी स्त्रीका १०) मासिक हाथ-खर्च देते थे। स्त्री इतनी उदार थी कि दो दिनमें ही खतम कर देती—किसी पड़ौसीके बच्चेको कपड़ा, किसीको गल्ला आदि भेज देती। पण्डितजीने कहा—'मैं तो तुम्हें देता हूँ तुम यह क्या करती हो?' वह कहती—'मुझे देते तो हो न? मैं मांगने तो नहीं गई थी, इस पर तो मेरा अधिकार है।' पण्डितजी चुप हो जाते। कुछ समय बाद पण्डितजीको १००) मिलने लगे। वे आगरा चले गए और अब वे स्त्रीको २०) मासिक देने लगे, पर उसका वही हाल। दो दिनसे तीसरे दिनके लिये एक धेला नहीं बचाती। कोई कहता तो उत्तर देती कि दो दिन बाद मैं मर गई तो दान करने कौन आयगा?

जोधपुरके महाराजा पण्डितजीपर प्रसन्न होगए। उन्होंने कहा कि—पण्डितजी, यहाँ क्या करते हो? हमारे यहां चलिये। वे जोधपुर चले गये। वहां उन्हें ५००) मासिक मिलने लगे। अब पण्डितजी स्त्रीको १००) देने लगे पर वह उन्हें पहिलेकी तरह ही खर्च करती रही। पण्डितजीको एक बार राजाने १०००) एक हजार रुपये इनाम दिये। सो पण्डितजी ५००) की अच्छी साड़ी आदि शृङ्गार-सामग्री अपनी स्त्रीके लिये लाये। स्त्रीने कहा-'यह किस लिये लाये?' पण्डितजीने कहा—"तुम्हारे लिये।" 'मैं क्या इसके बिना आपको अच्छी नहीं लगती?' 'लगती तो हो'। 'फिर यह वेश्याओंका सामान किस लिये लाये"—"और अच्छी लगने लगोगी"। स्त्रीने कहा—"पण्डितजी तुम दो विषयके आचार्य, न जाने तुम्हें इसमें क्या आनन्द आता? मुझे तो खाज खुजलानेके सिवाय कुछ अधिक नहीं मालूम होता। एक बच्चा होगया है एक और हो जाय फिर मैं आपसे छुटी लूं"।

भैया? दो वर्ष बाद उसके एक बच्चा और हो गया। उसने पण्डितजीसे साफ कह दिया—"यदि मुझे तंग करोगे तो मैं अन्यत्र चली जाऊँगी। मैं अब संयमसे रहूँगी"। पण्डितजीने भी कह दिया—"अच्छा, मैं अब तुम्हें बेटी मानता हूँ" और जिन्दगीभर वे उससे बेटी ही कहते रहे।

मैं उनके पास पढ़ता था। एक दिन उनकी स्त्री बोली– 'बेटा तुम अपने हाथसे रोटी बनाते हो। मैं बना दिया करूंगी"। मैंने कहा—"मैं छना पानी पीता हूं। तुम्हारे यहाँ कुछ विचार नहीं"। वह बोली—"मैं भी छना पानी पीने लगूँगी"। मैंने कहा—"आपके यहाँ धीवरी पानी लाती है। मैं उसके हाथका नहीं पीता"। वह बोली क्या बात है? दो घड़ा पानी मैं स्वयं ले आऊँगी। मैंने कहा—"आपके यहाँ बाजारका आटा आता—मैं खाता नहीं"। वे बोलीं—"मैं स्वयं पीस दिया करूंगी"। मैंने कहा—"शामको क्या खाऊँगा? आप लोग तो रात को खाती है।" वह बोलीं—अच्छा, हम लोग भी दिनको ही खा लिया करेंगे। मजबूर होकर मुझे उनके यहाँ भोजन करना मञ्जूर करना पड़ा। भोजन तैयार हुआ। पण्डितजी बैठे। उनसे कुछ दूर मैं बैठा।

पण्डितजी बोले—"इतने दूर क्यों बैठे"? मैंने कहा—"आप ब्राह्मण और मैं जैनी, आपकी जातिके लोग देख लेंगे तो क्या कहेंगे?" पण्डितजीकी स्त्री बोली—"बेटा! इसकी चिन्ता तुम्हें है या मुझे?" मैं चुप रह गया और पण्डितजी तथा मैं साथ-साथ भोजन करने लगा।

भैया! आदमी ही तो वह थी। आप अपनी भलाई स्वयं सोचो। संज्ञी पञ्चेन्द्रिय हो। विचार करनेकी शक्ति तुममें है। फिर बिना विचारका कार्य क्यों करते हो?

राष्ट्रकूट गोविन्द तृतीयका शासन-काल

(लेखक—श्री आस्थानकवि एम० गोविन्द पै)

[अनु०—श्री पं० के० भुजबली शास्त्री]

पुन्नाटसंघीय आचार्य जिनसेनके हरिवंशपुराणकी ग्रन्थप्रशस्तिमे लिखा है—

"शाकेष्वब्दशतेषु सप्तसु दिशं पंचोत्तरेषूत्तराम्।
पातीन्द्रायुधनाम्नि कृष्णनृपजे श्रीवल्लभे दक्षिणाम्[1]॥"

इस श्लोकार्धके 'कृष्णनृपजे' का 'इन्द्रायुधनाम्नि' के साथ अवन्य करके और उसका 'शाकेष्वब्दशतेषु सप्तसु पंचोत्तरे' अर्थात् श० सं० ७०५=ई० सन् ७८३—७८४ में नृप कृष्णका पुत्र राजा इन्द्रायुध उत्तरमें और राजा श्रीवल्लभ दक्षिणमें राज्य करते समय, इस प्रकार अर्थ करके, ई० सन् ८०४ के लक्ष्मेश्वर (धारवाड) के एक कन्नड-शासन[2] में राष्ट्रकूट-वंशके शासक तृतीय गोविन्दका श्रीवल्लभ शब्दके प्राकृत रूप 'श्रीवल्लह' इस उपनामसे उल्लेख किये जानेके कारण, हरिवंशपुराण-सबंधो उपर्युक्त श्लोकमें प्रतिपादित श्रीवल्लभ राष्ट्रकूटका तृतीय गोविंद ही है, ऐसा निश्चय कर और इस श्लोकके कथनानुसार यह ई० सन ७८३-७८४ में राष्ट्रकूटके कर्णाटकके सिंहासनपर आरूढ था ऐसा विचार कर गोविंद तृतीयका शासनकाल ई० सन् ७८३ से ८१४ तक निर्धारित किया गया है[3]।

परन्तु यह ठीक नहीं है; क्योंकि इसी तृतीय गोविंदके शासनमें १८ वर्ष बीत कर जब १६ वां वर्ष चल रहा था तब "द्वात्रिंशदुत्तरेषु सप्तशतेषु शकवर्षेषु समतीतेषु आत्मनः प्रवर्धमानविजयसंवत्सरेषु अष्टादशसु समतीतेषु पौषमासपौर्णमास्यां सोमग्रहणे सोमवारे पुष्यनक्षत्रे ..." अर्थात् शा० श० ७३२ पौष मास पूर्णिमा सोमवार चन्द्रग्रहणके दिन उत्कीर्ण मण्णेके ताम्रपत्रका काल ठीक ई० सन् ८०६ दिसम्बर ता० २४ सोमवार होता है। इस प्रकार ई० सन् ८०६ तृतीय गोविंदके शासनका १६ वां वर्ष स्पष्ट सिद्ध होता है। इसीलिये पूर्वोक्त हरिवंशपुराण मे प्रतिपादित ई० सन् ७८३-८४ में दक्षिणमे राज्य करनेवाला श्रीवल्लभ सर्वथा तृतीय गोविंद नहीं है।

तब वह श्रीवल्लभ दूसरा कौन हो सकता है? पूर्वोक्त श्लोकके 'कृष्णनृपजे' को ऊपर कहे हुए मुताबिक 'इन्द्रायुधनाम्नि' के साथ अन्वय न करके 'श्रीवल्लभे' के साथ अन्वय करने पर शा० श० ७०५=ई० सन् ७८३-८४ मे राजा इन्द्रायुध उत्तरमें, नृप कृष्ण

---

१ जैनसिद्धान्तभास्कर भा० १, किरण २-३ पृष्ठ ७४।

२ Fleet : Kanarese Dynasties (FKD) पृष्ठ ३९४-९५।

३ Historical Inscriptions of Southern India (HISI) पृष्ठ ३१, ३८३, FKD, पृष्ठ ३९४-९५।

का पुत्र राजा श्रीवल्लभ दक्षिणमें राज्य कर रहे थे ऐसा सीधा अर्थ होता है। इस प्रकार दक्षिणमें उस समय शासन करने वाला वह श्रीवल्लभ कृष्ण नृपका पुत्र स्पष्ट सिद्ध होनेसे वह राष्ट्रकूटवंशस्थ प्रथम कृष्णका पुत्र धारावर्ष, कविवल्लभ एवं निरुपम इन उपाधियोंका धारक ध्रुव अथवा धोर (प्राकृतरूप) नामसे पुकारा जानेवाला शासक होना चाहिये, ऐसा सिद्ध होता है। यह धारावर्ष ध्रुव अथवा धोर तृतीय गोविंदका पिता एवं उसके पूर्व शासन करनेवाला पूर्वाधिकारी है।

ध्रुवका कविवल्लभ उपनाम था इस बातको सभी जानते है। पर क्या इसका श्रीवल्लभ उपनाम भी था? था। राष्ट्रकूटवंशके रणावलोक कंभराज अथवा कंभदेवने तृतीय गोविंदके शासनकालमे शक सं० (७) ३० कार्तिक मास पूर्णिमा सोमवार=ई० सन् ८०८ नवम्बर ता० ६ सोमवारको जो दान किया था और जिसका विवरण 'बदनेगुप्पे' के एक ताम्रशासनमें अंकित है;[२] उसमें तृतीय गोविंदके पिता पूर्वोक्त धोर (पंक्ति ७) या ध्रुवको कलिवल्लभ 'निरुपम: कलिवल्लभोऽभूत' (पंक्ति १६) नामसे सिर्फ लिखा ही नहीं गया है, किन्तु धोरके पुत्र तृतीय गोविंदको 'परमभट्टारक महाराजाधिराजपरमेश्वरपृथुवीवल्लभप्रभूतवर्षश्रीमद्गोविंदराजदेव: धारावर्ष—श्रीवल्लभमहाराजाधिराजस्य पुत्र:' (पंक्ति ४६–५१) ऐसा अंकित भी किया गया है।

इस प्रकार तृतीय गोविंदके पिता ध्रुवको प्रत्यक्ष श्रीवल्लभ नामसे उल्लेख किये जानेसे निसंदेह इसका श्रीवल्लभ उपनाम था, यह स्पष्ट सिद्ध होता है।

अत एव जैन हरिवंशपुराणके रचना कालमें ई० सन ७८३–८४ में दक्षिणमे शासन करनेवाला श्रीवल्लभ निसंदेह राष्ट्रकूटशासक धारावर्ष, निरुपम तथा कविवल्लभ उपाधियोंका धारक ध्रुव या धोर ही है, न कि ई० सन् ७६१ मे उसके बाद ही गद्दीपर बैठनेवाला उसका पुत्र तृतीय गोविंद।

तृतीय गोविंदके बाद ही गद्दीपर बैठनेवाले उसके पुत्र प्रथम अमोघवर्ष नृपतुंगके शिरूरुके शिलालेखका[३] समय शकसं० ७८८ ज्येष्ठ मास अमावास्या आदित्यवार=ई० सन् ८६६ जून ता० १६ आदित्यवार होता है। उस दिन पूर्ण सूर्यग्रहण था और वह समूचे भारतवर्षमे दृश्य था। उस समय नृपतुंगके शासनकालमे ५२वां वर्ष चल रहा था। [शकनृपकालातीतसंवत्सरंगल् एलनूरेणभत्तेंटनेय (७८८) व्ययमेंब सवत्सरं प्रवर्त्तिसे श्रीमदमोघवर्षनृपतुंगनामांकितना विजयराज्य प्रवर्धमान संवत्सरंगल् अयवत्तेरडुन् (५२) उत्तरोत्तरराज्याभिवृद्धिसलुत्तिरे ... ...ज्येष्ठमासदमासेयुं आदित्यवारमागे सूर्यग्रहण ....]

इससे व्यक्त होता है कि नृपतुंग ई० सन ८१४-१५ मे गद्दीपर बैठा था।

ऐसी दशामें इसका पिता एवं पूर्वाधिकारी तृतीय गोविंद ई० सन ७६१ में राष्ट्रकूट सिंहासनपर आरूढ़ हो ई० सन ८१४–१५ तक राज्य शासन करता रहा यो निस्संदेह सिद्ध होता है। ×

———

१ Mythic Society's Journal XIV, पृष्ठ ८८

२ Mysore Archaeological Report, १९२१ पृष्ठ ११२-१५)

३ Indian Antiquary, XII, पृष्ठ २१८-१९।

×'प्रजामत' के १९४१ के दीपावली विशेषांकमें प्रकाशित आस्थानकवि एम० गोविंद पैके कन्नड लेखका भाषान्तर।

डा० कालीदास नागका श्रीलालमन्दिर देहलीमें महत्वपूर्ण भाषण

[हालमें स्वतंत्रभारतकी राजधानी देहलीमें एक भारत-अमरीकी विश्वसम्मेलन हुआ था, जिसका उद्देश्य विश्वशान्तिके साथ-ही-साथ एक-दूसरेकी संस्कृतिको निकटसे जानना और पारस्परिक सहयोगकी भावनाको बढ़ाना था। डाक्टर कालीदास नाग एम.ए., पी.एच.डी. कलकत्ता भी, जो कलकत्ता यूनिवर्सिटीके विश्वविख्यात दार्शनिक तथा यशस्वी वक्ता हैं, और जिन्हें जैन धर्म एवं जैन संस्कृतिसे विशेष प्रेम है, इस सम्मेलनमें आमंत्रित थे और भारतीय प्रतिनिधिके रूपमें उसमें उनके अनेक भाषण भी हुए थे। २१ दिसम्बर १९४९को श्रीलालमंदिरजीमें भी जैनमित्र मण्डल देहलीकी ओरसे आयोजित एक सभामें आपका जैनधर्म और जैन संस्कृतिपर मार्मिक और प्रभावशाली महत्वका भाषण हुआ। यह भाषण जैनधर्मकी वास्तविकताओंसे जहां भरा हुआ है वहां हमारी आँखें भी खोलनेवाला है। जैनधर्मको वे कितने सम्मान और प्रेमकी दृष्टिसे देखते हैं तथा उसे विश्वधर्म एवं स्वतन्त्र भारतका एक महान धर्म देखनेके लिये कितने उत्सुक हैं, यह बतानेकी जरूरत नहीं है। पाठक स्वयं इस भाषणको पढ़कर अनुभव कर सकेंगे। क्या हमारा जैन समाज डाक्टर नागके इस भाषणका हार्दिक स्वागत करता हुआ उनके देहलीमें अहिंसा-मन्दिरकी स्थापनाके सामयिक तथा उपयोगी सुझावका समुचित और सन्तोषजनक उत्तर देगा? —स० सम्पादक]

जैनधर्मसे मेरा प्रेम

मैं आजसे पूर्व भी कई बार देहली आया हूं। देहलीको इस बातका गौरव प्राप्त है कि यह भूतमें हिन्दू तथा मुसलमानोंकी राजधानी, हालमें ही अंग्रेजोंकी राजधानी और अब स्वतन्त्रता प्राप्त होनेपर वर्तमानमें हमारी राजधानी है। मैं आज आपके समक्ष कोई भाषण देनेको खड़ा नहीं हुआ हूँ। जैसा कि आपने अपने आप ही कहा है कि देहली भारतका प्रमुख जैन संस्थाओंका केन्द्र है। उसी बातको समक्ष रखते हुए और जैनधर्मके एक सच्चे प्रशंसकके नाते मैं आपसे एक प्रश्न यह पूछना चाहता हूं कि आप देहलीवालोंने कहां तक अपने आपको जैनधर्म सम्बन्धी विषयोंसे सम्बन्धित रखा है। आपकी अपनी जातिके बाहर दूसरी साहित्यिक संस्थाएँ जैनधर्मके विषयमें बिल्कुल कुछ नहीं जानतीं। उनको जैनधर्मके विषयमें नहीं-के-बराबर ही ज्ञान है। यदि आपको इस विषयमें कुछ भी सन्देह है तो आप इस बातका प्रमाण कुछ अजैन व्यक्तियोंके साथमें रहकर और उनसे बातचीत करके देख लें। यह मेरे जैसे एक व्यक्तिका कहना है जो कि वास्तवमें जैनधर्मका हितैषी तथा प्रेमी है।

जैनधर्मकी महानता और व्यापकता

जैनधर्म एक किसी विशेष जाति या सम्प्रदायका धर्म नहीं है परन्तु यह संसारके समस्त प्राणियोंका अन्तर्राष्ट्रीय तथा सार्वभौमिक धर्म है।

जिस समय आप संस्थाओंके विषयमें कहते हैं तो मेरा कहना यह है कि जैन संस्थाओंका अर्थ जैनधर्म तथा उसके सिद्धान्तोंका नहीं है। एक संस्थासे तात्पर्य है उसके सदस्योंका नाम। और संस्थाका नाम सदस्योंके अतिरिक्त और कहीं नहीं जाता।

हमको जैनधर्मका भलीप्रकार मनन करना है।

विदेशोंमें जैन-संस्कृति और जैनधर्मके ज्ञानकी आवश्यकता

गत दो वर्षोंसे विदेशोंके बहुत ही प्रतिष्ठित नागरिक तथा विद्वान् व अन्वेषक भारतको आनेके इच्छुक है और वह भारतकी संस्कृति का ज्ञान करना चाहते हैं। उनको जैन संस्कृतिका कुछ भी ज्ञान नहीं कराया जाता। वह केवल यहांसे जैन तीर्थंकरोंकी विभिन्न प्रकारकी तथा विभिन्न धातुओंकी मूर्तियां अपने साथ ले जाते हैं और उनको वह अन्य अपूर्व वस्तुओंके संग्रहके समान रखते हैं। परन्तु वास्तवमें हम यह नहीं चाहते कि हमारा यह जैनधर्म एक अनोखी वस्तुके समान, प्रदर्शनी तथा अजायबघरकी वस्तुके समान, समझा जावे। इस सबका कारण यही है कि हमने जैनधर्म तथा इसके सिद्धान्तोंका प्रचार किया ही नहीं है। हमारा समस्त साहित्य हमारी अपनी ही भाषा-नागरी, संस्कृत तथा प्राकृत में है। हमारे साहित्यका एक-प्रतिशत भाग भी आजके संसारकी अन्य प्रचलित भाषाओंमें नहीं है।

जैनधर्म एक समस्त संसारका लोकप्रिय धर्म है और इसका आरम्भ भी इसी भावनामें हमारे तीर्थंकरोंने किया था। तीर्थंकरोंकी महान् आत्माओंने संसारके राज्योंको जीतनेकी चिन्ता नहीं की थी। राज्यको जीतना कोई कठिन कार्य नहीं है। सैकड़ों ही राज्य स्थापित होते हैं और विनाश हो जाते हैं। मेरी अपनी आँखोंके समक्ष संसारमें महायुद्ध नं० १ लड़ा गया और आप सब लोगोंके समक्ष महायुद्ध नं० २ हुआ। कितने ही राजे-महराजे, बादशाह, सभापति तथा अन्य सत्ताधारी इस संसारसे उठा दिये गये। जैन तीर्थंकरोंका ध्येय और जैनधर्मका ध्येय राज्य जीतनेका नहीं परन्तु स्वयंपर विजय प्राप्त करनेका है—यह ध्येय एक महान् ध्येय है और मनुष्यजीवनकी सार्थकता इसीमें है। जैनधर्म बाह्य वस्तुओंको महण नहीं करना सिखाता परन्तु इसके विपरीत यह मनुष्यकी आन्तरिक भावनाओं तथा आन्तरिक जीवनको स्पर्श करता है।

संसारके दो बड़े विजेता-अहिंसा और अपरिग्रह

संसारमें मैं सिर्फ दो बड़े विजेता समझता हूं और उनमें सर्व प्रथम विजेता अहिंसा सिद्धान्त है। बाकी विजेता झूठे है। महायुद्ध नं० १ में अन्य अन्य जाति और देशोंने विभिन्न विभिन्न प्रकारके बड़े बड़े अस्त्रोंका मनुष्य-संहारके लिये निर्माण किया। एकको विजय तथा दूसरेको पराजय हुई, परन्तु क्या यह बात सत्य है कि विजेताके समस्त शत्रुओंका सदैव या कुछ कालके लिये भी विध्वंस हो गया? कुछ ही वर्ष व्यतीत हुए कि दूसरा महायुद्ध आप सबके समक्ष लड़ा गया। इसमें प्रथम महायुद्धसे भी अधिक विध्वंसकारी तोपों व बन्दूकोंका प्रयोग हुआ और सबसे अधिक आश्चर्यजनक वस्तु—Atom bomb का आविष्कार हुआ जिसके द्वारा एक बारमें ही ७५००० व्यक्तियोंका नाश हो जाता है। ७५००० में अधिक व्यक्ति वह होते हैं जिनका आपसे कोई भी शत्रु-भाव नहीं होता है–निर्दोष व्यक्तियोंका खून हो जाता है–स्त्रियाँ और बच्चे अनाथ हो जाते हैं। क्या इस महायुद्धके बाद यह समझा जाए कि विजेताके समस्त शत्रुओंका नाश हो गया? नहीं और कदापि नहीं। इस युद्धमें हमने अरबों रुपये खर्च कर डाले। अभी यह युद्ध पूरी तरहसे समाप्त नहीं हुआ है कि तृतीय महायुद्ध सामने दृष्टिगोचर है। इन तमाम युद्धोंने संसारमें कोई महान् परिवर्तन नहीं किया। यदि संसारमें आज किसी वस्तुने महान् परिवर्तन कर दिखाया है तो वह है अहिंसा सिद्धान्त। अहिंसा सिद्धान्तकी खोज और प्राप्ति संसारकी समस्त खोज और प्राप्तियोंसे महान् है--यह Newton के law of Gravitation से बहुत अधिक महान खोज है मनुष्यका स्वभाव है नीचे की ओर जाना। परन्तु जैनोंके तीर्थंकरोंने सर्वप्रथम यह बताया कि अहिंसाका

सिद्धान्त मनुष्यको ऊपर उठाता है। उन्होंने बताया कि अहिंसा ही सत्य है और संसारका कल्याण ही अहिंसासे हो सकता है।

अहिंसाके सर्वप्रथम प्रचारक जैन तीर्थंकर

परन्तु आजके संसारमें सबका यही मत है कि अहिंसाके सिद्धान्तका महात्मा बुद्धने आजसे २५०० वर्ष पूर्व सर्व प्रथम प्रचार किया। किसी इतिहासके जाननेवालेको इस बातका बिलकुल भी ज्ञान नहीं है कि भगवान् बुद्धसे लाखों तथा करोड़ों वर्ष पूर्व एक नहीं बल्कि अनेक जैन तीर्थंकरोंने इस अहिंसा सिद्धान्तका प्रचार किया। परन्तु यह सब बातें संसारके ज्ञानमें नहीं है। उनको इस बातका बिलकुल भी ज्ञान नहीं है कि जैनधर्म बुद्धधर्मसे करोड़ों वर्ष पूर्वका धर्म है। वास्तवमे इसके लिए उनका कुछ दोष भी नहीं है। जैनियोंने इस विषयमें कुछ भी परिश्रम नहीं किया है। इतिहासके विषयमें तो जैनधर्मका अस्तित्व ही कुछ नहीं है।

जैनधर्म भारतका एक प्राचीन धर्म है

मैंने अपने मित्र श्रीछोटेलालजी जैन कलकत्ते वालोंके सहयोगसे कितने ही प्राचीन जैनक्षेत्रों व शिलालेखोंके Slides तैयार करके इस बातको प्रमाणित करनेके प्रयत्न किये है कि जैनधर्म एक प्रचीनधर्म है जिसने भारतकी संस्कृतिको बहुत कुछ दिया है। परन्तु आज अभी तक संसारकी दृष्टिमें जैनधर्मका महत्व नहीं दर्शाया गया है, उनके विचारमे यह एक २० लाख मनुष्योंका छोटा-सा धर्म है। परन्तु यदि आप सोचेंगे तो आप इस निष्कर्षपर पहुँचेंगे कि आपका जैनधर्म एक विशाल धर्म है और आप जैनजातिको वह महान् धर्म अपने पूर्वजोंसे मिला है।

अहिंसा

पर जैनियोंका copyright सम्पूर्ण अधिकार है- परन्तु हमारा समस्त साहित्य आज नागरी, सस्कृत तथा कनाड़ी भाषामें है आवश्यकता हे उस साहित्य को संसारकी समस्त भाषाओंमें प्रकाशित करनेकी और जनताके समक्ष रखनेकी। आज हमारे मन्दिर तथा तीर्थस्थान भी हैं, हम उनकी पूजा-भक्ति भी करते है- मंदिरोंमें हमारे तीर्थंकर भी है जो कि हम सबकी आत्माओंको निर्मल करते हैं। परन्तु यदि किसी वस्तुकी कमी है तो वह है हमारा अपना प्रमाद। अभी हालमे ही जो समस्त भारतवर्षीय विभिन्न धर्म सम्बन्धी कान्फ्रैन्स हुई उसके अन्दर मैं ही एक ऐसा व्यक्ति था जिसने भगवान महावीरका नाम लिया और यह नाम वहांके अधिकांश व्यक्तियोंके लिये नया-सा ही था।

भारतमें भी जैनधर्मके ज्ञानकी कमी

आज हमारे स्कूलोंमें कालिजोंमें विश्वविद्यालयों में जैनधर्मका बिल्कुल भी नाम नहीं है। यदि हम यह चाहते है कि हम जैनधर्मको विश्वमें फैलायें तो हमको पूर्ण रूपसे संगठित होना पड़ेगा।

जैनजनगणनापर जोर

आजके स्वतंत्र भारतमे सर्व प्रथम पहली जनगणना १६५१में होनी है। आप सबका कर्तव्य है कि आप सब उसमें अपनेको तथा अन्य समस्त व्यक्तियोंको जो जैनधर्मको मानते हों जैन लिखावें। आपका कर्तव्य यह नहीं है कि आप अपनको दिगम्बर, श्वेताम्बर या स्थानकवासी जैनके भेदभावको डाले, परन्तु आपका कर्तव्य यह है कि आप अपनेको विश्वधर्म—जैन-धर्म—का अनुयायी समझें। आप अपनेको एक इतिहासका छात्र समझें। मेरी आपसे यह अपील है कि आप इस कार्यमें देहलीकी प्रमुख जैन संस्थाओं तथा देहलीसे बाहरकी प्रमुख जैन संस्थाओं से लाभ उठाएँ और उनको इस बातके लिये प्रेरित करें कि वह आपसी भेदभावको मिटाकर सब जैनधर्मके वास्तविक रूपको संसारमें चमका दें। आपका यह कर्तव्य है कि आप जैनधर्मको स्वतन्त्र भारतका एक महान धर्म प्रदर्शित करें। आजका भारत राज्य जैनियोंका गढ है। भारतके प्रत्येक कोने-कोनेमें जैन जाति व्याप्त है। यदि आप वास्तवमें जैनधर्म व जैनजाति

की महानता बताना चाहते हो तो आपका यह कर्त्तव्य है कि आप सरकारद्वारा होने वाली जनगणनापर निर्भर होकर न बैठ जाएं परन्तु उससे पूर्व ही अपनी समस्त शक्ति लगाकर अपनी एक सच्ची तथा महत्व-पूर्ण जनगणना कर डालें जिससे आपको सही तौर पर जैनजातिको संख्या तथा इसकी सामाजिक तथा व्यापारिक क्षेत्रमें महानताका पता पड़ जाएगा।

अहिंसाकी महानता

आजका युग वह है जिसमें 'अहिंसा' शब्दकी एक अपूर्व ही महानता है। इस एक शब्दके पीछे समस्त संसार तुम्हारा साथ देनेको प्रस्तुत है—यह एक शब्द ही तुम्हें संसारमें जीवित रखनेके लिये पर्याप्त है। हम सबको तो पूज्य स्वर्गीय बापूका अत्यन्त ही अनुगृहीत होना चाहिये कि उन्होंने इस अहिंसा सिद्धान्तकी भूली हुई महानता को विश्वमें चमका दिया। आज संसारके लाखों प्राणी संसारमें चारों ओर फैली हुई अशान्तिसे दुःखी होकर अहिंसाकी ओर झुक रहे है और यह एक ऐसा मौका है जिससे आपको लाभ उठाकर अपनी संख्या २० लाखसे तिगुनी, चौगुनी करनी चाहिए। यदि आप इस समय क्षेत्रमें उतर आएँगे तो करोड़ोंको अपनी ओर खेच लेंगे।

आपको सोचना यह है कि आपको क्या करना है—आपको किस प्रकार अहिंसा-सिद्धान्तका प्रचार करना है। अहिंसाके महान् सिद्धान्तको जातीय सिद्धान्तका रूप न देकर आप विश्व-सिद्धान्तकी भांति प्रचार करना सीखें।

इस सिद्धान्तके प्रचारके लिये कुछ त्यागकी भावनाको सीखनेकी आवश्यकता है।

जैनधर्मकी विश्वको अपरिग्रह सिद्धान्तकी अपूर्व देन

आप जैनियोंका दूसरा मुख्य सिद्धान्त 'अपरि-ग्रह'—त्याग-भावना है। परन्तु खेद है कि आपने अपने जीवनमें त्यागकी भावनाको नहीं अपनाया है, जिस समय आप इस त्यागकी भावनाको अप-नाकर अहिंसाके सिद्धान्तको प्रचार करनेके लिए कटिबद्ध हो जाएंगे उस समय समस्त संसार आपके इन दोनों सिद्धान्तोंके कारण आपके जैनधर्मका श्रद्धालु हो जायेगा।

देहलीमें अहिंसामन्दिरकी स्थापनाका सुझाव

मैं आप सबका अनुगृहीत हूं कि आपने मुझे बुलाकर मेरा सन्मान किया परन्तु मेरे हृदयमें इस बातका दुःख है कि आप महानुभाव यहाँ आकर विचार सुन जाते हैं परन्तु अपने इस लोकप्रिय धर्मको प्रचार करनेके कार्यमें आगे नहीं बढ़ते। अन्तमें आप सबके लिये मेरा एक सुझाव है कि आप इस स्वतन्त्र भारतकी राजधानी देहली नगरमें एक **विशाल अहिंसा-मन्दिरकी स्थापना** कर दें जिसके अन्दर आपके अहिंसाके अवतार तीर्थंकरोंकी मूर्तियां विराजमान हों। और उसके साथ ही उसमें एक विशाल केन्द्रीय अहिंसा-पुस्तकालय हो जिसमें अहिंसासंबंधो सर्वप्रकारका साहित्य हो, जिसको मनन करके संसारपर आपके जैनधर्मकी अमिट छाप बैठ जाए।

—अनु० आदीश्वरलाल जैन, एम.ए.,

सम्पादकीय

देहलीमें अहिंसा मन्दिरकी स्थापनाका उत्तम सुझाव—

इसी किरणमें अन्यत्र डा० कालीदास नागका भाषण मुद्रित हो रहा है। इस भाषणमें उन्होंने जैनधर्म और जैनसंस्कृतिके प्रति जो उच्च और हार्दिक उद्गार प्रकट किये हैं वे जैनसमाजके लिये ध्यान देने योग्य हैं। उन्होंने कहा है कि—'जैनधर्म एक प्राचीन धर्म है जिसने भारतको संस्कृतिको बहुत कुछ दिया है। परन्तु आज अभी तक संसारकी दृष्टिमें जैनधर्मका महत्व नहीं दर्शाया गया है। उनके विचारमें यह एक २० लाख मनुष्योंका छोटा-सा धर्म है। परन्तु यदि आप सोचेंगे तो आप इस निष्कर्षपर पहुँचेंगे कि आपका जैनधर्म एक विशाल धर्म है और आप जैन जातिको वह महान् धर्म अपने पूर्वजोंसे मिला है। अहिंसापर जैनियोंका Copy Right सम्पूर्ण अधिकार है।' आगे अपने भाषणको जारी रखते हुए कहा—'परन्तु यदि किसी वस्तुकी कमी है तो वह है हमारा अपना प्रमाद। अभी हालमें ही जो समस्त विश्वकी विभिन्न धर्मसम्बन्धी कान्फ्रैन्स हुई उसके अन्दर मैं ही एक ऐसा व्यक्ति था जिसने भगवान् महावीरका नाम लिया और यह नाम वहाँके अधिकांश व्यक्तियोंके लिए नया-सा ही था।' इससे पूर्व आपने यह बतलाया कि—'आजके संसारमें सबका यही मत है कि अहिंसाके सिद्धान्तका महात्मा बुद्धने आज से २५०० वर्ष पूर्व सर्व प्रथम प्रचार किया। किसी इतिहासके जाननेवालेको इस बातका बिलकुल भी ज्ञान नहीं है कि भगवान् बुद्धसे लाखों तथा करोड़ों वर्ष पूर्व एक नहीं बल्कि अनेक जैन तीर्थंकरोंने इस अहिंसा सिद्धान्तका प्रचार किया। परन्तु यह सब बातें संसारके ज्ञानमें नहीं है। उनको इस बातका बिलकुल भी ज्ञान नहीं है कि जैनधर्म बुद्धधर्मसे करोड़ों वर्ष पूर्वका धर्म है। वास्तवमें इसके लिए उनका कुछ दोष भी नहीं है। जैनियोंने इस विषयमें कुछ भी परिश्रम नहीं किया है। इतिहासके विषय में जैनधर्मका अस्तित्व ही कुछ नहीं है'।

डा० नाग विश्वके सम्मानप्राप्त विद्वान और भारतीय संस्कृति तथा धर्मोंके गम्भीर अध्येता एवं ऐतिहासिक विद्वान माने जाते हैं। उनके ये जैनधर्मके बारेमें प्रकट किये विचार शत-प्रतिशत तथ्य हैं। जैनधर्मका व्यापक और विशाल रूप आज व्याप्य और संकीर्ण बना हुआ है, इसीसे संसारको इस धर्मके बारेमें कोई जानकारी नहीं है। हमने उन्हें जानकारी करानेका कभी प्रयत्न भी नहीं किया। न अपना उन्हें साहित्य दिया और न ढंगसे अपना पुरातत्व एवं इतिहास बतलाया। अब हमें जागृत होकर संसारके साथ चलना चाहिए और उसे जिस अहिंसा तथा अपरिग्रह सिद्धान्तोंकी जरूरत है उन्हें बताना चाहिए। इसके लिए डा० नागने एक बड़ा ही उत्तम सुझाव उपस्थित किया है वह है देहली जैसे केन्द्रीय स्थानपर 'अहिंसामन्दिर' की स्थापना। उनका यह सुझाव कितना सामयिक और उपयोगी है, इसको बताने की जरूरत नहीं है। आज विश्व शान्तिके लिये लालायित है और उसकी खोजमें कृतप्रयत्न है। भारतमें विश्वके शान्ति-इच्छुकोंके शान्ति-सम्मेलन हो रहे हैं और इस बातका तेजीमे प्रयत्न किया जा रहा है कि विश्वमें किस प्रकार शान्ति स्थापित की जाय। हालमें हमारे प्रधानमंत्री पं० नेहरूने अपने पड़ोसी पाकिस्तानको एक

प्रस्ताव भेजा है, जिसमें परस्पर सशस्त्र युद्धको सदाके लिये बन्द कर देनेकी प्रतिज्ञा तथा घोषणा की है। पिछले दो महायुद्धोंने संसारको तबाह कर दिया है और हिंसाके परिणामोंको दिखा दिया है। अतः आज संसारमें यदि शान्ति कायम की जा सकती है तो वह अहिंसाके द्वारा ही की जा सकती है। गांधीजीके प्रयत्नों और कार्योंसे आज विश्वका बहु भाग 'अहिंसा' को जानने और उसको जीवनमें उतारनेके लिये उत्सुक है। अतः अहिंसामन्दिरकी स्थापना जैनधर्मके भविष्यको उज्ज्वल बना सकती है।

गतवर्ष जयपुर कांग्रेसके अधिवेशनको जाते समय हमारे तथा लाला राजकृष्णजी जैनके मनमें भी इस अहिंसामन्दिरका स्थापनाके विचारका सर्व प्रथम उदय हुआ था और २१ दिसम्बर १९४८ को उसकी एक रूपरेखा तैयार की थी, जिसका शीर्षक था 'देहली में अहिंसामन्दिरकी योजनाकी रूपरेखा।' आज हम उसे उसी रूपमें नीचे दे रहे हैं। आशा है जैन समाज इसपर पूरा ध्यान देकर उसे कार्यरूपमें परिणत करनेके लिए कृतसंकल्प होगा और आजके सुअवसरसे लाभ उठायेगा—

"नाम—'अहिंसामन्दिर' हो

उद्देश्य- (क) विश्वमें अहिंसा और अपरिग्रहकी भावना और आचरणका प्रसार।

(ख) अहिंसक सभ्यता और संस्कृतिका सर्वव्यापी प्रचार।

नियम—(१) १८ वर्षकी अवस्थाका प्रत्येक व्यक्ति स्त्री अथवा पुरुष, जो अहिंसाकी भावनाको लिए हुए अष्ट मूलगुणोंका धारी हो और जिसका नैतिक स्तर ऊँचा हो, इसका सदस्य होसकता है।

(२) देवदर्शन करना प्रत्येक सदस्यके लिये वांछनीय है। यह अहिंसाप्रधान संस्कृतिका प्रमुख चिन्ह है। आदि आदि।

१. अहिंसामन्दिरकी स्थापनाके लिए १५ लाख रुपए आवश्यकीय है।

२. अहिंसामन्दिरके मुख्य चार विभाग हों:—

(क) सर्वोदय तीर्थ।

(ख) अहिंसा-विद्यापीठ।

(ग) वीरसेवामन्दिर।

(घ) छात्रवृत्तिफण्ड।

(क) सर्वोदयतीर्थ—इसकी १ लाखकी सुन्दर विशाल बिल्डिंग हो, जिसमें वीतरागदेव तीर्थंकर महावीर अथवा ऋषभदेव और इतर देवोंकी प्रतिमूर्तियाँ हों और जिनका स्पष्ट विवेक 'मन्ये वरं हरिहराय एव दृष्टाः' आदि पद्योल्लेखके साथ हो। मुख्य द्वारपर ऊपर स्वामी समन्तभद्रका निम्न पद्य अङ्कित रहे—

सर्वान्तवत्तद्गुणमुख्यकल्पं सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम्।
सर्वापदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव॥

युक्त्यनु.

इसकी सुव्यवस्थाके लिए १ लाखका फण्ड हों।

(ख) अहिंसा विद्यापीठ—पांच लाखकी रकमसे यह स्थापित हो जिसमें उच्च कोटिकी धार्मिक शिक्षा के साथ २ विभिन्न उद्योगोंकी लौकिक शिक्षाका भी प्रबन्ध हो। योग्यतम पाठक इसके शिक्षक हों।

(ग) वीरसेवामन्दिर—इस विभागके द्वारा पुरातत्व, इतिहास और साहित्यका संकलन, अन्वेषण तथा निर्माणादि हो। इसके साथ एक विशाल लायब्रेरी रहे जिसमें समग्र भारतीय अहिंसक साहित्यका संग्रह हो। देशके कोने-कोनेमेंसे साहित्य और पुरातत्वादिका संचयन किया जावे। इसके लिए कम-से-कम ५ लाख द्रव्य अपेक्षित है।

(घ) छात्रवृत्तिफण्ड---इस फण्डमें १॥ लाख सुरक्षित द्रव्य रहे और जिसकी आयसे प्रतिवर्ष १० छात्रोंको देश और विदेशमें भेजकर विभिन्न प्रकारकी उच्च शिक्षा दिलाई जाय। ये छात्र न केवल देशमें ही अपितु विदेशोंमें भी जैनधर्मके अहिंसा और अपरिग्रह जैसे सर्व कल्याणकारी सिद्धान्तोंका प्रचार करें।

शेष डेढ़ लाखकी रकमसे विडलामन्दिरकी तरह 'अहिंसामन्दिर'को विशाल विल्डिंग बनाई जाय, जिसमें बाग-बगीचे आदि विशिष्ट और सुन्दरतम चीजें रहें।'

यह है एक वर्ष पूर्वका हमारा स्वप्न जिसे डा० नागके 'अहिंसामन्दिरको स्थापनाके सुझावने उद्बुद्ध किया है। क्या हम आशा करें कि यह स्वप्न स्वप्न ही तो न रहेगा और कुछ हो कर रहेगा।

उक्त रूपरेखा जल्दीमें तैयार की गई थो और उसे यों ही डाल दिया गया था। वह अब सुन्दरसे सुन्दर और महत्वपूर्ण भी बनाई जासकती है। हम समाजका ध्यान इस ओर आकर्षित करते हैं।

जैनधर्म हिन्दूधर्मका अङ्ग नहीं है न रहा है और न हो सकता है—जबसे 'हरिजन मंदिर-प्रवेशबिल' बना है और बनकर वह जनताके सामने आया है तबसे जैनोंको हिंदू और जैनधर्मको हिंदूधर्म बताया जाने लगा है। कुछ पुराने हिंदू नेताओंने तो हिंदू' शब्दकी पुरानी व्याख्याको बदलकर एक नयी व्याख्या उपस्थित की है और जैनोंको इस व्याख्याके अनुसार हिंदू बतलाया है। वह व्याख्या इस प्रकार है:—

'आसिन्धुसिंधुपर्यंता यस्य भारतभूमिका।
पितृभू: पुण्यभूश्चैव स वै हिन्दूरिति स्मृत: ॥'

'अर्थात् सिंधु नदीसे लेकर समुद्र पर्यन्तकी भारतभूमि जिनकी पितृभू—पूर्वजोंका स्थान और पुण्यभू अर्थात् धर्मसंस्थापक प्रवर्त्तक, तीर्थ, भाषा आदिका स्थान है वे सब हिंदू हैं।'

विद्वान् जानते हैं कि 'हिंदू' शब्द मुसल्मानोंकी देन है। वे जब इस देशमें आये तो यहाँके रहने वालोंको वे 'काफिर' के अर्थमें हिंदू कहने लगे और उनके देशको हिंदुस्तान तथा भाषाको हिंदी। अत: इसीके आधारसे अर्वाचीन किसी संग्रहप्रेमी लेखकने उक्त श्लोक रचकर 'हिंदू' की यह व्याख्या उपस्थित की है। किंतु प्राचीन साहित्यमें 'हिंदू' शब्द नहीं मिलता और न उसकी इस प्रकार व्याख्या हो की है। आज 'हिंदू' शब्द मुख्यत: वेद और ईश्वर (जगत्कर्ता) को माननेवालेके अर्थमें व्यवहृत होता है। सावरकरजीकी व्याख्याको न जनता स्वीकार करती है और न सरकार। अत: जब तक जनता और सरकार 'हिंदू' की व्याख्याको बदलकर 'भारतीय' के अर्थमें उसे स्वीकार नहीं करते हैं तब तक जैनों को हिन्दुओंमें परिगणित करना किसी भी तरह उचित नहीं है। जैनधर्म और जैन संस्कृति अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखते हैं—उनका अपना साहित्य, पुरातत्त्व, इतिहास, मन्दिर, मूर्तियाँ, आचार-विचार सब भिन्न हैं और इसलिये जैनधर्म हिन्दूधर्मका न अतीतमें अङ्ग हुआ है न वर्तमानमें है और न भविष्यमें हो सकता है। यह दूसरी बात है कि हिन्दूधर्मके साथ हमारे धर्मकी कितनी ही समानताएँ हैं और एक-दूसरेके साथ सहयोग रखते हैं। सो यह तो धर्मका सामान्य सिद्धान्त है जिसका होना जरूरी है। आज कोई भी धर्म असहिष्णु बनकर रह नहीं सकता और न असहिष्णु बनना कोई धर्म सिखाता है। अत: सिखों, पारसियों और बौद्धोंकी तरह जैनों को हिन्दुओंसे पृथक् ही गिनना चाहिये और इसलिये जो कानून एक धर्म या वर्गके लिये बनाया जाय उसे दूसरे धर्म या वर्गपर नहीं थोपना चाहिये। हाँ, राष्ट्रके हितमें जो कानून बने वह सबपर लागू किया जा सकता है। इस सम्बन्धमें हम किसी दूसरी किरणमें विस्तारसे विचार करेंगे।

पूज्य वर्णीजी पूर्णत: स्वस्थ—

२६ दिसम्बरको हमनेएकदम सुना कि राष्ट्रके महान् सन्त और समाजकी विभूति श्री १०५ क्षुल्लक पूज्य गणेशप्रसादजी वर्णी जसवन्तनगरमें बहुत अस्वस्थ है और उनकी अस्वस्थता बहुत ही चिन्ताजनक है—पैरोंमें शोथ हो गया है और १०४ डिग्रीके करीब बुखार रहता है। यह सुनते ही हम, पं०परमानन्दजी और बा. जैनन्द्रकिशोरजीके लघुभाई डा० किशोर जैन

उसी दिन सन्ध्याको ४ बजेकी गाड़ीसे जसवन्तनगर गये। वहां पहुंचते ही स्टेशनपर मालूम हुआ कि पूज्य वर्णीजी वहांसे आज ही उसी अस्वस्थ हालतमें वैद्य कन्हैयालालजी कानपुर, बा. कपूरचन्द्रजी कानपुर और इटावाके धर्मबन्धुओंके आग्रहसे इटावाको, जो जसवन्तनगरसे करीब १० मील है और स्वास्थ्य आदिकी दृष्टिसे सुन्दर जगह है, विहार कर गये हैं। अतएव हम लोग सीधे इटावा पहुंचे। वहां पूज्य वर्णीजीको उसी तरह पाया जैसा सुना था। पर पूज्य वर्णीजीके चित्त तथा चेहरेपर जरा भी कोई परिवर्तन नहीं और सदाकी भाँति प्रातः ४ बजे उठकर समयसारका प्रवचन करते हुए मिले। सुवह ६॥ बजे पूज्य वर्णीजीके सद्भावमें मेरा शास्त्र हुआ। शास्त्रके अन्तमें बाबाजीने बतलाया कि यहां खटखटी बाबाका एक संस्कृत विद्यापीठ है जिसमें हजारों संस्कृतके प्राचीन अर्वाचीन ग्रन्थोंका संग्रह है और जो देखने योग्य है। बा० सोहनलालजी जैन और पं० ज यचन्दजी चौधरी हम लोगोंको उक्त स्थान तथा इटावाके दूसरे प्राचीन स्थानोंको दिखानेके लिए ले गए। वास्तवमें खटखटी बाबाका संस्कृतविद्यापीठ देखने योग्य है और जो इस जिलेका ही नहीं प्रान्तका सबसे बड़ा संस्कृत पुस्तकोंका भण्डार जान पड़ता है और जिसमें बीस हजारके करीब ग्रन्थ संग्रहीत बतलाए गए हैं। हम इसके तथा इटावाके दूसरे स्थानोंके बारेमें विशेष अगली किरणमें लिखेंगे। पाठकोंको यह जानकर प्रसन्नता होगी कि पूज्य वर्णीजी अब पूर्णतः स्वस्थ हैं और आस-पासकी जनताको उनके इटावामें विराजमान होनेसे बड़ा धर्मलाभ पहुंच रहा है। इटावाके धर्मबन्धुओंका धर्मानुराग प्रशंसनीय है। सभी बन्धु पूज्य वर्णीजीकी परिचर्यामें हर-समय तय्यार रहते हैं और आगतोंके आतिथ्यको बड़े प्रेमसे करते हैं

बा० छोटेलालजी जैन कलकत्ता जयपुरमें

जैन समाजके सुप्रसिद्धसेवी और वीरसेवामन्दिरके अनन्यप्रेमी बा. छोटेलालजी जैन कलकत्ता डेढ़ महिनेसे आज कल जयपुरमें अपना इलाज करा रहे हैं। अभी हालमें आप बहुत अस्वस्थ हो गए थे और जिससे बड़ी चिन्ता उत्पन्न होगई थी। किन्तु प्रसन्नताकी बात है कि अब आप पहलेसे अच्छे हैं और तवियत सुधारपर है। पाठक यह जानकर आश्चर्य करेंगे कि उन्हें जैन धर्मसे कितना गाढ़ अनुराग और लगन है कि इस अस्वस्थ अवस्थामें भी आपने जयपुरके प्रायः सभी जैनमन्दिरोंके, जो कलाकी दृष्टिसे खास महत्व रखते हैं, बा. मोतीलालजी जैन (बा. पन्नालालजी अग्रवाल देहलीके सुपुत्र) को देहलीसे बुलाकर उनसे चित्र लिवाये हैं और जिसमें अधिक परिश्रम होनेसे आप अस्वस्थ हो गये थे। भगवान् जिनेद्रसे प्रार्थना है कि आप शीघ्र आरोग्य-लाभ करके चिरकाल तक समाजकी सेवा करते रहें।

६ जनवरी १९५०, —दरबारीलाल जैन,

साहित्य परिचय और समालोचना

मेरी जीवनगाथा—लेखक श्री १०५ क्षुल्लक पूज्य गणेशप्रसादजी वर्णी, प्रकाशक गणेशप्रसाद वर्णी जैनग्रन्थमाला, भदैनी, काशी, मूल्य ६।) रु०।

यह भारतकी आध्यात्मिक विभूति तथा महान् सन्त पूज्य वर्णीजी द्वारा अपनी कलमसे लिखा गया उनका प्रामाणिक जीवनचरित है। पूज्य वर्णीजीको अपनी प्रशंसा नहीं सुहाती और इसलिये वे बार २ प्रेरणा होनेपर भी अपना जोवनचरित लिखना टालते रहे। वे कहते थे कि 'भाई! कुन्दकुन्द, समन्तभद्र आदि लोककल्याणकारी उत्तमोत्तम महापुरुष हुए जिन्होंने अपना चरित कुछ भी नहीं लिखा। मैं अपना जीवन क्या लिखूं? उसमें है ही क्या?' जब उन्हें जनताने भारी प्रार्थना और आग्रहके साथ उसे लिखनेके लिये बाध्य कर दिया तो उन्होंने इसे लिखा है। यह जीवनचरित नहीं है, यह तो अपने आपमें एक धर्मशास्त्र अथवा पद्मपुराण है जिसका घर-घरमें आबालवृद्धको स्वाध्याय करना चाहिये। इसमें समाजका ५० वर्षका इतिहास निबद्ध है जो आगामी पीढ़ीके लिये बड़ा ही लाभ-दायक सिद्ध होगा। पूज्य वर्णीजीने कितनी मुसीबतों और विपदाओंको उठाया है और लोकोत्तर पुरुष बने हैं, यह इसे पढ़कर सहजमें मालूम किया जा सकता है और प्रत्येक साधारण पुरुष उससे आत्मविकासकी उत्तम शिक्षा ग्रहण कर सकता है। जनता पूज्य वर्णीजी की बड़ी कृतज्ञ है कि उन्होंने इसे लिखा और जनता का बड़ा उपकार किया। इनके लिखवानेका प्रधान श्रेय श्री ब्र. कस्तूरचन्दजी नायककी धर्मपत्नीको प्राप्त है जिन्होंने सत्याग्रहपूर्ण प्रतिज्ञा की थी कि—'महाराज जब तक आप लिखना शुरू न करेंगे तब तक मैं भोजन न करूंगी।' धन्य है इस महिलाको! पुस्तक हर-एकके पढ़ने योग्य है। ऐसी पुस्तकोंका लाखोंकी संख्यामें प्रचार होना चाहिये। इसके प्रकाशनके लिये ग्रन्थमाला धन्यवादकी पात्र है। मजबूत जिल्द तथा छपाई-सफाई उत्तम।

२. वर्णी-वाणी—सम्पादक-वि० नरेन्द्र जैन, प्रकाशक उपर्युक्त। मू. ४)रु०।

यह वर्णीजीके आध्यात्मिक प्रवचनों तथा पत्रों आदिका सुन्दर और संशोधित एवं परिवर्धित दूसरा संस्करण है। एक बार यह पहले प्रकाशित हो चुका है और जिसे जनताने बहुत पसंद किया है। यह प्रत्येकके मनन करने योग्य है। इसमें कुछ परिवर्द्धित विषयोंके शीर्षक भ्रान्तिजनक तथा आपत्तिकारक है। जैसे इस ग्रन्थमें एक शीर्षक है 'मोक्षप्राप्तिमें उच्च गति आवश्यक नहीं'। इस शीर्षकसे दिगम्बर जैन जनताको भ्रम हो सकता है। अतः इसके स्थानमें 'आत्मविकासमें उच्च गति आवश्यक नहीं' अथवा 'धर्मप्राप्तिमें उच्च गति आवश्यक नहीं' जैसा शीर्षक होना चाहिए था। मजबूत जिल्द छपाई-सफाई उत्तम

३. जैनधर्मका प्राण—लेखक पं० श्रीसुखलालजी संघवी, प्रकाशक जैनसंस्कृतिसंशोधनमण्डल काशी, मूल्य ।=)।

पण्डितजी जैन समाजके माने हुए लेखक एवं चिन्तक विद्वान् है। इस लेखको उन्होंने श्रीरामकृष्णशताब्दीग्रन्थके नवीन संस्करणके लिये लिखा था, जिसे प्रस्तुत पत्रिकारूपमें उक्त मण्डलने प्रकाशित किया है। यह गुजरातीमें अनुवादित होकर 'संस्कृति' तथा 'प्रबुद्ध जैन' नामक पत्रोंमें भी प्रकट हुआ है। लेख मननपूर्ण तथा पढ़ने योग्य है।

४. राजर्षि कुमारपाल—लेखक मुनि श्री जिनविजयजी, प्रकाशक उपर्युक्त, मूल्य ।।)।

मुनि जिनविजयजी जैन साहित्य और इतिहासके अधिकारी विद्वान् हैं। उनकी लेखनीसे लिखा गया यह सुन्दर ट्रैक्ट है। इसमें राजर्षि कुमारपाल का वृत्त दिया गया है। यह गुजरातका यशस्वी और

जैनधर्मका बड़ा प्रचारक नरेश हुआ है जो आचार्य हेमचन्द्रका शिष्य था और जिसने उनकी प्रेरणासे गुजरातमें जैनधर्मका बड़ा भारी प्रचार किया था। लेखकने इसे सम्राट अशोक जैसा प्रभावक तथा प्रतापी नरेश बतलाया है। पुस्तक सुन्दर तथा इतिहासप्रेमियोंके कामकी चीज है।

५. गुजरातका जैनधर्म—लेखक तथा प्रकाशक उपर्युक्त ही। मूल्य ॥)।

लेखकने इसमें बतलाया है कि गुजरातमें जैनों का कैसा और कितना प्रभाव रहा है और जैनधर्म वहाँके नगर-नगर तथा गाँव-गाँवमें सर्वाधिक व्याप्त रहा है। पुस्तक बड़ी ही अच्छी और प्रचार योग्य है।

६. ज्ञानोदय—मासिक पत्र, सम्पादक मुनि कान्तिसागर, पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, प्रो० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य। प्रकाशक भारतीयज्ञानपीठ काशी। वार्षिक मूल्य ६), एक प्रतिका ।॥=)।

यह मासिक पिछले जुलाई माहसे उक्त सम्पादकोंके सम्पादकत्वमें उक्त ज्ञानपीठ काशीसे प्रकट हुआ है। अब तक इसके सात अङ्क निकल चुके है और जो मेरे सामने है। इसके प्रायः सभी लेख विद्वत्तापूर्ण और मनन-योग्य हैं। प्रगतिशील जनताको खासकर विद्वानोंको जैसे पत्रको जरूरत थी प्रायः वैसा ही यह पत्र है। हमें आशा है इसके द्वारा जैनधर्मका अच्छा और सच्चे रूपमें सर्वाधिक प्रचार होगा। कुछ विषयोंमें पत्रसे विचारभेद रखते हुए भी हम सहयोगीका अभिनन्दन और स्वागत करते है। पाठकोंको इसके ग्राहक बनकर अपनी मानसिक भूख मिटानेके लिये उसे अवश्य मंगाना चाहिए।

७. श्रमण—मासिक पत्र, सम्पादक श्री इन्द्रचन्द्र शास्त्री, एम० ए०, शास्त्राचार्य आदि। प्रकाशक मुनि श्रीकृष्णचन्द्राचार्य जैनाश्रम हिन्दू-युनिवर्सिटी बनारस ५।

यह मासिक भो गत नवम्बरसे ही प्रकाशित हुआ है। इसके तीन अङ्क अब तक निकले है जिन्हें देखकर आशा होती है कि पत्र अपने उद्देश्यमें अवश्य सफल होगा। पत्रका उद्देश्य है साम्प्रदायिक कदाग्रह न रखते हुए श्रमणसंस्कृतिका प्रचार करना और साधारण जनतामें सीधी-सादी भाषामें धर्म और संस्कृतिका रहस्य बताना। उद्देश्य उत्तम है। इसके लिये हम सहयोगीका अभिवादन करते हैं और पाठकोंसे उसे मंगानेकी प्रेरणा करते हैं।

८. वीर इण्डिया—साप्ताहिक पत्र, सम्पा० डा० नन्दकिशोर जैन, आर० एस० एम० एफ० तथा ए० पी० जैन बी० ए०, वीर इण्डिया कार्यालय, नयाबजार देहली। वार्षिक मूल्य ५)

यह पत्र गत अक्तूबरमें निकलना शुरू हुआ है। अभी उसके दो अंक निकले हैं। पत्रका उद्देश्य मानवधर्म प्रचार और भारतभरमें जैनसमाजका संगठन आदिका है। भावना है वह इसमें सफल हो

९. रिपोर्ट—श्रीपार्श्वनाथ दि० जैनमन्दिर और धर्मशाला लालपुरा इटावाकी विक्रमसंवत् १९९३ से २००५ तक तीन जुदी २ रिपोर्टें, प्रकाशक-श्रीमधुवनदासजी जैन प्रबन्धक उक्त संस्था।

हालमें हम पूज्य वर्णीजीके दर्शनार्थ इटावा गये थे। सौभाग्यसे बा० सोहनलालजो जैन कलकत्ता, जो अपनी जन्मभूमि इटावा आये हुए थे और पूज्य वर्णीजीकी परिचर्यामें रत थे, वहाँ मिल गये। हम दोनों एक दिनके प्रथम परिचयमें ही इतने घुल-मिल गये मानों वर्षोंका हमारा-उनका परिचय हो। आप पुरातत्त्व तथा साहित्य-प्रेमी है। आपने हमें उक्त धर्मशालाकी तीन रिपोर्टें दीं जिनसे उक्त संस्थाके संस्थापक बा० मुन्नालालजी जैनका धार्मिक प्रेम और जैनसमाजकी जागृतिकी पवित्र भावना जाननेको मिलती है। धर्मशालामें लोगोंको बड़ा लाभ पहुँचता है। इसके आश्रित एक औषधालय भी है जो पं० ज्ञानचन्द्रजी वैद्यकी अध्यक्षतामें सुचारु रीत्या चल रहा है और जिससे हजारों रोगी लाभ ले रहे है। एक कन्यापाठशाला भी शहरमें उक्त बाबूजीके ट्रस्टके व्ययसे चल रही है। ऐसी उपयोगी संस्थाएं समाजके लिये बड़ी आवश्यक है। बा० मुन्नालालजी का धर्मप्रेम प्रशंसनीय है।

१० जनवरी १९५०, —दरबारीलाल जैन,

भद्रबाहुनिमित्तशास्त्र और उसका अनुवाद

—••••○○••••—

[जैन विद्वान् लेखकोंने साहित्यके सभी अङ्गों—सिद्धान्त, दर्शन, नीति, कला, इतिहास, पुरातत्व, ज्योतिष, वैद्यक, काव्य, व्याकरण और मंत्रादि विषयोंपर विपुल ग्रन्थ-रचना की है और भारतीय साहित्यके अमर कोषागारको समृद्ध बनाया है। उनके साहित्यको यदि शेष भारतीय साहित्यमेंसे कुछ क्षणके लिये अलग कर दिया जाय तो भारतीय साहित्य अपूर्ण और निष्प्रभ-सा दिखेगा। अनेक पाश्चात्य विद्वानोंने जैनधर्मके साहित्यकी प्रशंसा करते हुए उसकी विपुलता और सर्वाङ्गपूर्णतापर बड़ा हर्ष व्यक्त किया है। एक प्रख्यात भारतीय विद्वान्ने तो यहां तक अपने उद्गार प्रकट किये हैं कि भारतीय साहित्यमें जो अहिंसक एवं सात्त्विक आचार-विचारकी धारा आई है वह जैन-साहित्यकी ऋणी है अथवा जैन साहित्यकी उसपर अमिट छाप है। वास्तवमें जैनाचार्योंने लोक-हितको हमेशा सामने रखा है और यह प्रयत्न किया है कि साहित्यका कोई अङ्ग अपूर्ण या विकृतरूपमें न रहे। उनके साहित्यने अहिसक-रचनामें जो योगदान दिया है वह अपूर्व है। उनके वैद्यक जैसे साहित्यमें मांस, मदिरा और मधुका भी त्याग बतलाया गया है और जीवनको अधिक शान्त तथा सात्त्विक बितानेका उपदेश किया गया है। इससे जैन-साहित्यकी सात्त्विकता और विशालताका कुछ अनुभव होजाता है।

साहित्यके अनेक विषयोंमें निमित्तशास्त्र (ज्योतिष) भी एक विषय है और जिसपर भी जैन विद्वानोंने ग्रन्थ लिखे हैं। इन्हीं ग्रन्थोंमें प्रस्तुत 'भद्रबाहु-निमित्तशास्त्र' है, जिसका दूसरा नाम 'भद्रबाहु-संहिता' भी है। कहा जाता है कि अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु निमित्तशास्त्रके महापण्डित थे। उन्होंने शिष्योंकी प्रेरणा और प्रश्न करनेपर उन्हें निमित्तशास्त्रका उपदेश किया था[1]। उनका यह उपदेश अर्से तक मौखिकरूपमें चलता रहा और बहुत कालके बाद उसे लिपिबद्ध किया गया। प्रस्तुत ग्रन्थ उसी उपदेशका एक आंशिक संकलन समझा जाता है। इसके कर्ता कौन हैं और इसे इसरूपमें कब निबद्ध किया गया है? आदि बातें विचारणीय हैं जिनपर इस ग्रन्थके स्वतंत्र प्रकाशनके समय ही उसकी प्रस्तावनामें विचार किया जावेगा।

इस ग्रन्थका अनुवाद श्रीजवाहरलालजी जैन वैद्य परतापगढ़ (राजपूताना-मालवा) ने किया है जो इस विषयके विज्ञ और प्रेमी हैं और जिसे उन्होंने दो प्रतियोंके आधारसे तैयार किया है। इसके कुछ अध्यायोंको उन्होंने अपने अनुवाद सहित 'अनेकान्त'में प्रकाशनार्थ कोई सात वर्ष पहले ३१ दिसम्बर १९४२ में भेजा था। किन्तु उसमें संशोधन और सम्पादनकी खास अपेक्षा होने तथा उसके लिये मुख्तारसाहबको अवकाश न मिलनेसे वह 'अनेकान्त' में अब तक प्रकाशित नहीं होसका। हालमें मुख्तारसाहबने उसके सम्पादनका भार मेरे सुपुर्द किया। फलतः उसे क्रमशः 'अनेकान्त' में प्रकट किया जारहा है। यद्यपि मूलग्रन्थ हालमें सिंघी जैन ग्रन्थमाला बम्बईसे प्रकाशित होगया है किन्तु अनुवादके साथ वह प्रथम बार ही प्रकाशित हो रहा है। जहाँ तक हुआ, हमने अनुवादकके अनुवादको भाषा-साहित्यकी दृष्टिसे सम्पादित तथा संशोधित किया है और उनकी मूल विचारणा ज्यों-की-त्यों रखी है। आशा है पाठकोंके लिये यह लाभप्रद होगा।

—दरबारीलाल कोठिया]

---

१ देखो, ग्रन्थकी पीठिका।

भद्रबाहु-निमित्तशास्त्र

(भद्रबाहु-संहिता)

हिन्दी-अनुवाद-सहित

प्रथम अध्याय

—०—

नमः श्रीवर्द्धमानाय सर्वज्ञाय महात्मने । निमित्तांग-प्रकाशाय वस्तुसंज्ञासमन्विते (?) ॥

अर्थ—जो सर्वज्ञ हैं—सर्व पदार्थोंके ज्ञाता हैं, महात्मा हैं—विशिष्ट गुणोंके प्रकट होनेसे उच्च आत्मा हैं, निमित्तशास्त्रके प्रकाशक हैं और वस्तुसम्बन्धी सम्यग्ज्ञान (पदार्थज्ञान) से युक्त हैं उन श्रीवर्द्धमान स्वामीके लिये नमस्कार है। ॥ १ ॥

विमल-बोध सुधाम्बुधि-चन्द्रिकं गुरुपदोदयभूधर-भास्करम् ।
ललितकीर्तिमुदार-गुणालयं भजत भद्रभुजं मुनिनायकम् ॥२॥

अर्थ—जो निर्मल ज्ञानरूपी अमृतसमुद्रको बढ़ानेके लिये चन्द्रमाके समान हैं, गुरुचरणरूपी उदयाचलसे उदित होनेवाले सूर्यके सदृश हैं तथा सुन्दर कीर्तिसे संयुक्त हैं और उदारगुणोंके भण्डार हैं उन आचार्य श्रीभद्रबाहुकी उपासना करो ॥ २ ॥

मागधेषु पुरं ख्यातं नाम्ना राजगृहं शुभम् । नानाजन-समाकीर्णं नानागुण-विभूषितम् । ३॥

अर्थ—मगधदेशके नगरोंमें प्रसिद्ध राजगृह नामका एक श्रेष्ठ नगर है, जो नाना प्रकारके मनुष्योंसे व्याप्त है और अनेक गुणोंसे सपन्न है ॥ ३ ॥

तत्रास्ति सेनजिद्राजा युक्तो राजगुणैः शुभैः । तस्मिन् शैलेषु विख्यातो नाम्ना पाण्डुगिरिः शुभः ॥४॥
नानावृक्ष-समाकीर्णो नानाविहग-सेवितः । चतुष्पदैः सरोभिश्च साधुभिश्चोपसेवितः ॥५॥

अर्थ—उस राजगृहमें सेनजित् नामका राजा है जो राजाओंके गुणोंसे सम्पन्न है। इस राजगृहमें (पांच) पर्वतोंमें विख्यात पाण्डुगिरि नामका उत्तम पर्वत है जो अनेक प्रकारके वृक्षोंसे व्याप्त है, अनेक पक्षियोंका क्रीडास्थल है और नाना तरहके पशुओंकी विहारभूमि है तथा अनेक तालावों और ऋषियोंसे उपसेवित है ॥ ४, ५ ॥

तत्रासीनं महात्मानं ज्ञान-विज्ञानसागरम् । तपोयुक्तं च श्रेयांसं भद्रबाहुं निरामयम् ॥६॥
द्वादशाङ्गस्य वेत्तारं निर्ग्रन्थं सुमहायतिम् । वृतं शिष्यैः प्रशिष्यैश्च निपुणं तत्त्ववेदिनम् ॥७॥
प्रणम्य शिरसाऽऽचार्यमूचुः शिष्यास्तदा गिरम् । सर्वेषु प्रीतिमनसो दिव्यं ज्ञानं बुभुत्सवः ॥८॥

अर्थ—उस पाण्डुगिरि पर्वतपर स्थित महात्मा, ज्ञान-विज्ञानके समुद्र, तपस्वी, कल्याणमूर्ति, रोग-रहित, द्वादशाङ्गके वेत्ता, निर्ग्रन्थ, महायति, शिष्यों और प्रशिष्योंसे युक्त, निपुण, तत्वज्ञानी, आचार्य श्रीभद्रबाहुको सिर झुकाकर नमस्कार करके सब जीवोंपर प्रीति करनेवाले और दिव्यज्ञानके इच्छुक शिष्योंने उनसे प्रार्थना की—॥ ६, ७, ८ ॥

पार्थिवानां हितार्थाय भिक्षूणां हितकाम्यया । श्रावकाणां हितार्थाय दिव्यं ज्ञानं ब्रवीहि नः ॥९॥

अर्थ—हे प्रभो ! राजाओं, भिक्षुओं और श्रावकोंके हितके लिये हमे आप दिव्यज्ञान (निमित्तशास्त्र) का उपदेश कीजिए ॥ ९ ॥

शुभाऽशुभं समुद्भूतं श्रुत्वा राजा निमित्ततः । विजिगीषुः स्थिरमतिः सुखं पाति महीं सदा ॥१२॥

अर्थ—(क्योंकि) राजा निमित्त (निमित्तशास्त्ररूप दिव्यज्ञान) से बतलाये गये अपने शुभाऽशुभको सुनकर शत्रुओंको जीतनेका इच्छुक तथा स्थिरबुद्धि (दृढ़ संकल्पी) बनता है और सुखसे सदा पृथ्वीका पालन करता है। तात्पर्य यह कि राजाओंको निमित्तशास्त्रका जानना इसलिये जरूरी है कि उससे वे अपने भावी इष्ट अथवा अनिष्टको मालूम करके प्रजाकी भलीभांति रक्षा करते हैं और राज्यमें सुख-शान्ति बनाये रखते हैं ॥ १० ॥

राजभिः पूजिताः सर्वे भिक्षवो धर्मचारिणः । विहरन्ति निरुद्विग्नास्तेन राज्ञाऽभियोजिताः ॥११॥

अर्थ—तथा धर्मपालक सर्व भिक्षु राजाओंद्वारा पूजित होते हुए और उनकी सेवादिको प्राप्त करते हुए निराकुलतापूर्वक लोकमे विचरण करते हैं ॥ ११ ॥

पापमुत्पातकं दृष्ट्वा ययुर्देशान्तरं ततः । स्फीतान् जनपदांश्चैव संश्रयेयुरनोदिताः ॥१२॥

अर्थ—और आश्रित देशको पापयुक्त अथवा उपद्रवयुक्त होनेवाला मालूमकर वहाँसे देशान्तर (दूसरे देश) को चले जाते हैं तथा बिना परप्रेरणाके स्वतंत्रतापूर्वक उपद्रवादिरहित सम्पन्न देशोंमे आबसते है। सो वे भी ऐसा निमित्तशास्त्रके ज्ञानसे ही करते हैं ॥ १२ ॥

श्रावकाः स्थिरसंकल्पा दिव्यज्ञानेन हेतुना । संश्रयेयुः परं तीर्थं यथा सर्वज्ञ-भाषितम् ॥१३॥

अर्थ—तथा श्रावक दिव्यज्ञानको पाकर दृढ़ संकल्पी होते हैं और सर्वज्ञकथित उत्कृष्ट एवं श्रेष्ठ तीर्थका आश्रय लेते हैं। तात्पर्य यह कि श्रावकोंको दिव्यज्ञानसे सर्वज्ञके वचनोंमे दृढ़ श्रद्धा होती है और उनके विचार ढुल-मिल नहीं होते। अतः उन्हें भी निमित्तज्ञानको प्राप्त करनेकी आवश्यकता है ॥ १३ ॥

सर्वेषामेव सत्त्वानां दिव्यज्ञानं सुखावहम् । भिक्षुकाणां विशेषेण पर-पिण्डोपजीविनाम् ॥१४॥

अर्थ—यह दिव्य (अष्टाङ्ग निमित्त) ज्ञान सब जीवोंके लिये सुखका देनेवाला है। और साधुओंको तो विशेष रूपसे सुखदायक है; क्योंकि उनका जीवनाधार श्रावकोंसे प्राप्त भोजनपर निर्भर है ॥ १४ ॥

विस्तीर्णं द्वादशाङ्गं तु भिक्षवश्चाल्पमेधसः । भवितारो हि बहवस्तेषां चैवेदमुच्यताम् ॥१५॥

अर्थ—द्वादशाङ्गसूत्र तो बहुत विस्तृत है और भिक्षु (साधु) अधिकांश अल्पबुद्धिके धारक होंगे, अतः उनके लिये निमित्तशास्त्र कहिए ॥ १५ ॥

सुखग्राहं लघुग्रन्थं स्पष्टं शिष्यहितावहम् । सर्वज्ञ-भाषितं तथ्यं निमित्तं च ब्रवीहि नः ॥१६॥

अर्थ—जो सरलतासे ग्रहण किया जा सके, संक्षिप्त हो, स्पष्ट हो, शिष्योंका हित करनेवाला हो, सर्वज्ञ कथित हो और यथार्थ हो उस निमित्तज्ञानका उपदेश कीजिए ॥ १६ ॥

उल्कां समासतो व्यासात् परिवेषांस्तथैव च । विद्यु तोऽभ्राणि सन्ध्याश्च मेघान् वातान् प्रवर्षणम्
गन्धर्वनगरं गर्भान् यात्रोत्पातांस्तथैव च । ग्रहचारं पृथक्त्वेन ग्रहयुद्धं च कृत्स्नतः ॥१८॥
वार्तिकं चाथ स्वप्नांश्च मुहूर्तांश्च तिथींस्तथा । करणानि निमित्तं च शकुनं पाकमेव च ॥१६॥
ज्योतिषं केवलं कालं वास्तु-दिव्येन्द्रसम्पदाम् । लक्षणं व्यंजनं चिह्नं लग्नं दिव्यौषधानि च ॥२०॥
बलाऽबलं च सर्वेषां विरोधं च पराजयम् । तत्सर्वमानुपूर्व्वेण प्रब्रवीहि महामते ॥२१॥
सर्व्वानेतान् यथोद्दिष्टान् भगवन् ! वक्तुमर्हसि । प्रश्नं शुश्रूषवः सर्व्वे वयमन्ये च साधवः ॥२२॥

अर्थ—हे महामते ! संक्षेप और विस्तारसे उल्का, परिवेष, विद्युत, अभ्र, सन्ध्या, मेघ, वात, प्रवर्षण, गन्धर्वनगर, गर्भ, यात्रा, उत्पात, पृथक् पृथक् ग्रहचार (शुक्रचार, शनिचार, गुरुचार, बुधचार, अंगारकचार, राहुचार, केतुचार, सूर्यचार और चन्द्रचार), ग्रहयुद्ध, वार्तिक (अघकाण्ड), स्वप्न, मुहूर्त, तिथि, करण, निमित्त, शकुन, पाक, ज्योतिष, वास्तु, दिव्येन्द्रसंपदा, लक्षण, चिह्न, लग्न, दिव्यौषध, बलाबल, विरोध और जय-पराजय इन समस्त विषयोंका क्रमशः वर्णन कीजिए। हे भगवन् ! जिस क्रमसे इन सबका निर्देश किया गया है उसी क्रमसे उनका उत्तर दीजिए। हम सभी तथा दूसरे साधुजन प्रश्नोंका उत्तर सुननेके लिये उत्कंठित हैं ॥ १७,१८,१६,२०,२१,२२ ॥

इति नैर्ग्रन्थे भद्रबाहुसंहितायां (भद्रबाहुके निमित्ते) ग्रन्थाङ्गसंचयो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः ।

ततः प्रोवाच भगवान् दिग्वासाः श्रमणोत्तमः । यथावच्छास्त्रविन्यासं द्वादशाङ्गविशारदः ॥१॥

अर्थ—शिष्योंके उक्त प्रश्नोंके किये जानेपर द्वादशाङ्गके पारगामी दिगम्बर श्रमणश्रेष्ठ भगवान् भद्रबाहु आगममें जिसप्रकारसे उक्त प्रश्नोंका वर्णन निहित है उसप्रकारसे अथवा प्रश्नक्रमसे उनका उत्तर देनेके लिये उद्यत हुए ॥ १ ॥

भवद्भिर्यद्यहं पृष्टो निमित्तं जिन-भाषितम् । समास-व्यासतः सर्व्वं तन्निबोध यथाविधि ॥२॥

अर्थ—हे शिष्यो ! आप सबने मेरेसे यह पूछा है कि—'हम लोगोंके शुभाऽशुभ जाननेके लिये श्रीजिनेन्द्रदेवने जो निमित्त कहा है उसे कहो।' अतः मैं संक्षेप और विस्तारसे उस सबका यथाविधि वर्णन करता हूँ, सो सुनो— ॥ २ ॥

प्रकृतेर्योऽन्यथाभावो विकारः सर्व्व उच्यते । एवं विकारं विज्ञेयं भयं तत्प्रकृतेः सदा ॥३॥

अर्थ—हे भिक्षुओ ! प्रकृतिका अन्यथाभाव होना ही विकार कहा जाता है, जब कभी तुमको प्रकृतिका विकार जाननेमें आवे तो उसपरसे जानना कि यहाँपर भय होनेवाला है ॥ ३ ॥

उल्कानां प्रभवं रूपं प्रमाणं फलमाकृतिम् । यथावत्संप्रवक्ष्यामि तन्निबोधाय तत्त्वतः ॥४॥

अर्थ—उल्काओंकी उत्पत्ति, रूप, प्रमाण, फल और आकृति इनका इनके यथार्थ ज्ञानके लिये यथावत् कथन करूँगा ॥ ४ ॥

भौतिकानां शरीराणां स्वर्गात्प्रच्यवतामिह । संभवाश्चान्तरिक्षे तु तज्ज्ञैरुल्केति संज्ञिता ॥५॥

अर्थ—भौतिक(पृथिवी, जल, अग्नि और आकाश इन पांच भूतोंसे निष्पन्न) शरीरोंको धारण किये हुए देव जब स्वर्गसे इस लोकमें आते हैं तब उनके शरीर आकाशमें विचित्र ज्योतिरूपको धारण करते है उसे विद्वानोंने उल्का कहा है ॥ ५ ॥

तत्र तारा तथा धिष्ण्यं विद्युच्चाशनिभिः सह । उल्काविकारा बोद्धव्या ते पतन्ति निमित्ततः ।६॥

अर्थ—तारा, धिष्ण्य, विद्युत् और अशनि ये सब उल्काके विकार हैं और ये निमित्त पाकर गिरते हैं ॥ ६ ॥

ताराणां च प्रमाणं च धिष्ण्यं तद्द्विगुणं भवेत् । विद्युद्विशाल-कुटिला रूपतः क्षिप्रकारिणी ॥७॥

अर्थ—ताराका जो प्रमाण है उससे दूना प्रमाण (लम्बाईमें) धिष्ण्यका है । विद्युत् नामवाली उल्का बड़ी और कुटिल तथा शीघ्रगामिनी होती है ॥ ७ ॥

अशनिश्चक्रसंस्थाना दीर्घा भवति रूपतः । पौरुषी तु भवेदुल्का प्रपतन्ती विवर्द्धते ॥ ८ ॥

अर्थ—अशनि नामकी उल्का चक्राकार होती है । पौरुषी नामकी उल्का स्वभावसे ही लम्बी होती है तथा गिरते हुए बढ़ती हुई जाती है ॥ ८ ॥

चतुर्भागफला तारा धिष्ण्यमर्द्धफलं भवेत् । पूजिता पद्मसंस्थाना माङ्गल्या ताश्च पूजिताः ॥९॥

अर्थ—तारा नामकी उल्काका फल चतुर्थांश होता है, धिष्ण्य संज्ञक उल्काका फल आधा होता है और जो उल्का कमलाकार होती है वह पूजने योग्य तथा मंगलकारी है । ये उल्काएँ पूजित अर्थात् अच्छी एवं पुण्यरूप हैं ॥ ९ ॥

पापा घोरफलं दद्युः शिवाश्चापि शिवं फलम् । व्यामिश्राश्चापि व्यामिश्रं येषां यैः प्रतिपुद्गलाः१०

अर्थ—पापरूप उल्का घोर अशुभ फल देती है तथा शुभरूप उल्का शुभ फल देती है । और पाप तथा पुण्य मिश्रित उल्का पाप और पुण्य मिश्रित (मिला हुआ) फल प्रदान करती है । इन पुद्गलोंका ऐसा ही स्वभाव है ॥ १० ॥

इत्येतावत्समासेन प्रोक्तमुल्कासुलक्षणम् । पृथक्त्वेन प्रवक्ष्यामि लक्षणं व्यासतः पुनः ॥११॥

अर्थ—यहाँ तक उल्काओंके संक्षेपमें लक्षण कहे, अब पृथक् पृथक् पुनः विस्तारसे कहता हूँ ॥११॥

इति उल्कालक्षणो द्वितीयोऽध्यायः ।

अथ तृतीयोऽध्यायः ।

—:—:—

नक्षत्रं यस्य यत्पुंसस्तूर्णमुल्का प्रताडयेत् । भयं तस्य भवेद् घोरं यतस्तत्कम्पते हतम् ॥१॥

अर्थ—जिस पुरुषके जन्मनक्षत्रको[1] अथवा नामनक्षत्रको उल्का शीघ्रतासे ताडित करे उस पुरुषको घोर भय होता है। यदि जन्मनक्षत्रको कम्पायमान करे तो उसका घात होता है ॥ १ ॥

अनेकवर्णनक्षत्रमुल्का हन्युर्यदा समाः । तस्य देशस्य तावन्ति भयान्युग्राणि निर्दिशेत् ॥२॥

अर्थ—जिस वर्ष जिस देशके नक्षत्रको अनेक वर्ण (रंग) की उल्का आघात करे तो उस देश वा ग्रामको उग्र भय करनेवाली उसे समझना चाहिए ॥ २ ॥

येषां वर्णेन संयुक्ता सूर्यादुल्का प्रवर्त्तते । तेभ्यः संजायते तेषां भयं येषां दिशं पतेत् ॥३॥

अर्थ—सूर्यसे निकली हुई उल्का जिस वर्णसे युक्त होकर जिस दिशामें गिरे तो उस दिशामें उस वर्णवालेको वह घोर भय करनेवाली जानो ॥ ३ ॥

नीलाः पतन्ति या उल्काः सस्यं सर्वं विनाशयेत् । त्रिवर्णा त्रीणि घोराणि भयान्युल्का निवेदयेत्॥४

अर्थ—यदि नीलवर्णकी उल्का गिरे तो वह सर्वप्रकारके धान्योंको नाश करती है अर्थात् उनके नाश होनेकी सूचना देती है। और यदि तीन वर्णकी उल्का गिरे तो तीन प्रकारके घोर भयोंको वह बताती है ॥ ४ ॥

विकीर्यमाणा कपिला विशेषं वामसंस्थिता । खण्डा भ्रमन्त्यो विकृताः सर्वा उल्का भयावहाः ॥५॥

अर्थ—बिखरी हुई कपिल वर्णकी विशेषकर वामभागमें गमन करनेवाली, घूमती हुई, खण्डरूप एवं विकृत उल्काएँ दिखाई दें तो ये सब भय होनेकी सूचना करती हैं ॥५॥

उल्काऽशनिश्च धिष्ण्यं च प्रपतन्ति यतो मुखाः । तस्यां दिशि विजानीयात्ततो भयमुपस्थितम् ॥६॥

अर्थ—उल्का, अशनि और धिष्ण्य जिस दिशामें मुखसे गिरें तो ऐसा जानो कि इस दिशामें भय उपस्थित होगा ॥ ३ ॥

सिंह-व्याघ्र-वराहोष्ट्र-श्वान द्वीपि-खरोपमाः । शूल-पट्टिश-संस्थाना धनुर्बाण-गदामयाः ॥७॥
पाश-वज्रासि-सदृशाः परश्वर्द्धेन्दुसन्निभाः । गोधा-सर्प-शृगालानां सदृशाः शल्यकस्य च ॥८॥
मेषाऽज-महिषाकाराः काकाऽऽकृति-वृकोपमाः । शश-मार्जार-सदृशाः पक्ष्योदग्रसन्निभाः ॥९॥
ऋक्ष-वानर-संस्थानाः कवन्ध-सदृशाश्च याः । अलातचक्र-सदृशाः वक्राक्ष-प्रतिमाश्च याः ॥१०॥
शक्ति-लाङ्गल-संस्थाना यस्याश्चोभयतः शिरः । सा स्तन्यमाना(!)नागाभाः प्रपन्ति स्वभावतः ॥११

अर्थ—सिंह, व्याघ्र (चीता अथवा नाहर), सुअर, ऊंट, तेन्दुआ, कुत्ता, गदहा, त्रिशूल, पट्टिश

1 जन्मनक्षत्रके अभावमें नाम नक्षत्रपरसे विचार करना।

(एक प्रकारका आयुध) धनुष, बाण, गदा, फरसा, वज्र, तलवार, अर्द्धचन्द्राकार कुल्हाड़ी, गोह, सर्प, सियाल, भाला, मेढा, बकरा, भैंसा, कौआ, भेड़िया, खरगोश, बिल्ली, अत्यन्त ऊंचे उड़नेवाला पक्षी—गिद्ध, रीछ, बन्दर, शिरकटे हुए धड़, कुम्हारका चाक, टेड़ी आँखवाला, शक्ति (आयुधविशेष), हल इन सबके आकारवाली और दो शिरवाली तथा हाथीके आकारवाली उल्काएं स्वभावसे ही गिरती हैं ॥ ७, ८, ६, १०, ११ ॥

उल्काऽशनिश्च विद्युच्च सम्पूर्णं कुरुते फलम् । पतन्ती जनपदान्त्रीणि उल्का तीव्रं प्रबाधते ॥१२॥

अर्थ—उल्का, अशनि और विद्युत ये तीनों विजलियां पूरे फलको करती है। इन तीनों (उल्काओं) के गिरनेसे देशवासियोंको तीव्र बाधा होती है ॥ १२ ॥

यथावदानुपूर्वेण तत्प्रवक्ष्यामि तत्त्वतः । अग्रतो देशमार्गेण मध्येनान्तरं ततः ॥१३॥
पुच्छेन पृष्ठतो देशं पतन्त्युल्का विनाशयेत् । मध्यमा न प्रशस्यन्ते नभस्युल्काः पतन्ति याः ॥१४॥

अर्थ—आगमानुसार क्रमशः उनका कथन करता हूँ। यदि उल्का अग्रभागसे गिरे तो देशके मार्गका नाश करती है। यदि मध्यम भागसे गिरे तो देशके मध्यम भागका और पीछे भागसे गिरे तो देशके पीछे भागका विनाश करती है। तथा जो उल्का मध्यम है अर्थात् समान-साधारण अवस्था (अग्र, मध्य और पृष्ठ रहित)वाली है और आकाशसे गिरे तो वह प्रशस्त नहीं है ॥ १३, १४ ॥

स्नेहवत्योऽन्यगामिन्यो प्रशस्ताः स्युः प्रदक्षिणाः । उल्का यदि पतेच्चित्रा पक्षिणामहिताय सा ॥१५

अर्थ—किन्तु यदि वह स्नेहयुक्त होती हुई दक्षिणमार्गसे गमन करे तो वह उल्का प्रशस्त है और यदि चित्र-विचित्र रंगकी उल्का बायें मार्गसे गिरे तो पक्षियोंको अहित करनेवाली जानो। ॥ १५ ॥

श्याम लोहितवर्णा च सद्यः कुर्यान्महद्भयम् । उल्कायां भस्मवर्णायां परचक्राऽऽगमो भवेत् ॥१६॥

अर्थ—यदि श्याम और लाल वर्ण की उल्का गिरे तो वह शीघ्र महाभयकी सूचना करती है तथा भस्म वर्णकी उल्का परचक्रका आना बताती है ॥ १६ ॥

अग्निमग्निप्रभा कुर्याद् व्याधिं माञ्जिष्ठ-सन्निभा । नीला कृष्णा च धूम्रा च शुक्ला चाऽसिसमद्युतिः॥
उल्का नीचैः समा स्निग्धा पतन्ती भयमादिशेत् । शुक्ला रक्ता च पीता च कृष्णा चापि यथाक्रमम्॥
चातुर्वर्ण्या विभक्तव्याः साधुनोक्ता यथाक्रमम् ।

अर्थ—अग्निकी प्रभावाली उल्का भय करती है। मंजिष्ठ (मजीठ)के समान वर्णवाली उल्का व्याधि (रोग बीमारी)को करती है। नील, कृष्ण, धूम्र और तलवारके समान द्युतिवाली उल्का नीच प्रकृति अर्थात् अधम जानना। स्निग्धा उल्का समप्रकृतिवाली जानना। शुक्ल, रक्त, पीत और कृष्ण इन वर्णोंवाली उल्का क्रमसे चार वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रमें विभाजित करना। सो ये चारों वर्णवाली उल्काएं क्रमसे ब्राह्मणादि चारों वर्णोंका भय होनेकी सूचना देती है ऐसा साधुओंने कहा है। अर्थात् श्वेत वर्णसे ब्राह्मण, रक्तसे क्षत्रिय, पीतसे वैश्य और कृष्णसे शूद्र जानना ॥ १७, १८½ ॥

उदीच्यां ब्राह्मणान् हन्ति प्राच्यामपि च क्षत्रियान् । वैश्यान् निहन्ति याम्यां प्रतीच्यां शूद्रघातिनी

अर्थ—यदि उल्का उत्तर दिशामें गिरे तो ब्राह्मणोंका घात करती है, पूर्वदिशामें गिरे तो क्षत्रियोंका, दक्षिणदिशामें गिरे तो वैश्योंका और पश्चिम दिशामें गिरे तो शूद्रोंका घात करती है। यहाँ पर ऐसा जानना कि उत्तर दिशा ब्राह्मणोंकी, पूर्वदिशा क्षत्रियोंकी, दक्षिणदिशा वैश्योंकी और पश्चिमदिशा शूद्रोंकी है। इस विषयका और कहींपर भी कथन आवे तो उल्का, ग्रह आदि वर्ण और दिशापरसे चारों वर्णोंके विषयपर कल्पना कर फल बताना। इस उल्काध्यायकी संज्ञा इस ग्रन्थमें सर्वत्र व्यापक समझना ॥ १६ ॥

उल्का रूक्षवर्णेन स्वं स्वं वर्णं प्रबाधते। स्निग्धा चैवानुलोमा च प्रसन्ना च न बाधते ॥२०॥

अर्थ—उल्का रूक्ष वर्णसे अपने अपने वर्णको बाधा देती है, अर्थात् श्वेत वर्णकी होकर यदि उल्का रूक्ष हो तो ब्राह्मणोंको बाधाकारक जानो। इस उदाहरणपरसे सब वर्णोंमें घटित कर लेना चाहिये। यदि स्निग्ध और अनुलोम (सव्यमार्ग) तथा प्रसन्न उल्का हो तो वह शुभ होनेसे अपने २ वर्णको बाधा नहीं करती ॥ २० ॥

या चादित्यात् पतेदुल्का वर्णतो वा दिशोऽपि वा। तं तं वर्णं निहन्त्याशु वैश्वानर इवार्चिभिः ॥२१॥

अर्थ—जो उल्का सूर्यसे निकलकर जिस वर्णकी होकर जिस दिशामें गिरे उस वर्ण और दिशापरसे उसी उसी वर्णवालेको अग्निकी ज्वालाके समान शीघ्र नाश करती है ॥ २१ ॥

अनन्तरां दिशं दीप्ता येषामुल्काऽग्रतः पतेत्। तेषां स्त्रियश्च गर्भाश्च भयमिच्छन्ति दारुणम् ॥२२॥

अर्थ—यदि उल्का अव्यवहित दिशाको दीप्त करती हुई अग्रभागसे गिरे तो स्त्रियों और उनके गर्भोंको भयानक भय करती है अर्थात् गर्भपात होते हैं ॥ २२ ॥

कृष्णा नीला च रूक्षाश्च प्रतिलोमाश्च गर्हिताः। पशु-पक्षि-सुसंस्थाना भैरवाश्च भयावहाः ॥२३॥

अर्थ—कृष्ण अथवा नील वर्णकी रूक्ष उल्का प्रतिलोम (उलटे) मार्गसे अर्थात् अपसव्यमार्ग (बांये) से गिरे तो निन्दित है। यदि पशु-पक्षिके आकारवाली हो तो भयको करनेवाली जानना ॥ २३ ॥

अनुगच्छन्ति याश्चोल्का बाह्यास्तूल्काः समन्ततः। वत्सानुसारिणी नामा सा तु राष्ट्रं विनाशयेत् २४

अर्थ—जो उलका मार्गमें गमन करती हुई आस-पासमें दूसरी उल्काओंसे भिड़ जाय वह वत्सानुसारिणी (बच्चेकी आकारवाली) उल्का कही जाती है और ऐसी उल्का राष्ट्रका नाश सूचित करती है ॥२४॥

रक्ता पीता नभस्युल्काश्चेभ-नक्रेण सन्निभाः। अन्येषां गर्हितानां च सत्त्वानां सदृशास्तु याः ॥२५॥
उल्कास्ता न प्रशस्यन्ते निपतन्त्यः सुदारुणाः। यासु पपतमानासु मृगा विविधमानुषाः ॥२६॥

अर्थ—आकाशमें उत्पन्न होती हुई जो उल्का हाथी और नक्र (मगर) के आकार तथा निन्दित प्राणियोंके आकारवाली होती है वह जहाँ गिरे वहाँ दारुण अशुभ फलकी सूचना करती है। और मृगों तथा विविध मनुष्योंको घोर कष्ट देती है ॥ २५, २६ ॥

शब्दं मुञ्चन्ति दीप्तासु दिक्वासन्नकाम्यया। क्रव्यादाश्चाऽऽशु दृश्यन्ते या खरा विकृताश्च या २७
सधूम्रा याः सनिर्घाता उल्का याश्चमनाप्नुयः(?)। सभूमिकम्पा परुषा रजस्विन्योऽपसव्यगाः ॥२८॥

ग्रहानादित्यचन्द्रौ च याः स्पृशन्ति दहन्ति वा । परचक्रभयं घोरं क्षुधाव्याधि-जनक्षयम् ॥२९॥

अर्थ—जो उल्का अपने द्वारा प्रदीप्त दिशाओंमें निकटकामनासे शब्दको छोड़ती—गड़गड़ाती हुई मांसभक्षी जीवोंके समान शीघ्रतासे दिखे अथवा जो उल्का रूक्ष विकृतरूप धारण करती हुई धूमवाली, शब्दसहित, अश्वके समान वेगवाली, भूमिको कंपाती हुई, कठोर—काबरचीतरी, धूल उड़ाती हुई, वायें मार्गसे गति करती हुई, ग्रहों तथा सूर्य और चन्द्रमाको स्पर्श करती हुई या जलाती हुई दीख पड़े—गिरे तो वह परचक्रका घोर भय उपस्थित करती है तथा क्षुधाके रोग—अकाल पड़ने और मनुष्योंके नाश होनेकी सूचना देती है ॥ २७, २८, २९ ॥

एवंलक्षणसंयुक्ता कुर्वन्त्युल्का महद्भयम् । अष्टापदवदुल्काऽभिर्दिशं पश्येद् यदाऽऽवृताम् ॥३०॥
युगान्त इति विन्द्यात् तत षड् मासान्नोपलभ्यते ।

अर्थ—उपरोक्त लक्षण युक्त उल्का महान भयको करती है। यदि अष्टापद समान दृष्टिगोचर हो तो ऐसा जानो कि छह मासमें युगका अन्त ही होनेवाला है ॥ ३०½ ॥

पद्म-श्रीवृक्ष-चंद्रार्क-नंद्यावर्त्त-घटोपमाः ॥३१॥
वर्द्धमानध्वजाकारा पताका-मत्स्य-कूर्म्मवत् । वाजि-वारणरूपाश्च शंख-वादित्र-छत्रवत् ॥ ३२ ॥
सिंहासन-रथाकारा रूप्यपिण्डव्यवस्थिताः । रूपैरेतैः प्रशस्यन्ते सुखमुल्काः समाहिताः ॥३३॥

अर्थ—यदि पद्म, श्रीवृक्ष, चंद्र, सूर्य, नंद्यावर्त (एक प्रकारका स्वास्तिक), कलश, बढ़ती हुई ध्वजा, पताका, मछली, कच्छप, अश्व, हस्ति, शंख, वादित्र, छत्र, सिंहासन, रथ और चांदीका पिण्ड इनके आकारों तथा रूपोंसे उल्का गिरे तोउसे उत्तम जानना। यह उल्का सबको सुख देनेवाली है ॥३१,३२,३३॥

नक्षत्राणि विमुञ्चन्त्यः स्निग्धाः प्रत्युत्तमाः शुभाः । सुवृष्टिं क्षेममारोग्यं सस्यसंपत्तिरुत्तमाः ॥३४॥

अर्थ—यदि उल्का नक्षत्रोंको छोड़कर गमन करनेवाली-स्निग्ध और उत्तम शुभलक्षणवाली दिखाई दे तो सुवृष्टि, क्षेम, आरोग्य और धान्यकी उत्पत्ति उत्तम होती है ॥ ३४ ॥

सोमो राहुश्च शुक्रश्च केतुर्भौमश्च यायिनः । बृहस्पतिर्बुधः सूर्यः शौरिश्चबलस्थावरा ॥ ३५ ॥

अर्थ—युद्धके निमित्त चढ़ाई कर जानेवाला राजा आदि 'यायि' संज्ञासे कहा जाता है, जिस स्थान पर चढ़कर आता है—उस स्थानके रहनेवाले (राजा आदि) को स्थायी अथवा 'थावर' संज्ञासे पुकारा जाता है। यहां पर यह दिखाते हैं कि—यायिके लिये—चंद्र, राहु, शुक्र, केतु और मंगलका बल जानना और स्थायीके लिये—बृहस्पति, बुध, सूर्य और शनिका बल जानना। इन ग्रहोंके बलाऽबल परसे यायि और स्थायीके बलका विचार करना ॥ ३५ ॥

हन्युर्म्मध्येन या उल्का ग्रहाणां नाम विद्युता । सानिर्घाता सधूम्रा वा तत्र विंद्यादिदं फलम् ॥३६॥

अर्थ—जो उल्का मध्य भागसे ग्रहको हने, वह उल्का विद्युत नामकी जानो। यह उल्का निर्घात सहित तथा धूम सहित हो तो उसका फल नीचे मुजिब जानो ॥ ३६ ॥

नगरेषूपसृष्टेषु नागराणां महद्भयम् । यायिषु चोपसृष्टेषु यायिनां तद्भयं भवेत् ॥ ३७ ॥

अर्थ—नगरकी व्यूहरचनाके विषे उपरोक्त उल्का गिरे तो नगरवासियों (स्थाई)को महान् भय होता है । यदि यायिके पड़ाव (कटक-शिविर)में गिरे तो यायिवालेको महान् भयका कारण होती है ॥ ३७ ॥

संध्यानां रोहिणी पौष्णयं चित्रा त्रीण्युत्तराणि च । मैत्रं चोल्का यदा हन्यात् तदा स्यात्पार्थिवं भयं ॥

अर्थ—यदि उल्का संध्या कालके विषे रोहिणी, रेवती, चित्रा, उत्तराफाल्गुनि, उत्तराषाढा, उत्तराभाद्रपदा और अनुराधा नक्षत्रोंको हने (घाते) तो राजाको भय होता है ॥ ३८ ॥

वायव्यं वष्णवं पुष्यं यद्युल्काभिः प्रताडयेत् । ब्रह्म-क्षत्रभयं विंद्याद्राज्ञश्च भयमादिशेत् ॥ ३६ ॥

अर्थ—स्वाति, श्रवण और पुष्य नक्षत्रोंको यदि उल्का ताड़ित (घात) करे तो ब्राह्मण, क्षत्रिय और राजाको भयका आदेश करती है ॥ ३६ ॥

यथाग्रहं तथा ऋक्षं चातुर्वर्ण्यं विभावयेत् ।

अर्थ—जैसे ग्रह हों, अथवा नक्षत्र हों उनपरसे चारों वर्णोंके विषयमें ग्रह और नक्षत्रपरसे फलकी वर्णप्रतिकल्पना करना चाहिये ॥

अतः परं प्रवक्ष्यामि सेनासूल्का यथाविधि ॥ ४० ॥

सेनायास्तु समुद्योगे राज्ञा विविधमानवाः । उल्का यदा पतन्तीति तदा वक्ष्यामि लक्षणम् ॥ ४१ ॥

अर्थ—अब सेनाके विषयमे जो उल्काका शुभाशुभ विधान है वह यहांपर कहा जाता है । सेनाके युद्धके उद्योगके समय जो उल्का गिरती है उसका लक्षणादि राजाओं और विविध मनुष्योंके लिये यहां कहा जाता है ॥ ४०,४१ ॥

उद्गच्छत् सोममर्कं वा यद्युल्का संविदारयेत । स्थावराणां विपर्यासं तस्मिन्नुत्पातदर्शने ॥४२॥

अर्थ—यदि उल्का ऊपरको गमन करती हुई चंद्र और सूर्यको विदारण करे तो स्थावर स्थाई वासीके लिये वह विपरीत उत्पातोंका दर्शन करानेवाली होती है ॥ ४२ ॥

अस्तं यातमथादित्यं सोमं चोल्का लिखेद् यदा । आगन्तुर्वध्यते सेनां यथादिशं यथागमम् ॥४३॥

अर्थ—सूर्य और चन्द्रमाके अस्त होनेपर यदि उल्का दिखाई दे तो आनेवाले यायिकी दिशामें आनेवाले आगतुक (यायिक)की सेनाका वध होता है ॥ ४३ ॥

उद्गच्छत् सोममर्कं वा यद्युल्का प्रतिलोमतः । प्रविशेन्नागराणां स्याद्विपर्यासस्तदागते ॥ ४४ ॥

अर्थ—प्रतिलोम मार्गसे गमन करती हुई उल्का उदय होते हुए सूर्य और चन्द्रके मंडलमे प्रवेश करे तो स्थाई लोगोंके लिये विपरीत है अर्थात् अशुभ है, ऐसी ही आनेवाले (यायि)केलिये विपरीत जानो ।

एषैवास्तमिते उल्का आगन्तूनां भयं भवेत् । प्रतिलोमा भयं कुर्याद्यथास्वं चन्द्र-सूर्ययोः ॥ ४५ ॥

अर्थ—उपरोक्त योगमें चन्द्र-सूर्यके अस्त समय प्रतिलोम मार्गसे गमन करती हुई चंद्र-सूर्यके मण्डलमें आकर उल्का अस्त हो जाय तो स्थाई और यायि एवं दोनोंको भय करनेवाली जानो ॥ ४५ ॥

उदये भास्करस्योल्का याऽतोऽभिप्रसर्पति । सोमस्यापि जयं कुर्यादेषां पुरु-सरावृतिः ॥ ४६ ॥

अर्थ—यदि उल्का सूर्योदय होते हुए सूर्यके आगे और चन्द्रके उदय होते हुए चन्द्रमाके भी आगे गमन करे तथा बाणोंको आवृतिरूप हो तो उसे जयकी करनेवाली जानना चाहिये ॥ ४६ ॥

सेनामाभिमुखीभूत्वा यद्युल्का प्रतिगृह्यते । प्रतिसेनावधं विन्द्यात्तस्मिन्नुत्पातदर्शने ॥ ४७ ॥

अर्थ—यदि उल्का सेनाके अभिमुख (सामने) होकर गिरती हुई दीखे तो प्रतिसेनाका बध जानो। इस उत्पातके दीखनेका यही फल है ॥ ४७ ॥

अथ यद्युभयं सेनामेकैकं प्रतिलोमतः । उल्का तूर्णं प्रपद्येत उभयत्र भयं भवेत् ॥ ४८ ॥

अर्थ—यदि दोनों सेनाओंकी ओर एक एक सेनामें प्रतिलोम (अपसव्य) मार्गसे उल्का शीघ्रतासे गिरे तो दोनों सेनाओंको भय होता है ॥ ४८ ॥

येषां सेनासु निपतेदुल्का नीलमहाप्रभा । सेनापतिवधस्तेषामचिरात्सम्प्रजायते ॥ ४९ ॥

अर्थ—यदि नील रंगकी महा प्रभावाली उल्का जिस सेनामें गिरे तो उस सेनाका सेनापति शीघ्र ही मारा जाता है ॥ ४९ ॥

उल्कासु लोहिताः सूक्ष्माः पतंति पृतनां प्रति । यस्य राज्ञः प्रयुक्तारं कुमारो हंति तं नृपम् ॥५०॥

अर्थ—लोहित वर्णकी सूक्ष्म उल्का जिस राजाकी सेनाके प्रति गिरे उस सेनाके राजाका पुत्र 'प्रयुक्तारम्' अस्त्रसे राजाको मार डालता है ॥ ५० ॥

उल्कास्तु बहवः पीताः पतन्त्यः पृतनां प्रति । पृतनां व्याधितां प्राहुस्तस्मिन्नुत्पातदर्शने ॥५१॥

अर्थ—पीत वर्णकी बहुत उल्का सेनाके प्रति गिरे तो इस उत्पातके दर्शनका फल सेनामें रोग फैलना है ॥५१॥

संघशास्त्रानुपद्येत (?)उल्का श्वेताः समन्ततः । ब्राह्मणेभ्यो भयं घोरं तस्य सैन्यस्य निर्दिशेत् ५२

अर्थः—यदि श्वेत रंगकी उल्का सेनामें चारों तरफ गिरे तो वह उस सेनाको और ब्राह्मणोंको घोर भयकी सूचना करती है ॥ ५२ ॥

उल्का व्यूहेष्वनीकेषु या पतंती च सायका । न तदा जायते युद्धं परिघा नाम सा स्मृता ॥५३॥

अर्थः—बाण या खड्ग रूप तिरछी उल्का सेनाके व्यूहरचनामें गिरे तो कुटिल युद्ध नहीं होता है, इसको परिघा नामसे स्मरण करते है—कहते हैं ॥ ५३ ॥

उल्का व्यूहेष्वनीकेषु पृष्ठतो निपतन्ति याः । क्षय-व्यये न पीड्येरन्नुभयोः सेनयोर्नृपान् ॥५४॥

अर्थ—सेनाकी व्यूहरचनाके पीछेके भागमें उल्का गिरे तो दोनों सेनाओंके राजाओंको वह नाश और खर्चद्वारा कष्टकी सूचना करती है।

उल्का व्यूहेष्वनीकेषु प्रतिलोमाः पतन्ति याः । संग्रामेसु निपततां जायन्ते किंशुका वनाः ॥५५॥

अर्थः—सेनाकी व्यूहरचनामें अपसव्यमार्गसे उल्का गिरे तो संग्राममें योद्धा गिर पड़ते हैं अर्थात् मारे जाते हैं जिससे रणभूमि केसु (टेसु)के पुष्पसमान रंगवाली होजाती है अर्थात् भूमि रक्तसे रंग जाती है ॥ ५५ ॥

उल्का यत्र समायान्ति यथाभावे तथासु च । येषां मध्यान्तिकं यान्ति तेषां स्याद्विजयो ध्रुवम् ५६

अर्थ—जहाँ उल्का जिस रूपमें और जब गिरती है तथा जिनके बीचसे अथवा पाससे गुजरती है तो निश्चयसे उनकी विजय होती है ॥ ५६ ॥

चतुर्दिक्षु यदा पाता उल्का गच्छति सन्ततम् । चतुर्दिशं तदा यान्ति भयातुरमसंघशः ॥५७॥

अर्थ—यदि उल्का गिरती हुई निरन्तर चारों दिशामें गमन करे तो लोग या सेनाका समूह भयातुर होकर चारों दिशामें—तितर-बितर (जहाँ तहाँ पृथक २)हो जाता है—भाग जाता है ॥ ५७ ॥

अग्रतो या पतेदुल्का सा सेनां तु प्रशस्यते । तिर्यगाचरते मार्गं प्रतिलोमा भयावहा ॥ ५८ ॥

अर्थ—सेनाके आगेके भागमें यदि उल्का गिरे तो अच्छी है । यदि टेढ़ी होकर प्रतिलोम गतिसे गिरे तो सेनाको भय देनेवाली जनना ॥ ५८ ॥

यतः सेनामभिपतेत् तस्य सेनां प्रबाधयेत् । तं विजयं कुर्यात् येषां पतेत् सोल्का यदा पुरा ॥ ५६ ॥

अर्थ—जिस राजाकी सेनामें उल्का बीचों-बीच गिरे तो उसकी सेनाको कष्ट होता है और आगे गिरे तो विजय होती है ॥ ५६ ॥

डिम्भरूपा नृपतये बन्धमुल्का प्रताडयेत् । प्रतिलोमा विलोमा च प्रतिराज्ञो भयं सृजेत् ॥ ६० ॥

अर्थ—यदि डिम्भरूप उल्का गिरे तो वह राजाके बन्दी होनेकी सूचना देती है और प्रतिलोम तथा अनुलोम उल्का शत्रुराजाओंको भय करती है ॥ ६० ॥

यस्यापि जन्मनक्षत्रं उल्का गच्छेच्छरोपमा । विदारणा तस्य वाच्या व्याधिना वर्णसंकरैः ॥ ६१ ॥

अर्थ—जिसके जन्मनक्षत्रमे बाणसदृश उल्का गिरे तो उस व्यक्तिके लिये विदारण (चीरे जाना) समझना चाहिये और नानावर्णरूप हो तो उस व्याधिका होना समझना चाहिये ॥ ६१ ॥

उल्का येषां यथारूपा दृश्यते प्रतिलोमतः । तेषां तता भयं विन्द्यादनुलोमा शुभागमम् ॥ ६२ ॥

अर्थ- विलोम (उल्टे) मार्गसे जैसे रूपकी उल्का जिसे दिखाई दे उसको भय होगा ऐसा जानना। और अनुलोम गतिसे दिखाई दे तो शुभरूप जानना ॥ ६२ ॥

उल्का यत्र प्रसर्पन्ति भ्राजमाना दिशो दशम् । सप्तरात्रान्तरं वर्षं दशाहादुत्तरं भयम् ॥ ६३ ॥

अर्थ—जिस स्थानपर उल्का फैलती हुई दिखाई दे तो वहाँकी जनताको प्रत्येक दिशामें अर्थात् दशों दिशाओंमें भागना (भ्रमण करना) पड़ता है, यदि सात रात्रिमें वर्षा होजाय तो इसका कुछ दोष नहीं, वरना दश दिन पश्चात् उपरोक्त भय होता है ॥ ६३ ॥

पापासूल्कासु यद्यस्तु यदा देवः प्रवर्षति । प्रशान्तं तद्भयं विन्द्याद्भद्रबाहुवचो यथा ॥ ६४ ॥

अर्थ—पापरूप उल्काके उत्पातमें यदि देव (मेघ) वर्ष जावे(वर्षा होजावे)तो जानो कि भय शान्त होगया है अर्थात् पापरूप फलकी शांति हो गई है । यह भद्रबाहुके वचन जानो ॥ ६४ ॥

यथाभिवृष्याः स्निग्धा यदि शान्ता निपतन्ति याः । उल्कास्वाशु भवेत्त्क्षेमं सुभिक्षं मन्दरोगवान् ॥६

अर्थ—यदि जो उल्का पुष्ट हो, स्निग्ध हो, शान्त हो और वह जिस दिशामें गिरे तो उ दिशामें वह शीघ्र क्षेम-कुशल और सुभिक्ष करती है, परन्तु थोड़ा-सा रोग अवश्य होता है ॥ ६५ ॥

यथामार्गं यथावृद्धिं यथाद्वारं यथाऽऽगमम् । यथाविकारं विज्ञेयं ततो ब्रूयाच्छुभाशुभम् ॥६६॥

अर्थ—जिस मार्गसे, जिस वृद्धिसे, जिस द्वारसे, जिस रूपआगमनसे, जिस विकारसे—शुभ शुभरूप उल्कापात हो उस ही प्रकार शुभाशुभ फल बताना ॥ ६६ ॥

तिथिश्च करणं चैव नक्षत्राश्च मुहूर्ततः । ग्रहाश्च शकुनं चैव दिशो वर्णाः प्रमाणतः ॥६७॥

अर्थ—उल्कापातका शुभाशुभ फल, तिथि, करण, नक्षत्र, मुहूर्त, ग्रह, शकुन, दिशा, वर्ण और प्रमाण (लम्बाई चौड़ाई आदि) परसे बताना चाहिये ॥ ६७ ॥

निमित्तादनुपूर्व्याच्च पुरुषो कालतो बलात् । प्रभावाच्च गतेश्चैवमुल्काया फलमादिशेत् ॥६८॥

अर्थ—निमित्तानुसार क्रमपूर्वक ऊपर दिखाये हुये काल, बल, प्रभाव और गतिपरसे उल्काके फल को दिखाना चाहिये ॥ ६८ ॥

एतावदुक्तमुल्कानां लक्षणं जिन-भाषितम् । परिवेषान्प्रवक्ष्यामि तान्निबोधत तत्त्वतः ॥ ६९ ॥

अर्थ—यहाँ तक उक्त प्रकारसे उल्काओंके लक्षण कहे गये, जैसा उन्हें जिनेन्द्र भगवानने कहा है। अब परिवेष (सूर्य, चंद्र, ग्रह, नक्षत्रादिकके मंडल) के विषयमें कहा जाता है, सो उसे यथार्थ जानना ॥६९॥

॥ इति भद्रबाहुसंहितायां (भद्रबाहु-निमित्तशास्त्रे) तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

———

स्वाध्यायप्रेमियोंके लिये उत्तम अवसर

भारतकी राजधानी देहलीमें वीरसेवामन्दिरके तत्त्वावधानमें समाजके जिनवाणीभक्त दानी महानुभावोंकी आर्थिक सहायतासे एक सस्ती जैन ग्रन्थमालाकी स्थापना हुई है। ग्रन्थमालाका प्रत्येक ग्रन्थ गृहस्थोपयोगी है—स्त्री पुरुष और बच्चोंके लिए उसका लेना बड़ा ही लाभदायक और अत्यन्त आवश्यक है। इसलिये प्रत्येक सद्‌गृहस्थका कर्त्तव्य है कि वह इन ग्रन्थरत्नोंको खरीदकर जिनवाणीके स्वाध्यायसे आत्म-कल्याण करे। इस ग्रन्थमालासे प्रकाशित ग्रंथोंको प्रायः लागतसे भी कम मूल्यमें दिये जानेकी योजना की गई। अभी नीचे लिखे ग्रन्थ छप रहे हैं। जिन ८ ग्रन्थोंका लागत मूल्य १५) है, वे पूरा सेट लेनेवाले सज्जनोंको लागतसे भी कम मूल्य १२) में और पद्मपुराणको छोड़कर शेष ७ ग्रन्थोंका सेट सिर्फ ७) में देनेका निश्चय किया है। जिन्हें इन ग्रंथरत्नोंकी आवश्यकता हो वे ग्राहकोंमें अपना नाम लिखवाकर और अपना मूल्य भेजकर 'वीरसेवामन्दिर आफिस ७।३३ दरियागंज देहली' से रसीद लेलें। ग्रन्थ जैसे-जैसे तैयार होते जायेंगे उसी क्रमसे वे उनके पास पहुंचते रहेंगे।

१ रत्नकरण्डश्रावकाचार—सजिल्द लगभग ८०० पृष्ठ (मूल० समन्तभद्राचार्य, टी० पं० सदासुखदासजी	३)
२ मोक्षमार्गप्रकाशक—सजिल्द लगभग ५०० पृष्ठ (पं० टोडरमलजी,)	२॥)
३ जैनमहिलाशिक्षासंग्रह—पृष्ठ २४०	१)
४ सुखकी झलक—पृष्ठ १६० (पूज्यवर्णीजीके प्रवचनोंका सुन्दर संकलन)	॥=)
५ श्रावकधर्म संग्रह—पृष्ठ २४० (पं० दरयावसिंह, श्रावकोपयोगी पुस्तक)	१)
६ सरलजैनधर्म—पृष्ठ ११२ (बालकोपयोगी पुस्तक)	।=)
७ छहढाला—पृष्ठ १०० (पं० दौलतरामजी व पं० बुधजनजी कृत)	।)
८ पद्मपुराण—(सजिल्द बड़ा साइज) पृष्ठ ८०० (मूल० रविषेणाचार्य, टी० पं० दौलतरामजी)	६।)

मन्त्री—सस्ती ग्रन्थमाला
नं० ७।३३ दरियागंज, देहली।

अनेकान्तको २००) रु० की अनुकरणीय सहायता

पुरातत्त्वप्रेमी बाबू सोहनलालजी जैन कलकत्ता ने न्यायाचार्य पण्डित दरबारीलाल कोठियाकी प्रेरणासे ५० जैनेतर विद्वानों और लायब्रेरियोंको 'अनेकान्त' फ्री भिजवानेके लिये 'अनेकान्त' को दो सौ रुपयेकी अनुकरणीय सहायता प्रदान की है जिसके लिये उन्हें शतशः धन्यवाद है। आप 'अनेकान्त' के खोजपूर्ण लेखोंसे बड़े प्रभावित हैं और उन्हें बड़े ध्यानसे पढ़ते है। आपकी उत्कट इच्छा है कि अनेकान्त और उसके लेखोंका भारतके कोने-कोनेमें प्रचार हो जिससे जैन साहित्य और इतिहासके सम्बन्धमें जैनतरों द्वारा भूल-भ्रान्तियाँ न हो सकें। आशा है दूसरे महानुभाव भी बा० सोहनलालजीका अनुकरण करेंगे और 'अनेकान्त' के प्रचारमें मदद पहुँचायेंगे।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

अनेकान्तको प्राप्त सहायता

गत किरण नं० ३, वर्ष १० में प्रकाशित सहायताके बाद 'अनेकान्त' को जो सहयता प्राप्त हुई है वह निम्न प्रकार है और उसके लिये दातार महानुभाव धन्यवादके पात्र हैं:—

५) बा० बसन्तीलालजी जैन, जयपुर
११) ला० हरिश्चन्द्रजी दरियागंज देहली दीपावलीके उपलक्ष्यमें मार्फत पं० दरबारीलाल जैन, कोठिया।
५) स्व० ला० त्रिलोकचन्दजी जैन रईस मुजफ्फरनगर, स्वर्गवासके अवसरपर निकाले दानमेंसे मार्फत बा० मित्रसैनजी जैन।

२१)

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

Regd. No. D, 397

प्रकाशक—परमानन्द जैन शास्त्री, वीरसेवामंदिर ७/३३ दरियागंज देहली, मुद्रक—अजितकुमार जैन शास्त्री, अकलंक प्रेस, सदरबाज़ार, देहली।

अनेकान्त

वर्ष १०] जनवरी-फर्वरी १९५० [किरण ७-८

सम्पादक
जुगलकिशोर मुख्तार

★

सहायक सम्पादक
दरबारीलाल न्यायाचार्य

—: विषय-सूची :—

अनेकान्त-रस-लहरी

मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजीकी लिखी हुई यह सुन्दर पुस्तक हाल ही प्रकाशित हुई है। इसमें सत्य के प्राणस्वरूप अनेकान्त जैसे गंभीर विषयको ऐसे मनोरंजक ढंगसे समझाया गया है जिससे बच्चे तक भी उसके मर्मको आसानीसे समझ सकें और उन्हें सत्यको परखनेकी कसौटी मिल जाय, वह कठिन दुर्बोध एवं नीरस विषय न रहकर सुगम सुखबोध तथा रसीला विषय बना दिया गया है—बातकी बातमें समझा जा सकता है—और जनसाधारण सहजमें ही उसके आधारपर तत्त्वज्ञानमें प्रगति करने, प्राप्तज्ञानमें समीचीनता लाने, विरोधको मिटाने तथा लोक-व्यवहारमें सुधार करनेके साथ साथ अनेकान्तको जीवनका प्रधान अंग बनाकर सुख-शान्तिका अनुभव करनेमें समर्थ हो सकते हैं।

यह पुस्तक विद्यार्थियोंके लिये बड़े कामकी चीज है, जिन्हें लक्ष्यमें रखकर ही पुस्तकके अन्तमें ५॥ पृष्ठकी उपयोगी प्रश्नावली लगाई गई है। इसका प्रचार सभी विद्यासंस्थाओं एवं घरघरमें पाठ्यपुस्तक, ऐच्छिक विषयकी पुस्तक तथा इनामीपुस्तक आदिके रूपमें होना चाहिये और सभी लायब्रेरियों-पुस्तकालय अथवा रीडिंगरूमोंमें वह रक्खी जानी चाहिये। इस प्रचारकी दृष्टिसे ही पुस्तकका अल्प मूल्य चार आने रक्खा गया है। इतने पर भी जो सज्जन विद्या-संस्थाओं आदिमें प्रचारके लिये कमसे कम ५० पुस्तकें एकसाथ मंगाएंगे उन्हें २५) की जगह २०) सैकड़ाके हिसाबसे पुस्तकें दीजावेंगी।

दानियोंके लिये शुभ अवसर

श्रीविद्यानन्द आचार्यकी आप्तपरीक्षा और उसकी स्वोपज्ञ संस्कृत टीका हिंदीभाषा-भाषियोंके लिये अभी तक दुर्लभ और दुर्गम बनी हुई थी। वीरसेवामन्दिरने हालमें इन दोनोंको हिन्दी अनुवादादिके साथ प्रकाशित करके उनकी प्राप्ति और उनके ज्ञानार्जन करनेका मार्ग सबके लिये सुगम कर दिया है। इस ग्रन्थमें आप्तोंकी परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयका बड़ा ही सुन्दर सरस और सजीव विवेचन किया गया है और वह फैले हुए ईश्वरविषयक अज्ञानको दूर करनेमें बड़ा ही समर्थ है। साथ ही दर्शनशास्त्रकी अनेक गुत्थियोंको भी इसमें खूब खोला गया है। इससे यह ग्रन्थ बहुत बड़े प्रचारकी आवश्यकता रखता है। सभी विद्यालयों-कालिजों, लायब्रेरियों और शास्त्रभण्डारोंमें इसके पहुँचनेकी जहां जरूरत है वहां यह विद्या-व्यसनी उदार विचारके जैनेतर विद्वानोंको भेंट भी किया जाना चाहिये, जिससे उन तक इस ग्रन्थकी सहज गति हो सके और वे इस महान् ग्रन्थरत्नसे यथेष्ट लाभ उठानेमें समर्थ होसकें। इसके लिये कुछ दानी महानुभावोंको शीघ्रही आगे आना चाहिये और कमसेकम दस दस प्रतियोंका एक एक सेट खरीदकर अपनी तरफसे उन संस्थाओं तथा विद्वानोंको यह ग्रन्थ भेंट करना चाहिये। ऐसे दानी महाशयोंकी सुविधाके लिये वीरसेवामन्दिरने कुछ समयके लिए १० प्रतियां ८०) की जगह ६०) में देनेका निश्चय किया है अतः जिन्हेंइस दानके शुभ अवसरसे लाभ लेना हो उन्हें पूरा अथवा आधा मूल्य पेशगी भेजकर और निकटवर्ती रेल्वे स्टेशनके पतेसे सूचित करके ग्रन्थोंका पार्सल मंगा लेना चाहिये अथवा जहाँ जहाँ भिजवाना हो वहाँ के पते भेजकर वीरसेवामन्दिरके द्वारा ही भिजवानेका कार्य सम्पन्न करना चाहिये।

मैनेजर 'वीरसेवामन्दिर' ग्रन्थमाला
७/३३ दरियागंज, देहली

: ॐ अर्हम् :

वार्षिक मूल्य ५)

इस संयुक्त किरणका मूल्य १)

अनेकान्त

विश्वतत्त्व-प्रकाशक

वस्तुतत्त्व-संद्योतक

नीतिविरोधध्वंसी लोकव्यवहारवर्तकः सम्यक् ।
परमागमस्य बीजं भुवनैकगुरुर्जयत्यनेकान्तः ॥

वर्ष १० किरण ७-८ | वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम), ७/३३ दरियागंज, देहली माघ-फाल्गुन, वीरनिर्वाण-संवत् २४७६, विक्रम-संवत् २००६ | जनवरी-फर्वरी १९५०

श्रीपद्मनन्दि-यतीन्द्र-विरचित

शान्ति-जिन-स्तवन

[गत दिसम्बर मासके अन्तिम सप्ताहमें, श्रीमान् बा० छोटेलालजी कलकत्तावालोंसे मिलनेके लिए जयपुर जानेपर, मुझे पं० श्रीचैनसुखदासजी और पं० कस्तूरचन्दजी एम०ए० की कृपासे आमेर-शास्त्रभण्डारके कुछ गुटकोंको देखनेका अवसर मिला। एक गुटकेको देखते हुए 'शान्ति-जिन-स्तवन' नामका एक सटिप्पण-स्तोत्र उपलब्ध हुआ, जो श्रीपद्मनन्दि-यतीन्द्रका रचा हुआ है और इससे पहले अपने परिचयमें नहीं आया था। स्तोत्र सुन्दर तथा कलात्मक जान पड़ा और इस लिए मैंने पं० कस्तूरचन्दजीसे उसकी साधारण कापी करा ली तथा मूलप्रतिसे स्वयं मिलान करके संशोधन आदिका कार्य सम्पन्न किया। बादको एक दूसरे गुटके-में इस स्तवनकी एक टिप्पण-रहित प्रति भी मिली है। यह स्तवन वरनगर-गिरीन्द्रके अधीश्वर—बड़नगरके पर्वतपर स्थित शान्तिजिनालयके मूलनायक श्रीशान्तिजिनेन्द्रसे सम्बन्ध रखता है, ऐसा इसके अन्तिम पद्यसे जाना जाता है। इसमें सारङ्ग, हरि हंस कीलाल और शिव आदि शब्दोंका प्रयोग एकसे अधिक बार किया गया है और वह प्रत्येक बार भिन्न-भिन्न अर्थको लिए हुए है, जैसे 'सारङ्ग' शब्दका प्रयोग १६ बार किया गया है और वह क्रमशः सूर्य, चन्द्र, वज्र, खड्ग, हेम, भ्रमर, कुठार, गजं, सागर, कामुक, गरुड, मर्कट, हंस, अग्नि, अश्व और मृग जैसे सोलह अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ है और इस तरह यह स्तवन शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कारकी अच्छी छटाको लिए हुए है। उपयोगी समझकर आज इसे यहां प्रकाशित किया जाता है। —सम्पादक]

(शार्दूलविक्रीडित)

यः श्रीमान्निरूपद्रवं क्षितितलं कृत्वाखिलं सर्वतो, राज्यं प्राज्यगजादिकप्रकमलागेहं च भुक्त्वा चिर ।
श्रामण्यं समवाप्य केवलमयं ज्योतिः परं प्राप्तवान्, शांतिं वः स परीपरीतु[१] परमां शांतीश्वरस्तीर्थकृत् ॥

जय परमजिनदेव नयकमलसारंग[२] । जय भुवनजन-कुमुदवन-चारु-सारंग[३] ॥
जय निखिल-परसमय-नग-दलन-सारंग[४] । जय घोर-संसार-दृढवैरि-सारंग[५] ॥२॥
जय देहवरकान्तिजित-सरससारंग[६] । जय विमलनिर्वाण-सुखकुसुमसारंग[७] ॥
जय पाप-पादपभिदातिग्मसारंग[८] । जय विषमरतिवल्लरी-छेद-सारंग[९] ॥३॥
जय नग्ननिर्ग्रन्थ-गुण-रत्नसारंग[१०] । जय मुक्ति-कलकामिनी-केलि-सारंग[११] ॥
जय विषय-पवनाऽशा-बलदमन-सारंग[१२] । शम-रज्जु-परिबद्ध-चलचित्त-सारंग[१३] ॥४॥
जय भेदविज्ञान-सुतडाग-सारंग[१४] । जय जनन-मरणेन्धनाऽशन-सुसारंग[१५] ॥
संतोष-नियमित-हृषीकौघ-सारंग[१६] । जय निरस केतकृताऽमंद-[१७] सारंग[१८] ॥५॥
हरि[१९]-विहित-पद-कमल युगसेव मुनिहंस[२०] । हरि[२१]बिंब-भामंडलाधीश परहंस[२२] ॥
हरि[२३]-रचित-शुश्रूष शम-सरसि शुभहंस[२४] । हरिकृत[२५]-पदोपासनाचारयुतहंस ॥६॥
हरि[२६]-शोभितासन कथितविशदतरहंस[२७] । हरि[२८]-काय निर्व्वाणपुरपंथनयहंस[२९] ॥
हरि[३०]-गीतसंस्तवन भुवनत्रयीहंस[३१] । हरि[३२]-करणहर शोककर्द्दम-शमन-हंस[३३] ॥७॥
हरि[३४]-मंडलाकार-मुख विगतकीलाल[३५] । हरि[३६]-नाथकृत-पूज वारित-सुकीलाल[३७] ॥
हरि[३८]-चंचलाऽसममनोदहन-कीलाल[३९] । हरि[४०]-राजनुत-तनुरुधिर-विजितकीलाल[४१] ॥८॥
सीता[४२]-समालिंगिता-चारुरस[४३]-सत्र[४४] । सीता[४५]-तरंगावलीवचनगत सत्र[४६] ॥
शिव[४७]-कलित गुणनिचय पुरुहूततरुमत्र[४८] । शिवशंकरादृष्टि[४९]-शुभपात्र वरसत्र[५०] ॥९॥
शिवकामहित[५१]-सत्कलाजानकीराम[५२] । शिव[५३]-निर्मलाशय[५४]-तमः[५५]-क्षत्र[५६]-गणराम[५७] ॥
वृष[५८]-नाथ पद्मालयारेवतीराम[५९] । वृष[६०]-सेव्य संयमधराधरणनोराम[६१]॥ १० ॥
जय वरद बहुलोभ-कीचक-सुकीनाश[६२] । जय दुष्टतरकर्मशमनोद्घकीनाश[६३] ॥
पद्माप्त पद्माभमुख-जित विषमपद्म[६४] । जय शान्तिजिन पद्मनन्दीश वरपद्म[६५] ॥११॥

घत्ता

गुणगणमणिसिंधोर्भव्यलोकैकबन्धोरसम-गरिम धाम्नः शान्तिनाथस्य भक्त्या ।
वरनगर-गिरीन्द्राऽधीश्वरस्य प्रशस्यं । स्तवनमिदमकार्षीत्पद्मनन्दी यतीन्द्रः ॥१२॥

इति श्रीशान्ति-जिन-स्तवनम् ।

---

१ पृ पालनपूरणयोः । अस्य धातोः प्रयोगः यङ् द्वित्वं च ऋकारांतानामीडागमः उभयत्र गुणः, चरीकरीतु यथा तथेदमपि रूपं सिद्ध्यति, अतिशयेन पुष्टिं नयतु । २ सूर्य । ३ चन्द्र । ४ वज्र । ५ खड्ग । ६ हेम । ७ भ्रमर । ८ तीक्ष्णकुठार । ९ गज । १० सागर । ११ कामुक अथवा मुक्तिहंस्याः क्रीडाहंस । १२ पंचेन्द्रिय-विषम-सर्प बलदमन-गरुड । १३ मर्कट । १४ हस । १५ अग्नि । १६ अश्व । १७ चंचल । १८ मृग । १९ इन्द्र । २० जिनोत्तम । २१ सूर्य । २२ हे परमात्मन् । २३ कृष्ण (?) । २४ राजहंस । २५ सिंह । २६ किरण । २७ धर्म । २८ स्वर्ण । २९ अश्व । ३० इन्द्र । ३१ त्रिलोकीराज । ३२ यमवन्मरणकारिपंचेन्द्रियहर । ३३ सूर्य । ३४ चन्द्र । ३५ रुधिर ३६ सर्प । ३७ पाप । ३८ मर्कट । ३९ जल । ४० चक्र । ४१ वृध । ४२ बाह्याभ्यन्तरलक्ष्मी । ४३ श्रृंगारो जलं वा । ४४ स्थान । ४५ स्वर्गंगा । ४६ गतावरण । ४७ कल्याण । ४८ कल्पवृक्षवद्दानं यस्य अथवा तद्वनं यस्य । ४९ मुक्तिसखकर्तृ दर्शन । ५० उत्कृष्टचारित्र । ५१ सुखबाधकानां हितकृत । ५२ रामचन्द्र । ५३ भो मंगलरूप । ५४ हे शुक्लचित्त । ५५ अज्ञान । ५६ क्षत्रियगण । ५७ परशुराम । ५८ धर्म । ५९ बलभद्र । ६० उत्कृष्ट । ६१ सौरभेय (वृषभ) । ६२ कर्षक । ६३ कृतांत । ६४ काम । ६५ उत्कृष्टा पद्मा यस्मात् तस्य सम्बोधनम् ।

अहिंसा और सत्याग्रह

(ले०—बा० अनन्तप्रसाद जैन B. Sc., इञ्जीनियर)

—:—:—

अहिंसाका अर्थ यह नहीं है कि अन्यायको चुपचाप सहन किया जाय। अन्याय, अत्याचार, अनैतिकता हिंसकवृत्ति और हिंसाके कारण होनेसे हिंसा करने कराने या बढ़ानेवाले हैं। हिंसा या हिंसाके कारणोंका शमन करना, दूर करना या निवारण करना ही अहिंसा है। जो बातें या कार्य या व्यवस्थाएँ अथवा नीतियां हिंसाको जन्म देती हों या परिपुष्ट करती हों उन्हें शमन न करनेका अर्थ है उन्हें बढ़न देना। संसारमे कोई भी बात या वस्तु एकांगी या अकेली नहीं—सब और सबकुछ एक-दूसरेसे घनिष्ठरूपसे संबन्धित है। एक हिंसक अन्यायको चुपचाप सहन करलेनेका अर्थ होगा निकट भविष्यमे या दूर भविष्यमें उसके फलस्वरूप होनेवाली बहुमुखी हिंसाओंको परिस्फुटित होने, फूलने फलने और फैलनेका बीज वपन करना।

अन्याय, अनैतिकता या अत्याचार स्वयं हिंसा है, इनका विरोध करना अहिंसा है। इनके आगे किसी भी कारणवश सिर झुका लेना या इन्हे चुप-चाप बगैर किसी रोकथामके होने देना किसी कमजोरीका चिन्ह है न कि क्षमाभाव या अहिंसाका। अहिंसाका गलत भ्रमपूर्ण अर्थ लगानेसे ही आज संसार अव्यवस्थाओं एवं दुःखोंका घर होरहा है।

मनुष्य कोई भी गलती करता है वह प्रायः अज्ञानके कारण ही है। अतः जानकार व्यक्ति या समाजका कर्तव्य है कि ऐसे अज्ञानसे उत्पन्न बुद्धि-द्वारा किया गया कार्य या अनाचार उपदेशादि द्वारा उपयुक्त ज्ञानके प्रकाशसे दूर किया जाय—परन्तु जहां इसतरह काम न सधे वहां विरोध जरूरतके मुताबिक तीव्र या नर्म करना ही कर्तव्य है। संसार सभीके लिए है—अकेले किसी एक व्यक्तिके लिए न है न होसकता है। सबको जीने रहने और बढ़नेका हक है। यदि कोई इसमें बाधा पहुँचाता है तो वह अनाचार या पाप या गलती करता है उसे रोकना हर एक आदमीका अपना स्वार्थ है। हम एक दूसरेके साथ २ चलकर एक-दूसरेकी मदद कर-कराके ही आगे बढ़ सकते है और इसी लिए संसारकी सारी धार्मिक तथा देशोंकी अलग २ राजनैतिक व्यवस्थाएँ है ताकि हम एक दूसरेसे न टकराते हुए बाधा-रहित मार्ग (Following the path of best resistance) द्वारा चलकर अधिकसे अधिक सुख-शान्ति उपलब्ध कर सकें और अन्ततः उन्नति करते करते परम लक्ष्य तक पहुंचनेका साधन या जरिया बनालें और पथ प्रशस्त करलें। ऐसा करके ही कोई अपने कर्तव्यका भी निर्वाह करता है, धर्मका भी साधन करता है, स्वार्थकी भी पूर्ति करता है और पुरुषार्थका भी पालन करता हुआ परमार्थको प्राप्त करता है। इसके विपरीत आचरण ही धर्ममें पाप और शासनव्यवस्थामें दंडनीय घोषित किया गया है।

मनुष्य व्यक्तिगत या सामाजिक या सामूहिक रूपमें अज्ञानके कारण ही स्वार्थके इस असली तत्त्व को भूलकर भ्रमपूर्ण निम्न स्वार्थ या केवल अकेले पनेकी बातें सोचने और व्यवहार करने लगता है। यही सारे झगड़ों, संघर्षों और हिंसाओंकी जड़ है। इसे विरोध या सक्रिय उपायों-द्वारा रोकना ही अहिंसाका पालन करना, संसारका या व्यक्तिका सच्चा कल्याण करना और सुख-शान्तिकी वृद्धि करनेमें सहायक होना है।

अन्याय गलती या शोषण अविरोधित होनेसे आगे २ बढ़ते जाते हैं। यदि कोई बालक गलती करता है तो गुरुजनोंका यह कर्तव्य है कि उसे समझा-बुझाकर (यदि वह उस योग्य हो तो) या फुसलाकर अथवा और दूसरे तरीकोंसे भी उसे रोकें नहीं तो नतीजा यह होता है कि वह आगे आगे उन गलतियोंको ही ठीक समझता हुआ उनका अभ्यस्त या आदी हो जाता है। फिर बादमें शमन या दमन करना भी कठिन बन जाता है। और वही फिर समयके साथ पीढ़ियोंमें रूढ़िमें परिवर्तित होकर समाज एवं धर्ममें स्थान पालेता है। आज भारतीय संस्कृतियाँ ही क्यों सारा संसार ही इसीका शिकार हो रहा है और यह हिंसा अहिंसाका ठीक भान या निश्चय न होनेके कारण ही है।

आदर्श और व्यवहारमें आसमान-जमीनका अंतर है। लोग अपनी भावुकतामें या जोशमें या अहंकारमें जानबूझकर या अनजानमें ही इस विभेद को भूल जाते है—फिर गलतियां भी करते हैं और उनके फलस्वरूप होने या मिलनेवाले बुरे नतीजोंके लिए एक दूसरेको दोष देते है या झगड़ते रहते है। आदर्श ऊचासे ऊंचा रखना हमें ऊंचासे ऊंचा चढ़ने, बढ़ने या उन्नति करनेकी तरफ प्रोत्साहन देता है और उस पर ध्यान रखते हुए हम सचमुच आगे आगे बढ़ते-चढ़ते चले जाते हैं। जिसका कोई आदर्श हो नहीं—कोई दिशा हो नहीं वह कहां और किधर जायगा या भटकता ही रह जायगा कहना बड़ा कठिन है। इसी लिए एक आदर्श या लक्ष्यका होना उत्तरोत्तर उन्नतिके लिए परम आवश्यक है। जैसा या जितना ऊंचा, भव्य और अच्छा आदश या लक्ष्य होगा वैसा ही उतना ही या उसी मुताबिक कोई भी व्यक्ति, समाज या समुदाय संसारमे अग्रसर होगा। जिसका ध्येय ही होगा दिल्लीसे पटना तक पहुंचनेका वह कलकत्ते तक कैसे पहुंच सकता है। यह एक छोटा-सा उदाहरण है। जीवनके लक्ष्य, मार्ग या संग्राममें भी यही बात पूर्ण तौरसे लागू है। हाँ, कोरा आदर्शवादी बनकर भी आगे कोई नहीं बढ़ सकता—ठोकरें खाकर गिर जायगा या दूसरोंसे टकरा जायगा। संसारमें हर जगह हर तरहकी चीजें और लोग है-आदर्श या लक्ष्य तक पहुंचना है इस बातका ध्यान रखते हुये सांसारिक सुविधाओं, व्यवधानों और साधनोंका समुचित, बुद्धिपूर्ण, एवं व्यावहारिक आश्रय अथवा सहारा लेकर ही हम यहां आगे बढ़ सकते हैं और सफलता हासिल कर सकते हैं। जरूरत, शक्ति एवं साधनके मुताबिक ही अपनी रीति-नीति और आचार-व्यवहार रखना उत्तम फल देनेवाला होता है। अकड़-पन्थी या अहंकार तो अंधा बनानेवाला और हिंसात्मक है। अहिंसाका पूर्ण व्यावहारिक पालन ही सबसे ऊचे ध्येय तक किसीको ले जा सकता है।

हाँ, तो एक हिंसामय कार्यको, अन्याय या अनीतको चुपचाप निर्विरोध स्वीकार कर लेना हिंसाकी वृद्धि तो करना ही है साथ ही साथ ऐसा करनेवालेको और अधिक खराब करनेमें सहायक है। जिसके अनिष्टकी आशंकासे हम किसी ऐसी अनीतिको चुपचाप बर्दाश्त कर लेते हैं सचमुच हम अनजानमें उसकी ही बड़ी भारी हानि करते हैं और विस्तृत या समष्टिरूपमें संसारका भी अकल्याण करते है और अनर्थ जो इससे आगेके लिए अपने लिए और दूसरे सभीके लिए होता है या होजाता है वह अलग ही है। अतः अन्याय, अनीति, अनैतिकता या ऐसा कुछ भी जहाँ होता हो या होनेकी संभावना हो उसका हर तरहसे सक्रिय विरोध करना ही अहिंसाका सच्चा पालन है। यदि ऐसा करनेमें अन्यायी या अनीतिकर्त्ता (the evil doer के विरुद्ध बल प्रयोग भी करना पड़े या उसे दुःख और तकलीफ भी पहुँचे तो स्वयं उसके कल्याणके लिए और लोकहितके लिए ऐसा करना अहिंसा व्रतधारीका कर्तव्य है। हाँ, ऐसा करनेमें अन्यायीके उद्धार, कल्याण एवं भलाईकी कामना ही सर्वदा ध्यानमें रखना इष्ट और ग्राह्य होना चाहिये। अन्यायीके विनाशकी कामना मात्र ही हिंसा है। पर

उसके सुधारकी कामना, उद्योग या उपाय अहिंसा है। भाव शुद्ध होना या अशुद्ध होना ही अहिंसा या हिंसाके कारण हैं। किसी पानीमें पड़े जीवको उसको बचानेकी कामनासे ही पूर्ण सावधानी पूर्वक पानीसे निकालनेकी चेष्टामें ही यदि उसे कुछ तकलीफ भी होती है या उसका प्राणान्त तक भी होजाता है तो वह पूर्ण अहिंसात्मक प्रवृत्ति है। पर किसी जीवको मारनेकी सकाम चेष्टा करनेपर भी यदि वह जीव किसी उपाय या कारण-द्वारा बच जाता है तब भी वध करनेकी इच्छा रखनेवाला पूर्ण हिंसाका दोषी है।

हिंसा-अहिंसाके दो एक व्यावहारिक या सांसारिक उदाहरण यहां दिए जा सकते हैं—

(१)एक पिता शक्ति एवं साधन संपन्न होता हुआ भी यदि अपनी संतानको उपयुक्त शिक्षा समय एवं उपलब्धिके अनुकूल न दे या न दिला सके तो सन्तान द्वारा आगे चलकर होनेवाली अनीतियों और हिंसाओंका मूलकारण होनेसे वह पिता हिंसाका दोषी है।

(२) किसी व्यक्तिने मरते समय या जीवनके किसी भी समयमें किसी कारणवश अपनी पूरी सम्पत्तिका या किसी भागका कोई ट्रस्ट कायम कर दिया ताकि उसका सदुपयोग विशेष तरहके लोकोपकारक कार्योंमें हो सके। बादमें उसका देहान्त होजाय और ट्रस्टी लोग ट्रस्टकी सम्पत्तिका दुरुपयोग करने लगें तो जानकार लोगोंका यह कर्तव्य है कि उसे ऐसा करनेसे हर एक वैध उपायोंसे रोकें। ऐसा विरोध करनेमें यदि उन्हें उस ट्रस्टीका कोपभाजन भी बनना पड़े या और भी सब लौकिक हानियां सहनी पड़ें तो वह प्रसन्नतापूर्वक बगैर वैर-भावना या बदलेको भावनाके क्षमाभावपूर्वक सहन करे। यही अहिंसाका आदर्श है। यदि कोई जानकार व्यक्ति किसी डरसे या कारणवश ऐसा नहीं करता तो वह उसकी कमजोरी, कमी या कायरता ही है—भले हो वह क्षमा और अहिंसाकी दुहाई दे तो वह दूसरी बात है। समाजमें अधिकतर ऐसा ही होता है कि संसारी कार्योंमें व्यस्त और यह सोचकर कि कौन व्यर्थका झगड़ा और झंझट मोल ले अधिकतर लोग अन्यायको और अनीतिको चुप चाप देखते रहते हैं और कुछ नहीं करते–कहीं कहीं राजके नियम या तौर-तरीके भी बाधक होते हैं। आजकी कानूनी दुनिया शब्दोंके अर्थपर कितने अनर्थोंका किला खड़ा कर देती है और उसमें न्यायकी जगह अन्याय, सत्यकी जगह असत्य और अहिंसाकी जगह हिंसाका ही बोलबाला प्राय: सर्वत्र नजर आता है।

जहां सत्य है वहां अहिंसा है, जहां असत्य है वहां हिंसा है। आज भी संसार सत्यके ऊपर ही कायम है। सत्यका परिमाण असत्यसे अधिक है। जितना अधिक सत्य रहेगा शान्ति भी उतनी ही चारों तरफ रहेगी और जितना अधिक असत्यका विस्तार होगा अशान्तिकी संभावना भी उतना ही अधिकाधिक बढ़ेगी। सत्य सीधा सादा सरल एवं प्रछन्न-सा होनेसे कम-सा लगता है जबकि असत्य भड़कदार आकर्षक एवं आडम्बरोंसे पूर्ण होनेसे बड़ा या प्रभावकारी-सा लगता है। फिर भी सत्यकी ही विजय होती है यह निश्चित बात है। सत्यके विद्यमान होनेका हमें भास हो या नहीं पर विश्वका नियन्त्रण या शासन होता उसीसे है। एक छोटा-सा उदाहरण सत्यकी विश्वव्यापकता एवं हर जगह हर समय विद्यमानताका कुछ आभास दे सकता है। जैसे एक रिकशावालेसे एक जगहसे दूसरी जगह तक लेजानेका किराया किसीने कुछ तै किया। उस निर्दिष्ट स्थानपर पहुंचकर उस व्यक्तिने रिकशावालेको तै की हुई रकम दे दी और रिकशा वालेने चुपचाप बगैर हीलो-हुज्जतके स्वीकार करली, यही सत्यका प्रत्यक्ष नमूना है। हमारे जीवनमें प्रत्येक दिन हर जगह हर कामोंमें ऐसे न जाने कितने ही उदाहरण मिलते हैं। हर एक तरहके आदमियोंको किसी काम या चीजके लिए एक तै की हुई रकम दे देने पर वह

काम हो जाय या वस्तु मिलजाय या काम होजाने और वस्तु मिलजाने पर वह रकम दे दी जाय और कोई हीलो हुज्जत नहो य ही ज्वलन्त सत्य है। भले ही हम इसकी महत्ताका पूर्ण अंदाज न लगा सकें, पर इसी सत्यके ऊपर ही हमारी शान्ति और हमारा सारा सुख निर्भर है। हर काममें या हर बातमें पग-पगपर यदि हीलो हुज्जत होने लगे तो जीवन निभना कठिन ही नहीं असंभव हो जाय।

असत्यको जानकर उसको रोकना, उसका विरोध करना और उसके सुधारके उपाय करना ही सत्याग्रह है। अनीति, अन्याय, अनाचार इत्यादि असत्य आचरण है या असत्यके ऊपर निर्भर हैं या असत्य को बढ़ाते और प्रोत्साहन देते हैं इसलिये इनका सक्रिय विरोध करना ही सत्याग्रह या अहिंसा है। सत्याग्रह और अहिंसा एक ही चीजके कार्य कारण सम्बधानुसार अलग अलग दो नाम हैं। अहिंसा आदर्श है और सत्याग्रह व्यवहार या आचरण है। महात्मा गांधीकी अहिंसा और सत्याग्रह भी अनाचार, असत्य और अनीतिका खुलकर विरोध करने से ही सिद्ध होते है। दबजाना या चुपचाप सहन करलेना तो हमारी किसी कमजोरीके ही फलस्वरूप है। चाहे वह कमजोरी—काम,क्रोध, मान,माया, लोभ कायरता, या सांसारिक प्रतिबन्धोंके कारण हो या अज्ञान, निराशा और शक्तिहीनताके कारण हो। प्रतिहिंसा या वैर साधन तो हर हालतमें हिंसा है और उसका फल वैर विरोध एवं अशान्तिको उत्तरोत्तर बढ़ानेवाला ही होता है। उसे दूर करनेके लिए ही अन्यायीका विरोध अहिंसमय तरीकोंसे करना आवश्यक है ताकि हिंसा या अन्याय और अनीतिका मूल स्रोत भी अंत होजाय और भविष्यके लिए उस स्रोतसे होनेवाली या फैलने वाली आशान्ति की संभावना भी समाप्त होजाय। अन्यायीका सुधार करके हम अन्याय को तो समाप्त करते ही हैं अन्यायी का भला भी करते है और अन्ततः लोककल्याणकी वृद्धिमें भी सहायक होकर अपने कर्तव्यका एवं पुरुषार्थका पालन करते है।

अन्याय एवं अनीतिमें एक मादकता है जो मदिराकी तरह आदमीको अन्धा और प्रमत्त बना देती हैं उसका निराकरण ही सुखशान्तिकी जननी है—अब यह निराकरण चाहे जैसेहो उसके ऊपर सारा दारोमदार वर्तमान एवं भविष्यका है। प्रतिहिंसात्मक या नाशकारी उपायों द्वारा ऐसी बातों, व्यक्तियों या कार्यों का शमन करदेना क्षणिक या अस्थायी होता है। भीतर ही भीतर आग सुलगती रहती है। और समय पाकर भड़क सकती है। पर अहिंसात्मक सत्याग्रह द्वारा अन्यायको दूर कर अन्यायीको ही सुधार देना सर्वदाके लिए जड़को ही खतम करदेता है।

साधारण— अज्ञान एवं अशक्त-मानव जब आदर्शकी सर्वोच्चता तक नहीं पहुँच पाता है तो उसे झूठा समझता या कहता है। "अंगूर खट्टे हैं" वाली बात ही वह करता है। पर सफलता मिले या न मिले—व्यवधानोंकी कमी संसार या जीवनमें नहीं है—चारों तरफ कठिनाइयां रुकावटें एवं विघ्न-बाधाएं तथा अनेक सीमाएं प्रतिबन्धया लिमिटेशन्स भरे पड़े है फिर भी आदर्शोंका ऊंचा होना व्यक्ति या समाजको सबसे अधिक ऊपर उठाने या लेजाने वाला है। सभी भारतीय संस्कृतियों—धर्मसिद्धांतों एवं दर्शनोंमें ईश्वरत्व प्राप्तिका चरमोद्देश ही परम पुरुषार्थ या मानव-कर्त्तव्य निर्धारित किया गया है। पर संसारमें कितने व्यक्ति हैं जो सचमुच आत्मज्ञान या आत्मलाभ करके मोक्ष पा लेते हैं ? फिर भी इसे बुरा, गलत या त्याज्य कभी नहीं करार दिया गया। यदि मनुष्य ऊंचे किसी बात, विषय या जगहमें नहीं चढ़ पाता है तो वह उसकी कमजोरी या किसी गलती वगैरहके ही कारण है न कि उसकी असफलताके कारण ऊँचे आदर्शका उपलब्ध होना ही असंभव सर्वदाके लिये और सबके लिये मान

लिया जाय तो यह तो आत्महत्यावाली निराशता हुई। हाँ, देश, काल, समय, परिस्थिति आवश्यकता साधन एवं और सभी संबन्धित बातोंका व्यावहारिक ध्यान रखना हर हालतमें जरूरी है। इसीमें त्रुटि होनेसे या कभी रह जानेसे कोई काम नहीं हो पाता संसारके सारे संघर्षोंका भी यही मूल कारण है। आजसे दो ढाई हजार वर्ष पहलेके बने आचरणों एवं व्यवहारों या रीति-रिवाजोंको हम अब भी उसी तरह पकड़े हुए और जकड़े हुए हैं जिसका कोई हद्दा-हिसाब नहीं। जैसे बहुत दिनों तक गूदड़का व्यवहार करनेवाला भिक्षुक अच्छा कपड़ा देने पर भी उसे जल्दी या आसानीसे नहीं त्यागता वही हालत हमारी होरही है। मिथ्या मोह माया एवं भावुक भ्रममें हम दिशासे विदिशा होजाते है फिर दुनिया भरको दोष देने लगते है यह ठीक नहीं अहिंसा और सत्याग्रह हमे ठीक सच्चा मार्ग प्रदर्शित करते है लोक-कल्याणकी भावनाकी कसौटीपर किसीभी समय कसकर किसी सत्याऽसत्यका निर्णय आसानीसे किया जासकता है यदि मनमें मैल नहो। वास्तवमें भावोंको शुद्धता ही अहिंसा और अशुद्धता हो हिंसा है इसका ध्यान हरसमय रखना आवश्यक है। आत्मवत् सर्वभूतानि "यही तथ्य है। यदि चीटी काटनेसे हमें तकलीफ होती हो तो हमें यह समझना चाहिए कि दूसरेको भी तकलीफ होसकती है। यदि हम मारा जाना ठीक नहीं समझते तो दूसरेको मारना निन्द्य है। यदि हम अपना एक पैसा फिजूल किसी द्वारा लिया जाता हुआ पसन्द नहीं करते तो दूसरोंका भो इसतरह पैसा हमारेलिए लेना चोरीअसत्य एवं हिंसा है। अन्याय, अनर्थ, अनीति या अत्याचार चाहे वह व्यक्तिद्वारा हो समाजद्वारा हो या सरकारद्वारा हो सहन करना कायरता या कमजोरी ही है। इसका यथाशक्ति विरोध करना ही अहिंसा एवं सत्याग्रह है महात्मा गाँधीकाभी मतलब इसी अहिंसा एवं सत्याग्रहसे है। पूर्ण क्षमाभाव या पूर्ण अहिंसक तो पूर्ण ज्ञानी ही होसकता है। परन्तु सांसारिक अवस्थाओंमें अपनेसे जितना निभ सके उतना तो सभीको निभाना सुख शान्तिको बढ़ाने वाला ही है। इसीसे व्यक्तिका, देशका एवं मानवमात्रका कल्याण हो सकता है।

सच्ची भावनाका फल

(प्रवक्ता श्री १०५ पूज्य क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी न्यायाचार्य)

[सागर-चातुर्मासमें दिया गया वर्णीजीका एक अन्य प्रवचन]

'नहि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति'

'सज्जन मनुष्य किए हुए उपकारको कभी नहीं भूलते'। यही कारण है कि पञ्चाध्यायीकार अपना ग्रन्थ बनानेके पहले 'अर्थालोकनिदानं यस्य वचस्तं स्तुवे महावीरम्' इन शब्दों द्वारा उन भगवान महावीरके प्रति जिनका कि आज तीर्थ चल रहा है, अपनी भक्ति प्रकट करते हैं।

> 'अभिमतफलसिद्धेरभ्युपायः सुबोधः
> प्रभवति स च शास्त्रात्तस्य चोत्पत्तिराप्तात् ।
> इति भवति स पूज्यस्तत्प्रसादात्प्रबुद्धै-
> र्न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति ॥'

यह कथन भी विद्यानन्द स्वामीका है। आप बड़े भारी विद्वान् थे। ब्राह्मण थे। इनके पांचसौ शिष्य थे। मीमांसाके अच्छे जानकार थे। एकबार ये[1] किसी जैनमन्दिरके पाससे निकले, मन्दिर बाहरसे अच्छा दिखा। उनकी इच्छा हुई कि भीतर भी जाना चाहिये। साथके शिष्योंने कहा—महाराज! यह तो जैन मन्दिर है। विद्यानन्दने कहा—'जैनमन्दिर है तो क्या हुआ? यह भी तो पत्थरके खम्भोंसे बना हुआ है। मन्दिर तो नास्तिक नहीं होता?' शिष्य चुप रह गए। विद्यानन्द मन्दिरके भीतर गए। उस समय एक क्षुल्लक देवागमका पाठ कर रहे थे; वह बीचमेंसे कुछ कारिकाएं पढ़ रहे थे। विद्यानन्दको अच्छी लगीं। उन्होंने कहा-कि शुरूसे पढ़िये। क्षुल्लकने पूरा देवागम स्तोत्र पढ़ा। उसे सुनकर इन्हें जैनधर्मपर श्रद्धा हुई। सिर्फ अनुमानके विषयमें थोड़ा-सा संशय रह गया इन्होंने क्षुल्लकसे कहा कि—'इसका अर्थ भी समझते है या कोरा तोता रटन्त है?' क्षुल्लकने कहा कि—'मैं तो विशेष जानता नहीं, यह अष्टशती ले जाओ, इससे आपको सन्तोष होजायगा।' विद्यानन्दने घर जाकर अष्टशतीका अच्छा अवलोकन किया। उन्हें सब बात ठीक जंची, पर अनुमानके लक्षणके विषयमें कुछ सन्देह फिर भी बना रहा। सोनेपर रात्रिमे स्वप्न आया कि तुम्हारे संशयका निर्णय मन्दिरमें जानेपर होजायगा। दूसरे दिन विद्यानन्द मन्दिर पहुँचे, उन्हें श्रीपार्श्वनाथ स्वामीके फणपर निम्न लिखित श्लोक लिखा दिखा—

> 'अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ।
> नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ॥'

'जहां अन्यथानुपपन्नत्व है वहां अनुमानके तीन अङ्ग माननेसे क्या प्रयोजन है? और जहां अन्यथानुपपन्नत्व नहीं है वहाँ तीन अङ्गोंके रहनेसे भी क्या होगा।' श्लोक देखकर विद्यानन्दका सब समाधान हो गया। उन्होंने अपने शिष्यों और साथियोंसे कहा—भाई, मेरी तो जिनधर्मपर श्रद्धा है, मैं इसकी दीक्षा लेता हूँ। अनेक साथियोंके साथ उन्होंने जैनधर्म स्वीकार कर लिया और देवागम तथा अष्टशतीपर अष्टसहस्रीकी रचना की। उन्हीं विद्यानन्द स्वामीने अपने श्लोकवार्तिकमें लिखा है कि 'अभीष्टसिद्धिका उपाय ज्ञान है। ज्ञान शास्त्रसे प्राप्त होता है और उसकी उत्पत्ति आप्तसे

---

[1] यह कथा पात्रस्वामीकी है जो विद्यानन्दसे भिन्न और पूर्ववर्ती हैं। —स० सम्पादक

होती है अतः वह पूज्य है ।' इसमें उन्होंने देव, शास्त्र और गुरुके प्रति अपनी भक्ति प्रकट की है। मेरा भी पक्का श्रद्धान है कि इस जीवका कल्याण भक्तिसे ही हो सकता है। शास्त्रोंमें लिखा है कि—'एक बार वन्दे जो कोई। ताहि नरक-पशु गति नहिं होई।।' जो एकबार शिखरजीके दर्शन करले उसे नरक और तिर्यंच गति नहीं हो सकती। इसका अर्थ है कि सम्यग्दृष्टिके नरक तथा तिर्यंच आयुका बन्ध होता ही नहीं है उनमें पैदा कहांसे होगा ? और जिसके भावसहित सम्मेद शिखरजीकी वन्दना होगी वह सम्यग्दृष्टि होगा ही। मैं अपनी बात कहता हूँ—भैया ! वन्दना करनेका फल किसीको मिले चाहे नहीं मुझे तो तत्काल मिला।

एकबार हम दो आदमी शिखरजीकी वन्दना कर बारह-एक बजे नीचे आए। भोजनका कुछ सामान नहीं था। दुकानदारके यहाँसे चावल और लकड़ी लाए। वहीं धर्मशालामें एक लमेचू रोटी बना रहा था, उसकी लकड़ी कम होगई। मुझसे बोला—एक लकड़ी दे दो, मैं लकड़ी उसके चौकेमें रख आया। लकड़ी कुछ बड़ी थी इसलिये चौकेसे बाहर निकली रही। वह गुस्सा हुआ—बोला, 'तूने मेरी सारी रसोई बेकाम कर दी।' मैं कुछ समझा नहीं। मैंने कहा—'क्या बात है?' वह बोला—कि 'तुमने यह लकड़ी चौकेके बाहर निकली रहने दी इसलिये चौका अशुद्ध होगया, सब रसोई व्यर्थ गई।' मैंने कहा—'भैया पहले कहते तो मैं तोड़कर रख देता।' अच्छा, यह तो बताओ तुम्हारा यह आटा शुद्ध है ? उसने कहा—'हां, घरका पिसा हुआ शुद्ध आटा है। और घी ? घी भी घरका शुद्ध है।' तो मैं भोजन कर सकता हूँ ? उसने कहा—हां। मैंने प्रेमसे खूब भोजन किया, मेरे साथीने भी किया। बादमें उनकी रसोईका सिलसिला लगा कर उन्हें भोजन कराया। भैया ! वन्दनाका फल किसीको मिले चाहे नहीं, मुझे तो तुरन्त मिल गया (हंसी)। शामको शास्त्रमें मैंने उससे पूछा—कि अब तो बतलाओ बात क्या थी ? उसने कहा—हमारे यहां चौकाकी ऐसी रूढ़ि चली आती है। तब मैंने कहा—'इस रूढ़िको छोड़ो, त्रसजीवोंकी रक्षा करो जिसमें बहुघात न हो ऐसा भोजन करो तथा चन्देवा आदि जो जीवरक्षाके साधन हैं उन्हें जुटाओ कोरी रूढ़िमें क्या धरा ? बात उसकी समझमें आगई।

एक बारकी और सुनो। बैशाख सुदी पूनमको मैं शिखरजी पहुँचा। जब खुरजासे १३ को चलने लगा तब श्रीमान् सेठ मेवारामजी बोले—'इस गर्मीमें कैसे यात्रा करोगे ? मैंने कहा—'कौन देख आया पानी बरष जाय।' भैया ! जिस दिन मुझे पर्वतपर जाना था उससे पहले शामको खूब जमकर पानी वर्षा, मौसम ठण्डा होगया। मैं तीन बजे रातको पर्वतपर चढ़ा और सानन्द वन्दना करके लौट आया। दूसरे दिन मनमें आया कि परिक्रमा और देना चाहिये। लोगोंने कहा—कष्ट होगा। मैंने कहा—कष्टके लिये तो शरीर है ही फिर कब आता ?' मैं अपने साथी और एक भीलके साथ परिक्रमाको चल पड़ा। उसी दिन वापिस आजाऊं इस ख्यालसे सवेरेसे गया। नीमियाघाट पहुँचा, वहां जाकर भोजन किया। फिर आगे चला। कुछ दूर ही चला हूँगा कि रास्ता भूल गया। गरमीकी ऋतु, जेठका महीना, ऊपरसे घाम और नीचे ततूरी। जोरकी प्यास लगी जिससे प्राणान्त कष्ट होने लगा। भगवान् पाश्वनाथकी टोंक दूरसे दिखती थी, मैंने हाथ जोड़कर कहा कि 'भगवन् ! आप तो मोक्ष गए, और हम लोगोंको कष्ट छोड़ गए। न आप यहां मोक्ष जाते न यहां हम लोग जङ्गलमें भटकते। सुनते हैं कि आप संसार-समुद्रसे तारनेवाले है पर मुझे संसारसमुद्रसे अभी नहीं तरना है, अभी तो प्यासकी अग्निसे शान्त होना है। आया तो आपके दर्शन करनेके लिये था, पर मेरी मृत्यु होगी आर्तध्यानसे। मैं आपका ही भक्त हूँ, भक्तोंपर आपको दया नहीं

आती। दो चुल्लू पानी मिल जाय इतनेसे ही मेरी रक्षा होजायगी।' हम लोग ऐसा कह रहे थे कि वहीं पासमें एक रास्ता फूटा दिखा। मैंने कहा—अब भूले तो हैं ही, चलो इसी रास्तेसे चलें। सो एक आध फर्लाङ्ग नहीं गया हूँगा कि एक जलसे लबालब भरा हुआ कुण्ड दिखा। मुझे इतना आनन्द हुआ मानो किसी कंगलाको निधि मिल गई हो। अच्छी तरह पानी पिया। जीमें जी आया। साथी कहने लगा—'चलो! अभी बहुत दूर जाना है।' मैंने कहा—'भाई? अब चिन्ता किस बातकी? यहां विश्राम करलो, कल तक पहुँच ही जावेंगे'। विश्रामके बाद शामको चला, सो भैया! १५ मिनटमें ही मधुवन आगया। मेरा तो अटूट विश्वास है कि श्रद्धा कभी व्यर्थ नहीं जाती। ऊपरसे क्रिया करो, समय लगाओ और हृदयमें भक्ति न हो तो उससे क्या लाभ हो सकता है?

कल्याणमन्दिर-स्तोत्रमें कहा है कि—

'आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षितोऽपि,
नूनं न चेतसि मया विधृतोऽसि भक्त्या।
जातोऽस्मि तेन जनबांधव! दुःखपात्रम्
यस्मात्क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः ॥'

'भगवन्! मैंने आपका नाम सुना, पूजा की, दर्शन किया, समवसरणमें भी गया पर हृदयमें आपको धारण नहीं किया। यही कारण है कि अब तक संसारमे भटक रहा हूं। बिना भावके क्या होता?'

समझका फेर

—※—

'अनेकान्त' पत्रके वर्ष १० संख्या ४-५ में 'अर्थका अनर्थ' शीर्षकसे पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीका एक लेख प्रकाशित हुआ है। यह लेख 'शूद्र-मुक्ति' शीर्षकसे ज्ञानोदयमें निकलनेवाले लेखके विरोध में लिखा गया है। लेखके प्रारम्भमें उन्होंने मेरे उस लेखकी भी चर्चा की है जिसके द्वारा मैंने आगमके आधारसे यह बतलाया था कि बाह्य सम्पत्तिका मिलना और बिछुड़ना कर्मका कार्य न होकर कर्मोदयमें नोकर्म है।

इस तरह इनके प्रकृत लेखमें मुख्य विवादके विषय तीन हो जाते हैं—१. क्या बाह्य सम्पत्तिका मिलना और बिछुड़ना कर्मका कार्य है? २. क्या शूद्रमुक्ति दिगम्बर परंपरामें मान्य है? ३. क्या एक पर्यायमें गोत्र बदल सकता है?

पण्डितजीने इन विषयोंकी यथास्थान चर्चा की है। उनका व्यक्तिगत मत है कि[1] एकको सम्पत्ति मिलना और दूसरेका गरीब होना कर्मका कार्य है?[2] दिगम्बर परंपरामें शूद्रमुक्ति मान्य नहीं और[3] एक पर्यायमें गोत्र नहीं बदल सकता।

किन्तु मेरा मन्तव्य है कि [4]एकको सम्पत्ति मिलना और दूसरेका गरीब होना यह कर्मका काय न होकर व्यवस्थाका फल है, दिगम्बर परम्परामें शूद्रमुक्ति मान्य है और [5]एक पर्यायमें गोत्र बदल

१. देखो पचसग्रहकी भूमिका।
२. देखो उनकी लिखी हुई 'जैनधर्म' पुस्तक पृष्ठ२६६—३००।
३. देखो अनेकान्तकी पिछली किरणोंमें और अन्यत्र प्रकाशित हुए उनके गोत्रविषयक लेख।
४. देखो षष्ठ कर्मग्रन्थकी भूमिका।
५. देखो ज्ञानोदयके ४थे, ५वे आदि अंकोंमें प्रकाशित मेरा शूद्रमुक्ति शीर्षक लेख।

सकता है। मैंने इन विषयोंके समर्थनमें शास्त्रीय प्रमाण भी दिये हैं।

पण्डितजी स्थितिपालक अतएव चालू रूढ़िके पोषक हैं फिर भी वे इस रायसे सहमत है और दूसरोंको भी ऐसी सलाह देते रहते हैं कि दिगम्बर जैन-साहित्यपर ब्राह्मण साहित्यकी और श्वेताम्बर जैन साहित्यपर बौद्ध साहित्यकी छाप पड़ी है। एक तरफ वे स्थितिपालक होनेके नाते उन तथ्योंसे चिपके रहना चाहते हैं जो ब्राह्मण साहित्यकी देन है और दूसरी ओर व्यक्तिगत चर्चामें वे उदार भी बने रहना चाहते हैं। इसे समझका फेर नहीं तो और क्या कहा जाय।

प्रकृत लेखमें सर्व प्रथम पण्डितजीने मेरे द्वारा शास्त्राधारसे सिद्ध किये गये गोत्रके लक्षणके प्रसंगसे 'सन्तान' शब्दके अर्थपर आपत्ति की है। एक ओर वे सन्तानका अर्थ पुत्र-पौत्रपरम्परा करना चाहते हैं और दूसरी ओर निष्कर्ष निकालते समय वे यह भी स्वीकार करते हैं 'कि किन्तु कालक्रमसे होनेवाले विभिन्न सन्तानी सदाचारी पुरुषोंके प्रवाह-को परम्परा कहते हैं।'

हमने उनके समस्त कथनपर सावधानी-पूर्वक विचार किया है। हमारा तो ख्याल है कि वे ज्ञानो-दयक ५वें अंकमें प्रकाशित धवलाके सब उद्ध-रणोंको एक-साथ मिलाकर पढ़ते तो वे एकमात्र यही निष्कर्ष निकालते कि गोत्रके प्रकरणमें सन्तान शब्दका अर्थ कालक्रमसे होने वाले अनेक सन्तानी सदाचारी पुरुषोंका प्रवाह लिया गया है। वे ब्राह्मण-परम्पराके समान गोत्रका सम्बन्ध रक्त-परम्परासे न जोड़ते।

यह तो पण्डितजी जानते ही है कि गोत्रका उदय केवल मनुष्य पर्यायमें ही नहीं होता। वहां भी होता है जहां रक्तकी परम्परा नहीं चलती। और वे यह भी जानते होंगे कि गोत्रका उदय माता के गर्भमें आनेके पहले ही हो जाता है।

एक पर्यायमें गोत्र बदलता है इस तथ्यको धवलाकारने[1] स्पष्टतः स्वीकार किया है। सुख-दुखके समान गोत्र जीवका परिणाम है। यह तब भी होता है जब जीव विग्रहगतिमें होता है। ब्राह्मण परंपरा-में गोत्रकी प्राप्ति जहां माता पितासे होती है वहाँ जैन परम्परामें नवीन भवके प्रथम समयकी परि-णतिके अनुसार उसकी प्राप्ति होती है और कर्म-भूमिमें चारित्रके निमित्तसे वह बदल भी जाता है। इससे भी यही निष्कर्ष निकलता है कि गोत्रका अर्थ रक्तपरम्परासे नहीं है।

हम समझते हैं कि इतने लिखनेसे पण्डितजी उस तथ्यको सम्यक् रीतिसे जान लेंगे जिसका निर्देश मैंने ज्ञानोदयके ४-५ अंकमें किया है।

दूसरी आपत्ति पण्डितजीने मेरे द्वारा किये गये 'शूद्रत्वाशुचित्वाविर्भावना संघावर्णवादः' के अर्थपर की है। यह वाक्य सर्वार्थसिद्धिका है।

अकलंकदेवने राजवार्तिकमें उक्त वाक्यका जो व्याख्यान किया है वह पण्डितजीके शब्दोंमें इस प्रकार है 'ये श्रमण शूद्र हैं, स्नान न करनेसे इनका अंग मैलसे भरा है, ये गन्दे हैं, निर्लज्ज दिगम्बर हैं।' इस व्याख्यानमें 'शूद्र हैं' स्वतन्त्र पद है और 'स्नान न करनेसे इनका अंग मैलसे भरा है।' आदि स्वतन्त्र पद है फिर भी वे अकलंकदेवके वर्णनसे ऐसा निष्कर्ष निकालना चाहते है कि 'जैन मुनि स्नान नहीं करते, उनका वदन मैला कुचैला रहता है, नंगे डोलते थे, बाह्य शुद्धिका वैसा महत्व उनकी दृष्टिमें नहीं था। जैसा दूसरोंकी दृष्टिमें था, अतः उन्हें शूद्र कहा जाता था।'

यहां पण्डितजीने लेखनकी जिस कुशलतासे काम लिया है वह पाठकोंकी दृष्टिसे ओझल रहेगी, ऐसा हम नहीं मानते। जहां ग्रन्थमें 'ये श्रमण शूद्र हैं' ऐसा कहनेके बाद 'क्योंकि' पदकी सूचना नहीं

१. देखो ज्ञानोदय अंक ५ पृष्ठ ३६८।

है वहां उन्होंने 'क्योंकि' पदका आशय अपनी ओर से जोड़कर अपना मन्तव्य सिद्ध करनेकी चेष्टा की है। अपने अभिप्रायकी पुष्टिके लिये मनुष्य क्या नहीं करता इसका यह उदाहरण है।

फिर भी पाठक यह मान सकते हैं कि कदाचित् दूसरे विरोधी जन जैन श्रमणोंको परिहासमें शूद्र कहते हों। प्रश्न है तो मार्मिक पर इसका समाधान भी उसी सर्वार्थसिद्धिसे हो जाता है। वहां वैयावृत्यके प्रकरणमें संघ शब्दका अर्थ करते हुए लिखा है कि 'चातुर्वर्ण्यश्रमणनिवहः संघः' इसका अर्थ है जो गृहस्थ अवस्थामें चारों वर्णके रहे हैं ऐसे श्रमणोंका समुदाय। इससे स्पष्ट है कि जिन-दीक्षाका अधिकार न केवल क्षत्रिय, वैश्य और ब्राह्मणको था अपितु शूद्रोंको भी था।

अन्तमें पण्डितजीने वातावरणको उत्तेजित करनेकी दृष्टिसे 'पं० जी जैन समाजके प्रसिद्ध टीकाकार हैं, आज वे सिद्धान्त ग्रन्थोंकी टीका कर रहे हैं और सर्वार्थसिद्धिकी उनकी टीका वर्णी ग्रन्थ-मालासे छप रही है। यदि उनमें भी पं० जीने अपने इन नवीन मन्तव्योंको इसी प्रकार भरा होगा तो उससे जैन सिद्धन्तोंके मन्तव्योंको क्षति पहुंच सकती है तथा व्यर्थका वितण्डावाद खड़ा हो सकता है इसी भावनासे यह लेख लिखा गया है।' इन शब्दोंके साथ अपने लेखको पूर्ण किया है।

वस्तुतः यही इस लेखके लिखनेका खास लक्ष्य है। मालूम पड़ता है कि इतना ही प्रचारित करनेके लिए उन्होंने यह लेख लिखा है, क्योंकि उन्होंने जिन आधारोंसे इस लेखका कलेवर बढ़ाया है उनमें किसी गंभीर अध्ययनका परिचय नहीं मिलता। मैं यहां यह लिखना कर्त्तव्य समझता हूँ कि पं० जो स्वयं तो 'जैनधर्म' पुस्तकमें 'शूद्रमुक्तिको दिगम्बर परम्परा नहीं मानती' इस आशयका निर्मूल विधान करके जैनधर्मकी आत्मापर आवरण डाल रहे हैं और मुझपर 'चाहे शूद्र हो या अन्य कोई जो चरमशरीरी होगा उसेही मुक्ति होगी' यह सिद्धान्ताधारसे विवेचन करनेपर भी अपने मन्तव्य भरनेका आरोप कर रहे हैं, किमाश्चर्यमतः परम्।

रही वितण्डावादकी बात, सो इसमें न हमारी रुचि है और न समय ही। न हम किसीको छेड़ना चाहते हैं और न किसीके धमकानेसे डरते हो हैं। सुधार तो जैनधर्मकी आत्मा है। अनादिकालीन मिथ्यात्वका सुधार किये बिना सम्यग्दर्शन या व्यक्तिकी मुक्ति हो नहीं हो सकती। मैं तो यही भावना करता हूँ कि मानवमात्र सुधारपथका अनुगामी बने। इसामें समाजका कल्याण और व्यक्तिकी मुक्ति है। जैनाचार्योंने सदा जैनधर्मकी इस आत्माकी रक्षा है।

—फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री,
बनारस।

गुणचन्द्रमुनि कौन हैं ?

—:—:—

आचार्य वादिराज (ई० सन् १०२५) ने अपने न्यायविनिश्चयविवरणमें एक जगह[1] गुणचन्द्रमुनि-का उल्लेख करते हुए लिखा है—

> 'देवस्य शासनमतीवगभीरमेतत्
> तात्पर्यतः क इव बोद्धमतीवदक्षः ।
> विद्वान्न चेत्सगुणचन्द्रमुनिर्न विद्या-
> नन्दोऽनवद्यचरणः सदनन्तवीर्यः ॥'

अर्थात्—'यदि गुणचन्द्रमुनि, अनवद्यचरण विद्यानन्द और सज्जन अनन्तवीर्य (रविभद्र-शिष्य) ये तीन विद्वान् देव (अकलङ्कदेव)के गम्भीर शासन-के तात्पर्यका स्फोट न करते तो उसे कौन समझनेमें समर्थ था ?'

यहाँ वादिराजसूरिने जिन साधुपुरुष गुणचन्द्र मुनिका उल्लेख किया है वे कौन है और उन्होंने अकलङ्कदेवके कौन-से ग्रन्थकी व्याख्यादि की है ? शायद यह पद अशुद्ध न हो ? फिर भी इस उल्लेखसे इतना तो स्पष्ट है कि उन्हें अकलङ्कके शासन (वाङ्मय) के व्याख्यातारूपमें एक जुदा व्यक्ति जरूर होना चाहिये।

विद्यानन्दने अष्टशतीका अष्टसहस्रीद्वारा, अनन्त-वीर्यने सिद्धिविनिश्चयका सिद्धिविनिश्चयटीकाद्वारा, वादिराजने न्यायविनिश्चयका न्यायविनिश्चय-विवरणद्वारा और प्रभाचन्द्रने लघीयस्त्रयका लघी-यस्त्रयालंकार (न्यायकुमुदचन्द्र) द्वारा अकलङ्कके शासन (वाङ्मय—ग्रन्थों) का तात्पर्य स्फोट किया है। प्रभाचन्द्र वादिराजके उत्तरवर्ती हैं और इसलिये 'सगुणचन्द्रमुनि' पदसे प्रभाचन्द्रका तो ग्रहण नहीं किया जा सकता है। अतः इस पदका वाच्य वादि-राज (ई० १०२५) से पूर्ववर्ती कोई अन्य आचार्य अकलङ्कका व्याख्याकार होना चाहिये। परन्तु अब तक उपलब्ध जैनसाहित्यमें विद्यानन्द, अनन्तवीर्य, वादिराज और प्रभाचन्द्र इन चार विद्वानाचार्योंके सिवाय अकलङ्कके व्याख्यातारूपमें कोई दृष्टिगोचर नहीं होता।

यदि सचमुचमें 'सगुणचन्द्रमुनि' पदसे वादि-राजको गुणचन्द्रमुनि नामके विद्वानका उल्लेख करना इष्ट है जो अकललंकके किसी ग्रंथके व्याख्याकार रहे हों तो विद्वानोंको इसपर विचार करना चाहिए और यह स्पष्ट करना चाहिए कि वे किस सामान्य अथवा विशेष परिचयको लिये हुए हैं तथा उन्होंने अकलङ्कके कौन-से ग्रन्थकी व्याख्या अथवा टीकादि की है एवं उनका क्या समय है ?

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्रसिद्ध साहित्य-अनुसन्धाता पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारका विचार है कि यहाँ 'सगुण' शब्द 'प्रभा' के अर्थमें प्रयुक्त हुआ है और इसलिए'सगुणचन्द्र'पदसे आ.वादिराजके द्वारा उन्हीं प्रभाचन्द्रका उल्लेख किया गया है जिनका उल्लेख जिनसेनस्वामीने अपने आदिपुराणमें किया है और जिन्हें 'कृत्वा चन्द्रोदयं' पदके द्वारा 'चन्द्र'के उदय (उत्पत्ति) का कर्त्ता अर्थात् न्यायकुमुचन्द्र नामक जैनन्यायग्रन्थका, जो अकलंकदेवके लघीय-स्त्रयकी टीका है, रचयिता बतलाया है। उनका मत है कि प्रमेयकमलमार्तण्डके कर्त्ता प्रभाचन्द्र और न्यायकुमुदचन्द्रके कर्ता प्रभाचन्द्र भिन्न हैं—दोनोंको अभिन्न मानना तब तक ठीक नहीं है जब तक उनकी अभिन्नताके समर्थक प्रमाण सामने न आजायें। इस सम्बन्धमें उनका एक स्वतंत्र लेख लिखनेका विचार है।

११-१-५०, —दरबारीलाल कोठिया

---

[1] देखो, वीरसेवामन्दिर सरसावाकी लिखित प्रति पत्र ३८२।

पंछी, नीड किधर है तेरा ?

(श्री विजयकुमार चौधरी, साहित्यरत्न, साहित्यशास्त्री)

(१)

उड़ता है तू किस अनन्तमें,
किसका तूने लक्ष्य बनाया ?
जीवनके सूखे पतझड़में,
किसको नया वसन्त बनाया ?
तिमिरावृत इस बीहड़ वनमें,
किस तरुपर है किया वसेरा ?

(२)

तूने अब तक समझ न पाया
गतिका अन्त यहाँ नहिं होगा !
मृग-मरीचिकामें कदापि क्या—
सुरभित नव वसन्त कहिं होगा ?
स्वप्नोंकी भित्तीपर क्या कुछ
कर सकता है चतुर चितेरा ?

(३)

तू बन उस पथका अनुगामी
जिसपर चलकर घर पहुँचेगा ;
जीवन, मृत्यु और द्विविधासे
बचकर निज सुनीड़ पायेगा !
यहाँ न मोहित हो जाना तू,
व्याधोंने है जाल बखेरा !

(४)

जीवनमें संघर्ष यहाँ है,
तू अब तक क्या समझ न पाया ?
सुखमें दुखका रूप छिपा है,
दुखने सुख-आभास छिपाया ।
जीवनकी विषमयी विषमता-
का है यह स्वर्णाभ सबेरा ॥

(५)

जहाँ नहीं जग-आडम्बर है,
ममताका मोहक अम्बर है ।
जीवनकी निस्तब्ध शान्तिमें
जहाँ न कोई कोलाहल है ।
उस अनन्तमें बसा स्वात्म ही
तेरा अपना नीड-बसेरा ।

(६)

उस अनन्तमें तू अनन्त बन—
जिसमें सबका अन्त निहित है ।
तेरा ही तेरेमें सब कुछ,
नहीं बाह्यका लेश निहित है ।
जहाँ न कर्म क्रिया कोई है,
केवल ज्ञाताका ही डेरा ।

मथुरा संग्रहालयकी सं० १८२६ की तीर्थंकर मूर्ति

(ले०—श्रीकृष्णदत्त वाजपेयी, एम०ए०,

संग्रहाध्यक्ष, पुरातत्त्व संग्रहालय, मथुरा)

—:—:—

मथुराके पुरातत्व संग्रहालयमें सफेद संगमरमर की बनी हुई एक अभिलिखित तीर्थंकर मूर्ति है। इस मूर्ति (संग्र०सं०बी २५)की ऊंचाई १ फुट २½ इंच है। तीर्थंकर पद्मासनपर ध्यानमुद्रामें बैठे है। दुर्भाग्यसे प्रतिमाका सिर नहीं है। हाथोंकी उंगलियां भी कुछ कुछ टूट गई है।

मूर्तिकी चरण-चौकीपर सामने तीन पंक्तियोंका नागरी लिपिमें एक लेख खुदा है। लेखकी भाषा संस्कृतान्वित हिंदी है। लेख[1] इस प्रकार है—

पंक्ति १—संवत १८२६ वर्षे मिती माघ वदि ७ गुरुवासर दीगनं (न) गरे महा [रा] जे केहरीसिंघ राजा विजय [राज्ये]

पंक्ति २—मघ (हा) भी (भ) ट्टारक श्री प्र (पू) ज्य श्री महानंद सागर सु (सू) रिभिस्तदुपद(दे) शात्पल्लीवाल वंश मगिहा गे (ो)

पंक्ति ३—त्रे ठ(ब) रसाणानगरवासिना चौधरी जोधराजेन पतिट्टा करापितेय

इस लेखका तात्पर्य यह है कि—'विक्रम संवत् १८२६, माघ कृष्ण ७ (= १८ जनवरी, १७७० ई०) बृहस्पतिवारको दीग नगरमे महाराजा केहरीसिंहके राज्यकालमें, श्री महानंद सूरिके उपदेशसे बरसाणा नगरके निवासी चौधरी जोधराजने, जो पल्लीवाल वंश तथा मगिहा(?) गोत्रके थे, इस तीर्थंकर प्रतिमाकी प्रतिष्ठा करवाई।'

दीग या डीग नगर भरतपुर राज्य (अब राजस्थान प्रांत) का एक प्रसिद्ध नगर है। बहुत कालसे यह नगर भरतपुर राजाओंके प्रधान केन्द्रोंमेंसे एक रहा है।

केहरीसिंह या केसरीसिंह भरतपुर नरेश रतनसिंहके लड़के तथा ख्यातनामा सूरजमलके नाती थे। सूरजमलकी मृत्युके बाद उनके दो पुत्र जवारसिंह तथा रतनसिंह क्रमशः गद्दीपर बैठे। उन्होंने थोड़े समय तक ही राज्य किया। रतनसिंहकी मृत्युके बाद उनके तीसरे भाई नवलसिंह अपने भतीजे केसरीसिंहकी नाबालगीकी अवस्थामें राज्य-कार्यका संचालन करते रहे। १७६६ ई० के प्रारम्भमें केसरीसिंहने राज्यकी बागडोर स्वयं अपने हाथोंमें ले ली। इन्होंने १७७५ ई० तक राज्य किया।

प्रस्तुत तीर्थंकर मूर्ति इनके राज्यके दूसरे वर्ष (१७७० ई०) में प्रतिष्ठापित की गई।

लेखकी दूसरी पंक्तिमें उपदेशकका नाम महानंदसागरसूरि दिया हुआ है। मूर्ति-प्रतिष्ठापक चौधरी जोधराज पल्लीवाल वंश तथा मगिहा गोत्र के कहे गये हैं। 'पल्लीवाल' शब्द आधुनिक 'पालीवाल' का पूर्व रूप ज्ञात होता है। पालीवाल ब्राह्मण वर्तमान राजस्थान तथा मध्यभारतमें काफी संख्या में मिलते हैं। नहीं कह सकते कि लेखका 'पल्लीवाल' ब्राह्मण वर्णका सूचक है या किसी इतर वर्णका[1] हाँ ब्राह्मणोंमें चौधरी शायद ही सुने जाते हों[2] ?

---

१ लेखमें छोटे ब्रेकट( )के अंतर्गत अक्षर पूर्ववर्ती अक्षरों के शुद्ध रूप हैं। बड़े ब्रेकट[ ]के अंदरवाले वर्णादि पूरक हैं, जिन्हें लेख उत्कीर्ण करनेवालेने भूलसे छोड़ दिया प्रतीत होता है। —लेखक।

१,२ जैनोंके अन्तर्गत खण्डेलवाल, अग्रवाल, जैसवाल, पल्लीवाल, परवार, गोलापूर्व, गोलालारे, गोलसिंघारे आदि ८४ जातियां हैं जिनका पेशा मुख्यतः व्यापार एवं उद्योग

तीसरी पंक्तिमें नगरके नामको डा० फोगल हरसाणा पढ़ते हैं[1], परन्तु मेरे विचारसे यह बरसाण है। लेख उत्कीर्ण करनेवालेने पहला अक्षर केवल ब लिखा है। संभवतः उसने भूलसे इसके आगे अकारकी मात्रा नहीं लगाई। वर्तमान डीग नगरके आसपास हरसाणा नामका कोई नगर नहीं ज्ञात है दूसरी ओर बरसाणा (प्रचलित 'बरसाना') मथुरा जिलेका प्रसिद्ध नगर है। यह राधाके पिता वृषभानु का गांव कहा जाता है और ब्रज-यात्राके प्रमुख स्थानोंमें है। यहां वर्षमें कई बार बड़े उत्सव भी होते हैं। अबसे १८० वर्ष पूर्व (मूर्ति-निर्माणका समय) भी यह प्रसिद्ध तीर्थस्थान होनेके कारण नगरके रूपमें (न कि गाँवके रूपमें) रहा होगा। इसी लिये लेखमें इसे नगर ही कहा गया है। १८७० ई० में वर्तमान मथुरा जिलेका अधिकांश भरतपुर राज्यके ही अंतर्गत था। बरसाना भी इसमें सम्मिलित था। बरसानाकी डीग नगरसे सीधी दूरी लगभग १६ मील है।

है और जो देशके समग्र मार्गोंमें निवास करती हैं।'पल्लीवाल' उन्हीं ८४ जातियोंमेंसे एक प्रतिष्ठित जाति है और जो प्राय: भरतपुर, मथुरा, आगरा तथा एटा जिलेमें विशेषत: पाई जाती है। खण्डेलवालों, अग्रवालों, गोलापूर्वों आदिकी तरह इस जातिमें भी जैनधर्म और हिन्दूधर्म दोनों धर्मोंके अनुयायी पाये जाते हैं। कोई आश्चर्य नहीं, 'पालीवाल' 'पल्लीवाल' का ही पर्यायान्तर हो। इस जातिके पूर्वजोंके जैनधर्म सम्बन्धी प्रभावना और उत्कर्षके अनेक प्राचीन लेख उपलब्ध हैं। पण्डित दौलतरामजी जैसे अनेक जैन साहित्यकार इसी जातिके उज्ज्वल रत्न हैं जिन्होंने जैन साहित्यकी सृष्टि और समृद्धिमें बड़ा योगदान किया है। प्रतीत होता है कि ये समग्र जातियां किसी समय या तो जैनधर्मकी अनुयायी थीं अथवा हिंदूधर्मको मानने वाली थीं। जो हो, किंतु यह तथ्य है कि इन दोनों धर्मोंके अनुयायी सदा एक-साथ रहे हैं और कितनी ही बातोंमें परस्पर आदान-प्रदान भी इनमें रहा है।

प्राचीन समयमें जातिमें जो प्रमुख अथवा मुखिया होता था वह चौधरी कहलाता था। आज भी जातिके मुखियाको अनेक जगह चौधरी कहा जाता है। चौधरी जोधराज भी अपनी जातिके और गांवके प्रमुख एवं मुखिया माने जाते होंगे और इसलिए उनके नामके साथ चौधरी उपनाम उक्त मूर्तिलेखमें जुड़ा हुआ है।—स०सम्पा०

१ देखिए, डा० फोगल कृत 'कैटालॉग ऑफ दि आर्केओलॉजिकल म्यूजियम, मथुरा पृ ७२

हिन्दूकोडबिल

(बा० माईदयाल जैन, बी०ए०बी०टी०)

'हिन्दूकोडबिल' के नामसे प्रायः सभी लिखे पढ़े आदमी परिचित है। आजकल चर्चाका वह खास विषय बना हुआ है। भारतीय विधान परिषदमें वह पेश हो चुका है और सिलेक्ट कमेटी उसपर अपना मत दे चुकी है। हमारी वर्तमान सरकार तो उसे आगामी कुछ महीनोंमे ही पास करके कानूनका रूप देनेपर तुली हुई है।

हिन्दू समाज सम्बंधी सभी कानूनोंको इकट्ठा कर के और उनमें कुछ नये परिवर्तन करके एक बहुत ही क्रांतिकारी रूपमे यह पास किया जारहा है। इस बिलमें लिखी बातोंका सक्षेपमें कुछ परिचय तो आगे दिया जायेगा, पर यहां उसके बारेमे जो हलचल और विचारधारायें हैं, उनका भी कुछ हाल दिया जाता है।

पास होजानेपर यह बिल हिंदुओंके अतिरिक्त जैनों, बौद्धों, और सिखोंपर भी समान रूपसे लागू होगा, इसलिये जैनोंको इसे खूब समझना चाहिये और इसके बारेमें समयसे पहले ही अपना रवैया, नीति और मत तय कर लेना चाहिये। वरना बिलके पास होजानेके बाद शोर मचाने, वावेला करने और पछतानेसे कुछ न बनेगा। पर मुझे यह देखकर बहुत खेद होता है, कि हम इस मामलेमें प्रायः निश्चिन्त-से बैठे है और हमारी समाजके तीनों सम्प्रदायोंमें इसके बारेमें कोई विशेष हल-चल या चर्चा नहीं है।

सनातनधर्मी पुराने विचारके कुछ हिंदू स्वामी करपात्रीजीके नेतृत्वमे इस बिलका तीव्र विरोध कर रहे हैं। पहले कुछ सत्याग्रह भी उन्होंने किया था, जो असफल रहा। उनका विरोध अभी जारी है।

पर यह समझना भूल होगी कि सभी सनातन धर्मी इसके विरुद्ध है। उनमेंसे बहुतसे इस विचारके हैं, कि बिलकी अच्छी अच्छी बातें पास की जायें और बाकी दोषपूर्ण बातोंमें उचित सुधार, संशोधन या परिवर्तन करके पास किया जाय। इसी विचारके कुछ सनातनधर्मी नेताओंने, जिनमें गोस्वामी श्री गणेशदत्तजी मुख्य हैं, एक संस्था "अखिल भारतीय हिंदू कोडबिल विचार समिति" दिल्लीमें स्थापित की है। इस समितिका विचार यह है कि हिंदूकोडबिल के गुण-दोषोंपर विचार किया जाय। जिनपर यह बिल लागू होता है, उनके धर्माचार्यों, नेताओं और विद्वानोंकी एक कान्फ्रेंस बुलाई जाय, और उसमे इस बिलपर विचार किया जाय और उसके मतानुसार भारत सरकारसे इस बिलको पास कराया जाय। इस समितिका काम संयोजकका-सा है। जैनसमाज का सहयोग पानेके लिये इस समितिकी कार्यकारिणी कमेटीमें आचार्य श्रीविजयवल्लभ सूरिजी, ला० श्रीराजेन्द्रकुमारजी, ला० श्रीतनसुखरायजी, श्रीमती लेखवतीजी और इन पंक्तियोंका लेखक भी है। हमारा प्रयत्न यह होगा कि जैनसमाजके तीनों सम्प्रदायोंके सभी विचारोंके धर्मविद्वानों, नेताओं और विद्वान् वकीलोंके परामर्शसे जैनसमाजका रवैया और मत इस समितिके द्वारा भारत सरकार तक पहुँचाया जाय और जैनहितोंकी रक्षा की जाय।

ऊपरके दो विचारोंके इलावा देशके विद्वानोंके कुछ और मतोंका सार भी यहाँ दिया जाता है। जो कि उपरोक्त समितिमें आये हुए पत्रोंपरसे लिये गये हैं।

कुछ नेताओंका विचार है कि हिंदूकोडबिल जिस रूपमें पेश होरहा है, उसी रूपमे ज्यों-का त्यों पास किया जाय।

कुछ नेताओंका मत है कि भारत सरकारको ऐसा कोइ कानून बनाने और धर्ममें हस्तक्षेप करनेका अधिकार नहीं है।

कुछ नेताओंका मत है, कि वर्तमान भारत सरकारको ऐसा कानून बनानेका कोई अधिकार नहीं है।

भारत सरकारके कानूनी मंत्री माननीय श्री डा० भीमराव अम्बेडकरका विचार है कि इस सरकारको यह कानून बनानेका वैसे ही अधिकार है, जैसे कि पहलेकी हिंदू, मुस्लिम और अंगरेजी सरकारें हिंदुओंके लिये पिछले कालमें कानून बनाती रहीं। पर सरकार उसमें उचित संशोधन करनेको तैयार है। वह इसको पास करना देश व हिंदू समाजके लिये अत्यन्त आवश्यक समझता है।

इन विचारोंपर टीका-टिप्पणी करना अनावश्यक है।

इस बिलका संक्षेपमें विवरण नीचे दिया जाता है।

इस बिलमें नौ भाग, सात परिशिष्ट और कुल १३९ धारायें हैं। पहिले भागमे कुल चार धारायें हैं। इन धाराओंमें बिलका नाम, सीमा विस्तार, कोडका प्रभाव और परिभाषायें आदि है। दूसरे भागमें तीन अध्याय और ४७ धारायें हैं। इसमे विवाह, विच्छेद और विवाह सम्बन्धी अधिकारोंकी प्राप्ति आदिके बारेमें धारायें है। भाग तीनमें तीन अध्याय २५ धारायें है जो गोदी लेनेसे सम्बन्ध रखती है। भाग चारमें नौ धारायें हैं और वे नाबालिगपन और वलीपन (minority and guardianship) के बारेमें हैं। भाग पांचमें पांच धारायें है जिनमे संयुक्त परिवारके बारेमें विधान हैं। भाग छहमें तीन धारायें है जिनमें स्त्रीसम्पत्तिके बारेमें व्यवस्थाएँ हैं। भाग सातमें तीन अध्याय और ३१ धाराओंमें उत्तराधिकार, वसीयतहीन उत्तराधिकार, और वसीयतद्वारा उपलब्ध सम्पत्तिके बारेमें उत्तराधिकार सम्बन्धी नियम हैं। भाग आठमे १३ धारायें है जिनमें भरण-पोषण(गुजारे) और उसकी रकमके बारेमे निर्देश है। भाग नौमे कुल दो धारायें है जिनमे नियम बनानेके अधिकार और हिंदूकोडबिलमे संशोधन और खंडनोंके विषयमें वर्णन है।

इस बिलमे क्रान्तिकारीपनकी बातें एकपत्नीत्व और एकपतित्व, असवर्ण विवाह, सगोत्र विवाह, विवाहोंकी रजिस्ट्री होना, तलाक, लड़कियोंका पिताकी सम्पत्तिमें अधिकार होना आदि है।

जैन समाजके सभी पत्रोंको हिंदूकोडबिलको समझकर उसपर चर्चा करनी चाहिये। और सभी प्रतिनिधि संस्थाओं, विद्वानों, नेताओं और वकीलोंको इसपर विचार करना चाहिये। हिंदूकोडबिलका मूल्य बारह आने है और "हिंदूकोडबिल तथा उसका उद्देश्य" का मूल्य चार आने है और ये दोनों पुस्तकें नीचे लिखे पतेसे मिल सकती है:—

१ डिस्ट्रीब्यूशन अफसर,
पब्लिकेशन्स डिवीजन,
गवर्नमेंट ऑफ इंडिया,
ओल्डसेक्रेटैरियट, दिल्ली।

२ सरकारी पुस्तकोंके एजेंट पुस्तक-विक्रेताओंसे।

जिन महानुभावोंको 'अखिल भारतीय हिंदूकोड बिल विचारसमिति' को कुछ लिखना हो, वह उसके पंच श्री लक्ष्मीदत्त दीक्षित ७/२० दरियागंज, देहली से पत्रव्यवहार करें। या मुझे अपने सुझाव लिखें, जिन्हें मैं समितिके सामने रख सकूँ।

डिप्टीगंज, दिल्ली।

इटावा ज़िलेका संक्षिप्त इतिहास

(ले० श्रीगिरीशचन्द्र त्रिपाठी, बी०ए०)

—o—

इटावा जिलेका प्राचीन इतिहास अन्धकारपूर्ण है। परम्परागत विचारधाराके अनुसार कुछ लोग जमुना-चम्बल द्वाबेमें स्थित चक्रनगरको महाभारत का एक चक्र बताते हैं। यह अनुमान सन्देहपूर्ण है। आस-पासके बहुतसे पुराने टीले, जिनपर प्राचीन कालमें प्रसिद्ध नगर और किले स्थित थे, अब भी वर्तमान हैं पर इनकी खोज नहीं हुई। कुदरकोट, मूञ्ज और आसईखेड़ा इनमें अधिक प्रसिद्ध हैं। १२ वीं शताब्दीमे राजपूतोंने जब मेवों तथा इस्माइली जातिको खदेड़ दिया तो वे इन्हीं इलाकोंमें जाकर बसे। अनुमान किया जाता है कि प्राचीन समयमें यह इलाका सेंगर नदीके उत्तरमें घने जङ्गलोंसे ढका था। दक्षिणी भागमें जङ्गलसे ढके कितने खन्दक थे जो अब भी इस क्षेत्रके प्राकृतिक सौन्दर्यको बढ़ा रहे है।

यहांके निवासियोंके विषयमें इतना ज्ञात है कि उनका सम्बन्ध मौर्य तथा गुप्त सम्राटोंसे था। ७ वीं शताब्दीके आरम्भमें यह इलाका हर्षवर्द्धनके राज्यमें था। हर्षकी मृत्यु (६४८ ई०)के पश्चात् भारतमें अशान्ति थी। कन्नौजमें ८ वीं शताब्दीमें जिस साम्राज्यकी स्थापना हुई वह १०१८ तक रहा बादमें महमूद गजनीने इसका अन्त कर दिया। मुसलमानोंके यहांसे चले जानेके पश्चात् गहरवारोंने यहां राज्य स्थापित किया और यह जिला उनके आधीन था। कुदरकोटमें एक ताम्रपत्र मिला है जो ११५४में चन्द्रदेवके शासनकालमें लिखा गया था। मूञ्ज और आसईखेड़ाके विषयमें भिन्न भिन्न मत है। कुछ लोगोंका कहना है कि ये वे ही किले हैं जिनपर महमूद गजनीने ई० १०१८में हमला किया था। वरन, कुलचन्दका किला तथा मथुरा लेनेके बाद सुल्तान कन्नौजकी ओर बढ़ा और बहुत सम्भव है कि वह इसी जिलेसे होकर गुजरा हो। इसके बाद वह मूञ्जकी ओर बढ़ा। यहांके ब्राह्मणोंने मुसलमानोंका सामना किया पर जब उन्होंने अपने को असमर्थ पाया तो उन्होंने शस्त्र रख दिये। पर इनमेंसे बहुतसे मारे गए। अब सुल्तान आसईके किलेकी ओर बढ़ा। आसई उस समय हिन्दू वीर चन्दलभोरके अधिकारमें था। चन्दल योद्धा था और उसने कन्नौजके रायसे भी युद्ध किया था। इसके किलेके चारों ओर जङ्गल था जिसमें विषैले सर्प रहते थे।

महमूद गजनवीकी इस यात्रासे यह पता चलता है कि मूञ्ज और आसई कन्नौजके पूर्वमें थे। मुसलमान इतिहासकारोंके वर्णनद्वारा इनको स्थितिका पूर्ण निश्चय नहीं किया जासकता।

जमुना नदीके तटपर बसा हुआ इटावा नगर प्राचीनकालमें व्यापारका केन्द्र था जब रेल और हवाई जहाजोंका प्रचलन नहीं हुआ था तब लोग नौकाओं मे बैठकर नदियोंके सहारे एक स्थानसे दूसरे स्थान की यात्रा किया करते थे। इस कारण नदियोंके तटपर बसे हुए नगरोंने काफी उन्नति की।

इस जिलेके सम्बन्धमें प्राप्त ऐतिहासिक सामग्री से पता चलता है कि ब्राह्मणोंका इस जिलेमें काफी प्राधान्य रहा है। कनौजिया, लहरिया, संगिहा, सावण हिन्नारिया और लहरिया इन ६ घरानोंके ब्राह्मण इस जिलेमें जमींदार किसान और अन्य व्यवसायों द्वारा अपनी जीविका उपार्जन करते रहे हैं। इन ब्राह्मणोंमें ६ घरानोंकी अलग अलग जमींदारियाँ

हैं जिनमें सबसे बड़ी जमींदारी लखनाकी है।

इटावेकी रियासतें

इटावा जिलेमें क्षत्रियोंका काफी बोलवाला रहा है। इटावा 'गजेटियरसे पता चलता है कि दिल्लीके चौहान राजा पृथ्वीराजके वंशज सुमेरशाहने पहले पहल इटावाको मेवोंसे छीन लिया। फरुखाबाद जिलेमें स्थित छिवरामऊसे लेकर जमुना नदीके तट तक ११६२ गावोंपर सुमेरशाहने कब्जा कर लिया था इस प्रकार सुमेरशाहने परतापनेर, चकरनगर और सकरोलीके चौहान वंशकी नींव डाली। १८५७ मे जब भारतमें राज्य-क्रान्ति हुई तो विद्रोहियोंका साथ देनेके कारण चकरनगर और सकरोलीकी जमींदारी अंग्रेजोंने जप्त करली। जसोहन और किशनीकी जमींदारी कालान्तरमें घटती गई और ये बहुत छोटे से जमींदार रह गये।

दूसरी राजपूत जाति सेंगरोंकी है जिसका औरैया तहसीलमें बोलवाला है। सेंगरोंकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें कहा जाता है कि ये श्रृङ्गि-ऋषिकी सन्तान है। एक किम्वदन्ती यह भी है कि कन्नौजके गहरवार राजपूत राजा जयचन्दकी पुत्री देवकलीके पुत्र सेंगर वंशके संस्थापक हैं। देवकलीके नामसे औरैया अकबरके शासनकालकी कौन कहे ब्रिटिश शासनमे भी विख्यात रहा है। अकबरके शासनकालके कागजातोंसे पता चलता है कि वर्तमान जगम्मनपुर के राजा अकबरके समयमें कनवारखेड़ाके राजा कहलाते थे और कनवारखेड़ा एक परगना था। जालौन जिलेमें जगम्मनपुरसे दो मीलकी दूरीपर ध्वस्त कनवारखेड़ा आजभी अपने प्राचीन वैभवोंको छिपाये हुए ध्वस्त अवस्थामें पड़ा है। इटावेके सेंगर वशके शासक भरेहके राजा और रुरुके राजा हैं।

भदौरिया राजपूतोंके सम्बन्धमें बतलाया जाता है कि ये लोग आगरेसे इटावा आये। मुगल शासकों की इनपर कृपा थी इस कारण परतापनेर और मैनपुरीके चौहानोंसे अधिक इन लोगोंका प्रभाव जम गया। भदौरिया राजपूतोंको अपने उत्कर्षका अवसर शाहजहांके शासनकालमें मिला। कुछ लोगोंका मत है कि सातवीं शताब्दीमें भदौरिया राजपूत अजमेरकी तरफसे आये। कुछ लोगोंका कहना है कि ये चन्दवारके चौहान राजपूत हैं जो कालान्तरमें भदौरिया कहलाने लगे। १८०५ मे भदौरिया राजपूतोंके मुखियाने अंग्रेजोंके विरुद्ध इटावेमें बगावतकी थी इसके कारण उन्हें जिलेसे निर्वासित कर दिया गया। उन्होंने बड़पुरा नामक गांवमें शरण ली। भदौरिया बड़पुराके अपने वंशजोंको इसी कारण आज भी अग्रपूज्य मानते है।

इटावेमें कछवाहा राजपूतोंकी भी काफी संख्या है। ये राजपूत औरैया और विधूनामें फैले हुए हैं। इस वंशके एक व्यक्तिने रोहतासगढ़का प्रसिद्ध किला बनवाया था। ११२९ ईस्वीमें कछवाहोंने ग्वालियर राज्यके नरवर नामक स्थानको अपनी राजधानी बनाया। कहते हैं कि इसी वंशके एक व्यक्तिने जयपुर राज्यकी नींव डाली थी। कालान्तरमें नरवरके कछवाहा शासक ग्वालियर राज्यके लहार नामक स्थानमें चले आये और यहीं आकर बस गये जिसके कारण लहारके आसपासका स्थान अभीतक कछवाहगढ़ या कछवाह घार कहलाता है।

रियासत परतापनेर इटावेकी सबसे प्राचीन जमींदारी है। इस रियासतके २१ मुस्सलिम मौजे इटावा जिलेमें हैं और इस रियासतके कुछ गाँव मैनपुरी जिलेमे भी है। परतापनेरके चौहान शासकों का इटवा, एटा और मैनपुरीमें सदियोंतक दबदबा रहा है। कहते हैं सन् ११६३ ईस्वीमें दिल्लीके चौहान राजा पृथ्वीराजकी मृत्युके बाद करनसिंह सिंहासन पर बैठे। करनसिंहके पुत्र हमीरसिंहने रणथंभौरके किलेकी नींव डाली। कालान्तरमें वे इस किलेकी रक्षामें ही मारे गये। उनके पुत्र उद्धवरावने ६ विवाह किये जिससे १८ सन्तानें हुई। उद्धवराव जब मरे तब राज्यका नामोनिशान मिट चुका था। उनकी

सन्तानें अपने लिये उपयुक्त स्थानकी खोजमें थीं। उन दिनों कानपुर फरुखाबाद, एटा, इटावा और मैनपुरीमें मेव लोगोंकी तूती बोल रही थी। सुमेरसिंह (जो उद्धवरावके होनहार बेटे थे) ने एक छोटी-सी सेनाका संगठन किया और मेवोंपर चढ़ाई करदी। सुमेरसिंहके साथ चौहानोंकी सामान्य सेना थी पर मेव उनके सामने न डट सके। सुमेरसिंह, जो राजा होनेपर सुमेरशाह कहलाये, ने इटावेको अपनी राजधानी बनाया और जमुनाके तटपर एक किलेकी नींव डाली। यह वही किला है जो इटावेके टिकसी मन्दिरके पास ध्वस्तावस्थामें अवस्थित है।

सुमेरशाहने अपने एक भाई ब्रह्मदेवको राजाको उपाधि और राजौरका इलाका देदिया। दूसरे भाई अजवचन्द्रको चन्द्रवारका इलाका दिया। सुमेरशाहकी आठवीं पीढ़ीमें प्रतापसिंह हुए जिन्होंने परतापनेरका किला बनवाया। उनके पांच पीढ़ी बाद गजसिंह हुए जिनका १६८३ इस्वीमें देहान्त हुआ। गजसिंहके चार लड़के थे। गजसिंहने अपनी रियासत इन चार पुत्रोंमें बांट दी। सबसे बड़े लड़केका नाम गोपालसिंह था जिनके हिस्सेमें परतापनेरका इलाका पड़ा। गोपालसिंह अभी अभी अच्छी तरह सम्भल भी न पाये थे कि मुसलमानोंने उनपर हमला कर दिया और उनके पास जो कुछ था सब छीन लिया।

गोपालसिंहकी चौथी पीढ़ीमें राजा दरयावसिंह हुए जिन्हें अंग्रेजोंने राजाकी उपाधि देकर फिर परतापनेरका राजा बनाया। राजा दरयावसिंहके उत्तराधिकारी चेतसिंह हुए जिनके समयमें राज्यकी आर्थिक स्थिति बहुत खराब होगयी जिसके कारण परतापनेर रियासतमें केवल ११ गांव रह गये। चेतसिंहके बाद उनके पुत्र लोकेन्द्रसिंह रियासतके मालिक हुए पर उनकी बुद्धि कमजोर थी इस कारण उनकी तथा रियासतकी व्यवस्था सब लोकेन्द्रसिंहके चाचा जुहारसिंहको सौंपी गयी। जुहारसिंह अंग्रेजों का बहुत कृपापात्र था। १८५७ की राज्यक्रांतिके समय उसने अंग्रेजोंको बहुत मदद पहुँचायी थी। चकरनगरके राजाने विद्रोहियोंका साथ दिया था इसलिये अंग्रेजोंने जुहारसिंहको चकरनगरके कई गाँव भेंट कर दिये थे। १८८६ ईस्वीमें राजा लोकेन्द्रसिंहकी मृत्यु हुई और उनके पुत्र मुहकमसिंह गद्दीपर बैठे। मुहकमसिंह भी बड़ेशाह खर्च थे। रियासतकी व्यवस्था इनके शासनकालमें बहुत खराब होगयी। राजाका चरित्र भी अच्छा न था इस कारण इनकी राजा की उपाधि भी छीन ली गई। मुहकमसिंह १८६७ में मर गये। उनके बाद हुक्मतेजप्रतापसिंह परतापनेर की गद्दीपर बैठे। हुमक्तेजप्रतापसिंह उस समय नाबालिग थे। उनकी माने अपने पुत्रकी नाबालगीमें रियासतका सब इन्तजाम अपने हाथमें लेलिया और उनकी व्यवस्थासे सन्तुष्ट होकर अंग्रेजोंने १७ मार्च १६०६ में हुकमतेजप्रतापसिंहको फिर राजाकी उपाधि प्रदान की।

परतापनेर रियासतके इतिहासके साथ ही चकरनगर और सहसों तालुकेका इतिहास सम्बन्धित है। चकरनगर राज्यकी नींव सुमेरशाहके भाई त्रिलोकचन्द्रने डाली थी। त्रिलोकचन्द्रकी ५ वीं पीढ़ी में चित्रसिंह हुए जिन्होंने राजाकी उपाधि ग्रहण की। सन् १८०३ में इस राज्यके शासक राजा रामबक्शसिंह थे। इन्होंने स्वाधीन राजा होनेकी घोषणा की और अपने आपको शक्तिशाली बनानेके लिये ठग और डाकुओंका एक जबरदस्त गिरोह संगठित किया। अंग्रेज इनसे चिढ़े हुए थे ही उन्होंने रामबक्शसिंहकी रियासतपर कब्जा करनेके लिये फौजकी एक टुकड़ी भेजी। राजा साहबने आत्मसमर्पण नहीं किया। वे चम्बल नदीको पार कर जंगलमें चले गये। अंग्रेजोंने रियासतपर कब्जा कर लिया बादमें केवल चकरनगर राजा रामबक्शसिंहको दे दिया और बाकी जमींदारीपर अंग्रेजोंने कब्जा कर लिया। सहसोंको १८०६ तक अंग्रेजोंने अपने अधिकारमें नहीं किया। चकर नगरके राजाके वंशज

केवल कुछ गांवोंके मालिक रह गये थे। १८५७ की राज्य-क्रान्तिके अवसरपर उन्होंने अंग्रेजोंकी जोरदार खिलाफत की, इस कारण अंग्रेजोंने उनकी रियासत को जप्त कर लिया। राजा परतापनेरके चाचा जुहार-सिंह अंग्रेजोंके विशेष कृपापात्र थे, इस कारण चकर नगरकी जमींदारीका अधिकांश भाग उन्हें दे दिया गया जिसपर उसके वंशज आजतक कायम हैं।

भदावरमें भदौरिया राजपूतोंकी तूती बोलती रही है। बड़पुराके राव हिमचलसिंह बहादुरकी कामेथसे लेकर कधेसी (पर्गना भर्थना) तक रियासत थी। इनकी रियासत आगरे जिले तक फैली हुई थी जिसमें ५६ मुहाल थे। बड़पुरा इनका हेडक्वार्टर था और नरेन्द्रसिंह बड़पुराके रावके नाममे विख्यात थे। १८०४ मे जब राव नरेन्द्रसिंहने अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह किया तो अंग्रेजोंने उनकी रियासत को छीन लिया। केवल बड़पुरा इनके अधिकारमे रह गया था। अंग्रेजोंने बादमें उसे भी छीनकर नीलाम कर दिया। बादमें कई पीढ़ियोंके बाद कुछ गॉव दिये गये जिनपर भदौरियाका अब भी अधिकार है।

मलाजनोकी रियासत भी इटावेमें है जिसकी स्थापना परिहार राजपूत जंगजोतने की थी। जब इस राज्यक राजा महासिंह पन्नाके राजासे लड़ते हुये मारे गये तो उनके लड़के दीपसिंह जालोन जिलेके सिद्धपुरा नामक स्थानमे भाग गये थे। दीपसिंहने लाहरके राजा और सकरौलीके राजाकी लड़कियोंके साथ शादी की। १८१३ मे इन्होंने इटावा जिलेमे ८ गॉव खरीदे और राजाकी उपाधि ग्रहण की। इस छोटी सी जमीदारीके मालिक मलाजनीके राजा अंग्रेजोंके बड़े भक्त रहे, इस कारण १८८६ मे अंग्रेजोंने इनकी राजाकी उपाधिको स्वीकार कर लिया।

इटावा तहसील इसी नामके परगनाका बृहत-रूप है। यह इस जिलेका पश्चिमी भाग है और यह २६-३८० अक्षांश उत्तरीसे लेकर २७-१० उत्तरी अक्षांश तक तथा ७८-४५० पूर्वी अक्षांशसे ७६-१३० पूर्वी अक्षांश तक फैला है। इसके उत्तरमें मैनपुरी जिला, पूर्वमें भर्थना तहसील, दक्षिणमे ग्वालियरकी सीमा तथा पश्चिमकी सीमा अनिश्चित-सी है। उत्तरमें दक्षिण इस तहसीलकी औसत लम्बाई २० मील और चौड़ाइ २२ मील है। इसका क्षेत्रफल २७२७६४ एकड़ या ४२६-४ वर्गमोल है।

पिछले ३० वर्षोंमें इस तहसीलकी आबादी बढ़ गई है। १८८१ मे यहॉकी आबादी १६३२११ थी। बादकी गणनामे यह संख्या १६८०२३ हो गई। १६०१ की गणनामें यहां २१६१४२ जन थे जिनमें ६६२११ स्त्रियाँ थी। औसत आबादी ५०७ व्यक्ति प्रति मील हैं और यह दूसरे तहसीलोंसे बहुत अधिक है। यदि नगरकी अबादी घटा दी जाय तो औसत आबादी केवल ४०८ व्यक्ति प्रति मील रह जायेगी। धर्मके हिसाबसे विभाजित करनेपर १६४०१७ हिन्दू, १६६६३ मुसलमान, १६३३ जैन, २०३ आर्य, १६५ ईसाई, १५३ सिख तथा ८ पारसी हैं। हिन्दुओंमें अहीरोंकी संख्या सबसे अधिक है।

परगनाके रूपमें इटावाका नाम अकबरके समय आता है जब इसमें ७ टप्पा थे जिनके नाम हवेली, सतौरा, इन्दवा, बाकोपुर, देहली, जाखन और करहल थे। इसमे इन्दवा, जिसको अब कामैथ या बढ़पुरा कहते है, हवेली और सतौरा अब इस तहसीलमें सम्मिलित है। देहली तथा करहल मैनपुरी जिलेमें सम्मिलित हो गये है।

जाखन—जाखन इटावा तहसीलका एक गांव हैं। उत्तरमें २६-४६ अक्षांश तथा पूर्वमें ७६-५३ पर स्थित हैं। यह इटावासे १८ मील उत्तर-पश्चिम है। १६०१ की गणनाके अनुसार यहांकी आबादी २२७५ थी जिनमें प्रमुख राजपूत हैं जो इधर-उधर गांवोंमें फैले है। इनमें नगला, रामसुन्दर, नगलातौर प्रमुख है। इस प्राचीन नगरकी स्थिति केवल एक खेड़ासे ज्ञात होती है जो सौ वर्षसे स्थित है। इसकी प्रसिद्धिका कारण यह है कि प्राचीन बादशाहीके

समयमें उसके नामपर तहसीलका नाम पड़ा।

बकेवर—यह एक बड़ा गांव है जो २६-३६ अक्षांश उत्तर तथा ७६-१२ अक्षांश पूर्व स्थित है। यह इटावासे १३ मील दक्षिण पूर्व औरैया सड़कपर स्थित है। १८७२ में यहांकी आबादी २६१० थी जिनमें ब्राह्मण और मुसलमान प्रमुख थे। यहां ब्रिटिश अधिकारियों और भारतीयोंके साथ बहुत-सी लड़ाइयां हुईं।

कनचौसी तहसील औरैया—यह ग्राम २६-६५ अक्षांश उत्तरी ७६-२८ अक्षांश पूर्वमें स्थित है और उससे कच्चीसड़क मिली है यह गांव विधूनाके राजपूतोंके अधिकारमें है। यहांके निवासी अधिकतर मारवाड़ी धनी व्यापारी है।

कोटरा तहसील औरैया—यह गाँव २६-३३ अक्षाँश उत्तर ७६-३३ अक्षाँश पूर्व जिलेके दक्षिणी पूर्वी कोनेमे औरैयासे कालपी जानेवाली सड़कपर औरैयासे ५ मील तथा इटावासे ४४ मील जमुनाके किनारे स्थित है। १८७२ में इसकी आबादी २७०५, १६०१ में आबादी घटकर २५६३ हो गई। इसमें ब्राह्मणोंकी संख्या अधिक है।

कुदरकोट तहसील विधूना—यह एक बड़ा गांव है। उत्तरमें २६-४८ अक्षांश उत्तर ७६-२५ अक्षाश पूर्वमें स्थित है। इटावासे २५ मील उत्तर-पूर्व कन्नौज जानेवाली सड़कपर स्थित है। यह बड़ा ही पुराना स्थान है। यहां पानका बाग था। इस सम्बन्धमें एक कहानी कही जाती है कि एक राजा अपनी सेनाके साथ इस स्थानसे जारहा था। उसकी रानीके कानका कुण्डल यहीं खोगया। स्थानीय देवीके बलसे यह आभूषण शीघ्र ही मिल गया। इसलिये राजाने अपनी कृतज्ञता प्रकट करनेके लिये वहीं एक किला बनवा दिया। और तब उसका नाम कुण्डलकोट पड़ा, बादमें यही कुदरकोट होगया।

कन्नौज साम्राज्यके समय यह प्रसिद्ध स्थान था। १८५७ में पाए ताम्रलेखको लिखावटको देखकर उसे १०, ११वीं शताब्दीका कहा जा सकता है। इस पत्रमें लिखा गया है कि हरिवर्माके पुत्र तक्षदत्तने अपने पिताके स्मरणमें यह ब्राह्मणोंके वासके लिये दिया। इसमें उन ६ ब्राह्मणोंका नाम है जो वहां रहते थे। राजाके नामका कोई उल्लेख नहीं है, इसकी लिखावट स्थानीय महत्वकी है। कहा जाता है कि कुदरकोटसे कन्नौज तक एक भूमिगत मार्ग था। इसमार्गमें जानेका छोटा रास्ता जो अब भी स्थित है पाताल दरवाजेके नामसे प्रसिद्ध है। कोई भी इस मार्गमें नहीं गया है। एक कहानी है कि एक फकोरने इसके रहस्यको जाननेका प्रयत्न किया। एक बत्ती और खाना लेकर और एक लम्बी रस्सी अपने हाथमें लेकर वह यहां उतरा। ३ दिन ३ रात यह रस्सी ढीली जाती रही और फिर रोक ली गयी। तबसे उस फकोर और रस्सीके विषयमें कुछ भी पता न चला।

वह किला जिसका भग्न अब भी खेड़ापर स्थित है वह अवधके गवर्नर अलमास अलीखां जिसकी कचहरी यहां थी, उसके द्वारा बनवाया गया था। इसमें १६ बुर्जियाँ हैं और यह ब्रिटिश सरकारको दे दिया गया। पर तबसे इसकी अवनति होने लगी। इसमें लगी गोलीके चिह्न अब भी पाये जाते हैं।

पहले यह एक शक्ति-शाली स्थान था पर बादमें यह आधा एक नीलके व्यापारीके हाथ बेच दिया गया जिसने यहाँ एक फैक्टरी स्थापित की। दक्षिणी भागमें थाना स्थापित कर दिया गया। अब यह थाना नहीं रहा। वहां स्कूलकी स्थापना की गई। आजकल नगरके कई मकान इसकी ईंटोंसे बने हैं। १८७२ में कुदरकोटकी आबादी २५६७ थी, १६०१ में यह केवल २२२७ रह गई। इसमें जुलाहोंकी संख्या अधिक है जो कपड़े बुननेका काम करते हैं।

कुदरेल तहसील भरथना—यह गाँव भरथना तहसीलके उत्तरमें २६·५६ अक्षाँश उत्तर तथा ७६·१० अक्षाँश पूर्वमें स्थित है। यह इटावासे २४ मील तथा भरथनासे १४ मील दूर—भरथना ऊसराहार सड़क-

पर स्थित है १६०१ में यहांकी आबादी ३८५० थी। इसमें अहीर अधिक हैं।

लखना, तहसील भरथना—लखना एक छोटा कस्बा है। यह २६-४० अक्षांश उत्तर तथा ७६-११ पूर्व भरथनासे सहसों जाने वाली रोडपर स्थित है। यह भरथना स्टेशनसे १० मील तथा इटावासे १४ मील दूर है। यह कस्बा भोगिनीपुर नहरके दाहिने किनारेपर स्थित है और इटावाऔरैयाकी सड़कसे २ मील दक्षिणमें है। १८६३ में लखना तहसीलका प्रधान कार्यालय था। उसी वर्ष यह कार्यालय भरथनामें हटा दिया गया।

मून्ज तहसील इटावा—यह गाँव इटावा-फरुखाबाद रोडके निकट २६-५५ अक्षांश उत्तर ७०-११ अक्षांश पूर्वमें इटावासे १४ मील उत्तर-पूर्वमें स्थित है। १८७२ में इसकी आबादी ६८४ तथा १६०१ में १६१६ हो गई। अहीर यहाँ अधिक हैं। प्राचीन समयमें विस्तार तथा ऊंचाईको ध्यानमें रखकर यह खेरा मून्ज प्रसिद्ध स्थान जान पड़ता है। यहाँके निवासी कहते है कि यह कौरव और पाण्डवोंका युद्ध स्थल था। इसका उल्लेख महाभारतमें है कि इस अवसरपर राजा मुञ्ज जिसका नाम मूर्तध्वज था, अपने दो लड़कोंके साथ राजा युधिष्ठिरसे लड़ा। इस सम्बन्धमें अबभी मूर्तध्वजके किलेके दो गुम्बजकी ओर संकेत कर लोग बताते हैं। खेराके उत्तरमें एक पुराना कुआँ है जो बड़े कंकड़ोंसे बना है। मालूम पड़ता है कि ये टुकड़े किसी पुरानी इमारतसे निकाले गये थे।

इस खेड़ामें बहुतसे फर्स लगे हैं जो आधुनिक मकानोंके काममें लाये जाते हैं और जो यहां ३०,४० फीट नीचे तक मिलते हैं। मि० ह्यूमने इस स्थानको मूञ्ज बताया है जो १०१८ में महमूद गजनीद्वारा अधिकारमे कर लिया गया था।

बाली तहसील भरथना—यह एक बड़ा गांव जो २६-४४ अक्षांश उत्तर तथा ७६-१७ अक्षाश पूर्व इटावासे १४ मील पूर्व तथा भरथनासे ४ मील है। १६०१ में इसकी आबादी २८४७ थी जिनमें वैश्यों और अहीरोंकी संख्या अधिक थी यहांपर प्राचीन खेड़ा है जिसके चारों ओर बिनसियाके चौधरी जयचन्दद्वारा बनवाई एक प्रचीर है।

इटावा जिलेकी भूमि ऐतिहासिक सत्योंको अपने हृदयमें छिपाये पड़ी है। आसई खेड़ा, मूञ्ज, कुदरकोट और चकरनगरके खंडहरोंमें जैन मूर्तियां और जैन साहित्यका कितना भंडार पड़ा है यह तो कोई अन्वेषी अनुसन्धानकर्ता हो बतला सकता है। यदि यू.पी. की सरकार इन ऐतिहासिक स्थानोंकी ओर ध्यान दे तो बहुत-सी अप्राप्य ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त की जासकती है। क्या सरकारका ध्यान इस ओर जायेगा?

जैन धातु-मूर्तियोंकी प्राचीनता

(ले० श्रीअगरचन्द नाहटा)

वीरवाणीके गत १७-१८वें अंकमें श्रीकमलेश-कुमार लुहाडियाका 'धातुओंकी मूर्तियोंकी दुर्दशा शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ है। उक्त लेखकी अन्य बातों पर मुझे विचार नहीं करना है केवल धातुकी मूर्तियों की प्राचीनताके सम्बन्धमें उन्होंने जो कुछ उल्लेख किया है उसीपर यहां विशेष प्रकाश डाला जारहा हैं। आपका लिखना यह है कि "आप भारतवर्षको एक एक मूर्तिका अवलोकन कीजिये आपको कहीं भी संवत १६००-१७०० से पहिले (की) कोई धातुकी मूर्ति दृष्टिगोचर नहीं होगी। यह धातुकी मूर्तियाँ अभी २००-३०० वर्षसे ही प्रतिष्ठित होने लगी है।" यद्यपि धातुसे यहाँ उनका प्रधान आशय चांदी एवं सोनेकी मूर्तियोंसे हैं पर आगे चलकर पीतलको भी आपने उसमे सम्मिलित कर लिया है। जहां तक चांदीकी मूर्तियोंका सम्बन्ध हैं मेरी जानकारीमे बहुत कम ही मूर्तियें बनी हैं और वे अधिक प्राचीन नहीं हैं एवं निखालस सोनेकी मूर्तियें तो बहुत ही कम होंगी पर पीतल व सोने आदि सर्व या पंच धातुओं के सम्मिश्रणसे बनी धातुकी मूर्तियें ही हजारोंकी संख्यामें प्राप्त है एवं उनकी प्राचीनता बहुत अधिक है। परवर्ती उल्लेखोंको सत्य माना जाय तब तो सोनेकी मूर्ति बहुत पुराने समयमें बनती[1] थी, सिद्ध होता है पर ऐतिहासिक दृष्टिसे प्राप्त मूर्तियोंको ध्यानमें रखकर विचार किया जाय तो भी धातुकी मूर्तियें २ हजार वर्ष पुरानी अवश्य हैं।

सतरहवीं शतीके श्वेताम्बर विद्वान् कविवर समयसुन्दर महोपाध्यायके घंघाणी तीर्थके स्तवनानुसार सं. १६६२ के जे. सु. ११ को घंघाणी स्थानमें दुधेला तालाबके खोखरदेहरेके भूमिगृहसे ६५ मूर्तियें प्राप्त हुई थीं जिनमें तीर्थंकर प्रतिमा ४६ थीं। इनमें मूलनायक पद्मप्रभस्वामीकी मूर्तिपर सम्राट सम्प्रति ने वीरनिर्वाण सं. २०३ के माह सुदी ८ रविवारके आर्यसुहस्तिसूरि प्रतिष्ठित करानेका लेख खुदा था। दूसरी उल्लेखनीय प्रतिमा अर्जुन नामक श्वेतसोने की पार्श्वनाथ प्रतिमा थी जिसे सम्राट चंद्रगुप्तने बनवाई थी जिसका उल्लेख इन शब्दोंमें किया गया है—

> वीसय तीडोतर वीरथी संवतसबल पंडूर।
> पद्मप्रभप्रतिष्ठिया, आर्यसुहस्तीसूर। ७
> महातणी शुक्ल अष्ठमी, शुभ महूर्त्त रविवार।
> लिपि प्रतिमापूठं लिखी, ते वांची सुविचार।
> मूलनायक बीजोवलि, सकल सकोमल देहोजी।
> प्रतिमा श्वेतसोनातणा, मोटो अचरिज्य एहोजी।
> अरजनपास जुहारिये, अरजुनी पुरि सिणगारोजी
> तीर्थंकर तेवीसमो, मुक्तितणो दातारजी॥
> चंद्रगुप्त राजा हुओ, चाणाक्य दिरायो राजोजी।
> तिण यह बिंब भरावियो, सार्या आत्म काजोजी॥

(विशेष जाननेके लिये देखे प्राचीन जैन इतिहास भा० ८, मुनि ज्ञानसुन्दरजी प्रकाशित)

उपर्युक्त वर्णनसे स्पष्ट है कि सोनेकी धातु प्रतिमा करीब २२५० वर्ष पूर्वसे बनती आरही है पर खेद है कि मुसलिम साम्राज्यके अशान्त वातावरणके कारण ये प्रतिमाएँ पुनः कहीं भंडारस्थ करदी गई हैं जिनका अभी पता नहीं है। वर्त्तमानमें घंघाणीमें सं० ६३७

---

१ कविवर समयसुन्दरने शत्रुञ्जयरासमें लिखा है—
'चैत्य करायो रूपातणो, सोना ने बिंब सारो जी।
अर्थात् भरतके अष्टम वंशजने सोनेका बिंब बनवाया था।

की एक विशाल परिकरवाली धातुप्रतिमा ही विद्यमान है।

उपलब्ध सबसे प्राचीन धातुमूर्तियोंमें बड़ौदा राज्यके पुरातत्वविभागकी ३ एवं महूडीके कोट पार्क मंदिरके महन्तके पास १, कुल ४ प्रतिमाएं है। जैन चित्रकलाके ममज्ञ श्रीयुत साराभाई नवाबके लेखानुसार इनमेंसे एक तो ई० की प्रथम शताब्दीकी है। इसपर लेख भी खुदा है जिसमें कल्पसूत्रोक्त वैरिगणका उल्लेख है। डा० हीरानंदजी शास्त्रोने इसे बौद्ध प्रतिमा १७ वीं सदीकी लिखा था जिसका प्रतिवाद ब्लौकके साथ जैनसत्यप्रकाश व. ५ अ. ५-६ में प्रकाशित है।

वैसे गुप्तकालकी कई जैन धातु मूर्तिएं उपलब्ध है जिनमें एक बीकानेरके चिन्तामणजीके मंदिरमें है। इसी मंदिरके भूमिगृहमें सीरोहोकी १०५० धातु मूर्तियें है जिनमें ७-८ शताब्दीकी भी धातुमूर्तिएं है। सोरोही राज्यके बसंतपुरसे प्राप्त व वर्त्तमानमें पिंडवाड़ामें अवस्थित प्राचीन धातुमूर्तियोमे ८ मूर्तिएं ८वीं शतीकी है। इनमेंसे एकपर सं० ७४४ लेख भी है जिसके सम्बन्धमें मुनि कल्याणविजयजीका लेख नागरी प्रचारिणी सभाके त्रैमासिक पत्रके नवीन संस्करण भा. १८ अं. २ मे प्रकाशित है।

बड़ौदा आदिकी प्राचीन धातु मूर्तियोंके सम्बन्ध में भाई नवाबका एक लेख भारतीयविद्या व. १ अं. २व जैनसत्यप्रकाश व. ६ अ. ११-१२ में प्रकाशित है, जिज्ञासु उन्हें पढ़कर विशेष जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।

आठवीं नवमीं सदीकी कई लेखवाली मूर्तिएं हमारे अवलोकनमे भी आई है पर उनमें संवतका स्पष्ट उल्लेख नहीं। केवल लिपि व कलाकी दृष्टिसे ही निर्णय किया गया है। १० वीं सदीकी कई संवतोल्लेखवाली प्रतिमायें भी प्राप्त हुई हैं। अभी पालीके शाँतिनाथमन्दिरमें सं० ६४४ की धातुप्रतिमा देखनेमें आई एवं गुप्तकालकी एक बड़ी प्रतिमा श्रीभालनगरके महावीरजिनालयके मूलनायकरूपमें प्रतिष्ठित है। इसी मन्दिरमें अभी कुछ वर्ष प्राप्त एक विशाल सपरिकर सुन्दर महावीर प्रतिमा व २ बड़े पीतलके घंट सं० १२३८ के अवलोकनमें आये है।

सबसे बड़ी धातु प्रतिमायें—

आबूके निकटवर्ती अचलगढ़के श्वेताम्बर जैन मन्दिरोंमें धातुकी ११ विशल मूर्तियें हैं जिनमेंसे चौमुख मूलनायककी बड़ी मूर्तियोंका वजन प्रत्येक का १२० मनका कहा जाता है। समस्त प्रतिमाओं का वजन १४४० या १४४४ मन कहा जाता है। मुनि जयंतविजयजीके अनुसार १२० मनवाली मूर्तियें तो कुंभलमेर, डुंगरपुरादिसे आई है अतः उनका वजन तो पका तोलका (८० रु० सेर) है पर १४४४ मनकी कहावत है। वह गुजरातीवजन (४० रु० सेर) की होना संभव है। मेरी जानकारी मे इतने वजन वाली धातु मूर्तियें अन्यत्र नहीं है। वैसे सपरिकर बड़ी धातु मूर्तियाँ आबूके मंदिरमें भी मिलती है।

लुहाडियाजीका यह लिखना सही है कि द्रव्यके लोभवश इन प्रतिमाओंको उठा ले जानेवाले बहुत मिलते हैं। इन पीतलकी प्रतिमाओंको सोनेकी मानकर पुराने जमानेमे इनपर भी अत्याचार गुजारा गया था। इसके कतिपय ऐतिहासिक उल्लेख पाठकोंकी जानकारीके लिए यहां दिये जा रहे हैं।

१. संवत् १६३५ मे तुरसमखानने सीरोही लूटी तब वहाँके जैन मंदिरोंकी १०५० धातुप्रतिमाएं उन्हें गलाकर सोना निकलवानेके उद्देश्यसे साथ ले लीं और सम्राट अकबरको उनको भेंट किया। दूरदर्शी सम्राटने उन्हें एक कमरे में बांध करके रखदेनेकी आज्ञा देदी। फलतः कई महीने वे वहीं पड़ी रहीं। श्रावक लोक उन्हें प्राप्त करनेका विचार करते रहे पर सम्राटके पास जाकर ले आनेके आत्मविश्वास व साहसकी कमी थी। अंतमें बीकानेरके मंत्रीश्वर कर्मचंद्रने महाराजा

रामसिंहजीकी मार्फत उन्हें प्राप्त कीं और बीकानेरके वासुपूज्य मंदिरमें वे रखी गईं। इनमें वासुपूज्य भगवान्की चौवीसी मूर्ति तो अब भी मंत्रीश्वरके घर देरासरके मंदिरमें पूजित है। बाकीकी मूर्तियोंकी संख्या अधिक होने व नित्य पूजा करनेकी असुभीता समझ उन्हें स्थानीय चिन्तामणि मंदिरके भूमिगृहमें रखी गई है जिन्हें समय समय बाहर निकालकर पूजा की जाती है। हमने इन सब प्रतिमाओंके लेख अपने बीकानेर जैनलेखसंग्रह ग्रन्थमें दिये हैं[1]।

२. मारवाड़का प्राचीन नगर व प्राचीन गुजरात की राजधानी और श्रीमाल आदि जातियोंके उत्पत्ति स्थल, भीनमाल नगरमें पार्श्वनाथप्रभुकी सपरिकर मूर्ति है, जिसे मुसलमानोंके आक्रमणके समय भयसे भूमिगृहमे रख दी गई थी। संयोगवश मकान खोदते हुए उस भूमिगृहका पता चला व उसमेंसे उक्त पार्श्व प्रतिमा, महावीरके पीतलमय समोवसरण, शारदादि ८ विद्यादेवियोंकी मूर्तियें प्राप्त हुईं। जब उसका पता स्थानीय हाकिमको लगा तो उसने अपने सूबेदार जावालके गजनीखॉनको इसकी सूचना दी। उसने इन धातु मूर्तियोंको अपने यहाँ मंगवाकर इन्हें गलाकर हाथियोंके गलेके घटे बनवानेका विचार किया जैनसंघ ने उसे बहुत समझाया ४हजार रुपए तक घंटे न करवानेके लिए देनेको कहलवाया पर गजनीखांनने नहीं माना और लोभवश लाख रुपये देनेको कहने लगा। श्रावकलोग निराश होकर आगये और जहाँ तक प्रतिमा प्राप्त न हो विविध अभिग्रह धारण किये। पर जांगसेठने तो अन्न खाना भी छोड़ दिया। इधर अधिष्ठायकदेवने गजनीखांनको चमत्कार दिखाया। शहरमें मरकीका उपद्रव फैला व खांनको भी व्याधिने आ घेरा। प्रजाने भी मूर्त्तियोंको भीनमाल पहुँचानेका अनुरोध किया अतः प्रभुको हाथ जोड़ क्षमा मांगकर खांनने भीनमाल पहुँचादी। संघने पार्श्वनाथ प्रभुका जिनालय बनवाके उक्त चमत्कारी मूर्त्तिको उसमें स्थापित की[1]। हाल ही में मैं उक्त मूर्त्तिका दर्शन करके आया हूँ। प्रतिमा गुप्तकालकी मालूम देती है। एक कान कुछ कटा हुआ है। प्रवाद है कि खांनने यह सोनेकी है या पीतल की परीक्षाके लिये यह हिस्सा कटवाके देखा था।

३. पिंडवाडेकी जिन आठवीं शतीकी धातु मूर्त्तियोंका उल्लेख ऊपर किया गया है उनके विषयमें भी मुनि कल्याणविजयजीने लिखा है कि–

"प्रस्तुत धातु मूर्त्तियाँ वि० सं० १९५६ में वसंतगढ़के जैनमन्दिरके भूमिगृहमें थीं जिनका किसीको पता नहीं था, परन्तु उक्त वर्षमें भयंकर दुष्कालका समय था, धनके लोभसे अथवा अन्य किसी कारण से पुराने खण्डहरोंकी तलाश करनेवालोंको इन जैन मूर्त्तियोंका पता लगा। उन्होंने तीन बार मूर्त्तियोंके अंग तोड़कर उनकी परीक्षा करवाई और उनके सुवर्णमय न होनेके कारण मूर्त्तियोंको वहीं छोड़ दिया।

यद्यपि उपर्युक्त उद्धरणोंसे लोभवश धातु मूर्तियोंकी दुर्दशा करनेका प्रमाण मिलता है फिर भी जैन मूर्त्तिकलाकी दृष्टिसे इन सब धातुकी मूर्त्तियोंका बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। एक तो धातु घसीजता कम है। अतः ये अधिक काल तक सुरक्षित रहती है, लेख भी साफ खुदते हैं। दूसरे इनको बनानेमें खर्च कम पड़ता है। इसी कारण ये हजारोंकी संख्यामें प्राप्त है। छोटी होनेसे हरेक स्थानमें रखने व लाने लेजानेमें भी सुभीता रहता है। कलाकी दृष्टि से देखा जाय तो जितनी विविधता इनमें पाई जाती है पाषाणकी मूर्तियोंमें नहीं पाई जाती। एकल, कायोत्सर्गस्थित, त्रितीर्थी, पंचतीर्थी, चौवीसी आदि प्रकार तो है ही पर परिकरादि बाह्य उपकरणोंमें कलात्मक विशेषताएँ भी हैं। C.P. प्रान्तकी व गुप्तकालकी धातु मूर्तियें बहुत ही मनोहर हैं। खेद है

---

[1] इनमेंसे कुछ लेख मूर्तियोंके ब्लाकके साथ हमारे सम्पादित राजस्थानी पत्रिकामें प्रकाशित हैं।

[1] विशेष जाननेके लिये जैनसत्यप्रकाश व० १२-१३ में प्रकाशित स्तवन देखें।

मूर्त्तिकलाकी दृष्टिसे इनका व्यवस्थित अध्ययन अभी नहीं हो पाया। गुजरातके श्रीउमाकांत प्रेमचन्द व शांतिलाल उपाध्यायादि जैनमूर्तिकलापर वर्षोंसे अध्ययन कर रहे हैं पर अभी उनका अनुभव प्रकाशमें नहीं आया। साराभाई व मुनि कांतिसागरजीका भी अध्ययन सराहनीय है। पर इस सम्बन्धमें शीघ्र ही एक स्वतंत्र ग्रन्थ प्रकाशित होना चाहिये। एक बंगाली विद्वान्का अंग्रेजी ग्रन्थ मोतीलाल बनारसीदास लाहौरने प्रकाशित किया सुना है पर मैंने उसे देखा नहीं। जैन समाजको इस परमावश्यक कार्यकी ओर शीघ्र ध्यान देना चाहिये।

मुझे श्वेताम्बर मूर्तियोंका ही अधिक परिचय है, अत: उन्हींपर यहाँ प्रकाश डाला गया है वैसे दिगम्बर धातु मूर्तियाँ भी बहुत मिलती हैं जिनमेंसे कई बहुत विशाल हैं। बीकानेरके वैदोंके महावीरजीके मन्दिरमें एक ऐसी ही विशाल परिकरवाली दि० जैन धातु मूर्ति हमारे अवलोकनमें आई है। श्वेताम्बर मन्दिरोंमें कायोत्सर्गस्थित धातुकी विशाल प्रतिमाएँ भी मिलती है जिनमेसे एकका- प्रजितनाथ प्रतिमाका ब्लाक जैनसाहित्य संशोधक खं० ३ अ० १ में एवं कई अन्य मूर्तियोंके ब्लाक जैनसत्यप्रकाश एवं भारतना जैनशिल्पस्थापत्य ग्रन्थादिमें प्रकाशित है। दि० विद्वानोंका कर्तव्य है कि वे भी अपने मूर्तिकला व शिल्पस्थापत्यका परिचयात्मक कोई ग्रन्थ प्रकाशित करवावें।

आचार्य विद्यानन्दका समय और स्वामी वीरसेन

(ले—बा० ज्योतिप्रसाद जैन एम.ए., एल-एल.बी.)

गत दशकमें धवला टीका समन्वित षटखंडागम साहित्यके सुसम्पादित प्रकाशनने उक्त महाकाय टीकाके प्रकांड रचयिता 'लोकविज्ञ, वाग्मी, वादिवृन्दारक, कविवाचस्पति, सिद्धान्त महोदधिबंधक' आदि विशेषणोंसे जिनसेनादि उत्तरवर्ती आचार्योंद्वारा स्मृत वीरसेन स्वामीकी ओर आधुनिक विद्वानोंका ध्यान बरबस आकर्षित कर लिया। उसके विद्वान सम्पादक प्रो० हीरालालजीने प्रथम खंडकी विस्तृत प्रस्तावनामें आचार्य प्रवरके समय और इतिवृत्ति पर यथाशक्य प्रकाश डाला और उनके द्वारा धवलाकी समाप्तिका काल सन्० ८१६ ई० निर्धारित किया गया।[1] जयधवला और महाधवलाके सम्पादकोंनेभी उसे ही मान्य किया। अनेक प्रमाणों एवं युक्तियोंके आधारपर मुझे वह तिथि कुछ सदोष जंची और गहन गवेषणाके उपरान्त मैंने उसका समय सन् ७८० ई० प्रतिपादित किया।[2] केवल श्री प्रफुल्लचन्द्रजी मोदीने मेरे मतका हल्कासा प्रतिवाद किया था।[3] जिसका मैंने अपनी जानमें पर्याप्त सन्तोषजनक समाधान तुरन्त कर दिया।[4] इसके पश्चात् मेरा एक अन्य लेख स्वामी वीरसेनके गुरुजनोंके सम्बन्धमें प्रकाशित हुआ और उससे भी मेरे उक्त मतकी पुष्टि हुई।[5] किन्तु यद्यपि मेरे द्वारा निर्णीत

१ षटखंडागम-धवलाटीका १, १, १, प्रस्तावना पृ० ४४ ४५,

२ श्रीधवलाका समय—अनेकान्त व० ७ कि० ११-१२ पृ० २०७।

३ अनेकान्त ८, १ पृ० ३७।

४ अनेकान्त ८, २ पृ० ६७।

५ जैना ऐन्टीक्वेरी १२, १ पृ० १।

तिथिका कोई प्रतिवाद या निराकरण किसी भी विद्वानने नहीं किया तथापि उसे स्वीकार करनेमें भी प्रायः सभी विद्वानोंने अभी तक मूक अनिच्छा ही प्रकट की है और प्रोफेसरसाहब द्वारा मान्य तिथिको ही मान्य किये चले जाते हैं। केवल डा० ए. एन. उपाध्येने अवश्य ही उसे स्वीकार किया प्रतीत नहीं होता। उनका मत है कि वीरसेनकी धवला टीकाकी समाप्ति जगत्तुंगके शासनकालमें (७६४-८०८ ई० के बीच) किसी समय हुई।[१]

सन् १९४५ में मित्रवर पं० दरबारीलालजी कोठियाका 'विद्यानन्दका समय' शीर्षक एक लेख प्रकट हुआ था[२]। उसमें उन्होंने अन्य अनेक विद्वान् द्वारा मान्य विद्यानन्दके समय सन् ८१६ ई० को अमान्य किया था। और अपने मतकी पुष्टिमें पं० महेन्द्रकुमारजीके तद्विषयक मतमें साग्रह विरोध करते हुए यह हेतु दिया था कि विद्यानन्दने अपनी तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें न्यायवार्तिकतात्पर्यवृत्तिटीकाकार वाचस्पति मिश्रका ही उल्लेख किया है, जिन्होंने कि अपना उक्त ग्रन्थ ८४१ ई० में समाप्त किया था। अतः विद्यानन्दका समय ८३५ ई० के लगभग प्रारंभ होना चाहिये। अपने इस मतकी पुष्टिमें आपने एक तक यह भी दिया था कि "यदि विद्यानन्दका ग्रन्थ-रचनाकाल ८१६ ए. डी. के करीब माना जाय तो वीरसेन स्वामी (८२३ए. डी.) के द्वारा धवला और जयधवलामें तथा जिनसेनके द्वारा जयधवला और आदिपुराणमें विद्यानन्द या उनके तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (८०६ से ८१० ए-डी-) आदि ग्रन्थोंके वाक्योंका उल्लेख होना अनिवार्य और सम्भव था। कोई वजह नहीं कि सैकड़ों ग्रन्थों और ग्रन्थकारों तथा उनके वाक्योंका उल्लेख करनेवाले वीरसेनस्वामी और जिनसेन स्वामी अपनी विशाल टीकाओं-धवला और जयधवलामें विद्यानन्दके विद्यानन्दमहोदय और तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक जैसे विशालमहत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंके वाक्योंको उद्धृत न करें' अस्तु. उन विद्वानोंके विद्यानन्दसे कुछ पूर्ववर्ती ही होनेके कारण वैसा नहीं हुआ।

विद्यानन्दके समयको इस प्रकार २० वर्ष आगे खिसका लेनेके पश्चात् अपने एक अन्य लेख "वीरसेन स्वामीके स्वर्गारोहण समयपर एक दृष्टि" में[१] "कोठियाजाने जयधवलाके सम्पादकों आदि द्वारा अनुमानित वीरसेनकी मृत्युतिथि ८२३ ई० को भी लगभग २० वर्ष आगे खिसका दिया। इस प्रसंगमें कोठियाजीने एक पादटिप्पणीमें मेरे मतकी यह कहकर उपेक्षा कर दी कि "बा०ज्योतिप्रसादने धवलाके समय सम्बन्धमें जो नया विचार हालमें प्रस्तुत किया है उसे अभी यहाँ छोड़ा जाता है।" इस समयवृद्धिमें कोठियाजीने यह हेतु दिया है कि जयधवलाकी समाप्ति-प्रशस्तिके ३५ वें पद्यमें जिनसेनस्वामी कहते हैं कि "यह पुण्यशासन गुरुकी आज्ञासे लिखा है" अतः वीरसेनस्वामी सन् ८३७ मे जयधवलाकी समाप्तिके समय जीवित थे और उनका स्वर्गारोहण "८२३ में नहीं बल्कि जयधवला की समाप्तिके समय (ई० ८३७)के कुछ वर्ष बाद हुआ है।" और क्योंकि ग्रन्थको गुरु-शिष्य दोनोंने मिलकर रचा था, दोनों ही उसकी प्रशस्ति लिखनेमें साझेदार थे, गुरुने वृद्धत्वके कारण प्रशस्ति लिखनेका भार विनीत शिष्यपर छोड़ दिया, उनकी आज्ञानुसार उनकी अवस्थितिमें ही उन्होंने दोनोंकी ओरसे वह प्रशस्ति लिखी।

किन्तु उससे अगले ३६ वें पद्यमें स्वयं जिनसेन यह भी कहते हैं कि "गुरुके द्वारा विस्तारसे लिखे गये पूर्व भागको देखकर ही मैंने ग्रन्थका उत्तर भाग लिखा है।" इस कथनपरसे जयधवलाके विद्वान सम्पादकों तथा अन्य विद्वानोंने वह अनुमान

१ Dr. Pathak's view on Anantviryas Date Annals BoRI, p 164 jn.

२ अनेकान्त ७, ७, ८, पृ० ६७।

१ अनेकान्त ८, ३, पृ० १४४।

किया है, जो सर्वथा संगत है कि क्योंकि जिनसेन को ग्रन्थका शेष भाग लिखनेके लिये गुरुद्वारा रचित पूर्व साहित्यका अध्ययन करना पड़ा था। इससे स्पष्ट है कि गुरुकी मृत्यु बहुत पहिले ही होगई थी। परन्तु कोठियाजी इस प्रश्नका समाधान इस प्रकार करते हैं कि "क्योंकि गुरुकी मौजूदगीमें भी गुरु जैसी पद्धति को अपनानेके लिये जिनसेनने पूर्व भागको देखा होगा तथा वीरसेन स्वामीने वृद्धत्वादिके कारण जयधवलाके अगले कार्यको स्वयं न कर जिनसेनके सुपुर्द कर दिया होगा।" अतः उन्होंने वैसा कथन किया है।

अब प्रश्न यह है जब जिनसेन स्वयं यह स्पष्ट कथन कर रहे हैं कि उन्होंने गुरुद्वारा रचित साहित्यका अध्ययन करनेके पश्चात् ही उनके द्वारा अधूरे छोड़े हुए कार्यको पूर्ण किया। इतना ही नहीं, उन्होंने एक अन्य प्रौढ विद्वान श्रीपाल द्वारा जो सम्भवतया वीरसेनके साहित्य और शैलीसे जिनसेन की भी अपेक्षा अधिक परिचित थे, सम्पादित करवानेका भी कष्ट उठाया। इस शेष भागकी रचना में भी उन्हें कुछ कम समय नहीं लगा, उसके लिये कम-से-कम १०-१५ वर्षका समय अनुमान किया जाता है। तो क्या स्वामी वीरसेन जैसे साहित्यिक महारथी निग्रन्थ तपस्वीने अपने जीवनके अंतिम १५-२० वर्ष शिष्यके ऊपर अपना भार डालकर स्वयं वृथा ही गँवा दिये! मृत्युके लगभग २० वर्ष पूर्वसे ही वे इतने वृद्ध और अशक्त होगये थे! और जैसा कि हरिवंशके उल्लेखके आधारपर प्रायः समस्त विद्वान् अभी तक यह मानते हैं कि स्वयं जिनसेन सन् ७८३ में एक यशस्वी ग्रन्थकर्त्ता एवं विद्वान् थे[1] तब क्या वे उस समय यदि ३०-३५ वर्षके भी रहे हों तो अब सन् ८३७-३८ में लगभग ९० वर्षके पर्याप्त वृद्ध नहीं होगये होंगे? और क्या जिनसेनकी रचनाओं में किसी स्थलपर भी ऐसा स्पष्ट असंदिग्ध संकेतमात्र-

[1] इस विषयमें मेरा मत तो कई वर्षसे यह रहा है कि हरिवंशमें उल्लिखित जिनसेन आदिपुराणकार एवं वीरसेनशिष्य जिनसेन नहीं हो सकते। नामैक्यसे ही विद्वान् इस भ्रममें पड़ गये हैं। हरिवंशमें स्मृत जिनसेन स्वामी तो उसी ग्रन्थमें दी हुई पुन्नाट संघ (ग्रन्थकार का गुरुवंश) की गुरुपरम्परामें निर्दिष्ट हरिवंशकारके परदादा गुरु भीमसेनके शिष्य तथा शान्तिषेणके गुरु जिनसेन प्रतीत होते हैं, जिन्होंने कि वर्द्धमानपुराण और जिनेन्द्रगुणसंस्तुति आदि ग्रन्थ रचे होंगे। उल्लेखमें वर्णित विशेषणोंका आदिपुराणकारके साथ कोई भी एकत्व नहीं है। उस समय यदि वे दीक्षित भी हो गये हों तो अधिकसे अधिक १८-२० वर्षके युवक मात्र ही हो सकते हैं। इस हिसाबसे भी अमोघवर्षके शासनकालके मध्य में, ८५० के लगभग उनकी मृत्यु होनेसे उनकी आयु ९० वर्षके लगभग हो जाती है। संभावना तो उनकी ८५० के उपरान्त भी जीवित रहने की है और उस समय भी उनके अतिवृद्ध हो जानेका तत्कालीन आधारोंमें कोई संकेत नहीं मिलता। दूसरे, जो व्यक्ति ७८३ के पूर्व ही एक यशस्वी एवं प्रसिद्ध ग्रन्थकार तथा प्रौढ आचार्यों द्वारा सम्मान प्राप्त हो वह अपने जीवनके श्रेष्ठतम भाग ४०-४५ वर्ष व्यर्थ विना किसी साहित्य सृजनके ही गंवा दे, यह समझमें नहीं आता। इसके अतिरिक्त, सुदूर काठियावाड़के वर्द्धमानपुरमें अपने ग्रन्थको ७८३ में समाप्त करनेवाले हरिवंशकार उक्त ग्रन्थके प्रारम्भमें ही, जो उसके भी ७-८ वर्ष पूर्व हुआ होगा, दूसरे देश एवं राज्यके एक नवयुवक (इसमें भी शंका है) साधुका तो स्वामी विशेषण के साथ ससम्मान उल्लेख करें और उसी प्रदेशवर्ती आचार्य विद्यानन्द, महाकवि स्वयम्भू आदि विद्वानों एवं पुराणकारोंका तथा तत्कालीन अभिलेखोंमें उल्लिखित अनेक महान आचार्योंका जिक्र भी न करें यह असंगत-सा लगता है। वीरसेनके उल्लेखका कारण तो स्पष्ट है, वे एक महान ग्रन्थकार प्रतिष्ठित प्रौढ आचार्य अनेक विद्वानोंके माननीय गुरुसम थे। उनके साथ या पीछे जिनसेन का नामोल्लेख भी इस विषयमें कोई सहायता नहीं देता। अब एक विद्वान अन्य विशिष्ट विद्वानोंका स्मरण करता

भी है, जैसा कि सर्वथा संभव था, कि वीरसेन उस समय जीवित थे अथवा यह कि उनकी मृत्यु निकट पूर्वमें ही हुई है ?

जहाँ तक उक्त ३५ वें पद्यका प्रश्न है, यदि उसके 'गुरु' शब्दसे अभिप्राय स्वामी वीरसेनका ही और 'पुण्यशासन' पदसे केवल उक्त प्रशस्तिका ही मान लिया जाय तो भी क्या उससे यह आशय और भी अधिक स्पष्ट एवं सङ्गत रूपमे ध्वनित नहीं होता कि जिस समय वीरसेन स्वामीका अन्त समय निकट था उन्होंनेअपने भक्त, प्रतिभाशाली, बालशिष्य जिनसेनको अपने समीप बुलाकर कहा होगा "वत्स, हमारा अन्त समय अब निकट है, जीवनकी आशा शेष नहीं है। हमारे जीवनभरकी दीर्घ साधनाका परिणाम ये धवल जयधवल ग्रन्थ-राज हैं। धवलको हो हम पूर्ण कर चुके किन्तु जय-धवलका लगभग एक तिहाई भाग ही रच पाये हैं। हमारे इस अधूरे कार्यको पूर्ण करनेका भार तुमपर है। तुम्हीं इस कार्यका निर्वाह करनेके उपयुक्त प्रतीत होते हो, किन्तु अभी उसके योग्य नहीं हो। हमारे द्वारा रचित धवला तथा जयधवलांशका और यहाँ संगृहीत तत्सम्बन्धित विपुल साहित्यका गंभीर अध्ययन मनन कर लेनेके पश्चात जब इस कायके लिये आवश्यक उपयुक्त प्रौढ योग्यता अपनेमें अनु-भव करो तब इस कार्यको हाथमें लेना और इसको समाप्तिपर उसी प्रकार अपनी प्रशस्ति भी दे देना जैसे कि हमने धवलाके अन्तमें दी है। हमारा आशीर्वाद है कि तुम इस कार्यमें सफल होगे।" अस्तु गुरुकी मृत्युके लगभग ५० वर्ष पश्चात प्रायः गुरुकी ही आयुको प्राप्त होकर जिनसेन स्वामी जय-धवलाको पूर्ण कर गुरु ऋणसे उऋण होरहे थे तो वीरसेनस्वामीके उसी वाटनगरस्थ[1] चन्द्रप्रभ जिनालयके ग्रन्थोंसे भरे कक्षमें संभवतया गुरुके ही आसनपर बैठे हुए उन्होंने स्वर्गवासी गुरुकी उस अन्तिम आज्ञाका पालन कर अपने भाग्यको अहो-भाग्य माना हो।

कोठियाजीके उपरोक्त लेखोंसे तो ऐसा प्रतीत होता है कि वे वीरसेन और जिनसेनको विद्यानन्द के प्रायः पूर्ण समकालीन बनाये रखना चाहते हैं; क्योंकि यदि वे आचार्य आगे पीछेके होते तो उनके ग्रन्थोंमें एक दूसरेका उल्लेख होना कोठियाजीके मतानुसार अनिवार्य था, कोई वजह नहीं थी कि ऐसा न होता। किन्तु परस्पर उल्लेखकी बात तो समकालीन रहते भी संभव है जैसा कि स्वयं कोठि-याजीने अपने हालके लेख[2] में स्वयं स्वीकार किया है, परन्तु वहाँ अपने उपरोक्त तर्कके बिल्कुल विप-रीत तर्क द्वारा स्वयं ही उल्लेखाभावको संभव भी सिद्ध कर दिया है। मालूम होता है नैयायिक विद्वा-नोंका तर्क दुधारी तलवार है, जिसका वार दोनों ओर होता है।

किन्तु क्या यह सच है कि ऐसा कोई उल्लेख ही नहीं हुआ ? विद्यानन्द और जिनसेनने अवश्य ही एक दूसरेका कोई उल्लेख नहीं किया। वीरसेन ने भी विद्यानन्दका कोई उल्लेख नहीं किया, किन्तु क्या विद्यानन्दने वीरसेनका भी कोई उल्लेख नहीं किया ? किसी प्रतिष्ठित विद्वान्ने यह कथन किया

है तो यह जरूरी नहीं कि वह कालक्रमानुसार ही करे। स्वयं हरिवंशकारने ही इस नियमका स्वयं निर्वाह नहीं किया, आदिपुराणकारने भी अकलंक, और श्रीपालके पश्चात उनसे बहुत पूर्ववर्ती पात्रकेसरिका स्मरण किया। शिलालेखादिकोंमें भी अन्यत्र ऐसा बहुधा हुआ है (देखिये मुख्तारसाहबका लेख अनेकान्त १, २, पृ० ६७।

१ जैना एंटीक्वेरी भाग १५ जिल्द २ पृ० ४६। इस लेखमें हमने धवल जयधवलके रचनास्थलको सुनिश्चित रूपसे चीन्हा है। उक्त स्थानके विषयमें विद्वान अभी तक संशयित एवं अनिश्चित थे। इस लेखमें प्रतिपादित तथ्यों से भी वीरसेन स्वामीके समयसम्बन्धी हमारे मतकी भली प्रकार पुष्टि होती है।

२ अनेकान्त १०, ३, पृ० ६१।

था कि 'अष्टसहस्रीके अन्तमें विद्यानन्दने वीरसेन स्वामीकी प्रशंसा की है और उन्हें तार्किक—प्रवादि मदवारण कहा है।' यह उल्लेख तो मेरे पास नोट किया हुआ है किन्तु दुर्भाग्यसे उसका सन्दर्भ नष्ट होगया और यह स्मरण नहीं आता कि कब किस विद्वानने किस लेख या प्रसंगमें यह कथन किया था, हाँ अष्टसहस्रीके[1] अन्तमें प्रशस्तिरूपसे निम्नोक्त तीन पद्य अवश्य उपलब्ध होते हैं—

श्रीमदकलङ्कशशधरकुलविद्यानन्दसंभवा भूयात्।
गुरुमीमांसालंकृतिरष्टसहस्री सतामृद्ध्यै ॥ १ ॥
वीरसेनाख्यमोक्षगे चारुगुणानर्घ्यरत्नसिंधुगिरिसततम्
सारतरात्मध्यानगे मारमदाम्भोदपवनगिरि गह्वरयितु ॥२॥
कष्टसहस्री सिद्धा साऽष्टसहस्रीयमत्र मे पुष्यात्।
शश्वदभीष्टसहस्रीं कुमारसेनोक्तिवर्धमानार्था (नर्द्धा) ॥३॥

संभव है इस प्रशस्तिके द्वितीय मध्यम-पद्यके आधारपर ही वैसा कथन किया गया हो। इस पद्यमें आचार्य विद्यानन्दने स्वामी वीरसेनकी भारी प्रशंसा ही नहीं की है वरन् उनके स्वर्गस्थ हो जानेका भी स्पष्ट उल्लेख किया है।

अपने हालमें ही प्रकाशित लेख 'आ० विद्यानन्दके समयपर नवीन प्रकाशमें'[2] कोठियाजीने विद्यानन्दके समयसम्बंधी अपने पूर्वोक्त मतको उलट दिया है और विद्यानन्दद्वारा वाचस्पति मिश्रके उल्लेखसम्बंधी अपनी भूलको स्वीकार करते हुए अन्य विद्वानोंद्वारा विद्यानन्दके अनुमानित समय[3] को ही प्राय: मान्य कर लिया है। पूर्वापर जैन अजैन विद्वानोंके खंडन-मंडन तथा उल्लेख अथवा उल्लेखाभावके आधारपर आपने विद्यानन्द की पूर्वावधि सुरेश्वर मिश्रका समय (७८८-८२०) और उत्तरावधि वाचस्पति मिश्रका समय (८४१ ई०) निश्चित करते हुए उनका समय ७७५-८४० निर्णय किया है। इस प्रकार उन्होंने विद्यानन्दकी पूर्वावधिको तो अपने पूर्व निर्णीत समयसे ६० वर्ष पीछे लौटा लिया किन्तु उसके अप्रत्यक्ष आधारपर जो वीरसेनकी मृत्यु तिथिको एकदम बढ़ाकर ८४० के लगभग कर दिया था, उसे वहीं रहने दिया।

अपने मतकी पुष्टिमें कोठियाजीने अष्टसहस्रीके अन्तमें दी हुई उपरोक्त प्रशस्तिके प्रथम और तीसरे पद्यको भी उद्धृत किया है। किन्तु वीरसेनके उल्लेखवाले उक्त दूसरे पद्यको उद्धृत नहीं किया। उसके सम्बन्धमें आपने लिखा है कि "इन दो पद्यों के मध्यमें जो कन्नड़ी पद्य मुद्रित अष्टसहस्रीमें पाया जाता है वह अनावश्यक और असंगत प्रतीत होता है और इस लिये वह अष्टसहस्रीकारका नहीं मालूम होता।"

कन्नड़ी भाषाका विशेष ज्ञान तो मुझे नहीं है किन्तु कन्नड़ी अभिलेखोंके अवलोकनसे जो उसका आभास है उससे मेरी समझमें तो यह नहीं आया कि इस पद्यमें कौनसा विशिष्ट कन्नड़ीपन है, शायद संस्कृत-कन्नड़ी उभयभाषा विशेषज्ञ इस प्रश्नपर प्रकाश डाल सकें। मुझे तो इसके आगे पीछेके दोनों संस्कृत पद्यों तथा विद्यानन्दके ग्रन्थोंकी सामान्य भाषामें और इस पद्यकी भाषा और विन्यासमें कोई ऊपरी भेद दिखाई नहीं पड़ता वैसे विद्यानन्द स्वयं कर्णाटकके निवासी तो थे ही और उसी देशके गंगवाड़ि राज्यमें रह कर ही उन्होंने अपने ग्रन्थोंकी

---

१ अष्टसहस्री निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९१५। पृ० २९५।

२ अनेकान्त १०, ३, पृ० ९१।

३ सी० एम० एफ० (दी क्रानोलाजी आफ इंडिया)—८१० ई० अकलंकके पूर्व अनुमानित समय ७८८ ई० के आधारपर; उसी आधारपर विद्याभूषण मुख्तारसाहब आदि विद्वान ६ वीं शताब्दीका पूर्वार्द्ध अष्टसहस्रीमें कुमारिल (७००-७६०) के उल्लेखोंके आधारपर प्रो० पाठक, व सतीशचन्द्र विद्याभूषण७२० ई०, बा० कामताप्रसाद, पं० महेन्द्रकुमार—आदि-सत्यवाक्यके आधारपर-८१६, प्रो० हीरालाल—उसी आधारपर ८ वीं शताब्दीका अन्त अथवा नवींका प्रारंभ, इत्यादि।

रचना की थी। यह पद्य केवल मुद्रित अष्टसहस्रीमें ही पाया जाता है यह बात भी तभी कही जा सकती है जब अष्टसहस्रीकी समस्त उपलब्ध प्रतियोंकी जाँचपड़ताल कर यह निर्णय कर लिया जाय कि प्राचीनतम एवं प्रामाणिक प्रतियोंमेंसे किन किनमें यह पद्य है और किनमें नहीं। रही उसके अनावश्यक और असंगत होनेकी बात सो प्रशस्तियोंमें कोई निश्चित क्रमिक विषयविवेचन तो होता नहीं। पहले पद्यमें वे अपना, अपने ग्रन्थका तथा अपने आदर्श अकलंकदेवका गुरुरूपमें[1] नामोल्लेख करते हैं, तीसरे पद्यमें उक्त ग्रन्थकी रचनामें आचार्य कुमारसेनकी साहाय्यके लिये उनका आभार प्रदर्शित करते हैं, और दूसरे पद्यमें एक ऐसी ताजा घटनाकी सूचना देते हैं जिसने उनके हृदयको अत्यधिक प्रभावित किया था और जो तत्कालीन जैन इतिहासमें अत्यधिक महत्वपूर्ण थी। उसी समय अथवा कुछ ही पूर्व समीपस्थ राष्ट्रकूट राज्यके निवासी महान धवलादिक ग्रन्थोंके प्रसिद्ध रचयिता, साथ ही विद्यानन्दकी स्वयंकी प्रवृत्तिके अनुकूल उद्भट वाग्मी और वादिवृन्दारक भी, स्वामी वीरसेन जैसे वयोवृद्ध महान आचार्यके स्वर्गस्थ होनेकी सूचना मिलती है, तब उसका उल्लेख न किया जाना असंगत होता या किया जाना? ग्रन्थ समाप्त हो ही चुका था, उसका विषय भी ऐसा नहीं था कि कहीं अन्यत्र उसमें ऐसी सूचना खप सकती, अतः एक परम साधर्मीवत्सल महान आचार्यका एक अन्य और भी अधिक महान आचार्यके निकट निधनका अपने ग्रन्थकी उसी समय लिखी जानेवाली प्रशस्तिमें उल्लेख कर देना कम-से-कम उसके लिये तो अनावश्यक होना नहीं चाहिये था। अस्तु, जब इस पद्यके अष्टसहस्रीकारका होनेमें बाधक चारों हेतु हो निस्सार सिद्ध हो जाते हैं तो उसके उन्हींकी कृति होनेमें भी कोई आपत्ति नहीं रहनी चाहिये। ऐसे कथनके प्रक्षिप्त होनेकी कोई संभावना भी नहीं है, क्योंकि इसमें जिस घटनाका उल्लेख है उसके तुरन्त उपरान्त तो उसके प्रक्षिप्त होनेकी संभावना शायद हो भी सकती है सो भी स्वयं ग्रन्थकारद्वारा ही, अन्यथा ऐसी बातको लेकर किसी असम्बन्धित आचार्यके असंबन्धित ग्रन्थमें किसी अन्य व्यक्ति द्वारा पीछेसे घटा बढ़ी करनेका शायद एक भी दृष्टान्त नहीं मिलेगा। धवला—जयधवलादिमें जिनसेनादि द्वारा ऐसा किया जाता तो शायद असंगत न भी होता। और फिर यदि वह घटना उक्त ग्रन्थकी समाप्तिके लगभग ३० वर्ष बादकी हो, जैसा कि कोठियाजीका मत है, तो इस असंगत अनावश्यक अन्यभाषामें निबद्ध क्षेपकको इस प्रकार एक असंबन्धित ग्रन्थमें प्रविष्ट करनेका कष्ट भला कोई क्यों करेगा? अतः इस पद्यके अष्टसहस्रीकी प्रशस्तिका मौलिक अङ्ग तथा स्वयं विद्यानन्दकी कृति होनेमें कोई सन्देह नहीं है, और इससे स्पष्ट हो जाता है कि अष्टसहस्रीकी समाप्तिसे कुछ ही पूर्व स्वामी वीरसेन स्वर्गस्थ हुए थे।

इसी पद्यकी दूसरी पंक्तिका 'मार' शब्द और प्रथम पद्यकी प्रथम पंक्तिका'शशधर'शब्द भी ध्यान देने योग्य हैं जिनके सम्बन्धमें मैं आगे प्रकाश डालूंगा। इसके पूर्व कोठियाजीकी अन्य कुछ शंकास्पद युक्तियों का भी विवेचन करलेना उचित होगा।

(१) कोठियाजीने विद्यानन्दका समय ७७५-८४० ई० निर्णीत किया है, किन्तु इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि यह उनका ग्रन्थरचनाकाल है या पूर्ण मुनिजीवन है अथवा जन्मसे मृत्यु पर्यंत पूर्ण जीवन है एक ओर कुमारसेनका समय ७५० अनुमान करते हुए उसे विद्यानन्दकी पूर्वावधि ठहराते हैं दूसरी ओर सुरेश्वर मिश्र (७८८-८२०) को, साथ ही ७७६में उन्हें कुमार अवस्थाको भी प्राप्त हुआ नहीं बताते और ७८३में उनका बालक होना प्रतिपादन करते हैं। और चूंकि श्लोकवार्तिककी रचना ८१० में निश्चित करते हैं इससे ऐसा प्रतीत होता है कि आपके मता-

[1] ऐसे ही उल्लेखोंके आधारपर विद्वान उन्हें अकलंकका साक्षात शिष्य समझने लगे।

नुसार विद्यानन्दका ग्रन्थ-रचना कार्य ८०० के पश्चात् ही प्रारंभ हुआ। आपका यह कथन भी इस बातकी पुष्टि करता है कि क्योंकि आदिपुराणकार जिनसेनकी वृद्धावस्थाके समय ऐसा हुआ इसीलिए उन्होंने इनका कोई उल्लेख नहीं किया किन्तु हमारे आगामी विवेचनसे यह स्पष्ट हो जायगा कि उनका ग्रन्थरचनाकार्य ७७५ ई०के लगभग ही प्रारंभ हुआ होना चाहिये।

इस अनुमानमें केवल सुरेश्वर मिश्र ही एक बाधा हैं। कोठियाजीने सुरेश्वर मिश्रका समय जो ७८८-८२० कथन किया है वह वास्तवमें सुरेश्वर के गुरु शंकराचार्यका है। शंकराचार्यके समय सम्बन्धी जो अनेक विभिन्न मत है उनमें बहुमान्य मत ७८८-८२० ई० है[1]। और इसीपरसे श्री पी०बी० अणेने सुरेश्वरका कार्यकाल ८००-८४० ई० निर्धारित किया है[2]। विद्यानन्द सुरेश्वरके उत्तरवर्ती तो थे ही नहीं किन्तु समकालीन रहते भी यदि उन्होंने सुरेश्वर के ग्रन्थके उद्धारण दिये हैं तो उनका रचना काल ८०० से पूर्व प्रारंभ हुआ नहीं दीख पड़ता। परन्तु अन्य प्रबल एवं पुष्ट प्रमाणोंके विरोधमें यह बाधा इसलिए नहीं खड़ी रहती कि प्रथम तो होसकता है कि विद्यानन्दद्वारा सुरेश्वरका नगण्यसा मतोल्लेख उसी प्रकार भ्रमपूर्ण सिद्ध होजाय जैसा कि वाचस्पतिमिश्रका हुआ है। दूसरे शंकराचार्य ७८८ से ८२० तक अवश्य रहे यह तो शायद कहा जासकता है किन्तु वे ७८८के १५-२० वर्ष पूर्वसे भी एक प्रतिष्ठित आचार्य नहीं थे, यह नहीं कहा जासकता। वस्तुतः ऐसा अनुमान करनेके पर्याप्त कारण हैं ७८८ में तो वे कांचीमें बौद्धों के सामूहिक निष्कासनके प्रधान निमित्त बन थे[3]। ७८०-८८ में उनकी ख्याति चरम सीमाको प्राप्त थी।

१ पं० कैलाशचन्द्र—न्याय कु.च. भाग१,प्रस्तावना।

२ तत्त्वबिन्दुकी रमास्वामी शास्त्री कृत भूमिका। संभव है अन्य विद्वान सुरेश्वरका समय भी ७८८-८२० ही मानते हों' जैसा कि कोठियाजीके संदर्भसे प्रकट होता है।

२ हमारा लेख—अकलंक मनुश्रुतिके महाराज हिम शीतल—जे० के० एच० आर० पृ८०।

सुरेश्वर उनके प्रधान शिष्य और सहयोगी थे, वे ८४० के लगभग तक भले ही जीवित रहे हों किन्तु ७८०-८८ के लगभग भी वह एक वयस्क साहित्यिक एवं कार्यकर्ता होसकते हैं। इन दोनोंकी निश्चित तिथि प्रकट करनेवाला कोई तत्कालीन निश्चित अभिलेखीय या साहित्यिक प्रमाण तो है नहीं इसके अतिरिक्त, अपने पूर्व रचित ग्रन्थमें भी विद्वान् किसी ऐसे समकालीन, समवयस्क, निकट क्षेत्रीय[1] तथा समान विषयके विद्वानकी किसी महत्व-पूर्ण उक्ति या मतको पीछेसे दुहराते समय भी स्थान दे सकता है जिसके आम्नाय या मत परम्पराका खंडन-मंडन एवं आलोचना उसका इष्ट विषय हो।

(२) वाचस्पति मिश्रका समय ८४१ निश्चित मानकर विद्यानन्द द्वारा उसकी असमालोचनाके आधारपर उनकी उत्तरावधि ८४०ई० निर्धारित करने में भी बाधा है। वाचस्पति मिश्रने उद्योतकरके न्याय-वार्तिकपर अपनी तात्पर्यवृत्ति टीका लिखनेके उपरान्त जो न्यायसूचीनिबंध लिखा है उसमें उसने ८९८ वत्सर (शक) अर्थात् सन् ८४१ ई० को तिथि दी है। उससे पूर्व वह तीन ग्रन्थोंकी और रचना कर चुका था। अपने प्रथम ग्रन्थमें ही उसने जयन्तभट्ट का अपने गुरुरूपमें उल्लेख किया है[2]। अब जयन्त वाचस्पति मिश्रके चाहे प्रायः समकालीन भी हों तथापि विद्यानन्दद्वारा उन दोनोंके उल्लेखाभावके आधारपर विद्यानन्दकी उत्तरावधि ८२५ ई० से ऊपर जानेकी संभावना नहीं है।

(३) कुमारसेनका समय जो ७५० ई० अनुमान किया गया है वह भी भ्रामक है। यह उनकी पूर्वावधि तो होसकती है पर उत्तरावधि नहीं। ७८३ में हरिवंशकार जब उनका स्मरण वीरसेनके साथ साथ कर रहे हैं तो उस समय वीरसेनकी भाँति कुमारसेन भी जीवित होसकते हैं बल्कि जैसा

१ विद्यानन्दके आवासस्थल श्रीपुर और शंकर सुरेश्वरके शृंगेरीमठमें कुछ मीलोंका ही अन्तर था।

२ पं० महेन्द्रकुमार—अनेकान्त २, १, पृ० ६१।

कि स्वयं कोठियाजी द्वारा उद्धृत हरिवंशके वाक्यसे झलकता है कि उस समय गुरु कुमारसेनका यश सर्वत्र फैल रहा था'[१] तथा जैसा कि विद्यानन्दकी उक्त प्रशस्तिके तीसरे पद्यसे स्पष्ट ध्वनित होता है कि उनकी अष्टसहस्री कुमारसेनकी उक्ति (प्रत्यक्ष वाचनिक साहाय्य) से वर्द्धमान हुई,इस विषयमें सन्देह प्रतीत नहीं होता कि वे उस समय जीवित थे। अन्य विद्वान भी इस कथनसे प्रत्यक्ष सहाय्यका ही आशय लेते हैं। जब कुमारसेन ७८३ में जीवित थे तो उसके १०-१५ वर्ष और बाद तक भी वे जीवित रहे हों इसमें क्या बाधा है ? यदि अष्टसहस्री ८०० ई०के पूर्वकी रचना ठहरती है तो उसमें उनका प्रत्यक्ष साहाय्य मिलना पूर्णतया संभव है धारवाड़ जिलेके मूलगुंडस्थानस्थ जिनालयके शिलालेखमें राष्ट्रकूट नरेश कृष्णवल्लभ (कृष्ण द्वि०) द्वारा सन् ६०२-६०३ ई० में सेनवंशी कुमारसेनके प्रशिष्य और वीरसेनके शिष्य कनकसेन को क्षेत्र प्रदान किये जानेका उल्लेख है[२]। यदि इन कनकसेनके दादागुरु कुमारसेन हमारे ही कुमारसेन हों तो उनका समय ८०० ई० के लगभग हो ही सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि ये कुमारसेन वीरसेन स्वामीके सधर्मा अथवा प्रारंभिक शिष्य और जिनसेन स्वामीके बड़े गुरुभाई तथा वीरसेन द्वितीयके गुरु थे। डा० उपाध्ये द्वारा प्रकाशित सेन-वंशकी पट्टावलिमें धवलादिक कर्त्ता वीरसेन जिनसेन आदिके साथ जिन वृद्ध कुमारसेनका उल्लेख मिलता है वे भी ये ही कुमारसेन प्रतीत होते हैं[३]।

(४) अब रह जाती है बात विद्यानन्दकी रचनाओंमें तत्कालीन नरेशोंका नामोल्लेख करनेकी जो कि उनका तथा उनके ग्रन्थोंकी रचनाका समय निश्चित रूप कर देते हैं। इस विषयमें कोई मतभेद नहीं है कि विद्यानन्दने विद्यानन्दमहोदय, तत्वार्थश्लोकवार्त्तिक तथा अष्टसहस्रीकी क्रमशः रचना की और उनके पश्चात आप्तपरीक्षा; युक्त्यनुशासनालङ्कार, प्रमाणपरीक्षाकी। सत्यशासनपरीक्षा, पत्रपरीक्षा तथा श्रीपुरपार्श्वनाथ स्तोत्र भी इन्हींकी रचनाएं हैं। इनमेंसे विद्यानन्दमहोदय अनुपलब्ध है और अन्तमें उल्लिखित तीन रचनाओंमें कोई वैसा नामोल्लेख बताया नहीं जाता।

युक्त्यनुशासनकी अन्तिम प्रशस्तिमें दो बार 'श्रीसत्यवाक्याधिपः' पद आया है, प्रमाणपरीक्षा के मङ्गलपद्यमें 'सत्यवाक्याधिपः पद मिलता है और आप्तपरीक्षाके १२३ वें श्लोकमें 'सत्यवाक्य' शब्द प्रयुक्त हुआ है। विद्यानन्दके ये समस्त पद प्रयोग श्लिष्टरूपमें ही हुए हैं और उनके एकाधिक अर्थ बनते हैं। वास्तवमें विद्यानन्दने प्रमाणपरीक्षा सत्यशासनपरीक्षा आदिमें स्वयं अपना नाम भी श्लिष्ट रूपमें ही दिया है[१]। इसीसे मुख्तारसाहब आदि विद्वान उक्त सत्यवाक्य शब्द को विद्यानन्दका उपनाम, उपाधि अथवा विशेषण ही मानते थे[२]। किन्तु बा० कामताप्रसाद, प्रा० हीरालाल, पं०महेन्द्र-कुमार और अब कोठियाजी भी उस गंगवंशके एक नरेश विशेषके नामका सूचक अनुमान करते हैं। वस्तुतः एक लेखकद्वारा लगातार अपने कई ग्रन्थोंमें एक ऐसे पदविशेषका प्रयोग जो एक तत्कालीन एवं तत्प्रदेशी नरेशके नामका भी सूचक हो निरा संयोग मात्र ही नहीं हो सकता। विद्यानन्द गंगवाड़के ही निवासी थे इस बातकी पुष्टिमें प्रमाणोंका अभाव नहीं है और उस कालमें केवल गंगवंशमें ही सत्य-वाक्य उपाधि धारी नरेशोंके होनेका पता चलता है जिन की संख्या चार है किन्तु इन सत्यवाक्योंमेंसे,सत्यवाक्य द्वितीय भी सन ८७० ई० में सिंहासनारूढ़ हुआ था, अतः श्रीपुरुष मुत्तरसका पौत्र, शिवमार द्वि० सैगोत का भतीजा और उत्तराधिकारी तथा विजयादित्य

१ हरिवंश-१-३८—'गुरोः कुमारसेनस्य यशो अजितात्मकं विचरति'

२ E. I.—XIII, 1915-16P-190-194-J. F. Fleet.

३ J.A.—XIII, 2 P. 1.

१ अनेकान्त ३, ११ पृ० ६३०।

२ अनेकान्त १ २, पृ० ६७

रत्न विक्रमका पुत्र गंगनरेश राचमल्ल सत्यवाक्य प्रथम परमानदि जिसका शासनकाल ८१५ से ८५० ई० तक रहा विद्यानन्दद्वारा उल्लिखित सत्यवाक्य था इसमें कोई सन्देह नहीं रहता।

तत्वार्थश्लोकवार्तिककी अन्त्य प्रशस्तिमें उन्होंने इसी प्रकार 'शिव' पद प्रयोग किया है। उसमे उल्लिखित 'शिवसुधाधारावधानप्रभुः', 'सज्जनताऽऽश्रयः' तथा 'तीव्रप्रतापान्वितः' आदि नाम एवं गुण-सूचक पदप्रयोगोंके प्रसंगसे यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका अभिप्राय शिवमार नामक गंगनरेशसे है जो श्रीपुरुषके पुत्र एवं उत्तराधिकारी शिवमार द्वितीय सैगोतके अतिरिक्त अन्य कोई नहीं हो सकता। कोठियाजीने भी कई एक अच्छी युक्तियों एवं तर्कों द्वारा ऐसा ही सिद्ध किया है, जिसमें कुछ भी अनौचित्य या असंगति नहीं दीख पड़ती।

किन्तु ठीक उन्हीं युक्तियों और तर्कोंके बलपर अष्टसहस्रीकी अन्त्य प्रशस्तिके दूसरे (मध्यम) पद्यकी द्वितीय पंक्तिमें प्रयुक्त 'मार' शब्दको श्रीपुरुषके द्वितीय पुत्र मारसिंह दुग्गमार एयरप्प लोकत्रिनेत्रका जो कि शिवमारके पश्चात् कुछ काल तक गंगवाड़िका राजा रहा था, सूचक माननेमें भी कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये। वैसा होना विद्यानन्द की शैलीके सर्वथा उपयुक्त ही है। और 'सत्यशासनपरीक्षा' के नामसे ही सत्य शब्द होनेसे यह संभव है कि उसकी रचना सत्यवाक्यके ही शासनकालमें हुई हो।

विद्यानन्दका श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र भी गंगराज्यमें स्थित श्रीपुरजिनालयके श्रीपार्श्वनाथको लक्ष्य करके रचा गया था इसमें कोई सन्देह नहीं है, क्योंकि ऐसा एक जिनालय गंगराज्यकी सीमाके भीतर ही और स्वयं तत्कालीन गंगनरेशों द्वारा पूजित उस समय विद्यमान था, तथा उस प्रदेशमें और उसके आस-पास दूर-दूर तक उस समय ही नहीं उसके सौ-दो-सौ वर्ष इधर-उधर भी इस नाम के किसी अन्य जिनालयके होनेका पता नहीं चलता[1]। यह पार्श्वजिनालय श्रीरंगपुरपट्टन के उत्तरमें वर्तमान नानमंगल तालुकेके भीतर श्रीपुर नामक स्थानमें विद्यमान था, और इसे पल्लवाधिराज की पौत्री तथा परमगुल निर्गुण्डराजकी धर्मपत्नी कुण्डाच्छी देवीने निर्मित कराया था[2]। देवरहल्ली ताम्रपत्र भी श्रीपुरके इस भव्य जिनालयके निर्माण का उल्लेख करता है[3]। श्रीपुरुष मुत्तरसके राज्यके ५० वें वर्षका एक ताम्रशासन सन् ७७६ ई० में उक्त गंगनरेश द्वारा इसी जिनालयको उदार दान दिये जानेका वर्णन करता है। इसी दानपत्रमें जो उक्त जिनालयके निर्माणके थोड़े काल पश्चात् ही लिखा गया है, नन्दिसंघक चन्द्रन्द्याचार्य तच्छिष्य कुमारनन्दि, तच्छिष्य कीर्तिनन्दि एवं तच्छिष्य विमलचन्द्राचार्यका भी नामोल्लेख हुआ है[4]। ऐसा प्रतीत होता है कि नन्दिसंघके इन आचार्योंका उक्त श्रीपुर स्थानसे विशेष एवं स्थायी सम्बन्ध था। ये विमलचन्द्र अकलङ्कदेवके सधर्मा पुष्पषेणके विद्याशिष्य विमलचन्द्र ही प्रतीत होते हैं, जिनके कि दादागुरु कुमारनन्दि वीरसेनस्वामीके विद्यागुरु एलाचार्यके भी गुरु थे, और जिनका कि उल्लेख स्वयं विद्यानन्दने अपनी प्रमाणपरीक्षामें 'तदुक्तं कुमारनन्दिभट्टारकैः' के साथ उनके कुछ श्लोक

---

१ बरारप्रांतस्थ बेसिन जिलेके सिरपुर स्थानमें अन्तरिक्ष पार्श्वनाथका एक भव्य दिगम्बर जिनालय लगभग १३०० ई० का है जिसमें १४०६ का एक संस्कृत शिलालेख भी है (T. W. Haig—some Inses. from Berav I. 21) प्रायः विद्वानोंको इस मन्दिर के साथ उपरोक्त श्रीपुरपार्श्व जिनालयका भ्रम होजाया करता है।

२ B. L. Rice-My. cg. P. 39, Report A. S. Mysore-1914.

३ Rice-coorg Inses.-E.C.-T- थामस फार्मस (the pollavas-jras- 183-221) ने भी एक पल्लव राजकुमारी कुण्डव्वे द्वारा श्रीरंगपुर (श्रीरंगपट्टन) के उत्तरमें सन् ७७६-७७ के लगभग एक भव्य जिनालय के निर्माणका उल्लेख किया है।

४ L. rice—I. A.—II p. 155-161

उद्धृत करते हुए किया है[३०]। क्या आश्चर्य है कि ये विमलचन्द्राचार्य ही विद्यानन्दके दीक्षागुरु हों और इसी तत्कालीनकर्णाकस्थ नन्दिसंघसे ही उनका सम्बन्ध हो। उनके नामका नन्द्यन्त पद तथा विमलचन्द्रके उल्लेखके थोड़े समय पश्चात् ही उसी श्रीपुर स्थानके साथ उनका प्रत्यक्ष संबंध होनेसे और इस अनुमानके विरोधी किसी स्पष्ट प्रमाणका सद्भाव न होनेसे इसे ठीक ही माननेका प्रलोभन होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि उक्त दानपत्रके कुछ ही पश्चात् विमलचन्द्राचार्यका या तो स्वर्गवास हो गया अथवा वे अन्यत्र चले गये और विद्यानन्दने स्वयं उसे अपना स्थायी निवासस्थान बना लिया। और उक्त जिनालयके पार्श्वजिनेन्द्रके प्रथम दर्शनके समय ही उन्होंने अपना प्रसिद्ध स्तोत्र रचा। यह घटना श्रीपुरुषके राज्यकालकी सन् ७७६–७७ की ही प्रतीत होती है। श्रीपुरशब्दमें श्रीपुरुषका नामांश आ ही जाता है और किसी अन्य नरेशकी ओर उसमें संकेत भी नहीं है। उनके गुरु विमलचन्द्रका नाम भी, यदि उनके ग्रन्थोंका इस दृष्टिसे अवलोकन किया जाय तो संभव है कहीं न कहीं श्लिष्टरूपमें अवश्य मिले, विशेषकर उनके प्राथमिक महान ग्रन्थ विद्यानन्दमहोदयमें उनका उल्लेख होनेकी अधिक संभावना है। विद्यानन्दद्वारा श्रीपुरको उसी समयके लगभग अपना निवास स्थान बना लिये जानेका समर्थन एक अन्य दिशासे भी होता है। प्रायः इसी समय शंकराचार्यने पल्लवराज्यकी सीमाके भीतर शृंगेरीमें अपना प्रथम एवं प्रधान पीठ स्थापित किया था और उसका संचालक एवं प्रबन्धक उन्होंने अपने प्रधान शिष्य सुरेश्वर मिश्रको नियुक्त किया था[१]। यह स्थान श्रीपुरके बहुत ही निकट दक्षिणकी ओर अवस्थित था। उस समय कांचीके बौद्धोंने ब्राह्मण धर्मके साथ विशेष उत्पात मचा रक्खा था। अतः शंकर और सुरेश्वरने शृंगेरीपीठको प्रधान केन्द्र बनाकर पल्लव प्रदेशके बौद्धोंके विरुद्ध जोरदार जिहाद छेड़ दिया और अन्ततः ७८८ ई० में उन्हें सामूहिक रूपमें कांचीसे निर्वासित होकर लंकाके कैन्डो नामक स्थानमें जाकर बसनेपर मजबूर कर दिया[२]। किन्तु जैनोंके साथ भी यद्यपि शंकरका सैद्धान्तिक एवं दार्शनिक विरोध था तथापि उनके साथ उसका और उसके अनुयायियोंका सामाजिक सौहार्द ही बना रहा[३]। अतएव इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि शृंगेरी मठकी स्थापनाके प्रायः साथ ही साथ स्याद्वादविद्यापति आचार्य विद्यानन्दने भी उसके समीपस्थ श्रीपुरमें अपना अड्डा जमाया। शंकराचार्य आदिका वहाँ जमाव ही उनके भी वहीं जमनेमें प्रेरक हुआ, और बहुत संभव है कि विद्यानन्दके महान व्यक्तित्व, उत्कृष्ट सौजन्य, अद्भुत विद्वत्त्व एवं उद्भट वाग्मिता एवं तार्किकताके प्रभावने ही शंकराचार्यके विद्वेष रूपी विषसे तत्कालीन

(३०) न्याय कु० च० भाग १, प्रस्तावना पृ० ११३, इन्हीं पुष्पषेणके एक शिष्य वादीभसिंह अपर नाम परवादिमल्ल थे जो 'शत्रुभयंकर' कृष्ण प्रथम (७५६-७७२) के समकालीन थे, गद्य चिन्तामणिके रचयिता और आप्तमीमांसाके अष्टसहस्त्रीसे पूर्व टीकाकार थे। पात्रकेसरि, अकलंक और श्रीपालके साथ साथ आदि पुराणकारने इनका भी स्मरण किया है। पार्श्वनाथ चरितमें भी इनका स्मरण किया गया है। उद्धरवर्ती कनकसेन वादिराज, अजितसेन, वादीभसिंह, सोमदेव शिष्य वादिराज आदि सर्व आचार्य उनसे भिन्न हैं। डा० सालतोर इन वादीभसिंह को विमलचन्द्रसे अभिन्न प्रकट कर रहे हैं। (M. G. P. 36) जो सम्भव है।

१ L. Rice-Mysore (revised ed.) p 408-409.

२ देखिये संदर्भ १८।

३ उसी नागमंगल तालुकेके कम्बदहल्ली स्थानकी शान्तिनाथ बसदिमें प्राप्त लगभग १००० वर्ष पूर्वके एक अभिलेखके अनुसार स्वयं शैवोंने जैनोंको कतिपय विशेषाधिकार प्रदान किये थे। (Report A. S. Mysore 1915, G. B. P. 13) स्वयं शृंगेरीमें कई जैनमंदिर थे वहाँकी पार्श्वनाथ बसदिमें प्राप्त ११६१ का जैन-अभिलेख उक्त स्थानमें प्राप्त अभिलेखोंमें सर्व प्राचीन है। (Ilid 1916, j B. P. 135), ६ वीं शदीमें जैनों और शैवोंमें मेल था !(j. B no 74)

जैनधर्मकी रक्षाकी बल्कि उसे सौहार्द्रमें परिणत कर दिया।

उपरोक्त विवेचनके उपरान्त अब विद्यानन्द एवं उनकी रचनाओंके समयको और ठीक ठीक निश्चित करनेके लिये तत्कालीन इतिहास पर भी एक दृष्टि डाल लेना आवश्यक है।

सन् ७२६ ई० में शिवमार प्रथम नवकामका पौत्र श्रीपुरुष मुत्तरस पृथ्वीकोंगुणि परमानदि प्रजापति मूल गंगवंशकी पश्चिमी शाखामें गंगराज्य का अधीश्वर हुआ। उसके राज्यके ५० वर्ष तकके अभिलेख मिलते हैं और इस प्रकार उसने सन् ७७६-७७ तक राज्य किया इस विषयमें प्राय: समस्त विद्वान् एक मत हैं[1]। वह परम जैन था किन्तु अन्य धर्मोंके प्रति भी उदार एवं सहिष्णु था, ब्राह्मणादिकोंको भी उसने दान दिये थे। साहित्यमें भी उसकी रुचि थी, हस्तियुद्धप्रणालीपर उसने गजशास्त्र नामक ग्रंथ रचा था। वह भारी योद्धा था और उसका प्राय: समस्त जीवन युद्धोंमें ही व्यतीत हुआ था। उसके दीर्घ शासनकालने वैजयन्तीके चीन चालुक्य वंशका अस्त और नवोदित राष्ट्रकूट शक्तिका उदय देखा। कांचीके पल्लव भी हतप्रभ होगये थे किन्तु वेंगीमें पूर्वी चालुक्योंकी शक्ति प्रवृद्धमान थी। इस प्रकार ८वीं शताब्दीके मध्यमें दक्षिण भारतके राजनीतिक क्षेत्रमें तीन ही प्रधान शक्तियाँ थीं—गंग, पूर्वी चालुक्य और राष्ट्रकूट। इनमें से राष्ट्रकूट शक्ति द्रुतवेगसे सर्वाधिक शक्तिशाली एवं विस्तार प्राप्त होती गई। श्रीपुरुषका राष्ट्रकूटोंके साथ निरन्तर द्वन्द्व बना रहा। सन ७६८ में राष्ट्रकूट कृष्ण प्रथमने श्रीपुरुषकी राजधानी मान्यपुरपर[1] भी कुछ समयके लिये अधिकार कर लिया था, किन्तु श्रीपुरुषने उसे पुनः शीघ्र ही प्राप्तकर लिया था। ७७६-७७ के लगभग श्री पुरुषकी मृत्यु होगई अथवा उसने राज्य त्याग कर दिया। उसके तीन पुत्र थे—शिवमारसैगोत जो अपने पिताके समय, सन् ७५४ में ही कदुम्बुरका प्रान्तीय शासक था और उसके पश्चात शिवमार द्वितीय सैगोतके नामसे सिंहासनारूढ हुआ। दूसरा पुत्र मारसिंह दुग्गमार एयरप्प था जो अपने पिताके समय कोवलनादका प्रान्तीय शासक था। तीसरा पुत्र विजयादित्य रणविक्रम था जिसका पुत्र गंगनरेश रायमल्ल सत्यवाक्य प्रथमके नामसे प्रसिद्ध हुआ।

७७७ ई० के लगभग जब शिवमार द्वि० गद्दीपर बैठा तो उसके भाई मारसिंहने उसके विरुद्ध विद्रोह किया, वह स्वयं राजा होना चाहता था, किन्तु सफल न होसका और पूर्ववत् कोवलनादका ही शासक बना रहा[2]। पिताके दीर्घशासनकालके कारण इस समय ये दोनों भाई भी औरङ्गजेबके पुत्रोंकी भाँति प्राय: वृद्ध हो चले थे। इधर कुछ समयके लिये राष्ट्रकूट-गंग द्वन्द्व भी शान्त होगया था, जिसका कारण यह था कि राष्ट्रकूट स्वयं अन्तरकलहमें उलझे हुए थे। राष्ट्रकूट नरेश गोविन्द द्वि० प्रभूतवर्ष विक्रमालोक (७७२–७७९) के विरुद्ध उसके भाई ध्रुव

---

१ केवल प्रो० नरसिंहमाचर उन्हें प्राप्त एक अन्य अभिलेखके आधारपर राज्य-कालकी अन्तिम सीमा ७८८ ई० निर्धारित करते हैं (M. A. R.—1918 para 16). किन्तु यदि उनका अनुमान किसी अंशमें ठीक भी हो तो भी ७७६ के पश्चात् श्रीपुरुषके राज्य करते रहनेकी कोई सभावना नहीं। यह हो सकता है कि उस वर्ष उसकी मृत्यु न हुई हो और वह ७८८ तक भी जीवित रहा हो, किन्तु ७७६-७७ में वह राज्यकार्यसे अलग अवश्य होगया। वह एक परम जैन था, ५० वर्ष राज्य कर चुका था, अतिवृद्ध हो चुका था अत: संभवतया राज्य एवं गृहस्थका त्याग कर उसने अपना शेष जीवन श्रीपुर आदि किसी तीर्थस्थानमें रत रहते हुये विताया हो। इस वंशके कई अन्य राजाओंने भी ऐसा किया है नरसिंहराजपुरसे प्राप्त ताम्रपत्रोंमें श्रीपुरुष और उल्लेख शिवमार दोनोंके द्वारा एक जैनमन्दिरको दान देनेका है (j. B. P. 143)।

१ गंगोंकी प्राचीन राजधानी तलकाड या तालवनगर थी और नवीन अथवा उप राजधानी मान्यपुर थी।

२ J. A.-XII, 4 P. 5, W. j P. 174M., my. cg. P. 39, 55.

ने विद्रोहका झंडा खड़ा कर दिया था। गोविन्दने ध्रुवके विरुद्ध गंगनरेशसे सहायता मांगी। वेंगि, कांची, मालव आदि नरेशोंके साथ शिवमारने भी गोविन्दकी सहायता की। किन्तु ध्रुवने इन सबको परास्त कर दिया, गोविन्दका भी संभवतया उस युद्धमें अन्त होगया और सन् ७७६ ई० में ध्रुव धारावर्ष निरूपम श्रीवल्लभ राष्ट्रकूट सिंहासनपर आरूढ़ हुआ। मान्यखेट उस समय राष्ट्रकूटोंकी राजधानी नहीं थी, उस नगरका तो उस समय अस्तित्व भी नहीं था। उस समय उनकी राजधानी संभवतया एलोराके निकट सोलुभंजन थी और नासिकके निकट मयूरखंडी नामक दुर्गमें ध्रुवने अपनी प्रधान छावनी स्थापित की[1]। उसने अपने सुयोग्य ज्येष्ठ पुत्र जगत्तुङ्ग गोविन्द तृतीय प्रभूतवर्षको युवराज पदपर विधिवत अभिषिक्त कर उसे राजधानीका, छावनीका तथा राज्यका अन्य समस्त आन्तरिक कारभार सौंप दिया और स्वयं अपने पूर्व शत्रुओंके, जिन्होंने कि उसके विरुद्ध गोविन्द द्वि० की सहायता की थी, दमनमें तत्पर हुआ। अपने छोटेसे शासनकालमें इन समस्त राजाओंको भीषण युद्धोंमें उसने करारी हार दी।

गंग शिवमार भी स्वभावतः उसका कोपभाजन बना, अतः सन् ७८४ के लगभग ध्रुवने शिवमारको युद्धमें पराजित कर अपना बन्दी बना लिया[2]। एक शिलालेखका कथन है कि 'ध्रुव धार धारावर्ष निरूपम कलिवल्लभ उद्धतेजसने उस पराक्रमी उद्धत गंगनरेशको पराजितकर बन्दी बना लिया, जो पहले कभी किसी अन्य व्यक्तिके द्वारा विजित नहीं हुआ था[3]। गंगराजधानी मान्यपुरपर राष्ट्रकूटोंका अधिकार होगया और उसी समय सन ७८४ में ध्रुवके पुत्र जगत्तुंग गोविन्द तृतीयने मान्यपुरके जिनालयको जलमंगल नामक ग्राम प्रदान किया[4]। ध्रुव धारावर्ष

१ J. A. XII 2 P. 51.

२ J. A.-XIII, 2 P. 35., जैन शिलालेख संग्रह पृ० ७८

३ Rice-mses. SR. B. G.-P. 71.

४ M. J.-P. 88., J. A XIII 2 P. 36.

का गुबो ताम्रपत्र भी गंगराज्यकी सीमाके भीतर ही लिखाया गया कहा जाता है। चूंकि मारसिंहने ध्रुवका विरोध नहीं किया था, अतः राष्ट्रकूटोंने उसे शेष गंगवाड़िपर अपना अधिकार स्थापित कर लेने दिया और वह तलकाडमें राज्य करने लगा। शिवमार अवश्य ही उससे रुष्ट था और अपने दूसरे भाई विजयादित्यको अपना स्थानापन्न तथा उत्तराधिकारी बनाना चाहता था (वह स्वयं निस्सन्तान था), किन्तु शत्रुके हाथों बन्दी रहनेके कारण उसकी एक न चली। इधर मारसिंहने भी अपने आपको प्रकटतः पूर्णरूपसे राजा घोषित नहीं किया। अपने एक अभिलेखमें तो अपने लिये युवराज शब्द ही प्रयुक्त किया[1]। ७८४ के पश्चात् शिवमारका शेष अधिकांश जीवन राष्ट्रकूटोंके बन्दीगृहमें ही बीता और कमसेकम ८०० ई० तक मारसिंह ही गंगराज्यका वस्तुतः स्वामी बना रहा। यह राजा भी जैनधर्मका परम भक्त था। तलवाडके अंजनेय नामक जिनालयको प्रदत्त दानके लिये वह प्रसिद्ध है। इस दानपत्रमें कोई तिथि नहीं दी हुई है; किन्तु कुछ विद्वान इसे ७६० के लगभगका और कुछ ६ वीं शताब्दीके प्रारम्भका मानते हैं[2]। वीरसेनके गुरु एलाचार्यका भी वह भक्त रहा था और उनकी मृत्यु संभवतः उस समय हुई थी जब वह अपने पिताके शासनकालमें कोवलनाद्का शासक था। उसने और भी धर्मकार्य किये हैं। इसी गंग मारसिंहके एक अधीनस्थ सर्दार श्रीविजय द्वारा मन् ७६७ में एक जिनालय निर्माणका भी उल्लेख मिलता है[3]। अपने मन्ने ताम्रपत्रमें[4] जो सन ७६७ का है, मारसिंह अपने भाई शिवमारकी भी प्रशंसा करता है, उसे गजाष्टकका कर्ता और पातञ्जलिके एक प्रकरण

१ मन्ने ता. प.-E. C. 9 ml 60.

२ J. A. XII 2 P. 5., M. A. R. 1932 P. 250-41. इस जिनालयको संभवतया ७२०में गोवर्द्धनने बनवाया था।

३ Goianot-122

४ E.C. 9 me 60 वास्तवमें शिवमार भी परम जैन भक्त था उसने मन्दिर निर्माणादि अनेक धर्म कार्य किये

फाणसूलमतका परिज्ञाता कहता है। उसे विपत्तियों से ग्रस्त बताता है जोकि उसके बन्दी जीवनका सूचक है। किन्तु साथ ही उसके द्वारा वल्लभेन्द्रके साथ हैहय चालुक्य मित्र संघपर विजय प्राप्त करनेका उल्लेख भी करता है। ऐसा मालूम होता है कि उस समय राष्ट्रकूटोंका वेंगिके साथ युद्धारम्भ हो जानेसे गोविन्दने उसे अस्थायी रूपसे मुक्त कर अपनी सेनाओंके साथ शत्रुओंके विरुद्ध युद्धमे भेजा हो जिसमे कि शिवमारने अद्भुत पराक्रम दिखलाया हो। तथापि जैसा कि मारसिंहके गंजम ताम्रपत्र से[1] प्रकट है जिसे राइस साहब ८०० ई० का मानते है, ८०० ई० तक तो शिवमार अपना राज्य पुन: प्राप्त कर नहीं सका था। उसके कुछ काल पश्चात् ही शिवमारकी पूर्व सहायतासे प्रसन्न गोविन्द तृतीयने पल्लवराजकी सिफारिशपर उसे मुक्त कर दिया और उसका राज्य भी वापस लौटा दिया। जगत्तुंग के कदम्ब ताम्रपत्रका कथन है कि शिवमार राष्ट्रकूटों और पल्लवों द्वारा पुन: अपने सिंहासनपर बैठाया गया था। इस समय पूर्वी चालुक्य विजयादित्य द्वितीय भीम (७९९-८४३)के साथ गोविन्दका द्वादश वर्षीय युद्ध आरम्भ हो गया था। यह युद्ध भी शिवमारकी इस मुक्तिमें निमित्त कारण हुआ, गोविन्दको अब गंगोंकी सहायताकी बड़ी आवश्यकता थी। क्योंकि गोविन्दके भाई स्तम्भ द्वारा मन्ने ताम्रपत्र ८०२ मे[2] लिखाया गया था और क्योंकि यह द्वादश वर्षीय राष्ट्रकूट चालुक्ययुद्ध अमोघवर्षके समय तक (८१५ ई० तक) चलता रहा था। अतः शिवमारने ८०३ ई० के लगभग अपना राज्य पुन: प्राप्त किया। इस बार शिवमारको राष्ट्रकूटों और पल्लवोंकी भी सहायता प्राप्त होनेसे मारसिंहको उसका विरोध करनेका साहस नहीं हुआ। उसने तलकाडको खाली कर गंगराज्यके उत्तरीपूर्वी भाग—कोलर प्रदेशमें अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिया और वहीं आगेसे वह तथा उसके वंशज पृथ्वीपति अपराजित आदि सन् ६५० के लगभग तक तलकाडके मूल गंगवंशसे पृथक् एवं स्वतंत्र रहकर राज्य करते रहे। अपनी स्वयंकी परेशानियोंमें उलझा हुआ होनेके कारण शिवमारने भी इसपर विशेष ध्यान नहीं दिया। राष्ट्रकूटोंके प्रतिशोधकी अग्नि उसके हृदयको जला रही थी, वह चैनसे न बैठ सका और गोविन्दकी सहायता करनेके बजाय उसके विरुद्ध हीउसने युद्ध छेड़ दिया। इस विश्वासघातसे गोविन्द चिढ़ गया और उसने गंगराज्यपर आक्रमणकर शिवमारको पराजित करके फिरसे बन्दी बना लिया। यह घटना ८०५-६ को है, क्योंकि चामराजनगरसे प्राप्त ८०७ ई० के ताम्रपत्रके अनुसार गोविन्द तृ० के भाई एव प्रतिनिधि रणावलोक कम्बराजने जो तालवन नगरमे अपनी विजयी सेनाकी छावनी डाले पड़ा था, अपने पुत्र शंकरगणकी प्रार्थनापर उक्त तालवनपुर (गंगराजधानी) की श्रीविजय वसदिके लिये कुन्दकुन्दान्वयके कुमारनन्दी भट्टारकके प्रशिष्य और गुरु एलाचार्यके शिष्य वर्धमान गुरुको वदनगुप्पे नामक ग्राम प्रदान किया था[1]। ऐसा प्रतीत होता है कि अबकी बार शिवमारका शेष जीवन राष्ट्रकूट बन्दीगृहमें ही बीता, किन्तु अपने इस २-३ वर्षके अल्प मुक्तिकालमेंही इस दुर्घटनाकी आशंकासे उस-अपने दूसरे भाई विजयादित्य रणविक्रमको अपना उत्तराधिकारी एवं स्थानापन्न पहिलेसे ही नियुक्त कर दिया था। गल्लियादपुर ताम्रपत्र[2] कामी यही कथन है कि शिवमारने अपने अनुज विजयादित्यको गद्दी पर बैठा दिया था। इससे स्पष्ट है कि शिवमार उस समय बन्दी था और विजयादित्य अपने गये हुए गंगवाड़ि राज्यको राष्ट्रकूटोंसे पुन: प्राप्त करनेमें प्रयत्नशील रहा। किन्तु अपने जीवनमें उसे राज्य प्राप्त करने और गंगनरेश बननेका अवसर न मिल सका। इस बार राष्ट्रकूटोंने एक अन्य गंगसर्दार

१ E.C IV SR. 161 P. 143.

२ M.J.P.-36-37, E.C. IX nu 61 P. 43, इसमें गोविन्द तृ० द्वारा १२ प्रसिद्ध नरेशोंको परा-

१ M.A.R.-13. P. 31., J. A.XII 2 P.5

२ E.C. 12 NG. 129.

चाकिराजको 'अशेषगंगमण्डलाधिराज' अर्थात् अपने प्रतिनिधिरूपमें गंगप्रदेशका शासक नियुक्त किया था जैसे कि गुब्बिताम्रपत्रसे[1] प्रकट है। इसी चाकिराजके भानजे विमलादित्य चालुक्यके ऊपरसे यापनीय संघके विजयकीर्त्तिके शिष्य अर्ककीर्त्तिने शनिके दुष्प्रभावको नष्ट कर दिया था, इस कारण उक्त गुरुसे प्रसन्न होकर चाकिराजने अपने अधीश्वर गोविन्द तृतीय जगत्तुंग प्रभूतवर्षसे प्रार्थना करके उससे अर्ककीर्त्तिको उनकी यापनीय वसदिके लिये उदार दान दिलवाया था। यह दानपत्र कदंबताम्रशासनके[2] नामसे प्रसिद्ध है और गोविन्दके जीवनका अन्तिम अभिलेख है। चूंकि यह स्वयं गंगराजधानी तलकाडमें लिखा गया था और उसमें उसी नगरके यापनीय संघको दान दिया गया था, वह तलकाडताम्रपत्र[3] भी कहलाता है, और इसकी तिथि ४ दिसम्बर सन् ८१३ है। डा. अल्तेकरका मत है कि इसके कुछ ही उपरान्त (८१४ में) गोविन्द तृतीयकी मृत्यु हुई[4]। इससे स्पष्ट है कि ८१४ ई० तक गंगवाड़िपर राष्ट्रकूटोंका ही अधिकार था।

राष्ट्रकूटोंके सम्बन्धमें हम यह देख ही चुके हैं कि ध्रुवने ७९३ तक राज्य किया था; क्योंकि उसका अन्तिम अभिलेख दौलताबादताम्रपत्र ७९३ ई०का है और गोविन्द तृतीयका सब प्रथम अभिलेख ७९४ का पैठनताम्रपत्र है अतः गोविन्द जगत्तुंग ७९४ से ८१४ तक राज्य किया। सन् ८१४ का वर्ष बहुत घटनापूर्ण रहा। राष्ट्रकूट सिंहासनपर गोविन्द तृतीयका षड्वर्षीय बालक पुत्र[5] अमोघवर्ष प्रथम नृपत्तुंग नाना प्रकारकी बाह्य एवं आन्तरिक विपत्तियोंसे घिरा हुआ आरूढ़ हुआ। गंग मारसिंहकी भी इसी वर्ष मृत्यु हुई और उसका पुत्र पृथ्वीपति प्रथम अपराजित उत्तरी गंगराज्यका स्वामी हुआ। शिवमारकी मृत्यु संभवतया इसके कुछ पूर्व ही राष्ट्रकूटबन्दीगृहमें हो गई थी और इसी वर्ष विजयादित्य भी मर गया अतः तलकाडमें उसका पुत्र गंगनरेश राचमल्ल प्रथम सत्यवाक्य परमानदि जिसका कि विवाह पल्लव राजकुमारीके साथ हुआ था राजा हुआ। गोविन्द तृ०की मृत्युके साथ ही गंगवाड़िपर राष्ट्रकूटोंका आधिपत्य भी समाप्त हो गया। इस प्रकार ये तीन राजपरिवर्तन एक साथ सन् ८१४-१५ में हुए और तीनों ही नवीन नरेश अमोघवर्ष प्रथम (८१५-८७६), पृथ्वीपति प्रथम (८१५-८५३), सत्यवाक्य प्रथम (८१५-८५०) चिरकाल तक प्रायः समकालीन रहे।

उपर्युक्त विवेचन एवं ऐतिहासिक तथ्योंपर ध्यान देनेसे सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य विद्यानन्दने ७७६-७७ के लगभग गंगराज्यकी पूर्वी सीमाके भीतर श्रीपुरके पार्श्वजिनालयको अपना स्थायी निवास स्थान बनाया और अपने गुरु नन्दिसंघके विमलचन्द्राचार्यका उत्तराधिकार संभाला उसी समय उन्होंने श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्रकी रचनाकी तत्पश्चात् विद्यानन्दमहोदयको रचा और ७८४ ई० के लगभग शिवमार द्वितीयके शासनकालमें ही तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकको समाप्त किया। अष्टसहस्री की रचना उन्होंने ७८५ से ८०० के बीच किसी समय की (संभवतया ७९०-९१ में), युक्त्यनुशासनालङ्कार को उन्होंने ८१५ के लगभग पूर्ण किया और उसके पश्चात् आप्तपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा तथा सत्यशासन-परीक्षाकी क्रमशः रचना की। सन् ८२५ के लगभग तक उनका ग्रन्थरचनाकार्य समाप्त होगया, पत्र-परीक्षा एक संक्षिप्त गौण-सी रचना है जो संभवतया अष्टसहस्री और युक्त्यनुशासनके बीच रची गई। इस प्रकार उनका कार्यकाल अथवा साहित्यिक जीवन ७७५से ८२५ ई० तक तो निश्चित रूपमें माना जासकता है। ७९४ से ८०७ तक के १४-१५ वर्ष उस प्रदेशमें बड़ी अराजकता, अव्यवस्था

---

१ E.C. 12 GB. 1
२ E.J. IV no P. 338-31
३ I.A. XII P. 11
४ Altekar-R.T P. 69.
५ अमोघवर्षके संजान ता.प के पद्य २६ २७ ३० में कथन है कि उसका जन्म सरभोन (सोलूभंजन)में सन् ८०० की वर्षाऋतु उसके पिताने राजधानीमें ही बिताई थी (E. I. XVIII P. 346., R. T. P. 68)

एवं अशान्तिके थे, इसीलिये उस बीचमें कोई विशेष साहित्यिक कार्य किया जाना कठिन दीख पड़ता है, संभव है उस बीचमें वे स्वयं जैनेतर ब्राह्मण बौद्धादिक विद्वानोंके साथ शास्त्रार्थ एवं वादविवादमे व्यस्त रहे हों।

इसी प्रसंगमें, अष्टसहस्रोकी रचनातिथिको और अधिक सीमित एव सुनिश्चित करनेके लिये उसकी अन्त्य प्रशस्तिके प्रथम पद्यकी प्रथम पंक्ति का 'शशधर' शब्द महत्वपूर्ण है जिसपर प्रकाश डालना शेष है। स्वयं ध्रुव धारावर्षकी भोरम्यूजियम प्लेट[1] (ताम्रपत्र) जो शक ७०२ अर्थात् सन् ७८० ई० की है और जो न केवल उसका उस वर्ष(धवलाटीका की समाप्तिके समय) राष्ट्रकूटसाम्राज्यका निर्विवाद एकाधिपति होना प्रमाणित करती है बल्कि डा० अल्तेकरके शब्दोंमें हरिवंश (७८३) में उल्लिखित दक्षिण देशाधिपति श्रीवल्लभका भी ध्रुवके साथ निश्चित रूपसे अभिन्नत्व सिद्ध करती है,[2] उसके पद्य २३ में ध्रुवके अपने लिए 'शशधरकरनिकरनिभं यस्य यशः' शब्दोंका प्रयोग हुआ है, और अमोघवर्ष के तीन संजान ताम्रपत्रोंमेंसे प्रथम ताम्रपत्रके १५में पद्यमें भी ध्रुवके लिए 'शशिकरधवला यस्य कीर्त्तिः समन्तात्'... शब्दोंका प्रयोग हुआ है[3]। उक्त संजान ताम्रपत्रोंमें अमोघवर्ष आदि अन्य किसी भी नरेश के लिए 'धवल' शब्दका प्रयोग नहीं हुआ। ध्रुवसे पहले होनेवाले राष्ट्रकूट नरेशोंके अभिलेखोंमें भी उनके अपने लिये धवल शब्दका प्रयोग हुआ प्रतीत नहीं होता। ध्रुवके समयसे ही गर्जाविरुद रूपमें इसकी प्रवृत्ति हुई प्रतीत होती है। अतः यह माननेका प्रलोभन होता है कि विद्यानन्दका 'शशधर' पद भी श्लिष्टरूपमे ध्रुव धारावर्षकी ओर ही संकेत कर रहा है जो कि उस समय गंगराज्यका विजेता एवं अधिराज था। एक तत्कालीन महापराक्रमी विजेता तथा जैनधर्मभक्त सम्राट्को उसी कालमें उसके लिये सर्व प्रचलित एवं जनतामें प्रकाशित विशिष्ट विशेषणसे सूचित करना कुछ भी असंगत नहीं है। ध्रुव, गोविन्द, अमोघवर्ष आदि जैनधर्म के भक्त और जैनाचार्यों एवं विद्वानोंके आश्रयदाता थे इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं है। ध्रुवके लिये धवल शब्दके बहुल प्रचलित प्रयोगके कारण ही और क्योंकि वह शब्द साथ हो यश, कीर्त्ति जैसे सुन्दर भावके विशेषणरूपमें ही प्रयुक्त होता था, स्वामी वीरसेनने भी अपने ग्रन्थोंके नाम धवल, जयधवल आदि रक्खे, उसमें क्या आश्चर्य ?

अतः विद्यानन्दकी अष्टसहस्री ध्रुवकी मृत्युतिथि ७९३ के पूर्व ही अर्थात् ७९०-९३ के बीच किसी समय पूर्ण हुई। उस समय कुमारसेनका प्रत्यक्ष साहाय्य भी उन्हें प्राप्त होना पूर्णतया संभव है। श्लोकवार्तिक के पश्चात् ६-७ वर्षका समय उसके लिये पर्याप्त भी है। और इसप्रकार उसमें वीरसेन स्वामीके स्वर्गस्थ होनेका स्पष्ट उल्लेख उनकी मृत्युतिथि सम्बन्धी मेरे निष्कर्ष ७९० ई० की आश्चर्यजनक रूपमें प्रबल पुष्टि करता है।

लखनऊ, ता० १३-१२-४९।

१ Bhor huseumqlte pe og dhunna E. I XXII-182.,

२ R. T. P. 421.

३ E. I-XVIII no 26 P. 295 ig

भारतीय जनतन्त्रकी स्थापना

(ले० श्री विजयकुमार चौधरी)

—○—

हमारे भारतीय जनतन्त्रकी स्थापना विश्वकी महानतम घटनाओंमेंसे एक है। एक हजार वर्षकी पराधीनताके बाद आज उसने अपनेको सर्वसत्ता-सम्पन्न लोकराज्य घोषित कर दिया है। अब वह पूर्णरूपसे उन्मुक्त और अपनी चतुर्मुखी उन्नति करनेके लिये पूर्ण स्वाधीन है। इतने लम्बे समय तक भारतको पराधीनताकी अच्छेद्य जञ्जीरोंमें जकड़ा रहना पड़ा। इस समय तक सम्राट चन्द्रगुप्तके स्वर्ण युगकी स्मृति भी उसके हृदयमें धुंधली-सी पड़ गई थी। अब फिरसे हमारे देशमें उस स्वर्णिम युगका नूतन विहान उदित हुआ है। भारतकी ३५ कोटि जनताको अब उद्बोधित होनेका समय आगया है।

यह सब देशके उन अगणित शहीदोंके बलिदानका फल है जिनके प्रति आज हमारे मस्तक श्रद्धासे नत होजाते हैं, जिन्होंने बापूके द्वारा प्रदर्शित सत्य अहिंसाके मार्गपर चल अपने जीवनको न्योछावर कर दिया। हमें इस बातका गर्व है कि यह युगान्तरकारी परिवर्तन बापूके बताये मार्ग अहिंसा और सत्यपर चलनेसे ही सुलभ हुआ है। इतनी बड़ी रक्तहीन क्रान्तिसे जिसका मूल, शाखा और पत्तियां सब प्रायः शांतिसे सम्बर्द्धित हों, किसी भी देशमें नहीं हुई। इस क्रांति शान्तिके सुन्दर समन्वयने ही हमारी स्वतन्त्रताको अर्जित किया है।

पराधीनताके १ हजारवर्षके लम्बे समयमें भारतको अनेक कठिनाइयोंका सामना करना पड़ा। पहले-पहल मुगलसम्राटोंके कठोर धर्मोन्मादने भारतीय जनताके हृदयको तोड़ दिया था। आशामूलक सम्पूर्ण वृत्तियां इन शासकोंके शासनने समाप्त कर दी थीं। जीवनकी समरसता और सौष्ठव प्रायः विच्छिन्न हो चुके थे। उस समय देशके अगणित नौजवानों और नौनिहालोंको कठोर एवं एकदलीय धार्मिक नीतिका शिकार होना पड़ा। जजिया जैसे करोंने भारतीय आत्माको जैसे कुछ आघात पहुँचाये उनसे हमारे सामाजिक जीवनकी उर्वराशक्ति प्रायः नष्ट-सी हो गई। इसके पश्चात् विदेशी श्वेतांगजातिने भी इसे अपना स्वार्थका विषय बनाया और उसके नैतिक जीवनके साथ आर्थिक जीवनको भी तहस-नहस कर दिया। सौभाग्यसे देशमें कांग्रेस—राष्ट्रीय-महासभाकी स्थापना हुई जो अनेक आघात प्रतिघातोंमेंसे गुजरती हुई अन्तमें बापूके नेतृत्त्वद्वारा ही स्वतन्त्रताको प्राप्त करनेमें सफल हुई

२१ वर्ष पूर्व इस राष्ट्रीय महासभाने रावीके तट पर भारतीय लोक राज्यका संकल्प किया था, जो गत २६ जनवरीको पूर्ण हो चुका। इससे भारत ही नहीं सारा विश्व प्रभावित हुआ है और वह भी भारतके इन्हीं अहिंसा तथा सत्यके सिद्धान्तोंपर चलकर शान्तिके स्थापनमें कृतप्रयत्न है।

भारतीय जनतंत्रके नव-निर्मित विधानमें जो विशेषतायें है, विश्वास है कि उनसे भारतीय जनता सुखी और सम्पन्न बन सकेगी और एक हजार वर्षका म्रियमाण जीवन पुनरुज्जीवित हो उठेगा। भारतीय संविधानके प्रारूप या लक्ष्यसे ही इससे इस बातकी पुष्टि होजाती है जिसकी प्रस्तावनामें कहा गया है कि—'**हम भारतके लोग भारतको एक सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य बनाने तथा उसके समस्त नागरिकोंको सामाजिक राजनैतिक और आर्थिक—न्याय, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासनाकी स्वतन्त्रता प्रतिष्ठा और अवसरकी समता प्राप्त कराने तथा उन सबमें व्यक्तिकी गरिमा और राष्ट्रकी एकता सुरक्षित करने-वाली बन्धुता बढ़ानेके लिए दृढ़ संकल्प होकर अपनी इस सम्विधान सभामें एतद्द्वारा इस सम्विधानको अंगीकृत अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।**" कहना चाहिए कि अब भारतकी जनता अपने विधानद्वारा अपनी स्वतन्त्रताका पूर्णानुभव करसकेगी, और अपनी चतुर्मुखी उन्नतिके लिये

एक निश्चित सुदृढ़ कार्यक्रम अपनायेगी जिससे उसकी अस्थियोंमें फिरसे रक्त-संचार होकर नवीन जीवनका अनुभव होसके। भारतके विधानमें जनताके वे मौलिक अधिकार सुरक्षित हैं जिनके द्वारा सामाजिक, वैयक्तिक, आर्थिक, एवं राष्ट्रीय उन्नति होसकती है—उसमें सबको अपनी विचाराभिव्यक्तिद्वारा सामाजिक और राष्ट्रीय उन्नति करनेका अधिकार दिया गया है। सामाजिक जीवनकी प्रधानताके साथ २ वैयक्तिक जीवनकी प्रधानता भी उसमें स्वीकार की गई है। और सबको अपनी उचित आजीविका, उचित विचार और उचित भाषण करनेका अधिकार है। एक निश्चित संगठन बनानेका अधिकार है। विधानकी मुख्य विशेषता समता है, सम्विधानमें जाति-पांति और धर्मके हिसाबसे ऊंच-नीचका भेद नहीं करके सबको समान अधिकार प्रदान किये गये है। इससे हमारे सामाजिक जीवन के वे विरोधी तत्त्व दूर होजावेंगे जिनके द्वारा भारत की आत्मा विनष्ट-सी हो चुकी थी और जिनके द्वारा राष्ट्रको अनेकों बार धक्के खाने पड़े हैं।

भारतकी भावी नीतिपर प्रकाश डालते हुए हमारे माननीय राष्ट्रपतिने जो भाषण भारतीय संसदमें दिया है उससे हमारे देशका गौरव स्वयं बढ़ जाता है। उन्होंने बतलाया है कि 'हम सम्पूर्ण देशोंके साथ सहयोग करना चाहते हैं। हमारी मध्यस्थताकी नीति ढुलमुल नीति नहीं अपितु वह एक दृढ़ आधारपर स्थित है जिसपर चलकर दुनिया का वातावरण शान्त किया जासकता है।' उनके भाषणके ये वाक्य कितने मार्मिक हैं कि 'अब भारतमें न कोई राजा है और न प्रजा, या तो सब राजा हैं या सब प्रजा। इन वाक्योंका स्मरण करते हुए हमें गांधीजीके रामराज्यकी कल्पना साक्षात् दिखाई देने लगती है। राष्ट्रपतिने गणराज्यकी स्थापनाके उन मूल कारणोंपर प्रकाश डाला है जिससे यह महानतम कार्य होसका है। उन्होंने बतलाया कि 'सदुद्देश्य, सत्कार्य और सत्यनिष्ठा ही भारतीय गणतन्त्रके सुदृढ़ स्तम्भ हैं।' सचमुच हमें जितने अधिकार मिल चुके हैं उनसे कहीं अधिक हमारे ऊपर उत्तरदायित्व भी बढ़गये है, यदि हमारे उद्देश्य और हमारे कार्य सत्यनिष्ठामें नहीं होते तो हम यह सब खो बैठेंगे। भारत शान्तिको कितना पसन्द करता है इस बातका पता राष्ट्रपतिके उन शब्दोंसे चलता है जिनमें उन्होंने कहा था कि गान्धीजीके देशमें सेनापर किये गये इतने खर्चसे क्या काम ? जब कि अन्यदेश 'उद्रजन'के अन्वेषणमें एड़ी-चोटीका पसीना बहा रहे हैं तब हमारे राष्ट्रपतिके ये विचार कितने सुन्दर और कितने आत्मबलसे पूर्ण है। भारतकी नीति प्रतिस्पर्द्धात्मक नहीं होगी और जहांतक हो सके विश्वमैत्रीमें सहायक होगा ऐसी आशा आज एशिया ही नहीं विश्वके समस्त राष्ट्र कर रहे हैं। सांस्कृतिक दृष्टिसे हमारा देश विश्वके राष्ट्रोंका गुरु है यह निर्विवाद है। त्याग, तपस्या, आत्मसंयम और सत्यनिष्ठापर ही भारतकी संस्कृतियोंका निर्माण हुआ है और राजनीतिमें इन विशुद्ध संस्कृतियोंका समुचितरूपसे उपयोग किया गया है। यही कारण है कि भारतकी राष्ट्रीयतामें शान्ति एवं आत्मसंयमकी एक प्रच्छन्न धारा बही है और आज उसका मार्ग प्रकाशित होनेको है।

हमारा दायित्व है कि हम राष्ट्रनिर्माणके कार्योंमें सत्यनिष्ठाके साथ निस्वार्थभावसे लग जावें। सबसे पहले आर्थिक समस्यायें हमारे सामने है जो हमारे परिश्रमपर ही सुलझ सकती हैं। हमारा देश आज आर्थिक दृष्टिसे अत्यधिक पिछड़ा हुआ है। हमारा कर्तव्य है कि हम उसे उन्नत बनावें। राजनैतिक विकास तो सामाजिक एवं आर्थिक विकासका साधनमात्र है। देशकी मांग है अधिक परिश्रम करो और अधिक उत्पन्न करो। आर्थिक-क्रान्ति ही हमारे देशको सर्वोन्नत बना सकती है और यही आजकी हमारी देश सेवा है।

भद्रबाहु-निमित्तशास्त्र

चौथा अध्याय

—c—

अथाऽतः संप्रवक्ष्यामि परिवेषान् यथाक्रमम् । प्रशस्तानप्रशस्तांश्च यथावदनुपूर्व्वतः ॥१॥

अर्थ—उल्काऽध्यायके बाद अब परिवेषों (मण्डलों) का पूर्वपरम्परानुसार यथाक्रमसे कथन करता हूँ। वे परिवेष दो प्रकारके है—१ प्रशस्त और २ अप्रशस्त अर्थात् शुभ और अशुभ ॥१॥

पञ्च प्रकारा विज्ञेयाः पञ्चवर्णाश्च भौतिकाः । ग्रह-नक्षत्रयोः कालं परिवेषाः समुपस्थिताः ॥२॥

अर्थ—पाँच वर्णों और पांच भूतों (पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश) की अपेक्षासे परिवेष पांच प्रकारके जानना चाहिये। ये परिवेष ग्रह और नक्षत्रोंके कालको पाकर होते हैं ॥२॥

रूक्षाः खण्डाश्च वामाश्च क्रव्यादायुधसन्निभाः । अप्रशस्ताः प्रकीर्त्यन्ते विपरीता गुणान्विताः॥३॥

अर्थ—जो चन्द्रमा, सूर्य, ग्रह और नक्षत्रोंके परिवेष (मण्डल-कुण्डल) और रूक्ष (रूखे), खण्डित (अपूर्ण), टेढ़े (तिर्छे), क्रव्याद (मांसभक्षी जीव अथवा चिताकी अग्नि) और आयुध (शस्त्र) के समान होते हैं वे अप्रशस्त, अशुभ, है और इनसे विपरीत शुभलक्षणवाले प्रशस्त (शुभ) हैं ॥३॥

[1]रात्रौ तु संप्रवक्ष्यामि प्रथमं तेषु लक्षणम् । ततः पश्चाद्दिवा[2] भूयस्तन्निबोध यथाक्रमम् ॥४॥

अर्थ—आगे हम पहले रात्रिमें होनेवाले परिवेषोंके लक्षण और फलको बतलाते हैं। तदनन्तर दिनमें होनेवाले परिवेषोंके लक्षण और फलको कहेंगे। क्रमशः उन सबको ध्यानसे समझें ॥४॥

क्षीरशंखनिभश्चन्द्रे परिवेषो यदा भवेत् । तदा क्षेमं सुभिक्षं[3] च राज्ञो विजयमादिशेत् ॥५॥

अर्थ—चन्द्रमाके इर्द-गिर्द दूध अथवा शंखके सदृश परिवेष हो तो क्षेम-कुशल और सुभिक्ष होता हैं और राजाकी विजय होती है ॥५॥

सर्पिस्तैलनिकाशस्तु परिवेषो यदा भवेत् । न चाकृष्णोऽतिमात्रं च महामेघस्तदा भवेत् ॥६॥

अर्थ—यदि घृत और तैलके वर्णका चन्द्रमाका मण्डल हो और वह अति सफेद न हो तो महामेघ होता है अर्थात् भारी वर्षा होती है ॥६॥

रूप्य-पारापताभश्च परिवेषो यदा भवेत् । महामेघास्तदाऽभीक्ष्णं तर्पयन्ति जलैर्महीम् ॥७॥

अर्थ—चांदी और पारापत अर्थात् कबूतरके समान आभावाला चन्द्रमाका परिवेष हो तो महामेघ निरन्तर जल वर्षाद्वारा पृथ्वीको तृप्त कर देते हैं अर्थात् झर लग जाती है—लगातार कई दिन तक पानी बरसता रहता है ॥७॥

इन्द्रायुधसवर्णास्तु परिवेषो यदा भवेत् । संग्रामं तत्र जानीयाद्वर्षं चापि जलागमम् ॥८॥

अर्थ—यदि अमुक दिशामें इन्द्रधनुषके समान वर्णवाला चन्द्रमाका परिवेष हो तो उस दिशामें संग्राम (युद्ध)का होना और जलका भी वर्षना जानना चाहिये ॥८॥

१,२ रात्रिमें चन्द्रमा, ग्रह तथा नक्षत्रोंका और दिनमें सूर्यका परिवेष होता है।

३ किसी भी प्रकारका निमित्त प्राप्त हो, चाहे वह शुभ हो अथवा अशुभ, उसका फल उसी स्थानपर होता है। ऐसा भी मत है कि द्वादश योजनप्रमाण स्थानपर अर्थात् ४८ कोशके घेरेमें उसका फल प्राप्त होता है।

कृष्णे नीले ध्रुवं वर्षं पीतके व्याधिमादिशेत् । रूक्षे भस्मनिभे चापि दुर्वृष्टिर्भयमादिशेत् ॥९॥

अर्थ—काले और नीले वर्णका चन्द्र-मण्डल हो तो निश्चयसे वर्षा होती है। यदि पीले रंगका हो तो व्याधि (महामारी) का प्रकोप होता है। यदि रूक्ष (रूखा) और भस्म (राख) के सदृश हो तो दुर्वृष्टि अर्थात् वर्षा नहीं होती और उससे भय प्राप्त होता है अर्थात् जलवर्षा न होकर वायु, धूलि आदिकी वर्षा होती है। और यह भयसूचक है ॥९॥

यदा तु सोममुदितं परिवेषो रुणद्धि हि । जीमूतवर्ण-स्निग्धश्च महामेघस्तदा भवेत् ॥१०॥

अर्थ—यदि चन्द्रमाका परिवेष उदयप्राप्त चन्द्रमाको अवरुद्ध करता है—ढक लेता है और वह मेघके समान तथा स्निग्ध-चीकना हो तो महामेघ होता है अर्थात् उत्तम वृष्टि होती है ॥१०॥

अभ्युन्नतो यदा श्वेतो रूक्षः सन्ध्या-निशाकरः अचिरेणैव कालेन राष्ट्रं चौरैर्विलुप्यते ॥११॥

अर्थ—उदय होता हुआ संध्याके समयका चन्द्रमा यदि श्वेत और रूक्ष वर्णके परिवेष युक्त हो तो देशको शीघ्र चोरोंके उपद्रवका भय होता है अर्थात् देशको चोरोंसे हानि होती है ॥११॥

चन्द्रस्य परिवेषस्तु सर्वरात्रं यदा भवेत् । शस्त्रं जनक्षयं चैव तस्मिन् देशे विनिर्दिशेत् ॥१२॥

अर्थ—यदि सारी रात (उदयसे अस्त तक) चन्द्रमाका परिवेष रहे तो उस देशमें शस्त्रका गिरना अर्थात् युद्धका छिड़ना और जनताका नाश सूचित होता है ॥१२॥

भास्करं तु यदा रूक्षः परिवेषो रुणद्धि हि । तदा मरणमाख्याति नागरस्य महीपतेः ॥१३॥

अर्थ—यदि सूर्यका परिवेष रूक्ष हो और वह उसे ढक ले तो वह नागरिक लोगों तथा राजाके मरणको बतलाता है ॥१३॥

आदित्य-परिवेषस्तु यदा सर्वदिनं भवेत् । क्षुद्भयं जनमारिश्च शस्त्रकोपं च निर्दिशेत् ॥१४॥

अर्थ—सूर्यका परिवेष सारे दिन बना रहे तो क्षुधाका भय, मनुष्योंका महामारीसे मरण और युद्धका कोप होता है ॥१४॥

हरते सर्वसं[1]स्यानां[2]ईतिर्भवति दारुणा । वृक्ष-गुल्म-लतानां च वर्त्मनीनां तथैव च ॥१५॥

अर्थ—तथा सब प्रकारके धान्योंका नाश होता और घोर ईति (प्राकृतिक भीति) होती है और वृक्षों, गुल्मों-झुरमुटों, लताओं तथा पथिकोंको हानि पहुँचती है ॥१५॥

यतः खण्डस्तु दृश्येत ततः प्रविशते परः । ततः प्रयत्नं कुर्वीत रक्षणे पुर-राष्ट्रयोः ॥१६॥

अर्थ—उपरोक्त सारे दिनके सूर्य-परिवेषका जिस ओरका परिवेष खण्डित दिखाई दे उस दिशामें परचक्रका प्रवेश होता है, अतः नगर और देशकी रक्षाके लिये उस दिशामें रक्षाका प्रबन्ध करना चाहिये १६

रक्तो वा यदाभ्युदितं कृष्ण[3]पर्यन्त एव च । परिवेषो रविं रुन्ध्याद्राजव्यसनमादिशेत् ॥१७॥

अर्थ—यदि रक्त अथवा कृष्णवर्ण पर्यन्त चार वर्णवाला सूर्यका परिवेष हो और वह उदित सूर्यको रोके-आच्छादित करे तो कष्ट सूचित करता है ॥१७॥

यदा त्रिवर्णपर्यन्तं परिवेषो दिवाकरम् । तद्राष्ट्रमचिरात्कालाद् दस्युभिः परिलुप्यते ॥१८॥

अर्थ—यदि सूर्यका तीन वर्णवाला मण्डल सूर्यको ढक ले तो डाकुओंद्वारा देशका शीघ्र नाश होता है ॥१८॥

---

१ दन्ती और तालवी दोनों सकारोंका प्रयोग होता है। २ ईतियाँ छह प्रकारकी हैं—अतिवृष्टि, अनावृष्टि, टिड्डी, मूषक, तोता, स्वचक्र और परचक्र। ३ श्वेत वर्ण रहित चार वर्ण।

हरितो नीलपर्यन्तः परिवेषो यदा भवेत् । आदित्यं यदि वा सोमं राजव्यसनमादिशेत् ॥१६॥

अर्थ—यदि हरे रंगसे लेकर नीले रंग तक सूर्य अथवा चन्द्रमाका मण्डल हो तो राजाको कष्ट होता है ॥१६॥

दिवाकरं बहुविधः परिवेषो रुणद्धि हि । भिद्यते बहुधा वापि गवां मरणमादिशेत् ॥२०॥

अर्थ—यदि नाना वर्णवाला सूर्यका मण्डल हो अथवा खण्ड-खण्ड अनेक प्रकारका हो और वह सूर्यको ढक ले तो गायोंका मरण सूचित करता है ॥२०॥

यदाऽतिमुच्यते शीघ्रं दिशश्चैवाभिवर्धते । गवां विलोपमपि च तस्य राष्ट्रस्य निर्दिशेत् ॥२१॥

अर्थ—जिस दिशामें सूर्यपरिवेष शीघ्र हटे और जिस दिशामें बढ़ता जाय उस दिशाके राष्ट्रकी गायोंका लोप होता है अर्थात् जिस दिशाकी तरफ बढ़े उस दिशाके देशकी गायोंका नाश होता है ॥ २१॥

अंशुमाली यदा तु स्यात्परिवेषः समन्ततः । तदा सपुर-राष्ट्रस्य देशस्य रुजमादिशेत् ॥२२॥

अर्थ— सूर्यका परिवेष यदि सूर्यके चौतरफा हो तो नगर, राष्ट्र और देश आदिके मनुष्य महामारी से पीडित होते हैं ॥२२॥

ग्रह-नक्षत्र-चन्द्राणां परिवेषः प्रगृह्यते । अभीक्ष्णं यत्र वर्तेत तं देशं परिवर्जयेत् ॥२३॥

अर्थ—ग्रह[1] (सूर्य,चन्द्र,मगल,बुध,गुरु,शुक्र,शनि), नक्षत्र[2] (२८ अश्विनि आदि) और चन्द्रमाका निरन्तर परिवेष बना रहे और वह इस रूपमें ग्रहण हो तो उस देशका परित्याग कर देना चाहिये, क्योंकि वहाँ शीघ्रतासे भय उपस्थित होता है ॥२३॥

परिवेषा विरुद्धेषु नक्षत्रेषु ग्रहेषु च । कालेषु वृष्टिर्विज्ञेया भयमन्यत्र निर्दिशेत् ॥२४॥

अर्थ—वर्षाकालमें यदि ग्रहों और नक्षत्रोंके जिस दिशामें परिवेष हों तो वहां वृष्टि होती है और अन्य स्थानमें भय होता है अथवा दूसरे प्रकारका भय सूचित होता है ॥२४॥

अभ्रशक्तिर्यदा गच्छेत्तां दिशं त्वभियोजयेत् । रिक्ता वा विपुला चाग्रे जयं कुर्वीत शाश्वतम् ॥२५॥

अर्थ—खाली अथवा भरी हुई अभ्रशक्ति (बादल) जिस दिशाकी ओर अग्र गमन करे तो उस दिशामें शाश्वत जय होती है ॥२५॥

यदाऽभ्रशक्तिर्दृश्येत परिवेष-समन्विता । नागरान् यायिनो हन्युस्तदा यत्नेन संयुगे ॥२६॥

अर्थ—यदि परिवेष-सहित अभ्रशक्ति (बादल) दिखे तो चढ़कर आनेवाले शत्रुद्वारा नगरवासियों-का युद्धमें नाश होता है, अतः यत्नसे रक्षा करनी चाहिये ॥२६॥

नानारूपो यदा दण्डः[3] परिवेषं प्रमर्दति । नागरास्तत्र वध्यन्ते यायिनो नात्र संशयः ॥२७॥

अर्थ— यदि अनेक वर्णवाला दंड परिवेषको मर्दन करे तो चढ़कर आनेवाले शत्रुद्वारा नगरजनों (स्थाइयों) का नाश होता है, इसमें संशय नहीं है ॥२७॥

त्रिकोटिर्यदि दृश्येत परिवेषः कथञ्चन । त्रिभागशस्त्रवध्योऽसाविति निर्ग्रन्थशासने ॥२८॥

अर्थ—तीन कोनेवाला परिवेष कदाचित् देखनेमें आवे तो युद्धमें तीन भाग सेना शस्त्रसे मारी जाती है ऐसा निग्रन्थ शासनमें बतलाया गया है ॥२८॥

१,२ इसका मतलब यह नहीं है कि सबके मण्डल एक ही साथ हों अर्थात् किसी भी ग्रह-नक्षत्रके मण्डल होते रहें । अनु० । ३ दंडाकार—दण्डाकृति होकर परिवेषका मर्दन करे ।

चतुरस्रो यदा वापि परिवेषः प्रकाशते । क्षुधया व्याधिभिश्चापि चतुर्भागोऽवशिष्यते ॥२९॥

अर्थ—यदि चार कोनेका परिवेष दिखाई दे तो क्षुधा और रोगोंसे मरण होकर शेष चतुर्थ भाग (जन संख्या) रह जाती है ॥२९॥

अर्धचन्द्र-निकाशस्तु परिवेषो रुणद्धि हि। आदित्यं यदि वा सोमं राष्ट्रं संकुलतां व्रजेत् ॥३०॥

अर्थ—अर्द्धचन्द्राकार परिवेष चन्द्रमा अथवा सूर्यको ढके तो देश व्याकुलतायुक्त (भयवान) होता है ॥३०॥

प्राकाराट्टालिकाप्रख्यः परिवेषो रुणद्धि हि । आदित्यं यदि वा सोमं पुररोधं निवेदयेत् ॥३१॥

अर्थ—कोट और अट्टालिकाके सदृश परिवेष यदि सूर्य और चन्द्रमाको अवरुद्ध करे तो पुर (नगर)घेरेमें पड़ जाता है, ऐसा कहना चाहिये ॥३१॥

समन्ताद्बध्यते यस्तु मुच्यते च मुहुर्मुहुः। संग्राम तत्र जानीयाद् दारुणं पर्युपस्थितम् ॥३२॥

अर्थ— चौतरफसे सूर्य अथवा चन्द्रमाके परिवेष हों और वह बारबार होवे और बिखर जावे तो वहांपर घोर संग्राम होता है ॥३२॥

यदा ग्रहमवच्छाद्य परिवेषः प्रकाशते । अचिरेणैव कालेन संकुलं तत्र जायते ॥३३॥

अर्थ—यदि परिवेष ग्रहको आच्छादित करके दिखाई दे तो वहांपर शीघ्रतासे सब आकुलतामय हो जाते हैं ॥३३॥

यदा राहुमपि प्राप्तं परिवेषो रुणद्धिहि। तदा सुवृष्टिर्जानीयाद् व्याधिस्तत्र भयं भवेत् ॥३४॥

अर्थ—यदि परिवेष राहुको भी ढक ले अर्थात् घेरेके भीतर राहु ग्रह भी आजाय तो अच्छी वृष्टि होती है परन्तु वहां व्याधिका भय बना रहता है ॥३४॥

[1]पूर्वसन्ध्या नागराणामागतानां च पश्चिमा। अर्धरात्रे तु राष्ट्रस्य मध्याह्ने राज्ञ उच्यते ॥३५॥

अर्थ—पूर्वकी सन्ध्याका फल स्थाई रहने वाले नागरिकोंको होता है, पश्चिमकी सन्ध्याका फल आगन्तुक (चढ़कर आनेवालों) को होता है, अर्धरात्रिका फल देशभरको होता है और मध्याह्नका फल राजाको बतलाया गया है ॥३५॥

धूमकेतुं च सोमं च नक्षत्रं च रुणद्धिहि । परिवेषो यदा राहुं तदा यात्रा न सिद्ध्यति ॥३६॥

अर्थ—यदि परिवेष धूमकेतू (पुछल्ला तारा), चन्द्रमा, नक्षत्र और राहुको आच्छादित करे तो चढ़कर आने वाले राजाकी यात्राकी सिद्धि नहीं होती ॥३६॥

यदा तु ग्रहनक्षत्रे परिवेषो रुणद्धि हि । अभावस्तस्य देशस्य विज्ञेयः पर्युपस्थितः ॥३७॥

अर्थ—यदि परिवेष ग्रह और नक्षत्रोंको रोके तो उस देशका अभाव होजाता है अर्थात् उस देशमें संकट आजाता है ॥३७॥

त्रीणि याऽत्रावरुद्ध्यन्ते नक्षत्रं चन्द्रमा ग्रहः। त्र्यहाद् जायते वर्षं मासाद्वा जायते भयम् ॥३८॥

अर्थ—यदि नक्षत्र चन्द्रमा और ग्रह इन तीनोंको एक-साथ परिवेष अवरुद्ध करे तो तीन दिनमें वर्षा होती है अथवा एकमासमें भय उत्पन्न होता है ॥३८॥

---

१ इस श्लोककी स्थिति यहां शंकास्पद है जो विचारणीय है क्योंकि उसका सन्ध्या अध्यायमें, जो आगे कहा जावेगा, होना संगत है । —अनु० ।

उल्कावत् साधनं ज्ञेयं परिवेषेषु तत्त्वतः । लक्षणं सम्प्रवक्ष्यामि विद्युतां तान्निबोधत ॥३६॥

अर्थ—परिवेषोंका लक्षण और फल उल्काके समान सिद्ध करना चाहिए अर्थात् जनना चाहिए । अब विजलीके लक्षण कहते हैं सो उन्हें अच्छी तरह जानो ॥३६॥

इति नैर्ग्रन्थे भद्रबाहुके निमित्ते परिवेषवर्णनो नाम चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः ।

पांचवां अध्याय

—:—:—

अथाऽतः संप्रवक्ष्यामि विद्युतां नामविस्तरम् । प्रशस्ता चाप्रशस्ता च यथावदनुपूर्वतः ॥१॥

अर्थ—अब विजलीके नामादिका पूर्वाचार्यानुसार विस्तारसे कथन करते हैं । वह विजली दो तरह की है—प्रशस्त अर्थात् शुभ फल देनेवाली और अप्रशस्त अर्थात् अशुभ फल देनेवाली ॥१॥

सौदामिनी च पूर्वा च कुसुमोत्पलनिभा शुभा । निरभ्रा मिश्रकेशी च क्षिप्रगा चाशनिस्तथा ॥२॥

एतासां नामभिर्वर्षं ज्ञेयं कर्मनिरुक्तितः । भूयो व्यासेन वक्ष्यामि प्राणिनां पुण्यपापजाम् ॥३॥

अर्थ—सौदामिनी और पूर्वा विजली यदि कमलके पुष्प समान हो तो वह शुभ अर्थात् शुभ फल देनेवाली है । वह विजली अभ्रसे रहित—निरभ्रा, देवाङ्गनाके समान मिश्रकेशी, जल्दीसे गमन करनेवाली क्षिप्रगा और वज्रके समान हो वह अशनि नामसे कही जाती है । वर्षा करनेवाली है अतः वर्ष भी कही जाती है । इस विजलीके नाम इसकी क्रियानिरुक्तिसे जानना, जैसे इसको तडित भी कहते हैं । अब विजली के विस्तारपूर्वक फल, लक्षण आदि कहे जाते हैं जो जीवोंके पाप-पुण्यके निमित्तसे होते हैं ॥२,३॥

स्निग्धास्निग्धेषु चाभ्रेषु विद्युत् प्राच्या जलावहा । कृष्णा तु कृष्णामार्गस्था वातवर्षावहा भवेत् ४

अर्थ—चिकने बादलसे उत्पन्न विजली स्निग्धा कही जाती है । यदि वह पूर्व दिशाकी हो तो अवश्य बर्षा करती है । यदि काले बादलसे उत्पन्न हो तो वह विजली कृष्णा कही जाती है और वह वायुकी वर्षा करती है अर्थात् वायु बहुत चलती है । यहां पर 'कृष्ण' शब्द अग्निवाचक है अतः अग्निकोणके मार्गमें स्थित विजली 'कृष्णा' नामसे कही जाती है । उसका फल वायुवर्षा है । "बर्हिः शुष्मा कृष्णवर्त्मा शोचिष्केश उषर्बुधः" इति अमरकोषे पाठः ॥४॥

अथ रश्मिगताऽस्निग्धा हरिता हरितप्रभा । दक्षिणा दक्षिणा वाती कुर्यादुदकसंभवम् ॥५॥

अर्थ—जिस विजलीकी रश्मि चली गई है अर्थात् जो बिना रश्मिको विजली है वह अस्निग्धा कही जाती है और हरित प्रभावाली विजली हरिता कही जाती है, दक्षिणमें गमन करनेवाली दक्षिणा कहलाती है । इनसे जल बरसता है ॥५॥

रश्मिवती मेदनी भाति विद्युदपरदक्षिणे । हरिता भाति रोमांचं सोदकं पातयेद्बहुम् ॥६॥

अर्थ—पृथ्वीपर प्रकाश (चमक) करनेवाली—रश्मिवती, नैऋत्य कोणमें गमन करनेवाली हरित और बहुत रोमवाली विजली-बहुत जलको देनेवाली है ॥६॥

अपरेण तु या विद्युच्चरते चोत्तरामुखी । कृष्णाभ्रसंश्रिता स्निग्धा सापि कुर्याज्जलागमम् ॥७॥

अर्थ—पश्चिम दिशामें प्रकट होनेवाली, उत्तरमें मुख करके गमन करनेवाली, काले बादलोंसे निकलनेवाली और स्निग्धा (चिकनी) ये चारों विजलियां जलके आनेकी सूचना देती हैं ॥७॥

अपरोत्तरा तु या विद्युन्मंदतोया हि सा स्मृता ।

अर्थ—वायव्यकोणकी बिजली थोड़े जलको देनेवाली जानना चाहिए।

उदीच्यां सार्व्ववर्णस्था रूक्षा तु सा तु वर्षति ॥८॥

अर्थ—उत्तर दिशाकी बिजली चाहे किसी भी वर्णकी क्यों न हो; अथवा रूक्ष भी हो तो भी वर्षा को करने वाली जानना चाहिये ॥८॥

या तु पूर्वोत्तरा विद्युद् दक्षिणा च पलायते । चरत्यूर्ध्वं च तिर्यक्स्था सापि श्वेता जलावहा ॥९॥

अर्थ—ईशान कोणकी बिजली तिरछी (टेढ़ी) होकर पूर्वमें गमन करे और दक्षिणमें जाकर छिप जाय तथा वह श्वेत रंगकी हो तो वह जलकी देनेवाली है ॥९॥

तथैवोर्ध्वमधो वापि स्निग्धा रश्मिमती भृशम् । सघोषा चाप्यघोषा वा दिक्षु सर्वासु वर्षति ॥१०॥

अर्थ—तथा ऊपर अथवा नीचे जानेवाली चिकनी बहुत रश्मि (किरण) वाली शब्द करती हुई अथवा शब्द न करती हुई बिजली सर्वत्र वर्षाको करनेवाली जानना ॥१०॥

इस प्रकार दिशापरसे फल बताया। अब षट्ऋतुपरसे फल बताते हैं—

शिशिरे चापि वर्षति रक्ता पीताश्च विद्युतः । नीला श्वेता वसन्ते न वर्षन्ति कदाचन ॥११॥

अर्थ—यदि शिशिर ऋतु (माघ-फाल्गुन) में नील और पीले रंगकी बिजली हो तो वर्षा होती है और वसन्त (चैत्र-वैशाख) में नील और श्वेत रंगकी बिजली हो तो कदापि वर्षा नहीं होती ॥११॥

हरिता मधुवर्णाश्च ग्रीष्मे रूक्षाश्च निश्चलाः । भवन्ति ताम्रगौराश्च वर्षास्वपि निरोधकाः ॥१२॥

अर्थ—हरे रंगकी, मधुके रंगकी, रूक्ष और स्थिर बिजली ग्रीष्म ऋतु (ज्येष्ठ-आषाढ़) में चमके तो वर्षा नहीं होती तथा इसी तरह वर्षा ऋतु (श्रावण- भादव) में ताम्रवर्णकी बिजली चमके तो वह भी वर्षाको रोकनेवाली है॥१२॥

सारदीनाभिवर्षन्ति नीला वर्षाश्च विद्युतः । हेमन्ते श्याम-ताम्राऽस्तु तडितो निर्जला स्मृताः १३

अर्थ—शरद ऋतु (आश्विन-कार्तिक) में नील और वर्षा नामकी बिजली चमके तो वर्षा नहीं होती है और हेमन्त (अगहन-पौष) ऋतुमें यदि श्याम और ताम्रवर्णकी बिजली हो तो जल नहीं बरसता ॥१३॥

रक्तारक्तेषु चाभ्रेषु हरिताहरितेषु च । नीलानीलेषु वा स्निग्धा वर्षन्तेऽनिष्टयोनिषु ॥१४॥

अर्थ—रक्त अथवा अरक्त, हरित अथवा अहरित और नील अथवा अनील बादलोंमें यदि स्निग्धा बिजली चमकती है यद्यपि वे बादल अनिष्टसूचक भी हों तो भी अवश्य वर्षा होती है ॥१४॥

अथ नीलाश्च पीताश्च रक्ताः श्वेताश्च विद्युतः । एतां श्वेतां पतत्यूर्ध्वे विद्युदुदकसंप्लवाम् ॥१५॥

अर्थ—अब बिजलीके वर्ण कहते हैं कि नील, पीत, रक्त और श्वेत वर्णकी बिजलियोंमेंसे श्वेत रंग की बिजली ऊपर गिरे तो पृथ्वीपर जल ही जल हो जाता है ॥१५॥

वैश्वानरपथे विद्युत् श्वेता रूक्षा च विद्युतः । विद्यात्तदाऽशनिर्वर्ष रक्तायामग्नितो भयम् ॥१६॥

अर्थ—वैश्वानर पथ (अग्निकोण दिशा) में प्रकट हुई श्वेता और रूक्षा नामकी बिजलियाँ विद्युत कही जाती है। ये तथा अशनि वृष्टिको करती है। रक्त वर्णकी बिजली अग्निका भय करती है ॥१६॥

यदा श्वेता च वृक्षस्य विद्युच्छिद्ररश्मि संचरेत् । अथवा ग्रहयोर्मध्ये वातवर्ष सृजेन्महत् ॥१७॥

[illegible] बिजलीके बताए गए हैं।

अर्थ—यदि श्वेत रंगकी बिजली वृक्षके ऊपर गिरे अथवा दो गृहोंके मध्यमेंसे होकर गिरे तो बहुत वायुसहित वृष्टि होती है ॥१७॥

अथ चन्द्राद्विनिष्क्रम्य विद्युन्मंडलसंस्थिता । श्वेताऽभ्रा प्रविशेदर्कं विंद्यादुकसंप्लवम् ॥१८॥

अर्थ—यदि चन्द्रमण्डलसे निकल कर श्वेत अभ्रयुक्त बिजली सूर्य-मण्डलमें प्रवेश करे तो उसे बहुत वर्षाको करने वाली जानो ॥१८॥

अथ सूर्याद्विनिष्क्रम्य रक्ता समलिना भवेत् । प्रविश्य सोमं वा तस्य तत्र वृष्टिर्भयङ्करा ॥१९॥

अर्थ—यदि सूर्यमण्डलसे निकल कर रक्त वर्णकी मलीन विद्युत् चन्द्रमण्डलमें प्रवेश करे तो वहाँ भयङ्कर वातवृष्टि होती है। अर्थात् भारी वायु चलता है ॥१९॥

विद्युद्विद्युद्यदा भूत्वा ताडयेत्प्रविशेत्तदा । अन्योन्यं वा लिखेयातां वर्षं विन्द्यात्तदा शुभम् ॥२०॥

अर्थ—बिजली बिजलीसे ही ताडित होकर एक दूसरेमें प्रवेश करतो हुई दिखाई दे तो शुभ जानना अर्थात् वृष्टि करने वाली जानना ॥२०॥

राहुणा संवृतं चन्द्रमादित्यं चापसव्यतः । कुर्याद्विद्युद् यदा साभ्रा तदा सस्यं न रोहति ॥२१॥

अर्थ—राहुद्वारा चन्द्रमा और सूर्य अपसव्य मार्गसे ग्रहण (ग्रसित) किया गया हो और वे अभ्रसे (बादलसे) ढके हों और उस समय उनसे बिजली निकले तो धान्य नहीं उगते ॥२१॥

नीला ताम्रा च गौरा च श्वेता चाभ्रान्तरं चरेत् । सघोषा मन्दघोषा वा विद्युदुदकसप्लवम् ॥२२

अर्थ—नील, ताम्र, गौर और श्वेत बादलोंसे बिजलीका संचार हो और वह भारी गर्जना अथवा थोड़ी गर्जना युक्त हो तो अच्छी वृष्टि होती है ॥२२॥

मध्यमे मध्यमं वर्षं मध्यमे अधमं दिशेत् । उत्तमं चोत्तमे मार्गे चरन्तीनां च विद्युताम् ॥२३॥

अर्थ—इस श्लोकका तात्पर्य ऐसा होना चाहिए कि आकाशके मध्यम मार्गसे गमन करनेवाली बिजली मध्यम वर्षा करने वाली जानना और जघन्य मार्गसे जघन्य (अल्प) वर्षा करनेवाली तथा उतम मार्गसे गमन करनेवाली उत्तम वर्षा करनेवाली जानना। ॥२३॥

वीथ्यन्तरेषु या विद्युच्चरतामफलं विदुः । अभीक्ष्णं दर्शयेच्चापि तत्र दूरगतं फलम् ॥२४॥

अर्थ—यदि बिजली वीथीके (चन्द्रादिकके मार्गके) अन्तरालमें सञ्चार करे तो उसका कोई फल नहीं होता। यदि बार बार दिखाई दे तो उसका फल दूर जाकर होता है ॥२४॥

उल्कावत्साधनं ज्ञेयं विद्युतामपि तत्त्वतः । अत्राभ्राणां प्रवक्ष्यामि लक्षणं तन्निबोधत ॥२५॥

अर्थ—बिजलियोंकी उल्काकी तरह सिद्धि समझना चाहिए। अब आगे अभ्रों (बादलों) के लक्षण और फलको बताते हैं उन्हें यथावत् जानना ॥२५॥

इति नैर्ग्रन्थे भद्रबाहुके निमित्ते विद्युल्लक्षणं पञ्चमोऽध्यायः ।

छठा अध्याय

—:o:—

अभ्राणां लक्षणं कृत्स्नं प्रवक्ष्यामि यथाक्रमम् । प्रशस्तमप्रशस्तं च तन्निबोधत तत्त्वतः ॥१॥

अर्थ—बादलोंकी आकृतिके लक्षण यथाक्रमसे कहता हूँ। वे दो तरहके हैं-एक शुभ और दूसरे अशुभ ॥१॥

स्निग्धाण्यभ्राणि यावंति वर्षदानि न संशयः । उत्तरं मार्गमाश्रित्य तिथौ[1] मुखे यदा भवेत् ॥२॥

अर्थ—चिकने बादल अवश्य वर्षा करते हैं इसमें कुछ संशय नहीं, और उत्तरदिशाके आश्रित बादल प्रातःकाल अवश्य वर्षा करते हैं। ॥२॥

उदीच्यान्यथ पूर्वाणि वर्षदानि शिवानि च । दक्षिणान्यपराणि स्युः समूत्राणि न संशयः ॥३॥

अर्थ—उत्तर और पूर्व दिशाके बादल सदा उत्तम वर्षा करते हैं और दक्षिण तथा पश्चिमके बादल मत्रके समान थोड़ी-थोड़ी वर्षा करते हैं, इसमें कुछ संशय नहीं। ॥३॥

कृष्णानि पीत-ताम्राणि श्वेतानि च यदा भवेत् । तयोर्निःशमासृत्य वर्षदानि शिवानि च ॥४॥

अर्थ—यदि बादल पीले, तांबे, और श्वेतवर्णके हों तो वे यह सूचित करते है कि उत्तम वर्षा होगी। ॥४॥

अप्सराणां च सत्त्वानां सदृशानि चराणि च । सुस्निग्धानि च यानि स्युर्वर्षदानि शिवानि च ॥५॥

अर्थ—यदि बादल देवांगनाओंके और प्राणियोंके सदृश आचरण करें अर्थात् विचरें और चिकने हों तो वे शुभ है और उनसे उत्तम वर्षा होती है ॥५॥

शुक्लानि स्निग्धवर्णानि बिन्दुचित्रघनानि च । सद्यो वर्षं समाख्यान्ति तान्यभ्राणि न संशयः ॥६॥

अर्थ—शुक्ल (श्वेत) वर्णके बादल स्निग्ध (सचिक्कण), बिन्दु समान विचित्र (लौकिकमें तीतर-वर्णी) हों तो तत्काल वर्षाको करते हैं ॥६॥

शकुनैः करणैश्चापि संभवन्ति शुभैर्यदा । तदा वर्षं च क्षेमं च सुभिक्षं च जयं भवेत् ॥७॥

अर्थ—शुभ शकुन और अन्य शुभ चिन्हों सहित यदि बादल हों तो वे वर्षा करते हैं तथा क्षेम-कुशल, सुभिक्ष और राजाकी विजय सूचित करते हैं ॥७॥

पक्षिणां द्विपदानां च सदृशानि यदा भवेत् । चतुष्पदानां सौम्यानां तदा विन्द्याज्जयं वदेत् ॥८॥

अर्थ—सौम्य पक्षियोंके सदृश, सौम्य द्विपदों (मनुष्यों अथवा हंसों आदि) के सदृश और सौम्य चतुष्पदों (हाथी आदि पशुओं) के समान बादल हों तो उन्हें विजयको देनेवाले समझना चाहिये। यहांपर 'सौम्य' विशेषण है अतः इससे यह तात्पर्य है कि बादलोंकी जो यह आकृति बतलाई गई है वह क्रूर प्राणियों जैसी न होकर सौम्य स्वभाववाले हस्ति, घोड़े, बैल, हंस, मोर, सारस, तोता, मैना, कोयल आदिकी तरह है ॥८॥

यदा राज्ञः प्रयाणे तु यान्यभ्राणि शुभानि च । अनुमार्गाणि स्निग्धानि तदा राज्ञो जयं वदेत् ॥९॥

अर्थ—राजाके प्रयाण (चढ़ाई) के वक्त यदि शुभरूप बादल हों और वह मार्गानुसार (प्रयाण के अनुसार) गमन करते हों तथा वे चिकने हों तो उस यात्रामें राजाकी विजय होती है ॥९॥ (क्रमशः)

---

१ यहां तिथिका प्रातःकाल अर्थ किया गया है, क्योंकि तिथि नाम दिनका है और दिनका मुख प्रातःकाल है।

पंडित सदासुखदासजी

(ले०—पं० परमानन्द जैन शास्त्री,)

बीसवीं शताब्दीके हिन्दी साहित्यकारोंमें पंडित सदासुखदासजीका नाम खास तौरसे उल्लेखनीय है। आपने अनेक गद्यात्मक हिन्दी टीकाओंका निर्माण किया है। आप जयपुरके निवासी थे। आपके पिताका नाम दुलीचन्द और गोत्रका नाम काशलीवाल था। माताका नाम मालूम नहीं हो सका, आपका वंश 'डेडराज' के नामसे प्रसिद्धिको प्राप्त था, इसी कारण आपको 'डेडाका' के नामसे भी पुकारते थे।

डेडराज कब हुए और उनकी वंश-परम्परा क्या है? इसका कुछ भी पता नहीं चलसका।

पण्डितजीके वंशमें आज भी मूलचन्द्र नामके एक सज्जन मौजूद है। आपके मकानमें एक चैत्यालय है, जो जयपुरमें चौकड़ी मोदीखाना मणिहारोंके रास्तेमें स्थित है। पं० सदासुखदासजीने अपना कोई जीवन परिचय नहीं दिया; किन्तु अर्थप्रकाशिका-टीकाकी प्रशस्तिमें निम्न पंक्तियों द्वारा अपना और अपने पिताजीका नाम तथा गोत्र आदिका उल्लेखमात्र किया है। साथ ही आत्मसुखकी प्राप्तिकी इच्छा भी व्यक्त की है, जैसा कि निम्न पंक्तियोंसे स्पष्ट है:—

डेडाराजके वंशमांहि इक किंचित् ज्ञाता,
दुलीचन्दका पुत्र काशलीवाल विख्याता।
नाम सदासुख कहै आतमसुखका बहु इच्छुक,
सो जिनवाणी प्रसाद विषयतैं भए निरिच्छुक॥

आपका जन्म जयपुरमें संवत् १८५२ के लगभग हुआ था, क्योंकि पण्डितजीने स्वयं रत्नकरण्ड-श्रावकाचारकी टीकामें अपनी आयुके ६८ वर्ष व्यतीत होनेकी सूचना की है[1] और उस टीकाको सं० १९२० में बनाकर समाप्त किया है।

पण्डितजीकी जीवन-घटनाओंका और उनके कौटुम्बिक-जीवनका यद्यपि कोई विशेष परिचय उपलब्ध नहीं है तो भी जो कुछ टीका ग्रन्थोंमें दी गई संक्षिप्त प्रशस्तियों आदि परसे जाना जाता है उसमें पण्डितजीकी चित्त वृत्ति, सदाचारता आत्म-निर्भयता, अध्यात्मरसिकता, विद्वत्ता और सच्ची धार्मिकता पद पदपर प्रकट होती हैं। आपमें संतोष और सेवाभावकी पूरी स्प्रिट थी और आपका जिन-वाणीके प्रति बड़ा भारी स्नेह था, जिसके देश देशान्तरोंमें प्रचार करनेकी आवश्यकताको आप बहुत ही ज्यादा अनुभव किया करते थे। इसीसे आपका अधिकांश समय शास्त्र-स्वाध्याय, सामायिक, तत्त्व-चिन्तन, पठन-पाठन और ग्रन्थोंकी टीका अथवा अनुवादादि प्रशस्त कार्योंमें ही व्यतीत होता था। आप राजकीय प्राइवेट संस्था (कापड़द्वारे) में कार्य करते हुए भी सांसारिक देह-भोगोंसे बराबर विरक्ति का अनुभव किया करते थे। भोगोंमें आसक्ति अथवा अनुरक्ति जैसी कोई बात आपमें नहीं थी; प्रत्युत इसके उदासीनता संवेद और निर्वेदकी अनुपम भावना आपके चित्तमें घर किये हुए थी और स्व-परके भेद-विज्ञानरूप आत्म-रसके आस्वादनकी सदा लगन लगी रहती थी; फिर भी शास्त्रोंके प्रचारकी ममता आपके हृदयमें अपना विशिष्ट स्थान रखती थी।

यहां यह बात खास तौरसे नोट करने लायक है कि पण्डितजीके कुटुम्बीजन यद्यपि बीसपंथके अनुयायी थे; फिर भी पण्डितजी स्वयं तेरा पंथके पूर्ण अनुयायी थे। जिसका कारण उनके गुरु पं० मन्नालालजी और प्रगुरु पं० जयचन्दजी छावड़ा आदिके विचारोंका उनपर प्रभाव बालशिक्षा समयसे ही पड़ना शुरू हो गया था, युवा प्रौढ़ाव-

---

1 अडसठ बरस जु आयुके, बीते तुझ आधार।
शेष आयु तव शरणतैं, जाहु यही मम सार॥ १७॥

स्थामें उत्तरोत्तर वृद्धिको प्राप्त होता चला गया। तथा जिनवाणीके सतत अभ्यासकी साधनाने उसे और भी सुदृढ़ बना दिया था। तेरापन्थ और बीसपंथके विकल्पों और उनसे होनेवाली कटुताका रौद्ररूप भी यद्यपि कभी कभी सामने आजाता था फिर भी आप अपनी चित्तवृत्तिको अस्थिर नहीं होने देते थे, यों ही सहज भावसे बीसपथके रीति-रिवाजों तथा भट्टारकीय प्रवृत्तियोंके प्रतिकूल अपने मन्तव्योंका प्रचार करते थे और शुद्ध तेरापंथ आम्नायको शक्तिपर पुष्ट भी करते थे। रत्नकरण्ड-श्रावकाचारकी टीकामें भी बीस पंथका निरसन पाया जाता है फिर भी वह उभय पंथके अनुयायियों द्वारा उपादेय बनी हुई है। इसका कारण पण्डितजीकी आन्तरिक विशुद्धि ही है। वे कलह और विसंवाद आदि अप्रशस्त कार्योंमें अपना योग दान देना उचित नहीं समझते थे। शास्त्र प्रवचनमें भी वस्तु तत्त्वका विवेचन इस रूपसे करते थे कि श्रोता जन कभी भी उनसे असन्तुष्टिका अनुभव नहीं करते थे। पंडितजी अपने समय और पर्यायके मूल्यको समझते थे इसीकारण वे अपने समयको व्यर्थ नहीं जाने देते थे, किन्तु धर्मसाधनादि प्रशस्त कार्योंमें उसे व्यतीत करना अपना कर्तव्य समझते थे। आपके अनेक शिष्य थे, जो आपकी प्रेरणा और पठन-पाठनकी सुविधासे सुयोग्य विद्वान बने थे। उनमें पं. पन्नालालजी संघी, नाथूलालजी दोशी और पं.पारसदासजी निगोत्याके नाम खास तौरसे उल्लेखनीय है।

आपमें सहन-शीलता कूट-कूटकर भरी हुई थी और चित्तवृत्तिमें अपार सन्तोष था। आजीविकाके निमित्त जो कुछ भी मिल जाता था आप उसीसे अपना निर्वाह कर लेते थे, पर उससे अधिक की चाह-दाहमें जलना प्रायः समझते थे। कहा जाता है कि आपको राज्यकीय संस्थासे जिसका नामोल्लेख ऊपर किया जा चुका है, सिर्फ आठ या दस रुपया महीना वेतन मिलता था और वह बराबर चालीस वर्ष तक उसी प्रमाणमें मिलता रहा—उसमें आपने कभी कोई वृद्धि नहीं चाही जब कि उस विभागमें कार्य करनेवाले अन्य व्यक्तियोंके वेतनमें तिगुनी चौगुनी तक वृद्धि हो चुकी थी। आपकी इस सन्तोषवृत्तिके कुटुम्बी जनभी कायल थे, उसके कारण उनका बड़ा आदर करते थे।

आपके एक शिष्य पं० पारसदासजी निगोत्या ने अपनी 'ज्ञानसूर्योदयनाटककी' टीकामें पंडितजीका परिचय देते हुए उनके विषयमें जो विचार व्यक्त किये हैं उनसे पंडितजीकी आत्मपरिणति, चित्तवृत्ति और दैनिक कर्तव्यकी झांकीका अच्छा पता चल जाता है। वे पद्य इस प्रकार हैं—

'लौकिक प्रवीना तेरापंथ मांहि लीना,
मिथ्या बुद्धि करिछीना जिन आतम गुण चीना है।
पढ़ैं औ पढ़ावैं मिथ्या अलटकूं कढ़ावैं,
ज्ञान दाना देय जिन मारग बढ़ावै है।
दीसैं घर वासी रहें घरहूतै उदासी,
जिन मारग प्रकाशी जग कीरत जग भासी है।
कहां लौ कहीजे गुणसागर सुखदासजूके,
ज्ञानामृत पीय बहु मिथ्या-तिस-नासी है ॥१॥
जिनवर प्रणीत जिन आगमें सूक्ष्मदृष्टि,
जाको जस गावत अघावत नहिं सृष्टि है।
संशय-तम-भान संताप-सरमान रह,
सांचौ निज पर-स्वरूप भाषत अभीष्ट है।
ज्ञान दान वढ़त अमोघ छै पहर जाके,
आशाकी वासना मिटाई गुण इष्ट है।
सुखिया सदीव रहैं ऐसे गुण दुलभ,
पारस, आजमाई सदासुखजू पर दृष्टि है ॥२॥

इन पद्योंमें उल्लिखित दिन चर्यासे स्पष्ट मालूम होता है कि पंडितजी को ज्ञान गोष्ठी अथवा तत्व चर्चासे कितना अनुराग था और वे अपने समयको व्यर्थ नहीं जाने देते थे किन्तु उसे स्व-परके हित-साधनमें व्यतीत करते थे। उनका घरभी विद्याका केन्द्र बना हुआ था और ज्ञान-पिपासुजन वहाँ ज्ञानामृतका पान कर अपनी अज्ञानतृषाके सन्ताप को मिटाया करते थे। इस तरह पंडितजीका छह पहरका समय तो बहुत ही आनन्द और ज्ञानाराधना के साथ व्यतीत हो रहा था।

सेवा-कार्य

यों तो पं० सदासुखदासजीका सारा ही समय जैनधर्म और समाजकी सेवा करते हुए व्यतीत हुआ है। पर उनका विशेष सेवा कार्य महान ग्रन्थों की टीका कार्य है जिसे उन्होंने निःस्वार्थ भावसे सम्पन्न किया है। उनका यह टीका कार्य संवत् १९०६ से संवत १९२१ तक हुआ है इस १५ वर्षके अर्से में उन्होंने ७ ग्रन्थोंकी टीकाएं बनाई हैं। जिनके नाम इस प्रकार हैं:—

भगवती आराधना, तत्त्वार्थसूत्र, नाटक समयसार, अकलंक स्तोत्र, मृत्यु महोत्सव, रत्नकरण्ड श्रावकाचार और नित्यनियमपूजा संस्कृत।

इन सब कार्योंसे पंडितजीकी विद्वत्ता और सेवा कार्यकी प्रशंसा केवल जयपुर तक ही सीमित नहीं रही; किन्तु वह जयपुरसे बाहर आरा आदि प्रसिद्ध नगरों तक पहुँच चुकी थी। चुनांचे आरा-निवासी पंडित परमेष्ठीसहायजी अग्रवालने अपने पिता कीरतचन्द्रजी के सहयोगसे जैन सिद्धान्तका अच्छा ज्ञान प्राप्त किया था और बड़े धर्मात्मा सज्जन थे, और उस समय आरामें अच्छे विद्वान समझे जाते थे। उन्होंने साधर्मी श्री जगमोहनदासकी तत्वार्थ विषयके जानने की विशेष अभिरुचि देखकर स्व-परहितके लिये 'अर्थ प्रकाशिका' नामकी एक टीका पांच हजार श्लोक प्रमाण लिखी थी और फिर उसे संशोधनादिके लिये जयपुरके प्रसिद्ध विद्वान पं० सदासुखदासजीके पास भेजा था। पंडित सदासुखदासजीने संशोधन सम्पादनादिके साथ उस टीकाको पल्लवित करते हुये ग्यारह हजार श्लोक प्रमाण बनाकर वापिस आरा भेज दिया था। इस टीकाके सम्पादनकार्यमें उनका पूरे दो वर्षका समय लगा था। और उसे उन्होंने सं० १९१४ में वैशाख शुक्ला रविवारके दिन पूर्ण किया था। यह टीकाभी बहुतही प्रमेय-बहुल, सरल तथा रोचक है। जैसा कि उक्त ग्रन्थकी प्रशस्तिके निम्न पद्योंमे प्रकट है—

"पूरवमें गंगातट धाम, अति सुन्दर आरा तिस नाम।
तामें जिन चैत्याल लसैं, अग्रवाल जैनी बहु वसैं १३
बहु ज्ञाता तिनमें जुरहाय, नाम तासु परमेष्ठिसहाय।
जैन ग्रन्थमें रुचि बहुकरै, मिथ्या धरम न चितमें धरै १४
सो तत्त्वारथ सूत्रकी, रचो वचनिका सार।
नाम जु अर्थप्रकाशिका, गिणती पांच हजार ॥ १५
सो भेजी जयपुर विषैं, नाम सदासुख जास।
सो पूरण ग्यारह सहस, करि भेजी तिन पास ॥१६
अग्रवाल कुलश्रावक कीरतचन्द्र जु आरे मांहिसुवास।
परमेष्ठी सहाय तिनके सुत, पिता निकटकरि शास्त्राभ्यास ॥१७॥
किये ग्रंथ निज परहित कारण, लखि बहु रुचि जगमोहनदास।
तत्त्वारथ अधिगमसु सदासुख, रास चहुँ दिश अर्थप्रकाश ॥१८॥

इन सब उल्लेखोंसे पंडितजीके सेवा भावी जीवनकी झाँकीका बहुत कुछ चित्र सामने आ जाता है।

अन्तिम जीवन और समाधिमरण

पंडितजीका यह सुखद जीवन दुर्दैवसे सहन नहीं हुआ। और उनके अन्तिम जीवनमें एक ऐसी दुखद घटना घटी, जिसकी स्वप्नमें भी किसीको कोई कल्पनाही नहीं हो सकती थी। पर उन्हें अपना वृद्धावस्थामें इष्ट वियोग-जन्य असह्य दुःखकी वेदनाको सहसा उठाना पड़ा। अर्थात् उनके एक मात्र इकलौतेसुपुत्र गणेशीलालजीका बीस वर्षकी अल्पायु में ही अचानक स्वर्गवास हो गया। गणेशीलालजीका पंडितजीने केवल पालनपोषण ही नहीं किया था किन्तु पढ़ा लिखाकर सुयोग्य विद्वान भी बना दिया था। और समाजको उनकी सेवाका सुयोग्य अवसर प्राप्त होने ही वाला था कि कालने उसे बीचमें ही कवलित कर लिया। जो पंडितजी की आशालताओंका केन्द्र बना हुआ था और पंडितजी उसे अपना उत्तराधिकार सौंपकर सर्व प्रकारसे निश्चिन्त होकर अपना शेष जीवन शांतिसे व्यतीत करना चाहते थे। पर विधिने बीचमें ही रंगमे भंग कर दिया। फलतः परिणाम वही हुआ जो होना था। इस असह्य दुखद घटनाका आपके जीवनपर बहुत प्रभाव पड़ा।

उससे पंडितजीका उपयोग अब किसीभी कार्यमें नहीं लगता था और न चित्तमें पूर्व जैसी स्थिरताही थी। यद्यपि अन्तस्तलमें आत्म-विवेककी किरणें अपना प्रकाश कर रहीं थीं और वे कभी कभी उदित होकर सान्त्वनाकी अपूर्व रेखा सामने ला देती थीं, परन्तु चित्तमें वास्तविक शान्ति नहीं थी। यद्यपि पंडितजी अपनी दैनिक क्रियाओंका अनुष्ठान भी करते थे फिरभी उनमें पहले जैसी सरसता और उल्लासकी आभा दिखाई नहीं देती थी। पंडितजी संसारकी परिवर्तन-शीलतासे, और कर्म-बन्ध तथा उससे होनेवाले कटुक परिणामसे तो परिचित हो थे। अतः जब कभी वे वस्तु-स्थितिका विचार करते थे तब कुछ समयके लिए उनकी वह चिन्ता दूर हो जाती थी; परन्तु मोहोदयसे पुत्रके गुणोंका स्मरण आतेही वह पुनः व्यग्र हो उठते थे। यद्यपि उनके इस दुःखमें उनके शिष्य और मित्र तरह तरहसे सान्त्वना देनेका उपक्रम करते थे, और पंडितजी भी जब ज्ञान और वैराग्यकी विवेचना करते थे तब वे इतने आनन्द-विभोर होजाते थे कि मानो उन्हें अपनी इष्ट वियोगावस्थाका भान ही नहीं है। इसी बीच उनके एक शिष्य स्व० सेठ मूलचन्दजी सोनी पंडितजीको जयपुरसे अजमेर लेगये—वहां उन्हें कुछ अधिक शान्तिका अनुभव हुआ और कुछ समयके बाद उनकी चित्त-परिणति पूर्व जैसी होगई इससे उनके शिष्यों तथा मित्रों आदिको भी संतोष हुआ।

अजमेरमें कुछ समय ठहरनेके बाद पंडितजी को अपना इस पर्यायके अन्त होनेका भान होने लगा अतः सेठजीने जयपुरसे उनके प्रधान शिष्य पं० पन्नालालजी संघीको अपने पास बुला लिया। उस समय पंडित सदासुख दासजीने पंडित पन्नालालजी से अपनी हार्दिक अभिलाषा व्यक्त की और कहा कि "अब मैं इस अस्थायी पर्यायसे विदा होता हूँ। मैंने और मुझसे पूर्ववर्ती पंडित टोडरमल्लजी जयचन्द्रजी और पन्नालालजी आदि विद्वानोंने असीम परिश्रम करके अनेक उत्तमोत्तम ग्रंथोंकी सुलभ भाषावचनिकाएं बनाई हैं और अनेक नवीन ग्रन्थभी बनाए हैं, परन्तु अभी तक देश-देशान्तरोंमें उनका जैसा प्रचार होना चाहिये था वैसा नहीं हुआ है और तुम इस कार्यके सर्वथा योग्य हो, तथा जैनधर्मके मर्मको भी अच्छी तरह समझ गए हो, अतएव गुरु दक्षिणामें तुमसे केवल यही चाहता हूँ कि जैसे बने तैसे इन ग्रन्थोंके प्रचारका प्रयत्न करो वर्तमान समयमें इसके समान पुण्यका और धर्म की प्रभावनाका और कोई दूसरा कार्य नहीं है।" यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि पंडितजीके सुयोग्य शिष्य संघीजीने गुरुदक्षिणा देनेमें जराभी आना कानी नहीं की। और आपने अपने जीवनमें राजवार्तिक, उत्तर-पुराण आदि आठ ग्रन्थों पर भाषा वचनिकाएं लिखी है और सत्ताईस हजार श्लोक प्रमाण 'विद्वज्जनबोधक' नामके ग्रंथकाभी निर्माण किया है इसके सिवाय 'सरस्वतीपूजा' आदि कुछ पुस्तकें भी लिखी हैं तथा अन्यसाधर्मी भाइयों की सहायतासे एक 'सरस्वतीभवन' की स्थापना की थी, जिससे मांग आने पर ग्रन्थ बाहर भेजे जाते थे इस कार्यको आप अपने गुरुकी अमानत समझते थे और उसका जीवनपर्यन्त तक निर्वाह करते रहे[1]।

आपका पं० सदासुखदासजीसे वि० सं० १६०७ के मध्यवर्ती किसी समय साक्षात्कार हुआ था। पन्नालालजी रतनचन्द्रजी वैद्य दूनीवालोंके सुपुत्र थे और वे पन्नालालजीको पढ़ा लिखा कर सुयोग्य विद्वान बनाना चाहते थे, अस्तु पंडितजीके सदुपदेश से ही संघीजीकी चित्तवृत्ति पलट गई और धर्म-ग्रन्थोंके अभ्यासको ओर उनका चित्त विशेषतया उत्कंठित हो उठा, और उन्होंने प्रतिज्ञा की कि मैं आजसे रात्रिको १० बजे प्रतिदिन आपके मकानपर आकर जैन धर्मके ग्रन्थोंका अभ्यास एवं परिशीलन किया करूंगा। जब संघीजी अपनी प्रतिज्ञानुसार पंडित सदासुखदासजीके मकानपर रात्रिके १० बजे पहुँचे तब पंडितजीने कहा कि आप बड़े घरके है—सुखिया हैं—अतः आपसे ऐसे कठिन प्रणका निर्वाह कैसे हो सकेगा उत्तरमें संघीजीने उस समय तो कुछ नहीं कहा पर वे नियम-पूर्वक उनके पास पहुँचते

१ विद्वज्जनबोधक प्रस्तावना पृ० ६-७।

रहे और धार्मिक ग्रन्थोंका अभ्यास कर जैनधर्मके तत्त्वोंका परिज्ञान प्राप्त किया।

पंडितजीको जब अपनी इस अस्थायी पर्याय के छूटनेका आभास होने लगा, तब उसी समय सर्व संकल्प विकल्पोंका परित्याग कर समाधिमरण करानेकी भावना शिष्योंसे व्यक्त की। यद्यपि समाधिमरण करनेको उनकी यह भावना संवत १६०८ में समाप्त होने वाली भगवती आराधनाकी टीका प्रशस्तिके निम्न दोहों में पाई जाती है जिससे यह सहजही जाना जाता है कि वे अपनी इस अस्थायी पर्याय का परित्याग कषाय और शरीरकी कृशता-पूर्वक शांतिके साथ करना चाहते थे। और संयमसहित परलोक पानेकी उनकी अपनी कामना थी।

"मेरा हित होनेको और, दीखै नाहिं जगतमें ठौर।
यातैं भगवति शरण जु गही, मरणआराधन पाऊं सही
हे भगवति तेरे परसाद, मरणसमै मति होहु विषाद।
पंच परमगुरु पद करि ढोक, संयम सहित लहूँ परलोक"

चुनाँचे पंडितजीने अपने शिष्योंके सहयोगसे अपने शरीर का परित्याग समाधिमरण पूर्वक अजमेरमें संवत १९२३में या १९२४ के प्रारंभमें किया था। पर उसकी निश्चित तिथि का प्रामाणिक उल्लेख न मिलनेसे उसे यहाँ नोट नहीं किया गया।

इस तरह पंडित सदासुखदासजीका समय वि० सम्वतको १६ वीं शताब्दी उत्तरार्ध और २०वीं शताब्दी पूर्वार्ध है। क्योंकि पंडितजीने अपनी पहली टीकाका निर्माण सं० १६०६ मे ५४ वर्षकी अवस्था के लगभग शुरू किया था और उसे दो वर्षमें बनाकर समाप्त किया था। आपको यह टीका प्रौढ़ावस्थामें लिखी गई है। और सब टीकाएं इसके बादकी ही रचनाएं हैं।

भारतीय जनतन्त्रका विशाल विधान

(ले०—विश्वम्भरसहाय प्रेमी)

लगभग तीन वर्षके कठिन परिश्रमके उपरान्त भारतीय विधान परिषद्ने २६ नवम्बर १९४९ को भारतीय प्रजातन्त्रका विधान बनानेका दुस्तर कार्य पूर्ण कर दिया। इस संविधानके द्वारा भारत को सर्वाधिकारपूर्ण प्रजासत्तात्मक जनतन्त्र घोषित किया गया है। भारतीय संविधानके इस स्वरूपका निर्देश विधान परिषद्के अध्यक्ष डा० राजेन्द्रप्रसाद ने अपने उस भाषणमें किया था, जो उन्होंने २६ नवम्बरको संविधानकी अन्तिम स्वीकृति होते समय दिया। आपने कहा था—"आइये, हम अपने विश्वासके साथ सत्य और अहिंसाके साथ, अपने हृदयमें साहस भर कर और अपने ऊपर परमात्मा की छत्रछाया मानकर अपने इस स्वतन्त्र भारतके संचालनका कार्य आरम्भ करें।" अपने इसी भाषणमें अपने जनता-जनार्दनके प्रति उचित सम्मान प्रकट करते हुये भारतके ग्रामीण लोगोंमें अपना विश्वास प्रकट किया था, जो वास्तवमें भारतको जान हैं, और नये मतदाताओंमें जिनकी संख्या सर्वाधिक है।

अपने इस भाषणमें आगे चलकर डा० राजेन्द्रप्रसादने यह भी कहा कि "भारत लोकतन्त्र प्रणालीसे बहुत पुराने समयसे परिचित है, परन्तु यह लोकतन्त्र छोटा था। अब जिस ढंगका लोकतन्त्र भारतमें होने जा रहा है, वैसा पहिले कभी न था—यद्यपि तब और मुगलकालमें भी साम्राज्य था जो देशके बड़े भागमें फैला था। यह पहला ही अवसर

है कि जब छोटे-से-छोटा और गरीब-से-गरीब नागरिक भी इस महान देशका जो कि दुनियाके सबसे बड़े राज्योंमेंसे है, राष्ट्रपति हो सकता है। यह मामूली बात नहीं है।" महात्मा गाँधीजी ने तो यहां तक कहा था कि मैं चाहता हूँ कि एक योग्य हरिजन लड़की भारतकी प्रथम राष्ट्रनत्री हो।

इसीमें भारतीय संविधानको राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक पृष्ठभूमिक दर्शन मिल जाते है।

संविधानकी राजनीतिक पृष्ठभूमि

भारतीय संविधानकी प्रस्तावनाको पढ़नेसे स्पष्ट हो जाता है कि देशकी सरकारको सम्पूर्ण प्रभुता भारतकी जनतासे प्राप्त होती है। सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक न्याय, विचार, विश्वास, तथा धार्मिक पूजाविधिकी स्वतन्त्रता नागरिकताके अधिकारों और विकासके अवसरोंमें समानता तथा ऐसा भ्रातृत्व जिसमे व्यक्तिका सम्मान हो और राष्ट्रकी एकता बनी रहे—यही तो प्रजासत्तात्मक शासन प्रणालीकी मुख्य विशेषताएं है यह सभी विशेषताएं भारतीय संविधानकी प्रस्तावनामें उनके मुख्यउद्देश्योंके रूपमे रखदी गई है। विधानको जनतन्त्रात्मक इसलिए भी कहा जायेगा कि भारतके प्रधान अधिशासकका कोइ पद पैतृक अधिकारसे प्राप्त होने वाला पद न होकर योग्यता तथा चुनावके द्वारा मिलने वाला पद होगा।

यहां हमे भारतीय संविधानकी तुलना संयुक्त-राष्ट्र अमेरकाके विधानसे करनेपर एक विचित्रताका पता चलेगा। दोनों हो संविधान संघीय ढांचेके हैं और दोनोंमें प्रधान अधिशासक जनता द्वारा निर्वाचित राष्ट्रपति होगा। किन्तु भारतीय संविधानमें इस बातका प्रयत्न किया गया है कि इकाइयोंके मामलेमें सभी आधारभूत बातोंमें एक सदृशता लाई जावे, जिससे भारतीय संघ सरकार सुदृढ़ हो सके। यद्यपि भारतीय संविधानका स्वरूप संघीय होनेके कारण उसमें द्विविध व्यवस्था होनी चाहिये थी, परन्तु देशके शासनमें दृढ़ता लानेके लिये आधारभूत बातोंमें एक सदृशता रखी गई है। उदाहरणके लिये अन्य संघीय संविधानोंके विपरीत भारतीय संविधानमें द्विविध नागरिकता नहीं रखी गई है। सारे संघके लिये केवल एक भारतीय नागरिकका विधान किया गया है और राज्योंके लिये कोई पृथक् नागरिकता नहीं रखीगई है। इसी प्रकारसे दीवानी और फौजदारी कानूनों और न्याय व्यवस्थामें भी एकता संघको दृढ बनानेका एक साधन है। भारतीय संविधानको एक और विशेषता यह भी है कि किसी भी राज्यको संघसे पृथक होने अथवा अपना संविधान स्वयं बना लेनेका अधिकार नहीं दिया गया है।

भारतीय संविधानकी एक और विशेषता यह भी रखी गई है कि आवश्यकता पड़नेपर उसका संघीय स्वरूप समाप्त हो सकता है और एकात्मक विधान के रूपमें व्यवहारमें लाया जा सकता है। साधारण परिस्थितियोंमें इस प्रकारका कदम उठाये जानेकी कोई आवश्यकता नहीं पड़ेगी। परन्तु युद्ध कालमें अथवा किसी भी राष्ट्रीय संकटके समयमें सारा देश एकात्मक राज्यके रूप बदला जा सकता है।

संविधानमें व्यक्तिका स्थान

भारतीय संविधानकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें व्यक्तिके अधिकारोंकी बड़ी विशद और विस्तृत घोषणा की गई है। सम्भवत: संसार भरके किसी भी विधानमें इस प्रकारकी विशद घोषणा नहीं की गई है इसके दो कारण समझमें आते हैं। भारतमें सामाजिक असमानता इतनी अधिक रही है, और इसी असमानताके आधारपर शोषण इतने दिनों तक चला है कि निम्न वर्गके कहे जाने वाले शोषितोंको प्रत्येक प्रकारका संरक्षण और आश्वासन दिया जाना आवश्यक था। ऐसाभी लगता है कि भारतीय विधान-निर्माताओंके सामने अमेरिकाके संविधानका उदाहरण भी मौजूद था। बजाय इसके कि भारतके सर्वोच्च न्यायालयको व्यक्तिके मूल अधिकारोंकी व्याख्या करनेका अवसर दिया जाता, संविधानमें हो इन मूल अधिकारोंकी घोषणा कर

दी गई हैं। संविधानके द्वारा व्यक्तिको दिये गये अधिकार मुख्य रूपसे निम्न हैं—

(१) समानताका अधिकार।
(२) स्वतंत्रताका अधिकार।
(३) शोषणके विरोधका अधिकार।
(४) धार्मिक स्वतंत्रताका अधिकार।
(५) सांस्कृतिक तथा शिक्षा संबंधी अधिकार।
(६) सम्पत्तिसम्बन्धी अधिकार।
(७) वैधानिक संरक्षणका अधिकार।

संविधानमें यह भी कह दिया गया है कि इन मौलिक अधिकारोंका सिद्धांत रूपमें विरोध करनेवाला कोई भी कानून यदि राज्यको धारासभा स्वीकृत भी करेगी तो वह कानून व्यवहारमें नहीं लाया जा सकेगा। विधानकी १४वीं धारामें कानूनके आगे प्रत्येक व्यक्तिको समानताकी गारण्टी दी गई है। धर्म, विश्वास अथवा रंगके आधारपर किसी भी प्रकारका भेद-भाव राज्यके कामोंमें नहीं किया जायगा। यह सब कुछ होते हुए भी विधानकी १७वीं धारामें अछूतपनके कलंकको मिटानेके लिये विशेष रूपसे व्यवस्था की गई है और इस प्रकारसे व्यक्ति की समानताके अधिकारकी पूर्ण रूपसे पुष्टि कर दी गई है।

१६वीं धारामें नागरिकोंको भाषण करने तथा विचार प्रगट करने, एकत्र होने तथा संस्थायें बनाने, आवागमन, निवास, सम्पत्ति प्राप्त करने, रखने तथा हस्तांतरित करने, कोई भी उद्योग, धधा, व्यवसाय या आजीविका अपनानेकी स्वतंत्रता दी गई हैं। हवियसकार्पसके सिद्धांतको विधानकी २०वीं तथा २१वीं धारामें निहित कर दिया गया है, जिसमें कहा गया है कि किसी भी व्यक्तिको बिना कानूनी कार्यवाहीके उसकी स्वतंत्रतासे वंचित नहीं किया जा सकता। २२वीं धारा द्वारा व्यक्तिकी मनमानी गिरफ्तारी और अनिश्चित काल तककी नजरबन्दीके विरुद्ध व्यवस्था की गई है। इसमें यह भी कहा गया है कि नजरबन्द व्यक्तियोंको अपनी इच्छाके अनुसार किसी भी कानूनी सलाहकारसे सलाह लेनेका अधिकार रहेगा।

२३वीं धारामें मानवका क्रय-विक्रय तथा बेगार अपराध बनाये गये हैं और २४वीं धारामें कहा गया है १४ वर्षको अवस्थासे कमका कोई बालक फैक्टरी या खान अथवा किसी खतरनाक कार्यमें नहीं लगाया जायगा।

धारा २५ से ३० तक में धार्मिक, सांस्कृतिक तथा शिक्षासम्बन्धी अधिकारोंका उल्लेख किया गया है।

३१वीं धारामें इस मौलिक सिद्धांतको प्रगट किया गया है कि कानूनी तरीकेके सिवाय, अन्य किसी तरीकेसे किसी भी व्यक्तिको उसकी संपत्ति से वंचित न किया जायगा। जिस किसी भी संपत्ति का अधिकार या स्वामित्व सार्वजनिक हितके लिये लिया जायगा, उसकी क्षतिपूर्ति की जायगी।

धारा ३२ में वह संरक्षण दिये गये हैं जिनके द्वारा व्यक्तिके मौलिक अधिकारोंकी गारंटी दी गई है। संविधान द्वारा प्रदान किये गये अधिकारोंको कार्यान्वित करानेका उत्तरदायित्व देशके सर्वोच्च न्यायालयको दिया गया है, जो सदैव इस बातके लिए सजग रहेगा कि व्यक्तिके मौलिक अधिकारोंपर कोई भी कुठाराघात न हो सके।

संविधानकी सामाजिक और आर्थिक पृष्ठभूमि

भारतीय संविधानके चतुर्थ खंडमें राष्ट्रनीतिके आदेशात्मक सिद्धांतोंकी घोषणा की गई है। इसमें कहा गया है कि राज्य जनताकी सुख-सुविधाको बढ़ानेके लिये सदा यत्नशील रहेगा और उसके लिये वह इस प्रकारकी सामाजिक व्यवस्था पैदा करेगा, जिसमें सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय प्रत्येक व्यक्तिको प्राप्त हो सके। विशेष रूपसे राज्य इस बातके लिये यत्नशील रहेगा कि प्रत्येक नागरिक को वह चाहे स्त्री हो या पुरुष आजीविका प्राप्त करनेका अधिकार होगा।

इसी खंडमें यह भी कहा गया है कि राज्य देखेगा कि देशके उत्पादक साधनोंके स्वामित्व और नियन्त्रणका इस प्रकारका बंटवारा हो जिससे सब का अधिक-से-अधिक लाभ और कल्याण हो सके।

इसीमें कहा गया है कि आर्थिक व्यवस्था ऐसी न हो जाय जिससे कुछ व्यक्तियोंके हाथोंमें सारी संपत्ति केन्द्रित हो जाय और आम जनताका उससे अहित हो।

यह आदेशात्मक व्यवस्था भारतके लिये नई चीज नहीं है। वास्तवमें यही चीजें थीं जिनके लिये कांग्रेस इतने दिनोंसे आजादीका संघर्ष चलाती रही राजनैतिक स्वतंत्रता उस समय तक बेकार है जब तक जनताको आर्थिक रूपमें स्वतंत्रता और समानता प्राप्त न हो। जो मौलिक अधिकार और सिद्धांत इस संविधानमें रखे गये हैं उनमें बहुत से करांची कांग्रेसके प्रस्तावमें निर्धारित किये जा चुके थे। कांग्रेसके कई चुनावघोषणा-पत्रोंमें भी उनका उल्लेख किया जा चुका है। कई इसमेंसे ऐसे आधारभूत सिद्धांत भी हैं जिनको राष्ट्रपिता महात्मागांधी राष्ट्रीय कार्यक्रमका आधार समझते थे। एक प्रकार से यह कहा जा सकता है कि पिछले पचास वर्षोंमें जिन अधिकारों तथा सिद्धांतोंके लिये हमारे राष्ट्रने अपना स्वाधीनता-संग्राम चलाया उन्हीं अधिकारों और सिद्धांतोंको इस संविधानमें विशेष स्थान दिया गया है।

ऊपर कहा जा चुका है कि इस संविधानमें व्यक्तिके अधिकारोंकी इतनी विशद व्याख्या इस कारण आवश्यक हुई है क्योंकि सामाजिक रूपमें यहांकी जनताका एक काफी बड़ा भाग पददलित रहा है। और आर्थिक रूपमें उससे भी बड़ा भाग शोषित होता रहा है, इसी कारण समाजके इस अंगके लिये संविधानमें विशेष व्यवस्था की गई है। परिगणित जातियों और पिछड़े हुये कबीलों तथा कुछ अन्य पिछड़े हुये क्षेत्रोंके लिये संविधानके पांचवें और छठे परिशिष्टमें शासनप्रबन्धकी विशेष व्यवस्था मिलती है। परिगणित जातियों और पिछड़े हुये कबीलोंके लिये दस वर्ष तक जन-संख्याके आधार पर केन्द्र तथा राज्योंकी धारासभाओंमें सीटें सुरक्षित की गई हैं।

सहानुभूतिशून्य आलोचना

इस संविधानमें किसी विशेष आर्थिक व्यवस्था का उल्लेख नहीं किया गया है। संविधानने न तो देशको समाजवादी बनाया है और न साम्यवादी। पूंजीवादी व्यवस्थाभी संविधानमें नहीं की गई है। इस संविधानके प्रति की गई समाजवादियोंकी आलोचनाका मूल आधार यही है कि कार्यरूपमें इसके द्वारा पूंजीवादका पिष्टपेषण होता रहेगा। उनका कहना है कि कॉंग्रेसने सदैव कुटीर, उद्योगों, खादी ग्राम व जनताका नाम लेते-लेते भी पूंजीपतियोंको बल प्रदान किया है। इस प्रकारकी आलोचना केवल सहानुभूतिकी कमीके कारण ही हैं। विधानमें इस बातकी पूर्ण गुंजाइश रखी गई है कि जनताकी इच्छाओंके अनुकूल देश किसीभी आर्थिक व्यवस्थाको अपना सके। यदि अधिकांश जनमत देशमें समाजवादी या साम्यवादी अर्थव्यवस्था चाहता हैं तो उस जनमतका प्रतिनिधित्व करने वाली सरकार इसी संविधानके ढांचेमें रह कर देशमें वैसी ही आर्थिक व्यवस्था ला सकती है। वह किसी भी उद्योगका राष्ट्रीयकरण कर सकती है। युक्तप्रान्तमें जिस ढंगसे जमींदारी उन्मूलन किया जा रहा है वैसे ही अन्य राज्योंमें भी सरकार और भूमि जोतने वालोंके बीच मध्यवर्तियोंको हटायाजा सकता है और यदि आम जनता चाहे तो यहांभी रूसके ढंगकी सामूहिक कृषिकी व्यवस्थाकी जा सकती है। यह एक दुर्भाग्यकी बात है कि प्रत्येक देशमें किसान के असन्तोषका लाभ उठाकर लोग क्रान्ति किया करते हैं और फिर क्रान्तिके सफल हो जानेपर किसानकी वैयक्तिक स्वतन्त्रता छीनकर उसे सामूहिक कृषिशालामें मजदूर बननेके लिये भेज दिया जाता है। भारतका किसान वैयक्तिक स्वतन्त्रताका सबसे बड़ा पक्षपाती है। जिस गतिसे युक्तप्रान्तमें जमींदारी उन्मूलनका कार्य चल रहा है, यदि उसी गतिसे अन्य स्थानोंमें से भी जमींदारियाँ हटा दी गईं तो फिर किसानका असन्तोष दूर हो जायगा और भारत में साम्यवादी अथवा तानाशाही क्रान्ति सफल नहीं हो सकेगी।

मूल इकाइयोंमें स्वायत्त शासन

संविधानकी ४० वीं धारा अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसमें कहा गया है कि "सरकार गांव-पंचायतें संगठित करनेका यत्न करेगी और उन्हें ऐसे अधिकार और सत्ता प्रदान करेगी जो गाँव-पंचायतोंके स्वायत्त शासनकी इकाइयोंके रूपमें कार्य करनेके लिये प्रयोजनीय हों।" यह भी वह मौलिक सिद्धान्त है जिसके लिये कांग्रेस इतने दिनोंसे प्रयत्नशील थी। कांग्रेस तथा महात्मा गांधीजीका विश्वास था कि सच्ची स्वतन्त्रता तभी कार्यान्वित हो सकती है जब कि नीचेके स्तरपर की इकाइयां—अर्थात हमारे ग्राम—स्वतन्त्र जनतन्त्रके रूपमें बनाये जा सके।

यह कोई नवीन बात नहीं है। गोस्वामी तुलसीदासकी मंथराको हम कहते हुए सुनते है—"कोउ नृप होउ हमें का हानी"। इसका अभिप्राय यह नहीं था कि इस देशकी आम जनताको राज्य और राज्यनीतिसे कोई सरोकार नहीं था, बल्कि इसका एकमात्र अभिप्राय यही था कि सारे देशमें पंचायतोंका ऐसा जाल फैला हुआ था और उनके अधिकार इतने विस्तृत थे कि आम जनताको इस बातका कभी पता भी नहीं चलता था कि केन्द्रमें कितने भारी परिवर्तन हो गये हैं। सच्चाई तो यह भी है कि भारत विदेशियोंके इतने आक्रमणोंको अपनी ग्रामव्यवस्थाके कारण ही झेल सका है। यदि उसका ग्रामसंगठन इतना शक्तिशाली न होता तो प्रत्येक विदेशी आक्रमणके बाद देश तहस-नहस हो गया होता। इतनी उच्च कोटिका स्वायत्त शासन सम्भवतः विश्वके किसी भी विधानमें नहीं रखा गया है। रूसमें भी व्यक्ति और आधारभूत इकाइयोंको इतने विस्तृत अधिकार नहीं दिये गये हैं। वहां तो पार्टी-मैशीन इतनी शक्तिशाली है कि वहांका सम्पूर्ण विधान देखनेमें संघीय और पूर्ण रूपसे जनतंत्रात्मक होते हुए भी वहां एकच्छत्र तानाशाही शासन संभव हो सका है। भारतीय संविधानमें आधारभूत इकाइयों, अर्थात् ग्रामोंको स्वायत्त शासन देते समय चुनावप्रणाली ऐसी रखी गई है कि किसी भी समय किसी दल-विशेषको संविधानकी आत्माके विपरीत उसे तानाशाही विधानमें बदलनेका अवसर न मिल सके।

अन्तमें सभी बातोंको ध्यानमें रखते हुए कहा जा सकता है कि भारतीय संविधानके अन्तर्गत जनताकी आशाओं और आकांक्षाओंके अनुकूल विकास और प्रगतिकी पूर्ण गुंजाइश है।

'नवयुग'

सम्राट् अशोकके शिलालेखोंकी अमरवाणी

(श्री निर्द्वन्द)

महाराज अशोकसे तो सभी परिचित हैं। उन्हीं-का चक्र हमारी राष्ट्रीय ध्वजामें विराजमान है। उन्होंने समय समय पर जो शिलायें बनवाई थीं, और उनपर उनके जो धार्मिक उपदेश लिखे हुये हैं, वे विचारणीय हैं, अतः कुछ शिलाओंके लेख नीचे दिये जाते है।

प्रथम लेख—यह पवित्र शिलालेख महाराजाधिराज प्रियदर्शिनद्वारा लिखा गया है।

"यहाँ (राजधानीमें) कोई पशुबलिदानके लिये न मारा जाए। न त्योहार मनाए जाएं। क्योंकि प्रियदर्शिन राजा उनमें बहुतसे दोष देखता है। कोई कोई त्योहार बड़े बुरे हैं, वे नत्रोंके सामने भी न पड़ें।

पहले प्रियदर्शिनके भोजनालयमे बहुतसे जो.वत पशु कढ़ी बनानेके लिये मारे जाते थे।

पर अब, जब यह पवित्र शिलालेख लिखा जा रहा है, केवल तीन पशु अर्थात् दो मोर और एक मृग प्रतिदिन मारे जाते हैं, और कभी कभी यह भी नहीं।

ये तीनों भी भविष्यमें न मारे जायेंगे।"

द्वितीय लेख—"मनुष्य तथा पशुओंके सुखके लिए प्रबन्ध।

महाराज प्रियदर्शिनके राज्यमें और आधोनस्थ राज्योंमें जैसे चोला, पाँडया, सातिया पुत्र कोलपुत्र, तथा अन्य स्थानोंमें राजा प्रियदर्शिनकी ओरसे दो प्रकारके उपाय (औषधालय) किये गये है। एक पशुओंके लिये और दूसरा मनुष्योंके लिये। औषधियोंकी जड़ी बूटियाँ जो मनुष्य और पशुओंको लाभ पहुँचा सकती हैं प्रत्येक स्थानों पर जहां नहीं होती है, भेज दी गई हैं और उत्पन्न कराई गई हैं।

उसी प्रकारसे कन्द तथा फल, जहां कम थे वहां भेजे और उगाये गये है।

सड़कों के किनारे पेड़ लगा दिये गये हैं और मनुष्य और पशुओंके हेतु कुएं खुदवाये गये हैं।"

तृतीय लेख—महाराजा प्रियदर्शिन इस प्रकार से कहते हैं—

"मैं अपने राज्यके तेरहवें वर्षमें निम्न घोषणा करता हूँ—

मेरे राज्यमें प्रत्येक स्थानपर कर्मचारी कर वसूल करनेवाले प्रबन्ध करनेवाले, प्रति पांचवें वर्ष एक साधारण सभा किया करें जिसमें दया धर्मके नियमोंकी घोषणाके अतिरिक्त यह कहा जाय कि मां बापको आज्ञा मानना अच्छा है, मित्रों, सम्बन्धियों, ब्राह्मणों, साधुओंके साथ नम्र व्यवहार करना अच्छा है। जीवनकी पवित्रताका आदर करना अच्छा है। भाषा (बोल-चाल) की तीव्रता तथा फक्कड़पनको दूर करना अच्छा है।

उपदेशकगण इन बातोंका विवरण लेखों द्वारा तथा अपने आचार द्वारा प्रजाको समझा दें।

चतुर्थ लेख—सैकड़ों वर्ष बीत होंगे, बहुत समय से जीवोंकी हिंसा करना, पशुओंपर अत्याचार करना, सम्बन्धियोंका निरादार करना, ब्राह्मण-साधु सन्तोंका अपमान करना चला आया है।

पर अब महाराजा प्रियदर्शिन दयाशस्त्रसे, युद्धके नगाड़े बजाकर नहीं, वरन दयाके नगाड़े बजाकर, जब कि जनता रथों, घोड़ों तथा आतशबाजीके दृश्यों को देख रही है, राजा प्रियदर्शिन इस बातकी, जो सैकड़ों वर्षोंसे नहीं हुई, दया धर्मकी रक्षाके, लिये घोषणा करता है कि पशुओंका हनन बन्द हो, उन

पर अत्याचार न किये जायें। ब्राह्मण, सम्बन्धियों साधुओंका आदर किया जाए। माता-पिता तथा बड़ोंकी आज्ञा मानी जाए।

अब बहुत-सी अन्य रीतियों द्वारा दयाका प्रचार हो रहा है। और राजा प्रियदर्शिन उसमें वृद्धि करने का यत्न करेगा।

महाराजाधिराज प्रियदर्शिनके लड़के, पोते, परपोते संसारके अन्त तक इस कार्यमें वृद्धि करेंगे और दयाधर्मी तथा सदाचारी बनकर दयाका प्रचार करेंगे। क्योंकि दयाका पालन करना व्यभिचारियों का काम नहीं है।

इस विषयकी उन्नति तो अच्छी है पर पतन अच्छा नहीं है।

इस लेखका उद्देश्य यही है कि मनुष्य इसकी वृद्धि करें और अवनति करके दुःख न पावें।"

यह महाराजा प्रियदर्शिनकी आज्ञासे उसके राज्यके तेरहवें वर्षमें लिखा गया है।

पञ्चम लेख—

नियमका पूर्ण पालन करना।

"महाराजा प्रियदर्शिनकी इच्छा है कि प्रत्येक स्थानोंमें प्रत्येक धर्मके पुरुष इसका पालन करें, क्योंकि वे सब जितेन्द्रिय बनना और मन पवित्र करना चाहते है।

ठीक है मनुष्य अपनी इच्छाओं और अपनी आकांक्षाओंमें अस्थायी है।

कुछ धर्मावलम्बी कुलका पालन करेंगे और कुछ थोड़ेका ही। कुलका तो पालन करना सदाचारी पुरुषोंके लिये भी असम्भव है क्योंकि जितेन्द्रिय बनना, मनको पवित्र करना, उदार तथा कृतज्ञ बनना प्रत्येकका कार्य नहीं है।"

छठा लेख—"प्राचीन समयमें राजा, महाराजा भ्रमणके हेतु जब निकलते थे, तब आनन्द प्राप्त करना विशेषतया मृगयाद्वारा मन बहलाना उनका काम था।

पर प्रियदर्शिन राजा अपने राज्यके ग्यारहवें वर्षमें सत्य ज्ञानकी खोजके लिये निकला उसने दया धर्मका प्रचार किया, ब्राह्मण और साधुओंका आदर करना बताया, बड़ोंकी आज्ञा माननेको कहा, दयाधर्मपर विवाद किए, और उसकी घोषणा की।

इस प्रकार प्रियदर्शिनको आनन्द प्राप्त करनेकी और ही रीति है जो प्राचीन रीतिसे सर्वथा भिन्न है।

आशा है राजा और प्रजा इन शिलालेखोंसे कुछ लाभान्वित होंगे।

'नवयुग'

जैन धातु-मूर्तियोंके लेख—इसी किरणमें अन्यत्र श्री अगरचन्दजी नाहटाका 'जैन धातु-मूर्तियोंकी प्राचीनता' शीर्षक एक लेख मुद्रित हो रहा है। उसमें आपने अनेक धातु-मूर्तियोंको पहली-दूसरी आदि शताब्दियोंका भी होना उल्लेखित किया है। वह विचारणीय है और विशेष प्रकाशकी अपेक्षा रखता है। अतः उन लेखोंका फोटो तथा अन्य सहायक साधन सामग्री प्रकाशमें लाना चाहिये।

—स० सम्पादक।

साहित्य-परिचय और समालोचन

जीवन-साहित्य-(विश्व-शान्ति अंक) अहिंसक नवरचनाका प्रमुख मासिक पत्र, सम्पादक श्री हरिभाऊ उपाध्याय तथा श्री यशपाल जैन, प्रकाशक सस्ता साहित्य मण्डल, नई देहली, वार्षिक मूल्य ४), इस अंकका १।।)।

प्रस्तुत मासिक विगत ग्यारह वर्षोंसे प्रकाशित होरहा है। यह हिन्दीके उच्च कोटिके पत्रोंमें प्रमुख और अहिंसक नव रचनाका अप्रतिनिधि पत्र है गांधीजीके सत्य और अहिंसा सिद्धान्तोंका प्रचार करनेवाला यह खास पत्र है। भारतने सदा ही विश्वको शान्तिका मार्ग दिखाया है। ढाई हजार वर्ष पूर्व भगवान् महावीर और भगवान् बुद्धने संसारको जिन सिद्धान्तोंका उपदेश देकर विश्वमें शान्ति तथा सुखकी समृद्धि की थी आज उन्हीं सिद्धांतोंका पुनः गांधीजीने विश्वको उपदेश देकर शान्तिका मार्ग प्रशस्त किया है। गत दिनों देशके विभिन्न भागोंमे विश्वके शान्ति-इच्छुकोंके शान्ति-सम्मेलन हुए थे और उन्हें बापूके मार्गद्वारा शांति स्थापित होना बतलाया गया था। इस अंकमें उसी उद्देश्यकी पूर्तिका प्रयत्न हुआ है। इसमें देश-विदेशके आचार्य विनोवा, डा० राजेन्द्रप्रसाद, श्री अरविंद-श्री माताजी, श्री होरेस अलेक्जेण्डर, महात्मा भगवानदीन, श्री काका कालेलकर, श्री किशोरलाल घ. मशरूवाला, श्री हरिभाऊ उपाध्याय, डा० प्रफुल्लचन्द्र घोष, श्री राजकुमारी अमृतकौर, श्री दादा धर्माधिकारी, डा० कैलाशनाथ काटजू, श्री बनारसीदास चतुर्वेदी, श्री जैनेन्द्रकुमार, श्री कमलनयन बजाज, श्री एस. जी. वैरिंगटन, श्री कैलाशचन्द्र शास्त्री, स्वामी सत्यभक्त, श्री यशपाल जैन, श्री डा० वासुदेवशरण अग्रवाल जैसे ४२ विद्वानोंके विचारपूर्ण लेख प्रकाशित हैं और जो सभी पठनीय हैं। जीवनसाहित्यका प्रत्येक अंक महत्वका होता है किंतु यह अंक पिछले सभी अंकों और विशेषांकोंसे भी अच्छा बन पड़ा है और जिसके लिये उसके सुयोग्य सम्पादकोंको धन्यवाद दिये बिना नहीं रहा जा सकता।

ज्ञानोदय-(विश्व-शांति अंक), श्रमणसंस्कृतिका अग्रदूत मासिक, सम्पादक मुनिकांतिसागर, पं० फूलचन्द्र सिद्धांतशास्त्री, प्रो. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, इस अंकके सहायक विष्णुप्रभाकर। प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ काशी। वार्षिक मूल्य ६), इस अंकका १।)।

यह मासिक भारतीय ज्ञानपीठ काशीसे उक्त सुयोग्य सम्पादकोंके सम्पादकत्वमें गत जुलाई माससे प्रकाशित हुआ है। प्रस्तुत अंक उसका विश्व-शांति विशेषांक है। इसमें देश-विदेशके प्रख्यात कोई ३३ विद्वानोंके महत्वपूर्ण लेख निबद्ध हैं और जो ध्यानसे पढ़ने योग्य हैं। ये सभी लेख विश्व-शांति की दिशा बतलानेवाले हैं। यदि इस प्रकारका साहित्य देश-विदेशके कोने-कोनेमें पहुँचे तो कोई असम्भव नहीं कि दुनिया उन्हें न पढ़े और पढ़नेपर उनपर कोई असर न हो। ऐसे साहित्यकी सृष्टि जहाँ हिन्दीके भण्डारको समृद्ध बनाती है वहाँ पाठकोंको मानसिक स्वस्थ एवं आल्हादकारक भोजन भी प्रदान करती है। पत्रके सुयोग्य सम्पादकों और ज्ञानपीठ काशीका यह सामयिक प्रयत्न सराहनीय है।

दरियागंज, देहली। —दरबारीलाल जैन,
१७ फरवरी १९५०,

आप्तपरीक्षापर डा० ए.एन. उपाध्ये एम.ए. की सम्मति

जैन समाजके प्रख्यात साहित्यसेवी डा० ए. एन. उपाध्ये एम.ए., प्रोफेसर राजाराम कालेज कोल्हापुर ने वीरसेवामन्दिरसे प्रकाशित आप्तपरीक्षाके नवीन संस्करणपर न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल कोठियाको प्रतिकी पहुंच भेजते हुये अपनी शुभ सम्मति भेजी है। उसमें आपने लिखा है—

'आप्तपरीक्षाकी प्रति मुझे मिल गई। आपकी प्रस्तावना सरसरी निगाहसे मैंने पढ़ ली है। वह बहुत व्यवस्थित, विद्वत्तापूर्ण और साम्यग्दृष्टिसे लिखी गई है। आचार्य विद्यानन्दीके बारेमें आपकी प्रस्तावना एक व्यापक और प्रामाणिक निबन्ध है। आप्तपरीक्षाकी यह आवृत्ति जैनन्यायका अभ्यास करने वालोंके लिये बहुत उपकारक होगी; इसमें मुझे कुछ भी सन्देह नहीं है। मैं आपका हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ। और आगे आपसे बड़े २ ग्रन्थोंका विद्वत्तापूर्ण सम्पादन होनेकी आशा रखता हूँ।'

व्यवस्थापक, 'वीरसेवामन्दिर'

स्वाध्यायप्रेमियोंके लिये उत्तम अवसर

भारतकी राजधानी देहलीमें वीरसेवामन्दिरके तत्त्वावधानमें समाजके जिनवाणीभक्त दानी महानुभावोंकी आर्थिक सहायतासे एक सस्ती जैन ग्रन्थमालाकी स्थापना हुई है। ग्रन्थमाला-का प्रत्येक ग्रन्थ गृहस्थोपयोगी है—स्त्री पुरुष और बच्चोंके लिए उसका लेना बड़ा ही लाभदायक और अत्यन्त आवश्यक है। इसलिये प्रत्येक सद्गृहस्थका कर्त्तव्य है कि वह इन ग्रन्थरत्नोंको खरीदकर जिनवाणीके स्वाध्यायसे आत्म-कल्याण करे। इस ग्रन्थमालासे प्रकाशित ग्रंथोंको प्रायः लागतसे भी कम मूल्यमें दिये जानेकी योजना की गई। अभी नीचे लिखे ग्रन्थ छप रहे हैं। जिन ८ ग्रन्थोंका लागत मूल्य १५) है, वे पूरा सेट लेनेवाले सज्जनोंको लागतसे भी कम मूल्य १२) में और पद्मपुराणको छोड़कर शेष ७ ग्रन्थोंका सेट सिर्फ ७) में देनेका निश्चय किया है। जिन्हें इन ग्रंथरत्नोंकी आवश्यकता हो वे ग्राहकोंमें अपना नाम लिखवाकर और अपना मूल्य भेजकर 'वीरसेवामन्दिर आफिस ७३३ दरियागंज देहली' से रसीद लेलें। ग्रन्थ जैसे-जैसे तैयार होते जायेंगे उसी क्रमसे वे उनके पास पहुंचते रहेंगे।

१	रत्नकरण्डश्रावकाचार—सजिल्द लगभग ८०० पृष्ठ (मूल० समन्तभद्राचार्य, टी० पं० सदासुखदासजी	३)
२	मोक्षमार्गप्रकाशक—सजिल्द लगभग ५०० पृष्ठ (पं० टोडरमलजी,)	२॥)
३	जैनमहिलाशिक्षासंग्रह—पृष्ठ २४०	१)
४	सुखकी झलक—पृष्ठ १६० (पूज्य वर्णीजीके प्रवचनोंका सुन्दर संकलन)	॥=)
५	श्रावकधर्म संग्रह—पृष्ठ २४० (पं० दरयावसिंह, श्रावकोपयोगी पुस्तक)	१)
६	सरलजैनधर्म—पृष्ठ ११२ (बालकोपयोगी पुस्तक)	।=)
७	छहढाला—पृष्ठ १०० (पं० दौलतरामजी व पं० बुधजनजी कृत)	।)
८	पद्मपुराण—(सजिल्द बड़ा साइज) पृष्ठ ८०० (मूल० रविषेणाचार्य, टी० पं० दौलतरामजी)	६।)

मन्त्री—सस्ती ग्रन्थमाला
नं० ७३३ दरियागंज, देहली।

Regd. No. D, 397

वीरसेवामंदिरके प्रकाशन

१. अनित्य-भावना—आ० पद्मनन्दिकृत भावपूर्ण और हृदयग्राही महत्वकी कृति, साहित्य-तपस्वी पण्डित जुगलकिशोर मुख्तारके हिन्दी-पद्यानुवाद और भावार्थ सहित। मूल्य चार आना।

२. आचार्य प्रभाचन्द्रका तत्त्वार्थसूत्र—सरल-संक्षिप्त नया सूत्र-ग्रन्थ, पं० जुगलकिशोर मुख्तारकी सुबोध हिन्दी-व्याख्यासहित। मूल्य चार आना।

३. न्याय-दीपिका—(महत्वका सर्वप्रिय संस्करण)—अभिनव धर्मभूषण विरचित न्याय-विषयकी सुबोध प्राथमिक रचना। न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल कोठियाद्वारा सम्पादित, हिन्दी-अनुवाद, विस्तृत (१०१ पृष्ठकी) प्रस्तावना, प्राक्कथन, परिशिष्टादिसे विशिष्ट, ४०० पृष्ठ प्रमाण, लागत मूल्य पाँच रुपया। विद्वानों, छात्रों और स्वाध्याय-प्रेमियोंने इस संस्करणको बहुत पसन्द किया है। इसकी थोड़ी ही प्रतियाँ शेष रही हैं। शीघ्रता करें। फिर न मिलनेपर पछताना पड़ेगा।

४. सत्साधुस्मरणमङ्गलपाठ—अभूतपूर्व सुन्दर और विशिष्ट सङ्कलन, सङ्कलयिता पंडित जुगलकिशोर मुख्तार। भगवान महावीरसे लेकर जिनसेनाचार्य पर्यन्तके २१ महान् जैनाचार्योंके प्रभावक गुणस्मरणोंसे युक्त। मूल्य आठ आना।

५. अध्यात्मकमलमार्तण्ड—पञ्चाध्यायी तथा लाटीसंहिता आदि ग्रन्थोंके रचयिता पंडित राजमल्ल विरचित अपूर्व आध्यात्मिक कृति, न्यायाचार्य पंडित दरबारीलाल कोठिया और पं० परमानन्द शास्त्रीके सरल हिन्दी-अनुवादादिसहित तथा मुख्तार पंडित जुगलकिशोरद्वारा लिखित विस्तृत प्रस्तावनासे विशिष्ट। मूल्य डेढ़ रुपया।

६. उमास्वामिश्रावकाचारपरीक्षा—मुख्तार श्री पं०जुगलकिशोरद्वारा लिखित ग्रन्थ-परीक्षाओंका इतिहास-सहित प्रथम अंश। मूल्य चार आना।

७. विवाह-समुद्देश्य—पंडित जुगलकिशोर मुख्तारद्वारा रचित विवाहके रहस्यको बतलानेवाली और विवाहोंके अवसरपर वितरण करने योग्य सुन्दर कृति। मूल्य आठ आना।

नए प्रकाशन

१. आप्तपरीक्षा-स्वोपज्ञटीकासहित—(अनेक विशेषताओंसे विशिष्ट महत्वपूर्ण अभिनव संस्करण) तार्किकशिरोमणि विद्यानन्दस्वामि-विरचित आप्तविषयकी अद्वितीय रचना, न्यायाचार्य पण्डित दरबारीलाल कोठियाद्वारा प्राचीन प्रतियोंपरसे संशोधित और सम्पादित, हिन्दी-अनुवाद, विस्तृत प्रस्तावना, और समाजके बहुश्रुत विद्वान पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री द्वारा लिखित विचारपूर्ण प्राक्कथन तथा अनेक परिशिष्टोंसे अलंकृत २०×२६/८ पेजी साइज, लगभग चार-सौ पृष्ठ प्रमाण, लागत मूल्य आठ रुपया। यह संस्करण प्रकाशित हो गया है।

२. श्रीपुरपार्श्वनाथ-स्तोत्र—उक्त विद्यानन्दाचार्य-विरचित महत्वका स्तोत्र, हिन्दी-अनुवाद तथा प्रस्तावनादि सहित। सम्पादक—न्यायाचार्य पण्डित दरबारीलाल कोठिया। मूल्य बारह आना।

३. शासनचतुस्त्रिंशिका—विक्रमकी १३ वीं शताब्दीके विद्वान् मुनि मदनकीर्ति-विरचित तीर्थ-परिचयात्मक ऐतिहासिक अपूर्व रचना, हिन्दी अनुवाद-सहित। सम्पादक—न्यायाचार्य पण्डित दरबारीलाल कोठिया। मूल्य बारह आना।

व्यवस्थापक—वीरसेवामन्दिर,

७/३३ दरियागंज, देहली।

प्रकाशक—परमानन्द जैन शास्त्री, वीरसेवामंदिर ७/३३ दरियागंज देहली, मुद्रक—अजितकुमार जैन शास्त्री अकलंक प्रेस, सदरबाजार, देहली।

अनेकान्त

वर्ष १०] माघ १९५० [किरण ९

सम्पादक
जुगलकिशोर मुख्तार

★

—: विषय-सूची :—

———

भ्रातृ-वियोग !

अपने और वीर सेवामन्दिरके बहुत बड़े प्रेमी श्रीमान् बाबू छोटेलालजी और बाबू नन्दलालजी जैन कलकत्ता अभी तक मातृ-वियोगके दुःखसे शान्त नहीं हो पाये थे कि ढाई महीनेके भीतरही उनके बड़े भाई गुलजारीलालजीका भी, ५६ वर्षकी अवस्थामें चैतवदि १२ बुधवार ता० १५ फर्वरीको दिनके ११॥ बजे देहावसान होगया ! आप कुछ अर्सेसे दमे आदिकी बीमारीके कारण अस्वस्थ चल रहे थे और कई महीने तक बा० छोटेलालजीके साथ जयपुर रहकर इलाज कराते रहे हैं। जयपुरसे कोई एक महीना पहलेही स्वस्थसे होकर कलकत्ता पहुंचे थे कि वहीं कालने उन्हें आ धर दबाया ! मरनेसे पहले बा० छोटेलालजीसे मिलकर कुछ कहनेकी उनकी बड़ी इच्छा रही परन्तु दुर्दैव अथवा प्रबल होनहारके वश बा० छोटेलालजी समय पर पहुँच नहीं सके, जिसका उन्हें बड़ा ही दुःख तथा खेद है। उनके पत्रसे मालूम हुआ कि भाई गुलजारीलालजी अन्त समयमें २५ हजार स्याद्वाद महाविद्यालय काशीको दान कर गये हैं और भी कुछ दान उन्होंने किया होगा जिसका हाल अभी तक मालूम नहीं हो पाया। इस दुःखके अवसर पर बाबू साहबान, मृतात्माकी धर्मपत्नी और अन्य कुटुम्बी जनोंके प्रति मेरी तथा वीरसेवामंदिरपरिवारकी हार्दिक समवेदना है। साथही मृतात्माको परलोकमें सुखशान्तिकी प्राप्तिहो ऐसी आन्तरिक भावना है।

जुगलकिशोर मुख्तार

पितृ-वियोग !

अनेकान्तके प्रेमी पाठक, पटनाके बाबू अनन्तप्रसादजी जैन बी० एस-सी० इंजीनियरके शुभ नामसे भले प्रकार परिचित हैं। आप कुछ अर्सेसे अनेकान्तमें बराबर लिखते रहते हैं और अच्छे निर्भीक तथा उदार विचारके समाज-सेवी विद्वान् हैं। हालमें आपके पत्रसे यह मालूम करके बड़ा अफसोस हुआ कि आपके पू० पिताजीका देहान्त २७ फर्वरीको दिनके दो बजे छपरा जिला सारनमें अपने बड़े पुत्र बा० जिनवरप्रसाद वकीलके पास होगया है ! देहावसानके समय आपकी अवस्था प्रायः ७८ वर्षकी थी। पत्रपरसे यह भी मालूम हुआ कि आप जैन-धर्मके अनन्य श्रद्धालु, प्रगतिशील विचारवाले, पक्के नेशनलिस्ट, उच्च शिक्षाके बहुत बड़े प्रेमी और एक साधु प्रकृतिके सद्‌गृहस्थ थे। बहुत वर्ष पहले जब कि लघुपुत्र बा० अनन्तप्रसादकी अवस्था दो वर्ष कीही थी, आपकी पत्नीका देहान्त होगया था और आपने पुत्रोंकी हितसाधनाकी दृष्टिसे अपना दूसरा विवाह नहीं कराया था। आपका मरण बड़ी शान्तिके साथ 'अर्हन्त, सिद्ध, सोऽहं' तथा 'शुद्धचिद्रूपोऽहं' का ध्यान करते हुए हुआ है। इस पितृ-वियोगके अवसर पर बाबू साहबके दुःखमें समवेदना व्यक्त करते हुए हम मृतात्माके लिये परलोक में सुख-शांति की हार्दिक भावना करते हैं।

सम्पादक

: ॐ अर्हम् :

विश्वतत्त्व-प्रकाशक — वस्तुतत्त्व-संद्योतक

अनेकान्त

वार्षिक मूल्य ५) — इस किरणका मूल्य ।)

नीतिविरोधध्वंसी लोकव्यवहारवर्तकः सम्यक्।
परमागमस्य बीजं भुवनैकगुरुर्जयत्यनेकान्तः ।

वर्ष १० किरण ६	वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम), ७/३३ दरियागंज, देहली चैत्र शुक्ल वीरनिर्वाण-संवत् २४७६, विक्रम-संवत् २००७	मार्च १९५०

मुनिश्रीरत्नकीर्ति-विरचित--

शम्भु-स्तोत्र

[यह शम्भुस्तोत्र मुझे हालमें, जयपुरके श्री बड़ा मन्दिरजीके शास्त्र भण्डारका निरीक्षण करते हुए, एक जीर्ण-शीर्ण गुटकेपरसे ता० ६ मार्च सन् १९५० को उपलब्ध हुआ है। इसके कर्त्ता मुनिरत्नकीर्ति हैं जैसा कि अन्तिम पद्यसे जाना जाता है, और उन्होंने अपने गुरु आदिका कोई परिचय साथमें नहीं दिया इसलिये यह बात अभी अन्वेषणीय ही है कि ये कौनसे रत्नकीर्ति मुनि हैं। प्रस्तुत स्तोत्र बड़ा सुन्दर, प्रसन्न, गम्भीर और अलंकारों तथा भावोंसे परिपूर्ण है। इसमें जिस शम्भुका जिन विशेषणोंके साथ स्तवन किया गया है वे उस शंभुका बोध करानेके लिये पर्याप्त हैं जो कविका इष्ट स्तुत्य भगवान् है और जिसके विषयमें बार बार यह कहा गया है कि ऐसे (सच्चे) शंभुको वे लोग प्रणाम नहीं कर पाते हैं जो पुण्यहीन हैं—उसकी पूजा-वन्दनाका सत्सौभाग्य पुण्यवानोंको ही प्राप्त होता है। [पुण्यहीन तो नामादि की कुछ समानताओंके कारण किसीदूसरे ही शंभु की उपासना किया करते हैं]। कविका वह वन्दनीय शंभु युगादिदेव श्रीवृषभनाथभगवान् (आदिनाथ)है, जिसकी भक्तिपूर्वक आराधनासे संसारी जीव संसारके दुःखसमुद्रसे पार होकर अनुपमसुखस्वरूप अद्भुत सिद्धिको प्राप्त होतेहैं। इस स्तोत्रमें लोकप्रसिद्ध शंभु (महादेवनामक रुद्र) के कितनेही कथित विशेषणोंको किस चतुराई एवं सावधानीके साथ अपने इष्ट शंभुमें यथार्थताकी दृष्टिसे घटित किया गया है वह विद्वानोंके देखने जानने और मनन करनेकी वस्तु है। इस स्तोत्रका एक अच्छा हिन्दी

अनुवाद विशेषणपदोंका यथार्थ स्पष्टीकरण और दोनों शंभुओंमें उनकी तुलना करता हुआ प्रकट होना चाहिये। गुटकेमें यह स्तोत्र बहुत कुछ अशुद्ध लिखा हुआ है स-श, न-ण, व-ब, जैसे अक्षरोंके प्रयोगका ठीक विवेक न करके बहुधा एकके स्थान पर दूसरा अक्षर लिखा गया है और भी व्याकरण-सम्बन्धी कुछ अशुद्धियां पाई गई हैं जिन्हें प्राय: लिखने तथा सम्पादनके समय यथा शक्ति ठीक किया गया है। आशा है पाठकों को यह स्तोत्र रुचिकर होगा और वे इससे यथेष्ट लाभ उठावेंगे—सम्पादक]

(उपेन्द्रवज्रादय:)

निराकृताऽशेष विपक्ष-वर्गं विभावितानेक सुधर्म-मार्गम् ।
निरंजनं शान्तमनेकमेकं न पुण्यहीना विनमन्ति शम्भुम् ॥१॥
निरम्बरं नित्यमहं विमोहं प्रमाणनिष्णातमतिप्रणूतम् ।
पुरत्रय-ध्वंसहुताशनाढ्यं न पुण्यहीना विनमन्ति शम्भुम॥२॥
युगादिदेवं पुरुषोत्तमोत्तमं पिंगद्युतिप्रावृत-खप्रमाणम ।
हैमद्युति चन्द्रमरीचिशोभं न पुण्यहीना विनमन्ति शम्भुम् ॥३।
सदावदातापरवक्त्र शोभं शोभालयं तरवलयं विभायम् ।
सुराऽसुरप्रार्थितसिद्धिहेतुं न पुण्यहीना विनमन्तिशम्भुम् ॥४॥
वृषाश्रयं वृष्यविधानकार्यं वृष्यापहाध्यानममानबोधम् ।
वृषेशवंद्यं वृषभं सनातनं न पुण्यहीना विनमन्ति शम्भुम् ॥५॥
त्रिलोचनं चित्रतनुं विदीशं समस्तदेवात्मकमष्टमूर्तिम् ।
दुरक्षदूरक्षतपोविधानं न पुण्यहीना विनमन्ति शम्भुम् ॥६॥
भुजंगसेव्यं भुवनत्रयेशं जितान्तकं मन्मथमानघातम् ।
भव्यांबुजानीकविबोधनेनं न पुण्यहीना विनमन्ति शम्भुम् ७
स्याद्वादविद्याविभवैकमूलं कुमार्गनिर्नाशनलोललीलम् ।
दक्षाध्वरध्वंसकरं वरेण्यं न पुण्यहीना विनमन्ति शम्भुम् ॥८॥
नगात्मजास्थानचिरन्तनेष्टं लोकाग्रवासं भुवनैकवासम् ।
गुणाष्टक-व्यक्ति तकात्यकृत्यं न पुण्यहीना विनमन्ति शम्भुम् ॥९॥

(शार्दूलविक्रीडितम्)

भक्त्या ये प्रणमन्ति निर्मलधिय: शम्भुं भवाम्भोनिधे: ।
संततुं मुनिरत्नकीर्तितपदां सिद्धिं प्रयांत्यद्भुताम् ।
आदौ राज्यमनेकसौख्यनिचयं भुक्त्वा प्रदायार्थिने,
नानारत्नधनानि दैन्यविसरे धूलीजलान्यादरात् ॥१०॥

अपभ्रंश भाषाके दो महाकाव्य
और
कविवर नयनन्दी

(लेखक—पं० परमानन्द जैन शास्त्री)

——:०:——

भारतीय भाषाओंमें संस्कृत और प्राकृतकी तरह अपभ्रंश भाषाका भी साहित्यसृजनमें महत्वपूर्ण स्थान रहा है। वह हिन्दीकी जननी है इसमें किसी भी विचारवानको विवाद नहीं हो सकता। इस भाषामें प्रचुर साहित्य रचा गया है और उसका अधिकांश भाग जैन कवियोंकी लेखनीसे प्रसूत हुआ है यद्यपि इस भाषाका कितनाही प्राचीन बहुमूल्य साहित्य नहीं मिलता, फिरभी आज इसका जो महत्वपूर्ण साहित्य उपलब्ध है उसे देखते हुये यह निस्संकोचरूपसे कहा जा सकता है कि वर्तमान हिन्दी भाषा जो आज राष्ट्र भाषा बनने जा रही है उसके उद्‌गमका प्रधान श्रेय अपभ्रंश भाषा और उसके रसिक साहित्यिक जैन विद्वानोंका ही प्राप्त है। यह भाषा कितनी कोमल, ललित, सरस और माधुर्य युक्त है इसे बतलाने की आवश्यकता नहीं, इसके रसिक विद्वान् उसकी महत्तासे स्वय परिचित हैं। आज मैं इस लेख द्वारा अपभ्रंश भाषाके दो महाकाव्योंका संक्षिप्त परिचय पाठकोंके समक्ष रखनेका उपक्रम कर रहा हूं। वे दनों ही काव्य-ग्रन्थ अपने आपमें परिपूर्ण हैं और एकही कविकी उज्ज्वल प्रतिभाके संद्योतक हैं और अभीतक अप्रकाशित हैं। ये संस्कृत प्राकृत और अपभ्रंश भाषाके विविध छन्दों उपमाओं और अलंकारों आदिकी दिव्य छटा से अलंकृत है। इनमें काव्योचित वे सभी गुण विद्यमान हैं जिन्हें काव्य शास्त्री अपने अपने ग्रन्थों में चुन चुन कर रखनेका प्रयत्न करते हैं।

कविने अपने ग्रन्थोंमें अर्थ गाम्भीर्य युक्त कविता की प्रशंसा करते हुए उसकी महत्ता व्यक्त की है और क्षुद्र कवियोंकी स्खलित पद-रचनामें उनकी असमर्थता की ओर संकेत किया है। इतनाही नहीं बल्कि काव्यके आदर्शको बार बार व्यक्त करते हुये लिखा है कि रस और अलंकारसे युक्त कविकी कवितामें जो रस मिलता है वह न तरुणिजनोंके विद्रुमसमान रक्त अधरमें, न आम्रफलमें, न ईखमें न अमृतमें, न चन्दनमें, और न चन्द्रमामें ही मिलता है। जैसा कि उसके निम्न पदसे प्रकट है:—

'णो संजादं तरुणि अहरे विद्दुमारत्तसोहे।
णो साहारे भमियभमरे णेव पुंडिच्छु डंडे।
णो पीयूसे हले सिहिणे चन्दणे णेव चन्दे।
सालंकारे सुकइ भणिदे जं रसं होदि कव्वे॥"

यदि इस लोकप्रिय भाषाके इन अप्रकाशित समस्त ग्रन्थोंका आधुनिक ढगसे प्रकाशन हो जाय तो उससे न केवल हिन्दी भाषाके इतिहासकी सृष्टि होगी, किन्तु तत्कालीन विलुप्त इतिवृत्तके संकालनमें भी बहुत कुछ सहयोग एवं सहायता मिल सकेगी। इन काव्य ग्रन्थोंके नाम सुदंसण चरिउ, (सुदर्शन चरित) और 'सयलविहि विहाणकव्व' (सकलविधि विधान काव्य) है। इन दोनोंही ग्रन्थों और उनके कर्तादि विषयका संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करना ही इस लेखका एक मात्र लक्ष्य है।

प्रथम ग्रन्थ सुदर्शन चरितमें पंचनमस्कार मंत्र का फल प्राप्त करने वाले सेठ सुदर्शन के चरित्रका चित्रण किया गया है। चरित्र नायक वणिक श्रेष्ठ है उसका चरित्र अत्यन्त निर्मल तथा मेरुवत् निश्चल

है उसका रूप लावण्य इतना चित्ताकर्षक था कि उसके बाहर निकलते ही युवतिजनोंका समूह उसे देखनेके लिये उत्कंठित होकर बाहर मकानोंकी छतों द्वारों तथा झरोखोंमें इकट्ठा हो जाता था; क्योंकि वह कामदेवका कमनीय रूप जो था। साथमें वह गुणज्ञ और अपनी प्रतिज्ञाके सम्यक्पालनमें अत्यन्त दृढ़ था धर्माचरण करनेमें तत्पर था। मित मिष्ट भाषी, मानव जीवनकी महत्तासे परिचित था और था विषय-विकारोंसे विहीन।

कथाभाग

ग्रन्थका कथा भाग बड़ा ही सुन्दर और आकर्षक है, वह इस प्रकार है:—

अंग देशके चम्पापुर नगरमें, जहां धाड़ीवाहन राजा राज्य करता था—वैभव-सम्पन्न ऋषभदास श्रेष्ठका एक गोपालक था जो गंगामें गायोंको पार करते समय पानीके वेगसे डूबकर मर गया था और मरते समय पञ्चनमस्कार मंत्रकी आराधनाके फलस्वरूप उसी सेठके यहां पुत्र हुआ था, उसीका नाम सुदर्शन रक्खा गया। सुदर्शनको उसके पिताने सब प्रकारसे सुशिक्षित एवं चतुर बना दिया और उसका विवाह सागरदत्त सेठकी पुत्री मनोरमासे करदिया अपने पिताकी मृत्युके बाद वह अपने कार्यका विधिवत् संचालन करने लगा। सुदर्शनके रूपकी चारों ओर चर्चा थी उसके रूपवान शरीरको देखकर उस नगरके राजा धाड़ी वाहन की रानी अभया उस पर आसक्त हो जाती है और उसे प्राप्त करनेकी अभिलाषासे अपनी चतुर पंडिता दासीको सेठ सुदर्शनके यहां भेजती है, पण्डिता दासी रानीकी प्रतिज्ञा सुनकर रानीको पातिव्रत धर्मका अच्छा उपदेश करती है, और सुदर्शनकी चरित्र-निष्ठाकी ओर भी संकेत करती है, किन्तु अभया अपने विचारमें निश्चल रहती है और पण्डिताको उक्त कार्य की पूर्तिके लिये खास तौरसे प्रेरित करती है। पंडिता सुदर्शनके पास कईवार जाती है और निराश होकर लौट आती है पर एक बार वह दासी किसी कपट-कला द्वारा सुदर्शनको राजमहलमें पहुंचा देती है। सुदर्शनके राज महलमें पहुँच जानेपर भी अभया[1] अपने कार्यमें असफल रह जाती है—उसकी मनोकामना पूरी नहीं हो पाती। इससे उसके चित्तमें असह्य वेदना होती है। और वह उसे अपने अपमानका बदला लेने को उतारू हो जाती है और अपनी कुटिलताका मायाजाल[2] फैलाकर अपना सुकोमल शरीर अपने ही नखोंसे रुधिर-प्लावित कर डालती है और चिल्लाने लगती है कि दौड़ो लोगो

१. ग्रन्थमें निहित अभया और सुदर्शनके विचारोंकी तुलना भी मनन योग्य है और उसका कुछ अंश इस प्रकार है:—

सुहदंसणु चिंतइ उव्वरेमि,
अभया चिंतइ सुंदरु रमेमि।
सुहदंसणु चिंतइ कम्मणासु,
अभया चिंतइ सुरयाहिलासु।
सुहदंसणु चिंतइ णाणलाहु,
अभया चिंतइ हुउ अणण-डाहु।
सुहदंसणु चिंतइ मोक्खमग्गु,
अभया चिंतइ भुंजइ ण भोग्गु।
सुहदंसणु चिंतइ खमिमि कम्मु,
अभया चिंतइ महु किउ अहम्मु।
सुहदंसणु चिंतइ जगु अणिच्चु,
अभया चिंतइ महु पत्तु मिच्चु।

घत्ता—सुहदंसणु चिंतइ हियए अवहेरमि अइयणु साहसु
अइसयकल्लाणहि सहिउ रे जीव अरुहु आराहसु ३१

२. वीयंदयार सुई मुहेहिं, फाडिउ सरीरु णियकररुहेहिं।
थण थण सहंति लोहियविलित्त, णं कणयकुंभघुसिणेणसित्त
वच्छत्थलएसु हत्थहिं हणंति'
उद्धिय हयास लहु इय भणन्ति।
धसमुसलु परं गणरत्त चित्तु,
महयाइहिं डिएण डंकहि पहुत्त।

घत्ता—महु लडइगइ वणिवरेण, एयइं गंजियइं पलोयहो।
जाम ण मारइ ता मिलेवि' अहो धावहो णे चिंतइ तावहि

मुझे बचाओ! सुदर्शनने मेरे सतीत्वका अपहरण किया है। राज कर्मचारी सुदर्शनको पकड़ लेते हैं और राजा अज्ञानता वश क्रोधित होकर रानीके कहे अनुसार सुदर्शनको सूलीपर चढ़ानेका आदेश दे देता है पर सुदर्शन व्रतनिष्ठाकी महत्तासे विजयी होता है—एक देव प्रकट होकर उसकी रक्षा करता है। राजा धाड़ीवाहनका उस व्यंतरसे युद्ध होता है और राजा हार जाता है। और सुदर्शनकी शरणमें पहुंचता है। राजा घटनाके रहस्यका ठीक हाल जानकर अपने कृत्य पर पश्चात्ताप करता है और सुदर्शनको राज्य देकर विरक्त होना चाहता है; परन्तु सुदर्शन संसार-भोगोंसे स्वयं ही विरक्त है, वह दिगम्बर दीक्षा लेकर तपश्चर्याद्वारा कर्मसमूहका विनाशकर मुक्त हो जाता है। सुदर्शनका तपस्वी जीवन बड़ा सुन्दर रहा है और उसे कवि व्यक्त करनेमें पूर्ण सफल रहा है। अभया और पंडिता दासीभी आत्मघात कर मर जाती है और अपने कर्मानुसार कुगतिमें जाती है। इस तरह इस ग्रन्थमें पंचनमस्कार मंत्रके फलको महत्ता बतलाई गई है।

प्रस्तुत ग्रन्थमें बारह सन्धियां हैं जिनमें सुदर्शन के चरितको अंकित किया गया है। सुदर्शनका चरित अत्यन्त उज्वल और आदर्श है इसलिये अनेक ग्रन्थकारोंने उसे निबद्ध किया है। परन्तु इसकाव्य ग्रन्थमें कविकी कथन शैली, रस और अलंकारोंकी पुट, सरस कविता, शान्ति और वैराग्य रस तथा प्रसंगवश कलाका अभिव्यंजन, नायिकाके भेद ऋतु वर्णनोंका औरउनके वेष भूषा आदिका चित्रण, और यथास्थान धर्मोपदेश आदिका मार्मिक विवेचन तथा गुण इस काव्य ग्रन्थकी अपनी विशेषताके निर्देशक हैं और कविकी आन्तरिक भद्रता तथा निर्मल प्रतिभा के संद्योतक है।

यह ग्रन्थ एक सुन्दर महाकाव्य है, ग्रन्थमें भाषा और भावोंका सजीव चित्रण कलाकारकी विशेषता है और कविने स्वयं अपने काव्यके आदर्शका उल्लेख किया है:—

कोमल वयं उदारं छंदाणुवरं गहारमत्थड्ढं।
हिय इच्छिइ सोहग्ग कस्स कलत्तं च इह कव्वं॥

ग्रंथमें अनेक स्थलों पर अनेक सुभाषित तथा देशी कहावतोंका उल्लेख भी किया गया है उनमें से यहां पाठकोंकी जानकारीके लिये एक दोहा उल्लेख नीचे किया जाता है:—

"करे कंकणु किआरिसे दोसए" हाथ कंगनको आरसी क्या
"एकें हत्थे तालंकिं वज्जइ किंमार बि पंचमु गाइज्जइ"

ताली क्या एक हाथसे बजती है, ताडनसे क्या पांचवा स्वर गाया जाता है।

'पर उपदेश.दिंतु बोहु जाणइ' परको उपदेश देना बहुत जानते हैं।

छंदोंकी भरमार तो इस काव्य ग्रंथकी अपनी विशेषता और मौलिकता है इस तरह यह काव्य ग्रन्थ अनेक विशेषताओंसे परिपूर्ण है और अपभ्रंश भाषाके अभ्यासियोंके लिये बड़े कामकी चीज है। इसका प्रकाशन शीघ्र होना चाहिए।

कवि नयनन्दीने सुदर्शन चरितको रचना धारा नगरीमें स्थित जिनवर विहार मे रहते हुए वि० सं० ११००में राजा भोजदेवके राज्य कालमें की थी। जेसा कि उसके निम्न वाक्योंसे प्रकट है।

आगम गाम-पुरवर-णिवेस, सुपसिद्ध अवंतीणाम देस
सुरवइपुरिव्व विबुहमणिट्ठ, तहिं अत्थिधार णयरीगरिट्ठ
रणि दुद्धर अरिवर सेलवज्ज, रिद्धए देवासुर जणियचोज्ज।

तिहुयण णारायणसिरि णिकेउ, तहि णरवइ पुंगमु भोय देउ
मणिगण पह पूसिय गभत्थि, तहि जिणवरु बद्ध विहारुअत्थि
णिव विक्कम कालहो ववगएसु, एयारह संवच्छर सएसु।
तहि केवल चरिउ अमच्छरेण, णयणंदी विरइउबित्थरेण
जो पढइ सुणइ भावइ लिहेइ, सोसासयसुहु अविरल लहेइ

कवि नयनंदीकी दूसरी महत्त्वपूर्ण कृति सयल विहिविहाण कव्व है जिसमें अनेक विधि-विधानों और आराधनाओंका समुल्लेख अथवा विवेचन

किया गया है। ग्रन्थमें ५८ संधियां हैं। ग्रन्थकी यह सं० १५८० की लिखी हुइ है जो सुन्दर एवं सुवोध्य अक्षरोंमें लिखी गई है और जिसकी पत्र संख्या ३०४ है ग्रन्थ भट्टारक महेन्द्रकीर्ति आमेरके ज्ञान भंडारमें सुरक्षित है। इस ग्रंथकी आद्यप्रशस्ति बड़ी ही महत्वपूर्ण है, उसमें ग्रन्थरचना और गुरुपरम्परा के साथ अपने समसमयवर्ती तथा अपनेसे पूर्ववर्ती अनेक जैन जैनेतर कवियोंका नामोल्लेख किया गया है जो ऐतिहासिक दृष्टिसे बड़े महत्वका है ग्रन्थ इस समय सामने न होनेसे उसका विस्तृत परिचय देना संभव नहीं है, हां इतना कहनेमें कुछभी आपत्ति नहीं कि ग्रन्थ विशालकाय है उसमें विविध विषय वर्णित है और अपभ्रंशके रड्डा आदि सौसे अधिक छंदोंसे अलंकृत है साथही ललितकाव्य ग्रंथों जैसी विशेषताएं उसको अपनी मौलिकता की निर्देशक हैं। कविकी प्रतिभाका ग्रन्थमें खूब उपयोग हुआ है और उससे कविकी चमत्कारिणी लेखनीका सहज हीमें भान होजाता है। ग्रंथ कितना सरल और चित्ताकर्षक है यह उसके पढ़नेसे ही सम्बन्ध रखता है। ग्रंथके अंतमें कोई प्रशस्ति नहीं है, यह निम्न पुष्पिका वाक्य हो उसकी समाप्तिका सूचक ज्ञान पड़ता है:—

> मुणिवर णयणंदी सण्णिबद्धे पसिद्धे
> सयल विहिविहाणे एत्थ कव्वे सुभव्वे।
> अविह पमुह सुत्तवत्थुमाराहणाए
> परमणिउ फुडु संधी अट्ठावण समोत्ति॥

ग्रन्थ अपने आपमें परिपूर्ण तो है ही उसकी महत्ता उसके अध्ययन और मननसे स्वत: ही ज्ञात हो जाती है और महाकाव्योंसे उसकी समता भले प्रकार की जा सकती है। इस अप्रकाशित ग्रन्थके प्रकाशन से जहां अपभ्रंश भाषाके ज्ञान भंडारकी अभिवृद्धि होगी वहां हिन्दी भाषाके विकासपर भी काफी सामग्री संचितकी जा सकेगी। साथही यह भी मालूम हो सकेगा कि ११ वीं शताब्दीमें हिन्दी भाषा का रूप किस अवस्था तक विकसित हो चुका था।

ग्रन्थरचना और समयादिका निर्देश

कविवर नयनन्दीने-सकल-विधि-विधान काव्य की रचनाका निर्देश करते हुए लिखा है कि धारा नगरीमें नमि नामका एक ठाकुर था जो सब प्रकारसे सम्पन्न था उसने त्रैलोक्यकीर्तिस्वरूप एक सुप्रसिद्ध विहार बनवाया था। उसी विहारमें आचार्य हरिसिंह मुनि निवास करते थे जो जिनशासनरूप नगरके तोरण, वाग्देवी रूपी तरंगोंके लिये मगर मच्छ थे और जिनको तप: श्री बहुतोंका मन चुराती थी। इन्हींके समीप मुनि नयनन्दीभी रहते थे जिनका वाणी कोमल थी और जिनका चित्ताभिलाष प्रस्फुटित होरहा था। तब आचार्य हरिसिंहने कहा कि निर्दोष काव्यकी रचना करो। नयनन्दीने अपनी लघुता प्रकट करते हुए अपनी असमर्थता व्यक्तकी और कहा कि मुझे छंद अलंकार, काव्य करण और साहित्यादिका विशेष ज्ञान नहीं है तब आचार्य श्रीने हंसते हुए उत्तर दिया कि तुममें शीघ्रकविता करनेकी प्रतिभा तो है अर्थात् आप जल्दी ही अच्छी कविता कर सकते हैं आचार्य हरिसिंहकी प्रेरणासेही इस काव्य-ग्रन्थकी रचना हुई है।

ग्रन्थमें पर-अपरवर्ती तथा समकालीन जिन विद्वानोंका उल्लेख किया गया है उनके नाम इस प्रकार हैं:— वररुचि, वामन, कालिदास, कौतूहल, बाण, मयूर, जिनसेन, वारायण श्रीहर्ष, राजशेखर, जसचन्द्र, जयराम, जयदेव; पालित्त (पादलिप्त ?) पाणिनी प्रवरसेन, पातञ्जलि पिंगल, वीरसेन, सिंहनंदि, सिंहभद्र, गुणभद्र, समन्तभद्र, अकलंक, रुद्र, गोविंद, दंडी भामह भारवि, भरह चउमुह, स्वयंभु पुष्पदन्त, श्रीचन्द्र, प्रभाचन्द्र, और श्रीकुमार, जिन्हें 'सरस्वती कुमार' भी सूचित किया है। जैसा कि उनके निम्न प्रशस्ति वाक्योंसे प्रकट है:—

> मणु जएण वक्कु वम्मीय वामु,
> वररुइ नामणु कविकालियासु।
> कोऊहलु बाणु मऊरु सूरु,

जिणसेणु जिणागम कमलसूरु।
वारायणु वग्गाविय वियट्ट,
सिरिहरिमु रायसेहरु गुणट्ट।
जसइंधु जए जयराम णामु,
जयदेउ जणमणाणंद कामु।
पालित्तउ पाणिणि पवरसेणु,
पायंजलि, पिंगलु वीरसेणु।
सिरिसिंहणंदि गुणसिंह भद्दु,
गुणभद्दु गुणिल्लु समंतभद्दु।
अकलंक विसमवाईय विहंडि,
कामद्द रुद्द गोविंद दंडि।
मम्भुड भारहि भारहि महंतु,
चउमुह सयंभु कइ पुप्फयंतु।
घत्ता—सिरिचंद पहाचंद वि विबुह
गुण गणणंदि मणोहरु।
कइ सिरिकुमारु सरसइ कुमरु,
कित्ति विलासिणि सेहरु॥६॥

इन विद्वानोंमें उल्लखित श्रीचंद्र और प्रभाचन्द्र भी समकालीन विद्वान हैं उनमें श्रीचन्द्र वला त्कारगणके आचार्य श्रीनन्दिके शिष्य थे जो लाल बागड़ संघमें हुए हैं। इन्होंने सागरसेन सैद्धान्तिकसे महापुराणके विषम-पद्योंका विवरण जानकर और मूल टिप्पणका अवलोकन कर उत्तर पुराणके टिप्पण की रचना सं० १०८०में की है। और पुराणसार भी सं० १०८० या १०८५ की रचना है; किन्तु पद्म-चरित टिप्पणको पंडित प्रवचनसनसे सुनकर वि० सं० १०८७ में बनाया है।

प्रभाचन्द्र उक्त माणिक्य नन्दीके शिष्य थे और न्यायशास्त्रके महा पंडित थे। इन्होंने माणिक्यन न्दी के परीक्षामुखपर और अकलंक देवके लघीय स्त्रयपर विशाल टीकाओंका निर्माण किया है इनके अतिरिक्त और भी अनेक टीका ग्रन्थ लिखे हैं। आचार्य कुन्दकुन्दके समयसारादि प्राभृतत्रय पर टीका लिखी गई है जिनमें पंचास्ति काय और प्रवचनसार की टीकाएं तो मेरे देखनेमें आई हैं। परन्तु समय सारकी टीका अभी तक नहीं प्राप्त होसकी। रत्न करण्ड श्रावकाचार एवं बृहत्स्वयंभूस्तोत्र और समाधितंत्रादि पर भी इनकी टीकाएं प्रकाशित हो चुकी हैं ये नयनन्दीके गुरुभाई थे। यह भी विक्रमकी ११ वीं शताब्दीके उत्तरार्धके विद्वान हैं। इन्होंने सकल-विधि-विधान काव्यकी आद्य प्रशस्ति में प्रभाचन्द्रका उल्लेख किया है।

कविवर नयनन्दी उक्त ग्रन्थका निर्माणभी अवन्ति देशकी उस सुप्रसिद्ध धारा नगरीमें किया है जो उस समय अवन्ती देशकी राजधानी थी और जिसमें परमारवंशी राजा जयसिंह राज्य करता था जो 'भोज' इस नामसे लोकमें सर्वत्र विश्रुत था। उस समय धारा नगरी जनधनसे संकीर्ण और कला-कौशलमें अद्वितीय थी। धारा-नरेश जितना पराक्रमी और प्रतापी था उतना ही वह विद्या-व्यसनी भी था। धारा उस समय संस्कृत विद्याका केन्द्र बनी हुई थी। वहां विद्यासदन अथवा सरस्वतीपाठ-शाला नामक एक विद्यापीठ था जिसमें सुदूर देशोंके विद्या-रसिक अपनी ज्ञान पिपासा को शान्त करने जाते थे। राजा भोजदेवकी अनेक उपाधियां थीं जिनमें कुछ उपाधियाँ उसके विद्याप्रेम, क्षात्रतेज और दयालुता आदि सद्गुणोंकी परिचायक हैं; 'सरस्वती कंठाभरणदेव' 'रणरंगमल्ल' तिहुवण तारायणभुवलभाण' परमेसर, और अत्थीजणविहाल इन उपाधियोंसे उसके महत्वका भी सहजमें ही भान हो जाता है। राज भोज अपनी प्रजाका प्यारा शासक था। धारा उज्जैन और अवन्ति देशके आस-पासका इलाका उस समय जैन साधुओंका विहार-स्थल बना हुआ था—वहां अनेक तपस्वी मुनिपुंगव आचार्य और विद्वान् आत्मामें साधनाका अभ्यास करते हुए जगतके कल्याणकी निष्काम भावना से प्रेरित होकर उन्हें सन्मार्गका उपदेश देते थे और जैन संस्कृतिके प्राणभूत अनेक शास्त्रों की रचना भी करते थे। उस समय धारा में विशाल ज्ञान भंडार थे, जिन में धार्मिक साहित्य और

दार्शनिकादि ग्रन्थोंका अच्छा संग्रह रहा होगा। पर आज उनका कहीं पता भी नहीं चलता। विक्रमको १० वीं शताब्दी से १३ वीं शताब्दी तक धारा और उसके आस-पास के प्रदेशोंमे जैन विद्वानोंका अस्तित्व और उनकी रचनाओंका समुल्लेख इसबातका सूचक है कि वहां उक्त समयमें जैनधर्म वा जैन संस्कृतिका प्रचार सुचारु रूपसे चल रहा था सम्वत् ९९० में आचार्य देवसेनने धाराके पार्श्वनाथ चैत्यालयमें निवास करते हुए दर्शन-सारकी रचना की थी काष्ठा संघके आ० अमितगतिने सं०१०५ से १०७३ तकके मध्यवर्ती समयमें अनेक ग्रन्थोंकी रचना की है। यह मुंजकी सभाके सभारत्न विद्वानोंमे से थे। लाट बागड गणके प्रसिद्ध आचार्य गुणाकर सेनके शिष्य महासेनाचार्यने प्रद्युम्न चरितकी रचना सं० १०३१ से १०६६ केमध्यवर्ती किसी समयमें कोहै आचार्य महासेन मुञ्जद्वारा पूजित थे इनके सिवाय और अनेक विद्वान अपने अस्तित्वसे धारा नगरीको सुशोभित करते थे जिनके शुभ नामों आदिका अभी हमें ठीक पता नहीं है [१] (इसी तरह श्री चन्द्र प्रभाचन्द्र माणिक्यनन्दी, श्री नन्दी, सागरसेन और प्रवचन सेन आदि अनेक विद्वानोंका उल्लेख उपलब्ध है। (ये सब विद्वान् भोजदेवके समाकालीन है।)

दूब कुण्डके शिलालेखसे ज्ञात होता है कि राजा भोजदेवकी सभामें पंडित अम्बरसेन आदि विद्वानोंसे वाद करने वाले सेकड़ों विद्वानोंको आचार्य शान्तिषेणने शास्त्रार्थ में पराजित किया था [१]

सुदर्शन चरितकी प्रशस्तिमें ग्रन्थकारने जो अपनी गुरु परम्पराका उल्लेख किया है उससे स्पष्ट ज्ञात होता हैकि उस समय धारामें विद्वानोंकी कई परम्परायें चालू थीं जिनमें एक परम्परा पद्मनन्दी, विष्णुनन्दी, विश्वनन्दी, वृषभनन्दी, रामनन्दी, त्रैलोक्यनन्दी, माणिक्यनन्दी, और नयनन्दीकी थी। और दूसरी परम्परा वह है जिसका उल्लेख ११ वीं शताब्दीके विद्वान श्रीचन्द्रने अपने ग्रन्थोंमें तथा आचार्य महासेनके प्रद्युम्नचरितकी प्रशस्तिमें और दूबकुण्डके शिलालेखमें पा जाता है, जिसका संबंध लाडबागणके विद्वानोंसे है। यह बागडसंघका ही एक भेद है। इस संघमें अनेक विद्वान हुए है। देवसेन, दुलभसेन, अंबरसेन, शांतिषेण, विजय कीर्ति, श्रीनन्दी, श्री चन्द्र सागरसेन, महासेन, गुणाकरसेन जयसेन आदि। इनके अतिरिक्त तीसरी परम्परा काष्ठासंघसे संबंध रखती है जिसमें धर्म परीक्षादि ग्रन्थोंके कर्ता अमितगति हुए है।

इन सब उल्लेखोंसे धारा नगरीकी महत्ताका सहज ही आभास हो जाता है।

ऊपरकी उल्लेखित गुरू परम्परासे तथा ग्रंथकर्ता के अन्य उल्लेखोंसे यह स्पष्ट है कि नयनन्दीके गुरु का नाम माणिक्यनन्दी था जो त्रैलोक्यनन्दीके शिष्य थे यह माणिक्यनन्दी वही माणिक्यनन्दी है जो सुप्रसिद्ध परीक्षामुख नामक न्याय-सूत्र ग्रन्थके कर्ता हैं। यह न्याय शास्त्रके महाविद्वान् थे, कविने स्वयं निम्न पद्योंद्वारा अपने गुरुका और अपना परिचय दिया है।

पच्चक्ख-परोक्ख पमाणणीर,
णय तरल तरंगावलि गहीर।
वरसत्तभंगि कल्लोलमाल,
जिण सासणसरिणिम्मल सुसाल।
पंडिय चूडामणि विबुह चंदु,
माणिक्कणंदि उप्पण्णु कंदु।
दिढ बुद्धि कठिण कंटयपयंडु,
तेहा तुहुं हुउ सीसु गुणरय दंडु।
तब्भव विमल सम्मत्त सदत्थु,

(शेष टाईटलके तीसरे पृष्ठ पर)

१ आस्थानाधिपतौ बुधाद्विगुणे श्रीभोजदेवे नृपे, सभ्ये ष्वंबरसेन पंडित शिरोरत्नादिषूद्यन्मदान्। यांने- [४५] कान् शतसो अजेष्ट पटुता भीष्टोद्यमो वादिनः। शास्त्रांभो निधि पारगोभ वदतः श्रीशांतिषेणो गुरुः॥

एपिग्राफिका इंडिका भाग २ पृ० २३७-२४०

पुरातन जैन शिल्प का संक्षिप्त परिचय

(ले० श्री बालचन्द्र जैन एम० ए०, साहित्यशास्त्री)

मूर्ति

भारत की शिल्पकला का प्रामाणिक इतिहास मोहेंजोदरो तथा सिंधु-सभ्यता युगसे मिलता है। इस युगका समय पुरातत्त्व विषय के पंडितोंने ईसा से करीब ३००० वर्ष पूर्व निश्चित किया है। इस युगके केन्द्रोंकी खुदाईमें बड़ी संख्यामें मूर्ति, मिट्टीके खिलौने, मोहरें आदि अनेक प्रकारके शिल्प प्राप्त हुए है। ध्यान से अध्ययन करनेपर मोहेंजोदरोके मूर्तिविज्ञान पर हमें जैन संस्कृति का प्रभाव स्पष्ट प्रतीत होता है। अनेक टीकरों पर बैल हाथी आदि अंकित है और यदि इनका आधार जैन तीर्थंकरोंके चिन्ह हों तो कोई शक नहीं। अनेक नग्न पुरुषमूर्तियाँ भी इन्हीं स्थानों से प्राप्त हुई हैं और वे ठीक उसी प्रकार की हैं जैसे कि पिछले कालकी तीर्थंकरों की खड़ी मूर्तियां। मोहेंजोदरोंसे एक और महत्त्वपूर्ण मूर्ति मिली है जिसे श्री राधाकुमुद मुकर्जी शिवके पशुपति रूपकी मूर्ति मानते है। उक्त मूर्ती का विषय ध्यान है और इसमें एक व्यक्ति ध्यानस्थ बैठा है। उसके दोनों हाथ दोनों घुटनो पर स्थित हैं और नीचे अनेक परस्पर विरोधी पशु एकत्र है। मूर्तिके मस्तक पर त्रिशृङ्ग बना है। श्री राय कृष्णदासजी इस मूर्तिको बुद्धमूर्तिका पूर्वरूप मानते हैं। मेरा विनम्र निवेदन यह है कि उक्तमूर्तिपर जैन प्रभाव अवश्य होना चाहिए। जिस चिन्ह को श्री मुकर्जी ने त्रिशूल माना है वह त्रिरत्न चिन्ह हो सकता है, आगे चलकर जिसका स्थान त्रिछत्रने ग्रहण कर लिया। ध्यान और योग जैन संस्कृति का अंग ही था और जैन आगमोंमें साधनाका वर्णन करते हुए यह उल्लेख किया गया है कि परस्पर विरोधी पशु भी साधकके पास आकर अपना वैरभाव भूल जाते हैं।

मूर्ति बनानेका उद्देश्य या तो किसी स्मृतिको बनाए रखना होता है अथवा किसी अमूर्त भावको मूर्तरूप देना। साहित्य ग्रन्थोंमें देवकुलोंका वर्णन है जहां राजाओंकी मृत्युके पश्चात् उनकी मूर्ति स्थापित की जाती थी। पुरातत्त्व विभागको एक ही स्थानपर एक वंशके अनेक राजाओंकी मूर्तियां प्राप्त हुई है जिनसे उक्त कथन प्रमाणित हो जाता है।

दो मूर्तियां विशेष महत्त्वकी है। एक तो अजातशत्रुकी और दूसरी नंदिवर्धनकी। भारतीय इतिहासमे इन दोनों सम्राटोंका स्थान विशेष महत्वका है। अजातशत्रुकी मूर्तिपर स्व० काशीप्रसाद जायसवालने कुणिक नाम पढ़ा था जो जैन-ग्रन्थोंसे समर्थित है। इस प्रकार हम देखते हैं कि ईसासे ६ शताब्दी पूर्व भी इतनी सुन्दर और इतनी ऊंची (८'-८") मूर्तियाँ बनती थीं जिनकी गढ़न सम्राटके अनुरूप ही प्रभावक और रोबीली है।

नंदिवर्धन जैन धर्मका अनुयायी था। वह भी एक प्रतापी सम्राट था। अपने राज्यकालमें उसने मगध साम्राज्य का विस्तार किया और कलिंगको भी अपने आधीन कर लिया। कलिंगकी जीतमें वह अपने साथ वहां से अनेक निधियां तो लाया ही पर साथमें कलिंगकी प्रसिद्ध जिन मूर्ति भी ले आया था जिसे पीछे खारवेल ने मगध विजय कर वापस लाकर अपने देशके गौरवको पुनः जगाया श्री राय कृष्णदासजीने लिखा है कि ५ वीं शती

पू० में जैन-मूर्तियां बननेका यह अकाट्य प्रमाण है।

मौर्यकालमें कला अधिक विकसित होगई थी और सारनाथके चौमुखे सिंह जैसी वस्तुयें बनने लगी थीं। इस कालकी कला राज्याश्रित थी और कांच सरीखे चमकने वाले ओपसे अनायास ही पहिचान ली जाती है। इस कालके बने सभी शिल्पों में चुनारके पत्थरका उपयोग हुआ है और उस पर इतनी घुटाई की गई है कि वह कांच जैसा चमकदार बन जाए।

मौर्यवंशके शासक अपना निजी धर्म पालते हुए भी अन्य धर्मोंके प्रति समदृष्टि थे। उन्होंने पशुहिंसा, यागहिंसा और ऊंच-नीच के भेद-भाव को कानूनी तौर पर निषिद्ध कर दिया था पर किसी धर्मके मौलिक सिद्धान्तों अथवा विचारोंपर कभी कोई आक्षेप नहीं किया और न उनकी क्रियाओंपर ही कोई प्रतिबन्ध लगाया। सम्राट अशोक और उसके पुत्र दशरथ ने आजीवक भिक्षुओं जो जैन भिक्षुओं जैसे नग्न रहते थे और वैसा ही आचार पालते थे—को कार्यनिषिद्याके लिये अनेक गुफाएं दान की थीं।

अशोकका पौत्र सम्प्रति जैन था और अशोकके ही समान सार्वभौम शासक था। वह कुशल शासक था और अशोकके शासन कालमें भी शासनकी बाग डोर उसीके हाथमें थी। अनेक ऐसे उल्लेख मिलते है जिनसे विदित होता है कि राजकोष की रक्षाके लिये उसने अशोकके सम्राट होते हुए भी उसकी आज्ञाओं और उसके द्वारा स्वीकृत दानको रद्द कर दिया था। जैन धर्म के प्रचार के लिये इसने कुछ उठा नहीं रखा। पटना म्यूजियम में प्रदर्शित जैन मूर्तियों पर ठीक वही ओप है जो मौर्ययुग के अन्य शिल्पपर है। ये मूर्तियां सम्प्रति कालीन होनी चाहिये, क्योंकि मौर्यवंशके शासनके साथ ही ओपनेकी यह कला सदाके लिये लुप्त हो गई।

मौर्य राजाओंकी समदृष्टि कट्टर पन्थियोंको न रुची और जातिमदके अंधोंने धीरे-धीरे शक्ति एकत्र कर उनका तख्ता उलट दिया। राज सेनापति पुष्य मित्रने शासन अपने हाथोंमें ले लिया और ब्राह्मणवादका जोर फिरसे बढ़ा। इतनेपर भी श्रमण सस्कृति किसी तरह अपना बचाव करती अनेक केन्द्रोंमें कलाकी साधना करती रही। इस युगकी कला लोक कला है। राज्यसे उसे कोई प्रश्रय प्राप्त न था।

साँची और भरहुत की बौद्ध-कला शुङ्गोंके ही युग की है। मथुरामें जैन कलाका प्राधान्य बढ़ा किन्तु वह राज-धर्म से अछूती न रह सकी। सांची और भरहुत के स्तूपों जैसा ही विशाल जैसा स्तूप मथुरा में बनाया गया और उसकी पूजा होने लगी इसके तोरणों पर अनेक प्रकार की मूर्तियाँ खोदी गई और उनके साथ साथ अन्य लौकिक विषय भी चित्रित किए गए।

दक्षिण-पूर्वमें महामेघवाहन खारवेलका उदय इसी युगमें हुआ और उसका प्रभाव उत्तर पश्चिमतक फैल गया। मगध विजय तो उसने की ही पर विदेशी आक्रमण भी उसके भयसे रुक गया। विजय के उपलक्ष्यमें कुमारी उसनेपर्वत वतेमान उदयगिरि खंडगिरि पर अनेक गुफाएं एवं गुफामंदिर बनवाए इन गुफामंदिरों की मूर्तियोंकी मूर्तिकला अपने ढंग की निराली है और वह उत्तर की कलासे प्रभावित नहीं है।

कुषाणकालमें पहुंच कर मथुराकी कला सम्पन्न हो चुकी थी। इस कालमें सुन्दरसे सुन्दर जैन मूर्तियां बनी जो पद्मासन कायोत्सर्ग दोनों आसनों में मिलती हैं। पद्मासन मूर्तियोंकी परम्परा मोहेंजोदरोंसे चली आरही थी और जैन क्षेत्रमें बराबर उक्त प्रकारकी मूर्तियां बनरहीं थीं। इन्हीके आधारपर ही अब अन्य मूर्तियां बनने लगी थीं। बुद्ध मूर्ति तीर्थंकर मूर्ति का अनुकरण थी। मथुरा कलाकी मूर्तियां लाल चित्ते दार पत्थरकी हैं। और उन पर लेख भी खुदे है। इस कालकी अभिलिखित सर्वतो भद्रिका प्रतिमाएं भी ध्यान देने योग्य हैं जो प्राय खड्गासन हैं।

गुप्तकालमें आकर मूर्तिकला प्रौढ़ हो चुकी थी और विकासके उच्चतम शिखरपर पहुंच चुकी थी और अनेक सुन्दर, सुडौल, समानुपात एवं भावपूर्ण मूर्तियां इस युग में बनीं। कुषाणकाल का सादा प्रभामंडल अब अलंकृत बनाया जाने लगा था और उसमें हस्तिनख, मणिबंध तथा अन्य बेल बूटे सजाये जाते थे। इस कालकी सैंकड़ों मूर्तियां मथुराकी खुदाईमें प्राप्त हुई हैं। उत्थित पद्मासनसे ध्यानमुद्रामें स्थित किसी तीर्थङ्करकी मूर्ति उक्तकालकी जैनमूर्तियोंमें सर्वोत्तम है। इस मूर्तिमें न तो लेख कोई है और न कोई चिन्ह ही। इस लिए यह निर्णय नहीं किया जा सकता कि यह किस तीर्थङ्करकी मूर्ति है।

उदयगिर (भेलसा) की पहाड़ी में गुहा नं २० में पार्श्वनाथकी एक मूर्ति खुदी है जिस के बगल में एक लेख भी है। यह गुफा कुमारगुप्त प्रथम के शासनकालमें निर्मित हुई थी। बेसनगरसे प्राप्त एक तीर्थङ्कर मूर्ति और दूसरा पार्श्वनाथका फण-युक्त मस्तक ग्वालियरके पुरातत्व संग्रहालयमें प्रदर्शित है। कुमारगुप्तके समयके एक अन्य लेख से विदित होता है कि उक्त कालमें आदिकर्ताओं (आदिकर्तृन) की मूर्तियां दान की गई थी।

पूर्व मध्यकालमें भी यही क्रम जारी रहा, पर धीरे-धीरे अलङ्कारोंकी वृद्धि होने लगी और कला में कृत्रिमताने स्थान पकड़ लिया। मध्यकालमें जैन मूर्तियाँ अत्यधिक संख्यामें बनीं। ऐलोराके जगन्नाथसभा, इन्द्रसभा आदि गुहामन्दिरोंकी मूर्तियां— जिनमें से महावीर बाहुबलि, पार्श्वनाथ मुख्य है—इसकालके उत्तम नमूने है। यहां इन्द्र और इन्द्राणीकी मूर्ति इतनी स्वाभाविक एवं तदनुरूप है कि लोगोंने इन्हींके नाम पर उक्त गुहाका नाम इन्द्रसभा रख दिया। उक्त गुहामें इन्द्र ऐरावत पर और इन्द्राणी सिंहपर आसीन हैं। इसी प्रकार उत्तर मध्यकालमें चंदेलों, परमारों आदि राजवंशों का प्रभाव बढ़ा और इनके प्रश्रयमें जैन धर्मका प्रचार भी हुआ। मध्य भारत तथा दक्षिण में इस कालके मन्दिर और मूर्तियां बहुतायतसे मिलते हैं।

अब कलामें कोई नवीनता न आसकी और वह बूढ़ी हो चुकी थी। बस पुराना अनुकरण ही चल रहा था। कहीं कहीं उत्तरमें दक्षिणकी कला का अनुकरण किया जा रहा था। इस कालमें देवगढ़ खजुराहो आदि स्थानोंपर अनेक मन्दिर और मूर्तियां निर्मित हुई।

दक्षिणकी मूर्तियां और मन्दिर भी इस काल की विशेषता है। श्रवणबेलगोलाकी विशालकाय गोमटेश्वर बाहुबलीकी मूर्ति मूर्तिकलाका अद्वितीय नमूना है। यह मूर्ति एक ही पत्थरकी है और एक पहाड़ी पर स्थित है। इतनी सुन्दर और ऊंची मूर्ति अन्यत्र कहीं नहीं पाई गई।

ग्वालियरके किलेकी उत्तुंग मूर्तियां १५ वीं १६ वीं शती की है और वे पूरे किले में भीतर और बाहर इतनी संख्यामें काटी गई हैं कि उनसे उस कालमें जैन धर्मका अत्यधिक प्रचार होना प्रमाणित होता है।

धातु मूर्तियां

धातुमूर्तियां हर प्रकार से सुरक्षित मानी जाती थीं। पत्थर तो टूट भी सकता था, उस पर चिट्टे पड़ जाते थे, वर्षा और गर्मीके प्रभावसे वह दरक भी जाता था। पर धातु मूर्तियों में यह दोष न था, और इसलिये १०–११ वीं शती से लोगोंकी रुचि इस ओर बढ़ी और वे अत्यधिक संख्यामें बनाई गई। ब्राह्मण और बौद्ध मूर्तियां भी धातुओंकी बनने लगी थीं और दक्षिणके धातुकार इसमें विशेष दक्ष निकले। धातुकी जैन मूर्तियोंमें प्रायः तीन या पांच जिन खड्गासनमें मिलते हैं और उनके चिन्ह, छत्र, पार्श्वचर आदि साथमें बने रहते हैं।

मन्दिर

ऊपर मूर्तियोंके बारेमें लिखते समय स्थान-स्थानपर मन्दिरोंके बारेमें भी संकेत कर दिया गया है। जब मूर्तियां बनने लगीं तो उनकी रक्षा और उनपर छाया की भी आवश्यकता प्रतीत होने

लगी। धूप और पानीसे उनकी रक्षा आवश्यक थी और इसलिये मूर्तिगृह बनाये जाने लगे। अनेक मूर्तियोंपर बड़े बड़े छत्ते भी पाये जाते हैं जिनका उद्देश्य रक्षा ही प्रतीत होता है। पूर्वकालके मन्दिर शिखरहीन होते थे और उनपर छत रहती थी। इन मन्दिरोंमें प्रदक्षिणा मार्ग, गर्भगृह आदि भी बनाये जाते थे। धीरे-धीरे शिखर शैलीका प्रादुर्भाव हुआ और पीछे तो शिखर-निर्माणमें ही कारीगरीका प्रदर्शन किया जाने लगा। दक्षिणके मन्दिर विशेष अलंकृत हैं। खजुराहोके मन्दिरोंमें भी कलाके अलंकृत रूपके दर्शन होते हैं। आबूके मन्दिरोंका तो कहना ही क्या। पूरा मन्दिर संगमरमरका है और इसकी छतपर जो कारीगरीकी गई है उसे देखकर दांतों तले अंगुली दबानी पड़ती है। मानस्तम्भकी रचनाका सुन्दर उदाहरण एलोरा की इन्द्रसभा गुहा है जिसकी कारीगरी देखने योग्य है। भारतीय मन्दिर-निर्माण कला शिखरनिर्माण कलाका अध्ययन वेसर शैली नागरशैली, द्रविड़ शैली आदिको ध्यानमें रख कर किया जाना चाहिये।

गुहा, स्तूप, चैत्य और आयागपट्ट

मौर्य सम्राट और उसके पुत्र दशरथकी बनवाई बराबर पहाड़ीकी कड़े तेलिया पत्थरकी आजीवक भिक्षुओं को दानकी गई ओपदार गुफाए, गुहा-निर्माण कलाका प्रथम उदाहरण हैं। कलिंग सम्राट महामेघवाहन खारवेलकी खर्डागिरि और उदयगिरिकी गुफाएं, उदयगिरि (भेलसा) की गुहा नं० २०, एलोराकी इन्द्रसभा, जगन्नाथ सभा आदि गुफाएं तथा पश्चिम भारतकी अन्य जैन गुफाएं जैनोंमें प्रचलित गुहा निर्माणके सुन्दर नमूने हैं। एलोराकी गुफाएं तो चित्रित भी है और उनमें ऐसे रंगोंको काममें लाया गया है जो आज भी अपने पूर्वरूपमें जैसेके तैसे हैं। छतपर चित्रित कमलका नीला रंग इतना अधिक चमकीला है जैसे वह आधुनिक चित्रण हो।

बौद्धोंकी भाँति जैनोंमें भी स्तूपों और चैत्यों की पूजा प्रचलित थी, यह मथुराके विशाल स्तूपसे प्रमाणित हो गया है। यह नहीं कहा जा सकता कि जैनोंने स्तूप पूजा बौद्धोंके अनुकरण पर प्रारम्भ की क्योंकि मथुराके स्तूपकी प्राचीनता उसी काल तक जाती है जिस कालमें बौद्धोंमें स्तूप पूजा प्रचलित थी। यह स्तूप उतना ही कलापूर्ण था जितने बौद्ध स्तूप और इसमें बौद्ध स्तूपके सभी अङ्ग—तोरण, वेदिका आदि सुन्दर रूपमें विद्यमान थे।

स्तूपका मूल अभी तक विद्वानोंके विवादका विषय बना हुआ है। किन्हींका मत है कि यह प्राचीन यज्ञशालाओंका अनुकरण है जबकि दूसरे इसे बुद्धके उलट कर रखे गये भिक्षापात्रके आधार पर निर्मित मानते हैं। कभी कभी विशिष्ट पुरुषोंके स्मारक रूपमें भी स्तूप बनते थे और उनमें उनके अस्थि-फूल रखे जाते थे। पर यह आवश्यक नहीं था कि सभी स्तूप ऐसे हों। सारनाथके धमेख स्तूप और चौखण्डी स्तूपमें कनिंघमको कुछ भी प्राप्त नहीं हुआ था।

चैत्योंके बारेमें भी यह भ्रम फैला हुआ है कि वे चिताभूमि पर बनाए जाते थे। पर सच बात ऐसी नहीं है। चैत्य उसे कहा जाता था जो चिने जाते हों और वे प्रायः ईंट के बनते थे।

आयागपट्ट चौखूटे पत्थरके पट्ट होते थे। इन पर चैत्य, स्तूप आदिकी रचना की जाती थी और ये पूजाके काममें आते थे। मथुराकी खुदाई में अनेक आयागपट्ट प्राप्त हुये है जो मथुरा और लखनऊके संग्रहालयोंमें प्रदर्शित हैं। मथुरा संग्रहालयका क्यू २ नम्बरका आयागपट्ट विशेष महत्त्व का है जो मथुराके विशाल स्तूपकी अनुकृति अनुमानित किया गया है। इस पर ईस्वी १ ली शती पूर्वका एक छह पंक्तियोंका लेख है जिससे विदित होता है कि वसु नामकी एक वेश्या ने इसे दान में दिया था। लखनऊ संग्रहालयमें प्रदर्शित अनेक आयागपट्ट मथुराके प्राचीन स्तूप की बनावट पर प्रकाश डालते हैं।

उपसंहार

पुरातन जैन शिल्प का संक्षिप्त परिचय उपरोक्त पंक्तियोंमें कराया गया है। इससे हमें भली भांति ज्ञात हो जाता है कि पुरातन कालमें जैन संस्कृति भारतके कोने कोनेमें अपना प्रभाव जमाये हुये थी और जैनोंके लिये वह युग सम्मान एवं गौरवका युग था।

भारतके सभी सांस्कृतिक केन्द्रोंका अभी पूर्ण अध्ययन नहीं हो पाया है और न उन स्थनोंकी पूर्ण रूपेण खुदाई ही की जा सकी है। जैन केन्द्रों पर तो कुछ भी काम नहीं हुआ। सरकारके पास इतना द्रव्य नहीं कि वह सब काम अपने हाथमें सके जब तक कि जनता उससे सहयोग न करे। यदि वह कभी कुछ करती भी है तो जैन केन्द्रोंका नम्बर बहुत पोछे पड़ जाता है। यह तो जैन समाजके ध्यान देनेका विषय है कि वह अपने सांस्कृतिक केन्द्रों तथा पुराने ढूहोंकी खुदाई कराकर अपने प्राचीन गौरवको दु।नयांके सन्मुख उपस्थित करे काश जैन समाज इस ओर ध्यान देता।

"प्रकाश"

(ले०—श्री जुगलकिशोर जी कागजी)

प्रकाशके अभावमें संसार एक अन्धकारमय देखनेमें आरहा है। जड़ पदार्थ स्वयं अन्धकारमय है अत: बिना किसी प्रकाशकी सहायताके प्रकाश में नहीं आते और जबतक किसी प्रकाशके संबंध मे नहीं तब तक अन्धकारमय हुए पड़े रहते हैं। और अन्धकार फैलाते रहते है

प्रकाशका सम्बन्ध मिलते ही फैला हुआ अन्धकार तुरन्त नष्ट होजाता है और पदार्थ स्पष्ट देखने में आजाते है—

आक्रान्तलोकमलिनीलमशेषमाशु,
सूर्यांशुभिन्नमिव शार्वरमन्धकारम्।

यह महिमा यह शक्ति उसकी है जो स्वयं स्पष्ट रीतिसे प्रकाशित है और अपने प्रकाशके द्वारा अन्य पदार्थोंको भी प्रकाशित करदेता है।

सूर्य, चन्द्रमा, तारागण, दीपक, मोमवत्ती, बिजली आदिक पदार्थ स्पष्ट बता रहे हैं कि यह हमारा ही उपकार है कि तुम हमारीही सहायतासे संसारमें अपना मूल्य प्रकट करनेमें समर्थ हो सकेहो हो सकोगे और हो रहे हो।

कांचकी परख अन्य प्रकाशके द्वाराही की जाती है शीशेमें स्वयं प्रकाशकी शक्ति नहीं, प्रकाशसे सहायता लेकर स्वयं प्रकाशमान दीखने लगता है प्रकाश लेने अथवा लेकर देनेकी शक्ति तो काँचमें मौजूद है परन्तु स्वयं प्रकाशित होनेकी अथवा दूसरोंको प्रकाशित करनेको शक्ति नहीं है।

ज्ञानं यथा त्वयि विभाति कृतावकाशम्,
नैवं तथा हरिहरादिषु नायकेषु।
तेजो महामणिषु याति यथा महत्वम्,
नैवं तु काचशकले किरणाकुलेऽपि॥

बिना बाह्य प्रकाशके अंधकार अवस्थामें सभी पदार्थोंका एकसा मूल्य "अंधकार" ही अंधकार अनुभव-गोचर होता है। चाहे सोना हो चाहे मिट्टी, चाहे मनुष्य हो चाहे तिर्यञ्च, चाहे कीड़ा हो या टिड्डी—कुछभी क्यों न हो सभी पदार्थ

अंधकारमें मिलकर स्वयं अंधकार-मय बन जाते हैं किसीभी पदार्थका स्वरूप वर्ण, आकार, सुन्दरता, कुरूपता, घटियापन व बढ़ियापन, हेयता अथवा उपादेयता किसी में भी अन्तर नहीं रहता।

यहां ऐसा प्रतीत होता है कि संसार में पदार्थ दो तरह के हैं

१ वे जो स्वयं प्रकाशमान हैं।

२ वे जो स्वयं प्रकाशमान नहीं हैं किन्तु प्रकाशमान के सम्बन्धमें आकर प्रकाशित होजाते हैं।

इस प्रकार हमें वस्तुके स्वरूपका भली भांति पता चल रहा है कि हमारा शरीर, दूसरोंका शरीर हमारी वस्तुएं अथवा दूसरोंकी वस्तुएं जिनको हम प्रकाशकी सहायतामें देखते रहते हैं और आपस मे लेन-देन करते रहते हैं मिलाते व विछुड़ाते रहते हैं सभी का वास्तविकस्वरूप तो अंधकारही है प्रकाश के हटतेही व अन्धकारके फैलतेही सबही समान है अकारथ हैं, वेकार हैं, खोए हुएके समान हैं जिन को विना प्रकाशकी सहायतामें हम सम्भाल अथवा खोज तक नहीं सकते अत्यन्त अंधकारको अवस्थामें हाथको हाथ नहीं दीखता औरकी तो बात ही क्या है।

ऐसी अवस्थामें किस वस्तुका घमण्ड करें जो स्वयं प्रकाश-हीन, प्रभाहीन व निर्मूल अवस्थाको प्राप्त है?

क्या प्रकाशकी सहायतासे प्रकाशमें आनेवाले पदार्थ मूल्यवान व सारकहेजा सकते हैं? क्या उनमें किसी प्रकारकी कारीगरी उनके असली स्वभावको बदल सकती है? क्या इस प्रकारके पदार्थोंमें की गई चिन्ता कुछ लाभदायक होसकती है?

अन्धकार-युक्त पदार्थ तो स्वयं अन्धकारमय हो रह सकते हैं अपना स्वरूप नहीं बदल सकते वह दूसरे प्रकाशमानकी शक्तिसे प्रकाशमें भलेही आ जावें किन्तु उससे उन पदार्थोंको क्या लाभ? सहारा हटते ही फिर जैसे के तैसे। हमारी सारी शक्ति उन अन्धकारसे युक्त पदार्थोंमें लग रही है, उनके साथही हमारा सारा व्यापार होरहा है उनही को हमें पहिचान होरही है उन ही पदार्थोंके साथ हमारा सारा बुद्धि-बल उपयुक्त हो रहा है इसीकारण हम अभी तक अपनी आत्माकी शक्तिका भान नही करसके हैं।

हमने यही पहिचाना है कि सूर्य आदिक ही वस्तुओंके प्रकाशित करनेमें सहायक होसकते है इस कारण उनकोही इष्ट देवता मान लिया है और इसी प्रकारकी मिथ्या कल्पनाओं द्वारा इनके प्रकाश से देखनेमें आनेवाली वस्तुओंको ही अपने लिये लाभदायक श्रद्धान कर लिया है। उनके विषयमें ही ज्ञान और उनकी प्राप्तिके उपायोंमे प्रयत्न किया है यही मिथ्या-श्रद्धान ज्ञान व चारित्र है।

समस्त वस्तुओंको स्वयं अपनी शक्तिके द्वारा समस्त कालमें अनुभव करने वाली शक्ति स्वयं आत्मामें विद्यमान है किन्तु इस ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया है।

जितने भी शरीर-धारी प्राणिमात्र छोटे-से-छोटे व बड़े-से-बड़े जो संसारमें सवत्र भरे हुये है उन सभी प्रत्येक आत्मामें इस ही प्रकार की शक्ति छिपी हुई है।

अपनी मिथ्या-कल्पनाके कारण इसी तरह दूसरे पदार्थोंके सहारेको लेकर भय-भीत हुए आप अपनेको गौण व अन्यको मुख्य मान रहे हैं।

इसी तरह अगणित जन्म व मरण कर चुके हैं दूसरोंका ही भरोसा सहारा अथवा दूसरोंपर ही निर्भर अपनेको मानकर वेहाल होरहे हैं, स्थिरता व शान्ति को कभी प्राप्त नहीं होसके हैं।

सूर्यके अस्त होनेके पश्चात रात्रिमें किसी कारण वश दीपक आदिकके बुझ जानेकी अवस्था में हम भयभीत होजाते हैं—वेचैन होजाते हैं अस्थिर हो जाते हैं दुखी होजाते हैं।

रोशनीकी दशामे हमारी शान्ति व काम काज सब रोशनीकी ही शक्ति पर निर्भर रहते हैं; अपने ऊपर नहीं अपनी आत्माकी शक्तिपर नहीं।

यह पराधीन दशा हमारे लिये किसप्रकार सदा रहने वाली शक्तिको प्राप्त करा सकती है?

यह सूर्य चन्द्र व दीपकका प्रकाश स्वयं भी पूर्ण नहीं जो सदा काल अपने प्रकाशसे सब प्रकाशित करसके। काल-भेदके कारण सूर्य चन्द्र को उदय व अस्त होना पड़ता है बादलोंके द्वारा छुपना पड़ता है, राहुके द्वारा ग्रसित किये जाते हैं, प्रकाशकी हीनता व अधिकताको प्राप्त होना पड़ता है, प्रातः काल, मध्याह्न व सायं कालमें भिन्न भिन्न दशाको प्राप्त होना पड़ता है प्रतिदिन अपने प्रकाशके समय में हीनता व अधिकता करनी पड़ती है, दीपक तनिक सी हवासे बुझ जाता है तेल और बत्तीके सहारेसे जलता है—इनमें भी एक समान स्थिरता नहीं दीखती फिर इन द्वारा प्रकाशित पदार्थ किस प्रकार संसारके प्राणियोंसे स्थिर भेद भावसे रहित सुख व आनन्द को उत्पन्न करसकते हैं?

इसी कारण संसारमें सभी प्राणी दुखी हैं।

"दाम बिना निधन दुखी तृष्णा वश धनवान"

यदि हम अपने लिए वास्तविक सदा रहनेवाली शान्ति चाहते है तो हमको अपना मार्ग बदलना पड़ेगा। बम्बई जानेकी इच्छा रखने वाला पथिक यदि कलकत्तेकी लेनपर चलता रहेगा तो वह इष्ट स्थानसे दूरही दूर होता जावेगा और उसका सारा परिश्रम व्यर्थ ही जावेगा।

पदार्थोंको सदाकाल प्रकाशित करनेकी शक्ति न सूर्य में है, न चन्द्र में, न दीपक मे है, न किसी अन्य मे है। उनके प्रकाशमें पदार्थभी सदा एकसे नहीं दीखते यहभी दोष है। सूर्य आदिकी चालके साथ वस्तुकी अच्छाईका आकारबदलता रहता है, किसी को कोई चीज कम बढ़ दिखाई देती है। कम-बढ़ पन एक दूसरे की अपेक्षा कृत होता रहता है। समस्त वस्तुएंभी एक समयमें दृष्टिगोचर नहीं होती, चिराग तले तो अन्धेरा ही रहता है। वस्तुएं निकट होनेपर भी बहुधा दिखाई नहीं देतीं।

इससे अनुभव होता है कि संसारमें देखनेमें आने वाली समस्त वस्तुएं अधूरी हैं निस्सार हैं—सार रहित हैं—विश्वासकी पात्र नहीं, श्रद्धान, ज्ञान व आचरणकी पात्र नहीं। इनके साथ सारा परिश्रम बालू रेतके पेलनेके समान अथवा कुएंके रहटके समान है। ढलती फिरती छाया, चलती-फिरती हवा चंचल लक्ष्मी व चंचल मन सब हवामें महल बनाने की बातें हैं। सब कुछ करा कराया जरा सी देरमें बदल जाता है।

इसप्रकार देह व संसारका वास्तविक विचार करना और हर पदार्थको उसकी असली दशासे लेकर उसकी कुल विकृत हुई अथवा विकृत की गई अवस्थाओंपर ध्यान देनेसे भेद-विज्ञानकी ज्योति जागृत होती है।

जिस भूलके कारण संसारमें आज तक दुःखी हो रहे हैं उस भूलका पता लगाना और फिर उस-प्रकारकी भूलमें न फंसना यही मनुष्य पर्यायको प्राप्त करनेका वास्तविक फल है। इसी से मनुष्य जन्म अन्य एकेन्द्रियसे लेकर पञ्चेन्द्रिय सैनी पशु अथवा देव व नारकी पर्यायोंसे उत्तम है। इसप्रकारका विचार व विवेक बुद्धि जीवमें मनुष्य पर्यायमें ही जागृत होती है।

मनुष्यका कर्तव्य है कि वह विचार करे व अनुभव करे कि मेरी आत्मा जो सदैव से दुःखी जीवन व्यतीत कर रही है उसका कारण वह स्वयं तो नहीं है। जिस प्रकाशकी उसको आवश्यकता है—जिस निर्भयता व शक्तिकी उसे जरूरत है वह क्या उसीके पास नहीं है। जरा उसको अपने आपमें ही खोज-कर तो देखो। 'बगलमें छोरा गांवमें खोजा' क्या यही बात तो नहीं?

सतगुरु बार बार ग्रन्थोंमें आत्माका सत्य स्वरूप बता चुके हैं किन्तु वह सत्य प्रतीत नहीं हुआ उसका कारण अनादि कालसे लगा हुआ मिथ्या-श्रद्धान ही तो है।

जरा ठहरो समझो समझने का अभ्यास करो यह कालिमा जो आत्मापर चढ़ी हुई है उसको हलकी करते जाना है पश्चात् सतगुरुओंकी बात समझमें अवश्य आने लगेगी इसमें घबरानेकी बात नहीं।

अपनी आत्माका श्रद्धान यही है इसीप्रकार है, और नहीं और प्रकार नहीं आत्माका ज्ञान कि आत्म

परम ज्योति स्वरूप है, समस्त मोह रूपी अन्धकार के दूर होने पर समस्त पदार्थोंको युगपत् तीनों कालकी समस्त पर्यायों सहित जैसाका तैसा जानने वाला है। किसी दीपक आदि प्रकाशक पदार्थोंके अधीन नहीं अपितु प्रकाशक होकर स्वयं प्रकाश रूप है, चित्का स्वरूप प्रकाशमय हो तो है, अथ च अनन्त सुखी है और अनन्त बलके कारण निर्भय है इसप्रकार की शक्तिको प्रकट करने का अभ्यास- निरन्तर अपनी समस्त मन वचन काय सम्बन्धी क्रियाओंको रोककर अपने आत्माके अन्दर करो।

यह ही तो वास्तविक प्रकाश है समस्त जीवोंके लिये प्रकाशका एक मात्र मार्ग है ऐसा श्री जिनेन्द्रदेवने अपनी दिव्य वाणीके द्वारा उपदेश दिया है।

इसी प्रकारका प्रकाश प्राप्त करने वाले मनुष्य परमात्मा होते है जो संसारके समस्त प्राणियोंको अपने समान शक्ति वाला जानकर शक्तिकी अपेक्षा उनको अपने समान देखते हैं।

इसीप्रकार के प्रकाशको प्राप्त करने वाले अभ्यासी मनुष्य अपनी आत्मामें शान्तिको स्थापित करते रहते हैं और दूसरे जीवोंको भी सुखके निमित्त बन जाते है।

अपने प्रकाशमें आप मग्न हो जाते हैं अपनी आत्माका दर्शन प्राप्त करते हैं और यही आत्माके उज्वल होनेका प्रमाण है। प्रत्येक आत्मा स्वयं प्रकाशमान शक्तिमय है।

बाह्य प्रकाश तभी तक सहारा मात्र होना चाहिये जबतक अपना प्रकाश प्रकट न हो। सीढ़ी तभी तक उपयोगी है जब तक ऊपरी जोने पर न पहुंच जाय। समस्त बाह्य साधनोंको एक सहायक मात्र ही समझ कर उनके छोड़नेमें रुचि व अभ्यास करते रहना चाहिये और निज की शक्तियोंको पकड़ कर उनपर पूर्ण विश्वास करते हुए अपनी अनन्तज्ञान-अनन्त दर्शन ज्योतिको जगाना चाहिये। प्रश्न हो सकता है कि प्रकाश-प्रकाशमें किस भांतिका भेद है? लौकिक प्रकाश व आत्मिक प्रकाशमें क्या अन्तर है? क्रिया भी एकसी दीखती है—उत्तर यह है कि एक प्रकाशाभास है जो कुछ समय पश्चात् नष्ट हो जाता दूसरा प्रकाश है जो सदा बना रहता है जिसे हम पूर्ण आनन्द भी कह सकते है क्योंकि जब यह आत्म प्रकाश चमकने लगता है तभी आत्मिक आनन्दानुभवकी प्राप्ति होता है सुखाभास तो अन्धेके समान अन्धा है बेभरोसे है पराधीन है क्योंकि विषय-जन्य है। किन्तु आत्मस्थ सुख स्वाधीन है निरन्तर रहने वाला है। किसी के द्वारा नष्ट होने वाला नहीं और न ही किसी को नष्ट करने वाला है।

त्वामव्ययं विभुमचिन्त्यमसंख्यमाद्यं,
ब्रह्माणमीश्वरमनन्तमनङ्गकेतुम्।
योगीश्वरं विदितयोगमनेकमेकं,
ज्ञानस्वरूपममलं प्रवदन्ति सन्तः॥

कतिपय प्रकाशित ग्रन्थोंकी अप्रकाशित प्रशस्तियाँ

(ले० श्री अगरचन्द नाहटा)

प्राचीन ग्रन्थोंके सम्पादनका कार्य बड़ा श्रम-साध्य व जिम्मेवारीका है। कुशल सम्पादकके हाथों ग्रन्थके गौरवकी अभिवृद्धि होती है और अकुशलके हाथ पड़नेसे उसका मूल-महत्वभी जाता रहता है। सच्चे जौहरीके हाथ जवाहरात वास्तविक मूल्य व शोभा पा सकता है, कुशल जड़िया उन्हें उपयुक्त रीतिसे सुन्दर आकारमें जड़ित करके उनकी शोभा मे अतिशय वृद्धि कर देता है। यही बात सुयोग्य संपादकके हाथ ग्रन्थरत्नकी होती है; मुद्रण-युगके प्रारम्भमें प्राचीन ग्रन्थोंका प्रकाशन जोरोंसे हुआ, पर उस समय वैज्ञानिक संपादन-पद्धतिकी जानकारी नहीं होनेसे उनकी उपयोगिता काम-चलाऊ से आगे न बढ़सकी। वास्तवमें प्रकाशकोंका उद्देश्य जनताके हाथोंमें उन्हें पहुँचा देना ही था। इस समय योग्य व्यक्तिके सम्पादनमें ग्रन्थका प्रकाशन होनेसे अशुद्धियें नहीं रह पाती थी, यही उसकी विशेषता थी। इधर पाश्चात्य विद्वानोंने एकही ग्रन्थ की प्राप्य अनेक प्रतियोंके आधारसे पाठान्तरोंके साथ बहुत श्रम-पूर्वक प्राचीन अनेक ग्रन्थोंका सम्पादन कर आदर्श उपस्थित कर दिया और उनके अनुकरण द्वारा हमारे देशमेंभी इधर कई वर्षोंसे प्राचीन ग्रन्थोंका सम्पादन बहुत सुन्दर रूपमें होने लगा है।

किन्तु हमारे कई प्रकाशकोंने प्राचीन ग्रन्थोंके सम्पादनमें प्रामाणिकताको भी भुला दिया प्रतीत होता है। लोक भाषाके प्राचीन ग्रन्थोंको तो प्रकाशन के समय वर्तमान समयके उपयोगी या सुबोध बनानेके लिये भाषामें परिवर्तन कर ग्रन्थोंको रूपान्तरित कर दिया है, पर उनका दृष्टिकोण उन ग्रन्थों को लोक-भोग्य बनाना था अत: वह क्षम्य समझा जासकता है। पर कई प्रकाशनोंने ग्रन्थकारके नामादि—सूचक प्रशस्तियोंको भी उड़ा दिया है, यह सर्वथा अक्षम्य अपराध है। कई बार तो हस्तलिखित प्रतियोंके लेखकों द्वारा ही ऐसा किया गया पाया जाता है, उसके लिये तो प्रकाशक जिम्मेवार नहीं है। यद्यपि उसी ग्रन्थकी प्रत्यन्तरोंको एकत्र कर ग्रन्थ सम्पादन किया जाता तो वह त्रुटि नहीं रह पाती, पर कभी कभी उसकी अन्य प्रति कहां कहाँ प्राप्य है? जाननेमें नहीं आता व ज्ञात हो भी जाय तो उसे प्राप्त करनेमें कठिनाई होती है। अत: उसके लिये प्रकाशकोंको दोष नहीं दिया जा सकता। पर कहीं कहीं ऐसा प्रतीत होता है कि ऐसा अपराध प्रकाशकोंने जानबूझ कर किया है तो दोषकी सीमा नहीं रह जाती। यद्यपि ऐसे प्रकाशनोंमें प्राय: प्रस्तावनादि कुछ नहीं होती, और होती है तो उसमें कहांकी व कबकी लिखित प्रतिके आधारसे इसका सम्पादन किया गया है? उल्लेख नहीं रहता। अत: निश्चितरूपसे तो नहीं कहा जा सकता कि ग्रन्थकार सम्बन्धी प्रकाशित-प्रशस्ति उनको प्राप्त प्रतिमें थी या नहीं, पर वैसी बात एक ग्रन्थके लिये न होकर कई ग्रन्थोंके लिये समान-रूपसे लागू होती है तब प्रकाशक या सम्पादकने जानबूझकर ही वैसा किया है, यह सहजमें ही अनुमान किया जा सकता है।

जामनगरके पं० हीरालाल हंसराज जैन श्वे० कान्फरेन्सकी ओरसे जैसलमेरादि जाकर वहांके ज्ञानभंडारस्थ प्रतियोंको सूची बनाई एवं पचासों प्रकाशित ग्रन्थोंको प्रकाशमें लाकर उन्हें सर्व साधारणकेलिये सुलभ बनाया उसकेलिये तो वे धन्यवादके पात्र हैं पर उन्हें उक्त कार्य जैसी योग्यता व प्रमाणिकतासे करना चाहिये था, वैसा किया हुआ प्रतीत नहीं होता। जैसलमेर भंडारकी सूची बनाने में असावधानी रखनेके कारण पचासों भूल भ्रान्तियोंकी परम्परा बढ़ी एवं कई ग्रन्थोंकी प्रशस्तियां प्रकाशित न करनेसे उनके रचियताओंके सम्बन्धमें अन्धेर कर दिया गया। यहां आपके कतिपय ऐसेही ग्रन्थों की प्रशस्तियां प्रकाशितकी जा रही हैं जिनसे उनके वास्तविक ग्रन्थकारोंका भलीभांति निर्णय हो जाय।

गत वर्ष मेरे भ्रातृ-पुत्र भंवरलालका बनारस जाना हुआ और वहांके पू० हीराचंद्रसूरिजी के हस्तलिखित ज्ञानभंडारका अवलोकन कर उसने कतिपय ग्रन्थोंके नोट्स लिये। मेरे कलकत्ते जानेपर उसने मुझे उन्हें बतलाया तो कई ग्रन्थ मुझे अन्यत्र-अप्राप्त होनेके कारण महत्वके प्रतीत हुए। उनमें से जिनवर्द्धनसूरिका प्रत्येक बुद्धचरित्रभी एक था। भंडार उसने पूरा नहीं देखा था। अतः उसे देखनेव वहां जाके अवलोकन-कार्य पूरा करनेकी इच्छा हुई। इधर महावीर जयन्तीकेलिये वैशालीका निमंत्रण मिला और वहां जानेपर बनारस भी जाना हो गया। अवसर पाकर मैंने उक्त भंडारके अवशिष्ट ग्रन्थभी देख डाले व प्रत्येकबुद्धचरित्रकी तो प्रेस कापी करानेके लिये सूरिजीसे अनुरोध कर प्रति भी साथ ले आया। प्रति लौटानेकी अवधि कम मिली अतः प्रतिलिपि करनेका कार्य कलकत्तेमें मिश्रीमल जी पालेरेचा व बीकानेरमें गोविन्दप्रसादजीद्वारा सम्पन्न कराया गया। नकल पूर्ण हो जानेपर विचार हुआ कि यह अलभ्य काव्य प्राप्त हुआ है अतः इसका परिचयात्मक एक लेख तैयार करना आवश्यक है। इसी प्रसंगसे प्रकाशित प्रत्येकबुद्धचरित को देखना प्रारम्भ किया तो पं० हंसराजका प्रकाशित निर्नायक प्रत्येकबुद्धचरित उससे अभिन्न ही प्रतीत हुआ। इससे मनमें बड़ा खेद हुआ कि पहले ज्ञान न होनेसे व्यर्थही प्रतिलिपि कराने आदिमें समय एवं अर्थकी बरबादी हुई। खैर! जिस बंडलमें उक्त प्रकाशित प्रति थी, उसमें पंडितजीके प्रकाशित अन्य ग्रन्थोंको भी देखा, तो उनमें भी रचयिताके नामादिका निर्देश नहीं मिला। अतः हस्तलिखित प्रतियोंसे मिलान किया तो अन्य ३-४ ग्रन्थोंके भी रचयिताओंका पता चल गया। इसी अन्वेषणको पाठकोंके सामने यहाँ उपस्थित किया जा रहा है। अन्तकी एक प्रशस्ति सागरानन्द सूरिजीसपादित श्रीपाल चरित्रअवचूर्णिकी है, वह भी प्रकाशित संस्करणमें नहीं दी गई थी। अतः यहां दे दी जा रही है—

१-प्रत्येकबुद्धचरित्र—इसे पं० हीरालाल हंसराजने अपने जैन भास्करोदय प्रिन्टिंग प्रेसमें मुद्रित कर १६७६ में प्रकाशित किया है। ग्रन्थ संस्कृत भाषामें पद्यबद्ध है। पत्राकार पृष्ठ ३५४ में ग्रन्थ समाप्त होता है। ग्रन्थके चार प्रकाश हैं, प्रकाशकने ग्रन्थकारके नाम-सूचक कहीं भी प्रशस्ति नहीं दी है और न कहीं सूचना ही दी गई है पर बनारसके आ० हीराचन्द्र सूरिजीके संग्रहकी प्रतिसे मिलानेपर यह काव्य १५ वीं शतीके खरतरगच्छाचार्य जिनवर्द्धनसूरि-रचित सिद्ध होता है। प्रशस्तिसूचक पंक्तियां प्रत्येक प्रकाशके अन्तमें प्राप्त हैं जो निम्न प्रकार है। प्रति १७ वीं सदीके प्रारम्भकी लिखित है।

१ इति श्रीप्रत्येकबुद्धचरित्रे श्रीखरतरगच्छालंकारसार श्रीजिनराजसूरिगणधरपट्टे श्रीजिन वर्द्धनसूरिविरचिते करकंडुवर्णनो नाम प्रथम प्रस्तावः ॥१॥ श्लो—३३

२. इति श्रीखरतरगच्छे श्रीजिनराजसूरिपट्टे श्रीजिनवर्द्धनसूरिविरचिते श्रीप्रत्येक बुद्धचरित्रे

द्विमुखराजर्षिवर्णनोनाम द्वितीयप्रस्ताव: ॥ श्लोक २४३

३. इति श्रीखरतरगच्छालंकारसार (श्रीजिन)राज सूरिगणधरपट्टे श्रीजिनवर्द्धनसूरिविरचिते तृतीयाप्रस्तावे नमिप्रथमद्वितीयभववर्णनो नाम प्रथमप्रकाश: । श्लो. २८८

४ इति श्रीखरतरगच्छालंकारसारश्रीजिनराजसूरिगणधरपट्टे श्रीजि नवर्द्धनसूरिविरचिते श्रीप्रत्येकबुद्धचरित्रे नमितृतीयचतुथ भववर्णनो नाम द्वितीयप्रकाश: । श्लोक ७०२

५. इति श्रीखरतरगच्छे श्रीजिनराजसूरिपट्टे श्रीजिनवर्द्धनसूरिविरचिते श्रीप्रत्येकबुद्धचरित्रे तृतीय (प्र०) नमिपंचमषष्ठमभववर्णनो नाम तृतीय प्रकाश: ।३॥ श्लोक ८८४

६. इति श्रीखरतरगच्छाधिराज श्रीजिनराज सूरिपट्टे श्रीजिनवर्द्धनसूरिविरचिते प्रत्येकबुद्ध चरित्रे तृतीय प्रस्तावे नमिसप्तमभववर्णनो नाम चतुर्थ प्रकाश श्लोक ८८८

जैसा कि उपर्युक्त उद्धरणोंसे स्पष्ट होता है प्रकाशित एवं हस्त लिखित प्रतिमें ३ प्रत्येक बुद्धोंका ही चरित प्राप्त है जबकि प्रत्येक बुद्ध ४ हैं। नभगति नामक चतुर्थ प्रत्येक बुद्धकी कथा इसमें नहीं है अत: इस कथाकी मूल प्रतियोंका अन्वेषण आवश्यक है। जैनरत्न कोषके अनुसार इसकी अन्य प्रतियें १ भंडार कर इन्स्टीच्यूट पूना २ विमलगच्छउपाश्रय अहमदाबादमें है उन्हें देखके निर्णय करना है कि उनमेंभी ३ प्रत्येक बुद्धकेही चरित्र हैं या चौथेका भी नाम है।

२ नरवर्मचरित्र—इसे उक्त पंडितजीने सं० १६६६ में (६२ पृष्ठोंका) प्रकाशित किया था। इसमें यद्यपि प्रशस्ति दी हुई है पर ग्रन्थकारका नामोल्लेख नहीं है। सं १६६१ के लगभग बाजोतरेके भावहर्षीय भंडारकी प्रतियोंका अवलोकन करते हुए इस ग्रन्थ की एक सुन्दर एवं प्राचीन प्रति उपलब्ध हुई जिसमें ग्रन्थकारके नाम सूचक निम्नोक्त प्रशस्ति उपलब्ध हुई जिससे इसके रचयिता खरतरगच्छीय विनयप्रभोपाध्याय सिद्ध होते हैं जिसके रचयिता गौतम रास बहुतही प्रसिद्ध हैं।

"सं० ४१२ वर्षे श्रीविनयप्रभोपाध्यायै: श्री स्तंभनपुरे स्थिते सम्यकत्वसाराचके हिनरवर्म नृप कथा: । ४८४ । शुभंभवतु । पत्र १०

२. गौतम पृच्छावृत्ति—इसकी पंडितजी ने प्रकाशित (१२६ पृष्ठोंवाली) तीसरी आवृत्ति मेरे संग्रहालयमें है; उसमें प्रशस्ति आदि ग्रन्थकार सम्बन्धी कुछभी उल्लेख प्राप्त नहीं है, जबकि हमारे संग्रहकी उक्त वृत्तिकी हस्तलिखित प्रतिमें निम्नोक्त प्रशस्ति है उसकी रचना स्व० मतिवर्द्धनने सं० १७३८ मगसिरमे जयतारणमें की सिद्ध होती है।

पंडितजी ने मूलग्रन्थकी गा. ६४ वीं देकर व्याख्या-सुगमा करके छोड़ दिया है, तब हमारी प्रतिमें व्याख्या इस प्रकार है—

व्याख्या-अष्टचत्वारिंशत् प्रश्नै: चतुर्षष्ठिर्गाथा प्राज्ञता श्रीवीरेण भगवता श्री सिद्धान्त मध्ये सविस्तरं प्रश्नं कथितमस्ति परमत्र ग्रन्थे गौतमेन संक्षेपेण अथ: भणित: एतदर्थं य: शृणोति वा पठति तस्य पुरुषस्य पापं न भवति पुण्यभावो भवति पश्चान्मोक्ष-सुखं भुनक्ति अत: भव्यलोकैरियं गौतम-पृच्छा पठनीया श्रोतव्या एवं।

श्री जिनहर्षसूरिणां सुशिष्या: पाठकावरा: ।
श्री सुमतिहंसाश्च तच्छिष्यै र्मतिवर्द्धनै: ॥१॥
पाठक पद संयुक्तै: कृता चेयं कथानिका ।
श्रीमद् गौतम पृच्छाया सुगमा सुखबोधिका ॥२॥
*सिद्धि[८] रामो[३] मुनी[७] चन्द्रे[१] वर्षेऽस्मिन् मार्गशीर्षके ।
श्रीमत्यां जगतारण्यां नगर्यां च शुभे दिने ॥३॥

इति श्री गौतम पृच्छाया: सुगमा वृत्ति: संपूर्णा। ग्रंथा ग्रन्थ २६८३। पत्र ३४

४. विक्रमचरित्र (पंचदण्डकथात्मक) इसे पंडितजीने सं० १६६८ में प्रकाशित किया है। प्रस्तुत संस्करणमें कहीं भी ग्रन्थकारका नामनिर्देश नहीं पाया जाता, जब कि स्थानीय ज्ञानभंडारस्थ प्रतिसे

* अंकानां वामतो गति:

मिलाके देखा गया तो वह साधुपूर्णिमा गच्छीय रामचन्द्रसूरिरचित ही है। सं० १४६० के माघसुदी १४ को स्तंभतीर्थमें प्रस्तुत ग्रन्थ रचा गया है जैसा कि निम्नोक्त प्रशस्तिसे स्पष्ट है।

सुभाषितानि पूर्वे च कवीनां रचितानिषचां।
सत्पर्यां काव्यमुख्याणि, शतानि पंचमुग्धकैः।२२॥
श्री साधुपूर्णिमापक्षकानने कल्पपादपाः।
श्रीमद भयदेवाख्याः सूरयो गुणभूरयः ॥२३॥
तेषां पाद प्रसादेन मया मूर्खेण निर्मिक्तिः।
ग्रन्थो विद्वज्जनैः शोध्यः कृपां कृत्वा ममोपरि ॥२४॥
श्रीमद्विक्रमकालश्च खं निधी रत्न संख्या।
वर्षे माघे सिते पक्षे शुक्लचतुर्दशीदिने ।।२५॥
पुण्ये रवै स्तंभतीर्थे रामचन्द्रणसूरिणा।
गद्यपद्यामयोकारि प्रबंधो जनरंजकः ॥२६॥
यावद्भूधरसागरौ रविशशी संभूभ्रु वस्तारकाः
धर्माधर्मविचारणैक निपुणां यावज्जगद्राजते।
तावद्विक्रमभूपराज विलसत्कीर्त्तिप्रभाभिश्चितो।
ग्रन्थोऽयं जिनशासनं सहृदयां चित्ते चिर नन्दतात्।२६।
श्लोकैनुष्टपा संख्या ज्ञेया लेखनकोविदैः।
पंच विंशति सार्द्धानि शतानि संति संख्यय ।॥२८॥

एवं प्रस्तावे ५८७ ग्रन्थाग्रन्थ २५५० अक्षर ३१। श्रीविक्रमादित्य नरेन्द्र श्रीपंचदंड छत्रचरित्रं समाप्तं॥

५. श्रीपालचरित्र अवचूर्णि—सूरतके सुप्रसिद्ध देवचन्द्र लालभाई पुस्तकों द्वारा ग्रन्थाँक ६३ के रूप में सं० १९८० के रूपमें प्रकाशित हुआ है। उपोद्घातमें आनन्दसागर (सागरानन्द) जीने इसकी अवचूर्णिकेलिये लिखा है कि "परमत्रावचूर्णिर्या मुद्रिता क्षमा कल्याणकै र्विहितेति प्रघोषः" परन्तु प्रशस्ति नहीं दी है, अतः यहाँ दी जाती है—

वर्षे नन्दगुहास्यसिद्धिवसुधा संख्ये शुभे चाश्विने।
मासे निर्मलचंद्रके सुविजयाख्यायां दशम्यां तिथौ।
पूज्यश्री जिनहर्षसूरिगणभृत् सद्धर्मराज्ये मुदा
श्री श्रीपालनरेन्द्रचारुचरिते व्याख्या समन्तात् कृता॥१॥
श्रीमन्तो जिनभक्तसूरि गुरवश्चांद्रे कुले जज्ञिरे।
तच्छिष्या जिनलाभसूरिमुनिपाः श्रीप्रीतितः सागराः।
तच्छिष्याऽमृतधर्मवाचकवरा स्तेषां विनेयक्षमा-
कल्याणाख्य सुपाठकेन सुधियां चैतःप्रसत्त्यै सदा ।।२॥
युग्मम्
स्व प्रशिष्यस्य प्राज्ञस्य ज्ञाननंद मुनेः किल।
आग्रहा लिखितोर्थोयं वीकानेरपुरे मुदा ॥ त्रिभिः सम्बंधः

इति श्री श्रीपालचरित्रस्य संक्षेप व्याख्या प्रायस्त्रीणि सहस्राणि साधिका द्वाविंशति ३०२२ सूत्र संख्या १५५० उभयमलनेन ४५७२ संख्या ज्ञातव्या।

किसी किसी ग्रन्थकी प्रतियोंमें प्रतिके लेखक द्वारा लिखित ग्रन्थका कुछ विशेष परिचय लिखा हुआ पाया जाता है जो अन्य प्रतियोंमें नहीं मिलता। उदाहरणार्थ पं० हीरालालप्रकाशित हर्षकुंजरके सुमित्रचरित्रमें ग्रन्थकारके गच्छ व गुरुका उल्लेख नहीं है जब कि जैसलमेरके तपागच्छीय भंडारकी उक्त ग्रन्थकी प्रतिमें खरतरश्रीजिनहर्षसूरिराज्यजयकीर्तिमहोपाध्यशिष्यहर्ष कुंजरोपाध्यायप्रकृतदान रत्नोपाख्याने लिखा पाया जाता है।



अन्यत्र अप्राप्त अजितप्रभु चरित

(लेखक—अगरचन्द नाहटा)

जैनधर्मके उद्धारक एवं प्रचारक तीर्थङ्कर माने जाते हैं उनकी संख्या भरत एवं ऐरावतक्षेत्रकी अपेक्षा २४-२४ मानी जाती है। जिस क्षेत्रमे हम निवास करते हैं वह दक्षिण भरतक्षेत्र कहलाता है और अभी अवसर्पिणी काल चलरहा है उनमें ऋषभादि चौवीस तीर्थङ्कर हो चुके हैं। इनके जीवन-चरित्र सम्बन्धी कतिपय घटनाओं का उल्लेख प्राचीन जैनागमोंमें पाया जाता है जिनमे से आचारांग में भ० महावीरके साधक जीवन, समवायांगमें २४ तीर्थङ्करोंकी कतिपय घटनाओं, ज्ञातासूत्रमें मल्लिनाथका जीवन-चरित जम्बूद्वीप पन्नत्तिमें ऋषभदेव, उत्तरा ध्ययनमें नेमिनाथ सम्बन्धी उल्लेख महत्वपूर्ण हैं। मूल आगमोंके पश्चात् आवश्यक निर्युक्तिमें २४ तीर्थङ्करोंका चरित्र कुछ विस्तारसे संग्रहीत पाया जाता है परवर्त्ती चूर्णियों एवं वृत्तियों में वह क्रमशः विस्तृत होता गया है स्वतन्त्र ग्रन्थों में ४-५ वीं शतीके वसुदेव हिंडी नामक सर्वप्रथम पौराणिक चरित्र-ग्रन्थमें भ० ऋषभदेव, शांतिनाथ कुंथुनाथ, एवं अरनाथका चरित्र उपलब्ध होता है। भरतादि चक्रवर्तियोंका चरित्र भी इसमें उल्लेखनीयरूपसे मिलता है। तत्पश्चात् शीलांकाचार्य रचित चउपन्न महापुरुष-चरित्रमें ५४ महापुरुषोंका चरित्र है। पर किसीभी तीर्थङ्करका स्वतन्त्र चरित-ग्रन्थ १२ वीं शतीके पहलेका उपलब्ध नहीं है। ❀ उपलब्ध साहित्यमें खरतरगच्छीय गुणचन्द्रगणि (देवभद्राचार्य) एवं नेमिचन्द्रसूरिके चरितकाव्य सब से प्राचीन हैं। सं. ११३९ में इन्होंने वीर चरित की प्राकृत पद्यबद्ध रचना की।

सं. ११३९ से श्वेताम्बर सम्प्रदायमें तीर्थङ्करोंके स्वतन्त्र जीवनचरितोंका निर्माण प्रारंभ होता है। इसी शताब्दी व परवर्ती शतीमें बहुतसे ऐसे ऐसेही ग्रन्थ रचे गये हैं। पाठकों को इसका आभास निम्नोक्त तालिकासे भली भांति मिलजायगा।

सं १०९० ❀	सूराचार्य	नाभेय नेमि चरित द्विसंधान
सं ११३९	महावीर चरित	गुणचंद्रगणि (देवभद्रसूरि)
सं ११३८ पाटण	,,	नेमिचन्द्रसूरि
सं. ११६०	आदिनाथचरित (प्र० ११-१२)	वर्द्धमान सूरि
सं. ११६०	शांतिनाथ चरित प्रा० प्र० १२१००	देवचन्द्रसूरि
सं.११६८	पार्श्वनाथ चरित प्रा० (८०००)	देवभद्रसूरि
सं.११७५	मल्लिचरित प्रा० प्र० ५५५५	जैनेश्वरम्

❀ बृहट्टिप्पणिकाके आधारसे जिनरत्नकोष व जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास पृ० २०७ मे सम्वत् १०१० लिखा है पर काव्य प्राप्त नहीं है इसके निर्माणका उल्लेख प्रभावकचरित्रमें भी है अतः इसकी खोज आवश्यक है।

सं ११७८	चंद्रप्रभ चरित प्रा० ग्र० ६४००	उ० यशोदेवसूरि
सं. ११७२	जयसिंहराज्ये श्रेयांसचरित (गा० ६५८४	हरिभद्राचार्य (बृहद्गच्छ)
सं. ११६३	दीवाली (आशार्वाल्ल) मुनिसुव्रतमुनि (प्रा० गा० १०८४४)	श्री चन्द्रसूरि
सं. ११६६	मा० सु० मंडलिपुर सुपार्श्वचरित (गा० ८००० श्लोक १०१३८) प्रकाशित	लक्ष्मणगणि
सं.११६६ से ११२३ कुमारपालराज्ये	सुमतिचरित (प्रा० मुख्य) (ग्र० ८६२१)	सोमप्रभ
"	नाभेयनेमिद्विसंधानकाव्य	हेमचन्द्रसूरि (बृहद्गच्छ)
"	मल्लिचरित्र (बहु प्राकृत ग्र० ६३००)	हरिभद्रसूरि
"	चन्द्रप्रभचरित	"
सं १२१६ का० सु० १३ सो० (पाटण)	नेमिचरित्र (प्रा० ग्र० ८०३२)	"
सं. १२१६	अनन्तनाथचरित (गा० १२०००)	नेमिचन्द्रसूरि
सं.१२१८	पार्श्वचरित सं. (ग्र० ६४००-६७७४)	भावदेवसूरि
१२२५ लगभग	मुनिसुवतचरित (सं० ग्र० ५१८५)	मुनिरत्नसूरि
१२३३	नेमिचरित (प्रा० गद्य पद्यमय ग्र० १२६००)	रत्नप्रभसूरि
१२५४	पद्मप्रभचरित	देवसूरि (जालिहर गच्छ)
१२६४ सोमेश्वरपुर	चन्द्रप्रभचरित (सं० प्रा० ग्र० ५३२५)	देवेन्द्रसूरि (नागेन्द्रगच्छ)
१२७६ दीवाली (देव कूपक)	पार्श्वचरित (सं ग्र० ५२७८)	माणिक्यचन्द्रसूरि (राजागच्छ)
	शांतिचरित	"
१२८५ लगभग	पार्श्वचरित	विनयचन्द्रसूरि
	(मुनिसुव्रतचरित ग्र० ४५५२)	"
१२८६	मल्लिनाथचरित महाकाव्य	"
१२६४	मुनिसुव्रतचरित	पद्मप्रभसूरि
	कुंथुनाथचरित	"

सं. १२९६ पाटण	वासुपूज्यचरित (सं० ग्र० ५४९४)	वर्द्धमानसूरि (ही० हं० प्रकाशित)
सं १३०२	चन्द्रप्रभचरित (ग्र० ६१४१)	सर्वानंदसूरि
	पार्श्वचरित सं	,,
१३१७	शांतिचरित सं. (ग्र० ४९११	पौ अजितप्रभ सूरि
१३२२	शांतिचरित सं. (४८८५)	मुनिदेवसूरि
१३३२	श्रेयांसचरित सं (ग्र० ५१२४)	मानतुंगाचार्य

इस लेखमें जिस अजितप्रभुचरितका परिचय दिया जारहा है वह इसी समयके लग-भगकी रचना है अत: यहीं तक स्वतन्त्र तीर्थंकर-चरितों की सूची दीगई है। कुछ अनिश्चित पर इस बीचके अन्य ज्ञात चरितग्रंथ इसप्रकार है।

ग्रंथनाम	ग्रन्थकार	उल्लेख
१ वासुपूज्यचरित	चंद्रप्रभ (प्रा. ८०००)	पाटणभंडार (हेम सूर्यादि संशोधित) सूची पृ. १४०।४२
२ शान्तिचरित	माणिक्यसूरि	उल्लेख वृहत् टिप्पणका (सं० ५५७४)
३ श्रेयांसचरित	देवभद्रसूरि (राजगच्छ)	पाटण भंडार (पाटणमें रचित)
४ पद्मप्रभचरित	देवभद्रशिष्यसिद्धसेनसूरि	जिनरत्नकोष

(इनमें नं० २ संभवत: उपयुक्त माणिक्यसूरि रचितसे अभिन्न हो, मेरा श्वेताम्बर साहित्यसे अधिक परिचय होनेसे तीर्थंकरचरित सम्बन्धी श्वेताम्बर ग्रंथोंको ही ऊपर सूची दीगई है मैं दिगम्बर विद्वानों से अनुरोध करूंगा कि वे अपने साहित्यकी सूची शीघ्र ही प्रकाशित करें ताकि उनके साहित्यका यथास्थान व यथासमय उपयोग किया जाता रहे।

इसके पश्चात् भी आज तक प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश व लोक भाषामे तीर्थङ्करोंके चरित-ग्रन्थ बनाने का क्रम चालूही है पर अजितनाथ स्वामीका कोई स्वतन्त्र चरितकाव्य अद्यावधि जाननेमें नहीं आया कुछ वर्ष हुए बीकानेरके जैनज्ञानभंडारोंकी सूची बनाते हुए स्थानीय बड़े उपाश्रयके बृहद् ज्ञान भंडारके अंतर्गत जिनहर्षसूरिभंडारमें एक अजितप्रभु चरितकी उपलब्धि हुई है अत: प्रस्तुत लेखमें उसका परिचय प्रकाशित किया जा रहा है। प्रतिका प्रथम पत्र प्राप्त न होनेसे प्रारंभके १४ श्लोक प्राप्त नहीं होसके। ग्रंथके अन्तमें ग्रन्थकारकी प्रशस्ति भी नहीं है केवल सर्ग-समाप्तिमें लेख-प्रशस्ति पाईजाती है उससे ग्रन्थके रचयिता श्री पद्मप्रभाचार्यके शिष्य देवानन्दसूरि सिद्ध होते है। काव्यका अपरनाम आनन्दाङ्क लिखागया है, यह ७ सर्गात्मक है। यद्यपि प्रशस्ति नहीं होनेसे ग्रंथकारके गच्छ एवं संवत का उससे निर्णय नहीं होता, पर जैनसाहित्यनो संक्षिप्त इतिहास के पृ० ४४४ में सं.१३२० में पौ० चन्द्रप्रभसूरि धर्मघोष, भद्रेश्वर, मुनिप्रभ, रत्नप्रभ चन्द्रसिंह, देवसिंह, पद्मतिलक, देवचन्द्र, पद्मप्रभ सूरि शिष्य देवनंद अपर नाम देवमूर्तिके रचित क्षेत्र समास व स्वोपज्ञ वृत्तिका उल्लेख है। प्रस्तुत चरितमें उल्लिखित गुरुनामकी समानता को देखते हुए क्षेत्रसमासके रचयिता इनसे अभिन्न प्रतीत होते हैं। अत: आपका गच्छ पूनमिया व समय स० १३२० के लगभग का निश्चित होता है पाठकोंकी जानकारी के लिये अजित प्रभु-चरितके आदि-अंतके साथ आव-

श्यक जानकारी यहां दी जारही है यदि अन्यत्र कहीं इसकी प्रति किसी सज्जनके पास हो तो मुझे सूचित करने की कृपा करें। संभव है उसमें ग्रन्थकारकी प्रशस्ति भी प्राप्त होजाय । प्रारंभके १४ श्लोक प्राप्त होनेसे प्रस्तुत प्रति भी पूर्ण करा ली जायगी।

देवानन्दसूरि-रचित अजितप्रभुचरित प्रारंभ—प्रतिका प्रथम पत्र न मिलनेसे आदिके १४ श्लोक नहीं मिलसके।

आदि- अर्हनपादांबुजध्यानवर्जिता मोहतर्जिता। अजितं कृत्व तोप्याश्रु। नयंति नृभवं यथा १५

पत्र३६ प्रथमसर्गअन्त—श्लो. १२३५।

इति श्री पद्मप्रभाचार्यचरणराजीवचंचरीकश्रीदेवानन्दसूरिविरचितेश्रीअजितप्रभुचरिते आनन्दांके महाकाव्येमंगलकलशचंपकमालानागकेतूक्तरगडूकर्षिदृष्टांताविर्भावितफलदानशीलतपोभावना स्वरूपचतुर्विधि धर्मप्ररूपणोनामप्रथमः सर्गः।

ग्रन्थाग्र१२४२अ. २४ पद छः। पत्र ६८B द्वि० सर्ग अन्तश्लोक१००६ इति श्रीपद्मआनंदांके महाकाव्येलक्ष्मी १ बंधु २ स्त्री ३ विषय ४ शरीर ५ वैरस्य सूचक श्रीपति १ कीर्तिचंद्र २ अगडदत्त ३ मधु बिंदु ४ शशिप्रभा ५ ख्यात अविरति स्वरूप निरूपक जिनपालित जिनरक्षित दृष्टांतगर्भित भगवन-पूर्वभववर्णनो नाम द्वितीय सर्गः ॥६॥ ग्रन्था० १०१३ अक्षर २८ सर्गद्वये २२५६ अ० २०

पत्रांक ८६ A तृतीय सर्गे अन्त—श्लोक ७०७ इति प० काव्ये च्यवनजन्मदीक्षाज्ञानकल्याणवर्णनो नाम तृतीयसर्गः। श्री ग्रन्थाग्र० ७१० अ० १ आदितः २६६४ अ० २१ ए० प०

पत्रांक १०२ A चतुर्थसर्गअन्त श्लोक ४५८। इति सगरचक्रिदिग्विजयधर्नामित्रदृष्टांतचक्रिपूर्व भवोपेत प्रभुदेशनाचक्रिसुतोत्पन्न वर्णनोनाम चतुर्थ सर्गः। श्री ग्रन्थाग्रं. ४५६ अक्षर १२ आदितः ३४२४ अक्षर १।

पत्रांक १०८ A पंचमसर्ग अंतः श्लोक २३१। इति स्त्रीदुश्चरित्रविरक्ताशोकभद्रऋषिचरित्रगर्भित सगरनन्दनस्वेच्छाविहारश्री अष्टापदतीर्थवंदनवर्णनो-नाम पंचमसर्गः प्र०२३७ अ० ४ आदितः ३६६१।

पत्रांक १३१B षष्ठ सर्गान्तश्लोक ८१७ इति सगर नंदन निधन वसुमतीदृष्टान्तपूर्वकतत्पूर्वभवपंचेंद्रिय दुर्विपाकसूचककथापंचकमयप्रभुदेशना चक्रवर्तिदीक्षा वर्णनो नाम षष्ठः सर्गः प्र० ८२२ अ० १६ आदितः ४४८३ अ० २१

पत्रांक १३८B सप्तमसर्ग अंतः— श्लोक २४८ इति श्री पद्मप्रभाचार्यचरणराजीवचंचरीकश्रीदेवनंदसूरि-विरचिते श्रीअजितप्रभुचरिते आनंदांके महाकाव्ये दृढ़ सम्यक्त्वयुद्धभटवृत्रांतप्रस्तावागत अमरदत्तभार्या-कथानकनिरूपणोनाम सप्तमसर्गः प्र०२५१ आदित ४७३४ अ० २१।

अन्तश्लोक—

आनंदयन् भव्यजनांबुजालीसद्बोतरापास्ततमसमूहः जिनेश सूरो निजपादचारैःपवित्रयामास महींसमंतान २४८।

लेखन प्रशस्तिश्री अन्चलगच्छेश्रीधर्ममूर्तिसूरिविजय-राज्येआचार्यश्रीकल्याणसागरसूरितच्छिष्यवाःश्रीसौ-भाग्यमूर्तिलिखिते भद्र भ०।

(पत्र १६८ प्रति पृष्ठ पंक्ति १३ से १६ प्रति पंक्ति अक्षर ३८ से ४२) बीकानेर बृहत्ज्ञानभंडारके जिनहर्षसूरि भंडार नं० १० में)।

इनको आचार्य पद १६४४ में मिला व धर्म मूर्ति सूरि १६७० तक विद्यमान रहे अतः प्रस्तुत मूर्तिका लेखन १६४६ से १६७० के बीचमें हुआ सिद्ध होता है।

भद्रबाहु-निमित्तशास्त्र

(गत किरणसे आगे)

रथायुधानां सत्त्वानां हस्तिनां सदृशानि च । यान्यग्रतो प्रधावन्ति जयमाख्यान्त्युपस्थितम् ॥१०

अर्थ—रथ (गाड़ी. बग्घी मोटर विमान) तथा आयुध (तलवार आदि) रूप और हाथी आदि प्राणियोंके सदृश बादल राजाके आगे आगे गमन करें तो वे उसकी जयको सूचित करते हैं ॥१०॥

ध्वजानां च पताकानां घण्टानां तोरणस्य च। सादृशान्यग्रतो यान्ति जयमाख्यान्त्युपस्थितम् ११

अर्थ—ध्वजा पताका घण्टा और तोरण आदि शुभ (अष्ट मंगल द्रव्य—आठ प्रातिहार्य) रूप आकृतिवाले बादल राजाके प्रयाणसमय आगे आगे गमन करें तो उनसे राजाकी विजय सूचित होती है

शुक्लानि स्निग्धवर्णानि पुरतः पृष्ठतोऽपि वा । अभ्राणि दीप्तरूपाणि जयमाख्यान्त्युपस्थितम् १२

अर्थ—श्वेत और चिकने बादल राजाके आगे अथवा पीछे चमकते हुए गमन करें तो विजय-लक्ष्मी उसके सामने उपस्थित रहती है अर्थात् युद्धमें उसे विजय मिलती है ॥१२॥

चतुःपदानां पक्षी (क्षि)णां क्रव्यादानां च दंष्ट्रिणाम् । सदृशप्रतिलोमानि वधमाख्यान्त्युपस्थितम् १३

अर्थ—चौपायों (ऊंट भैंसा, सुअर, गधा, आदि) और मांसभक्षी क्रूर पक्षियों (गीध, काक बगुला, बाज, तीतर आदि) तथा दांतवाले हिंसक प्राणियोंके आकार वाले बादल राजाको युद्धके लिये गमन समयमें प्रतिलोमगति (अपसव्यमार्ग) से गमन करते हुए दिखाई दें तो राजाका घात अथवा पराजय होती है ॥१३॥

असि शक्ति-तोमराणां खड्गानां चक्रचर्म्मणाम् । सदृशप्रतिलोमानि संग्रामं तेषु निर्दिशेत् ॥१४॥

अर्थ—तलवार, त्रिशूल, भाला बर्छी, खड्ग, चक्र और ढालके समान आकार वाले और उल्टे मार्गसे गमन करनेवाले बादल युद्धकी सूचना करते है ॥१४॥

धनुषां कवचानां वालानां सदृशानि च । खण्डान्यभ्राणि रूक्षाणि संग्रामं तेषु निर्दिशेत् ॥१५॥

अर्थ—धनुषाकार, कवचाकार, वाला (अश्व और हस्तिकी पूंछडी) के सदृश तथा खण्डित बादल हों एवं रूक्ष भी हों तो उनसे संग्रामकी सूचना होती है ॥१५॥

नानारूपप्रहरणैः सर्वे यान्ति परस्परम् । संग्रामं तेषु जानीयादतुलं प्रत्युपस्थितम् ॥१६॥

अर्थ—नाना प्रकारके रूप धारण कर सब बादल परस्परमें आघात प्रतिघात करें तो वे घोर संग्राम सूचक है ऐसा जानना चाहिए ॥१६॥

अभ्रवृक्षं समुच्छाद्य योऽनुलोमसमं व्रजेत् । यस्य राज्ञो वधस्तस्य भद्रबाहुवचो यथा ।१७॥

अर्थ--जड़से उखड़े हुये वृक्षके सदृश जो बादल गमन करते हुए दिखते है वे राजाके वधको सूचना

करते हैं ऐसा भद्रबाहुका वचन है ।।१७।।

बालाभ्रवृक्षमरणं कुमारामात्ययोर्वदेत् । ।एवमेवं च विज्ञेयं प्रतिराज्ञां यदा भवेत् ।।१८।।

अर्थ—वृक्षके पौधेसे बाल्यावस्थाके राजाका मरण, तरुणवृक्षसे मंत्रीका मरण जानना चाहिए। अथवा जो बादल छोटे वृक्षके समान दिखाई दें उनसे युवराजका और जो बड़े वृक्षके सदृश दिखाई दें उनसे मंत्री का मरण सूचित होता है। इसी प्रकार शत्रु राजाओंके सम्बन्धमें जानना चाहिए ॥१८॥

तिर्यंचु यानि गच्छन्ति रूक्षाणि च घनानि च । निवर्त्तयन्ति तान्याशु चमूं सर्व्वां सनायकाम् १९

अर्थ—जो अभ्र (मेघ) तिरछे गमन करते हों, रूक्ष हों और सान्द्र (घने) हों तो उनसे नायक सहित समस्त सेनाके युद्धसे लौट जाने या परङ्मुख होजानेकी सूचना मिलती है ॥१९॥

अभिद्रवन्ति घोषेण महता यां चमूं पुनः । सविद्युतानि चाभ्राणि तदा विन्द्याच्चमूवधम् ।।२०

अर्थ—जो बादल जिस सेनापर भारी गर्जना करते हुए वर्षते हैं तथा बिजली सहित होते हैं तो उस सेनाका नाश सूचित होता है ।।२०।।

रुधिरोदकवर्णानि निम्बगन्धानि यानि च । व्रजन्त्यभ्राणि अत्यन्तं संग्रामं तेषु निर्दिशेत् ।।२१।।

अर्थ—रुधिरके वर्णवाली वृष्टि हो और निम्ब जैसी गन्ध हो तथा बादल गमन करते हुए हों तो यह सब युद्ध होनेका निर्देश करते हैं ।।२१।।

विस्वरं रवमाणाश्च शकुना यान्ति पृष्ठतः । यदाऽभ्राणि सधूमानि तदा विन्द्याद् भयं महत् ।।२२।।

अर्थ—जो बादल शकुनरूप होकर पीछेसे आवे चाहे व शब्द सहित हों चाहे न हों और धूम जैसे आकारको लिये हुए हों तो महान् भय सूचित होता है ।।२२।।

मलिनानि विवर्णानि दीप्तायां दिशि यानि च । दीप्तान्येव यदा यान्ति भयमाख्यान्त्युपस्थितम् २३

अर्थ मलिन तथा वर्णरहित बादल दीप्त दिशा (जिस दिशामें सूर्य हो उस, में हों तो वे भय सूचित करते है ।।२३।।

सग्रहे चापि नक्षत्रे ग्रहयुद्धेऽशुभेतिथौ । सम्भ्रमन्नि यदाऽभ्राणि तदा विन्द्यान्महद्भयम् ।। २४

मुहूर्ते शकुने वापि निमित्ते वाऽशुभे यदा ,सम्भ्रमन्ति यदाऽभ्राणि तदा विन्द्यान्महद्भयम् ।।२५।।

अर्थ—अशुभ ग्रह नक्षत्र, ग्रहयुद्ध, तिथि मुहूर्त शकुन, और निमित्तके सद्भावमें बादलोंका भ्रमणहो (बादलोंका उठाव हो) तो जानना चाहिये कि बहुत भारी भय होने वाला है ॥२४॥२५॥

अभ्रशक्तियंतो गच्छेत्तां दिशां चाभियाजयेत् । विपुला क्षिप्रगा स्निग्धा जयमाख्याति निर्भयम् ।।२६।।

अर्थ—भारी शीघ्रगामी और स्निग्ध बादल जिस दिशामें गमन करें तो उस दिशामें वे यायीराजा की विजयकी सूचना करते हैं। ।।२६।।

यदा तु धान्यसंघानां सदृशानि भवन्ति हि । अभ्राणि तोयवर्णानि सस्यं तेषु समृद्ध्यते ।।२७।।

अर्थ—यदि बादल धान्यके समूहके सदृश, जलके वर्णवाले दिखाई दें तो धान्यकी बहुत पैदावारी होती है ।।२७।।

बिरागान्यनुलोमानि शुक्लरक्तानि यानि च । स्थावराणीति जानीयात् स्थावराणां च संश्रये ।।२८।।

अर्थ—विरागी अनुलोम गतिवाले तथा श्वेत और रक्तवर्ण वाले बादल स्थिर होंतो वह स्थाईके लिये जानना अर्थात् चढ़कर आनेवाला यायी स्थाई रहने वालोंका आश्रय लेता है ॥२८॥

क्षिप्रगानि विलोमानि नीलपीतानि यानि च। चलानीति विजानीयाच्चलानां वा समागमे२६

अर्थ—शीघ्रगामी प्रतिलोमगतिसे चलनेवाले, पीत और नील वर्णके बादल चल जानना चाहिए और वे यायीके लिये समागमकारक है ॥२६॥

स्थावराणां जयं विन्द्यात्स्थावराणां द्युतिर्यदा। यायिनां हि जयं विन्द्याच्चलाभ्राणां द्युतावपि ३०

अर्थ—जो बादल स्थावरों के अनुकूल द्युति आदि चिन्हवाले हों तो उस परसे स्थायियोंकी जय जानना और यायीके अनुकूल द्युति आदि हों तो यायीकी विजय जानना। अर्थात् बादलों परसे ऊपर जा फल स्थाई और यायीके लिये बतलाया गया है उसपरसे जैसा कुछ शुभाशुभ दीखे बताना चाहिये या जानना चाहिये ॥३०॥

राज्ञा तत्प्रतिरूपैस्तु ज्ञेयान्यभ्राणि सर्वशः। तत्सर्वं सफलं विन्द्याच्छुभं वा यदि वाऽशुभम् ॥३१॥

अर्थ—यदि राजाको बादल अपने प्रतिरूप (सदृश) जान पड़ें तो उनसे अच्छा या बुरा दोनों तरहका फल जानना चाहिये ॥३१॥

इति नैर्ग्रन्थे भद्रबाहुके निमित्ते अभ्रलक्षणं नाम षष्ठोऽध्यायः समाप्तः।

सातवां अध्याय

अथाऽतः-सम्प्रवक्ष्यामि संध्यानां लक्षणं ततः। प्रशस्तमप्रशस्तं च यथा तत्त्वं निबोधत ॥१॥

अर्थ—अब संध्याओंके लक्षण कहेजाते है वे दो तरह के हैं प्रशस्त और अप्रशस्त।

उद्गच्छमाने चादित्ये यदा संध्या विराजते। नागराणां जयं विद्यादस्तं गच्छति यायिनाम् ॥२

अर्थ—सूर्योदयके समयकी संध्या नागरोंको और सूर्यास्तके समयकी संध्या यायी (चढ़कर आने वालों) के लिए जय देने वाली जानना ॥२॥

उद्गच्छमाने चादित्ये शुक्ला संध्या यदा भवेत्। उत्तरेण गता सौम्या ब्राह्मणानां जयं विदुः३

अर्थ—सूर्योदयके समय यदि श्वेतरंगकी संध्या होवे और वह उत्तर दिशामें हो तथा सौम्य हो तो ब्राह्मणों के लिए जय-दायक है ॥३॥

उद्गच्छमाने चादित्ये रक्ता संध्या यदा भवेत्। पूर्वेण च गता सौम्या क्षत्रियाणां जयावहा ४

अर्थ—सूर्योदयके समय लाल वर्णकी संध्या होवे और वह पूर्व दिशामें आश्रय करे तथा सौम्य हो तो क्षत्रियोंको जय देने वाली जानना ॥४॥

उद्गच्छमाने चादित्ये पीता संध्या यदा भवेत्। दक्षिणेन गता सौम्या वैश्यानां सा जयावहा

अर्थ—सूर्योदयके समय पीत वर्णकी संध्या यदि होवे और वह दक्षिण दिशाका आश्रय करे तथा सौम्य होवे तो वैश्योंकेलिये जयदाई है ॥५॥

उद्गच्छमाने चादित्ये कृष्णसंध्या यदा भवेत् । अपरेण गता सौम्या शूद्राणां सा जयावहा ६

अर्थ— सूर्योदयके समय कृष्ण वर्णकी सन्ध्या यदि हो और वह पश्चिम दिशाका आश्रय करे तथा सौम्या हो तो शूद्रोंके लिये जयकारक जानना ॥६॥

संध्योत्तरा जयं राज्ञः ततः कुर्यात्पराजयम् । पूर्वा क्षेमं सुभिक्षं च पश्चिमा च भयंकरा ॥७॥

अर्थ—उत्तर दिशाकी संध्या राजाके लिये जय सूचक है, और दक्षिण दिशाकी संध्या पराजय सूचक जानना पूर्व दिशाकी संध्या क्षेमकुशल और सुभिक्षकारक जानना। पश्चिम दिशाकी संध्या भयंकरा जाननी ॥७॥

आग्नेयी अग्निमाख्याति नैऋती राष्ट्रनाशनी । वायव्या प्रावृषं हन्यादीशानी च शुभावहा ॥८॥

अर्थ—चारों दिशाकी संध्याका फल कहकर अब चारों विदिशाओंकी संध्याका फल दिखाते है। १ अग्निकोणकी संध्या अग्नि भय करती है। २ नैऋत्य दिशाकी संध्या देशका नाश करने वाली है। ३ वायु कोणकी संध्या वर्षाकी हानि करती है। ४ ईशान कोणकी संध्या शुभ जानना।

एवं संपत्कराद्येषु नक्षत्रेष्वपि निर्दिशेत् । जयं सा कुरुते सन्ध्या साधकेषु समुत्थिता ॥९॥

अर्थ—इसी प्रकार सम्पत्तिका लाभ आदि कराने वाले नक्षत्रोंमेंभी निर्देश करना चाहिये वह संध्या साधक के जय करने वाली है। तात्पर्य यह कि साधक पुरुषको नक्षत्रोंमें भी शुभ संध्याका दिखाइ देना जयको देनेवाला है ॥९॥

सन्ध्यालक्षणम

उदयास्तमनेऽर्कस्य यान्यभ्राण्यग्रता भवेत् । सप्रभाणि सरश्मीनि तानि संध्या विनिर्दिशेत् ॥

अर्थ—सूर्यके उदयास्तके समय बादलोंपर जो सूर्यकी प्रभा पड़ती है उस प्रभासे बादलोंमें नाना प्रकारके वर्ण (रंग) उत्पन्न हो जाते है उसी को संध्या कहते है ॥१०॥

अभ्राणां यानि रूपाणि सौम्यानि विकृतानि च । सर्वाणि तानि संध्यायां तथैव प्रतिवारयेत् ॥

अर्थ - अभ्र (बादल) अध्यायमे जो उनके अच्छे और बुरे रूप दिखाए गये है वह सब इस संध्या अध्यायमें लागूकर लेना चाहिये ॥११॥

एवमस्तमने काले या संध्या सर्व उच्यते। लक्षणं या तु संध्यानां शुभं व यदि वाऽशुभम् ॥१२

अर्थ—ऊपर सूर्योदयकी संध्याका लक्षण और फल शुभ वा अशुभ कहा गया है वही सब लक्षण सूर्यास्त कालकी संध्याके विषै जैसे कुछ शुभ वा अशुभ हो जानना ॥१२॥

स्निग्धवर्णमती संध्या वर्षदा सर्वशः भवेत । सर्वा वीथिगता चापि सुनक्षत्राविशेषतः ॥१३॥

अर्थ—स्निग्ध वर्ण (चिकनी) संध्या वर्षाको देनेवाली है वाथियोंमें प्राप्त और विशेषकर शभ नक्षत्रों वाली संध्या वर्षाको करती है ॥१३॥

पूर्वरात्रपरिवेषा सविद्युत्परिखायुता । सरश्मी सर्वतः संध्या सद्यो वर्षं प्रयच्छति ॥१४॥

अर्थ —पूर्वरात्र (अगली रात्रि गई रात्रि) को परिवेष होवे और परिखायुक्त बिजली होवे, और सब ओर रश्मिसहित संध्या होवे तो तत्काल वर्षा देती है ॥१४॥

प्रतिसूर्यागमस्तत्र शक्रचापरजस्तथा । संध्यायां यदि दृश्यन्ते सद्यो वर्षं प्रयच्छति ॥१५॥

अर्थ —प्रतिसूर्यका आगमन हो, वहां पर इन्द्रधनुष रजका संध्याके विषे दिखाई दे तो तत्काल वर्षा होती है ॥१५॥

संध्यायामेकरश्मिं तु यदा सृजति भास्करः । उदितोऽस्तमितो वापि विन्याद्वर्षमुपस्थितम् ॥१६॥

अर्थ —संध्यामें सूर्य उदय या अस्तके समयमें एकरश्मिवाला दिखाई दे तो वर्षा होतोहै ॥१६ ॥

आदित्यपरिवेषस्तु संध्यायां यदि दृश्यते । वर्षं महद्विजानीयाद्भयं वाऽथ प्रवर्षणे ॥१७॥

अर्थ —संध्यामें सूर्यके परिवेष दिखाई दे तो भारी वर्षा होती है, अथवा भय होता है ॥१७॥

त्रिमंडलपरिक्षिप्तो यदि वा पञ्चमंडलः । संध्यायां दृश्यते सूर्यो महावर्षस्य संभयः ॥१८॥

अर्थ —यदि सूर्य संध्यामें तीन मंडल अथवा पांच मंडलसे घिरा हुआ दिखाई दे तो महा वर्षा-का होना संभव है ॥१८॥

द्योतयंती दिशः सर्वा यदा संध्या प्रदृश्यते ॥ महामेघस्तदा विन्द्याद्भद्रबाहुवचो यथा ॥१९॥

अर्थ—सब दिशाओं मे प्रकाशमान झलझलाटयुक्त संध्या दिखाई दे तो बड़ी भारी वर्षा होती है, यह भद्रबाहुके वचन हैं ॥१०॥

सरेस्तडागप्रतिमा कूपकुम्भनिभा च या । यदा दृश्यति सुस्निग्धा सा संध्या वर्षदा स्मृता ।२०।

अर्थ—सरोवर, तालाव, प्रतिमा, कूप और कुम्भ सदृश स्निग्ध संध्या यदि दिखाई दे तो वर्षा होगी ऐसा जानना ॥२०॥

धूम्रवर्णा बहुच्छिद्रा खण्डपापसमा यदा । या संध्या दृश्यते नित्यं सा तु राज्ञो भयङ्करा ॥२१॥

अर्थ—धूम्र वर्णवाली, छिद्र युक्त, खण्ड (टुकड़े टुकड़े) रूप, संध्या यदि नित्य दिखाई दे तो वह राजाको भयकारक है ॥२१॥

द्विपदाःश्चतुश्पदाश्च क्रूरा पक्षिणश्च भयङ्कराः । संन्ध्यायां यदि दृश्यन्ते भयमाख्यान्त्युपस्थितम् २२

अर्थ —क्रूर स्वभाव वाले द्विपद, चतुष्पद, और पक्षिगण के सदृश बादल यदि संध्याकाल में दीखें तो भय उपस्थित हो जाता है ॥२२॥

अनावृष्टिभयं रोगं दुर्भिक्षं राजविद्रवम् । रूक्षायां विकृतायां च संध्यायामभिनिर्दिशेत् ॥२३

अर्थ—संध्यामें बादल रूक्ष और विकृतरूप दिखाई दें तो अनावृष्टि, भय, रोग दुर्भिक्ष और राजा का उपद्रव होता है ॥२३॥

विंशतिर्योजनानि स्युर्विद्युद्भाति च सुप्रभा । ततोऽधिकं तु स्तनितं अभ्रं यत्रैव दृश्यते ॥२४॥

पंचयोजनिका संन्ध्या वायुवर्षं च दूरतः । त्रिरात्रं सप्तरात्रञ्च सद्यो वा पाकमादिशेत् ॥२५॥

अर्थ—विजलीका परका बीस २० योजन (८० कोश=१६० माईल) परसे दिखाई देता है इससेभी अधिक दूर से बादल दिखाई देते हैं। संध्या पांच योजन (बीस कोश-४० मील) से दिखाई देती है। वायु

और वर्षा दूरसे दिखाई देती है। उपरोक्त चिन्हों का पाक काल (फल) तीन रात अथवा सात रात्रि में तथा तत्काल भी होता है ॥२४॥२५॥

उल्कावत्साधनं सर्व सन्ध्यायामभिनिर्दिशेत् । अतः परं प्रवक्ष्यामि मेघानां तन्निबोधत ॥२६॥

अर्थ—उल्काअध्यायवत् संध्या का सब कथन जानना चाहिए। अब आगे मेघोंके लक्षण और फल बताये जाते हैं उन्हें भले प्रकार समझें ॥२६॥

इति नैर्ग्रन्थे भद्रबाहुके निमित्ते संध्यालक्षणं सप्तमोध्यायः ॥७॥

आठवां अध्याय

अतः परं प्रवक्ष्यामि मेघानामपि लक्षणम् । प्रशस्तमप्रशस्तं वा यथावदनुपूर्वशः ॥१॥

अर्थ—अब मेघोंके उत्कृष्ट शुभाशुभ लक्षण कहे जाते हैं ॥१॥

यदांजननिभो देवः शान्तायां दिशि दृश्यते । स्निग्धो मंदगतिश्चापि तदा विन्द्याज्जलं शुभम्॥२॥

अर्थ—यदि अंजन (काले सुरमे) के समान गहरे काले मेघ पश्चिम दिशामें दिखाई देवें और वे चिकने तथा मन्द-गतिवाले चाहे शीघ्र गतिवाले होवें तो बहुत जल को वर्षाते हैं ॥२॥

पीतपुष्पनिभो यस्तु यदा मेघः समुत्थितः । शांतायां यदि दृश्येत स्निग्धो वर्ष तदुच्यते ॥३॥

अर्थ—पीलेपुष्प के समान सचिक्कण (स्निग्ध) पश्चिम दिशामें मेघ स्थित हों तो वर्षाको करते हैं।

रक्तवर्णो यदा मेघः शान्तायां दिशि दृश्यते । स्निग्धो मन्दगतिश्चापि तदा विन्द्याज्जलं शुभम्।४

अर्थ—लाल वर्ण के मेघ चिकने और मंदगति वाले पश्चिम दिशामें दिखाई दे तो बहुत जलको देने वाले जानना चाहिए ॥४॥

शुक्लवर्णो यदा मेघः शान्तायां दिशि दृश्यते । स्निग्धो मंदगतिश्चापि निवृत्तः स जलावहः ।५।

अर्थ—श्वेत वर्ण के स्निग्ध और मंदगति वाले मेघ पश्चिम दिशामे दिखाई दें तो वे जितना कुछ जल उनमें होता है वर्षा कर निवृत्त हो जाते हैं ॥५॥

स्निग्धाः सर्वेषु वर्णेषु स्वां दिशं संश्रिता यदा । स्ववर्णं विजयं कुर्युर्दिक्षु शांतासु ये स्थिताः ॥६॥

अर्थ—पश्चिम दिशामें स्थित मेघ स्निग्ध हों तो सब वर्णों को जय करने वाले हैं, यदि अपने अपने वर्णके अनुसार अपनी अपनी दिशामें स्निग्धमेघ स्थित हों तो वर्णानुसार जय को कहते हैं ॥६॥

जाति—	ब्राह्मण	क्षत्रिय	वैश्य	शूद्र
जातिवर्ण—	श्वेत	रक्त	पीत	कृष्ण
जातिदिशा—	उत्तरदिशा	पूर्वदिशा	दक्षिणदिशा	पश्चिमदिशा

यथा स्थितं शुभं मेघमनुपश्यन्ति पक्षिणः । जलाशया जलधरास्तदा विन्द्याज्जलं शुभम् ।७॥

अर्थ—शुभ मेघ जैसे स्थित हों यदि वह बादल पक्षि गण रूप तथा जलाशयरूप दिखाई दें तो अच्छा जल वर्षाते है ॥७॥

१-२ मुद्रित भद्रबाहुसंहिता में यह पद्य उपलब्ध नहीं है। —सम्पादक

स्निग्धवर्णाश्च ये मेघाः स्निग्धनादाश्च ते सदा । मंदगाः सुमुहूर्ताश्च ये सर्वत्र जलावहाः ॥८॥

अर्थ—चिकने वर्णवाले (लोचन प्रिय) मुलायमशब्द वाले, मंदगति वाले, और उत्तम मुहूर्त के मेघ सर्वत्र जल वर्षाते हैं ॥८॥

सुगंधगंधायेमेघाः सुस्वरा स्वादुसंस्थिताः । मधुरोदकाश्च ये मेघाः जलाय जलदास्तदा ॥६॥

अर्थ—सुगंध के समान गंधवाले, मनोहर गर्जनावाले, स्वादु रस वाले, मीठे जलवाले मेघ जलको वर्षाते है ॥६॥

मेघा यदाऽभिवर्षंति प्रयाणे पृथ्वीपतेः । मधुरा मधुरेणैव तदा संधिर्भविष्यति ॥१०॥

अर्थ—राजाके चढाई के समय मधुर (मनोहर) तथा मधुर शब्दवाले,मेघ वर्षा करें तो युद्ध न होकर परस्पर संधि हो जाती है ॥१०॥

पृष्ठतो वर्षतः श्रेष्ठं अग्रतो वियङ्करम् । मेघाः कुर्वन्ति ये दूरे सगर्जितसविद्युतः ॥११॥

अर्थ—राजाके प्रयाणके समय यदि मेघ दूरी पर गर्जना और विजली सहित वृष्टि करें और पृष्ठ भागपर हों तो श्रेष्ठ जानना, यदि अग्रभागमें करें तो विजयको करने वाले जानना ॥११॥

मेघशब्देन महता यदा निर्याति पार्थिवः । पृष्ठतो गर्जमानेन तदा जयति दुर्जयम् ॥१२॥

अर्थ—यदि राजाके प्रयाण समय पीछेके मार्गसे मेघ बड़ी भारी गर्जना करें तो जो नहीं जीता जाय ऐसे दुर्जय (स्थान या शत्रु) को जीतता है ॥१२॥

मेघशब्देन महता यदा तिर्यक् प्रधावति । न तत्र जायते सिद्धिरुभयोः परिसैन्ययोः ॥१३॥

अर्थ—यदि वह सन्मुख या पृष्ठ भागमें भारी गर्जना न कर तिर्यक् (बाईं दाईं)भागमें गर्जना करे तो दोनों (स्थाई और यायी) सेनाओंको सिद्धि प्राप्त नहीं होती है ॥१३॥

मेघा यत्राभिवर्षन्ति स्कधावारसमन्ततः । सनायका विद्रवते सा चमूर्नात्र संशयः ॥१४॥

अर्थ—यदि मेघ जिस स्थानपर मूशलधार पानी वर्षावें, वहांपर नायक और सेना एवं दोनों द्रवित हो जाते हैं, अर्थात् रक्तसे रंजित हो जाते है इसमे कुछ संशय नहीं जानना ॥१४॥

रूक्षा वाताः प्रकुर्वन्ति व्याधयो विष्ठगन्धितः । कुशब्दाश्च विवर्णाश्च मेघावर्षं न कुर्वते ॥१५॥

अर्थ—रूक्ष वायु विष्ठाके गंधकी हो तो व्याधिको करती है । कुशब्द और वर्ण वाली हो तो मेघ वर्षा नहीं करते ॥१५॥

सिंहशृगाल-मार्जाराः व्याघ्रमेघाः द्रवन्ति ये । महता भीमशब्देन रुधिरं वर्षन्ति ते घनाः ॥१६॥

अर्थ—जो मेघ, सिंह, सियाल, बिल्ली, चीता की आकृतिवान होकर वर्षें और बड़ी भारी शब्द-गर्जना करें तो वह मेघ बहुत रुधिरकी वर्षा करते हैं ॥१६॥

पक्षिणश्चापि क्रव्यादा वा पश्यन्ति समुत्थिताः । मेघास्तदापि रुधिरं वर्ष-वर्षन्ति ते घनाः ॥१७॥

अर्थ—यदि पक्षी के समान मेघ गर्जना करें अर्थात् उड़ते हुये पक्षीकी आकृति वाले तथा मांस-भक्षी गृद्ध आदि की तरह दिखाई देतो रुधिर की वर्षा करते हैं ॥१७॥

अनावृष्टिभयं घोरं दुर्भिक्षं मरणं तथा । निवेदयंति ते मेघा ये भवन्तीदृशा दिवि ॥१८॥

अर्थः—ऊपर दिखाये हुये लक्षणवाले मेघ अनावृष्टि, घोरभय, दुर्भिक्ष मृत्युको करने वाले जानने ॥

तिथौ मुहूर्ते करणे नक्षत्रे शकुने शुभे। सम्भवन्ति यदा मेघाः पापदास्ते भयङ्कराः ॥१९॥

अर्थ—अशुभ तिथि, मुहूर्त, करण, नक्षत्र और शकुनमें यदि मेघोंका संभव हो तो वे मेघ भयंकर पाप फलको देनेवाले जानना ॥१९॥

एवंलक्षणसंयुक्ताश्चमूं वर्षन्ति ये घनाः। चमूं सनायकां सर्वां हन्तुमाख्यांति सर्वशः ॥२०॥

अर्थ—उपरोक्त दिखाए हुये लक्षणवाले मेघ सेना पर बहुत वर्षा करें तो सेना और उसके नायक सब ही मारे जाते हैं अर्थात् उनका सर्वनाश होता है ॥२०॥

रक्तं पांशुः सधूमं वा क्षौद्रं केशाऽस्थि शर्कराः। मेघा वर्षन्ति विषये यस्य राज्ञो हतस्तु सः ॥२१

अर्थ—लोही, धूलि, धूम्र, मधु, केश, अस्थि और खांडके समान मेघ वर्षा करें तो देशका राजा मारा जाता है ॥२१॥

क्षारं वा कटुकं वाऽथ दुर्गंधं सस्यनाशनम्। यस्मिन् देशे ऽभि वर्षन्ति मेघा देशो विनश्यति ॥२२

अर्थ—जिस देशमें धान्यको नाश करनेवाले क्षार (लवण रस), कटुक (चरपरा रस) और दुर्गन्धित रसको मेघ वर्षा करें तो उस देशका नाश होता है ॥२२॥

प्रयातं पार्थिवं यत्र मेघो वित्रास्य वर्षति। वित्रस्यो बध्यते राजा विपरीतस्तदापरे ॥२३॥

अर्थ—राजाके प्रयाणके समय त्रासयुक्त मेघ वर्षें तो राजाका त्रास-युक्त बध होता है, यदि त्रास-युक्त वर्षा नहीं हो तो ऐसा नहीं होता ॥२३॥

सर्वत्रैव प्रयाणे च नृपो येनाभिषिच्यते। रुधिरादिविशेषेण सर्वघाताय निर्दिशेत् ॥२४॥

अर्थ—राजाके चढाई के समय वर्षासे देश सिंचन हो और विशेषतः रुधिरादिसे हो तो सबोंके घातक संभावना है ॥२४॥

मेघा सविद्युतश्चैव सुगंधा सुस्वराश्च ये। सुवेषाश्च सुवाताश्च सुधियाश्च सुभिक्षदाः ॥२५॥

अर्थ—बिजली सहित, सुगंधित, मधुर स्वरवाले सुन्दर वर्ण और आकृतिवाले, शुभ घोषणावाले और अमृत समान वर्षा करने वाले मेघों को सुभिक्षका देनेवाला जानना चाहिए ॥२५॥

नोट—यह स्मरण रहे कि निमित्तोंका शुभाशुभ फल वहीं होता है जहां वे मिलते है, सारी दुनियां में नहीं।

अभ्राणां यानि रूपाणि संध्यायामपि यानि च। मेघेषु तानि सर्वाणि समासाद्व्यासतो विदुः॥२६।

अर्थ—बादलों और संध्याका, मेघोंका, जैसा कथन किया वैसा सब कथन संक्षेप अथवा विस्तार से मेघोंमें भी समझना चाहिए ॥२६॥

उल्कावत्साधनं ज्ञेयं मेघेष्वपि तदादिशेत्। अतः परं प्रवक्ष्यामि वातानामपि लक्षणम् ॥२७॥

अर्थ—इस मेघवर्णन अध्यायका भी उल्काकी तरह पूर्ववत् साधन करना चाहिए अब वायुको वहने का लक्षण और फल कहते है ॥२७॥

इति नैग्रन्थे भद्रबाहुके निमित्ते मेघनामाष्टमोऽध्यायः ॥

पतितपावन जैनधर्म

(लेखक—पूज्य क्षु० गणेशप्रसाद जी वर्णी।)

मड़ावरासे चलकर हम लोग श्री० पं० मोतीलाल जी वर्णीके साथ उनके ग्राम जतारा पहुँचे। वहां पर आनन्दसे भोजन और पं० जी के साथ धर्म चर्चा करना यही काम था।

यहां पर एक जैनी ऐसे थे जो २५ वर्षसे समाज के द्वारा वहिष्कृत थे। उन्होंने एक गहोई औरत रख ली थी उसके एक कन्या हुई उसका विवाह उन्होंने एक विनैकावालके यहां कर दिया था। कुछ दिनोंके वाद वह औरत मर गई और लड़की अपनी सुसराल में रहने लगी। जातिसे बहिष्कृत होनेके कारण उन्हें लोग मन्दिरमें दर्शन करनेके लियेभी नहीं आने देते थे और जन्मसे ही जैन धर्मके संस्कार होनेके कारण अन्य धर्ममें उनका उपयोग लगता नहीं था। एक दिन हम और पं० मोतीलाल जी तालावमें स्नान करनेके लिये जा रहे थे मार्गमें वह भी मिलगये। श्री वर्णी मोतीलालजी से उन्होंने कहा कि क्या कोई ऐसा उपाय है कि जिससे मुझे जिनेन्द्र भगवानके दर्शनोंकी आज्ञा मिल जावे? मोतीलालजी बोले-भाई यह कठिन है तुम्हें जातिसे खारिज हुये २५ वर्ष हो गये तथा तुमने उसके हाथका भोजनभी खाया है अत: यह बात बहुत कठिन है।

हमारे पं० मोतीलालजी वर्णी अत्यन्त सरल थे उन्होंने ज्योंकी त्यों बात कह दी। पर मैंने वर्णीजी से निवेदन किया है कि क्या मैं इनसे कुछ पूछ सकता हूं? आप बोले—हां जो चाहो सो पूछ सकते हो। मैंने उन आगन्तुक महोदयसे कहा—अच्छा यह बताओ कि इतना भारी पाप करनेपरभी तुम्हारी जिनेन्द्र देवके दर्शनकी रुचि कैसे बनी रही?

वह बोले—पण्डितजी! पाप और वस्तु है तथा धर्ममें रुचि होना और वस्तु है। जिस समय मैंने उस औरतको रक्खा था उस समय मेरी उमर तीस वर्षकी थी, मैं युवा था, मेरी स्त्रीका देहान्त हो गया मैंने बहुत प्रयत्न किया कि दूसरी शादी हो जावे, मैं यद्यपि शरीरसे निरोग था और द्रव्य भी मेरे पास २००००) से कम नहीं था। फिर भी सुयोग नहीं हुआ, मन में विचार आया कि गुप्त पाप करना महान् पाप है इसकी अपेक्षा तो किसी औरतको रख लेना अच्छा है। अन्तमें मैंने उस औरतको रख लिया। इतना सब होने पर भी मेरी धर्मसे रुचि नहीं घटी। मैंने पञ्चोंसे बहुतही अनुनय विनय किया कि महाराज! दूरसे दर्शन कर लेने दो परन्तु यही उत्तर मिला कि मार्ग विपरीत हो जावेगा। मैंने कहा कि मन्दिरमें मुसलमान कारीगर तथा मोची आदि तो काम करनेके लिये चले जावें। जिन्हें जैन धर्मकी रञ्चमात्र भी श्रद्धा नहीं परन्तु हमको जिनेन्द्र भगवानके दर्शन दूरसे ही प्राप्त न हो सकें—बलिहारी है आपकी बुद्धिको। काम वासनाके वशीभूत होकर मेरी प्रवृत्ति उस ओर हो गई इसका अर्थ यह नहीं कि जैन धर्मसे मेरी रुचि घट गई।

कदाचित् आप यह कहें कि मनकी शुद्धि रक्खो दर्शनसे क्या लाभ होता तो आपका यह कोई उचित उत्तर नहीं है। यदि केवल मनकी शुद्धि पर ही आप लोगोंका विश्वास है तो श्री जैन मन्दिरोंके दर्शनोंके लिये आप स्वयं क्यों जाते हैं? तीर्थ-यात्राके व्यर्थ भ्रमण क्यों करते हैं? और पञ्चकल्याणक प्रतिष्ठा आदि क्यों करवाते हैं? मनकी शुद्धि ही सब कुछ है ऐसा एकान्त उपदेश मत करो, हम भी जैन-धर्म मानते हैं। हमने औरत रखली इसका अर्थ यह नहीं कि हम जैनीही नहीं रहे। हम अभीतक अष्टमूल गुण पालते हैं, हमने आज तक अस्पतालकी दवाई का प्रयोग नहीं किया किसी कुदेवको नहीं माना, अनछना पानी नहीं पिया, रात्रि भोजन नहीं किया, प्रतिदिन णमोकार मंत्रकी जाप करते हैं, यथा-शक्ति दान देते हैं तथा सिद्धक्षेत्र श्री शिखरजी की यात्राभी कर आये हैं...... इत्यादि पञ्चोंसे निवे-

दन किया परन्तु उन्होंने एक नहीं सुनी, यही उत्तर मिला कि पञ्चायती सत्ताका लोप हो जावेगा। मैंने कहा—मैं तो अकेला हूँ; वह रखली औरत मर चुकी है लड़की पराये घरकी है आप सहभोजन मत कराइये परन्तु दर्शन तो करने दीजिये। मेरा कहना अरण्यरोदन हुआ—किसीने कुछ न सुना वही चिर-परिचित रूखा उत्तर मिला कि पञ्चायती प्रतिबन्ध शिथिल हो जायेगा.......यह मेरी आत्म-कहानी है।

मैंने कहा—आपके भाव सचमुच दर्शन करने के है?

मैं अवाक् रह गया पश्चात् उससे कहा—भाई साहब! कुछ दान कर सकते हो न?

वह बोला जो आपको आज्ञा होगी शिरोधार्य करूंगा। यदि आप कहेंगे तो एक लंगोटी लगाकर घरसे निकल जाऊंगा परन्तु जिनेन्द्र-देवके दर्शन मिलना चाहिये क्योंकि यह पञ्चम काल है इसमे विना अवलम्बनके परिणामोंकी स्वच्छता नहीं होती आजकलके लोगोंकी प्रवृत्ति विषयोंमें लीन हो रही है। यदि मैं स्वयं विषयमें लीन न हुआ होता तो इनके तिरस्कारका पात्र क्यों होता? आशा है आप मेरी प्रार्थना पर ध्यान देनेका प्रयत्न करेंगे। पञ्च-लोगोंके जालमें आकर उन जैसी बात मत बोलना।

मैंने कहा—क्या आप विना किसी शर्तके सङ्गमर्मरकी वेदी मन्दिरमें पधार सकते है? उन्होंने कहा—हां इसमें कोई शंका न करिये मैं १०००) का वेदी श्री जी के लिये मन्दिरमें जड़वाऊंगा और यदि पञ्चलोग दर्शनको आज्ञा न देंगे तो कोई आपत्ति नहीं करूंगा, यही भाग्य समझूंगा कि मेरा कुछ तो पैसा धर्मकार्यमें गया।

इसके अनन्तर मैंने घर जाकर सम्पूर्ण पञ्च महाशयोंको बुलाया और कहा कि यदि कोई जैनी जातिसे च्युत होनेके अनन्तर बिना किसी शर्तके दान करना चाहे तो आप लोग उसे क्या ले सकते हैं? प्राय: सबने स्वीकार किया। यहां प्राय:से मतलब यह है कि जो एक दो सज्जन विरुद्ध थे वे रुष्ट होकर चले गये। मैंने कहा—अमुक व्यक्ति १००० की सगमर्मर की वेदिका मन्दिरमें जड़वाना चाहता है' आपको स्वीकार है।

उनका नाम सुनते ही बहुत लोग फिर विरोध करने लगे, बोले—वह तो २५ वर्षसे जातिच्युत है अनर्थ होगा आपने यहां कि आपत्ति हम लोगों पर डाली।

मैंने कहा—कुछ नहीं गया, मैंने तो सहजहीमें कहा था। पर जरा विचार करो—मन्दिरकी शोभा हो जावेगी तथा एक का उद्धार हो जावेगा। क्या आप लोगोंने धर्मका ठेका ले रक्खा है कि आपके सिवाय मन्दिरमें कोई दान न दे सके। यदि कोई अन्य मतवाला दान देना चाहे तो आप न लेवेंगे? बलिहारी है आपकी बुद्धि को? अरे! शास्त्रमें तो यहां तक कथा है कि शूकर सिंह नकुल और वानरसे हिंसक जीवभी भुक्तिदान की अनुमोदनासे भोग-भूमि गये। व्याघ्रोका जीव स्वर्ग गया, जटायु पक्षी का जीव स्वर्ग गया, बकरेका जीव भी स्वर्ग गया, चाण्डालका जीव स्वर्ग गया, चारों गतिक जीव सम्यग्दृष्टि हो सकते है, तिर्यञ्चोंके पञ्चम गुण-स्थान हो सकता है। धर्मका सम्बन्ध आत्मासे है न कि शरीरसे, शरीर तो सहकारी कारण है, जहां आत्माकी परिणति माहादि पापोंसे मुक्त हो जाती है वहीं धर्मका उदय हो जाता है। आप इसे वेदिका न जड़वाने देंगे परन्तु यह यदि पपौरा विद्यालयमें देना चाहेगा तो क्या आपके वर्णी जी उस द्रव्यको न लेवेंगे और वही द्रव्य क्या आपके बालकोंके भाजन में न आवेगा? उस द्रव्यसे अध्यापकोंको वेतन दिया जावेगा तो क्या वे इनकार कर देवेंगे? अत: हठ को छोड़िये और दया कर आज्ञा दीजिये कि एक हजार रुपया लेकर जयपुरसे वेदी मगाई जावे।

सबने सहर्ष स्वीकार किया और वेदिका लाने तथा जड़वानेका भार श्रीमान् मोतीलाली वर्णीके अधिकारमें सोपा गया। फिर क्या था उन जाति-च्युत महाशयके हर्षका ठिकाना न रहा। श्री वर्णी

जी जयपुर जाकर वेदी लाये। मन्दिरमें विधिपूर्वक वेदीप्रतिष्ठा हुई और उसपर श्रीपार्श्वप्रभुकी प्रतिमा विराजमान हुई।

मैंने पञ्चमहाशयोंसे कहा—देखो मन्दिरमें जब शूद्र तक आ सकते है और माली रात दिन रह-सकता है तब जिसने १०००) दिये और जिसके द्रव्य से यह वेदी प्रतिष्ठा हुई उसीको दर्शन न करने दिये जावें यह न्याय विरुद्ध है। आशा है हमारी प्रार्थना पर आप लोग दया करेंगे।

सब लोगोंके परिणामोंमें न जाने कहांसे निर्मलता आ गई कि सबने उसे श्री जिनेन्द्रदेवके दर्शन करने को आज्ञा प्रदान कर दी। इस आज्ञाको सुनकर वह तो आनन्द समुद्रमें डूब गया। आनन्दसे दर्शन कर पञ्चोंसे विनय-पूर्वक बोला—उत्तराधिकारी न होने से मेरे पासको सम्पत्ति राज्यमें चली जावेगी अतः मुझे जातिमें मिला लिया जावे ऐसा होनेसे मेरी सम्पत्तिका कुछ सदुपयाग हो जायगा।

यह सुनकर लोग आगबबूला हो गये और झुंझलाते हुए बोले—कहां तो मन्दिर नहीं आ सकते थे अब जातिमें मिलनेका हौंसला करने लगे। अंगुली पकड़ कर पोंचा पकड़ना चाहते हो?

वह हाथ जोड़ कर बोला—आखिर आपकी जाति का हूँ, आपके ही सदृश मेरे संस्कार हैं कारण पाकर पतित होगया, क्या जो वस्त्र मलिन हो जाता है उसे भट्टीमें देकर उज्वल नहीं किया जाता यदि आप लोग पतितको पवित्र करनेका मार्ग रोक लेवेंगे तो आपकी जाति कैसे सुरक्षित रह सकेगी? मैं तो वृद्ध हूं, मृत्यु के गालमें बैठा हू, परन्तु यदि आप लोगों की यही नीति रही तो कालान्तरमें आप की जाति का अवश्यम्भावी ह्रास होगा जहां आय न हो सिर्फ व्यय ही हो वहां भारी से भारी खजाने का अस्तित्व नहीं रह सकता। आप लोग इस बात पर विचार कीजिये केवल हठवादिता को छोड़िये।

मैंने भी उसकी बात में बात मिलादी। पञ्च लोगों ने मेरे ऊपर बहुत प्रकोप प्रकट किया। कहने लगे कि यह इन्हीं का कर्तव्य है जो आज इस आदमी को इतना बोलने का साहस हो गया।

मैंने कहा—भाई साहब! इतने क्रोधकी आवश्यता नहीं। धोती के नीचे सब नंगे हैं, आपलोग अपने कृत्यों पर विचार कीजिये और फिर स्थिर चित्तसे यह सोचिये कि आप लोगों की नियमहीन पञ्चायतन ही आज जैन जातिको इस दशामें ला दिया है। बेचारे जैनी लोग दर्शन तक केलिये लालायित रहते है। कल्पना करो किसीने दस्साके साथ सम्बन्ध कर लिया तो इसका क्या यह अर्थ हुआ कि वह जैन-धर्मकी श्रद्धासे भी च्युत हो गया श्रद्धा वह वस्तु है जो सहसा नहीं जाती शास्त्रोंमें इसके बड़े २ उपाख्यान हैं—बड़े बड़े पातकी भी श्रद्धाके बलसे संसारसे पार हो गये श्री कुन्द कुन्द भगवान ने लिखा है—

दंसणभट्टा भट्टा दंसणभट्टस्स णत्थि णिव्वाणं
सिज्झन्ति चरियभट्टा दंसणभट्टा ण सिज्झंति॥

अर्थात् जो दर्शन से भ्रष्ट है वे भ्रष्ट है जो दर्शन से भ्रष्ट है व निर्वाणके पात्र नहीं। चारित्रसे जो भ्रष्ट है उनका निर्वाण (मोक्ष) हो सकता है परन्तु जो दर्शन भ्रष्ट हैं वे निर्वाणलाभसे वञ्चित रहते है।

प्रथमानुयोगमें ऐसी बहुत सी कथायें आती है जिनमें यह बात सिद्ध की गई है कि जो चारित्रसे गिरने पर भी सम्यग्दर्शनसे सहित हैं वे कालान्तर मे चारित्रके पात्र हो सकते है जैसे माघनन्दि मुनि ने कुम्भकारकी बालिकाके साथ विवाह करलिया तथा उसके सहवासमें बहुत काल बिताया—वर्तन आदि का अवा लगाकर घोर हिंसा भी की। एक दिन मुनि-सभा में किसी पदार्थ के विचारमें सन्देह हुआ तब आचार्यने कहा इसका यथार्थ उत्तर माघनन्दी जो कि कुम्भकारकी बालिकाके साथ आमोद प्रमोदमें अपनी आयु बिता रहा है, दे सकेगा। एक मुनि वहां पहुँचा जहाँ कि माघनन्दी मुनि कुम्भकारके वेशमें घट-निर्माण कर रहे थे और पहुंचते ही कहा कि मुनिसंघ में जब इस विषयपर शङ्का

उठी तब आचार्य महाराजने यह कह कर मझे आपके पास भेजा है कि इसका यथार्थ उत्तर माघनन्दि ही दे सकते हैं। कृपा कर आप इसका उत्तर दीजिये।

इन वाक्योंको सुनते ही उनके मनमें एक दम विशुद्धताकी उत्पत्ति हो गई और मनमें यह विचार आया कि यद्यपि मैंने अधमसे अधम कार्य किया है फिर भी आचार्य महाराज मुझे मुनि शब्द से सम्बोधित करते हैं और मेरे ज्ञानका मान करते हैं कहां है मेरी पीछी, और कमण्डलु ?

यह विचार आते ही उन्होंने आगन्तुक मुनिसे कहा कि मैं इस शङ्काका उत्तर वहीं चलकर दूँगा और पीछी कमण्डलु लेकर वनका मार्ग लिया। वहां प्रायश्चित्त विधिसे शुद्ध होकर पुनः मुनिधर्ममें दीक्षित हो गये।

बन्धुवर ! इतनी कठोरता का व्यवहार छोड़िये गृहस्थ-अवस्थामें परिग्रहके सम्बन्धसे अनेक प्रकारके पाप होते हैं। सबसे महान् पाप तो परिग्रह ही है फिर भी श्रद्धाकी इतनी प्रबल शक्ति है कि समन्तभद्र स्वामी ने लिखा है

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान्।
अनगारी गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः ॥

अर्थात् निर्मोही गृहस्थ मोक्ष मार्गमें स्थित है और मोही मुनि मोक्ष-मार्गमें स्थित नहीं है। इससे सिद्ध हुआ कि मोही मुनिकी अपेक्षा मोह-रहित गृहस्थ उत्तम है। यहां पर मोह शब्दका अर्थ मिथ्या दर्शन जानना। इसीलिये आचार्योंने सब पापोंसे महान पाप मिथ्यात्वको ही माना है। श्री समन्तभद्र स्वामीने और भी लिखा है कि—

नहि सम्यक्त्वसमं किञ्चित्त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम् ॥

इसका भाव यह है सम्यग्दर्शनके सदृश तीन काल और तीन जगतमें कोई भी कल्याण नहीं अर्थात् सम्यक्त्व आत्माका वह पवित्र भाव है जिसके होते ही अनन्त संसार का अभाव हो जाता है और मिथ्यात्व वह वस्तु है जो अनन्त संसार का कारण होता है अतः महानुभावो ! मेरे पर नहीं अपनेपर दया करो और इसे जाति में मिलानेकी आज्ञा दी जाए।

इन पञ्चमहाशयों में स्वरूपचन्द्र जी बनपुरया बहुत ही चतुर पुरुष थे वे मुझसे बोले—आपने कहा सो आगम प्रमाण तो वैसा ही है परन्तु यह शुद्धि-प्रथा चली आ रही है उसका भी संरक्षण होना चाहिये। यदि यह प्रथा मिट जावे तो महान अनर्थ होने लगेंगे अतः आप उतावली न कीजिये शनैः शनैः ही कार्य होता है—

कारज धीरे होत है काहे होत अधीर।
समय पाय तरुवर फलै केतिक सींचो नीर ॥

इसलिये मेरी सम्मति तो यह है कि यह प्रांत भर के जैनियों को सम्मिलित करें उस समय इनका उद्धार हो जावेगा।

प्रान्तका नाम सुनकर मैं तो भय-भीत हो गया क्योंकि प्रान्तमें अभी हठ वादी बहुत हैं परन्तु लाचार था अब चुप रह गया।

आठ दिन बाद प्रान्तके दो सौ आदमी सम्मिलित हुए भाग्य से हठवादी महानुभाव नहीं आये अतः पञ्चायत होने में कोई बाधा उपस्थित नहीं हुई अन्तमें यह निर्णय हुआ कि यदि यह दो पंगत कच्ची रसोई की देवें तथा २५०) पपौरा विद्यालय को और २५०) अतारा मन्दिर को प्रदान करें तो जातिमें मिला लिये जावें।

मैंने कहा— अब बिलम्ब मत कीजिये कलही इनकी पतंग ले लीजिये ! सबने स्वीकार किया, दूसरे दिनसे सानन्द पंक्ति-भोजन हुवा और ५००) दण्ड के दिये। उसने यह सब करके पञ्चों की चरण रज सिरपर लगाई और सहस्रों धन्यवाद दिये। तथा बीस हजारकी सम्पत्ति जो उसके पास थी एक जैनी का बालक गोद लेकर उसके सिपुर्द करदी इस प्रकार एक जैन का उद्धार होगया और उसकी सम्पत्ति राज्यमें जानेसे बच गई।

भगवान महावीर

(डा० श्री गोपीचंद भार्गव, प्रधान मंत्री, पूर्वी पंजाब)

—:o:—

वीर वे होते हैं जो संसारसे अन्याय और अज्ञान को मिटाने के लिए अस्त्र शस्त्रोंका प्रयोग कर अग्रसर होतेहैं; परन्तु जब उनके अस्त्र शस्त्र धीमे पड़ जाते हैं और उनमें शक्ति नहीं रहती जिस-के कारण वे विवश हो जाते है, तब महावीर आया करते हैं, वे किसी तलवार से लड़ा नहीं करते, न किसी पर तीर नहीं छोडा करते परन्तु अपनी तपस्या के तेज से सबको शान्त कर देते है और वह कार्य जो वीरों की प्यासी तलवार पूरा नहीं कर सकती वह इन की दिव्य मूर्ति किया करती है, उसमे शक्ति होती है, धर्म होता है और धर्म के कारणोंमें विजय लक्ष्मी लेटा करती है, आज स्वतन्त्र भारत वासी हम धन्य है जिन्हें वीर का नहीं बल्कि महावीर का जन्म दिवस मनानेका अवसर मिला, पूज्य बापूने रक्त-हीन क्रान्ति द्वारा भारतके बन्धनोंको काट कर संसार दिखा है कि महावीरके रत्नोंका कितना मूल्य है।

अहिंसाके सन्देशवाहक महावीरको जन्म देनेका सौभाग्य सिद्धार्थको प्राप्त हुआ आजसे २५४८ वर्ष पूर्व जब कि हिंसाके अन्धकार और दुख से भरे बादल ओले बरसाकर इस भारत की फुलवारी को बरबाद कर रहे थे, उस समय अहिंसा का यज्ञ करने वाला आया और यह फुलवाड़ी बर-बाद होने से बच गई ऐसा हुआ ही करता है, आज भी उसका नाटक खेला जा रहा है, जिसके नायक बननेका सौभाग्य पूज्य बापूने पाया और महावीर के रत्नोंकी ज्योति एक बार फिर संसारको दिखा कर उसीमें मिलने वाला निर्वाण पदवीको प्राप्त किया, वे महावीर बने और ये महात्मा।

त्याग जीवनका रस है और महावीर अथवा महात्मा बननेके लिए इस रस को पी वीर शक्ति प्राप्त करना नितान्त आवश्यक है महावीरने घर बार छोडा और त्यागकी पदवी प्राप्तकी १२ वर्ष की घोर तपस्याके बाद जब अपनेको सुधार चुके तो भारतका सुधार करनेके लिए उन्होंने पार्श्-वनाथ सम्प्रदायका सुधार किया और जैनमतको इन रत्नोंसे सुसज्जित कर सुधार क्षेत्रोंमें अग्रसर किया इस प्रकार ये महावीरसे महावीर वर्धमान हो गए और ७२ वर्षके उपरान्त इस प्रकार शान्ति के पिपासुओंको प्यासको बुझाते हुये पटना जिलेमें निर्वाण प्राप्त कर गए।

स्वामी महावीर ने हमें तीन अमूल्य रत्न प्रदान किए जिनमें सत्यकी ज्योति थी और विश्वास, ज्ञान और कर्म के ३ भिन्न भिन्न रंग थे जिनको अपना कर प्रत्येक आदमी निर्वाण प्राप्त कर सकता है जो कि अहिंसाके द्वारा मिल सकती हैं सबसे पहिला रत्न सत्य विश्वास है आज इस रत्नको प्राप्त करे और नेताओंमें विश्वास करें इसका विश्वास प्राप्त करनेके लिए साम्प्रदायिकता के मल-को उतारना होगा जब तक ज्ञानका प्रकाश न होगा तब तक यात्रा सफल नहीं हो सकती ज्ञान भी सच्चा होना चाहिए, फिर हम प्रकाश 'ध्रुव' की सहायतासे कर्मकी नौका द्वारा इस सागरको पार कर सकते है कौनसी नौका सच्ची है जो मार्ग के मध्य मे हमे धोका न देगी, यह बोध तभी हो सकता है जब कि ज्ञान सच्चा हो जिससे हम सागरको पार कर सकते है, वह नौका कहीं डूब न जाय इसलिए हम क्षण-क्षण हिंसाके पापसे बचने के लिए अहिंसा का पल्ला पकड़ते हैं।

अहिंसा पहिला यम है जो कि यज्ञका पहिला मार्ग है, अर्थात अहिंसाके बिना कोई सत्य, अस्तेय (चोरी करना) ब्रह्मचर्य तथा अपारिग्रह—लालच न

करनाकी सीढी पर नहीं चढ सकता, अहिंसा पहिली सीढा है और आधार भी, इसीलिए महापुरुषोंने इसे सबसे पहिले गिना आज भी यदि संसारको संकटसे कोई वस्तु बचा सकती है तो वह स्वामी महावीर और पूज्य बापू जी की दी हुई अहिंसा ही है आओ आज इसके नायकको जयन्ती मनाते समय व्रत धारण करें कि हम इस अहिंसा-को जिसके लिए उन्होंने अपना अमूल्य जीवन दिया हम भी उनके पथ पर चलतेहुए इस अहिंसा के लिए हर प्रकारका बलिदान देनेके लिए तैयार हों तभी हम सच्चे अर्थोंमें महावीर जयन्ती मना सकते है, आओ उनके आदेशोंका अपने जीवन में घटा कर संसारको अपने जीवनसे ही उनकी जयन्तीका सन्देश दें।

पूज्य वर्णीजीका पत्र

—:०:—

–पूज्य वर्णीजीका पत्र 'जैन गजट' 'वीर इंडिया' और जैन मित्रादि पत्रोंमें प्रकाशित हो चुका है। उसका विवादास्पद अंश इस प्रकार है :—

"अस्तु, यह जो शूद्र समस्याका आंदोलन हो रहा है इसमें समाज का महती हानि उठानी पड़ेगी। किन्तु कौन कहे, सुनने वाला कौन ? सत्याग्रहके यहां करनेसे लाभ क्या ? इतनी निर्मल परिणति बनाओ जो जगत् स्वयं तुमसे मार्ग पूछे ! अहिंसा की उपासना करना तो सीखते नहीं। अहिंसा धर्म हमारा है यह ध्वनि क्यों ? यदि तुम्हारा है तब क्या नहीं पालन करते ? केवल कहनेसे क्या लाभ ? विचारो तो सही धर्म तो वह वस्तु है जिसके उदयमें कोई रागादि अंश भी नहीं रहता। शुद्ध द्रव्य रह जाता है। फिर शूद्रको मन्दिर जानेका अधिकार नहीं? मेरा तो यह विश्वास है कि मन्दिर आनेका अधिकार भलेही न हो किन्तु आंशिक मोक्षका अधिकारी जैसे आप लोग हैं वह भी है उच्च कुलमें पैदा होनेसे धर्मात्मा हो यह नियम नहीं और यहभी नियम नहीं जो मन्दिरमें जानेसे धर्म होसकता है। धर्म तो आत्माके निर्मल भावोंसे सम्बन्ध रखता है।

अस्पृश्य भी तो प्राणी है। सञ्ज्ञी है वे भी सदाचारी होसकते हैं। पञ्चलब्धियोंमें देशनालब्धि क्या हम जैनोंके वास्ते ही है। कहां तो यह कहना कि जैनधर्म सार्वजनिक है और कहां यह हठ यदि शूद्र लोग मन्दिरमें आगए तब न जाने क्या होगा ? क्या होगा ? कुछ न होगा। मन्दिरोंमें देशनाका प्रबन्ध करो और उन्हें समझाओ धर्मका मर्म तो यह है पहले अनात्म बुद्धि छोड़ो। पश्चात् पञ्च पापोंका त्याग करो पश्चात् विधि-विहित धर्माचरण करो। सो तो कुछ है नहीं हम सत्याग्रह करके दिखा देंगे। जो वर्तमान सरकारको अन्ततो गत्वा झुकना ही पड़ेगा इत्यादि—

यह पत्र कितना मूल्यवान है उसका यह अंश हा हमें जागृत करनेक लिये पर्याप्त है और जैनधर्म के सर्वोदय तीर्थका प्रतीक है, वह कितना उपयोगी और सामयिक है। हम पत्रके विचारोंसे पूर्णतः सहमत है। जिन्होंने पूज्यवर्णीजीके आध्यात्मिक पत्र पढ़े है वे उनकी महत्तासे स्वयं परिचित हैं। आपके पत्र जहाँ वस्तुस्थितिके निदर्शक होते है वहाँ वे अध्यात्मकी चर्चा से सराबोर भी रहते हैं और मुमुक्षु प्राणियोंके उत्थानमें एक साधक गुरूका कार्य भी करते है। अस्तु, पत्रकी महत्ता और उसके औचित्यका ध्यान न रखने वाले किन्हीं तिलोकचन्द जैन और निरंजनलाल आदिने पत्रकी आलोचना करते हुए उन्हें सिद्धान्तसे अनभिज्ञ तक लिखनेका दुःसाहस किया है और उनकी पावन-श्रद्धा पर भी आक्रमण किया है। यद्यपि उनका यह आक्रमण कषाय और अन्धश्रद्धाके साथ तात्त्विक विचारसे रहित है उसमें सौजन्यताका

किंचित् भी समावेश नहीं है। उसमें उनकी उथली श्रद्धाका सहजही भान होजाता है और यह स्पष्ट ज्ञान पड़ता है कि वे जैनधर्मका एक कुंजम बंद कर केवल वैश्यों तक ही सीमित करना चाहते हैं। और यह भूल जाते है कि जैनधर्ममें जहां तिर्यंच भी संयमका साधन कर आत्मकल्याण करते है वहां मनुष्योंका तो बातही क्या है ? क्या उन्हें पशुओं जितना भी अधिकार प्राप्त नहीं है। निरंजनलालजी आगम प्रमाणसे यह बतलाने की कृपा करें कि क्या तीर्थंकरोंने जैनधर्मका उपदेश केवल उच्च कुलवाले वैश्योंके लियेही दिया है ? यदि नहींतो फिर आपको केवल शूद्रोंसे ही इतनी घृणा क्यों ? क्या वे मानव नहीं है और क्या वे अहिंसादि सत्कार्यों द्वारा अपना आत्म-विकास नहीं कर सकते। अगर आपको उनके नीच कार्य अथवा पापसे घृणा है तो उनकी आत्मासे तो घृणा नहीं होनी चाहिये। किन्तु उन्हें उनकी भूल सुझाकर पावन बनानेका प्रयत्न करना चाहिये। क्या जैनधर्म पतितों-मिथ्या-दृष्टियों तथा पापियोंके पावन करने के लिये नहीं हैं यदि है तो फिर दूसरोंको धर्मसाधनसे रोकनेका किसको अधिकार होसकता है। अस्तु, तिलोकचन्द जी और निरंजनलालजीने पूज्य वर्णीजी पर जो आक्षेप करनेका जघन्य प्रयत्न किया है और निरंजनलाल जी ने तो सभ्यता और शिष्टताकी सीमाका भी उल्लंघन किया है उसके लिये उन्हें अपनी भूल स्वीकार करते हुए पूज्य वर्णीजीसे क्षमायाचनाके साथ अपने शब्दोंको वापिस लेना चाहिये।

परमानन्द जैन

'संजद' पद का बहिष्कार

(डा० हीरालाल जैन, प्रोफेसर, नागपुर महाविद्यालय)

—:•:—

जैनमित्र ता० २ मार्च १६५०के अंकमें प्रकाशित हुआ है कि मुनि शांतिसागर जी महाराजने षट्खंडागम जीवट्ठाणकी सत्प्ररूपणा सूत्र ६३ मेंसे 'संजद' पदको हटा देनेकी अनुज्ञा देदी है। इस साहित्यक परिवर्तनका कारण यह बतलाया हैकि—

"उक्त सूत्रमें संजद पद रहनेसे भविष्यमें हजारों वर्ष तक द्रव्यस्त्रीके मोक्ष जानेका दिगंबर सिद्धान्त के विरुद्ध बहुत भारी दोष उस शास्त्रमें बना रहेगा, जो कि एक बड़े धोखे की बात होगी, हमने संजद शब्दके बारे में दोनों पक्षोंके विद्वानोंके लेख पढ़े है। गतवर्ष जब पं० माणिकचन्द्र जी न्यायाचार्य हमारे पास आये थे, उन्होंने भी यही कहा था कि ६३ सूत्र द्रव्यस्त्रीका विधान करता है इसलिये उसमें संजद शब्द नहीं होना चाहिये। इत्यादि.

हमारे आचार्योंकी साहित्यिक सेवाका आजतक यह क्रम रहा है कि प्राचीन परंपरासे भतका जैसा पाठ चला आयाहै उसको वैसा ही रखना, उसमें कोई घटा बढ़ी या परिवर्तन नहीं करना। हॉ जहां आवश्यक हो वहां अर्थ चाहे जैसा अपनी समझ व रुचिके अनुसार बैठा लेना। धवला टीकाके रचयिता प्रकाण्ड विद्वान् आचार्य वीरसेन स्वामीने भी यही किया। उक्त सूत्रका संजद युक्त पाठतो उनके सन्मुख भी था, और उनको वह खटकता भी था। तोभी उन्होंने उसे हटाने की धृष्टता नहीं की, यद्यपि वे चाहते तो उसे अधिक अच्छी तरह हटा सकते थे, और उनमें इतनी योग्यता भी थी कि इस परिवर्तनको वे सिद्धांतकी दृष्टिसे समस्त ग्रंथ में भी निभा लेते।

वर्तमान रूपमें षट्खंडागम सूत्र रचना ऐसी नहीं है कि उसमें केवल उक्त सूत्रमें से संजय शब्द हटा कर स्त्री मुक्तिका प्रसंग टाला जासके। उसी सत्प्ररूपणा विभाग में ही अगले सूत्र १६४-१६५ में फिर वही संजद पद ग्रहण करके मनुष्यनीके चौदहों गुण-

स्थानोंका प्रति पादन किया गया है। आगे द्रव्य क्षेत्र स्पर्शन आदि समस्त प्ररूपणाओं में भो मनुष्यनीके चौदहों गुणस्थान बतलाये गये हैं।

धवला टोकाकी तो परिस्थिति यह है कि सत्प्ररूपणा के ६३ सूत्र में 'संजद' पद ग्रहण किये बिना उसकी टोकाकी कोई सार्थकता नहीं रहती। इसी सत्प्ररूपणाके आधारपर खड़े किये गये आलापाधिकारमें धवलाकारने मनुष्यनीके न कवल चौदहों गुणस्थान ग्रहण किये है, किंतु एक एक गुणस्थानकी अलग अलग व्यवस्थाका विवरण भी दिया है। इसी परम्परानुसार गोम्मटसार जैसे शास्त्रोमे भी मनुष्यनीके सवत्र संयतपद स्वीकार किया गया है। ऐसी परिस्थिति में केवल सूत्र ६३ में से संयत पद हटा देने से सिवाय एक गड़बड़ी उत्पन्न करनेक और क्या लाभ होगा ?

यदि केवल उक्त सूत्रमे 'संजद' पद न रहनेस मनुष्यनीके छठे आदि गुणस्थानाका निवारण हो सकता, तो धवलाके संपादकोंको उनके सन्मुख उपस्थित हस्त लिखित प्रतियोंमें उक्त पदका अभाव होने पर भी उसकी स्थितिका अनुमान न लगाना पड़ता। उनका वह अनुमान ही इस बातका प्रमाण है कि षट्खंडागमके पूर्वापर प्रसंगोको देखते हुये ६३ सूत्रमें संजद पद छोड़ा नहीं जा सकता चाहे वह किसी प्रतिमें प्रमादसे, कषायसे, अज्ञानसे व अन्य किसीभी कारणसे छोड़ भलेही दिया जाय।

कुछ लोगोंको यह धारणा है कि ६३ सूत्रमे मनुष्यनो पद द्रव्यस्त्रोका बोधक है, इसलिये उस सूत्रमें 'संयत पद दिगंबर मान्यताका विरोधो है, व अन्यत्र मनुष्यनी भावस्त्री का बोधक होनेसे वहां 'संयत'पद मान्यता-विरोधो नहीं है किंतु यह उनकी भ्रांति है। मनुष्यनी शब्दका इस प्रकार अर्थ-भेद षट्खंडागमके भीतर नहीं बन सकता। सत्प्ररूपणा आदि अधिकारोंका परस्पर ऐसा संबंध है कि प्रथम प्ररूपणामें जिन जीवोंके जिन गुणस्थनाका सद्भाव बतलाया गया, उन्हीं जीवोंका उन्हीं गुण स्थानोंमें प्रमाणादि निरूपण द्रव्य, क्षेत्र आदि प्ररूपणाओंमें किया गया है। यह बात धवलाकारने द्रव्य प्रमाण प्ररूपणाके प्रारम्भमे हो बहुत स्पष्टतासे बतला दी है। यदि ऐसा न होतो शास्त्रमें यह विप्रतिपत्ति उपस्थित हो जायगी कि जिन जीवोंके जो गुणस्थान बतलाये उनकी संख्या आदि नहीं कही और जिनकी संख्या आदि बतलायी उनमें उन गुणस्थानोंका सत्व ही नहीं दिखलाया। ऐसी त्रुटि व विप्रतिपत्ति षट्खंडागम जैसे आगममे असंभव है

'संजद' शब्दका निष्कासन

अभी हालमें ता० १६-२-५० को गजपंथातीर्थ पर षट्खण्डागमके उस 'संजद' शब्दके बहिष्कार का आदेश आचार्य श्री शांतिसागरजीने देदिया है। आचार्य महाराजने षट्खण्डागमके ताम्रपत्रों और मुद्रित प्रतियोंमेंसे 'संजद' शब्द निकालनेका जो यह अवांछनीय आदेश दिया है उससे जैन समाज में एक भारी क्षोभ उत्पन्न होगया है और ग्रन्थकी प्रामाणिकता सदाके लिये सन्देहास्पद बन गई है।

दिगम्बर आगम अब तक अपनी प्रामाणिकता के लिये प्रसिद्ध रहा है और उसके प्रसारक आचार्योंने आजतक अपनी प्राचीन परम्पराको अक्षुण्ण कायम रक्खा है और अपने विचारोंसे प्रतिकूल विषयका सामंजस्यभी बैठानेका यथासाध्य प्रयत्न किया है। पर कोई भी शब्द उस ग्रंथसे पृथक करने का दुःसाहस नहीं किया है जैसाकि आचार्य शांतिसागरजीने किया है। यह उनकी सर्वथा अनाधिकार चेष्टा है। कोईभी व्यक्ति किसीभी ग्रथकार की कृति मे से कोई भी वाक्य या शब्द निकालनेका अधिकार नहीं रखता, फिर द्वादशांगके एकांशके वेत्ता पुष्पदन्त भूतबलि आचार्यके षटे-

खण्डागम सूत्रमेंसे 'संजद' पदके निष्कासनकी घोषणा कर देना तो एक बहुतही बड़े दुःसाहसकी बात है और उसके द्वारा समाजके उन मान्य एवं प्रतिष्ठित विद्वानोंकी भारी अवहेलना कीगई है जिन्होंने सागरमें विद्वद्परिषद्के अवसर पर आगम प्रमाणोंसे सिद्ध करके यह निर्णय दिया था कि षट्खण्डागमके ९३ सूत्रमें 'संजद' पदके रहते हुए भी द्रव्यस्त्रीकी मुक्ति सिद्ध नहीं हो सकती ऐसी स्थितिमें दो वर्षके बाद ताम्र पत्रादिका कार्य पूरा होने पर उसमेंसे 'संजद' पद निकालनेकी घोषणा करना आगमकी प्रामाणिकता को खतरेमें डालनेके सिवाय और कुछ अर्थ नहीं रखता। अतः समाजके श्रीमानों तथा विद्वानोंको इस अनर्थके टालनेका शीघ्रातिशीघ्र जोरदार प्रयत्न करना चाहिये और षट्खण्डासे निकाले हुए उस 'संजद' वाले ताम्र पत्रको पुनः प्रविष्ट कराना चाहिये।

पं० खूबचन्दजी शास्त्रीने जो उक्त संस्थाकी समितिके सदस्य थे उसी समय अपना त्याग पत्र देकर अपने आत्म सम्मानकी रक्षा की है।

परमानन्द जैन

श्री अगरचन्दनाहटाके लेख पर नोट

दिगम्बर साहित्यमें त्रेशठ शलाकीय महापुरुषोंके जीवन परिचयको व्यक्त करने वाले अनेक ग्रन्थ १२ वीं शताब्दीसे पूर्व रचे गये हैं। आचार्य यतिवृषभकी 'तिलोय पण्णत्ती' में चौबीस तीर्थंकरों और बारह चक्रवर्तियों आदिके चरित्रकी महत्वपूर्ण सामग्री विद्यमान है। आचार्य वीरसेनके शिष्य जिनसेन और पुन्नाट संघीय जिनसेन द्वितीयके महापुराण और हरिवंशपुराण तो प्रसिद्ध हो है और कवि परमेष्ठीका गद्य-पुराणका उल्लेख भी निहित ही है भले ही वह आज समुपलब्ध न हो। और आचार्य गुणभद्रका उत्तरपुराण भी प्रसिद्ध ही है। चरित ग्रन्थोंमें जटासिंहनन्दीका वरांग-चरित रविषेणका पद्म-चरित और स्वयंभूदेव, चतुर्मुख एवं पुष्पदन्तके पउमचरिउ, हरिवंश पुराण और महापुराण प्रसिद्ध ही है। इनमें चतुर्मुखके ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं। इनके अतरिक्त सं० ९१० में महाकवि असगने महावीर-चरित और शान्तिनाथ चरितकी रचनाकी है जिसकी प्रतियां अनेक ज्ञान-भंडारोंमें सुरक्षित हैं। कविवर पद्मकीर्तिने सं० ९९९ में पार्श्व-पुराणकी रचना अपभ्रंश भाषामें की है यह ग्रन्थ आमेर आदिके भंडारोंमें है महाकवि वीरने जम्बूस्वामि चरितकी रचना वि० सं० १०७६ में कीहै। और इनके पिता देवदत्तने शांतिनाथका चरित भी लिखा था जो उपलब्ध नहीं है। खोज करने पर और भी अनेक पुराण तथा चरित ग्रन्थों के उल्लेख प्राप्त हो सकेंगे। इन सब उल्लेखोंसे स्पष्ट है कि दिगम्बर सम्प्रदायमें दशमी ११वीं शताब्दीसे पूर्व सातवीं आठवीं और नौवीं शताब्दियों में पुराण तथा चरित ग्रन्थोंका निर्माण हो चुका था और यह रचना कार्य बादमेंभी चलता रहा है। और १३ वीं १४ वीं १५वीं १६ वीं शताब्दियोंके अनेक चरित पुराण ग्रन्थ विविध भाषाओंमें लिखे गये है। पर श्वेताम्बर सम्प्रदायमे स्वतन्त्र तीर्थंकर चरित १२ वीं शताब्दीमे पूर्व नहीं रचे गये यह नाहटाजी के वर्तमान लेखसे स्पष्ट है।

परमानन्द जैन

(३१८ वें पृष्ठका शेषांश)

सयल विहिणिहाणु सुकव्व कमलु।
ववगय-मिच्छत्त तमोह-दोसु,
धम्मत्थ काम कमणीयकोसु।
सकाइय मलसंगम विरामु,
दयधम्म रमारामाहिरामु।
सावयवयहंसावलि वियासु,
परमेट्ठिपंचपरिमलपयासु।
केवलसिरिकामिणिकयविलासु,
सग्ग पवग्ग सुहरस पयासु।
मुणिदाणकंद मयरंद वरिसु,
बुहयण महुयर मणुदिण्ण हरिसु।

ग्रन्थकर्ताने गुरु माणिक्यनन्दीको महापण्डित बतलानेके साथ साथ उन्हें प्रत्यक्ष परोक्ष प्रमाणरूप

मेरा शैशव भी ऐसा था

(विजयकुमार चौधरी, साहित्यरत्न)

—:०:—

मेरा शैशव भी ऐसा था, स्मृतियां साकार हुईं।
बाल वृन्दके दिव्य स्मित में, चिन्तायें सब दूर हुईं॥
एक निम्ब तरुवरके नीचे खेल रहे थे बच्चे चार।
नंगे तन थे धूल-धूसरित, कितने प्रिय कितने सुकुमार॥ (१)

मनके भीतरकी उज्वलता,
मुखपर स्वतः झलकती थी।
बाल-सुलभ वह उनकी क्रीड़ा,
सबको प्यारी लगती थी॥
हंसते, थे मुस्काते थे वे,
अपनेमें होकर अलमस्त।
आंख मिचौनी में ही उनकी,
छिपी हुई थी खुशी समस्त॥ (२)

कभी कभी लड़-भिड़ जाते थे,
अपनी जीत जताने को।
हार स्वयं स्वीकार न करते,
अपनी झेंप मिटानेको॥
दौड़-दौड़में ठोकर खाकर,
यदि कोई गिर पड़ता था।
लज्जित होकर उठ तुरन्त,
वह झटसे दौड़ लगाता था॥ (३)

तुतलाती मृदु वाणी में, जब वे सम्भाषण करते थे।
सुनने वाले सहृदय जनके, मनको पुलकित करते थे॥
खेल-खेल में नये खिलौने, कितने तोड़ दिये उनने।
'भीतर क्या है' की जिज्ञासा, स्वयं शान्त करली उनने॥ (४)

पांव डाल कर गीली बालू
से घरका निर्माण किया।
'आविष्कारिणि शक्ति स्वयं
मानसमें' सही प्रमाण दिया॥
अपने कठिन परिश्रमका फल,
कितना मीठा होता है।
मिलता प्रमाण बालक जब,
निजकी कृतिपर इठला देता है॥ (५)

उनका खेल हुआ आकर्षण
मेरे आकर्षित मनको।
'मैं भी बालक हूं' विचारने,
भुला दिया था उन सबको॥
मैं भी भूल गया अपने को,
लखकर उन सब की क्रीड़ा।
पुलकित मन हो गया तभी,
औ' भूल गया मनको पीड़ा॥ (६)

(३५१वें पृष्ठका शेषांश)

जलसे भरे और नयरूप चंचल तरंगसमूहसे गंभीर, उत्तम सप्तभंगरूप कल्लोलमालासे भूषित तथा जिन शासनरूप निर्मल तालाबसे युक्त और पंडितों का चूड़ामणि प्रगट किया है। और अपनेको निर्मल सम्यक्त्वी, पंच परमेष्ठीका भक्त, धर्म अर्थ और काम रूप पुरुषार्थ युक्त तथा शंकादिक मलसे रहित स्वर्गापवर्गरूप सत्वरसका प्रकाशक सूचित किया है।

वीर सेवामन्दिर को प्राप्त सहायता

अनेकान्तकी गत किरण नं० ३ में प्रकाशित सहायताके बाद वीरसेवामन्दिरको जो सहायता प्राप्त हुई है वह क्रमशः निम्न प्रकार है और उनके लिये दातार महानुभाव धन्यवादके पात्र हैं।

२०) जैन समाज कोडरमा (हजारी बाग) नंदीश्वर विधानके उपलक्ष में मार्फत पं० गोविंदराय जैन

८) दि० जैन समाज बाराबंकी, मार्फत ला० कन्हैयालाल जैन।

१२।।।) जैन युवक मंडली ललितपुर ऋषभजयन्तीके उपलक्षमें मार्फत वैद्य इन्द्रजीत आयुर्वेदाचार्य।

———

४०।।।)

अधिष्ठाता वीरसेवामन्दिर

स्वाध्यायप्रेमियोंके लिये उत्तम अवसर

प्रकाशक—परमानन्द जैन शास्त्री, वीरसेवामंदिर ७/३३ दरियागंज देहली, मुद्रक—अजितकुमार जैन शास्त्री
अकलंक प्रेस सदरबाजार देहली।

अनेकान्त

वर्ष १०] अप्रैल १९५० [किरण १०

सम्पादक—जुगलकिशोर मुख्तार

★

—: विषय-सूची :—

———

समाचार

केन्द्रीय मंत्रिमंडलमें एक जैन मंत्री

श्रीमान बा० अजितप्रसाद जी जैन एम० एल० ए० सहारनपुरको अभी भारतसरकारके केन्द्रीय मंत्रीमंडल में श्री मोहनलाल सकसेना स्थान पर नियुक्त किया गया है। बधाई।

पैर से लिखने वाला

कर्नाटकके सीमावर्ती एक गावमें शंकरापा नामक एक नवयुवक रहता है जिसके बचपनसे ही दोनों हाथ नहीं हैं। इसी लिये वह अपने दाहिने पैरकी उङ्गलियों से कलम पकड़ कर बहुत सुन्दर लिखता है और बहुत जल्दी लिखता है। कनड़ीमें वह अन्तिम परीक्षा पास कर चुका है। बीजापुरमें अध्यापकी प्राप्त करनेका प्रयत्न कर रहा है। गर्दन और कंधे के बीच लगाम पकड़कर घुड़सवारी भी करता है।

स्वाध्यायप्रेमियोंके लिये उत्तम अवसर

भारतकी राजधानी देहलीमें वीरसेवामन्दिरके तत्त्वावधानमें समाजके जिनवाणीभक्त दानी महानुभावोंकी आर्थिक सहायतासे एक सस्ती जैन ग्रन्थमाला की स्थापना हुई है। ग्रन्थमाला-का प्रत्येक ग्रन्थ गृहस्थोपयोगी है—स्त्री पुरुष और बच्चोंके लिए उसका लेना बड़ाही लाभदायक और अत्यन्त आवश्यक है। इसलिये प्रत्येक सद्गृहस्थका कर्त्तव्य है कि वह इन ग्रन्थरत्नोंको खरीदकर जिनवाणीके स्वाध्यायसे आत्म-कल्याण करे। इस सस्तीका ग्रन्थमालासे प्रकाशित निम्नलिखित ग्रन्थोंका लागत मूल्य १५) है, वे पूरा सेट लेने वाले सज्जनोंको लागतसे भी कम मूल्य १२) में और पद्मपुराणको छोड़कर शेष ७ ग्रन्थोंका सेट सिर्फ ७)में देनेका निश्चय किया है। जिन्हें इन ग्रन्थरत्नोंकी आवश्यकता हो वे ग्राहकोंमें अपना नाम लिखाकर और अपना मूल्य भेजकर 'वीरसेवामन्दिर आफिस ७३३ दरियागंज देहली' से रसीद लेलें। पद्मपुराण के सिवाय सभी ग्रन्थ छपकर तैयार है। पद्मपुराण प्रेसमें छप रहा है।

१ रत्नकरण्डश्रावकाचार—सजिल्द लगभग ८०० पृष्ठ (मूल० समन्तभद्राचार्य, टी० पं० सदासुखदासजी	३)
२ मोक्षमार्गप्रकाशक—सजिल्द लगभग ५०० पृष्ठ (प० टोडरमलजी)	२॥)
३ जैन महिलाशिक्षासंग्रह—पृष्ठ २४०	१)
४ सुखकी झलक—पृष्ठ १६०(पूज्यवर्णीजीके प्रवचनोंका सुन्दर संकलन)	॥=)
५ श्रावकधर्म संग्रह—पृष्ठ २४० (पं० दरयावसिंह, श्रावकोपयोगी पुस्तक)	१)
६ सरलजैन धर्म—पृष्ठ ११२ (बालकोपयोगी पुस्तक)	।=)
७ छहढाला—पृष्ठ १०० (पं० दौलतरामजी व प० बुधजनजी कृत)	।)
८ पद्मपुराण—(सजिल्द बड़ा साइज) पृष्ठ ८०० (मूल० रविषेणाचार्य, टी० पं० दौलतरामजी)	६)

मन्त्री—वीरसेवामदिन्र सस्ती ग्रन्थमाला,
नं० ७३३ दरियागंज, देहली।

ॐ अर्हम्



वर्ष १० किरण १०	वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम), ७/३३ दरियागंज, देहली वैशाख शुक्ल, वीरनिर्वाण-संवत् २४७६, विक्रम-संवत् २००७	अप्रैल १९५०

श्रीमाघनन्दि व्रति-विरचिता

अर्हन्नुतिमाला

[यह स्तुति जयपुरके बड़े मन्दिरके उसी-जीर्ण शीर्ण गुटके परसे उपलब्ध हुई है जिसपरसे अनेकान्तकी गत किरणमें प्रकाशित 'शम्भुस्तोत्र'की उपलब्धि हुई थी। इस स्तुतिके, जिसका नाम अन्तिम पद्यपरसे 'अर्हन्नुतिमाला' पाया जाता है, सामने आते ही खयाल उत्पन्न हुआ कि शायद यह स्तुति वही हो जो जैनसिद्धान्त भास्करके प्रथम वर्षकी किसी किरणमें कोई ३५ वर्ष पहिले प्रकाशित हुई थी परन्तु जयपुरमें भास्करकी उस वर्षकी फाइल न मिलसकनेके कारण मिलान आदिकी दृष्टिसे स्तुतिको १०मार्च सन१९५० को नोट कर लिया गया। इसके बाद एक दूसरे गुटकेमें दूसरी प्रति भी मिल गई, जो पहली प्रतिसे शुद्ध जान पड़ी और इसलिए उसके पाठ भेदोंको नोट किया गया। हालमें भास्करके प्रथम वर्षकी ४थी किरणको देखनेसे मालूम हुआ कि यह स्तुति उसमें एक 'ऐतिहासिक स्तुति' के नामसे प्रकाशित हुई है और इसे कर्णाटकदेशमे प्राप्त उन माघनन्दि आचार्यकी कृति बतलाया है जो दैवयोगसे अपना मुनिपद छोड़ कर अत्यन्त सुन्दर कुम्हारकी कन्याके साथ विवाह करनेके लिए बाध्य हुए थे। साथ ही, यह भी प्रकट किया है कि वह कुम्हारके घर रहते जब घड़ा (मटकादि) बनानेको बैठते थे तो उसपर थपकी लगाते समय इस प्रकारके स्तुति श्लोकोंको बना बना कर गाया करते थे। यह सब बात कहां तक ठीक है इसके विचारका यहां अवसर नहीं है। हां, इतना जरूर कहना होगा कि स्तुति बड़ी सुन्दर तथा भावपूर्ण है, आदि अन्तके दोनों पद्योंको छोड़कर शेष पद्य ऋषभादि चतुर्विंशति तीर्थङ्करोंकी स्तुतिको लिए हुए बड़े ही रसीले हैं और वे घड़ेपर थपकी लगाते हुए गाए बजाए जा सकते हैं। भास्कर में यह स्तुति छिपने हो अशुद्ध रूप में प्रकाशित हुई थी जिससे अनेक स्थलों पर अर्थ की संगति

ठीक नहीं बैठती आज उक्त दोनो प्रतियों के आधार पर इसे प्रायः शुद्ध रूप में प्रकाशित किया जाता है—सम्पादक

(शार्दूलविक्रीडितम्)

वन्दे तानमरप्रवेकमुकटप्रोत्तारुणप्रस्फुरद्धाम-स्तोम-विमिश्रितापदनखाभीषुत्करा रेजिरे।
येषां तीर्थकरेशिनां सुरसरिद्वारिप्रवाहो यथा, दिव्यद्देवानतंबिनीस्तनगलत्काश्मीरपूरान्वितः ॥१॥

वृषभं त्रिभुवनपति शत-वन्द्यं मन्दरगिरिमिव धीरमनिन्द्यम्।
वन्दे मनसिज-गज-मृगराजं राजित-तनुमजितं जिनराजम् ॥२॥
संभवदुज्वलगुणमहिमानं संभवजिनप्रतिमप्रतिमानम्।
अभिनन्दनमानिन्दितलोकंविद्याऽऽलोकित-लोकाऽलोकम् ॥
सुमतिं प्रशमित-कुनय-समूहं निर्दलिताखिलकर्मसमूहम्।
वन्दे तं पद्मप्रभदेवं, देवाऽसुर-नर-कृत-पदसेवम् ॥४॥
सेवकमुनिजनसुरतरुपार्श्वं, प्रणमामि प्रथितं च सुपार्श्वम् ॥
त्रिभुवनजननयनोत्पलचन्द्रं, चन्द्रप्रभमवर्जिततन्द्रम् ॥४॥
सुविधि विधु-धवलोज्वलकोर्तिं, त्रिभुवनपतिनुतकीर्तितमूर्तिम्।
भूतलपतिनुतशीतलनाथं, ध्यान-महाऽनल-हुतरतिनाथम् ॥५॥
स्पष्टानन्तचतुष्टय-निलयं, श्रेयोजिनपतिमपगतविलयम्।
श्रीवसुपूज्यसुतं नुतपादं भव्यजन-प्रिय-दिव्य-निनादम् ॥६॥
कोमलकमलदलायतनेत्रं विमलं केवलशस्यसुक्षेत्रम्।
निर्जित-कन्तुमनन्तजिनेशं वन्दे मुक्तिवधूपरमेशम् ॥७॥
धर्मं निर्मलशर्मोपत्रं धर्म्म-परायणजनताशरणम्।
शान्तिं शांतिकरं जनतायाः भक्तिभर-कम-कमलनतायाः ॥८॥
कुन्थुं गुणमणिरत्नकरण्डं संसाराम्बुद्धि-तरण-तरण्डम्।
अमरीनेत्र-चकोरी-चन्द्रं अरपरमं पद-विनुत-महेन्द्रम् ॥९॥
उद्धत-मोह-महाभटमल्लं मल्लिकुल्लशरं प्रतिमल्लम्।
सुव्रतमपगत-दोषनिकायं चरणाम्बुजनतदेवनिकायम् ॥१०॥
नौमि नमिं गुणरत्नसमुद्रं योगि-निरूपित-योगसमुद्रम्।
नील-श्यामल-कोमल-गात्रं नेमिस्वामिनमेनोहात्रम् ॥११॥
फणि-फण मण्डप-मण्डित-देहं पार्श्वं निजहिनगतसंदेहम्।
वीरमपारपवित्रचरित्रं कर्ममहीरुहमूललवित्रम् ॥१२॥
संसाराऽप्रतिमप्रतिबाधं परिनिःक्रमणं केवलबोधम्।
वन्दे मन्दरमस्तकपीठे कृतजन्माभिषवनुतपीठे ॥१३॥

[घत्ता]

अनन्तु-गुण-निबद्धामर्हतां माघनन्दी(न्दि-)व्रति-रचित-सुवर्णाऽनेकपुष्प-व्रजानाम्।
स भवति नुतिमालां यो विधत्ते स्वकण्ठे, प्रियपतिरमरश्रीमोक्षलक्ष्मी-वधूनाम् ॥

हरिजन-मन्दिर-प्रवेशके सम्बन्धमें मेरा स्पष्टीकरण

[ले०-- क्षु० श्रीगणेशप्रसाद जी वर्णी, न्यायाचार्य]

—:—:—

जबसे हरिजन मन्दिर-प्रवेशचर्चा चली कुछ लोगोंने अपने स्वभाव या पक्षविशेषकी प्रेरणासे हरिजन-मन्दिर-प्रवेशके विधि-निषेधसाधक आन्दोलनोंको उचित-अनुचित प्रोत्साहन दिया। कुछ लोगोंको जिन्हें आगमके अनुकूल किन्तु अपनी यथेच्छाके प्रतिकूल विचार सुनाई दिये, उन्होंने कहना आरम्भ किया कि "वर्णीजी हरिजनमन्दिर प्रवेशके पक्षपाती है," इतना ही नहीं दलविशेष और पक्षविशेषका आश्रय लेकर अपनी स्वार्थ-साधनाके लिये, यथा तथा आगम-प्रमाण भी उपस्थित करते, हुए मेरे प्रति भी जो कुछ मनमें आया ऊटपटांग कह डाला, इससे मुझे जरा भी रोष नहीं; परन्तु उन सम्भ्रान्त जनोंके निराकरणके लिये स्पष्टीकरण आवश्यक है, यद्यपि इसमें न तो पक्षपाती बननेकी इच्छा है न विरोधी बननेकी। परन्तु आत्माकी प्रबल प्रेरणा सदा यही रहती है कि जो मनमें हो वह वचनोंसे कहो, यदि नहीं कह सकते तब तुमने अबतक धर्मका मर्म ही नहीं समझा, माया छल, कपट, वाक्‌प्रपंच आदि वंचकताके इन्हीं रूपान्तरोंके त्यागपूर्वक जो वृत्ति होगी वही धार्मिकता भी कहलायगी। यही कारण है कि इस विषयमें कुछ लिखना आवश्यक प्रतीत हुआ।

हरिजन और उनका उद्धार

अनन्तानन्त आत्माएं हैं परन्तु लक्षण सबके नाना नहीं एक ही है। भगवान् उमास्वामीने जीवका लक्षण उपयोग कहा है, भेद-अवस्था प्रमुख है, अवस्था परिवर्तित होती है एक दिनको बालककी अवस्था परिवर्तित होते होते आज वृद्ध अवस्थाको प्राप्त हो गए हैं यह तो शरीर परिवर्तन हुआ, आत्मामें भी परिवर्तन हुआ। एक दिन ऐसा भी था जो दिनमें दश बार पानी और पांच बार भोजन करते भी संकोच न करते थे वे आज एक बार ही भोजन और जल लेकर सन्तोष करते हैं। कहनेका तात्पर्य यह है कि सामग्रीके अनुकूल प्रतिकूल मिलने पर पदार्थमें तदनुसार परिणमन होते रहते हैं। आज जिनको हम नीच पतित या घृणित जातिके नामसे पुकारते हैं उनकी पूर्वअवस्थाको वर्णव्यवस्था प्रारम्भ होनेके समय को सोचिए और आजकी अवस्थासे तुलनात्मक अध्ययन कीजिये, उस अवस्थासे इस अवस्थातक पहुंचनेके कारणोंका यदि विश्लेषण कियाजाय तो यही सिद्ध होगा कि बहुसंख्यक वर्गकी तुलनामें उन्हें उनके उत्थानमें साधक अनुकूल कारण नहीं मिले, प्रतिकूल परिस्थितियोंने उन्हें बाध्य किया, फलतः ६० प्रतिशत हिन्दू जनतामें से २०-२५ प्रतिशत इस जातिको विवश दुर्दिन देखनेका दुर्भाग्य हुआ, उनकी सामाजिक राजनैतिक आर्थिक एवं धार्मिक सभी समस्याएं जटिल होती गई, उनकी दयनीय दशापर सुधारकोंको तरस आया, गांधीजीने उनके उद्धारकी सफल योजना सक्रिय की, क्योंकि उनकी समझमें यह अच्छी तरह आचुका था कि यदि उनको सहारा न दिया गया तो कितना ही सुधार हो, कितना ही धर्म प्रचार हो, राष्ट्रीयताका यह कालाकलंक धुल न सकेगा। वे सदाके लिये हरिजन (जिनके लिये हरिका सहारा हो और सब सहारोंके लिये असहाय हों), ही रह जावेंगे। यही कारण था कि हरिजनोंके उद्धारके लिये गांधीजीने अपनी सत्य साधुताका उपयोग किया, विश्वके साधु सन्तों से जोरदार शब्दोंमें आग्रह किया, धर्म किसी की पैतृक सम्पत्ति नहीं, यह स्पष्ट करते हुए उन्होंने

हरिजन उद्धारके लिये सब कुछ त्याग दिया, सब कुछ कार्य किया. दूसरोंको भी ऐसा करने का उपदेश दिया। हमारे आगममें गृद्ध पक्षीको व्रती लिखा है, मृत्यु पाकर कल्पवासी देव होना भी लिखा है, यही नहीं किन्तु रामचन्द्रजीके भ्रातृ-मोहको दूर करनेमें उसका निमित्त होना भी लिखा है।

आधुनिक युगमें हरिजनोंका उद्धार स्थितिकरण कहा जा सकता है। धर्म भी हमारा पतित पावन है, यदि हरिजन पतित ही है तो हमारा विश्वास है कि जिस जैनधर्मके प्रबल प्रतापसे यमपाल चाण्डाल जैसे सद्गतिके पात्र हो गये हैं उससे इन हरिजनोंका उद्धार हो जाना कोई कठिन कार्य नहीं है।

वैश्य कौन, शूद्र कौन ?

जैनदर्शन सम्पादकने मेरे लेखपर शूद्रोंके विषयमें बहुत कुछ लिखा है, आगम प्रमाण भी दिए हैं, आगमकी बातको तो मैं सादर स्वीकार करता हूं; परन्तु आगमका अर्थ जो आप लगावें वही ठीक है, यह कैसे कहा जा सकता है ? श्री १०८ कुन्दकुन्द स्वामीने तो यहां तक लिखा है।

तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण।
जदि दाएज्ज पमाणं चुक्किज्ज छलं ण घेत्तव्वं ॥

उस एकत्वविभक्त आत्माको मैं आत्माके निज-विभव द्वारा दिखलाता हूं, जो मैं दिखलाऊं तो उसे प्रमाण स्वीकार करना और जो कहीं पर चूक-भूल-जाऊं तो छल नहीं ग्रहण करना।

आगममें लिखा है जो अस्पर्श शूद्रसे स्पर्श हो जावे तब स्नान करना चाहिये, अस्पर्श क्या अस्पर्श जातिमें पैदा होनेसेही होजाता है? तब तीन वर्णोंमें—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यमें—पैदा होनेसे सभीको उत्तम होजाना चाहिये ! परन्तु देखा यह जाता है कि यदि उत्तम जातिवाला निंद्य काम करता है तब चाण्डाल गिना जाता है, उससे लोग घृणा करते है। गान्धीजीके हत्यारे गौडसेका उदाहरण नया ही है। घृणाकी तो बात ठीक ही है लोग उसे पंक्तिभोजन और सामाजिक कार्योंमें सम्मिलित नहीं करते, वे मनुष्य नीच जातिमें उत्पन्न होते हैं परन्तु यदि वह धर्मको अंगीकार कर लेता है तो उसे सम्मानकी दृष्टिसे देखा जाता है, उसे प्रामाणिक व्यक्ति माना जाता है। यह तो यहांके मनुष्यों की बात है किन्तु जहां न कोई उपदेष्टा है और न मनुष्योंका सद्भाव है उस स्वयंभूरमण द्वीप और समुद्रमें असंख्यात तिर्यंच मछली मगर तथा अन्य स्थलचरजीव भी व्रती होकर स्वर्गके पात्र होजाते हैं, तब कर्मभूमिके मनुष्य व्रती होकर यदि जैनधर्म पालें तब आप क्या रोक सकते हैं ? आप हिन्दू न बनिये यह कौन कहता है ? परन्तु हिन्दू जो उच्च कुलवाले है वे यदि मुनि बन जावें तब आपको क्या आपत्ति है ? हिन्दू शब्दका अर्थ मेरी समझमें धर्मसे सम्बन्ध नहीं रखता जैसे भारतका रहने वाला भारतीय कहलाता है इसी तरह देशविशेषकी अपेक्षा यह नाम यहां प्रतीत होता है। जन्मसे मनुष्य एक सदृश उत्पन्न होते है किन्तु जिनको जैसा सम्बन्ध मिला उसी तरह उनका परिजन होजाता है। भगवान आदिनाथके समय तीन वर्ण थे, भरतने ब्राह्मण वर्णकी स्थापना की यह आदिपुराणसे विदित होता है। इससे सिद्ध है कि इन तीन वर्णोंमेंसे ही ब्राह्मण हुए, मूलमें तीन वर्ण कहां सेआए, विशेष ऊहापोह से न तो आपही अपनेको वैश्य सिद्ध कर सकते है और न शूद्र कौन थे यह निर्णय ही आप दे सकते हैं।

शूद्रोंके प्रति कृतज्ञ बनिए

जैनदर्शन सम्पादक ने आगे लिखा है कि आचार्य महाराज दयालु हैं, तबक्या वह शूद्र उनकी दयाके पात्र नहीं हैं। लोगअपनी त्रुटिको नहीं देखते लोगोंका जो उपकार शूद्रोंसे होता है अन्यसे नहीं होता, यदि वे एक दिनको भी कूड़ा-घर शौचगृह आदि स्वच्छकरना बन्द करदें तबपता लग जावेगा। परन्तु उनके साथ आप जो व्यवहार करते हैं यदि

उसका वर्णन किया जाय तो प्रवाद चल पड़े। वे तो आपका उपकार करते हैं परन्तु आप पंक्ति-भोजन जब होती है तब अच्छा अच्छा माल अपने उदरमें स्वाहा कर लेते हैं और उच्छिष्ट पानीसे सिञ्चित पत्तलों को उनके हवाले कर देते हैं ! अच्छे अच्छे मालतो आप खा गये और सड़े गले या आने काने पकड़ा देते हैं उन विचारोंको इसपर ही हम आर्ष-पद्धतिकी रक्षा करते हैं बलिहारी इस दयाकी, धर्म धुरन्धरता की !!

शूद्र भी धर्मधारण कर व्रती होसकता है

यह तो सभी मानते हैं कि धर्म किसीकी पैतृक सम्पत्ति नहीं चतुर्गतिक जीव सम्यक्त्व उपार्जनकी योग्यता रखते हैं, भव्यादि-विशेषणसे सम्पन्न होने चाहिए। धर्म वस्तु स्वतः सिद्ध है और प्रत्येक जीव में है, विरोधी कारण पृथक होने पर उसका स्वयं विकास होता है और उसका न कोई हर्ता है और न दाता ही है। इस पंचम कालमें उसका पूर्ण विकास नहीं होता, चाहे गृहस्थ हो चाहे मुनि हो। गृहस्थोंमें सभी मनुष्योंमें व्यवहार धर्म का उदय हो सकता है यह नियम नहीं कि ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य ही उसे धारण करें शूद्र उससे वंचित रहें। गृद्ध पक्षी मुनिचरणों में लेट गया। उसके पूर्व भव मुनिने वर्णन किये, सीता रामचन्द्रजी को उसकी रक्षाका भार सुपुर्द किया, जहां कि गृद्धपक्षी हो जावे, वहां शूद्र शुद्ध नहीं हो सकते यह बुद्धि नहीं आता। यदि शूद्र निद्यकार्योंको त्यागदेवें और मर्यादि खाना छोड़देवें तब वह व्रती होसकता है मंदिर आनेकी स्वीकृति देना न देना आपकी इच्छा पर है परन्तु इस धार्मिक कृत्यके लिये जैसे आप उनका बहिष्कार करते हैं वैसे ही कल्पना करो यदि वे धार्मिक व्रतके लिये आपका बहिष्कार करदें या असहयोग करदें तब आप क्या करेंगे ? सुनार गहना न बनावे, लुहार लोहेका काम न करे बढई हल न बनावे तो लोधो कुरमी आदि खेती न करें, धोबी वस्त्र प्रक्षालन छोड़ देवे, चर्मकार मृत पशु न हटावे, वसोरिन सौरीका काम नकरे। भंगिन शौचगृह शुद्ध न करे, तब संसार में हा हा कार मच जावेगा, हैजा, प्लेग चेचक वाय जैसे भयंकर रोगों का आक्रमण हो जावेगा। अतः बुद्धि से काम लेना चाहिये, उनके साथ मानवताका व्यवहार करना चाहिये, जिससे वह भी सुमार्ग पर आजावें। उनके बालक भी अध्ययन करें तब आपके बालकों के सदृश वे भी बी० ए०, एम० ए०, बैरिष्टर हो सकते हैं, संस्कृत पढें तब आचार्य हो सकते हैं फिर जिस तरह आप पंच पापका त्याग कर व्रती बनते है यदि वे भी पंच पाप त्याग दें तब उन्हें व्रती होनेसे कौन रोक सकता है ? मुरार मे एक भंगी प्रतिदिन शास्त्र श्रवण करने आता था, संसार से भयभीत भी होता था, मांसादिका त्यागी था, शास्त्र सुननेमें कभी भूल करना उसे सहन न था।

धर्म किसी की पैत्रिक सम्पत्ति नहीं

आप लोगोंने यह समझ रक्खा है कि हम जो व्यवस्था करें वही धर्म है। धर्मका सम्बन्ध आत्मद्रव्य से है न कि शरीरसे। हां, यह अवश्य है कि जब तक आत्मा असंज्ञी रहता है तब तक वह सम्यग्दर्शनका पात्र नहीं होता, संज्ञी होते ही धर्मका पात्र हो जाता है, आर्षवाक्य है कि चारों गति वाला संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव इस अनन्त संसार के घातक सम्यग्दर्शनका पात्र हो सकता है, वहाँ पर यह नहीं लिखा कि अस्पर्श शूद्र या हिंसक सिंह या व्यन्तरादि या नरकके नारकी इसके पात्र नहीं होते, जनता को भ्रममें डालकर हर एकको बावला और अपनेको बुद्धिमान कर देनेको शक्तिमान नहीं। आप जानते हैं संसार में जितने प्राणी हैं सभी सुख चाहते हैं और सुखका कारण धर्म है; उसका अन्तरंग साधन तो निज में है फिर भी उसके विकासके लिए बाह्य साधनकी आवश्यकता है जैसे घटोत्पत्ति मृतिकासे ही होती है और फिर कुम्भकारादि बाह्य साधनोंकी आवश्यकता अपेक्षित है, स्व अन्तरंग साधन

तो आत्मामें हो है फिर भी बाह्यसाधनोंकी अपेक्षा रखता है। बाह्य साधन देव गुरु शास्त्र है। आप लोगोंने यहाँ तक प्रतिबन्ध लगा रक्खा है कि अस्पर्श शूद्रको मन्दिर आनेका भी अधिकार नहीं है, उनके आनेसे मन्दिरमें अनेक प्रकारके विघ्न होनेकी सम्भावना है। यदि शान्तभावसे विचार करो तब पता लगेगा कि उनके मन्दिर आनेसे किसी प्रकारकी हानि नहीं अपि तु लाभ ही होगा। प्रथम तो जो हिंसा आदि महा पाप संसारमें होते हैं यदि ये अस्पर्श शूद्र जैन धर्मको अंगीकार करेंगे तब यह पाप अनायास ही कम हो जायंगे। आपकी दृष्टिमें ये भले हीन हो, परन्तु यदि दैवात जैन हो जावें तब आप क्या करेंगे? चाण्डालको भी राजाका पुत्र चमर ढोलते देखा गया ऐसी जो प्रसिद्धि है क्या वह असत्य है? अथवा क्या योंही श्रीसमन्तभद्रस्वमीने रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें लिखा है :—

सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातंगदेहजम्।
देवाः देवं विदुर्भस्मगूढांगारान्तरौजसम् ॥

आत्मामें ऐसी अचिन्त्य शक्ति है जिस तरह आत्मा अनन्त संसारके कारण मिथ्यात्व करने में समर्थ है उसी तरह अनन्त संसारके बन्धन काटनेमें भी समर्थ है। आप विद्वान हैं जो आपकी इच्छा हो सो लिख दें। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि यदि कोई अन्य व्यक्ति अपने विचार व्यक्त करे तो उसे रोकनेकी चेष्टा करें, आपकी दया तो प्रसिद्ध है, हमें इसमें कोई आपत्ति नहीं। आप सप्रमाण यह लिखिये कि अस्पर्श शूद्रोंको चरणानुयोगकी आज्ञासे धर्म करनेका कितना अधिकार है, तब हम लोगोंका यह वाद जो आपको अरुचिकर हो शान्त हो जावेगा। श्री पूज्य आचार्य महाराजसे ही इस व्यवस्थाको पूछ कर लिखिये जिसमें व्यर्थ विवाद न हो। केवल समालोचनासे काम न चलेगा शूद्रोंके विषयमें जो कुछ भी लिखा जावे सब सप्रमाण ही लिखा जावे। कोई शक्ति नहीं, जो किसीके विचारोंका घात कर सके, निमित्त तो अपना काम करेगा उपादान भी अपना ही काम करेगा।

बन्दर घुड़कीसे काम नहीं चलेगा

एक महाशय श्री निरंजनलालने जैनमित्र अंक २० में तो यहां तक लिखा कि "तुम्हारा क्षुल्लक पद छीन लिया जावेगा" मानों आपके ही हाथमें धर्मकी सत्ता आगई है। यह 'संजद' पद नहीं जो मन चाहा हटवा दिया, शास्त्रपरम्परा या आगमके विच्छेद करनेमें जरा भी भय नहीं किया। जैनदर्शनके सम्पादकने जो लिखा उसका प्रत्युत्तर देना मेरे ज्ञानका विषय नहीं; क्योंकि मैं नतो आगमज्ञ हूँ और न कोई सबका ज्ञाता परन्तु मेरा हृदय यहसाक्षी देता हैकि मनुष्यपर्यायवाला जो भी चाहे, वह कोई भी जातिका हो, कल्याणमार्गका पथिक हो सकता है, शूद्र भी सदाचारका पात्र है। हां, यह अन्य बात है कि आप-लोगों द्वारा जो मन्दिर निर्माण किये गये है उनमें उन्हें मत आने दो और शासकवर्ग भी आपके अनुकूल ऐसा कानून बनादें; परन्तु जो सिद्ध क्षेत्र है, कोई अधिकार आपका नहीं जो उन्हें यहां जाने से रोक सके। मन्दिरके शास्त्र भले ही आप अपने समझ कर उन्हें न पढने दें; परन्तु सार्वजनिक शास्त्रागार पुस्तकालय, वाचनालयों में तो आप उन्हें शास्त्र पुस्तक समाचारपत्रादि पढनेसे मना नहीं कर सकते। यदि वह पंच पाप छोड़ देवे और रागादिरहित आत्माको पूज्य माने, भगवान अरहन्तका स्मरण करें, तब क्या आप उन्हें ऐसा करने से रोक सकते है? जो इच्छा हो सो करो।

मुझे जो यह धमकी दी है कि "पीछी कमण्डल छीन लेंगे"। कौन डरता है? सर्वानुयायी मिलकर क्यों बन्द करदो, परन्तु धर्ममें हमारी जो अटल श्रद्धा है उसे आप नहीं छीन सकते। मेरा हृदय आपकी इस बन्दर घुड़कीसे नहीं डरता। मेरे हृदयमें दृढ़ विश्वास है कि अस्पर्श शूद्र सम्यग्दर्शन और व्रतोंका पात्र है। मन्दिर आनेजानेकी बात आप जानें। या जो श्रीपूज्यआचार्य

महाराज कहें उसे मानो। यदि अस्पर्शका सम्बन्ध शरीर से है तब रहे, इसमें आत्माकी क्या हानि है? और यदि अस्पर्शका सम्बन्ध आत्मासे है तब जिसने सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लिया वह अस्पर्श कहां रहा? मेरा तो यह विश्वास है कि गुणस्थानोंकी परिपाटीमें जो मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती है वह पापी है। तब चाहे वह उत्तम वर्णका क्यों न हो, यदि मिथ्यादृष्टि है तब परमार्थसे पापी ही है। यदि सम्यक्त्वी है तब उत्तम आत्मा है। यह नियम शूद्रादि चारों वर्णोंपर लागू है। परन्तु व्यवहारमें मिथ्यादर्शन सम्यग्दर्शनका निर्णय बाह्य आचरणोंसे है अतः जिसके आचरण शुभ हैं वेही उत्तम कहलाते हैं, और जिनके आचरण मलिन है वे अधम्य कहे हैं। तब एक उत्तम कुलवाला यदि अभक्ष्य भक्षण करता है, वेश्यागमनादि पाप करता है उसे भी पापी जीव मानो और उसे मन्दिर मत आने दो; क्योंकि शुभ आचरणमें ही पतित अस्पर्श और असदाचारी है। यदि सदाचारी है तब वह आपके मतसे व श्रीआचार्यमहाराजकी आज्ञासे भगवानके दर्शनका अधिकारी भले ही न हो; परन्तु पंचम गुणस्थानवाला अवश्य है। पाप त्यागकीही महिमा है। केवल उत्तम कुलमें जन्म लेनेसेही व्यक्ति उत्तम हो जाता है ऐसा कहना दुराग्रह ही है। उत्तम कुलकी महिमा सदाचारसे ही है, कदाचारसे नहीं। नीच कुली भी मलिनाचारसे कलंकित है। उसमें मांस खाते है, मृत पशुओंको ले जाते है आपके शौचगृह साफ करते है, इसीसे आप उन्हें अस्पर्श कहते है। सच पूछा जाय तो आपको स्वयं स्वीकार करना पड़ेगा, कि उन्हें अस्पर्श बनाने वाले आप ही हैं। इन कार्योंसे यदि वह परे हो जायें तो क्या आप उन्हें तब भी अस्पर्श मानते जावेंगे? बुद्धिमें नहीं आता कि आज एक भंगी यदि ईसाई होजाता है और वह पढ़ लिख कर डाक्टर हो जाता है तब आप लोग उसकी दवा गट गट पीते है या नहीं? फिर क्यों उससे स्पर्श कराते हैं? आपसे तात्पर्य बहुमत जनतासे है। आज जो व्यक्ति पापकर्ममें रत हैं वे यदि किसी आचार्य महाराजके सान्निध्यको पाकर पापोंका त्याग कर देवें तब क्या धर्मात्मा नहीं हो सकते? प्रथमानुयोगमें ऐसे बहुत से दृष्टान्त हैं। व्याघ्रीने सुकौशलस्वामीके उदरको विदारण किया और वही श्री कीर्तिधर मुनिके उपदेशसे विरक्त हो समाधिमरण कर स्वर्ग लक्ष्मीकी भोक्ता हुई। अतः किसीको धर्मसेवनसे वंचित रखनेके उपाय रच कर पापके भागी मत बनो।

हम तो सरल मनुष्य हैं आपकी जो इच्छा हो कहलो आप लोग ही धर्मके ज्ञाता और आचरण करने वाले रहो। परन्तु ऐसा अभिमान मत करो कि हमारे सिवाय दूसरे कुछ नहीं जानते। "पीछी कमण्डल छीन लेंगें" इससे हमें भय ही क्या है क्यों कि यह तो बाह्य चिन्ह है इन के कार्य तो कोमल वस्त्र और अन्य पात्रसे भी हो सकते हैं। पुस्तक छीननेका आदेश नहीं है। इससे प्रतीत होता है कि पुस्तक ज्ञानका उपकरण है वह आत्मोन्नतिमें सहाइ है, उसपर किसीका अधिकार नहीं। तथा आपने लिखा कि आचार्य महाराजसे प्रायश्चित्त लेकर पदकी रक्षा करो। यह समझमें नहीं आता। जब हमें अपने आचरणमें आत्मविश्वास है, चारित्रकी निर्दोषता में श्रद्धा है तब प्रायश्चित्त की बात सोचना भी अनावश्यक प्रतीत होती है। जैनदर्शनकी महिमा तो वो ही आत्मा जानता है जो अपनी आत्माको कषायभावोंसे रक्षित रखता है। यदि कषायवृत्ति न गई तब बाहर मुनि आचार्य कुछ भी बननेका प्रयत्न करे सब एक नाटकी या स्वांग धारण करना ही है। वह दूसरों का तो दूर रहे अपना भी उद्धार करनेके लिये पत्थर की नौका सदृश है।

गणेशप्रसाद वर्णी इटावा

———

संजदका बहिष्कार

(ले० डा० हीरालाल जैन, नागपुर)

[गतकिरण से आगे]

सूत्र ९३ में से 'संजद' पद हटाने से सबसे बड़ा विस्मय मुझे यह हो रहा है कि आखिर ताम्रपत्रों द्वारा रक्षा कौनसे आगमकी हुई ? आजसे तीन वर्ष पूर्व जब मुझे शोलापुरमें शान्तिसागरजी महाराजके दर्शन हुए थे, तब अनेक चर्चाओंमें यह भी चर्चा आई थी कि मनुष्यनी व 'संजद' आदिकी व्यवस्थामें हमारा भले ही मतभेद हो, किन्तु ताम्रपत्रोंद्वारा तो मूडविद्रीमें सुरक्षित ताडपत्रारूढ़ आगमकी रक्षा की जा रही है, अत एव जो पाठ उन ताडपत्रोंमें उपलब्ध है उसे छोड़नेका हमे कोई अधिकार नहीं। अन्य चर्चाके सम्बन्धमें मत-भेद होने पर भी वहां उपस्थित विद्वानोंमे इस सम्बन्धमे कोई मत भेद नहीं पाया गया था।

सबसे बड़े दुःखकी बात तो यह है कि आगम के परम्परागत पाठमें इस प्रकार अपनी रुचिके अनुसार परिवर्तन करके उन ताम्रपत्रोंपर सदैव के लिये अप्रामाणिकताके कलंकका टीका लगाया जा रहा है। ताम्रपत्रोंकी यदि कोई सार्थकता थी तो यह कि वे जीर्ण-शीर्ण ताडपत्रोंके पाठकी चिर-काल तक सुरक्षा कर सकेंगे, और हमे फिर ताड़ पत्रोंके क्रमशः नष्ट होनेसे उतनी चिन्ता नहीं होगी किन्तु विद्वत्समाज अब यह जान रहा है कि ये ताम्र पत्र ताड़पत्रोंके पाठकी रक्षा नहीं करते, किन्तु आज कल के भक्तोंकी रुचि-मात्रका अनुकरण कर रहे है, अत एव उनमे साहित्यिक, सैद्धान्तिक व ऐतिहासिक सच्चाई नहीं है। और इस कलंक का धीरे धीरे समस्त दिगम्बर साहित्यपर दुष्प्रभाव पड़े तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

यहां पर संस्कृत साहित्यके इतिहास का वह प्रसंग याद आता है जब गत शताब्दीमें फ्रान्सके प्रसिद्ध विद्वान वोल्टेयरके हाथमे यजुर्वेदको एक जाली प्रति पहुच गई। पहले तो उन्होने उसकी खूब प्रशंसा की। किन्तु जब यह बात प्रकट हुई कि वह प्रति शुद्ध प्राचीन पाठानुसार नहीं है तब पाश्चात्य संसार भरके विद्वानोंमे यह लहर उत्पन्न हुई कि ब्राह्मणों का समस्त साहित्य ही झूठा, जाली और अनैतिहासिक है। तत्पश्चात् हजारों प्रयत्न करने पर भी पश्चिममें यह अविश्वासकी भावना आज तक भी पूर्णतः नहीं मिटाई जा सकी।

दिगम्बर समाज और उसके साहित्यके सामर्थ्य को देखते हुए हमारे प्राचीनतम व सर्वोपरि प्रमाण आगममें इस प्रकार कुछ लोगों द्वारा अपनी रुचि अनुसार पाठ-परिवर्तनकी इस प्रवृत्तिसे उनकी भावी प्रतिष्ठाके सम्बन्ध मे बड़ी शका उत्पन्न हो रही है। केवल यह जानकर कुछ सन्तोष होता है कि भक्तोंकी उस समाजमें कोई ऐसे विवेकी विद्वान भी थे जिन्होंने उक्त प्रवृत्तिका विरोध किया और अपने पद से स्तीफा दे दिया।

——

मौर्य साम्राज्यका संक्षिप्त इतिहास

(ले०—बालचन्द्र जैन एम० ए०)

चन्द्रगुप्त मौर्य

चन्द्रगुप्त मौर्यके पूर्वजोंका कुछ पता नहीं चलता। मौर्य मोरियका संस्कृत रूप है। मोरिय जातिका परिचय हमें बुद्ध और महावीरके समय में भी मिलता है। मौर्यपुत्र या मोरियपुत्त भगवान महावीरके ग्यारह गणधरोंमें से एक थे। चन्द्रगुप्त इसी मौर्य जातिका था। पिछली दन्तकथामें उसे मुरा नामक दासीका पुत्र कहकर मौर्य नामकी सार्थकता बताई जाने लगी। वस्तुतः उक्त दन्तकथा में कोई तथ्य नहीं है और न इस प्रकारका कोई प्राचीन उल्लेख ही मिलता है। विष्णुपुराणकी टीकामें पहली बार यह बात उठाई गई है।[1] मुद्राराक्षस नाटकमें भी पता चलता है कि वह नन्दके वंशका था। स्पष्ट है कि किसी कारण विशेषसे ही चन्द्रगुप्तको नीचकुलीन प्रचारित करनेके उद्देश्यसे यह कथा गढ़ी गई। सत्य तो यह है कि वह मोरिय-जातिका क्षत्रिय था।

चन्द्रगुप्त महत्वाकांक्षी युवक था। अंतिम नंदराजा धननंदसे उसका आरंभिक विरोध था और वह उसके साम्राज्यको उखाड़ फेंकनेके लिये प्रयत्नशील था। इसी उद्देश्यको लेकर वह तक्षशिलामें सिकन्दर से भी मिला था। नन्दसाम्राज्यको नष्ट करनेमें वह सिकन्दरकी सहायता चाहता था लेकिन सिकन्दरसे उसकी पटी नहीं। सिकन्दर समूचे भारतपर अपना आधिपत्य चाहता था पर चन्द्रगुप्त अपने देशको गुलाम नहीं देख सकता था। उसने सिकन्दरकी साम्राज्य-लिप्साके प्रति विरोध प्रकाश किया जिससे सिकन्दर उसपर रुष्ट होगया और चन्द्रगुप्तको वहां से प्राण बचाकर भागना पड़ा। तक्षशिलामें ही उसे ब्राह्मण चाणक्य मिला। वह भी नंदराजसे असन्तुष्ट था। दोनों ही धुनके पक्के थे। जैन, बौद्ध और हिन्दू सभी अनुश्रुतियां चाणक्यको मगधका सिंहासन हथियानेमें चन्द्रगुप्तका सहायक मानती हैं।

चन्द्रगुप्तने पंजाबमें ही सैन्य-संघटन किया और पश्चिमके प्रान्त जीतता हुआ पूर्वमें क्रमशः पाटलिपुत्र तक चढ़ आया। वहां भयानक और घमासान युद्धके पश्चात् चन्द्रगुप्त विजयी हुआ और कौटिल्य (चाणक्य) ने मगधके सिंहासनपर उसका अभिषेक किया।[2] महावंश टीकामें एक कथा मिलती है। चन्द्रगुप्त और चाणक्यने धननन्दसे हारकर भागते एक बुढ़ियाके घरमें शरण ली। बुढ़ियाने अपने बेटेको खानेके लिये एक रोटी दी किन्तु उसने उसे बीचसे कुतर-कुतरकर सारी रोटी खराब कर दी। बुढ़िया यह देखकर लड़केको डांटते हुए बोली कि मूर्ख, रोटी कोनोंसे तोड़। चन्द्रगुप्त और चाणक्य जैसी मूर्खता कर सारी रोटी खराब मत कर। चन्द्रगुप्त और चाणक्यके लिये यह सामयिक शिक्षा थी। उन्होंने साम्राज्यके मध्यमें हलचल मचानेकी अपेक्षा कोनोंसे आक्रमण करनेका सबक सीखा और पहले पश्चिमी प्रान्तोंकी विजयकी तब पूर्वकी ओर बढ़े। इसप्रकार ३२२ ई० पू० मगधका सिंहासन मौर्योंके अधिकारमें आगया। चाणक्य

१. चन्द्रगुप्तं नन्दस्यैव शूद्रायां मुरायां जातं मौर्याणां प्रथमम्।

२. कौटिल्य एव चन्द्रगुप्तं राज्येऽभिषेक्ष्यति।

चन्द्रगुप्तका प्रधान अमात्य हुआ और उसने अर्थशास्त्रकी रचना की। चन्द्रगुप्तने सारे भारत देशको संगठित किया और नवीन शासनप्रणालीकी बुनियाद डाली। उसके दरबारमें रहनेवाले यूनानी दूत मेगास्थनीजने अपनी पुस्तक इंडिकामें तत्कालीन शासनव्यवस्था, सैन्यसंघटन, रीतिरिवाजों तथा चन्द्रगुप्तकी जीवनचर्या आदिके सम्बंधमें विस्तृत सूचनाएं दी हैं। वह पुस्तक यद्यपि नष्ट हो चुकी है पर अन्य लेखकोंकी कृतियोंमें उसके जो उद्धरण मिलते हैं उनसे चन्द्रगुप्त और उसकी शासनव्यवस्था आदिके संबंधमें अच्छी जानकारी प्राप्त होती है।

सेल्यूकस निकाटोरकी चढ़ाई और हार

सिकन्दरकी मृत्यु (३२३ ई० पू०) के अनंतर उसके सेनापति आपसमें लड़ते भिड़ते रहे। उनमें से अपने सभी प्रतिद्वन्द्वियोंके विरुद्ध सफल होकर सेल्यूकस पश्चिमी और मध्य एशियाका सम्राट बन गया और उसने सीरियाको अपनी राजधानी बनाया। वह सीरियाका सम्राट् कहलाता था। विजयी होनेके नाते उसने निकाटोर या विजेताकी उपधि ग्रहण की थी।

सिकन्दरके पैर पलटते ही भारतके जिन पश्चिमी प्रदेशोंने चन्द्रगुप्तके नायकत्वमें स्वाधीनता प्राप्त कर ली थी और अब जो चन्द्रगुप्तके अखिल भारतीय साम्राज्यके अंग बन चुके थे, उन्हें फिर वापस अपने साम्राज्यमें मिलानेके लिये सेल्यूकसने लगभग ३०५ ई० पू० में बड़ी सेनाके साथ भारतपर चढ़ाई कर दी। इधर चन्द्रगुप्त भी अब तक अच्छी तरह जमचुका था और सदा सावधान भी रहता था। उसकी विशाल और व्यवस्थित सेनाने यूनानी सेनाके दिल दहला दिये और विजेतासेल्यूकस चन्द्रगुप्तके सामने विजित होकर आया। पीछे दोनों पक्षोंमें संधि होगई और संधिकी शर्तोंके अनुसार सेल्यूकसने अपने साम्राज्यके चार प्रान्त, पेरोपनीसेडी, एरिया, एर्खोसिया और गदरोसिया—काबुल, हेरात, कन्दहार और कलात—चन्द्रगुप्तको सौंप दिये। इसप्रकार सीधे हिन्दुकुश तक चन्द्रगुप्तका साम्राज्य विस्तृत हो गया। नंदोंका पूरा साम्राज्य पहले ही चन्द्रगुप्तके अधिकारमें आ चुका था। सुराष्ट्र में उसका राष्ट्रिक पुष्यगुप्त वैश्य उसकी ओरसे शासनकर रहा था। दक्षिणमें कर्णाटक प्रान्तमें तो उसकी मृत्यु ही हुई थी। इस प्रकार चन्द्रगुप्त सुसंगठित भारतका प्रथम सम्राट् बना। इतना विस्तृत साम्राज्य तो मुगल औरंगजेबका भी न था।

सधिको स्थायी बनानेके लिये चन्द्रगुप्त और सेल्यूकसके बीच वैवाहिक संबंध भी हुआ। यूनानी लेखक इस सम्बन्धके विषयमें स्पष्ट नहीं लिखते किन्तु पौराणिक अनुश्रुति इसका समर्थन करती है।[1] चन्द्रगुप्तने भी भेंट में अपने ससुरको ५०० हाथी दिये, यूनानियोंने जिनका उपयोग अपनी पिछली लड़ाइयोंमें किया। इसी समयसे भारतकी राजधानी पाटलिपुत्रमें यूनानियोंका एक दूत रहने लगा। चन्द्रगुप्तके समयमें मेगास्थनीज उस पदपर अधिष्ठित था।

चन्द्रगुप्त मौर्यके सिक्के

एलनकी ब्रिटिश म्यूजियमके भारतीय सिक्कोंकी सूचीके दूसरे प्रकारके पचमार्क सिक्के जिनपर पांच चिन्ह मिलते हैं, मौर्यकालीन सिक्के है।[2] ये सारे उत्तर भारत और पाकिस्तानमें पेशावरसे मेदनीपुर तक प्राप्त होते हैं। इनमें ६०°/. चांदी है जो अर्थशास्त्रके अनुसार कार्षापणकी तौल है। इन सिक्कों में से जिन सिक्कोंपर पहाड़ी पर अर्धचन्द्र चिन्ह अंकित हैं वे अवश्य ही चन्द्रगुप्तके सिक्के है। पाटलिपुत्रकी खुदाईमें प्राप्त चन्द्रगुप्तके महलके

---

१. चन्द्रगुप्तस्तस्य सुतः पौरसाधिपतेः सुताम्।
सुलूवस्य तथोद्वाह्य यावनीं बौद्धतत्परः॥ भविष्य-पुराण ३। १। ६४३।

२ एलन: एंश्येंट इंडिया पृ० फलक।

खंभों, वहीं से प्राप्त मिट्टीके तीन बर्तनों, अशोकके सारनाथ स्तंभके पाससे प्राप्त सिक्कों और रामपुरवा स्तंभके पाससे प्राप्त सिक्कोंपर भी यह चिन्ह मिला है। पहाड़ीपर अर्धचन्द्र चन्द्रगुप्त मौर्यका राजचिन्ह था। स्वर्गीय डाक्टर काशीप्रसादजीका मत था कि पहाड़ीपर चन्द्र चन्द्रगुप्तका उपलक्षण है और अर्धचन्द्र चन्दका तथा पहाड़ी गुत्तका बोधक है। (चन्दगुत्त चन्द्रगुप्तका प्राकृत रूप है)

चन्द्रगुप्त मौर्य जैन था

जैन अनुश्रुति एक स्वरसे चन्द्रगुप्त मौर्यको जैन कहती है। उसके अनुसार चन्द्रगुप्तने चौबीस बरस एकच्छत्र शासन किया। फिर अपने पुत्र बिन्दुसारको राज सौंप २९८ ई० पू० में वह भद्रबाहु का शिष्य होकर कर्णाटक चला गया और वहीं सल्लेखनापूर्वक उसकी मृत्यु हुई। टामस साहबका कथन है कि मेगास्थनीजके कथनसे भी ऐसा प्रतीत होता है कि चन्द्रगुप्तने ब्राह्मणोंके सिद्धान्तके विपक्ष में श्रमणोंके उपदेशको अंगीकृत किया था। इतना तो निश्चित है ही कि चन्द्रगुप्त ब्राह्मणधर्म नहीं मानता था। स्वयं हिन्दू भविष्यपुराण उसे बौद्ध-तत्पर कहता है। लेकिन चन्द्रगुप्तके बौद्ध होनेकी चर्चा न तो बौद्ध अनुश्रुतिमें ही मिलती है और न अन्यत्र कहीं। भविष्यपुराणने गलतीसे उसे बौद्ध कह दिया है, क्योंकि उसके लेखकके लिये बौद्ध और जैन दोनों ही समान और विपक्षी थे और वह उन्हें एक मानता था। विपक्ष होनेके नाते दोनों ही उसके लिये एक बराबर थे।

दूसरी ओर अनेक जैन ग्रन्थ और उत्कीर्णलेखों-में चन्द्रगुप्तके भद्रबाहुका शिष्य होकर साधु अवस्थामें मरणका उल्लेख मिलता है। हेमचन्द्रका परिशिष्ट पर्व, हरिषेणका बृहत्कथाकोश, देवचन्द्रका राजावलिकथे, भट्टारक रत्ननंदिका भद्रबाहु चरित्र, चिदानंदकविका मुनिवंशाभ्युदय, आदि ग्रन्थोंमें भद्रबाहु और चन्द्रगुप्तकी कथा मिलती है जिसमे छोटे मोटे उलटफेरके साथ इस प्रसंगका वर्णन है। अंतिम श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामीको निमित्तज्ञानसे विदित हुआ कि उत्तर भारतमें शीघ्र ही भीषण अकाल पड़नेवाला है और ऐसे भीषण समयमें मुनिधर्मका पालना कठिन हो जावेगा। इसलिये वे अपने शिष्य-संघको लेकर दक्षिणकी ओर चल दिये। चन्द्रगुप्त भी उनका शिष्य होकर उन्हींके साथ दक्षिणको चला। भद्रबाहुस्वामीकी आयु अत्यल्प शेष रही थी अतः वे कर्णाटक प्रदेशके श्रवणबेल्गोला नामक स्थानमें ठहर गये। संघ आगे धुर दक्षिण तक चला गया। अपने गुरुकी वैयावृत्तिके लिये चन्द्रगुप्त उन्हींके साथ रह गया और उसने उनके अंतिम समय तक उनकी सेवा की। भद्रबाहुके पश्चात् उसी स्थानपर सल्लेखनापूर्वक उसकी मृत्यु हुई।

यह तो है साहित्य ग्रन्थोंमें प्राप्त उल्लेख। इसके अतिरिक्त उत्कीर्णलेखोंसे भी इस प्रसंगकी पुष्टि करनेवाले प्रमाण मिलते हैं। किंवदन्ती है कि श्रवणबेल्गोलाकी चन्द्रगिरि पहाड़ीका नामकरण चन्द्रगुप्तसे संबंधित होनेके ही कारण हुआ है और वहांकी प्राचीनतम वसदि चन्द्रवसदिका भी चन्द्रगुप्त से संबंध है। चन्द्रगिरि पहाड़ीकी भद्रबाहुगुफामें आज भी चन्द्रगुप्तके चरणचिन्ह स्थित हैं। यही स्थान चन्द्रगुप्तके समाधिमरणका स्थान है सेरिंगपट्टके दो उत्कीर्ण लेखोंमें उल्लेख मिलता है कि कल्वप्पुशिखर (चन्द्रगिरि) पर महामुनि भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त के चरणचिन्ह हैं।[1] श्रवणबेल्गोलाके अनेक लेख इस कथाको स्मरण करते और दुहराते हैं। वहांके सबसे प्राचीन लेखमें भी इस प्रसंगका उल्लेख है।[2] तथा अनेक अन्य लेखोंमें भी भद्रबाहु और उनके शिष्य चन्द्रगुप्तका उल्लेख हैं।[3]

---

१. ए० क० जिल्द ३, सेरिंगपट्ट क्रमांक १४७, १४८।

२. ए० क० जिल्द २, श्रवणबेल्गोला क्रमांक १।

३. ए० क० जिल्द २, श्रवणबेल्गोला क्रमांक १७,१८,५४, ४०, १०८ आदि।

चन्द्रगुप्त मौर्यका जैन होना अब सभी विद्वानों ने मान लिया है। बहुत पहले ही डाक्टर ल्यूमन और डाक्टर हार्नले[२] श्रुतकेवली भद्रबाहुकी दक्षिण यात्रा स्वीकार कर चुके थे। टामस साहब भी चन्द्रगुप्तको जैन कहनेवाले लेखोंके प्रमाणोंको बहुत प्राचीन और सन्देहरहित मान चुके थे।[३] स्वर्गीय डाक्टर काशीप्रसाद जायसवालने लिखा है कि मेरे अध्ययनने मुझे जैन ग्रन्थोंकी ऐतिहासिक वार्ताओंका आदर करनेको बाध्य किया है। कोई कारण नहीं कि हम जैनियोंके इस कथनको कि चन्द्रगुप्त अपने जीवनके अन्तिम भागमें राजपाट त्याग जिनदीक्षा ले मुनिवृत्तिसे मृत्युको प्राप्त हुए, न मानें।[४] श्रवणवेल्गोलाके लेखोंका सम्पादन करनेवाले राइस साहबका भी यही मत था।[५] व्ही स्मिथने भी अपनी पुस्तकके पिछले संस्करणमें चन्द्रगुप्तको जैनधर्मावलम्बी मानलिया है। उसने लिखा है 'जैनियोंने सदैव उक्त मौर्य सम्राट्को बिम्बसारके समान जैनधर्मावलम्बी माना है और उनके इस विश्वासको झूठा कहनेके लिये कोई उपयुक्त कारण नहीं है। इसमें जरा भी संदेह नहीं कि शैशुनाग, नन्द और मौर्य राजवंशोंके समयमें जैनधर्म मगध प्रान्तमें बहुत जोर पर था।........ .. .... उसके (चन्द्रगुप्त) राज्यको त्याग करने व जैनविधि के अनुसार सल्लेखना द्वारा मरण करनेकी बात सहज ही विश्वसनीय होजाती है।........ ....

चन्द्रगुप्त सिंहासनारूढ़ होनेके समय तरुण अवस्था में ही था और चौबीस बरसके पश्चात् भी उसकी अवस्था पचाससे नीचे ही होगी। अतः (राजनैतिक इतिहास से) इतनी जल्द उसके लुप्त हो जानेका उपयुक्त कारण उसका राजपाट त्याग देना ही प्रतीत होता है।'[१]

बिन्दुसार अमित्रघात

चन्द्रगुप्तने जब राजपाट छोड़कर कर्णाटक प्रवास किया तो २९८ ई० पू० में उसका बेटा बिन्दुसार पाटलिपुत्रके सिंहासन पर बैठा। इसके जीवन की महत्वपूर्ण घटनाएँ कुछ भी ज्ञात नहीं। चन्द्रगुप्त जैसे प्रतापी बापका बेटा और अशोक जैसे धर्म-विजयी बेटेका बाप होनेके कारण इस संबंधी इतिहासको लोग भूल बैठे। तारानाथके इतिहासमें फिर भी कुछ सूचनाएं मिल हो जाती हैं। उसके अनुसार चाणक्य कुछ समय तक इसका भी अमात्य रहा था। यूनानी लेखकोंने जिस नामसे इसका उल्लेख किया है वह अमित्रघातका अपभ्रंश प्रतीत होता है। इसके दरबारमें यूनानी दूत डेइमेकस और मिस्रके राजा टालेमी फिलाडेल्फसका दूत डाओनिसस रहते थे। एक किंवदन्ती है कि बिन्दुसारने सीरिया के राजा एन्टिओकस सोटरको लिखा कि आप मुझे कुछ अंजीरें, अंगूरी शराब और एक दार्शनिक खरीदकर भेज दें। अन्तिओकने शराब और अंजीर तो भेज दीं पर दार्शनिक भेजनेमें असमर्थता प्रकट करते हुये संदेश भेजा कि यूनानी कानून दार्शनिक बेचनेकी अनुमति नहीं देता।

दिव्यावदानमें इसके राजकालमें दो वार तक्षशिलाके विद्रोही होनेका उल्लेख मिलता है। पहली बार कुमार अशोक विद्रोह शान्त करनेके लिये भेजा गया। तक्षशिलाके पौरोंने साढ़े तीन योजन आगे आकर उसका स्वागत किया और कहा "न हम कुमारके विरुद्ध हैं और न राजा बिन्दुसारके पर दुष्ट अमात्य हमारा परिभव करते हैं।"

बिन्दुसारके धर्मके बारेमें कोई सीधा उल्लेख नहीं मिलता। पर अन्य उल्लेखों और प्रमाणोंके

१. वियना ओरियंटल जरनल जिल्द ७ पृष्ट ३८२।

२. इं० ए० जिल्द २१ पृष्ट ५९-६०।

३. जैनिज्म आर अर्ली फेथ आफ अशोक : पृ० २३।

४. ज० बि० ओ० रि० सो० जिल्द ३।

५. ए० क० जिल्द २. प्रस्तावना।

१. आक्सफोर्ड हिस्ट्री आफ इंडिया तृतीयसंस्करण पृष्ठ ७५-७६।

आधार पर उसका जैनधर्मावलम्बी होना सिद्ध होता है।[१] बिन्दुसारका राज्यकाल २५ बरषों का था। कहीं कहीं इसके २८ बरस तक राजा रहनेके भी उल्लेख मिलते हैं।

प्रियदर्शी अशोक

अशोक पिताके राज्यकालमें ही अवन्ती और तक्षशिलाका शासक रह चुका था। उसके बाद ई०पू० २७३ में वह साम्राज्यका अधिकारी हुआ। राज्यप्राप्तिके चार वष पीछे उसका अभिषेक हुआ। और अभिषेक होनेके आठवें बरस उसने कलिंग विजय की। कलिंग उस समयका प्रबल और शक्तिशाली राज्य था। उसने डटकर अशोकका मुकाबला किया। इस युद्धमें एक लाख सैनिक मरे या आहत हुये और डेढ़ लाख कैद किये गये। युद्धके पीछे फैलने वाली बीमारियोंसे इससे भी कई गुने व्यक्ति मरे। इससे दुखी हो अशोकने कलिंगविजयके अनंतरही अपनी नीति सर्वथा बदलदी। युद्धमे हुये प्राणिवधसे उसकी आत्मा कांप उठी और अब वह उसके सहस्रांश विनाशसे भी दुखी हो उठता था।[२] महावंशमे अशोकको अपने ९९ भाईयोंका हत्यारा कहा है।[३] लेकिन अपने पांचवें लेखमें अशोक अपने भाईयोंके सद्भावका जिकर करता है। सम्भवतः उसके प्रारंभिक अबौद्धजीवनको कलुषित चित्रित करनेके लियेही बौद्धग्रन्थकारोंका यह प्रयत्न है।

अशोक जन्मसे ही बौद्ध न था। अपने पूर्वजीवनमें वह जैनधर्मावलम्बी था।[४] कलिंगविजयके चार वरस बाद स्थान-स्थान पर उसने जो धर्मलिपियां लिखवाईं उनपर जैनसिद्धान्तोंकी गहरी छाप है। शिलाफलकों और शिलास्तंभों पर धर्मलिपियां और आदेश खुदवानेका इसका विचार मौलिक था यद्यपि इससे पूर्व फारसके दाराने भी चट्टानों पर आज्ञाएं खुदवाई थीं।[१]

उनसे ऐसा विदित होता है कि स्वयं बौद्ध होते हुए भी अशोक अपनी प्रजाको जिस धर्मके ग्रहण करनेकी सलाह देता था वह बौद्धधर्म नहीं बल्कि सभी धर्मोंका सारस्वरूप एक नया ही धर्म था। अशोकके धर्मके तत्त्व पाप न करना, बहुत कल्याण करना, दया, दान, सत्य, शौच, प्राणियोंका वध न करना, जन्तुओंकी व्यर्थ हिंसा न करना, ज्ञाति, ब्राह्मण और श्रमणोंके प्रति उचित व्यवहार करना, मातापिताकी सेवा सुश्रूषा करना, गुरुजनोंकी पूजा करना, प्राणियोंके प्रति संयम पूर्वक बरताव करना, श्रमणों और ब्राह्मणोंको दान देना ये सभी भारतीय धर्मोंके निचोड़ हैं आचार्य नरेन्द्रदेवने लिखा है कि अशोकका धर्म बौद्धधर्म नहीं है, वह आर्योंकी समान सम्पत्ति है।[२] ऊँच नीचका भेदभाव अशोक ने दूर कर दिया था।[३] समाज और यज्ञ उसने बंद कर दिये थे क्योंकि उनमे प्राणियोंकी विहिंसा होती थी।[४] वह सभी जातिके मनुष्योंके प्रति दण्डसमता और व्यवहार समताका सिद्धान्त बरतता

१. अश्वघोष ने बिन्दुसारके संबंधमें लिखा है—बिन्दुसारो ब्राह्मणभट्टो अहोसि स ब्राह्मणानं ब्राह्मणजातीयपाषडानं च पंडरंगपरिब्भाजकानं (पडरंगपरिब्भाजक आजीवकनिगन्थादीनं) निच्चभट्टं पत्थापेसि।

२. अशोक का १३ वां लेख।

३. वेभातिके भातरो सो हन्त्वा एकूनकं सतं। सकले जंबुदीपस्मिं एकरज्जं अपापुणि॥

४. जैनिज्म आर अर्ली फेथ आफ अशोक, टामस लिखित।

१. एताय अथाय इयं धंमलिपी लेखापिता किंति चिरं तिस्टेय इति तथा च मे पुत्रा पोता च प्रपोत्रा च अनुवरतां सर्व लोकहिताय।

६ठा लेख। सप्तम स्तंभ लेख रूपनाथ लघु शिलालेख आदिमें भी।

२. अशोकके धर्मलेखः भूमिका पृष्ठ १।

३. यि इमाय कालाय जंबुदीपसि अमिसा देवा हुसु ते दानि मिसा कटा।

रूपनाथ लघु शिलालेख।

४. इध समाजो न कतव्याः पहला लेख।

था।[1] उसने सालमें आधेसे ज्यादा दिन पशुओंका वध निषिद्ध कर दिया था।[2] और वह सभी मनुष्योंको समान एवं अपने पुत्र जैसा मानता था।[3] ऐसी बात नहीं है कि वह प्रजासे ही धर्म-कृत्य करनेकी प्रेरणा करता हो लेकिन स्वयं भी उसी प्रकार आचरण करता था पशुओं और मनुष्योंके लिये उसने अलग अलग अस्पताल खोल रखे थे तथा औषधियां बांटता रहता था। उसने सड़कोंपर वृक्ष लगवाए और कुए खुदवाए।[4] इसीप्रकारके अन्य अनेक कार्य जो पशुओं और मनुष्योंके उपयोगके थे, उसने किये।[5] उसके धर्माचरणसे प्रभावित हो पड़ोसी राजेभी धर्मका आचरण करने लगे थे।[6] अपने साम्राज्यमें इन सब कार्योंकी देख-रेखके लिये अशोकने अलग अलग कर्मचारियोंको दौरा करनेकी आज्ञाएं दे रखीं थीं।[7]

सभी धर्मोंके प्रति समान दृष्टि

अशोककी सबसे अधिक प्रशंसनीय और अनुकरणीय नीति थी उसकी धर्म-सहिष्णुता और सर्वमत-पूजा।[1] उसकी धारणा थी कि सभी मत समय और भावशुद्धिकी कामना करते है।[2] इसलिये वह स्वयं ब्राह्मणों, श्रमणों और स्थविरोंके दर्शनके लिये धर्म-यात्रा करता था और लोगोंसे धर्मवृद्धिके संबंधमें पूछता था।[3] वह सभी मतके साधुओंकी पूजा करता और उन्हें दान तो देता ही था पर उसकी अपेक्षा उनकी सारवृद्धिको अधिक श्रेयस्कर समझता था।[4] यह सारवृद्धि यद्यपि कई प्रकारसे हो सकती थी पर अशोककी दृष्टिमे उसका मूल था वचोगुप्ति अर्थात् अपने मतकी प्रशंसा तथा दूसरे मतकी निंदा न करना। अन्य मतोंका अपकार और निंदा करना अशोक अच्छा नहीं समझता था। उसका विचार था कि अपने मतकी कोरी प्रशंसा तथा दूसरे मतकी गर्हा न करने वाला व्यक्ति अपने मतकी वृद्धि तो करता ही है साथ ही साथ अन्य मतोंका उपकार भी करता है। और जो इसके विपरीत करता है वह अपने मत-को तो कमजोर बनाता ही है, साथ ही साथ परमत-का अपकार भी करता है जो यह सोचकर कि मैं अपने मतकी दीपना करता हूँ, अपने मतकी प्रशंसा और दूसरेके मतकी गर्हा करता है वह तो औरभी

१. ४था स्तंभलेख।
२. ५वां स्तंभलेख।
३. सवे मुनिसे पजा मम। कलिंगलेख।
४. राजो द्वे चिकीछे कता मनुसचिकीछा च पसुचिकीछा च, ओसढानि च यानि मनुसोपगानि च पसोपगानि च, यत यत नास्ति सर्वत्र हारापितानि च, रोपापितानि च मूलानि च फलानि च यत यत नास्ति सर्वत्र हारापितानि च रोपापितानि च पंथेसु कूपा च खानापिता व्रछा च रोपापिता प्रतिभोगाय पसुमनुसानं। २ रा शिला लेख।
५. ७वां स्तंभलेख देखें जहां अशोक अपने किये कार्योंका लेखा देता है।
६. १३ वां शिलालेख।
७. सर्वत विजिते मम युता च राजुके च प्रादेसिके च पंचसु वासेसु अनुसंधानं नियातु एतायेव अथाय। ३ रा शिलालेख।

१ सवपासंडा पि मे पूजिता विविधाय पूजाया। छठा स्तंभलेख। देवानंपियो पियदसि राजा सवपासंडानि च पवजितानि च घरस्तानि च पूजयति दानेन च विविधाया च पूजाय। १२ वां शिलालेख
२. देवानंपियो पियदसि राजा सर्वत इछति सवे पासंडा वसेयु सवे ते समयं च भावसुधिं च इछति। ७ वां शिलालेख।
३. ८ वां शिलालेख।
४. ....न तु तथा दानं व पूजा व देवानं पियो मंञते यथा किति सारवढी अस सवपासंडानं। १२ वां शिलालेख।

अपने मतको हिंसा करता है।[1]

अशोक कहता है कि इसलिये समवाय अच्छा है। कैसा समवाय? कि अन्यमतोंके धर्म सुनो और सेवन करो।[2] मेरी तो यह इच्छा है कि सभी मतवाले बहुश्रुत हों और कल्याणकारी हों।[3] मैं दान और पूजाको उतना नहीं मानता जितना कि सभी मतोंकी अधिकसे अधिक सारवृद्धिकी कामना करता हूँ, यह समाचार उसने सभी मत वालों तक पहुँचा दिया था।[4] और इसी उद्देश्यको लेकर उसने धर्ममहामात्र स्त्री-अध्यक्ष-महामात्र और वृजभूमिक तथा अन्य अधिकारियोंकी नियुक्ति की थी जिसका फल यह हुआ कि स्वमतकी वृद्धि होनेके साथ धर्मकी वृद्धि भी हुई।[5]

निर्ग्रन्थोंके लिये धर्ममहामात्रकी नियुक्ति

(संग्रह लेख क्रमांक २)

दिल्ली स्थित सप्तम स्तंभ लेखमें अशोक अपने किये कार्योंका लेखा उपस्थित करता है। यह स्तंभ कारीगरीका अनुपम नमूना है और उसपर कांच जैसी चमकती पालिस है। लेख की चौथी और पाँचवी पंक्तिमें विभिन्न मतोंके लिये धर्ममहामात्र नामक अधिकारी नियुक्त किये जानेका उल्लेख है। निर्ग्रन्थों (जैन साधुओं) के लिये भी अशोकने एक धर्ममहामात्रकी नियुक्ति की थी। धर्ममहामात्रोंके संबंधमें अशोकने लिखा है कि मेरे धर्ममहामात्र भी सन्यासियों और गृहस्थोंके बहुत प्रकारके कार्यों और अनुग्रह करनेमें नियुक्त है। मैंने उन्हें संघमें, ब्राह्मणोंमें, आजीविकोंमें, निर्ग्रन्थोंमें तथा विभिन्न सम्प्रदायोंमें नियुक्त किया है। संघसे अशोकका संकेत बौद्धसंघकी ओर है। जो श्रमण नहीं थे वे ब्राह्मण कहलाते थे। आजीविक उस समयका एक प्रमुख सम्प्रदाय था। इसके साधु दिगम्बर जैन साधुओं जैसी ही क्रियाएँ और आचार पालते थे तथा उन्हीं जैसे नग्न रहते थे। इस सम्प्रदायका आदिसंस्थापक मंखलिपुत्र गोशालक था। जैन आगमोंमें आजीविय, बौद्धग्रन्थोंमें आजीवक और वराहमिहिरके बृहत् जातकमें आजीविक या आजीविन् नामसे इस सम्प्रदायका उल्लेख मिलता है। दक्षिणके एक उत्कीर्णलेखमें आजीवक शब्द दिगम्बर जैनोंके लिये प्रयुक्त हुआ है।[1] अशोक और उसके उत्तराधिकारी दशरथने भदन्त आजीविकोंको गुफाएं दान की थीं।[2] निगंठ या निर्ग्रन्थ जैन साधुओंके लिये कहा गया है। प्राचीन ग्रन्थोंमें भगवान महावीरका निगंठ नातपुत्तके नामसे उल्लेख मिलता है। अशोकके समयमें जैनसाधु और उनके संघ बड़ी संख्यामें धर्मसाधन करते और कराते थे ऐसा इस लेखसे भलीभांति विदित होता है। लेखमें अन्य सम्प्रदायोंके लिये भी धर्म-महामात्र नियुक्त किये जानेका उल्लेख है। वहां मत या

---

१. एवं करुं आत्पवासंडं च वढयति परपासडं च उपकरोति, तदंनथा करोतो आत्पपासंडं च छुयाति परपासंडस च पि अपकरोति, योहि कोचि आत्पपासंड पूजयति परपासंडं वा गरहति सवं आत्पपासंड भतिया, किंति, आत्पपासंड दीपयेम इति, सो च पुन तथा करोतो आत्पपासंडं बाढतरं उपहनाति। १२ वां शिलालेख।

२ ते समवायो एव साधु, किंतु अंत्रमंत्रस्य धंमं सुणारु च सुसुसेरु च। १२ वां शिलालेख।

३ एवंहि देवानंपियस इछा किंति, सवपासंडा बहुस्रुता च असु कलाणागमा च असु। १२ वां शिलालेख।

४. ये च तत्र तते प्रसंना तेहि वतव्वं, देवानंपियो नो तथा दानं व पूजा व मंञते यथा किंति सारवढी अस सर्वपासंडानं बहुका च। १२ वां शिलालेख।

५. एताय अथाय व्यापता धंम महामाता इथीझखमहामाता च वचभूमिका च अञे च निकाया, अयं च एतस फलं य आत्पपासंडवढि च होति धंमस च दीपना। १२ वां शिलालेख।

१. देखो: साउथ इंडियन इंस्क्रिपसन्स जिल्द १. पृ० ८८।

२. देखो: का० इ० इं० जिल्द १: बराबर और नागार्जुनी पहाड़ियोंके लेख।

सम्प्रदायके लिये पाषंड शब्द का प्रयोग हुआ है। पाषंड शब्द पहले मत या सम्प्रदायके अर्थमें प्रयुक्त होता था पर पीछेसे इसका प्रयोग छल या इसी कोटिके बुरे अर्थमें किया जाने लगा। उसका संभाव्य कारण यह था कि पहले यह शब्द ब्राह्मणेतर सम्प्रदायोंमें प्रयुक्त होता था इसलिये ब्राह्मणोंने तिरस्कृत करनेके उद्देश्यसे उसे गलत अर्थमें प्रयोग करना आरंभ कर दिया। मनुस्मृतिमें एक श्लोक है:—

> कितवान् कुशीलवान् क्रूरान् पाषण्डस्थांश्च मानवान्।
> विकर्मस्थान् शौण्डिकांश्च क्षिप्रं निर्वासयेत् पुरात्॥

इसकी टीकामें कुल्लूकभट्टने लिखा है, पाषंड= श्रुतिस्मृतिबाह्यव्रतधारी। इससे हमारे उपरोक्त कथन की पुष्टि ही होती है। धर्ममहामात्र वे अमात्य होते थे जो धर्म-संबंधी कार्योंकी देखरेख करते थे। पिछले कालमें इसी प्रकारके पुरोहित नामक अमात्य की नियुक्ति होने लगी थी। देवानांपिय या देवानांप्रिय अशोककी उपाधि थी। यह उसके उत्तराधिकारी दशरथके लेखोंमें भी मिलती है। सिंहलका राजा तिष्य भी देवानांप्रिय कहलाता था। एक पाली व्याकरणमें 'क्व गतासि त्वं देवानंपिय तिस्स' प्रयोग भी मिलता है। इन सब उदाहरणोंसे विदित होता है कि यह कोई असाधारण उपाधि थी जिसे साधारण राजे धारण नहीं कर सकते थे। लेकिन पीछेसे इसेभी निम्न अर्थमें प्रयुक्त किया जाने लगा। पाणिनिके एक सूत्र "षष्ठ्या आक्रोशे" पर कात्यायनने वार्तिक लिखा है 'देवानांप्रिय इति च मूर्खे अन्यत्र देवप्रियः इति'। इस गलत प्रयोगके लिये भी श्रमणों और ब्राह्मणोंका पारस्परिक दुर्भाव ही जिम्मेदार है।

सप्तम स्तंभलेखकी भाषा पाली और लिपि ब्राह्मी है। वह बूलर द्वारा एपिग्राफिआ इंडिका जिल्द २ पृष्ठ २४५, हुल्श द्वारा कार्पस इंस्क्रिप्सनम इंडिकेरं जिल्द १ पृष्ठ १३० तथा अन्य अनेक ग्रन्थोंमें प्रकाशित हो चुका है।

सम्प्रति—

३६ वर्ष धर्मराज्य करनेके पश्चात् २३२ ई० पू० में अशोककी मृत्यु हुइ और उसका पोता सम्प्रति या सम्पदी उसका उत्तराधिकारी होकर पाटलिपुत्रके सिंहासनपर अभिषिक्त हुआ। बौद्धग्रन्थोंसे पता चलता है कि अशोकके राजा रहते हुएभी वास्तवमें शासनकी बागडोर युवराज सम्प्रतिके हाथमें थी। अशोकने एक बार भिक्षुसंघको एक लम्बी रकम दान की और उसे खजानेसे दे देनेकी आज्ञा दी किन्तु युवराज सम्प्रतिने अमात्योंको ऐसा करनेसे रोक दिया।[१] आगे उसी प्रसगकी कथासे यह भी विदित होता है कि अशोकके पीछे सम्प्रति ही पाटलिपुत्रके सिंहासन पर बैठा। भिक्षुसंघको दानकी गई रकम न मिल सकनेके कारण अशोक ने दुखी होकर मृत्यु समय सारी पृथ्वी भिक्षुसंघको दान करदी। अशोककी मृत्युके बाद अमात्योंने दानकी शेष रकम भिक्षुसंघको चुकाकर उससे पृथ्वी खरीदकर संप्रतिको सिंहासन पर बिठाया।[२]

जैन और बौद्ध दोनों ही अनुश्रुति सम्प्रतिको कुनालका पुत्र कहती हैं और दोनों के ही अनुसार कुनाल अपनी विमाताके छलसे युवराज अवस्थामें ही अंधा कर दिया गया था। जिससे उसका अभिषेक नहीं हुआ। जैन अनुश्रुतिमें सम्प्रतिको राज्य मिलनेके संबंधमें तीन मत हैं। एक तो यह कि कुणाल ने अंध अवस्थामें उसके लिये अपने पितासे

---

१. तस्मिंश्च समये कुनालस्य संपदी नाम पुत्रो-युवराज्ये प्रवर्तते .... । दिव्यावदान।
तत्पौत्रः संपदी नाम लोभान्धस्तस्य शासनम्।
दानपुण्यप्रवृत्तस्य कोशाध्यक्षैरवारयत्॥
—क्षेमेन्द्र कृत अवदानकल्पलता।

२. अमात्यैः चतस्रः कोट्यो भगवच्छासने दत्वा पृथिवी निष्क्रीय संपदी राज्ये प्रतिष्ठापिता। दिव्यावदान।

राज्य मांगा और अशोकने उसकी प्रार्थना स्वीकृत कर सम्प्रतिको राज सौंप दिया। दूसरा मत यह है कि सम्प्रतिको जन्म लेते ही पितामह अशोकसे राज्य मिल गया था और तीसरे मतके अनुसार उसे कुमारभुक्तिमें उज्जयिनीका राज्य मिला था। अस्तु, इतना तो निश्चयपूर्वक ज्ञात किया जा सकता है कि सम्प्रति प्रारंभसे ही युवराज था।

हिन्दू पुराणोंका क्रम इससे भिन्न है और वह जैन और बौद्ध ग्रन्थोंसे विपरीत है। वायुपुराण कुनालको अशोकका उत्तराधिकारी कहता है और कुनालके बेटे का नाम बन्धुपालित तथा बन्धुपालितके उत्तराधिकारीका नाम इन्द्रपालित बताता है। विष्णुपुराणमें अशोकके बाद सुयशका नाम है और उसके राज्यके वर्ष आठ कहे हैं जिन्हें अन्य पुराणोंमें कुनालके राज्यवर्ष कहा गया है। इसी पुराणमें सुयशके बाद अशोकके पोते दशरथका राज्य कहा गया है और उसके बाद सम्प्रतिका। मत्स्यपुराणमें भी दशरथके बाद सम्प्रतिका नाम है। बौद्ध-इतिहास लेखक तारानाथ कुणालको अशोकका उत्तराधिकारी और उसके बेटेको विगताशोक लिखता है। स्वर्गीय डाक्टर काशीप्रसाद जायसवालने पुराणोंके आधारपर अशोकके पीछे कुणालका राज्य और उसके पीछे अशोकके दोनों पौत्रों, दशरथ और सम्प्रतिका क्रमशः राजा होना स्वीकार किया है। पर वह जैन और बौद्ध अनुश्रुतियोंके सवथा विपरीत पड़ता है; क्योंकि उनके अनुसार अशोकके बाद सीधा सम्प्रतिका राज्यकाल आ जाता है। स्वीकृत गणनाके अनुसार अशोकका मृत्यु २३२ ई० पू० में हुई और जैनगणना के अनुसार वही संप्रतिके राज्याभिषेकका समय है। इस प्रकार दोनों गणनाएं यहां आकर मिल जाती है।

कुछ विद्वानोंका मत है कि अशोकके बाद साम्राज्यके दो टुकड़े हो गए थे। दशरथपूर्वका राजा हुआ और सम्प्रति पश्चिमीयाने अवन्ती का। पर यह ठीक नहीं है। जैन ग्रन्थोंसे विदित होता है कि सम्प्रति उज्जयिनी और पाटलिपुत्र पर एक साथ ही राज करता था और वह समूचे भारतका स्वामी था। ऊपर हम यह भी देख आये हैं कि बौद्धग्रन्थ पाटलिपुत्रमें उसका अभिषिक्त होना कहते हैं।

सम्प्रति और जैनधर्म

जैन आचार्य सुहस्तिने धर्मोपदेश देकर सम्प्रति को जैन बनाया। इसके बाद सम्प्रतिने जैनधर्मके प्रचारके लिये वही और उतना ही कार्य किया जितना अशोकने बौद्धधर्मके प्रचारके लिये किया था। वह भी अशोकके समान धर्मविजयी राजा था। और उसने उत्तर पश्चिमके अनार्य देशोंमें जैन प्रचारक भेजे तथा वहां जैन विहार स्थापित कराये। इसी परंपराके अनुसार पीछे आचार्य कालक वही संदेश लेकर शकोंके बीच पहुंचे थे। सम्प्रतिने सैकड़ों स्मारक और मंदिरोंका निर्माण कराया था। पटना सग्रहालयमें प्रविष्ट होते ही बाएं ओर दर्शकोंको नग्न प्रतिमाका एक धड़ दिखाई देता है जो निश्चित ही किसी जैन तीर्थंकर की प्रतिमाका खण्डित भाग है। इस प्रतिमा पर ठीक वही कांच-जैसी चमकदार पालिस है जो प्रियदर्शी राजा अशोकके स्तंभों तथा मौर्यकालीन अन्य शिल्पों पर है। चूंकि यह पालिस मौर्ययुगकी अपनी विशेषता है—उसके साथ आई और उसीके साथ समाप्त होगई—इसलिये उक्त प्रतिमाखंडके मौर्यकालीन होनेमें कोई संदेह नहीं रह जाता है। यह प्रतिमा अशोकके शिल्पोंकी भांति चुनारके पत्थरकी है। उसपर आज भी चमकनेवाली यह पालिस कोई मसालेकी पालिस नहीं है बल्कि पत्थरको घोंटकर ही इतना चिकना और चमकदार बना दिया गया है कि वह आज भी कांच जैसा चमकता है। उक्त प्रतिमाका क्रमांक ८०३८ है और यह २ फुट २॥ इंच ऊंची है। यह सन १९३७ में बिहार प्रान्तके कुमराहर गांव से प्राप्त की गई थी।

जैसा कि मैंने ऊपर लिखा है, अशोकका पौत्र सम्प्रति जैनधर्मका अनन्य प्रचारक और महान् निर्माता था। इसलिये यह प्रतिमा या तो स्वयं उसके द्वारा निर्माण कराई गई होगी अथवा उसके राज्यकालमें किसी अन्य व्यक्ति द्वारा निर्माण कराई गई होगी। इसप्रकार हम देखते हैं कि उक्त प्रतिमा भारतवर्षकी अब तक प्राप्त समस्त मूर्तियोंमें प्राचीनतम है। इस प्रतिमाके साथ ही एक अन्य छोटी प्रतिमा भी पटना संग्रहालयमें सुरक्षित है। उसपर वैसी ही ओजदार ओप है इसलिये वह भी मौर्यकालीन है।

सम्प्रतिके पीछे

सम्प्रतिके बाद मौर्य राजे विशेष प्रसिद्ध नहीं रहे। दिव्यावदानमें सम्प्रतिका बेटा बृहस्पति, उसका बेटा वृषसेन और उसका बेटा पुण्यधर्मा कहा गया है। विष्णुपुराण और वायुपुराणमें शालिशूकका नाम मिलता है और उसकी सत्ता गार्गीसंहिताके युगपुराणसे भी सिद्ध होती है। वहां उसे राष्ट्रमर्दी और धर्मवादी किन्तु वास्तवमें अधार्मिक कहा गया है, क्योंकि वह श्रमणपरपराका अनुयायी था।

क्रमशः साम्राज्य शिथिल होने लगा। सुदूरके प्रान्त साम्राज्यसे अलग होने लगे। उधर उत्तर-पश्चिम में यवनोंका जोर बढ़ने लगा। और इधर दक्षिणमें आंध्र और कलिंगके राजवंश शक्तिशाली हो चुके। अशोकके समयसे दबी ब्राह्मणोंकी विद्रोह-भावनाकी आग समय पाकर अब सुलग उठी। अशोककी दण्डसमता, व्यवहारसमता, ऊंच नीचका भेद हटाने, यज्ञ याग बंद कर देने आदिके कारण ब्राह्मणवादके समर्थक लोग रुष्ट हो गए थे पर मुंह न खोल पाते थे। अब साम्राज्यकी शक्ति शिथिल होते ही उन्होंने अवसर पाकर प्रजा और सेना को वरगलाना प्रारंभ कर दिया। यह विद्रोह यहां तक बढ़ा कि ई० पू० १८८ या १८४ में सेनापति पुष्यमित्रने अंतिम मौर्य सम्राट बृहद्रथको हत्या कर डाली और स्वयं साम्राज्यका स्वामी बन बैठा। धार्मिक असहिष्णुताका यह उदाहरण इतना अधिक गर्हणीय था कि पिछले लेखक बाणने ऐसा करने वाले पुष्यमित्रको घृणापूर्वक अनार्य और उसके इस कार्यको छलपूर्ण, नमकहरामी और स्वामिघात-जैसा महापाप कहा है।[1]

[लेखकके अप्रकाशित ग्रन्थ 'जैन उत्कीर्ण लेख' की प्रस्तावनासे]

१ प्रज्ञादुर्बलं च बलदर्शन-व्यपदेशदर्शिताशेषसैन्यः सेनानीरनार्यो मौर्यबृहद्रथं पिपेष पुष्पमित्रः स्वामिनम्—बाणकृत हर्षचरित।

सोनागिरकी वर्तमान भट्टारक गद्दीका इतिहास

(ले० श्री बालचन्द्र जैन, एम० ए०)

भट्टारक श्री विश्वभूषण
|
भट्टारक श्री सुरेन्द्रभूषण
|
भट्टारक श्री लक्ष्मीभूषण (इनके पदारूढ होनेका समय सं. १८३०
|
भट्टारक श्री मुनीन्द्रभूषण

भट्टारक श्री मुनीन्द्रभूषणके तीन शिष्य थे। पं० व्रजलाल, प० जिनसागर और पं० देवसागर। इनमेंसे पं० व्रजलालजी दीक्षित होकर आचार्य विजयकीर्तिके नामसे ख्यात हुए। उनके दो शिष्य थे। पं० भागीरथ और पं० परसुख। उन दोनोंके भी क्रमशः पं० हीरानन्द और पं० मेघराज इस प्रकार दो शिष्य हुए।

भट्टारक श्री मुनीन्द्र भूषणके दूसरे शिष्य पं० जिनसागर उनके पीछे गद्दीपर बैठे और भट्टारक श्री जिनेन्द्रभूषणके नामसे प्रसिद्ध हुए। तीसरे शिष्य पं० देवसागर भट्टारक श्री जिनेन्द्रभूषणके के बाद भट्टारक श्री देवेन्द्रभूषणके नामसे गद्दीपर बैठे। उनके छह शिष्य थे, पं० निहालचन्द पं० रूपचन्द्र, पं० नैनसुख, पं० सरूपचन्द, पं० कोकचन्द और पं० देवचन्द। इनमेंसे पं० नैनसुख गद्दीपर बैठे और भट्टारक श्री नरेन्द्रभूषणके नामसे प्रसिद्ध हुए। इन भट्टारक श्री नरेन्द्रभूषणके तीन शिष्य थे, १ पं० जवारजी, पं० २ मोतीलालजी, और मूलचन्द्रजी। पं० मूलचन्द्रजीके भी दो शिष्य थे, पं० लालचन्द्र और पं० देवचन्द्र। पं० मोतीलालजी नाबालिग थे अतः गद्दी कुछ समय तक सूनी रही। पीछे पछांहके ब्रह्मचारी खुशालचन्दको भट्टारक श्रीसुरेन्द्रभूषणके नामसे उस गद्दीपर अभिषिक्त किया गया। उनके तीन शिष्य हुए पं० मल्लजी, पं० पूंजाजी और पं० बालचन्द्रजी। इसमेंसे बालचन्द्रजीके दो शिष्य हुए पं० मोहनलाल और पं० भगवानदास।

भट्टारक श्री सुरेन्द्रभूषणके बाद भट्टारक श्री चन्द्रभूषणजी गद्दीके अधिकारी बनाए गए। ऊपर उल्लिखित आचार्य विजयकीर्तिजी के शिष्य पं० भागीरथजीके शिष्य पं० हीरानंदजी हैं। इनके शिष्य हुए सात पं० प्यारेलाल, पं०छोटेलाल, पं० लक्ष्मणदास, पं० चतुर्भुज, पं० मदनमोहन, पं० सीताराम और पं० परमानन्द। इनमेंसे पं० परमानन्द तथा पं० प्यारेलाल आज्ञाभंग तथा अन्य अपराधोंके कारण पृथक् किए गये। और पं० चतुर्भुजजीको भट्टारक चारुचन्द्रभूषणके नामसे गद्दीपर बिठाया गया। उनके शिष्य हुए तीन, पं० विद्याधर पं० हरषेण और पं० भागचन्द्र। इनमें से पं० हरषेण भट्टारक हरेन्द्रभूषण के नामसे गद्दी पर बैठे। उनके सात शिष्य थे। पं० नन्दकिशोर, पं० मोतीलाल पं० सूरजमल, पं० जानकीप्रसाद, पं० चिरोंजालाल, पं० चन्द्रदत्त और पं० आछेलाल। पं० आछेलाल तो आज्ञाभंगके दोषमें पहले ही निकालदिए गए थे और पं० जानकीप्रसाद संवत १९८८ में भट्टारक श्री जिनेन्द्रभूषणके नामसे गद्दी पर अभिषिक्त हुए। पर उनका स्वर्गवास होजाने के कारण हरेन्द्रभूषणजी के अन्य शिष्य पं० चन्द्रदत्त संवत २००१ में भट्टारक चन्द्रभूषणके नामसे गद्दीपर बिठाये गये और वे आज भी उक्त गद्दीके अधिकारी हैं।

चैकोस्लोवेकिया

(ले० बा० माईदयाल जैन बी. ए., बी. टी.)

मध्य यूरुपमें चैकोस्लोवेकिया एक छोटा सा स्वतंत्र राज्य है जिसकी जनसंख्या कोई एक करोड़के लगभग है। भारतवर्षमें उस देशके राजदूतावासकी तरफसे क्वीन्सवे, नई दिल्लीमें एक सांस्कृतिक समारोह २६ फरवरी सन् १६५० से ५ मार्च तक हुआ। इसका उद्‌घाटन भारतकी स्वास्थ्यमंत्रिणी माननीया श्रीमती अमृतकौरने किया। आपने अपने संक्षिप्त पर सारगर्भित व्याख्यानमें कहा कि हम भारत-वासियोंको चेकोस्लोवेकियाकी संस्कृतिसे बहुत कुछ सीखना है। यद्यपि चेकोस्लोवेकिया एक छोटासा तरुण देश है, तो भी वहांके निवासी यूरुपके अत्यन्त सभ्य और संस्कृत जातियोंमेंसे है। आपने आगे कहा कि चेकोस्लोवकिया और भारतकी संस्कृतियां और कलाओंमें बहुत समानता है, और संसारमें बहुत कम ऐसे देश है जहां भारतीय विचार-धाराओं और साहित्य का इतना अध्ययन होता है, जितना कि चेकोस्लोवेकियामें। श्रीमती अमृतकौरने कहा कि युद्धसे पीड़ित संसारमें संस्कृति ही ऐसी वस्तु है, जो लोगों को आपसमें मिलाने, उनमें सद्भावना और प्रेम पैदा करने, और मेल-जोल बढ़ाने का काम करती है।

चेकोस्लोवेकिया के राजदूतने अतिथियोंका स्वागत करते हुए कहा कि भारतीय चित्रों और साहित्यमें चेक लोगों की बड़ी रुचि रहती है और सैकड़ों चेक विद्यार्थी कोई न कोई भारतीय भाषा हर वर्ष पढ़ते हैं और चेकोस्लोवेकियाकी राजधानी प्रेग में कोई ही ऐसा सप्ताह बीतता होगा जब कि भारतके सम्बन्धमें कोई व्याख्यान न होता हो। आपने इस बात पर जोर दिया कि ललित कलाओं का जन साधारणमें प्रचार करना चाहिये। आपने बताया कि ललित कलाएं चंद महलों व मदनशालाओंमें ही न रहनी चाहियें, बल्कि उनके द्वारा साधारण जनतामें सौन्दर्य-प्रेम और सुरुचि फैलाई जानी चाहिये।

इस सांस्कृतिक समारोहको देखनेकी हमारी बड़ी इच्छा थी और समारोहके अंतिमदिन ५ मार्च को सायंकाल उसे देखने गये। वहां दो बड़े कमरों में कोई पौने चारसौके लग-भग चित्र, फोटो, पुस्तकें भित्तिपत्र, पोस्टर, पत्रिकाएं, खिलौने, कांच और चीनीकी वस्तुएं और बढ़िया कपड़ेके नमूने रखे थे। चित्रोंमें बड़े बड़े कला-विशारदोंकी कृतियोंसे लेकर स्कूलोंके विद्यार्थियों तककी चित्रकारीके नमूने थे। पुस्तकोंमें भगवद्‌गीता, शकुंतला, वेदों की ऋचाओं और स्व० रवीन्द्रनाथ की गीतांजलिके चेक भाषामें अनुवाद उल्लेखनीय थे।

समारोहकी एक महिला प्रबंधक श्रीमती पकोसीसे बात चीत करने पर चेकोस्लोवकियाके बारेमें बहुत सी दिलचस्प बातें मालूम हुईं। उन्होंने बताया कि चेकोस्लोवकियामें लिखनपढ़नेकी आयुका कोई भी पुरुष स्त्री, लड़का लड़की अशिक्षित नहीं है और वहां प्राइमरी शिक्षा ही नहीं कालेज तककी शिक्षा मुफ्त है। उन्होंने यह बात भी बताई कि उनके देशकी राजधानीमें नौ ऐसे विद्यालय हैं जहां पर पूर्वी भाषाओंकी शिक्षाका प्रबन्ध है और वहां संस्कृत, बंगला, हिन्दी आदि का अच्छा प्रबन्ध है। चेकोस्लोवेकियाके गांव साफ सुथरे होते हैं और वहांकी गायें खूब दूध देती हैं। वहां जनताका राज है। आपने बड़ी शिष्टता और सौजन्यके साथ समारोहमें अपने देश और चेक जातिके बारेमें बहुत सी बातें बताईं। सचमुच हम भारतवासी इस देशसे बहुत कुछ सीख सकते हैं।

हिन्दी जैन साहित्यके कुछ अज्ञात कवि

(ले०-ज्योतिप्रसाद जैन, एम० ए० एल एल० बी०, लखनऊ)

प्रस्तुत शीर्षकके अन्तर्गत हिन्दीके कुछ ऐसे प्राचीन जैन साहित्यकारोंका परिचय करना इष्ट है जिनका कि कोई उल्लेख न पं० नाथूराम जी प्रेमीके हिन्दी जैन साहित्यका इतिहास में हुआ है और न बा० कामताप्रसादजीके हिन्दी जैनसाहित्यका संक्षिप्त इतिहासमें। तथा जहाँ तक मुझे ज्ञान है प्रायः अन्यमें भी अभी तक उनपर कोई प्रकाश नहीं पड़ पाया है। हिन्दी साहित्यके आधुनिक इतिहासकारोंके मतानुसार सं० १९२० (सन १८६३ ई०) के पूर्वका काल हिन्दीका प्राचीन युग माना जाता है और उसके बादका काल आधुनिक युग कहलाता है। अतएव प्राचीन सहित्यकारोंसे अभिप्राय सं० १९२० के पूर्व होने वाले कवियों और लेखकों आदिसे है।

१. कवि दौलतराम पाटनी—

ये दौलतराम अनेक गद्य वचनिकाओंके रचयिता जयपुर (बसवा)निवासी पं० दौलतराम काशलीवाल (सं० १७७७—१८२९) तथा छहढाला और अनेक अध्यात्मरस-पूरित पद विनतियों के रचयिता सासनी निवासी पल्लीवाल जातीय त्यागी बाबा दौलतराम दोनों ही विद्वानों से भिन्न और पूर्ववर्ती विद्वान थे। इन्होंने अपने व्रतविधान-रासोकी रचना संवत १७६७ आसोज शुक्ल दशमी वार गुरुवारके दिन बूंदी नगरमें की थी। यह रचना अठाई रासा छंदोंमें है और इसकी टेक है—"तो वरन करो भवि जैनका" कुल छन्द ८८१ हैं और लेखन संख्या ८५० है। लखनऊ चौकके पंचायती मंदिरके भंडारकी प्रति नवाबगंज निवासी जुगीमल श्रावक पल्लीवाल द्वारा भादों बदि १० रविवारकी लिखी हुई है किन्तु उसमें लिपि सं० मिटगया है पर इन्हीं जुगीमलकृत अन्य दोग्रन्थोंकी प्रतिलिपि में एकका संवत १९०९ है और दूसरीका १९१४। अतः इस प्रतिलिपिका संवत भी लगभग यही होना चाहिये। इस ग्रन्थकी एक प्रतिलिपि सं० १९१५ की लिखी हुई पंचायती मंदिर देहली के ग्रन्थ भंडारमें भी है (अनेकान्त व० ४, कि० १० पृ० ५६५ ग्रंथके अन्तमें दी हुई प्रशस्तिमें कविने अपना परिचय इस प्रकार दिया है--हाडा राजपूतोंकी राजधानी बूंदी नगरमें उस समय राजा बुधसिंहका राज्य था। उस भव्य नगरमें मूलसंघ सरस्वती गच्छ की कुन्दकुन्द आम्नायमें भट्टारक जगतकीर्त्ति पट्टासीन थे। नगरमें पंडित आदिका, श्रावक श्राविका आदिका बड़ा समूह था। वहाँके पार्श्वनाथ चैत्यालयमें पं० तुलसीदास नित्यप्रति शास्त्र प्रवचन करते थे और सबही साधर्मियों को निरन्तर धर्ममें दृढ़ करते रहते थे। उस नगरमें एक साहु भामाधर हो गये थे जिनके पुत्र धनपाल थे। धनपालके पुत्र चतुर्भुज थे। इन चतुर्भुज के ही पुत्र कवि दौलतराम थे। कविने अपने दो पुत्रों--हरदै-राम और सदारामका भी नामोल्लेख किया है। इनकी जाति खंडेलवाल थी और गोत्र पाटनी था। बूंदी गढ़में उस समय अनेक धर्मात्मा धर्मचर्चा करते थे, अच्छी शैली थी जिसमें कवि और उनके पुत्र भी अच्छा भाग लेते थे।" इन दौलतरामने कोई अन्य ग्रन्थभी रचा है या नहीं, यह ज्ञात नहीं.

बूंदीके हाड़ावीर बुद्धसिंह रावल अनिरुद्धसिंह के पुत्र थे और सन् १७०६ (सं० १७६३) में गद्दी पर बैठे थे। औरङ्गजेबकी मृत्युके बाद सन् १७०८ में लड़े जाने वाले आजमके उत्तराधिकार युद्धमें

बुद्धसिंहने औरङ्गजेबके ज्येष्ठ पुत्र मुअज्जम (बहादुरशाह) का पक्ष लिया और उस युद्धमें बहादुरशाहकी विजय प्राप्ति तथा दिल्ली सिंहासन पर अधिकार करनेमें हाड़ा वीर बुद्धसिंह ही प्रधान कारण हुए थे, अत एव नये सम्राटने इन्हें 'राओ राजा' की उपाधिसे विभूषित किया। बहादुरशाह की मृत्युके पश्चात फर्रुखसियरके राज्यकालमें मुग़ल साम्राज्यके शासन सूत्रके प्रधान संचालक सैयद भाई हो गये। मुग़ल सम्राटके ये मन्त्रीद्वय बुद्धसिंहसे रुष्ट हो गये, उधर जयपुर नरेश सवाई जयसिंहसे भी उनका वैमनस्य हो गया। अस्तु, बूंदीपर कराया आक्रमण हुआ और सन १७२३ (सं० १७८०) में बुद्धसिंहके हाथसे उनका राज्य और राजधानी निकल गये। बुद्धसिंह सन् १७३८ तक जीवित रहे और बूंदी को पुनः प्राप्त करनेके लिये उन्होंने अनेक बार प्रयत्न किये किन्तु सफल नहीं हो सके। उनकी मृत्युके उपरान्त उनके पुत्र उम्मेदसिंहका फिरसे बूंदी पर अधिकार हुआ।

कवि काशीदास रचित—

'भाषा सम्यक्त्व कौमुदी' चौपाईबंधकी एक प्रति लखनऊ चौक, चूड़ीवाली गलीके दि० जैन पंचायती मंदिरके भंडारमें है। इसकी पत्र संख्या ११८ और श्लोक संख्या ४३३६ है, रचनाकाल संवत १७-२ और लिपि संवत् १८०४ है। ग्रन्थारंभ में 'श्रीगणेशायनमः' पद लिपिकार भवानीप्रसाद त्रिपाठीकृत प्रतीत होती है। ग्रन्थका आरम्भ इसप्रकार होता है:—

"श्री गणेशायनमः, श्री जिनाय नमः। अथ भाषासम्यक्त्व कौमुदी लिख्यते—

ॐकार बिंद संयुक्ता नित्यं धायंति योगिना ❀ ❀
वर्द्धमान जिनबंदौं पांय, पितासिद्धारथ त्रिशलामाय।
कनक शरीर शोभै प्रभुतणों, सिंघलछ्नकर सोभावणों॥

ग्रन्थ के मध्यभाग से रचना का उदाहरण इस प्रकार है—

"जंबूदीप है अति अभिराम,
विस्तर योजन लाष सुठाम।
षट पर्वत तामहि अति चंग,
रयण खचित अति श्रंग उतंग।
तामहि भरत षेत अतिसार,
षट षंड मंडित है अतिसार।
गंगा सागर बहै दुकूल,
विजै नामि करि विहज्यो मूल।
तामहि मगध देश विसतार,
पुण्य तीरथ करि सोहै सार।
गंग यमन करि सोभित सोइ,
सब विधि पावन कीने लोइ।"

ग्रन्थ के अन्त में कवि ने जो प्रशस्ति दी है उसमें अपना तो केवल नामोल्लेख ही किया है किन्तु अपने आश्रय-दाता और प्रेरक जगतरामजी का पर्याप्त परिचय दे दिया है, यथा—

गुरु गुण सील प्रसादै जान,
भई कथा यह सब परवान।
जगतराय हित कविता करी,
रवि ज्यों भूमंडल विसतरी।
अग्रवाल है उत्तम ख्याति,
सिंघल गोत जगत विख्यात।
माईदास मही में जानिये,
ता तिय कमला सम मानिये।
तासुत अति सुन्दर वरवीर,
उपजे दाऊ गुण सायर धीर।
दाता भुगता दीन दयाल,
श्री जिनधर्म सदा प्रतिपाल।
रामचंद नंदलाल प्रवीन,
सब गुण ग्यायक समकित लीन।
सहिर गुहाणा वासी जोइ,
पाणीपंथ आइ है सोइ।
रामचंद सुत जगत अनूप,
जगतराय गुण ग्यायक भूप।
तिन यह कथा ज्ञान के काज,
बरणी आठौं समकित साज।

❀ ❀ ❀ ❀

जगतराय सुत अति निपुण,
टेक चन्द सुधरासि।
गंग यमुन ज्यों थिर सदा,
कहि कवि कासीदास॥
विक्रमकि संवत तैं जानि,
सत्रह सै बाईस बषान।
माधव मास उजियारो सही,
तिथि तरसि भू सुत सों लही।
ता दिन ग्रन्थ संपूरण भयौ,
समकित ज्ञान सकल तरु बयौ।

❀ ❀ ❀ ❀

साहि जहां अवनीति भूप,
विद्यमान विधि कृत गत रूप।
तासुत औरंग साहि सुजान,
विजयराज भूपति बलवान।
तासु प्रसाद भई यह सही,
ईति भीति कोई व्यापी नहीं।
सहर आगरे में जु यह कथा भई सुखदान।
जगतराय हित जय करौ, बढ़ो जु श्रावक ज्ञान॥
समकित ज्ञान समाज कौ यह कोष गुणधान।
कासी कविता यो कहै पढ़तै बढ़ै जु ज्ञान॥
इति श्रीमन्महाराज श्रीजगतराय जी विरचतायां सम्यक्त-कौमुदी-कथायां अष्टम कथानकम् सम्पूर्णं।"

उपरोक्त प्रशस्तिमें विदित होता है कि इस रचयिता कोई कवि कासीदास है जिन्होंने संवत १७२२ चैत्र शुक्ल त्रयोदशी शनिवारके दिन आगरा नगरमें यह ग्रन्थ पूरा किया था। इस ग्रन्थ की रचना कविने जगतराय नामक किसी राज्य-मान्य सज्जनके लिए की थी जो कि संभवतया, 'राजा' की उपाधिसे विभूषित थे। जगतरायके लिये प्रशस्तिमें 'भूप' शब्दका तथा पुष्पिकामें 'श्रीमन्महाराज' पदका प्रयोग यही सूचित करता है। जगतरायकी जाति अग्रवाल और गोत्र सिंहल था। इनके पितामहका नाम माईदास था जो गुहानेके निवासी थे। माईदासके दो गुणवान धर्मात्मा पुत्र रामचन्द्र और नन्दलाल थे जो गुहाना छोड़ पानीपत में आ बसे थे। इन रामचन्द्रके पुत्र राजा जगतराय थे। जगतरायके पुत्र टेकचन्द थे। राजा जगतराय अपने कुटम्ब सहित आगरे में रहने लगे प्रतीत होते हैं और ऐसा जान पड़ता है कि वे औरंगजेब के दरबारमें किसी उच्च पदपर प्रतिष्ठित थे। कविने जगतरायकी जो प्रशंसा की है और उनके पुत्र टेकचन्दको भी जो आशीर्वाद दिया है, उससे विदित होता है कि कवि काशीदास राजा जगतरायके आश्रित थे। उस समय अनेक कवि विभिन्न राजा रईसों और सर्दारोंके आश्रयमें रहते थे, उनकी प्रेरणा पर ग्रंथ रचना करते थे। यह भी सम्भव है कि काशीदास टेकचन्दके शिक्षक भी हों और पिता पुत्र के ज्ञानार्थ उनकी प्रेरणा पर इन्होंने इस ग्रन्थकी रचना की हो। बादशाह शाहजहांके सम्बन्धमें कविने जो उल्लेख किया है कि "विद्यमान विधिकृत गत रूप" वह बड़ा महत्वपूर्ण है। सन् १६५८ में औरंगजेब अपने भाइयोंकी हत्या करके और अपने पिता शाहजहांको आगरके किलेमें बन्दी बनाकर दिल्लीके सिंहासन पर बैठा था। ग्रन्थकी रचनाके समय सं० १७२२ (सन् १६६५ ई०) में शाहजहां जीवित तो था किन्तु भाग्यने उसे जिस परिवर्तित दशामें अर्थात् स्वयं अपने ही पुत्रके हाथों बन्दी जीवनमें ला रक्खा था उसी अवस्थामें था। वस्तुतः शाहजहांकी मृत्यु इस ग्रन्थकी रचनाके ८-९ मास पश्चात्, जनवरी सन १६६६ में हुई थी। 'विजयराज भूपति बलवान' शब्द औरङ्गजेबके लिये उपयुक्त ही है।

खेद है कि ग्रन्थकर्त्ताने अपने आश्रयदाताका तो परिचय दिया किन्तु अपना कुछ भी परिचय नहीं दिया, बल्कि सरसरी दृष्टिसे देखने पर तो यह भी भ्रम हो सकता है कि इसके रचयिता जगतराय ही होंगे। किन्तु कविका स्वयंका दो बार स्पष्ट नामो-

उल्लेख, प्रशस्तिके अन्तमें आश्रयदाता जगतरायकी जय मनाना और कल्याण-कामना करना तथा पुष्पिकामें भी जगतरायके प्रसङ्ग से 'विरचितायां' पदका प्रयोग करना इस बातको निर्विवाद सूचित करता है कि जगतरायने इस ग्रन्थको रचा नहीं, था रचवाया था और इसके कर्त्ता कवि काशीदास थे जिनकी वृत्ति भी कविता करना ही था।

बा० कामताप्रसादने अपने 'हि० जै० सा० के संक्षिप्त इतिहास' पृ० १७० पर किन्हीं जगतराय अथवा जगतराम द्वारा सं० १७२१ में पद्मनन्दि पच्चीसी छन्दबद्ध रची जानेका उल्लेख किया है। आगमविलास और सम्यक्त्व कौमुदी भी उन्हींकी रचनाएं बताई हैं। किन्तु जो उनकी कविताके नमूने का पद्य दिया है उसमें कविकी छाप 'राम' अथवा 'रामदास' रूपमें है, यथा—

'रामदास प्रभु जहां मागत हैं, मुक्ति सिखरको राज

यदि ये जगतराय कवि काशीदासके आश्रय दाता राजा जगतरायसे भिन्न कोई अन्य तत्कालीन विद्वान नहीं हैं, तो हो सकता है कि ये दोनों 'सम्यक्त्व कौमदी' एकहीहों और जैसा ऊपर संकेत किया गया है जगतरायके भ्रममें उसका कर्त्ता समझ लिया गया है। यदि यह बात ठीक सिद्ध होती है तो उक्त पद्मनन्दि पच्चीसी और आगम विलासभी सम्भवतया जगतरायकृत न होकर काशीदास अथवा जगतरामके किसी अन्य (राम या रामदास नामक) आश्रित कविकी रचनाएं हो सकती हैं।

उपरोक्त काशीदासकृत सम्यक्त्वकौमुदीकी लखनऊ वाली प्रति किसी भवानीप्रसाद त्रिपाठीने सं० १६०४ आषाढ़ शुक्ल १५ भौमवारको देहलीके अन्तर्गत हिसार पट्ट पर प्रतिष्ठित काष्ठासंघ माथुर-गच्छके किसी भट्टारक जी के आदेशसे लिखकर समाप्त की थी।

जमनानगर में मन्दिर की अनिवार्य आवश्यकता।

श्री १०५ क्षुल्लक स्वामी निजानन्दजी महाराज व भगत सुमेरचन्द जी वर्णी पञ्जाबका दौरा करते हुए जमनानगर भी पधारे थे वहां की परिस्थित देखकर अपने विचार प्रगट किए हैं कि जमनानगर (अब्दुल्लापुर जिला अम्बाला) की जैनसमाज नितप्रति देवदर्शन करनेको लालायित है परन्तु धनके अभावके कारण मन्दिर का काम अधूरा पड़ा हुआ है। जिसके लिए बीस हज़ार की जमीन लाला पन्नालालजी सुन्दरलालजी जैन सुपुत्र लाला बलदेवदासजी जगाधरी वालों ने दान कर दी थी जिसमें नीचे की मंजिल में नौ दुकानें भी उक्त महानुभावों की तरफसे बन कर तैयार हो चुकी हैं। उनके किराए की आमदनीसे एक जैन पाठशाला और मन्दिर जी में पूजा प्रक्षाल का खर्च बराबर चलता रहेगा। अब ऊपरकी मंजिलमें मन्दिर बनाना बाकी है। जो दानी सज्जन इस इस पुण्य कार्य में सहयोग देना चाहें वे सेक्रेटरी श्री महावीर दिगम्बर जैन मन्दिर अब्दुल्लापुर, जिला अम्बाला को भेज सकते है।

यह स्थान ई० पी० रेलवे यू० पी० व पंजाब की सरहद पर स्थित है इसके अतिरिक्त यहांपर शुगर मिल्ज, घीका मिल, कागज की मिलें, लकड़ी की बड़ी मन्डी व बर्तनों के कारखानों के कारण बाहर से साधर्मी बन्धु भगवत् दर्शनसे वंचित रहते हैं इसलिए इस कार्यकी पूर्ति शीघ्र ही होनेकी परम आवश्यकता है।

दयासिन्धु भगत जयचन्द
सहारनपुर

महाकवि रइधू

(लेखक—पं० परमानन्द जैन, शास्त्री)

महाकवि रइधू विक्रमकी पन्द्रहवीं शताब्दीके उत्तरार्धके विद्वान थे। आप जैन सिद्धान्तके मर्मज्ञ विद्वान होनेके साथ साथ पुराण साहित्यके अच्छे पंडित थे। प्राकृत तथा संस्कृतके समान अपभ्रंशभाषा पर आपका अच्छा अधिकार था। इस भाषामें आपकी डेढ़ दर्जन से भी अधिक कृतियाँ आज उपलब्ध हैं जो यत्र तत्र ज्ञान भंडारोंमें सुरक्षित हैं। उन्हें देखनेमें पता चलता है कि वे कितनी जल्दी अपभ्रंशभाषामें कविता कर सकते थे। कविता सरल तो है ही पर सरसता और मधुरतामें कम नहीं है। पदलालित्य भी कम देखनेमें नहीं आता भावोंकी अभिव्यंजकता तो उदात्त एवं निष्कपट है और आपकी भाषामें हिन्दी भाषाके विकासकी झांकीका अपूर्व दर्शन होता है। अस्तु, कविकी उपलब्ध रचनाओंमें संस्कृत भाषाकी कोई स्वतंत्र रचना समुपलब्ध नहीं हुई और न उसके रचे जाने का कोई स्पष्ट संकेत ही मिलता है, परन्तु फिर भी उनके ग्रंथोंकी संधियोंमें, ग्रंथनिर्माणमें प्रेरक भव्यश्रावकोंके परिचयात्मक और आशीर्वादात्मक कितने ही संस्कृत पद्य पाये जाते हैं जिनमें ग्रन्थ निर्माणमें प्रेरक उन भव्योंके लिये मंगल कामना की गई है*। उन पद्योंपर दृष्टि डालनेसे उनके संस्कृतज्ञ विद्वान् होनेका स्पष्ट आभास मिलता है और उनकी चमकती हुई प्रतिभाका सहजही पता चल जाता है। साथ ही उनके द्वारा निर्मित ग्रन्थराशिका देखने तथा अध्ययन करनेमें कविवरकी विद्वत्ता और उनकी काव्य-प्रभाका भी यथेष्ट परिचय मिल जाता है। ग्रन्थकारने यद्यपि अपना कोई खास परिचय देनेकी कृपा नहीं की, और न जीवन सम्बन्धी खास घटनाओंका उल्लेख ही किया है, जिससे उनके बाल्य जीवन, शिक्षा, शिक्षागुरु और गुरु-परम्परा आदिके सम्बन्धमें विशेष प्रकाश डाला जाता, परन्तु ग्रन्थ प्रशस्तियोंमें जो कुछ भी संक्षिप्त परिचय अंकित मिलता है उन्हीं परसे साररूपमें कुछ परिचय नीचे दिया जाता है:—

वंश-परिचय

कविवर रइधू संघाधिप देवरायके पौत्र और हरिसिंघके पुत्र थे, जो विद्वानोंको आनन्ददायक थे। और माताका नाम 'विजयसिरि' 'विजयश्री' था, जो रूपलावण्यादि गुणोंसे अलंकृत होते हुए भी शील संयमादि सद्‌गुणोंसे विभूषित थी। कविवरकी जाति पद्मावती पुरवाल थी और कविवर उक्त पद्मावती कुलरूपी कमलोंको विकसित करने वाले दिवाकर (सूर्य) थे जैसा कि 'सम्मइचरिउ' ग्रन्थ की प्रशस्तिके निम्नवाक्योंसे प्रकट है:—

> पोमावइ कुल कमल-दिवायरु,
>
> हरिसिंघु बुहयण कुल आणंदणु।
>
> जस्स घरिज रइधू बुह जायउ,
>
> देव-सत्थ-गुरु-पय-अणुरायउ ॥

कविवरने अपने कुल का परिचय 'पोमावइकुल' और पोमावइ 'पुरवाडवंस' जैसे वाक्योंद्वारा कराया है। जिससे वे पद्मावती पुरवाल नामक कुलमें समुत्पन्न हुए थे। जैन समाजमें चौरासी उपजातियोंके अस्तित्वका उल्लेख मिलता है उनमें कितनी ही जातियोंका अस्तित्व आज नहीं मिलता;

*य: सत्यं वदति व्रतानि कुरुते शास्त्रं पठत्यादरात्,
मोहं मुञ्चति गच्छति स्वसमयं धत्ते निरीह पदं।
पापं लुम्पति पाति जीवनिवहं ध्यानं समालम्बते,
सोऽयं नन्दतु साधुरेव हरसी पुष्णाति धर्मं सदा ॥
—सिद्धचक्र विधि (श्रीपालचरित) संधि ७

यः सिद्धान्तरसायनैकरसिको भक्तो मुनीनां सदा,
दानेनैव चतुर्विधेन विधिना संघस्य संपोषकः।
जानात्येव विशुद्धनिर्मलमतिर्देहात्मनोरन्तरं,
सो श्री नन्दतु नंदनैः सममहो खेमाख्यसाधुः क्षितौ ॥
—पार्श्वपुराण संधि ७

किन्तु इन चौरासी जातियोंमें ऐसी कितनी ही उप-जातियां अथवा वंश हैं जो पहले कभी बहुत कुछ समृद्ध और सम्पन्न रहे हैं; किन्तु आज वे उतने समृद्ध एवं वैभवसम्पन्न नहीं दीखते, और कितने ही वंश एवं जातियां प्राचीन समयमें गौरवशाली रहे हैं किन्तु आज उक्त संख्यामें उनका उल्लेख भी शामिल नहीं है। जैसे धर्कट १ आदि।

इन चौरासी जातियोंमें पद्मावतीपुरवाल भी एक उपजाति है, जो आगरा, मैनपुरी, एटा, ग्वालियर आदि स्थानोंमें आबाद है. इसकी जन-संख्या भी कई हजार पाई जाती है। वर्तमानमें यह जाति बहुत कुछ पिछड़ी हुई है तो भी इसमें कई प्रतिष्ठित विद्वान हैं। आज भी समाज सेवाके कार्यमें लगे हुए हैं। यद्यपि इस जातिके विद्वान अपना उदय ब्राह्मणोंसे बतलाते हैं और अपनेको देवनन्दी (पूज्यपाद) का सन्तानीय भी प्रकट करते हैं, परन्तु इतिहाससे उनकी यह कल्पना केवल कल्पित ही जान पड़ती है। इसके दो कारण हैं। एक तो यह कि उपजातियोंका इतिवृत्त अभी अन्धकारमें है जो कुछ प्रकाशमें आ पाया है उसके आधारसे उसका अस्तित्व विक्रमकी दशमी शताब्दीसे पूर्वका ज्ञात नहीं होता, हो सकता है कि वे उससे भी पूर्ववर्ती रहा हो, परन्तु बिना किसी प्रामाणिक अनुसन्धानके इस सम्बन्धमें कुछ नहीं कहा जा सकता।

पट्टावली वाला दूसरा कारण भी प्रामाणिक प्रतीत नहीं होता, क्योंकि पट्टावलीमें आचार्य पूज्यपाद (देवनन्दी) को पद्मावती पुरवाल लिखा है, परन्तु प्राचीन ऐतिहासिक प्रमाणोंसे उनका पद्मावती-पुरवाल होना प्रमाणित नहीं होता, कारण कि देवनन्दी ब्राह्मण कुलमें समुत्पन्न हुए थे।

जाति और गोत्रोंका अधिकांश निकास अथवा निर्माण गांव, नगर और देश आदिके नामों परसे हुआ है। उदाहरणके लिए सांभरके आस-पासके बघेरा स्थानसे बघेरवाल, पालीसे पल्लीवाल खण्डेलासे खण्डेलवाल, अग्रोहासे अग्रवाल, जायस अथवा जैससे जैसवाल और ओसासे ओसवाल जातिका निकास हुआ है। तथा चंदेरी के निवासी होनेसे चन्देरिया, चन्दवाडसे चान्दुवाड या चांदवाड और पद्मावती नगरीसे पद्मावतिया आदि गोत्रों एवं मूरका उदय हुआ है। इसी तरह अन्य कितनी ही जातियोंके सम्बन्धमें प्राचीन लेखों, ताम्रपत्रों, सिक्कों, ग्रन्थप्रशस्तियों और ग्रन्थों आदि परसे उनके इतिवृत्तका पता लगाया जा सकता है।

उक्त कविवरके ग्रन्थोंमें उल्लिखित 'पोमावइ' शब्द स्वयं पद्मावती नामकी नगरी का वाचक है। यह नगरी पूर्व समयमें खूब समृद्ध थी उसकी इस समृद्धिका उल्लेख खजुराहोके वि० सं० १०५२ के शिलालेखमें पाया जाता है, जिसमें यह बतलाया गया है कि ये नगरी ऊंचे-ऊंचे गगनचुम्बी भवनों एवं मकानातोंसे सुशोभित थी, जिसके राजमार्गों में बड़े बड़े तेज तुरंग दौड़ते थे और जिसकी चमकती हुई स्वच्छ एवं शुभ्र दीवारें आकाशसे बातें करती थीं। जैसाकि उक्त लेखके निम्न पद्योंसे प्रकट है:—

सोधुत्तुंग पतग लंघन पथ प्रोत्तुंगमालाकुला
शुभाभ्रंकष पाण्डुरोच्चशिखरप्राकारचित्रा (ख) रा
प्रालेयाचलश्रृंगसन्नि (नि) भशुभप्रासादसद्मावती
भव्यापूर्वमभूदपूर्वरचना या नाम पद्मावती॥
त्वगत्तुंगतुरंगमोद्गमक्षु (क्षु) ण्णोदाद्रजः प्रां [ढ] त,

१. यह जाति जैन समाजमें गौरव-शालिनी रही है। इसमें अनेक प्रतिष्ठित श्रीसम्पन्न श्रावक और विद्वान हुए हैं जिनकी कृतियां आजभी अपने अस्तित्वसे भूतल को समलंकृत कर रही हैं। भविष्यदत्त कथाके कर्ता बुध धनपाल और धर्म परीक्षाके कर्ता बुध हरिषेणने भी अपने जन्मसे 'धर्कट वंश' को पावन किया है। हरिषेण ने अपनी धर्मपरीक्षा वि० सं० १०४४ में बना कर समाप्त की है। धर्कट वंशके अनुयायी दिगम्बर श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायोंमें रहे हैं।

यस्यां जीर्ण(र्णे) कठोर बभ्रु(स्त्र?)मकरो कूर्मोदराभं नम.।
मत्तानेककरालकुम्भि करटप्रोत्कृष्टवृष्ट्या [द भु] व ।
तं कर्दम मुद्रिया क्षितितलं तां ब्र॰ (ब्र॰) त किं मन्तुमः ॥
—Epigraphica Indica V L I P 149

इस समुल्लेख परसे पाठक सहजहीमें पद्मावती नगरीके विशालताका अनुमान कर सकते हैं। इस नगरीको नागराजाओंकी राजधानी बननेका भी सौभाग्य प्राप्त हुआ था और पद्मावती कांति-पुरी तथा मथुरामें नौ नागराजाओंके राज्य करने का उल्लेख भी मिलता है[१]। पद्मावती नगरीके नागराजाओंके सिक्के भी मालवेमे कई जगह मिले है[२]। ग्यारहवीं शताब्दीमें रचित 'सरस्वती कंठाभरण' मे भी पद्मावतीका वर्णन है और मालती-माधवमें भी पद्मावतीका कथन पाया जाता है जिसे लेखवृद्धिके भयसे छोड़ा जाता है, परन्तु खेद है कि आज यह नगरी वहां अपने उस रूपमें नहीं है किन्तु ग्वालियर राज्यमे उसके स्थान 'पर 'पवाया' नामक एक छोटासा गाव बसा हुआ है, जो कि देहलीसे बम्बई जाने वाली रेल लाइन पर 'देवरा' नामके स्टेशनसे कुछ ही दूर पर स्थित है। यह पद्मावती नगरी ही पद्मावती जातिक निकासका कारण है। इस दृष्टिसे वर्तमान 'पवाया' ग्राम पद्मावती पुरवालोंके लिए विशेष महत्वकी वस्तु है। भले ही वहा पर आज पद्मावती पुरवालोंका निवास न हो, किन्तु उसके आस पास तो आज भी वहां पद्मावतीपुरवालों का निवास पाया जाता है। ऊपरके इन सब उल्लेखों परसे ग्राम नगरादिके नामों पर उप-जातियोंकी कल्पनाको पुष्टि मिलती है।

श्रद्धेय पं० नाथूरामजी प्रेमीने 'परवारजातिके इतिहास पर प्रकाश' नामके अपने लेखमें परवारों के साथ पद्मावती पुरवालोंका सम्बन्ध जोड़नेका प्रयत्न किया था[१]। और पं० बखतराय के 'बुद्धि-विलास' के अनुसार सातवां भेद भी प्रकट किया है[२]। हो सकता है कि इस जातिका कोई सम्बन्ध परवारोंके साथ भी रहा हो; किन्तु पद्मावती पुरवालोंका निकास परवारोंके सत्तमसूर पद्मा-वतिया से हुआ हो, यह कल्पना जीको नहीं लगती और न किन्हीं प्राचीन प्रमाणोंसे उसका समर्थन ही होता है और न सभी 'पुरवाडवंश' परवार ही कहे जा सकते हैं। क्योंकि पद्मावती पुरवालोंका निकास पद्मावती नगरीके नामपर हुआ है। परवारोंके सत्तमसूरसे नहीं आज भी जो लोग कलकत्ता और देहली आदिसे दूसरे शहरोंमें चले जाते है उन्हें कलकतिया या कलकत्तेवाला, देहलवी दिल्लीवाला कहा जाता है, ठीक उसी तरह परवारों के सत्तमसूर 'पद्मावतिया' की स्थिति है।

गांवके नाम परसे गोत्र कल्पना कैसे की जाती थी इसका एक उदाहरण पं० बनारसीदासजी के अधकथानकसे ज्ञात होता है और वह इस प्रकार है:—मध्यप्रदेशके रोहतकपुरके निकट 'बिहोली' नामका एक गांव था उसमे राजवंशी राजपूत रहते थे; वे गुरु प्रसादसे जैनी हो गए और उन्होंने अपना पापमय क्रिया-काण्ड छोड़ दिया उन्होंने णमोकार मन्त्रकी माला पहनी, उनका कुल श्रीमाल कहलाया और गोत्र बिहोलिया रक्खा गया। जैसाकि उसके निम्न पद्योंसे प्रकट है:—

याही भरत सुखेतमें, मध्यदेस शुभ ठांउ
बसै नगर रोहतगपुर, निकट बिहोली-गाउ ॥ ८
गांउ बिहोलीमें बसै, राजवंस रजपूत ।
ते गुरुमुख जैनी भए, त्यागि करम अघभूत ॥ ९

१, नवनागा: पद्मावत्यां कांतीपुर्यां मथुरायां, विष्णु पु० अंश, ४ अ० २४ ।
२, देखो, राजपूतानेका इतिहास प्रथम जिल्द पृ० २१०

१. देखो, अनेकान्त वर्ष ३ किरण ७
२. सात खांप परवार कहावैं, तिनके तुमको नाम सुनावें ।
अठसक्खा पुनि है चौसक्खा, सेसक्खा पुनि है दोसक्खा ।
सोरठिया अरु गांगज जानो, पद्मावतिया सत्तम मानो ॥
—बुद्धिविलास

पहिरी माला मत्रकी, पायो कुल श्रीमाल।
थाप्यो गोत्र बिहालिया, बीहांली रखपाल ॥ १० ॥

इसी तरहसे उपजातियों और उनके गोत्रादिका निर्माण हुआ है।

कविवर रइधू भट्टारकीय पं० थे और तात्कालिक भट्टारकोंको वे अपना गुरु मानते थे, और भट्टारकोंके साथ उनका इधर उधर प्रवास भी हुआ है और उन्होंने कुछ स्थानोंमें कुछ समय ठहरकर कई ग्रन्थोंकी रचना भी की है, ऐसा उनकी ग्रन्थ-प्रशस्तियोंपरसे जाना जाता है। वे प्रतिष्ठाचार्य भी थे और उन्होंने अनेक मूर्तियोंकी प्रतिष्ठा भी कराई थी। उनके द्वारा प्रतिष्ठित एक मूर्तिका मूर्तिलेख आज भी प्राप्त है और जिससे यह मालूम होता है कि उन्होंने उसकी प्रतिष्ठा सं० १४९७ में ग्वालियरके शासक राजा डूंगरसिंहके राज्यमें कराई थी, वह मूर्ति आदिनाथकी है। ❀

कविवर विवाहित थे या अविवाहित, इसका कोई स्पष्ट उल्लेख मेरे देखनेमें नहीं आया और न कविने कहीं अपनेको बालब्रह्मचारी ही प्रकट किया है इससे तो वे विवाहित मालूम होते हैं और जान पड़ता है कि वे गृहस्थ-पंडित थे; और उस समय वे प्रतिष्ठित विद्वान गिने जाते थे। ग्रन्थ-प्रणयनमें जो भेटस्वरूप धन या वस्त्राभूषण प्राप्त होते थे वही उनकी आजीविकाका प्रधान आधार था।

बलभद्रचरित्र (पद्मपुराण) की अन्तिम प्रशस्तिके १७वें कडवकके निम्नवाक्योंसे मालूम होता है कि उक्त कविवरके दो भाई और भी थे, जिनका नाम बाहोल और माहणसिंह था। जैसा

❀ संवत् १४९७ वर्षे वैसाख.......७ शुक्रे पुनर्वसु नक्षत्रे श्रीगोपाचलदुर्गे महाराजाधिराज राजा श्रीडुंग [डूंगरसिंहराज्य] प्रवर्तमानो [नि] श्रीकाष्ठासंघे माथुरान्वये पुष्करगणे भट्टारक श्रीगुणकीर्तिदेव तत्पदे यशःकीर्तिदेव प्रतिष्ठाचार्य श्री पंडित रइधू तेषां आम्नाये अग्रोतवंशे गोयल गोत्रे साधु ·..... । देखो, ग्वालियर गजिटियर जिल्द १

कि उक्त ग्रन्थकी प्रशस्तिके निम्नवाक्योंसे प्रकट है:--
सिरिपोमावइपरवालवंसु, णंदउ हरिसिंघु संघवी जासुवंसु
घत्ता—बाहोल माहणसिंह चिरुणंदउ इह
रइधू कवि तीयउ वि धरा।
मोलिक्य समाणउ कलगुण जाणउ
णंदउ महियलि सो वि परा ॥

यहां पर मैं इतना और भी प्रकट कर देना चाहता हूँ कि मेघेश्वर चरित (आदिपुराण) की संवत् १८५१ की लिखी हुई एक प्रति नजीबाबाद जिला बिजनौरके शास्त्र-भंडारमें है जो बहुत ही अशुद्ध रूपमें लिखी गई है जिसके कर्ताने अपनेको आचार्य सिंहसेन लिखा है और उन्होंने अपने को संघवीय हरिसिंघका पुत्र भी बतलाया है। सिंहसेनके आदिपुराणके उस उल्लेख परसे ही पं० नाथूरामजी प्रेमीने दशलक्षण जयमालाकी प्रस्तावनामें कवि रइधूका परिचय कराते हुए फुटनोटमें श्री पंडित जुगलकिशोरजी मुख्तारकी रइधूको सिंहसेनका बड़ा भाई माननेकी कल्पना को असंगत ठहराते हुए रइधू और सिंहसेन को एक ही व्यक्ति होनेकी कल्पना की है[1]। परन्तु प्रेमीजीकी भी यह कल्पना संगत नहीं है, और न रइधू सिंहसेनका बड़ा भाई ही है किन्तु रइधू और सिंहसेन दोनों भिन्न भिन्न व्यक्ति हैं, सिंहसेन ने अपनेको 'आर्यारिय' प्रकट किया है जब कि रइधूने अपनेको पंडित और कवि ही सूचित किया है। उस आदिपुराणकी प्रतिको देखने और दूसरी प्रतियोंके साथ मिलान करने से यह सुनिश्चित जान पड़ता है कि उसके कर्ता कवि रइधू ही है, सारे ग्रन्थके केवल आदि अन्त प्रशस्तिमें ही कुछ परिवर्तन है।

शेष ग्रन्थका कथा भाग ज्योंका त्यों है उसमें कोई अन्तर नहीं, ऐसी स्थितिमे उक्त आदिपुराणके कर्ता रइधू कवि ही प्रतीत होते हैं, सिंहसेन नहीं। हाँ, यह हो सकता है कि सिंहसेनाचार्यका कोई दूसरा

१ देखो, दशलक्षण की प्रस्तावना।

ही ग्रन्थ रहा हो, पर उक्त ग्रन्थ 'सिद्धसेनायरिय' का नहीं किन्तु रइधू कविकृत ही है। सम्मइ जिन चरिउकी प्रशस्तिमें रइधूने सिंहसेन नामके एक मुनिका और भी उल्लेख किया है और उन्हें गुरु भी बतलाया है और उन्हींके वचनसे सम्मइ जिन चरिउकी रचना की गई है। घत्ता—

"तं णिसुणि वि गुरुणा गच्छहु गुरुणाइ सिंहसेण मुणे।
पुरुम ठिउ पंडिउ सील अखंडिउ भणिउ तेणतंतम्मि खणि॥"

गुरु परम्परा

कविवरने अपने ग्रंथोंमे अपने गुरुका कोई परिचय नहीं दिया है और न उनका स्मरण ही किया है। हां, उनके ग्रंथोंमे तात्कालिक कुछ भट्टारकोंके नाम अवश्य पाये जाते है जिनका उन्होंने आदरके साथ उल्लेख किया है। पद्मपुराणकी आद्य प्रशस्तिके चतुर्थ कडवक की निम्न पंक्तियोंमें, उक्त ग्रन्थके निर्माणमे प्रेरक साहू हरसी द्वारा जो कवि रइधूके प्रति कहे गए है उनमें रइधूको 'श्री पाल ब्रह्म आचार्यके शिष्य रूपसे संबोधित किया गया है। साथ ही साहू सोढलके निमित्त 'नेमिपुराण' के रचे जाने और अपने लिए रामचरितके कहनेकी प्रेरणा भी की गई है जिससे स्पष्ट मालूम होता है कि रइधूके गुरु ब्रह्म श्रीपाल थे, जो उस समय आचार्यके उपपदसे विभूषित थे वे वाक्य इस प्रकार हैं:—

भो रइधू पंडिउ गुण णिहाणु, पोमावइ वर वसहं पहाणु।
सिरिपाल बह्म आयरिय सीस, महु वयणु सुणहि भो बुह गिरीस।
सोढल णिमित्त णेमिहु पुराण, विरयउ जहं कइ जण विहिय माणु।
तं राम चरित्तु वि महु भणेहि, लक्खण समेउ इय मणि मुणेहि।

प्रस्तुत ब्रह्म श्रीपाल कवि रइधू के गुरु जान पड़ते है, जो भट्टारक यशःकीतिके शिष्य थे। सम्मइ जिन चरिउ'की अन्तिम प्रशस्तिमें* मुनि यशःकीर्तिके तीन शिष्योंका उल्लेख किया गया है खेमचन्द, हरिषेण और ब्रह्म पाल्हू (ब्रह्म श्रीपाल)। उनमे उल्लिखित मुनि ब्रह्मपाल ही ब्रह्मश्रीपाल जान पड़ते है। अबतक सभी विद्वानोंकी यह मान्यता थी कि कविवर रइधू भट्टारक यशःकीर्तिके शिष्य थे किन्तु इस समुल्लेख परसे वे यशःकीर्तिके न होकर प्रशिष्य जान पड़ते हैं।

कविवरने अपने ग्रन्थोंमें भट्टारक यशःकीर्ति का खुला यशोगान किया है और मेघेश्वर चरितकी प्रशस्तिमें तो उन्होंने भट्टारक यशःकीर्तिके प्रसाद से विचक्षण होनेका भी उल्लेख किया है। सम्मत्त गुण णिहाण ग्रन्थमे मुनि यशःकीर्तिको तपस्वी भव्यरूपी कमलोंको संबोधन करनेवाला सूर्य, और प्रवचन का व्याख्याता भी बतलाया है और उन्हींके प्रसादसे अपनेको काव्य करने वाला और पापमल का नाशक बतलाया है। जैसाकि उसके निम्न पद्योंसे स्पष्ट है:—

तह पुणु सु तव तावतवियंगो,
भव्व-कमल-संबोह-पयंगो।
णिच्चो भासिय पवयण अंगो,
वंदिवि सिरि जसकित्ति असंगो।
तासु पसाए कव्वु पयासमि,
आसि वि हिउ कलिमलु णिण्णासमि॥

इसके सिवाय यशो चरित्रमें भट्टारक कमलकीर्तिका भी गुरु नामसे स्मरण किया है।

निवास स्थान और समकालीन राजा

कविवर रइधू कहाँके निवासी थे, और वह

१ मुणि जसकित्ति हु सिस्स गुणायरु,
खेमचंदु हरिसेणु तवायरु।
मणि तं पाल्ह बंभुए णंदहु,
तिण्णि वि पावहु भारु णिकंदहु।
—सम्मइ चरिउ प्रशस्ति,

स्थान कहां है। और उन्होंने ग्रन्थ-रचनाका यह महत्वपूर्ण कार्य किन राजाओंके राज्यकालमें किया है यह बात अवश्य विचारणीय है। यद्यपि कवि ने अपनी जन्मभूमि आदिका कोई परिचय नहीं दिया, जिससे उस सम्बन्धमें विचार किया जाता फिरभी उनके निवास स्थान आदिके सम्बन्धमें जो कुछ जानकारी प्राप्त हो सकी है उसे पाठकों की जानकारीके लिए नीचे दिया जाता है:—

उक्त कविके ग्रन्थोंसे यह पता चलता है कि वे ग्वालियरमें नेमिनाथ और वर्द्धमान जिनालयमें रहते थे और कवित्तरूपी रसायन निधिमे रसाल थे, ग्वालियर १५ वीं शताब्दी में खूब समृद्ध था, उस समय वहां पर देहलीके तोमर वंशका शासन चल रहा था। तोमर वंश बड़ा ही प्रतिष्ठित क्षत्रिय वंश रहा है और उसके शासन कालमें जैनधर्मको पनपनेका बहुत कुछ आश्रय मिला है। जैन साहित्यमें ग्वालियरका महत्वपूर्ण स्थान रहा है। उस समय तो वह एक विद्याका केन्द्र ही बना हुआ था, वहां की मूर्तिकला और पुरातत्वकी कलापूर्ण सामग्री आज भी दर्शकोंके चित्तको अपनी ओर आकर्षित करती हैं। उसके समवलोकनसे ग्वालियरकी महत्ताका सहज ही भान हो जाता है। कविवरने स्वयं सम्यक्त्व-गुण-निधान नामक ग्रन्थकी आद्य प्रशस्तिमे ग्वालियरका वर्णन करते हुए वहांके तत्कालीन श्रावकोंकी चर्याका जो उल्लेख किया है उसे बतौर उदाहरणके नीचे दिया जाता है:—

तहुरजि महायण बहुधणट्ठ,
गुरु-देव-सत्थ विणयं वियट्ठ।
जहिं वियक्खण मणुव सव्व,
धम्माणुरत्त-वर गलिय-गव्व।
जहिं सच्च-वसण-जुअ सावयाइं,
णिवसहिं पालिय वो-दह-वयाइं।
सम्मइंसण—मणि—भूसियंग,
णिच्चोऽभासिय पवयण सयंग।
दारापेक्खण-विहि णिच्चलीण,
जिण महिम महुच्छव णिरु पवीण।
चेयणगुण अप्पारुह पवित्त,
जिण सुत्त रसायण सवण तित्त।
पंचम दुस्समु अइ-विसमु-कालु,
णिद्दलि वि तुरिउ पविहिउ रसालु।
धम्मज्झाणे जे कालु लिंति,
णवयारमंतु अह-णिसु गुणंति।
संसार-महण्णव-वडण-भीय,
णिस्संक पमुह गुण वयणणीय।
जहिं णारीयण दिढ सील जुत्त,
दाणे पोसिय णिरु तिविह पत्त।
तिय मिसेण लच्छि अवयरिय एत्थु,
गयरूव ण दीसइ का वि तेत्थु।
वर अंबर कणयाहरण एहिं,
मंडिय तणु सोहहिं मणि जडेहिं।
जिण-ण्हवण-पूय-उच्छाह चित्त,
भव-तणु-भोयहिं णिच्च जि विरत्त।
गुरु देव पाप-पंकयाहिं लीण,
सम्मइंसणपालण पवीण।
पर पुरिस स-बंधव सरिस जांहिं,
अह-णिसु पडिवण्णिय णिय मणाहिं।
कि वण्णमि तहिंहउ पुरिस णारि,
जहिं डिंभ वि सग वसण बहारि।
पव्वहिं पव्वहिं पोसहु कुणंति,
घरि घरि चच्चरि जिण गुण थुणंति।
साहम्मि य वत्थु णिरु वहंति,
पर अवगुण झंपहि गुण कहंति।
एरिसु सावयहिं विहियमाणु,
णंमीसु रजिणु हरि वड्ढमाणु।
णिवसइ जा रइधू कवि गुणालु,
सुकवित्त-रसायण-णिहिं रसालु ॥५॥

इन पद्यों पर दृष्टि डालनेसे उस समयके ग्वालियरकी स्थितिका सहज ही ज्ञान प्राप्त हो जाता है। उस समय लोग कितने धार्मिक सच्चरित्र और

अपने कर्तव्यका यथेष्ट पालन करते थे यह जानने अनुकरण करनेकी वस्तु है।

ग्वालियरमें उस समय तोमरवंशी राजा डूंगर सिंहका राज्य था। डूंगरसिंह एक प्रतापी और जैन धर्ममें आस्था रखने वाला शासक था। उसने अपने जीवित कालमें अनेक जैन मूर्तियोंका निर्माण कराया, वह इस पुनीत कार्यको अपनी जीवित अवस्थामें पूर्ण नहीं करा सका था जिसे उसके प्रिय पुत्र कीर्तिसिंह या करणसिंहने पूरा किया था। राजा डूंगरसिंहके पिता का नाम गणेश या गणपतसिंह था। जो वीरमदेवका पुत्र था। डूंगरसिंह राजनीतिमें दक्ष, शत्रुओंके मान मर्दन करनेमें समर्थ, और क्षत्रियोचित क्षात्र तेजसे अलंकृत था। गुण समूहसे विभूषित, अन्यायरूपी नागोंके विनाश करनेमें प्रवीण, पंचांग मंत्रशास्त्रमें कुशल, तथा असि रूप अग्निसे मिथ्यात्व-रूपी वंशका दाहक था, जिसका यश सब दिशाओंमें व्याप्त था, राज्य-पट्टसे अलंकृत विपुल भाल और बलसे सम्पन्न था। डूंगर सिंहकी पट्टरानीका नाम चंदादे था जो अतिशय रूपवती और पतिव्रता थी। इनके पुत्रका नाम कीर्तिसिंह या कीर्तिपाल था, जो अपने पिताके समानही गुणज्ञ, बलवान और राजनीति में चतुर था। डूंगरसिंहने नरवरके किले पर घेरा डाल कर अपना अधिकार कर लिया था। शत्रुलोग इसके प्रताप एवं पराक्रमसे भयभीत रहते थे। जैन धर्म पर केवल उसका अनुराग ही न था किन्तु उसपर अपनी पूरी आस्थाभी रखता था फलस्वरूप उसने जैन मूर्तियोंकी खुदवाईमें सहस्रों रुपये व्यय किये थे। इससे ही उसकी आस्थाका अनुमान किया जा सकता है।

डूंगरसिंह सन् १४२४ (वि० सं० १४८१) में ग्वालियरकी गद्दी पर बैठा था। इसके राज्य समय के दो मूर्तिलेख संवत् १४९७ और १५१० के प्राप्त हैं। संवत् १४८६ की दो लेखक प्रशस्तियां-पं० विबुध श्रीधरके संस्कृत भविष्यदत्तचरित्र और अपभ्रंश-भाषाके सुकमालचरित्रकी प्राप्त हुई हैं। इनके सिवाय 'भविष्यदत्त पंचमीकथा' की एक अपूर्ण लेखक प्रशस्ति कारंजाके ज्ञान भंडारकी प्रतिसे प्राप्त हुई है। डूंगरसिंहने वि० सं०१४८१ से सं १५१० या इसके कुछ बाद तक शासन किया है। उसके बाद राज्य-सत्ता उसके पुत्र कीर्तिसिंहके हाथमें आई थी।

कविवर रइधूने राजा डूंगरसिंहके राज्यकालमें तो अनेक ग्रन्थ रचे ही हैं किन्तु उनके पुत्र कीर्तिसिंह के राज्यकालमें भी सम्यक्त्व कौमुदीकी रचना की है। ग्रन्थ कर्त्ताने उक्त ग्रन्थकी प्रशस्तिमें कीर्तिसिंह का परिचय कराते हुये लिखा है कि वह तोमर कुल रूपी कमलोंको विकसित करने वाला सूर्य था और दुर्वार शत्रुओंके संग्रामसे अतृप्त था और अपने पिता डूंगरसिंहके समान ही राज्यभारको धारण करनेमें समर्थ और बंदी-जनोंने जिसे भारी अर्थ समर्पित किया था और जिसकी निर्मलयशरूपी लता लोकमें व्याप्त हो रही थी, उस समय यह कलिचक्र-वर्ती था जैसा कि उक्त ग्रन्थ प्रशस्तिके निम्न वाक्यों से प्रकट है:—

तोमरकुलकमलवियास मित्त, दुव्वारवैरिसंगर अतित्तु
डूंगरणिव रज्जधरा समत्थु, बंदीयण समप्पिय भूरि अत्थु
चउराय विज्जापालण अतंदु, णिम्मल जसवल्ली भुवणकंदु
कलिचक्कवट्टि पायडणिहाणु, सिरिकित्तिसिंघु महिवइ-
पहाणु।

-सम्यक्त्व कौमुदी पत्र ९ नागौर भंडार

कीर्तिसिंह वीर और पराक्रमी था उसने अपना राज्य अपने पितासे भी अधिक विस्तृत किया था। वह दयालु सहृदय था जैनधर्मके ऊपर उसकी विशेष आस्था थी। वह अपने पिताका आज्ञाकारी था उसने अपने पिताके जैनमूर्तियोंके खुदाइ के अवशिष्ट कार्य को पूरा किया था। इसका पृथ्वी-पाल नामका एक भाई और भी था जो लड़ाईमें मारा गया था। कीर्तिसिंहने अपने राज्यको यहां

तक पल्लवित कर लिया था कि उस समय उसका राज्य मालवेके समकक्षका हो गया था। दिल्लीका बादशाह भी कीर्तिसिंहकी कृपाका अभिलाषी बना रहना चाहता था। सन १४६५ (वि० सं० १५२२) में जौनपुरके महमूद शाहके पुत्र हुसैनशाहने ग्वालियरको विजित करनेके लिये बहुत बड़ी सेना भेजी थी। तब से कीर्तिसिंहने देहली बादशाह बहलोल लोदीका [2]पक्ष छोड दिया था और जौनपुर वालोंका सहायक बन गया था।

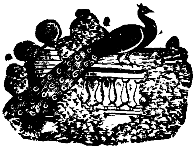
१ सन १४५२ (वि० सं १५०६) में जौनपुरके सुलतान महमूद शाह शर्की और देहली के बादशाह बहलोललोदी के बीच होने वाले संग्राममें कीर्तिसिंहका दूसरा भाई पृथ्वीराज महमूदशाहके सेनापति फतहखां हार्वी के हाथ से मारा गया था। परंतु कविवर रइधूके ग्रंथोंमें कीर्तिसिंह के दूसरे भाई पृथ्वीराजका कोई उल्लेख नहीं पाया जाता।

—देखो टाड राजस्थान पृ० २५० स्वर्गीय महामना गोरीशंकर हीराचन्द जी ओझा कृत गवालियर कंतवर वाली टिप्पणी।

२ बहलोल लोदी देहलीका बादशाह था उसका राज्य काल सन १४५१ (वि० सं० १५०८) से लेकर सन १४८६(वि० सं० १५४६) तक ३८ वष पाया जाता है।

सन १८७८ में हुसैनशाह दिल्ली के बादशाह बहलोल लोदोसे पराजित होकर अपनी पत्नी और सम्पत्ति वगैरहको छोड़ कर भागा और भागकर ग्वालियरमें राजा कीर्तिसिंहकी शरणमे गया था। तब कीर्तिसिंहने धनादिसे उसकी सहायता की थी और कालपी तक उसे सकुशल पहुँचाया भी था। इसके समयके दो लेख सन १४६८(वि० सं० १५२५) और सन १४७३(वि० सं० १५३०) के मिले हैं। कीर्तिसिंहकी मृत्यु सन १४७६ (वि० स० १५३६) मे हुई थी। अत: इसका राज्य काल संवत १५१० के बाद से सं० १५३६ तक पाया जाता है[3] इन दोनों के राज्यकाल मे ग्वालियरमें जैनधर्म खूब पल्लवित हुआ।

३ देखो, ओझाजी द्वारा सम्पादित टाड राजस्थान हिन्दी पृष्ट २५४



एक प्रख्यात विद्वानका स्वर्गारोहण

श्रीमान प० देवकीनंदन जी शास्त्री दिगम्बर जैन समाजके प्रख्यात विद्वान थे। स्व० प्रातः स्मरणीय गुरु पं० गोपालदास जी बरैयाके आप गणनीय शिष्य थे, सिद्धान्त शास्त्रके अच्छे ज्ञाता थे। पू० गुरु जीके स्वर्गवास हो जाने पर 'जैनसिद्धान्त विद्यालय मुरेनाकी दशा नाजुक हो गई थी उस समय आप विद्यालयकी स्थिति दृढ़ बनाने के लिये विद्यालयमें स्वल्प वेतनपर ही अध्यापन कार्य करते रहे। फिर कुछ वर्ष पीछे कारंजा गुरुकुलमें पढ़ाने चले गये वहां पर उच्च कोटिके सिद्धान्त ग्रन्थ पढ़ाते रहे गुरुकुलसे अनेक स्नातक निकले।

वहीं पर पंचाध्यायी ग्रन्थकी भाषा टीका की। वहांसे फिर आप श्रीमान सरसेठ हुकमचन्द जी को स्वाध्याय करानेके लिये इंदौर पहुंचे। इंदौरमें आप कई वर्ष रहे। वहां पर आप रक्तचाप (ब्लड प्रैसर) रोगसे आक्रान्त हो गये। अभी कुछ दिन तक रुग्ण रहकर गत १३ मई शुक्रवार को प्रातः साढ़े आठ बजे स्वर्गवास हो गया।

आपके दो विवाह हुए थे पहली पत्नीसे केवल पुत्री हुई दूसरी पत्नी से ६ पुत्र ३ पुत्रियां हुई हैं जो मौजूद है।

पंडित जी अच्छे व्याख्यानदाता थे आपकी वाणीमें प्रभावशाली रस था आपके शास्त्रप्रवचनमें आनन्द आता था आपने परवार सभाको अपने प्रयत्नसे उठा कर खड़ा कर दिया था।

आपके वियोगसे जैन समाजकी बहुत क्षति हुई है। अनेकान्त परिवारकी ओरसे उनके कुटुम्बियोंके साथ समवेदना प्रगट की जाती है और कामना है कि आप की आत्माको शान्ति प्राप्त हो।

दो अन्य गणनीय पुरुषोंका निधन!

फीरोजपुर छावनी निवासी. ला० डालचन्द एण्ड सन्ज फर्मके मालिक श्रीमान ला० तुलसीराम जी जैन रईसका स्वर्गवास हो गया है। आपने पिता जी के स्मारकरूप डालचन्द जैन हाईस्कूल तथा डालचन्द जैन कालेज स्थापित किया था। आप अच्छे प्रभावशाली, शिक्षाप्रेमी, धार्मिक महानुभाव थे।

कोल्हापुर निवासी श्रीमान् आण्णा बाबा जी लट्ठे दक्षिण प्रान्तमें एक प्रसिद्ध महानुभाव थे। आप अनेक वर्षों तक कोल्हापुर राज्यके प्रधान मंत्री रहे, तथा कांग्रेसी मंत्रीमंडलके समय बम्बई सरकारके अर्थसचिव (फाइनेन्स मिनिष्टर) बनाये गये थे, अच्छेशिक्षित शिक्षाप्रेमी नेता थे।

आप दोनों महानुभावों के असमय वियोगसे दि० जैन समाजकी बहुत क्षति हुई है।

—प्रकाशक

अनेकान्त का आगामी अङ्क

अनेकान्तकी आगामी ११—१२ वीं किरण संयुक्त रूपसे प्रकाशित होगी। पाठक महानुभाव नोट कर लेवें।

—प्रकाशक

Regd. No. D, 397

वीरसेवामंदिरके प्रकाशन

१. अनित्य-भावना—आ० पद्मनन्दिकृत भावपूर्ण और हृदयग्राही महत्वकी कृति, पं० जुगलकिशोर मुख्तारके हिन्दी-पद्यानुवाद और भावार्थ सहित। मूल्य चार आना।

२. आचार्य प्रभाचन्द्रका तत्त्वार्थसूत्र—सरल नया सूत्र-ग्रन्थ, पं०जुगलकिशोर मुख्तारकी हिन्दी-व्याख्यासहित। मूल्य चार आना।

३. न्यायदीपिका—(महत्वका सर्वप्रिय संस्करण)—अभिनव धर्मभूषण विरचित न्याय-विषयकी सुबोध प्राथमिक रचना। न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल कोठियाद्वारा सम्पादित, हिन्दीअनुवाद, विस्तृत (१०१ पृष्ठकी) प्रस्तावना, प्राक्कथन, परिशिष्टादिसे विशिष्ट, ४००पृ० प्रमाण, लागत मूल्य पाँचरुपया। विद्वानों, छात्रों और स्वाध्याय प्रेमियोंने इस संस्करणको बहुत पसन्द किया है।

४. सत्साधुस्मरणमङ्गलपाठ—अभूतपूर्व सुन्दर और विशिष्ट सङ्कलन, सङ्कलयिता पं० जुगलकिशोर मुख्तार। भगवान महावीरसे लेकर जिनसेनाचार्य पर्यन्तके २१ जैनाचार्योंके प्रभावक गुणस्मरणोंसे युक्त। मूल्य आठआना।

५. अध्यात्मकमलमार्तण्ड—पञ्चाध्यायी तथा लाटीसंहिता आदि ग्रन्थोंके रचयिता पं० राजमल्ल विरचित आध्यात्मिक कृति, न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल कोठिया और पं० परमानन्द शास्त्रीके सरल हिन्दी-अनुवादादिसहित तथा मुख्तार पं० जुगलकिशोरजी द्वारा लिखित विस्तृत प्रस्तावनासे विशिष्ट। मूल्य डेढ़ रुपया

६. उमास्वामिश्रावकाचारपरीक्षा—मुख्तार पं० जुगलकिशोर द्वारा लिखित ग्रन्थ-परीक्षाओंका इतिहास-सहित प्रथम अंश। मूल्य चार आना।

७. विवाह-समुद्देश्य—पं० जुगलकिशोर मुख्तार द्वारा रचित विवाहके रहस्यको बतलानेवाली और विवाहोंके अवसरपर वितरण करने योग्य सुन्दर कृति। मूल्य आठ आना।

नये प्रकाशन

१. आप्तपरीक्षा-स्वोपज्ञटीकासहित—(अनेक विशेषताओंसे विशिष्ट महत्वपूर्ण संस्करण तार्किकशिरोमणि विद्यानन्दस्वामि-विरचित आप्तविषयकी अद्वितीय रचना न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल कोठियाद्वारा प्राचीन प्रतियोंपरसे संशोधित और सम्पादित, हिन्दी-अनुवाद, विस्तृत प्रस्तावना, और समाजके बहुश्रुत विद्वान पं०कैलाशचन्द्रजी शास्त्री द्वारा लिखित प्राक्कथन तथा अनेक परिशिष्टोंसे अलंकृत २०×२६/८ पेजी साइज, चार-सौ पृष्ठ प्रमाण, लागत मूल्य आठ रुपया

२. श्रीपुर पार्श्वनाथ-स्तोत्र—विद्यानन्दाचार्य-विरचित महत्वका स्तोत्र, हिन्दी अनुवाद तथा प्रस्तावनादि सहित। सम्पादक-न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल कोठिया। मूल्य बारह आना।

३. शासनचतुस्त्रिंशिका—विक्रमकी १३ वीं शताब्दीके विद्वान् मुनि मदनकीर्ति विरचित तीर्थ-परिचयात्मक ऐतिहासिक अपूर्व रचना, हिन्दी अनुवाद-सहित। मूल्य बारह आना।

व्यवस्थापक—वीरसेवामन्दिर,

७/३३ दरियागंज, देहली।

प्रकाशक-परमानन्द जैन शास्त्री, वीरसेवा मंदिर ७/३३ दरियागंज देहली, मुद्रक-अजितकुमार जैन शास्त्री, अकलंक प्रेस, सदरबाजार, देहली।

अनेकान्त

वर्ष १० | मई, जून १९५० | किरण ११-१२

सम्पादक—जुगलकिशोर मुख्तार

★

विषय-सूची

—o—

अनुकरणीय शास्त्रदान

श्रीविद्यानन्द आचार्यकी आप्तपरीक्षा और उनकी स्वोपज्ञ-संस्कृत-टीका हिन्दी भाषा-भाषियों-के लिए अभी तक दुर्लभ और दुर्गम बनी हुई थी। वीरसेवामन्दिरने हालमें इन दोनोंको ही हिन्दी अनुवादादिके साथ प्रकाशित करके उनकी प्राप्ति और उनसे ज्ञानार्जन करनेका मार्ग सबके लिए सुलभ कर दिया है। इस ग्रन्थमें आप्तोंकी परीक्षा-द्वारा ईश्वर-विषयका बड़ा ही सुन्दर सरस और सजीव विवेचन किया गया है और वह फैले हुए ईश्वर-विषयक अज्ञानको दूर करनेमें बड़ा ही समर्थ है। साथ ही दर्शनशास्त्रकी अनेक गुत्थियोंको भी इसमें खूब खोला गया है। इससे यह ग्रन्थ बहुत बड़े प्रचार-की आवश्यकता रखता है। सभी विद्यालयों-कालिजों, लायब्रेरियों और शास्त्र-भण्डारोंमें इसके पहुँचनेकी जहाँ जरूरत है वहाँ यह विद्या-व्यसनी उदार विचारके जैनेतर विद्वानोंको भेंट भी किया जाना चाहिये, जिससे उन तक इस ग्रंथरत्नकी सहज गति हो सके और वे इस महान शास्त्रसे यथेष्ट लाभ उठानेमें समर्थ हो सकें। इसके लिये कुछ दानी महानुभावोंको शीघ्र ही आगे आना चाहिये और दस दस बीस बीस प्रतियाँ एक साथ खरीदकर उन संस्थाओं तथा विद्वानोंको यह ग्रन्थ भेंट करना चाहिये। अपनी इस विज्ञप्तिको पाकर कलकत्ताके सेठ सोहनलालजी फर्म मुन्ना लाल द्वारकादासने, और सेठ बैजनाथ जी सरावगी (फर्म जोखीराम बैजनाथ) ने ग्रन्थकी बीसर प्रतियाँ खरीद कर दान करने की स्वीकृति दी। बादको सेठ सोहन लाल जी ने श्री.बी.आर.सी. जैन कलकत्ताको भी २० प्रतियां खरीदने की प्रेरणा की और उनके भी रुपये अपने रुपयोंके साथ भिजवा दिये। इस महान् शास्त्रदानकेलिए तीनों ही सज्जन बहुत धन्यवादके पात्र हैं और उनका यह उत्तम दान-कार्य दूसरों-के लिये अनुकरणीय है। सेठ बैजनाथजीने अपनी प्रतियां अनेक स्थानोंके जिन मन्दिरोंको भिजवाई हैं। बीस प्रतियाँ एक साथ लेने वालोंको यह ग्रन्थ प्रचार की दृष्टि से १६०) की जगह १००) में दिया जाता है और २० से कम प्रतियाँ लेने वालोंको पौने मूल्य में। जो सज्जन प्रतियाँ खरीद कर उन्हें वीर सेवामन्दिरकी मार्फत ही इच्छित स्थानोंको भिजवाना चाहेंगे उन्हें प्रत्येक प्रतिके लिए बारह आनेके हिसाबसे पोष्टेज खर्च भी साथमें भेजना होगा। आशा है दानी महानुभाव और उद्यापनादि में प्रवृत्त होने वाली महिलाएं दोनों ही शीघ्र इस महान शास्त्रके दानकी ओर अपना लक्ष्य केन्द्रित करेंगे।

पुरातन-जैनवाक्य-सूची तय्यार

पुरातन-जैन वाक्य-सूची (प्राकृतपद्यानुक्रमणी, जो वर्षोंसे प्रेसादिकी झंझटोंके कारण खटाईमें पड़ी हुई थी और जिसको देखने के लिए विद्वान लोग बहुत उत्कंठित हो रहे थे, वह अब छपकर तय्यार हो चुकी है। बाइंडिंगका काम समाप्त होते ही सबसे पहले वह उन ग्राहकोंको उसी १२)रु० मूल्यमें अपना पोस्टेज लगाकर भेजी जावेगी जिनका मूल्य पेशगी आचुका है। शेषको पोस्टेजके अलावा १५)रु में दी जावेगी और उसमें भी उन ग्राहकोंको प्रधानता दी जावेगी जिनके नाम पहलेसे ग्राहक-श्रेणीमें दर्ज होचुके हैं। चूँकि इस ग्रन्थकी कुल ३०० प्रतियाँ ही छपी है अतः जिन्हें लेना हो शीघ्र ही अपना आर्डर भेजना चाहिये—विलम्ब करनेसे बादको यह चीज नहीं मिल सकेगी। ग्रन्थ ३६ पौंडके उत्तम कागज पर छपा हैं, बड़े साइजके ५२४ पृष्ठोंको लिए हुए हैं मुख्तारश्री जुगलकिशोरजीकी गवेषणापूर्ण महत्वकी १७० पृष्ठकी प्रस्तावनासे अलंकृत है, प्रस्तावनाका उपयोग बढ़ानेके लिए १० पेजके कोषकी नाम-सूची भी साथमें लगी हुई है। इसके अलावा अंग्रेजी में डाक्टर ए० एन० उपाध्ये एम० ए० कोल्हापुरकी प्रस्तावना (Introduction) और डा० कालीदास नाग एम० ए० कलकत्ता के प्राक्कथन (Foreword) से भी विभूषित है।

मैनेजर 'वीरसेवामन्दिरग्रन्थमाला' ७/३३ दरियागंज, देहली।

ॐ अर्हम्

अनेकान्त

विश्व तत्त्व-प्रकाशक — वस्तुतत्त्व-संद्योतक

वार्षिक मूल्य ५) — इस किरणका मूल्य १)

नीतिविरोधध्वंसी लोकव्यवहारवर्तकः सम्यक्।
परमागमस्य बीजं भुवनैकगुरुर्जयत्यनेकान्तः॥

वर्ष १० किरण ११-१२ | वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम), ७/३३ दरियागंज, देहली ज्येष्ठ, आषाढ़ वीर-संवत् २४७६, विक्रम-संवत् २००७ | मई-जून १९५०

मन्दालसा-स्तोत्र

[यह स्तोत्र जयपुरमें स्थित आमेर-शास्त्र भंडारके गुटकोंका निरीक्षण करते हुए गत जनवरी मासमें गुटका नं० ३६ परसे उपलब्ध हुआ था। यह अपने अन्तिम पद्यपर से श्रीशुभचन्द्र-निर्मित जान पड़ता है। इसमें संसारसे भयभीत एवं अध्यात्म-रसिक मन्दालसा रानीके उस स्तोत्रको समाविष्ट किया गया है जिसे वह अपने पुत्रोंको पालनेमें झुलाते आदि समय उन्हें सम्बोधन करके कहा करती थी और इस तरह उनमें अध्यात्मविषयके उच्चतम संस्कार डाला करती थी। नतीजा यह होता था कि उसके पुत्र युवावस्थाको प्राप्त होनेके पूर्वही जरासा निमित्त पाकर संसारसे विरक्त हो जाते थे और जिनदीक्षा ले लेते थे। इसके कुछ भावकी सूचना पद्य नं० ६ में की गई है। कहते हैं एक बार मन्दालसाकी सासूने बहूसे कहा कि तेरे सब पुत्र वयस्क होनेके पूर्व ही दीक्षित हो जाते हैं ऐसा तू कोई गुरुमंत्र उन्हें सिखाती है तब इस राज्यके भारको कौन संभालेगा? अन्तमें मन्दालसाने कहा बताते हैं कि 'अबकी बार जो पुत्र होगा उसे ऐसी ही शिक्षा दी जायेगी जिससे वह राज्यके भारको संभालेगा' और वैसाही हुआ। इससे शुद्धान्तःकरण-द्वारा

डाले हुए संस्कारोंका कोमल तथा निर्विकारहृदय बच्चों पर क्या और कितना असर होता है उसे सहृदय पाठक सहज ही अनुभव कर सकते हैं। अस्तु, स्तोत्र बड़ा सुन्दर, ललित एवं अध्यात्म-रससे परिपूर्ण है। प्रारंभिक अष्टकके प्रत्येक पद्यमें मन्दालसा अपने पुत्रको सम्बोधन करके उसे उसके शुद्धस्वरूपका बोध कराती हुई उसकी अन्तरात्माको जगाती है और फिर मान-मायादिकके त्यागकी प्रेरणा करती हुई कहती है कि 'हे पुत्र मन्दालसाके वाक्य की उपासना करो अर्थात् मेरे कहेको पूर्णतः मानो'। आशा है अनेकान्तके पाठकोंको यह स्तोत्र रुचिकर होगा। —सम्पादक]

(उपजात्यादि वृत्त)

सिद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरंजनोऽसि संसार-माया परिवर्जितोऽसि ।
शरीर-भिन्नस्त्यज सर्वचेष्टां मन्दालसा-वाक्यमुपासि पुत्र ॥१॥
ज्ञाताऽसि दृष्टाऽसि परात्मरूपोऽखण्डस्वरूपोऽसि गुणालयोऽसि ।
जितेन्द्रियस्त्वं त्यज मान-मुद्रां मन्दालसा-वाक्यमुपासि पुत्र ॥२॥
शान्तोऽसि दान्तोऽसि विनाशहीनः सिद्धस्वरूपोऽसि कलङ्कमुक्तः ।
ज्योतिस्वरूपोऽसि विमुञ्च मायां मन्दालसा-वाक्यमुपासि पुत्र ।३॥
एकोऽसि मुक्तोऽसि चिदात्मकोऽसि चिद्रूपभावोऽसि चिरन्तनोऽसि ।
अलक्षभावो जहि देह-मोहं मन्दालसा-वाक्यमुपासि पुत्र ॥४॥
निःकाम-धामाऽसि विकर्मरूपो रत्नत्रयात्माऽसि परंपवित्रः ।
वेत्ताऽसि चेताऽसि विमुञ्च कामं मन्दालसा-वाक्यमुपासि पुत्र ॥५॥
प्रमाद-मुक्तोऽसि सुनिर्मलोऽसि अनन्तबोधादिचतुष्टयोऽसि ।
ब्रह्माऽसि रक्ष स्वचिदात्मरूपं मन्दालसा-वाक्यमुपासि पुत्र ॥६॥
कैवल्यभावोऽसि निवृत्त-योगो निरामयो ज्ञात-समस्त-तत्वः ।
परात्मवृत्तिं स्मर चित्स्वरूपं मन्दालसा-वाक्यमुपासि पुत्र ॥७॥
चैतन्यरूपोऽसि विमुक्त-भारो भावादिकर्माऽसि समग्र-वेदी ।
ध्याय प्रकामं परमात्मरूपं मन्दालसा-वाक्यमुपासि पुत्र ॥८॥
इत्यष्टकैर्या पुरतस्तनूजान् विबोध्य नाथं नरनाथ-पूज्यम् ।
प्राव्राज्य भीता भव-भोग-भावात् स्वकैः सदा सा सुगतिं प्रपेदे ॥९॥
इत्यष्टकं पापपराङ्मुखो यो मन्दालसाया भणति प्रमोदात् ।
स सद्गतिं श्रीशुभचन्द्रभासि समाप्य निर्वाण-पदं प्रगच्छेत् ॥१०॥

इति मन्दालसा-स्तवनम्

ऐलक-पद-कल्पना

(११ वीं प्रतिमाका इतिहास)

[सम्पादकीय]

दिगम्बर जैनसमाजमें श्रावकोंकी ११ वीं प्रतिमाके आजकल दो भेद कहे जाते हैं, एक 'क्षुल्लक' और दूसरा 'ऐलक'। ऐलक सर्वोत्कृष्ट समझा जाता है और उसके साथ ही श्रावकधर्मकी परिपूर्णता मानी जाती है। 'ऐलक' पदका प्रयोग भी अब दिनों दिन बढ़ता जाता है। यह शब्द प्रायः जैनियोंकी जबान पर चढ़ा हुआ है और जैनसमाचारपत्रोंमें भी इसका खूब व्यवहार होता है। परन्तु उत्कृष्ट श्रावकके लिए 'ऐलक' ऐसा नाम निर्देश कौनसे आचार्य महाराजने किया है, कब किया है, किस भाषाका यह शब्द है और इसका क्या अर्थ होता है, इत्यादि बातोंका परामर्श करनेपर भी कहीं कुछ पता नहीं चलता। विक्रमकी १७ वीं शताब्दीसे पूर्वके बने संस्कृत और प्राकृतके सभी प्राचीन ग्रन्थ इस विषयमें मौन जान पड़ते हैं। किसीमें 'ऐलक' शब्दका नामोल्लेख तक नहीं मिलता। संस्कृत और प्राकृत भाषाका यह कोई ऐसा शब्द भी मालूम नहीं होता, जिसका व्युत्पत्तिपूर्वक कुछ प्रकृत अर्थ किया जाय। वास्तवमें, खोज करनेसे, ऐलक-पदकी कल्पना बहुत पीछेकी और बहुत कुछ आधुनिक जान पड़ती है। अतः आज मैं इसी विषयके अपने अनुसंधानको अपने पाठकोंके सामने रखता हूँ आशा है कि विज्ञ पाठक इसपर भले प्रकार विचार करेंगे। और साथ ही, ११ वीं प्रतिमाके स्वरूपमें समय-समयपर जो फेरफार हुआ है, अथवा आचार्य-आचार्यके मतानुसार उसमें जो कुछ विभिन्नता पाई जाती है उसे भी ध्यानमें रक्खेंगे।

(१) भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यके चारित्त पाहुड (चारित्रप्राभृत) ग्रन्थमें यद्यपि एक गाथा द्वारा * ग्यारह प्रतिमाओंके नाम पाये जाते हैं परन्तु उनके स्वरूपादिकका कोई वर्णन उक्त ग्रन्थमें नहीं है और न आचार्यमहोदयके किसी दूसरे उपलब्ध ग्रन्थमें ही इन प्रतिमाओंके स्वरूपका निर्देश है। हाँ, सुत्तपाहुड (सूत्रप्राभृत) ग्रन्थमें एक गाथा इस प्रकारसे जरूर पाई जाती है—

> दुइयं च वुत्तलिंगं उक्किट्ठ अवरसावयाणं च।
> भिक्खं भमेइ पत्तो समिदीभासेण मोणेण ॥२१॥

इसमें मुनिके बाद दूसरा उत्कृष्ट लिंग उत्कृष्ट श्रावकका—गृहत्यागी या अगृहस्थ श्रावकका—बतलाया गया है और उसके स्वरूपका निर्देश इस प्रकारसे किया गया है कि, वह पात्र हाथमें लेकर समिति-सहित मौनपूर्वक भिक्षाके लिए भ्रमण करता है। यह उत्कृष्ट श्रावक ११ वीं प्रतिमाके धारकके सिवा दूसरा कोई मालूम नहीं होता, और इसलिए यह स्वरूप उसीका जान पड़ता है। परन्तु इस सब कथनसे ११ वीं प्रतिमावालेके लिए 'उद्दिष्टविरत' और 'उत्कृष्ट श्रावक' के सिवाय दूसरे किसी नामकी उपलब्धि नहीं होती।

(२) स्वामी समन्तभद्राचार्यने अपने रत्नकरण्डक नामके उपासकाध्ययन (श्रावकाचार)में,

---

* वह गाथा इस प्रकार है—

> दंसणवयसामाइय पोसह सच्चित्तरायभत्तेयं।
> बंभारंभपरिग्गह अणुमण उद्दिट्ठदेसविरदेदे ॥२१॥

यही गाथा वसुनन्दिश्रावकाचारके शुरूमें नम्बर ४ पर पाई जाती है और गोम्मटसारके संयममार्गणाधिकारमें भी यही गाथा दी हुई है।

श्रावकके ग्यारह पदों (प्रतिमाओं) का वर्णन करते हुए, ११ वीं प्रतिमाके धारक श्रावकका जो स्वरूप वर्णन किया है, वह इस प्रकार है—

गृहतो मुनिवनमित्वा गुरूपकंठे व्रतानि परिगृह्य।
भैक्ष्याशनस्तपस्यन्नुत्कृष्टश्चेलखण्डधरः ॥ १४७ ॥

अर्थात्— घरको छोड़कर मुनि-वनमें जाकर और गुरूके निकट व्रतोंको ग्रहण करके, जो तपस्या करता हुआ भिक्षा-भोजन करता है और खण्ड वस्त्रका धारक है वह उत्कृष्ट श्रावक है।

इसमें ११ वीं प्रतिमावाले श्रावकको 'उत्कृष्ट श्रावक'के नामसे निर्दिष्ट किया है। चेलखण्डधारी या खण्डवस्त्रधारी नामकी भी कुछ उपलब्धि होती है, और उसके लिए १ घर छोड़कर मुनिवन (तपोवन) को जाना, २ वहाँ गुरुके निकट व्रतोंका ग्रहण करना, ३ भिक्षाभोजन करना, ४ तपस्या करना और ५ खण्ड वस्त्र रखना, ये पाँच बातें जरूरी बतलाई है।

(३) भगवज्जिनसेनप्रणीत आदिपुराणमें, यद्यपि, कहीं भी ग्यारह प्रतिमाओंका कथन नहीं है परन्तु उसमें गर्भान्वय और दीक्षान्वय नामकी क्रियाओंमें 'गृहत्याग' क्रियाके बाद और 'जिनरूपता' क्रियासे पहले 'दीक्षाद्य' नामकी जो क्रिया वर्णन की है उसका अभिप्राय ११ वीं प्रतिमाके आचरणसे ही जान पड़ता है। उसमें भी घर छोड़नेके बाद तपोवनको जाना लिखा है और ऐसे तपस्वीके लिए एक शाटक (वस्त्र) धारी होनेका विधान किया है। भिक्षा-भोजनादिकका शेष कथन उसके स्वरूपमें ही आ जाता है यथा—

त्यक्तागारस्य सद्दृष्टेः प्रशांतस्य गृहीशिनः।
प्राग्दीक्षोपयिकात्कालादेकशाटकधारिणः ॥
यत्पुरश्चरणं दीक्षाग्रहणं प्रतिधार्यते।
दीक्षाद्यं नाम तज्ज्ञेयं क्रियाजातं द्विजन्मनः ॥

—पर्व ३८ श्लो० १५८,१५९

त्यक्तागारस्य तस्यातस्तपोवनमुपेयुषः।
एकशाटकधारित्वं प्राग्वद्दीक्षाद्यमिष्यते ॥

—पर्व ३९ श्लो० ७७

इसके सिवाय, आदिपुराणमें, उन विद्याशिल्पोपजीवी मनुष्योंके लिए, जो अदीक्षार्ह (मुनिदीक्षाके अयोग्य) कुलमें उत्पन्न हुए हैं, उपनीति आदि संस्कारोंका निषेध करते हुए, जिस उचित लिंगका विधान किया है वह 'एकशाटक-धारी' होना है और उसका संकेत ११ वीं प्रतिमाके आचरणकी तरफ ही पाया जाता है, यथा—

अदीक्षार्हे कुले जाता विद्याशिल्पोपजीविनः।
एतेषामुपनीत्यादि- संस्कारो नाभिसम्मतः ॥
तेषां स्यादुचितं लिंग स्वयोग्यव्रतधारिणां।
एकशाटकधारित्वं संन्यासमरणावधि ॥

—पर्व ४० श्लो० ७०,७१।

आदिपुराणके इस कथनसे यह ध्वनि निकलती है कि ११ वीं प्रतिमाके आचरणका अनुष्ठान करनेवालेको उस समय— ९वीं शताब्दीमें—'एकशाटकधारी' या एक वस्त्रधारी भी कहते थे—वह इस नामसे संलक्षित होता था। स्वामी समन्तभद्रने उसे ही 'चेलखण्डधारी' लिखा है।

(४) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षामें ११ वीं प्रतिमाका स्वरूप इस प्रकारसे पाया जाता है—

जो णवकोडिविसुद्धं भिक्खायरणेण भुंजदे भोज्जं
जायणरहियं जोग्गं उद्दिट्ठाहारविरओ सो ॥ ३९० ॥

अर्थात्—जो श्रावक नवकोटिविशुद्ध (मन-वचन-काय और कृतकारित-अनुमोदनाके दोष से रहित ऐसे शुद्ध) और योग्य आहारको बिना किसी याचनाके भिक्षा-द्वारा ग्रहण करता है वह 'उद्दिष्टाहारविरत' नामका श्रावक है※।

※ ब्र० शीतलप्रसादने अपने 'गृहस्थधर्म' में स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी टीकाका, जो कि शुभचन्द्र भट्टारकद्वारा वि० स० १६१३ में बनकर समाप्त हुई है, एक अंश उद्धृत किया है और वह अंश इसी गाथाके टीका-रूपसे है। उसके अन्तमें दो पद्य निम्न प्रकारसे दिये हैं—

एकादशके स्थाने ह्युत्कृष्टः श्रावको भवेद्द्विविधः।
वस्त्रैकधरः प्रथमः कौपीनपरिग्रहोऽन्यस्तु ॥

यहां भिक्षाभोजनके तीन खास विशेषण दिये गये हैं - १ नवकोटि-विशुद्ध, २ याचनारहित और ३ योग्य, जो समन्तभद्र-प्रतिपादित स्वरूपमें नहीं पाये जाते। यद्यपि 'योग्य' विशेषणका वहां स्वरूपसे समावेश हो जाता है, परन्तु 'नवकोटि-विशुद्ध' और 'याचनारहित' ये दो विशेषण ऐसे हैं जो खास तौरसे उल्लेख किये जानेपर हो समझमें आ सकते हैं। और इसलिए इन दो विशेषणोंका यहां खास तौरसे उल्लेख हुआ है, यह कहना होगा। साथ हो, इस प्रतिमाके धारकका 'उद्दिष्टाहार-विरत' नामसे उल्लेख किया गया है और उसके लिए खण्डवस्त्र या एक-दो वस्त्र रखने आदिका कोई नियम नहीं दिया गया।

(५) चारित्रसार ग्रन्थमें, श्रीमच्चामुण्डराय, जो कि वि० की ११ वीं शताब्दीके विद्वान् हैं, इस प्रतिमाके धारकको 'उद्दिष्टविनिवृत्त' नामसे उल्लेख करते है और उसका स्वरूप इस प्रकार देते हैं—

"उद्दिष्टविनिवृत्तः स्वोद्दिष्टपिंडोपधिशयनवसनादेर्विरतः सन्नेकशाटकधरो भिक्षाशनः पाणिपात्रपुटेनोपविश्यभोजी रात्रिप्रतिमादितपःसमुद्यत आतापनादियोगरहितो भवति।"

अर्थात्— जो अपने निमित्त तय्यार किये हुए भोजन, उपधि, शयन और वस्त्रादिकसे विरक्त रहता है—उन्हें ग्रहण नहीं करता—एक वस्त्र रखता है, भिक्षाभोजन करता है, कर-पात्रमें आहार लेता है, बैठकर भोजन करता है, रात्रिप्रतिमादि तपश्चरणमें उद्यमी रहता है और आतापनादि योगसे वर्जित होता है, वह 'उद्दिष्ट-विनिवृत्त' नामका श्रावक कहलाता है।

इस स्वरूपमें, स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी अपेक्षा, उद्दिष्टाहारके साथ १ उद्दिष्ट उपधि, २ उद्दिष्ट शयन और ३ उद्दिष्ट वस्त्रादिकके त्यागका विधान अधिक किया गया है और शायद इसीसे इस पदवी (प्रतिमा) धारकका नाम 'उद्दिष्टाहारविरत' न रखकर 'उद्दिष्टविनिवृत्त' रक्खा गया है। भिक्षाशनको छोड़कर और सब विशेषण भी यहां स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षासे अधिक निर्दिष्ट हुए हैं। परन्तु उनमें एक वस्त्रधारी होना और रात्रिप्रतिमादि तपश्चरणमें उद्यमी रहना, ये दो विशेषण स्वामिसमन्तभद्र-प्रतिपादित 'चेलखंडधर' और 'तपस्यन्' विशेषणोंके साथ मिलते जुलते हैं। हाँ, इतना जरूर है कि स्वामी समन्तभद्राचार्यने जिस तपश्चरणका सामान्यरूपसे उल्लेख किया है, उसके यहाँ दो भेद दिये गये हैं—एक रात्रिप्रतिमादि-रूप और दूसरा आतापनादि-योगरूप। पहले का विधान और दूसरेका निषेध किया गया है। एक बात यहाँ और भी बतला देनेके योग्य है और वह यह है कि इतने अधिक विशेषणोंका प्रयोग करनेपर भी भिक्षाभोजन के साथ स्वामिकार्तिकयके 'याचनारहित' विशेषणका उल्लेख यहां नहीं किया गया है। सम्भव है कि ग्रन्थकर्ताको इस प्रतिमाधारी-के लिए यह विशेषण इष्ट न हो। आगे भी कितने ही आचार्यों तथा विद्वानोंको यह विशेषण इष्ट नहीं रहा है, और उन्होंने साफ तौरसे इस प्रतिमाधारीके लिए याचनाका विधान किया है।

(६) श्रीअमितगति आचार्य अपने 'सुभाषित-रत्नसंदोह' नामक ग्रन्थमें, जो कि वि० सं १०५० में बनकर समाप्त हुआ है, लिखते हैं कि—

स्वनिमित्तं त्रिधा येन कारितोऽनुमतः कृतः।
नाहारो गृह्यते पुंसा त्यक्तोद्दिष्टः स भण्यते ॥८३॥

अर्थात्— जो मनुष्य मन-वचन-कायद्वारा अपने निमित्त किये हुए, कराये हुए या अनुमोदन किये हुए, भोजनको ग्रहण नहीं करता है (नवकोटि-विशुद्ध भोजन लेता है) वह

कौपीनोऽसौ रात्रिप्रतिमा-योगं करोति नियमेन।
लोचं पिच्छं धृत्वा भुंक्ते ह्युपविश्य पाणिपुटे॥

इन पद्योंमें जो कथन किया गया है वह मूल गाथाके कथनसे अतिरिक्त है और उसे टीकाकारने दूसरे विद्वानोंके कथनानुसार लिखा है ऐसा समझना चाहिए। इसी तरह पर टीकामें कुछ और भी विशेष पाया जाता है।

'त्यक्तोद्दिष्ट' नामका श्रावक कहलाता है।

'उपासकाचार'में भी आपने प्राय: ऐसा ही स्वरूप वर्णन किया है*। साथ ही, एक स्थानपर उसे 'उत्कृष्ट श्रावक' लिखकर उसके कुछ विशेष कर्तव्यों-का भी उल्लेख किया है, जो सामायिकादि षडावश्यक क्रियाओंके अतिरिक्त निम्न प्रकार हैं—

वैराग्यस्य परां भूमिं संयमस्य निकेतनं।
उत्कृष्टः कारयत्येव मुण्डनं तुण्डमुण्डयोः ॥७३॥
केवलं वा सवस्त्रं वा कौपीनं स्वीकरोत्यसौ।
एकस्थानान्नपानीयो निन्दागर्हापरायणः ॥७४॥
सधर्मलाभशब्देन प्रतिवेश्म सुधोपमां।
सपात्रो याचते भिक्षां जरामरणसूदनीम् ॥७५॥

—परि० ८

इन कर्त्तव्योंमें पहला कर्त्तव्य है मुख और सिर-के बालोंका मुण्डन कराना (क्षौर कराना, लौंच करना नहीं) दूसरा, केवल कौपीन (लंगोट) या वस्त्र-सहित कौपीनका धारण करना, तीसरा एक स्थान पर (बैठकर) अन्न जल ग्रहण करना (भोजन करना), चौथा अपनी निन्दा-गर्हासे युक्त रहना और पाँचवां कर्तव्य है पात्र हाथमें लेकर प्रत्येक घर से 'धर्म-लाभ' ‡ शब्दके साथ भिक्षा मांगना।

अमितगतिके इस सम्पूर्ण कथनसे ११ वीं प्रतिमा-वालेके लिए 'त्यक्तोद्दिष्ट' 'उद्दिष्टवर्जी' और 'उत्कृष्ट श्रावक' इन नामोंकी उपलब्धि होती है। और साथ ही यह मालूम होता है कि इस स्वरूप-कथनमें नवकोटि-विशुद्ध भोजनका लेना स्वामिकार्तिकेयके कथनानुकूल है। परन्तु भिक्षाके लिए याचना करना और 'धर्मलाभ' शब्द कहना, ये बातें स्वामिकार्तिकेयके 'याचनारहित' विशेषण और श्रीकुंदकुंदाचार्यके 'मौनपूर्वक' विशेषणके साथ कोई मेल नहीं रखतीं—प्रतिकूल मालूम होती हैं। और भिक्षापात्रमें अनेक घरोंसे भिक्षा एकत्र करके उसे एक स्थानपर बैठकर खानेका जो विधान यहां किया गया है वह चामुण्डरायके 'करपात्रभोजी' विशेषणके विरुद्ध पड़ता है। चामुण्डरायके कथनसे उनका ऐसा आशय जान पड़ता है कि वे इस प्रतिमाधारीको भिक्षाके लिये घर घर फिराना नहीं चाहते, बल्कि एक ही घरपर मुनिकी तरह कर-पात्रमें आहार करादेनेके पक्षमें हैं। हाँ, इतना जरूर है कि मुनि खड़े होकर आहार लेते हैं और इस प्रतिमाधारीके लिए चामुंडरायने बैठकर भोजन करनेका विधान किया है। अस्तु; कुछ भी हो, परन्तु यह बात श्रीकुंदकुंदाचार्यके 'भिक्खं भमेइ पत्तो' (पात्र हाथमें लेकर भिक्षाके लिये भ्रमण करता है) इस विशेषणके विरुद्ध नहीं पड़ती। इन सब बातोंके सिवा यहां मुख और मस्तकके केशोंका मुण्डन करानेकी बात खास तौर-से कही गई है और केवल कौपीन रखने या वस्त्र-सहित कौपीन रखनेका कथन विकल्परूपसे किया गया है। उसकी वजहसे प्रतिमाके दो भेद नहीं किये गये, यह बात खास तौरसे ध्यानमें रक्खे जानेके योग्य है। बाकी उद्दिष्ट उपधि-शयन-वस्त्रादिकके त्याग आदि कितने ही विशेषणोंका यहां उल्लेख नहीं किया गया, यह स्पष्ट ही है।

(७) श्रीनन्दनन्द्याचार्यके शिष्य श्रीगुरुदासाचार्यका बनाया हुआ 'प्रायश्चित्त-समुच्चय' नामका एक प्राचीन ग्रन्थ है, जिसपर श्री-नंदिगुरुने एक संस्कृत टीका भी लिखी है और इसलिए जो विक्रमकी ११ वीं शताब्दीसे पहिलेका बना हुआ है। इस ग्रन्थकी चूलिकामें, श्रावक-प्रायश्चित्तका वर्णन करते हुए, उत्कृष्ट श्रावकके लिए (११ वी प्रतिमाधारीके वास्ते) 'क्षुल्लक' शब्दका ही प्रयोग किया गया है, 'ऐलक' का नहीं; और उसके स्वरूप-

* यो बंधुराबंधुरतुल्यचित्तो गृह्णाति भोज्यं नवकोटिशुद्धं।
उद्दिष्टवर्जी गुणिभिः स गीतो विभीलुकः संसृतिजातुधान्याः
—परि० ७श्लो०७७

‡ श्वेताम्बरोंके यहां ११ वीं प्रतिमावालेके वास्ते इस शब्दके साथ भिक्षा मांगनेका निषेध है ऐसा योगशास्त्रकी गुजराती टीकासे मालूम होता है।

का कुछ निदर्शन भी इस प्रकारसे किया है—

क्षुल्लकेष्वेकं वस्त्रं नान्यत्स्थितभोजनं।
आतापनादियोगोऽपि तेषां शश्वन्निषिध्यते ॥५५॥
क्षौरं कुर्याच्च लोचं वा पाणौ भुंक्तेऽथ भाजने।
कौपीनमात्रतन्त्रोऽसौ क्षुल्लकः परिकीर्तितः ॥५६॥

अर्थात्—क्षुल्लकोंके लिए एक वस्त्रका ही विधान है, दूसरेका नहीं। खड़े होकर भोजन करनेका विधान नहीं है और आतापनादि योगका अनुष्ठान उनके लिए सदा निषिद्ध है। वे क्षौर कराओ (हजामत बनवाओ) या लौंच करो, हाथमें भोजन करो या बर्तन (पात्र) में और चाहे कौपीन मात्र रक्खो, उन्हें 'क्षुल्लक' कहते हैं।

यहाँ यह बात बहुत स्पष्ट शब्दोंमें बतलाई गई है कि उस उत्कृष्ट श्रावकको भी 'क्षुल्लक' ही कहते हैं जो १ लौंच करता है, २ करभोजी है और ३ कौपीन मात्र रखता है। उसके लिए क्षौर करानेवाले, पात्र-भोजी और एकवस्त्र-धारक उत्कृष्ट श्रावकसे भिन्न किसी दूसरे नामकी कोई जुदी कल्पना नहीं है। और इसलिए आजकल प्रायः इन्हीं तीन गुणोंके कारण 'ऐलक' नामकी जो जुदी कल्पना की जाती है, वह पीछेकी कल्पना जरूर है। कितने पीछेकी, यह आगे चलकर मालूम होगा। यहांपर इतना और बतला देना जरूरी है कि श्रीगुरुदासाचार्यके मतानुसार क्षुल्लक या तो एक वस्त्रका धारक होता है और या कौपीन मात्र रखता है। परन्तु वस्त्रसहित कौपीन अर्थात् दोनों चीजें नहीं रख सकता। और यह बात अमितगतिके कथनके विरुद्ध पड़ती है। वे वस्त्र-सहित कौपीनका भी विधान करते हैं; और कौपीन-रहित खाली एक वस्त्रका तो विधान ही नहीं करते। इसी तरह लौंच करने और करभोजी होनेका कथन भी उनके कथनके साथ सामंजस्य नहीं रखता।

यहां तकके इस संपूर्ण कथनसे इस बातका पता चलता है कि उत्कृष्ट श्रावक, खंडवस्त्रधारी, एकवस्त्रधारी, कौपीनमात्रधारी, उद्दिष्टाहार-विरत, उद्दिष्टविनिवृत्त और त्यक्तोद्दिष्ट, इन सबका आशय एक क्षुल्लकसे ही है—क्षुल्लक पदके ही ये सब नामान्तर हैं। यह दूसरी बात है कि इस पद-की कुछ क्रियाओंमें आचार्योंमें परस्पर मतभेद पाया जाता है; परन्तु उन सबका अभिप्राय इसी एक पदके निदर्शन करनेका जान पड़ता है। साथ ही यह भी मालूम होता है कि कुछ वैकल्पिक (Optional) आचरणोंकी वजहसे उस समय तक इस पदके (प्रतिमाके) दो भेद नहीं हो गये थे। परन्तु अब आगेके उल्लेखोंसे पाठकोंको यह मालूम होगा कि बादको अथवा कुछ पहले किसी अज्ञात नामा आचार्यके द्वारा इस प्रतिमाके साफ तौरसे दो भेद कर दिये गये हैं और उन भेदोंमें उक्त वैकल्पिक आचरणोंको बांटा गया है।

(८) विक्रमकी प्रायः बारहवीं शताब्दी के विद्वान श्रीवसुनन्दी आचार्य, अपने उपासकाध्ययनमें*, ११ वीं प्रतिमाके धारकको 'उत्कृष्ट श्रावक' बतलाते हुए उसके दो भेद करते हैं, प्रथम और द्वितीय। आपके मतानुसार प्रथमोत्कृष्ट श्रावक एक वस्त्र रखता है और द्वितीय कौपीनमात्र; पहला कैंची या उस्तरेसे बालोंको कटाता है और दूसरा नियमपूर्वक लौंच करता है अर्थात् उन्हें हाथसे उखेड़ता है; स्थानादिकके प्रतिलेखनका कार्य पहला (वस्त्रादिक) मृदु उपकरणसे लेता है, परन्तु दूसरा उसके लिए नियमसे (मुनिवत्) पिच्छी रखता है। प्रथमोत्कृष्टके लिये इस बातका कोई नियम नहीं है कि वह पात्रमें ही भोजन करे या हाथमें, वह अपने इच्छानुसार चाहे जिसमें भोजन कर सकता है। परन्तु द्वितीयोत्कृष्टके लिये कर-पात्रमें अर्थात् हाथ-में ही भोजन करनेका नियम है। इसके सिवाय, बैठकर भोजन करना, भिक्षाके लिये श्रावकके घर जाना और वहाँ आँगनमें स्थित होकर 'धर्मलाभ'

* देखो 'वसुनन्दीश्रावकाचार' नामसे जैनसिद्धान्त प्रचारक मण्डली देवबन्दकी तरफसे सं० १९६६ की छपी प्रति।

शब्दके साथ स्वयं भिक्षा मांगना, भिक्षाके मिलने या न मिलनेपर अदीनवदन होकर शीघ्र वहांसे निकलना और फिर दूसरे घरमें जाकर मौनपूर्वक अपने आशयको प्रगट करना, इत्यादि नियम दोनों के लिये समान हैं। साथ ही दिनमें प्रतिमा-योग धरना, वीरचर्या करना, त्रिकालयोग (आतापनादिक) का अनुष्ठान करना, इत्यादि बातोंका आपने दोनोंको ही अनधिकारी बतलाया है। इस सब आशयकी गाथायें इस प्रकार हैं—

एयारसम्मि ठाणे उक्किट्ठो सावओ हवे दुविहो।
वत्थेक्कधरो पढमो कोवीणपरिग्गहो विदिओ ॥३०१॥
धम्मिलाणं चयणं करेइ कत्तरिछुरेण वा पढमो।
ठाणाइसु पडिलेहइ मिदुवयरणेण पयडप्पा ॥३०२॥
भुंजेइ पाणिपत्तम्मि भायणे वा सुई समुवइट्ठो।
उववासं पुण णियमा चउव्विहं कुणइ पव्वेसु ॥३०३
पक्खालिऊण पत्तं पविसइ चरियाय पंगणे ठिच्चा।
भणिऊण धम्मलाहं जायइ भिक्खं सयं चेव ॥३०४
सिग्घं लाहालाहे अदीणवयणो णियत्ति ऊण तओ।
अण्णम्मि गिहे वच्चइ दरिसइ मौणेण कायं वा ३०५

× × +

एवं भेओ होई णवर विसेसो कुणिज्ज णियमेण।
लोचं धरिज्ज पिच्छं भुंजिज्जो पाणिपत्तम्मि॥३११॥
दिणपडिम वीरचया तियालजोगेसु णत्थि अहियारो
सिद्धतरहस्साणवि अज्झयणं देसविरदाणं ॥३१२॥

यहां पर इतनी बात और बतला देनेके योग्य है कि वसुनन्दि आचार्यने इस प्रतिमाके दो भेद करनेपर भी उन भेदोंके लिये क्षुल्लक, ऐलक जैसे जुदा जुदा कोई दो खास नामोंका निर्देश नहीं किया, बल्कि उनका यह भेद करना एक कक्षाके कोर्सको दो सालोंमें विभाजित करनेके तौर पर है। और इसीसे, प्रथमादि शब्दोंके साथ, वे दोनोंके लिये 'उत्कृष्ट श्रावक' और 'उद्दिष्टपिंड-विरत' नामों का ही व्यवहार करते हैं। 'उद्दिष्टपिंडविरत' नाम आपने इस प्रकरणकी निम्नलिखित अन्तिम गाथा में दिया है; और उससे यह ध्वनि निकलती है कि आपको इस प्रतिमाधारीके लिए उद्दिष्ट-उपधि, उद्दिष्ट शयन और उद्दिष्ट वस्त्रादिकसे विरक्त होना शायद इष्ट नहीं है। पिंड (आहार) के लिए नवकोटि-विशुद्ध होनेका भी आपने कोई विधान नहीं किया। अस्तु, वह गाथा इस प्रकार है—

उद्दिट्ठपिंडविरओ दुवियप्पो सावओ समासेण
एयारसम्मि ठाणे भणिओ सुत्ताणुसारेण॥ ३१३॥

इस गाथा में ऊपरका सब कथन सूत्रानुसार कहा गया है, ऐसा सूचित किया है। परन्तु कौन-से सूत्रग्रंथके अनुसार यह सब कथन है, ऐसा कुछ मालूम नहीं होता, क्योंकि वसुनन्दीसे पहले के आचार्योंका इस विषयका जो कथन है, वह इस लेखमें ऊपर दिखलाया गया है। उसमें और इस कथनमें बहुत कुछ अन्तर है। यहां उस आचरणको दो भेदोंके शिकंजेमें जकड़ कर निश्चित रूप दिया गया है जिसे किसी किसी आचार्यने विकल्परूपसे कथन किया था, और उसका अनुष्ठान (संभवतः अभ्यासादिकी दृष्टि से) इस प्रतिमाधारीकी इच्छापर छोड़ा था। संभव है कि आचार्योंके पारस्परिक मतभेदका सामंजस्य स्थापित करनेके लिए यह सब चेष्टा की गई हो और यह भी सम्भव है कि जब वैकल्पिक (Optional) आचरण रूढ़ हो गये और अधिक संख्यामें क्षुल्लक लोग उनका जुदा जुदा अनुष्ठान करके अपनेको बड़ा छोटा मानने लगे, तब किसी आचार्यने जरूरत समझ कर, इस प्रतिमाको दो भागोंमें विभाजित कर दिया हो और उन्हींके कथनानुसार आचार्य-वसुनन्दीजीका यह सब कथन हो। परन्तु कुछ भी हो, इसमें संदेह नहीं कि उक्त पूर्वाचार्योंके कथनमें भेद जरूर है और दोनोंका कथन किसी एक सूत्र-ग्रंथके अनुसार नहीं हो सकता।

(६) तेरहवीं शताब्दीके विद्वान् प० आशाधर-जीने, अपने सागारधर्मामृतमें, इस प्रतिमाका जो स्वरूप निर्दिष्ट किया है वह प्रायः वसुनन्दी आचार्य के कथनसे मिलता जुलता है। हां, इतना विशेष जरूर है कि आशाधर जीने—

(क) उद्दिष्टपिंडके साथ 'अपि' शब्द लगाकर

उपधिशयनासनादिके भी त्यागका संग्रह किया है, जिसे वसुनन्दीजी छोड़ गये थे, और स्वोपज्ञ टीकामें उसका स्पष्टीकरण भी कर दिया है।

(ख) प्रथमोत्कृष्ट श्रावकके लिये कौपीन और उत्तरीय वस्त्र ऐसे दो पटोंका विधान किया है और उनका रंग सफेद दिया है, जब कि वसुनन्दि आचार्यने उसके लिए एक वस्त्रका ही विधान किया था और उसका कोई रंग नियत नहीं किया था।

(ग) 'वा मौनेन दर्शयित्वांगं' शब्दोंके द्वारा विकल्पसे मौनपूर्वक स्वशरीर दिखलाकर भिक्षा लेनेका भी विधान किया है, और इस तरह पर श्रीकुंदकुंदाचार्य और स्वामिकार्तिकेयके कथनोंका समुच्चय किया है, जिसे वसुनन्दी यथेष्ट रूपमें नहीं कर पाये थे।

(घ) प्रथमोत्कृष्ट श्रावकके दो भेद किये हैं—१ एकभिक्षानियम और २ अनेकभिक्षानियम। एक घर संबंधिनी भिक्षाका जिसके नियम है वह एक भिक्षानियम नामका श्रावक है। उसके लिए मुनिमार्गके अनुसार दातारके घरमें जाकर भोजन करने, भोजन न मिलने पर नियमसे उपवास करने और गुरुशुश्रूषा तथा तपश्चरणादिकको करते हुए हमेशा मुनिवनमें रहनेका विधान किया है। और अनेक भिक्षानियम नामके श्रावकके वास्ते अनेक घरोंसे उस वक्त तक भिक्षाकी याचना करते रहनेका विधान किया है जब तक कि स्वोदर-पूर्तिके योग्य भिक्षा एकत्र न हो जाय।

(ङ) द्वितीयोत्कृष्ट श्रावककी संज्ञा 'आर्य' दी है, जब कि वसुनन्दी आचार्यने इस श्रावकके लिए किसी खास संज्ञाका निर्देश नहीं किया और न दूसरे ही किसी पूर्वाचार्यने, जिनका कथन ऊपर दिया गया है, ११ वीं प्रतिमाधारी श्रावकके लिए इस संज्ञाका कोई विधान किया है; बल्कि पूज्य प्रतिष्ठितादि अर्थकी वाचक यह सामान्य संज्ञा अनेक आचार्यों द्वारा अनेक प्रकारके व्यक्तियोंके लिए व्यवहृत हुई पाई जाती है। श्रीसमंतभद्राचार्यने तो इसे जिनेंद्र भगवान्को—तीर्थंकरोंको सम्बोधन करने तकमें प्रयुक्त किया है। यथा—

"......ममार्य देयाः शिवतातिमुच्चैः।"
"स्वमार्यनक्तंदिवमप्रमत्तवान्......।"
"......त्वया स्वतृष्णासरिदार्य शोषिता।"
—स्वयम्भूस्तोत्र

असि, मसि और कृषि आदि कर्म करनेवालोंको भी 'आर्य' कहते हैं। ऐसी हालतमें इस संज्ञासे यद्यपि यहां कोई खास विशेषत्व मालूम नहीं होता और न यह संज्ञा इस प्रतिमाधारी पुरुषके लिए कुछ रूढ ही पाई जाती है, तो भी स्त्रीलिंगमें 'आर्या' (या आर्यिका) शब्द एक साधु-वेषधारिणी स्त्रीके लिए रूढ जरूर है। संभव है कि उसी परसे और उसी दृष्टिको लेकर यहां पुल्लिंगमें इस संज्ञाका प्रयोग किया गया हो। परन्तु कुछभी हो, इन सब विकल्पोंको छोड़कर यह तो स्पष्ट ही है कि पं० आशाधरजीने इस द्वितीयोत्कृष्ट श्रावकको 'आर्य' नामसे नामांकित किया है, 'ऐलक' नामसे नहीं। अस्तु; पं० आशाधरजीके वे सब पद्य, जो इस विषयमें वसुनन्दी आचार्यकी ऊपर उद्धृत की हुई गाथाओंके साथ समानता या असमानता रखते हैं, इस प्रकार हैं—

तत्तद्व्रतास्त्रनिर्भिन्नश्वसनमोहमहाभटः।
उद्दिष्टं पिंडमप्युज्झेदुत्कृष्टः श्रावकोऽन्तिमः॥३७
स द्वेधा प्रथमः श्मश्रुमूर्ध्वजानपनाययेत्।
सितकौपीनसंव्यानः कर्तर्या वा क्षुरेण वा॥३८॥
स्थानादिषु प्रतिलिखेत् मृदूपकरणेन सः।
कुर्यादेव चतुष्पर्व्यामुपवासं चतुर्विधम्॥३६॥
स्वयं समुपविष्टोऽद्यात्पाणिपात्रेऽथ भाजने।
स श्रावकगृहं गत्वा पात्रपाणिस्तदङ्गणे॥४०॥
स्थित्वा भिक्षां धर्मलाभं भणित्वा प्रार्थयेत वा।
मौनेन दर्शयित्वांगं लाभालाभे समोऽचिरात्॥४१
निर्गत्यान्यद्गृहं गच्छेद्भिक्षोद्युक्तस्तु केनचित्।
भोजनायार्थितोऽद्यात्तद्भुक्त्वा यद्भिक्षितं मनाक्॥४२
प्रार्थयेतान्यथा भिक्षां यावत्स्वोदरपूरणीम्।
लभेत प्रासु यत्राम्भस्तत्र संशोध्य तां चरेत्॥४३॥
× × × ×
यस्त्वेकभिक्षानियमो गत्वाऽद्यादनुमुन्यसौ।

भुक्त्यभावे पुनः कुर्यादुपवासमवश्यकम् ॥४६।
वसेन्मुनिवने नित्यं शुश्रूषते गुरूंश्चरेत् ।
तपो द्विधापि दशधा वैय्यावृत्यं विशेषतः ॥४७॥
तद्वद्द्वितीय.किंत्वार्यसंज्ञो लुञ्चत्यसौ कचान् ।
कौपीनमात्रयुग्धत्ते यतिवत्प्रतिलेखनम् ॥ ४८ ॥
स्वपाणिपात्र एवात्ति संशोध्यान्येन योजितम् ।
इच्छाकारं समाचारं मिथः सर्वे तु कुर्वते ॥४६ ॥
श्रावको वीरचर्याहः प्रतिमातापनादिषु ।
स्यान्नाधिकारी सिद्धान्तरहस्याध्ययनेऽपि च ॥५०॥

—सागा० ध० अ० ७

(१०) धर्मसंग्रहश्रावकाचारमें ❀, पं० मेधावीने, जो कि विक्रमकी १६ वीं शताब्दीके विद्वान् हैं, इस प्रतिमाका स्वरूप पं० आशाधरजीके ही कथनानुसार द्विभेद अथवा त्रिभेदरूप दिया है। इतना ही नहीं बल्कि उनके शब्दोंका प्रायः अनुसरण भी किया है। सिर्फ दो एक जगह कुछ विशेष पाया जाता है; जैसा कि (१) उद्दिष्टपिंडके साथमें आपने 'अपि' शब्दको छोड़ दिया है, जिससे ऐसा मालूम होता है कि शायद आपको उद्दिष्ट उपधि–शयनासनादिकका त्याग इष्ट नहीं था; (२) विकल्पसे मौनपूर्वक भिक्षाके कथनको न देकर उसके स्थानमें वही वसुनन्दी जैसा कथन रक्खा है, और (३) द्वितीयोत्कृष्ट श्रावकके लिए रक्त कौपीनका विधान किया है। इस ग्रन्थके सिर्फ दो चार पद्य नमूनेके तौर पर नीचे दिये जाते हैं —

दशधा धर्मास्त्रसंभिन्नश्वसन्मोहमृगाधिपः ।
पिंडमुद्दिष्टमुज्झन्स्यादुत्कृष्टः श्रावकोऽन्तिमः ॥५६॥
उत्कृष्टोऽसौ द्विधा ज्ञेयः प्रथमो द्वितीयस्तथा ।
प्रथमस्य स्वरूपं तु वच्म्यहं त्वं निशामय ॥६०॥
श्वेतैकपटकौपीनो वस्त्रादिप्रतिलेखनः ।
कर्तर्या वा क्षुरेणाऽसौ कारयेत्केशमुण्डनम् । ६१ ॥
लाभालाभे ततस्तुल्यो निर्गत्यैत्यान्यमंदिरम् ।
पात्रं प्रदर्श्य मौनेन तिष्ठेत्तत्र क्षणं स्थिरः ॥६२॥
प्रार्थयेद्यदि दाता तं स्वामिन्नत्रैव भुंक्ष्वहि ।
तदा निजाशनं भुक्त्वा पश्चात्तस्य भनेद्रुचौ । ६६॥
यस्त्वेकभिक्षो भुंजीत गत्वाऽसावनुमुन्यतः ।
तदलाभे विदध्यात्स उपवासमवश्यकम् ॥७० ॥
तथा द्वितीयः किन्त्वार्यनामोत्पाटयेत्कचान् ।
रक्तकौपीनसंग्राही धत्ते पिच्छं तपस्विवत् । ७२ ॥

—धर्मसं० श्रा०, अ० ८

(११) भावसंग्रहमें ❀ पं० वामदेव भी, जिनका अस्तित्व-समय विक्रमकी १६ वीं शताब्दी पाया जाता है, इस प्रतिमाधारीके दो भेद करते हैं—एक 'ग्रन्थसंयुक्त' और दूसरा 'कौपीनधारक'। पहलेके लिये आपने एक वस्त्रका विधान किया है, परन्तु आशाधरादिककी तरह साथमें कौपीनका नहीं। वह चौर कराता है, गुरुके निकट पढ़ता है और पांच घरोंके भिक्षा-भोजनको ग्रहण करता है। दूसरा केशलोंच करता है, कौपीन, शौचोपकरण (कमंडलु) और पिच्छीको छोड़कर उसके पास दूसरा कोई परिग्रह नहीं होता, वह मुनियोंके अनुमार्गसे चर्याको जाता है और बैठकर कर-पात्रमें आहार करता है। शेष त्रिकालयोगादिकके निषेधका कथन उसके लिए साधारण है और उसमें वीरचर्याके न होनेका कारण आपने खडवस्त्र (कौपीन) का परिग्रह बतलाया है। यथा—

नोद्दिष्टां....(सेवते) भिक्षामुद्दिष्टविरतो गृही ।
द्वेधैको ग्रंथसंयुक्तस्त्वन्यः कौपीनधारकः ॥५४५॥
आद्यो विदधते चौरं प्रावृणोत्येकवाससं ।
पंचभिक्षाशनं भुङ्क्ते पठते गुरुसन्निधौ ॥५४६॥
अन्यः कौपीनसंयुक्तः कुरुते केशलुञ्चनं ।
शौचोपकरणं पिच्छं मुक्त्वान्यग्रंथवर्जितः ॥५४७॥
मुनीनामनुमार्गेण चर्यायै सुप्रगच्छति ।
उपविश्य चरेद् भिक्षां करपात्रेऽङ्गसवृतः ॥५४८॥
नास्ति त्रिकालयोगोऽस्य प्रतिमाचार्कसम्मुखा ।
रहस्यग्रन्थसिद्धान्तश्रवणे नाधिकारिता ॥५४६॥
वीरचर्या न तस्यास्ति वस्त्रखण्डपरिग्रहात् ।
एवमेकादशो गेही सोत्कृष्टः प्रभवत्यसौ ॥५५०॥

यहाँ पंचभिक्षाशनके नियमका जो खास विधान

❀ यह हस्तलिखित ग्रन्थ देहलीके नये मन्दिरमें मौजूद है।

किया गया है वह वसुनंदी आदिके कथनोंसे अधिक और विशिष्ट है। इस विधानसे और द्वितीयोत्कृष्ट श्रावकके लिए जो मुनियोंके अनुमार्गसे चर्याको जानेका विधान है उससे ऐसी ध्वनि निकलती है कि पं० वामदेवने प्रथमोत्कृष्ट श्रावकके एक-भिक्षा नियम और अनेक-भिक्षा-नियम नामके दो भेद नहीं किये; बल्कि प्रथमोत्कृष्ट श्रावकको अनेक-भिक्षा-नियममें और द्वितीयोत्कृष्ट श्रावकको एक-भिक्षा-नियममें रक्खा है। साथ ही, इस प्रतिमाधारीको रहस्य और सिद्धान्तग्रंथोंके अध्ययनका अनधिकारी न बतलाकर उनके सुनने (तक) का अनधिकारी बतलाया है, यह विशिष्टता है।

(१२) ब्रह्मनेमिदत्त, जिन्होंने वि० सं० १५८५ में श्रीपालचरित्रकी रचना की है, अपने 'धर्मोपदेश-पीयूषवर्ष'※ नामके श्रावकाचारमें, इस प्रतिमाके दो भेद करते हुए लिखते हैं कि—

तस्य भेदद्वयं प्राहुरेकवस्त्रधर: सुधी: ।
प्रथमोऽसौ द्वितीयस्तु यती कौपीनमात्रभाक् ॥२७०॥
य: कौपीनधरो रात्रिप्रतिमायोगमुत्तमं ।
करोति नियमेनोच्चै: सदासौ धीरमानस: ॥२७१॥
लोचं पिच्छं च धत्ते भुंक्तेऽसौ चोपविश्य वै ।
पाणिपात्रेण पूतात्मा ब्रह्मचारी स चोत्तम: ॥२७२॥
कृतकारितं परित्यज्य श्रावकानां गृहे सुधी: ।
उद्दण्डभिक्षया भुंक्ते चैकवारं सयुक्तित: ॥२७३॥
त्रिकालयोगे नियमो वीरचर्या च सर्वथा ।
सिद्धान्ताध्ययनं सूर्यप्रतिमा नास्ति तस्य वै ॥२७४॥

अर्थात्—इस प्रतिमाके दो भेद इस प्रकार है—पहला एक वस्त्रका धारक, जिसे 'सुधी' कहते हैं, दूसरा कौपीनमात्रका धारक, जिसे 'यती' कहते है। जो कौपीन मात्रका धारक है वह धीरमानस, पवित्रात्मा, नियमसे उत्तम रात्रिप्रतिमायोग किया करता है, केशलोंच करता है, पिच्छी रखता है, बैठकर करपात्रमें आहार करता है और उत्तम ब्रह्मचारी होता है। और 'सुधी' नामका श्रावक कृतकारित दोषको छोड़कर उद्दण्ड भिक्षाके द्वारा, श्रावकोंके घरपर, एक बार युक्तिपूर्वक भोजन किया करता है। उसके त्रिकालयोगका नियम नहीं और वीरचर्या, सिद्धान्ताध्ययन तथा सूर्यप्रतिमाका सर्वथा निषेध है।

यहाँ इस प्रतिमाधारीके दो भेद करके उन भेदोंके जो 'सुधी' और 'यती' दो नाम दिये गये हैं, वे ऊपरके सभी विद्वानोंके कथनोंसे विभिन्न हैं। और सुधी (प्रथमोत्कृष्ट) श्रावकके लिए कृतकारित दोषको टालनेका जो विधान किया गया है, वह इस बातको सूचित करता है कि ब्रह्मनेमिदत्तके मतानुसार उसका भोजन स्वामिकार्तिकेय तथा अमितगत्यादिके अनुसार नवकोटिविशुद्ध होना है। अस्तु, ब्रह्मनेमिदत्तने इस प्रतिमाधारीके लिए 'सुधी' और 'यती' नामके दो नये नामोंका विधान करनेपर भी 'ऐलक' नामका कोई निर्देश नहीं किया, यह स्पष्ट है। साथ ही यह बात भी किसीसे छिपी नहीं है कि 'यति' अथवा 'यती'※ नाम जैन समाजमें, महाव्रतीके लिए रूढ है और इस यति-पदकी प्राप्ति ग्यारहवीं प्रतिमाका उल्लंघन कर जानेके बाद होती है। श्रीसोमदेवसूरिके निम्न वाक्यसे भी यही पाया जाता है—

पडत्र गृहिणो ज्ञेयास्त्रय: स्युर्ब्रह्मचारिण: ।
भिक्षुकौ द्वौ तु निर्दिष्टौ तत: स्यात्सर्वतो यति: ॥
—यशस्तिलक

इस वाक्यमें यह बतलाया गया है कि श्रावककी ११ प्रतिमाओंमेंसे पहले छह 'गृहस्थ' मध्यके तीन 'ब्रह्मचारी' और अन्तके दो 'भिक्षुक' कहलाते हैं और इसके बाद 'यति' संज्ञा होती है। यह दूसरी बात है कि श्रावकका 'देशयति' भी कहते हैं। परन्तु यह संज्ञा सभी दर्जोंके श्रावकोंके लिये व्यवहृत होती है ★। खालिस 'यति' संज्ञाका प्रयोग आम तौरसे महाव्रती साधुओंके लिए ही पाया जाता है।

※ यह हस्तलिखित ग्रंथ देहली के नये मंदिरके भंडारमें मौजूद है।

※ यह यतिन् शब्दकी प्रथमा विभक्तिका एकवचन-का रूप है।

★ यथा—"तच्च देशयतीनां द्विधं मूलोत्तरगुणाश्रयणात्" ।—यशस्तिलक: ।

फिर भी यहाँ देशव्रतीके लिए 'यती' संज्ञाका व्यवहार किया गया है, यह एक खास बात है, और इसमें कोई गुप्त रहस्य जरूर है। संभव है कि श्वेताम्बर यतियोंके पदस्थको लक्ष्य करके ही यहाँ इस संज्ञाका प्रयोग किया गया हो।

(१३) श्रीसोमदेव सूरिके ऊपर उद्धृत किये हुए वाक्यसे पाठकोंको यह भी मालूम होगा कि इस ११ वीं प्रतिमाधारीको 'भिक्षुक' भी कहते हैं। यद्यपि जैनधर्ममें 'भिक्षुक' नामका एक जुदा ही आश्रम माना गया है †। जो कि अन्तिम आश्रम है और जिसे सन्यस्त आश्रम भी कहते है। और इस लिए 'भिक्षुक' एक मुनिकी या महाव्रती साधुकी संज्ञा है; परन्तु सोमदेवसूरिने ११ वीं प्रतिमाधारी को भी इस नामसे उल्लेखित किया है और साथ ही १०वीं प्रतिमावालेके लिए भी इसी संज्ञाका प्रयोग किया है ‡।

ऐसी हालतमें यह एक प्रकारकी सामान्य संज्ञा होजाती है और उससे ११ वीं प्रतिमावालेका ही खास तौरसे कुछ बोध नहीं हो सकता। परन्तु खास तौर से बोध होसके या न होसके इतना जरूर मानना पड़ेगा कि शास्त्रमें ११ वीं प्रतिमावालेके लिए 'भिक्षुक' संज्ञा भी बहुत पहलेसे चली आती है, क्योंकि यशस्तिलक ग्रंथ शक सं० ८८१ (वि० सं० १०१६) में बनकर समाप्त हुआ है और उसमें उक्त संज्ञाका निर्देश है।

† यथा— ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः।
इत्याश्रमास्तु जैनानामुत्तरोत्तरशुद्धितः॥
—आदिपुराणे श्रीजिनसेनः।

‡ पं० आशाधर और पं० मेधावीने भी इस विषयमें सोमदेवसूरिका अनुसरण किया है और १० वीं तथा ११ वीं दोनों ही प्रतिमावालोंको 'भिक्षुक' लिखा है। यथा—
अनुमतिविरतोद्दिष्टविरतावुभौ भिक्षुकौ प्रकृष्टौ च।
—सागारधर्मामृत
"उत्कृष्टौ भिक्षुकौ परौ"—धर्मसंग्रहश्रावकाचार:

यहाँपर हमारे कितने ही पाठक यह जाननेके लिए जरूर उत्कण्ठित होंगे कि श्रीसोमदेव सूरिने ११ वीं प्रतिमाका क्या स्वरूप वर्णन किया है। परन्तु हमें खेदके साथ लिखना पड़ता है कि यशस्तिलक नामके आपके प्रधान ग्रंथमें, जिसमें उपासकाध्ययनक बहुत कुछ लम्बा चौड़ा वर्णन है, हमें इस प्रतिमाका कोई खास स्वरूप उपलब्ध नहीं हो सका। हाँ, एक स्थानपर * ११ प्रतिमाओंके नाम जरूर मिले हैं। परन्तु वे नाम कितने ही अंशोंमें इतने विलक्षण हैं और उनका क्रम भी इतना विभिन्न है कि वे दोनों (नाम और क्रम) ऊपर उल्लेख किये हुए आचार्यों तथा विद्वानोंके कथनसे मेल नहीं खाते। यथा—

मूलव्रतं व्रतान्यर्चा पर्वकर्माकृषिक्रिया।
दिवा नवविधं ब्रह्म सचित्तस्य विवर्जनम्॥
परिग्रहपरित्यागो भुक्तिमात्रानुमान्यता।
तद्धानौ च वदन्त्येतान्येकादश यथाक्रमं।
अवधिव्रतमारोहेत्पूर्वपूर्वव्रतस्थितः।
सर्वत्रापि समाः प्रोक्ता ज्ञानदर्शनभावनाः॥
— आश्वास नं० ८

इन पद्योंमें १ मूलव्रत, २ व्रतानि, ३ अर्चा, ४ पर्वकर्म, ५ अकृषिक्रिया, ६ दिवाब्रह्म, ७ नवविधब्रह्म ८ सचित्तविवर्जन, ९ परिग्रह-परित्याग, १० भुक्ति-मात्राहानि और ११ अनुमान्यताहानि, ऐसी ग्यारह प्रतिमाओंके नाम दिये हैं और उनका यही क्रम निर्दिष्ट किया है। साथ ही, यह भी बतलाया है कि इन सभी प्रतिमाओंमे ज्ञानदर्शनकी भावनाएं समान हैं और पूर्व पूर्व व्रतस्थित (प्रतिमाधारी) को चाहिये कि वह अवधिव्रतको आरोहण करे। परन्तु अवधिव्रतको आरोहण करना क्या है, यह कुछ समझमें नहीं आता। संभव है कि जिस प्रकार श्वेताम्बरोंके

* ऊपर उद्धृत किये हुए 'षडत्रगृहिणो' इत्यादि श्लोक-से पहले।

देखो, यशस्तिलक उत्तरखण्ड पृ० ४१०, निर्णय सागर प्रेस बम्बई द्वारा सन १९०३ का छपा हुआ।

यहां पहली प्रतिमा एक महीने तक, दूसरी दो महीने तक और तीसरी तीन महीने तक, इस प्रकार क्रमशः अवधिको बढ़ाते हुए अगली अगली प्रतिमाओंके पालनका विधान है ※ उसी तरहका अभिप्राय यहां 'अवधिव्रत' से सोमदेवसूरिका हो; अथवा इसका कुछ दूसरा ही आशय हो। परन्तु कुछ भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि प्रतिमाओंका यह सब कथन दूसरे दिगम्बर आचार्यों तथा विद्वानोंके ग्रंथों से, जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है, नहीं मिलता। यहां ग्यारहवीं प्रतिमावालेको उद्दिष्ट-त्यागी नहीं बतलाया बल्कि अनुमान्यताकी हानि करनेवाला अथवा उसका त्यागी ठहराया है, जिसका अभिप्राय पूर्वाचार्योंके कथनानुसार, दसवीं प्रतिमा (अनुमतित्याग) के विषयसे हो सकता है। दसवीं प्रतिमावालेको यहाँ भोजनकी मात्राका घटाने वाला लिखा है; परिग्रहत्यागसे पहिले 'आरम्भत्याग' नामकी प्रतिमाका कोई उल्लेख नहीं, सचित्तत्याग नामकी प्रतिमाको पांचवीं प्रतिमा करार न देकर आठवीं प्रतिमा करार दिया है। 'अकृषिक्रिया' नाम की एक नई प्रतिमा पांचवें नम्बरपर दी है और तीसरी प्रतिमा 'सामायिक' की जगह 'अर्चा' (पूजा) लिखी है। इससे पाठक सोमदेवसूरिके प्रतिमा-विषयक विभिन्न शासनका बहुत कुछ अनुभव कर सकते हैं। यह शासन प्रतिमाओंके नाम, विषय और उनके क्रमकी अपेक्षा श्वेताम्बरोंके शासनसे भी भिन्न है। श्वेताम्बर सम्प्रदायमें दसवीं प्रतिमावालेको 'उद्दिष्टत्यागी' माना है और ग्यारहवीं प्रतिमाकी संज्ञा 'श्रमणभूत' दी है। इसके सिवाय उन्होंने ५वीं प्रतिमा 'कायोत्सर्ग' (प्रतिमा), ६ठी अब्रह्म-वर्जन, ७ वीं सचित्ताहारवर्जन, ८वीं स्वयमारम्भवर्जन, और ९ वीं प्रतिमा भृतकप्रेष्यारम्भवर्जन मानी है†। बाकी दर्शन, व्रत, सामायिक और प्रोषध नामक पहली चार प्रतिमाएं उनके यहां भी उन्हीं नामोंके साथ पाई जाती हैं जिन नामोंसे भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यने अपने 'चारित्तपाहुड' ग्रन्थमें उनका उल्लेख किया है। यथा—

> दंसण-वय-सामाइय-पोसहपडिमा अबम्भ सच्चित्त।
> आरंभ-पेस-उद्दिट्ठवज्जए समणभूए य ॥१॥
>
> — उपासकदशा ※

(१४) पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, पद्मनन्दिश्रावकाचार, पूज्यपाद-उपासकाचार, रत्नमाला, पञ्चाध्यायी (उपलब्ध अंश), तत्वार्थसूत्र, तत्वार्थसार, सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक, धर्मशर्माभ्युदय आदिक बहुतसे ग्रन्थोंमें ११ प्रतिमाओंका कथन ही नहीं है और न उनमें किसी दूसरी तरह पर 'ऐलक' नामका उल्लेख पाया जाता है। गोम्मटसारके संयममार्गणाधिकारमें ११ प्रतिमाओंके नाम जरूर हैं और उनकी सूचक वही गाथा दी है जो भगवत्कुन्दकुन्दके चारित्तपाहुड ग्रन्थमें पाई जाती है। परन्तु उन प्रतिमाओंका वहाँ कोई स्वरूप निर्देश नहीं किया गया, इसलिए वहांसे भी इस विषयमें कोई सहायता नहीं मिलती।

इस तरह पर संस्कृत-प्राकृतके प्रायः उन सभी प्रसिद्ध प्रसिद्ध ग्रन्थोंको टटोलनेपर जिनमें प्रतिमाओंके कथनकी संभावना थी, हमें किसी भी ग्रन्थमें 'ऐलक' नामकी उपलब्धि नहीं हुई। हाँ 'क्षुल्लक' पदवीका उल्लेख बहुतसे ग्रन्थोंमें जरूर पाया जाता है। उदाहरणके लिए यहाँ उनमेंसे कुछका परिचय दे देना काफी होगा—

(क) श्री जिनसेनाचार्य-प्रणीत 'हरिवंशपुराण' में जो कि शक सं० ७०५ में बनकर समाप्त हुआ है,

---

※ देखो योगशास्त्रकी गुजराती टीका निर्णयसागर प्रेस बम्बईमें संवत् १९५५ की छपी हुई, पृष्ठ १३७; और उपासकदशा' का अभयदेव कृत विवरण, होर्नले साहब का, सन् १८८५ में छपाया हुआ, पृ० २६से२९।

† देखो 'उपासकदशा'का अभयदेवकृत विवरण।

※ देखो होर्नले (A. F. Rudolf Hoernle) का संस्करण सन् १८८५ का छपा हुआ पृ० १६७।

विष्णुकुमार मुनि और प्रद्युम्नकी कथाओंमें क्षुल्लक पदवीधारक श्रावकका उल्लेख है ×।

(ख) विष्णुकुमार मुनिकी कथामें, प्रभाचन्द्राचार्य और ब्रह्मनेमिदत्तने भी क्षुल्लक पदका उल्लेख किया और उस क्षुल्लक श्रावकका नाम, जो विष्णुकुमार मुनिके पास अकम्पनाचार्यादि मुनियोंके उपसर्गका समाचार लेकर गया था, 'पुष्पदन्त' दिया है※।

(ग) विक्रमकी १० वीं शताब्दीके विद्वान् श्री-देवसेनाचार्य, अपने 'दर्शनसार' ग्रन्थमें, कुमारसेन-द्वारा वि० सं० ७५३ में काष्ठासंघकी उत्पत्ति बतलाते हुए, लिखते हैं कि कुमारसेनने 'क्षुल्लक' लोगोंके लिए 'वीरचर्या' का‡ विधान किया है।

इत्थीणं पुण दिक्खा खुल्लयलोयस्स वीरचरियत्तं।
(पूरा प्रकरण देखो—गाथा नं० ३३ से ३६ तक)

दर्शनसारके इस प्रकरणसे साफ जाहिर है कि वि० संवत ७५३ से भी पहिले से क्षुल्लक पदका अस्तित्व है और उस समय मूल संघमें क्षुल्लकोंके लिए वीरचर्याका निषेध था।

(घ) यशस्तिलकमें श्रीसोमदेवसूरिभी 'क्षुल्लक' पदका उल्लेख करते हैं और लिखते हैं कि क्षुल्लकों के लिए परस्पर 'इच्छाकार' वचनके व्यवहारका विधान है। यथा—

अर्हद्रूपे नमोस्तु स्याद्विरतौ विनय-क्रिया।
अन्योन्यक्षुल्लकेष्वहमिच्छाकारवचः सदा॥
—आश्वास ८ पृ० ४०७

×क्षुल्लकःपुष्पदन्तस्तं क्व नायेति संभ्रम।प्रद्युम्नो०२०-२७ ''विकृत्य क्षौल्लकं वेष मातृमोदकभक्षणा।'' ४७-१।

※ देखो उक्त विद्वानोंके बनाये हुए 'आराधनासार-कथा' और 'आराधनाकथाकोश' नामके ग्रंथ। ब्रह्म नेमिदत्तके आराधनाकथाकोशका एक पद्य इस प्रकार है—

इति प्राह तदाकर्ण्य पृष्टोऽसौ क्षुल्लकेन च।
पुष्पदन्तेन भो देव कुत्र केषां गुरुर्जगौ॥ ६२॥

‡यह 'वीरचर्या' वही है जिसका कितने ही आचार्यों तथा विद्वानोंने ११ वीं प्रतिमाधारक उत्कृष्ट श्रावकके लिए निषेध किया है।

(ङ) वादिचन्द्र सूरि अपने 'यशोधरचरित' में, जिसका निर्माण-काल वि० संवत् १६५७ है, पहले शिक्षा (११ प्रतिमा) फिर दीक्षा (मुनिदीक्षा) और फिर भिक्षाका विधान करते हुए, एक स्थानपर लिखते हैं कि वह संसारसे भयभीत राजा अपने गुरुकी दी हुई शिक्षाको ग्रहण करके और अपने सर्व साम्राज्यको छोड़कर उस वक्त 'क्षुल्लक' हो गया और उसने गुरुकी आज्ञासे कौपीन, एक वस्त्र भिक्षा-पात्र, औरकमण्डलु धारणकर लिया। यथा—

शिक्षां श्रित्वा गुरोर्दत्तां संसारभयभीलुकः।
हित्वाहि सर्वसाम्राज्यमभवत्क्षुल्लकस्तदा॥२०१॥
भिक्षापात्रं च कौपीनमेकवस्त्रं कमण्डलुं।
अधारि वचसा साधो दयांगिक्षमया सह॥२०२॥
—सर्ग १७

इन सब अवतरणोंको ध्यानमें रखते हुए, और प्रायश्चित्तसमुच्चयकी चूलिकाके उस अवतरण पर खास तौरसे लक्ष्य देते हुए जो ऊपर नं० ७ में उद्धृत किया गया है और जिसमें साफ तौरसे क्षुल्लकका स्वरूप बतलाया गया है यही मालूम होता है कि इस समूची ११ वीं प्रतिमाके धारकका सुप्रसिद्ध और रूढ़ नाम 'क्षुल्लक' है। बाकी 'उत्कृष्ट श्रावक' यह श्रेणी (दर्जे) की अपेक्षा नाम है; उद्दिष्टाहारविरत (उद्दिष्टपिंडविरत), उद्दि-ष्टविनिवृत्त (त्यक्तोद्दिष्ट, उद्दिष्टवर्जी उद्दिष्ट-त्यागी), एक वस्त्रधारी, खंडवस्त्रधारी, कौपीनमात्र-धारी, भिक्षुक इत्यादि नाम उसके गुणप्रत्यय नाम हैं। और हमारे इस कथनका समर्थन धर्मसंग्रह श्रावकाचारकी प्रशस्तिके निम्न पद्यसे भी होता है—

यः कक्षापटमात्रवस्त्रममलं धत्ते च पिच्छं लघुः
लोचं कारयते सकृत्करपुटे भुंक्तेचतुर्थादिभिः॥।
दीक्षां श्रीनमुनी बभार नितरां सत्क्षुल्लकः साधकः
आर्यो दीपद आख्ययात्र भुवनेऽसौदीप्यतां दीपवत्

इस पद्यमें 'दीपद' नामके एक क्षुल्लकको आशीर्वाद दिया गया है जिसने श्रुतमुनिसे दीक्षा ली थी, और उसके सम्बन्धमें यह लिखा है कि वह

कौपीनमात्र वस्त्रका धारक था, हलकी पिच्छी रखता था, लौंच किया करता था और कर-पात्रमें दूसरे तीसरे दिन एक बार भोजन किया करता था। यद्यपि इन लक्षणोंसे वह साफ तौरपर द्वितीयोत्कृष्ट श्रावक जान पड़ता है, जिसके लिए पं० आशाधरजी और उक्त धर्म संग्रहश्रावकाचारके कर्ता पं० मेधावीने, अपने अपने ग्रन्थोंमें 'आर्य' संज्ञाका प्रयोग किया है, तो भी यहां उसके लिए 'आर्य' विशेषण न देकर इस बातको और भी बिलकुल साफ कर दिया है कि जिसे हम 'द्वितीयोत्कृष्ट श्रावक' अथवा 'आर्य' कहते है, वह 'क्षुल्लक' ही है—उससे भिन्न दूसरा शख्स नहीं है। और गुरुदासाचार्यने तो, अपने प्रायश्चित्तसमुच्चयकी चूलिकामें, क्षुल्लकोंके लिए यह साफ लिखा ही है कि वे क्षौर कराओ या लोच करो, हाथमें भोजन करो या बर्तनमे और कौपीन मात्र रक्खो या एक वस्त्र, परन्तु उन्हे 'क्षुल्लक' कहते हैं* ।

उनके इस कथनमें ११ वीं प्रतिमाके दोनों भेदों का, चाहे वे पहिलेसे हों या पीछेसे कल्पित किये गये हों, समावेश हो जाता है। और इसलिए यह कहना चाहिए कि आगममें उक्त दोनों प्रकारके श्रावकोंके लिए 'क्षुल्लक' संज्ञाका समान रूपसे विधान पाया जाता है।

जो लोग प्रथम भेदको ही क्षुल्लक मानते हैं और दूसरेको क्षुल्लक स्वीकार नहीं करते बल्कि उसके लिए 'ऐलक' नामकी एक संज्ञाका व्यवहार करते हैं, उनका यह आचरण जैनागमके कहाँ तक अनुकूल है उसे विज्ञ पाठक स्वयं समझ सकते हैं।

यहां पर मैं इतना और बतला देना चाहता हूँ कि धर्मसंग्रहश्रावकाचार वि० संवत् १५४१ में बनकर समाप्त हुआ है और उस वक्त 'दीपद' नामका वक्त क्षुल्लक मौजूद था। चूंकि स्वरूपकी दृष्टिसे इस क्षुल्लक और आजकलके 'ऐलक' में परस्पर कोई भेद नहीं पाया जाता, इसलिए धर्मसंग्रहश्रावकाचार-के उपर्युक्त उल्लेखसे यह नतीजा निकलता है कि जिसे हम आज 'ऐलक' कहते हैं, उसे विक्रमकी १६ वीं शताब्दीमें भी क्षुल्लक कहते थे।

* देखो इस लेखका नं० ७ पृष्ठ ३६१

(१५) अब देखना यह है कि पिछले साहित्यमें 'ऐलक' नामकी उपलब्धि कहींसे होती है या कि नहीं—अर्थात् विक्रमकी १६ वीं शताब्दीसे बादके किसी संस्कृत या प्राकृत ग्रन्थमें 'ऐलक' पदका क्या कोई उल्लेख पाया जाता है? उत्तरमें कहना होगा कि हां, 'लाटीसंहिता'नामका एक संस्कृतग्रंथ ऐसा जरूर है जिसमे 'ऐलक' पदका उल्लेख ही नहीं मिलता बल्कि ११ वीं प्रतिमाके द्वितीय भेदवर्ती उत्कृष्टश्रावककी संज्ञाके लिये उसका स्पष्ट विधान किया गया है। यह ग्रंथ पंचाध्यायी आदि ग्रन्थोंके रचयिता कवि राजमल्लकी कृति है और इसकी रचना विक्रम संवत् १६४१में आश्विन शुक्ला दशमीको हुई है। इसके ७वें सर्गमें, 'अनुद्दिष्टभोजन' नामकी ११ वीं प्रतिमाका वर्णन करते हुए, उत्कृष्टश्रावकके दो भेद करके उनके क्रमश. 'क्षुल्लक' और 'ऐलक' ऐसे दो नाम दिये गये हैं। साथ ही 'उक्तंच' रूपसे एक गाथा प्रमाणमें उद्धृत की गई है। यथा:—

> उत्कृष्टः श्रावको द्वेधा क्षुल्लकश्चैलकस्तथा।
> एकादशव्रतस्थौ द्वौ स्त द्वौ निर्जरकौ क्रमात्॥५६॥
> उक्तंच—
> एयार [स] म्मि ठाणे उक्किट्ठो सावओहवे दुविहो
> वत्थेयधरो पढमो कोवीणपरिग्गहो विदिओ५७*

*पद्योंके ये नम्बर देहलीके पंचायती तथा नयामन्दिर की हस्तलिखित प्रतियोंमें दिये हुए है। मुद्रित प्रतिमें प्रथम पद्यका ५५ नम्बर दिया हुआ है, और दूसरे पर कोई नम्बर ही नहीं दिया जब कि इस सर्गके प्रारंभिक दो पद्योंपर १-१ नम्बर दो बार दिया है। और इससे हस्तलिखित प्रतिकायह नम्बर क्रमही ठीक जान पड़ता है।

यहां जिस गाथाको समर्थनमें उद्धृत किया गया है वह वसुनन्दिश्रावकाचारकी वही गाथा है जिसे ऊपर नं० ८ में वसुनन्दी आचार्यके विचारोंका दिग्दर्शन कराते हुए दिया जा चुका है। इसमें ११ वीं प्रतिमाके दो भेदोंका उल्लेख जरूर है परन्तु उनके लिए 'चुल्लक' और 'ऐलक' ऐसे दो नामोंका कोई विधान नहीं है, और इसलिये इस गाथापरसे ११ वीं प्रतिमाके केवल दो भेदोंका हो समर्थन होता है उनके नामोंका नहीं। भेदोंका यह नामकरण यदि इससे पहिले किसी आचार्यके द्वारा हुआ होता तो संहिताकार कवि राजमल्लजी उसे इस अवसरपर यहाँ जरूर देते, न देनेसे साफ जाना जाता है कि यह नामकरण पहलेका न होकर उन्हींका किया हुआ है और इसलिये जबतक इससे पूर्वका कोई दूसरा स्पष्ट प्रमाण सामने न आजाए तब तक यही मानना समुचित होगा कि ११ वीं प्रतिमाके वसुनन्दिकृत दो भेदोंका 'चुल्लक' और 'ऐलक' के रूपमें यह नामकरण कवि राजमल्लजीका किया हुआ है। उन्होंने द्वितीयोत्कृष्ट श्रावकके लिए 'ऐलक' नाम किस दृष्टिको लेकर दिया है यह बात अभी विचारणीय है। द्वितीयोत्कृष्ट श्रावकके लिये कौपीन मात्र वस्त्रका विधान किया गया है और यह वस्त्र बहुत अल्प होता है जब कि निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधु इसे भी नहीं रखते और इसीसे 'अचेलक' अथवा 'आचेलक्य व्रत के अनुष्ठाता' कहलाते हैं। द्वितीयोत्कृष्टश्रावक उन्हींके मार्गका अनुगामी तथा अभ्यासी होता है। पिच्छी-कमण्डल-धारणादिके साथ साथ वह केशोंका लौंच करता और करपात्रमें आहार करता है※। हो सकता है कि 'अचेलक' पदमें प्रयुक्त हुए 'अ' को ईषत् (अल्प) अर्थ करके और कौपीनमात्र वस्त्रधारी को 'अचेलक'† मानकर चकारका लोप करते हुए 'ऐलक' (अ+एलक=ऐलक) पदकी यह कल्पना की गई हो। परन्तु कुछ भी हो, उपलब्ध जैन साहित्यकी दृष्टिसे यह कहनेमें जरा भी संकोच नहीं होता कि 'ऐलक पदकी कल्पना विक्रमकी १७ वीं शताब्दीसे पूर्वकी नहीं है'।

※ तत्रैलकः स गृह्णाति वस्त्रं कौपीनमात्रकम्।
लोचं श्मश्रुशिरोलोम्नां पिच्छिकां च कमण्डलुम् ५८

\+ \+ \+

ईर्यासमितिसंशुद्धः पर्यटेद् गृहसंख्यया।
द्वाभ्यां पात्रस्थानीयाभ्यां हस्ताभ्यां परमश्नुयात् ॥६३॥

यहाँ पर मैं इतना और भी प्रकट कर देना चाहता हूँ कि कविराजमल्लने ११ वीं प्रतिमाके दोनों भेदोंका जो आचार निर्दिष्ट किया है वह वसुनन्दि आचार्यके कथनसे जहाँ बहुत कुछ मिलता जुलता है वहां कितने ही अंशोंमें उससे विभिन्न भी पाया जाता है; जैसे प्रथमोत्कृष्ट श्रावकके लिये वसुनन्दी एक ही वस्त्रका विधान करते हैं तब राजमल्लजी उसके साथ 'एक वस्त्रं सकौपीनं' कहकर कौपीन और जोड़ते हैं, वसुनन्दीने उसके लिये विकल्परूपसे करपात्रमें भी आहारका विधान किया है जो कि द्वितीयोत्कृष्ट श्रावकका नियमित आचार है, परन्तु राजमल्ल वैसा विधान न करके उसको द्वितीयोत्कृष्ट-के लिये ही निर्धारित करते हैं—उनके मतसे प्रथमोत्कृष्टश्रावक काँसी अथवा लोहेका पात्र रखता है उसीमें भोजन करता है और अपनी पांच घरोंसे भ्रामरीवृत्तिद्वारा संचित भिक्षामेंसे यथावसर दूसरे किसी अतिथिको गृहस्थके समान दान भी देता है तथा दानके अनन्तर यदि कुछ भिक्षा पात्रमें अव-

† लाटीसंहिताके ७ वें सर्गमें एक पद्य निम्न प्रकार से दिया हुआ है—

कौपीनोपधिमात्रत्वाद् विना वाचं यमिक्रिया।
विद्यते चैलकस्यास्य दुर्द्धरं व्रतधारणम् ॥६०॥

इसमें 'चैलकस्य' पदका रूप यदि 'चेलकस्य' हो तो 'विद्यतेऽचेलकस्य' इन दो पदोंकी उपलब्धि स्पष्ट हो जाती है और तब यह सहज ही कहा जा सकता है कि ग्रन्थकारने ऐलकको स्वयं अचेलक रूपसे उल्लेखित भी किया है।

शिष्ट रहती है तो उसीसे अपनी उदरपूर्ति करता है और नहीं रहती तो स्वयं उस दिन उपवास करता है*, जब कि वसुनन्दी आचार्यका ऐसा कोई विधान नहीं है। वसुनन्दीने दोनों ही श्रावकोंके लिये 'धर्म-लाभ' कहकर भिक्षा मांगने तथा बैठकर भोजन करनेका विधान किया है और साथ ही उनके लिये दिनमें प्रतिमायोग-धारण, वीर-चर्या, त्रिकाल योग (आतापनादिक) और सिद्धान्त तथा रहस्य ग्रन्थोंके अध्ययनका निषेध किया है, जब कि कवि राजमल्लजीने वैसा कोई प्रतिबन्ध नहीं रक्खा है। प्रथमके लिए और दूसरेके लिये लोंच आदिके विधानमें दोनों ही प्रायः समान हैं।

(१६) कवि राजमल्लजी एक बहुत बड़े प्रतिभाशाली एवं सम्मान्य विद्वान् थे और इसलिए उनके द्वारा किया गया ११वीं प्रतिमाके दोनों भेदोंका यह नामकरण क्रमशः प्रचारमें आया तथा रूढ हुआ जान पड़ता है। चुनाँचे पं० भूधरदास जीने अपने पार्श्वपुराणमें, जो वि० संवत् १७८९ की रचना है, खुले रूपसे इसे अपनाया है। इस पुराणमें ११ वीं प्रतिमाका जो वर्णन दिया है वह इस प्रकार है—

"अब एकादशमी सुनो, उत्तम प्रतिमा सोय।
ताके भेद सिद्धान्तमें, छुल्लक ऐलक दोय ॥१९४॥
जो गुरुनिकट जाय व्रत गहै, घर तज मठमंडपमें रहै।
एक वसन तन पीछी साथ, कटिकौपीन कमंडल हाथ॥
भिक्षाभाजन राखै पास, चारों परब करै उपवास।
ले उदण्ड भोजन निर्दोष, लाभ अलाभ राग ना रोष॥
उचित काल उतरावै केश, डाढो मोंछ न राखै लेश।
तपविधान आगमअभ्यास, शक्तिसमान करै गुरुपास॥
यह छुल्लक श्रावककी रीत, दूजो ऐलक अधिक पुनीत।
जाके एक कमर कौपीन, हाथ कमंडल पीछी लीन॥
विधिसे खड़ा लेहि आहार, पानिपात्र आगमअनुसार।
करै केशलुंचन अतिधीर, शीतघाम तन सहै शरीर॥
पानपात्र आहार, करै जलांजुलि जोड़ मुनि।
खड़ो रहै तिहि बार, भक्तिरहित भोजन तजै ॥२००॥
एक हाथ पै ग्रास धर, एक हाथसे लेय।
श्रावकके घर आयके, ऐलक अशन करेय ॥२०१॥"
—अधिकार ९वां

पं० भूधरदासजीका यह सब कथन प्रायः लाटीसंहिताके अनुकूल है। उन्होंने जो यह लिखा है कि सिद्धान्तमें इस प्रतिमा के 'छुल्लक' और 'ऐलक' ये दो भेद किये हैं, उसका अभिप्राय भी लाटीसंहितासे ही जान पड़ता है, लाटीसंहिताकारने स्वयं ही प्रशस्तिमें अपनी इस संहिताको 'तावत्सिद्धान्तमेतज्जयतु' इस वाक्यके द्वारा 'सिद्धान्त' नामसे उल्लेखित किया है। 'सिद्धान्त' शब्द सामान्यतः शास्त्रमात्रका भी वाचक है, उस अर्थमें भी भूधरदासजीके 'सिद्धान्त' शब्दको ले सकते हैं और उसमें भी लाटीसंहिताका समावेश हो जाता है। इसके सिवाय दूसरा कोई प्राचीन सिद्धान्तशास्त्र या आगमग्रन्थ ऐसा नहीं है जिसमें ११ वीं प्रतिमाके 'छुल्लक' और 'ऐलक' ऐसे दो भेद किये गये हों, यह बात हम ऊपर भले प्रकार देख चुके हैं।

उपसंहार

ऊपरके इन सब अनुसन्धानों परसे ११ वीं प्रतिमाका इतिहास बहुत कुछ सामने आ जाता है और यह साफ मालूम होता है कि यह प्रतिमा मूलमें एक ही भेदरूप थी, इसका नाम 'उद्दिष्टविरत' था, जो बादको 'उद्दिष्टाहारविरत' हुआ और उससे उसके मुख्य विषयकी सीमा उद्दिष्टभोजनके त्याग तक सीमित हुई। श्रीचामुण्डरायने 'उद्दिष्टविनिवृत्त' नाम

* यथानिर्दिष्टकाले स भोजनार्थं च पर्यटेत्।
पात्रे भिक्षां समादाय पंचागारादिहालिवत् ॥६८॥
तत्राप्यन्यतमे गेहे दृष्ट्वा प्रासुकमम्बुकम्।
क्षणं चातिथिभागाय संप्रेक्ष्याध्व च भोजयेत् ॥६९॥
दैवात् पात्रं समासाद्य दद्याद्दानं गृहस्थवत्।
तच्छेषं यत्स्वयं भुंक्ते नो चेत्कुर्यादुपोषितम् ॥७०॥
— सर्ग ७ वां

देकर और उद्दिष्ट पिंडके साथ साथ उद्दिष्ट उपधि-शयन-वसनादिको भी शामिल करके उसके विषयको फिरसे बढ़ाया और पं० आशाधरजी आदिने दबे शब्दोंमें उसका समर्थन भी किया, परन्तु वह बात चली नहीं और अन्तको उद्दिष्टभोजन के त्यागका ही विधान स्थिर रहा—चाहे प्रतिमाका नाम 'उद्दिष्टविरत' जैसा कुछ भी क्यों न हो।

इस प्रतिमाधारीके लिये एक वस्त्रका नियम था और वह प्राय: ऐसा खण्डवस्त्र होता था जिससे पूरा शरीर न ढक सके—सिर आदि ढके गये तो पैर खुल गये और पैर आदि ढके गये तो सिर खुल गया। किसी किसी बलवान् आत्माने उस वस्त्रका संकोच किया और उसे अपने लिये लंगोटी तक सीमित किया और कोई २ वस्त्रके अतिरिक्त लंगोटी भी धारण करने लगे। इस तरह वस्त्रके विषयमें विकल्प उत्पन्न हुए। केश कटानेके विषयमें भी बिकल्पोंने इसी प्रकार जन्म लिया—कोई कैंचीसे कटाने लगे तो कोई उस्तरेसे और जिन्हें जल्दी ही मुनिमार्ग पर चलना इष्ट हुआ अथवा दूसरी कोई अन्य परिस्थिति उनके सामने आई तो वे केशोंका लौंच करने लगे अर्थात् उन्हें अपने हाथसे उखाड़कर फेंकने लगे। पात्र-विषयक विकल्पका भी ऐसा ही हाल है। इस प्रतिमाका धारी गृहत्यागी होता था और इसलिये उसका भोजन भिक्षापर निर्भर था। भिक्षा भ्रामरीवृत्ति-द्वारा अनेक घरोंसे ली जाती थी, जिससे किसी भी दाताको कष्ट न हो और न व्यर्थके आडम्बरको अवसर मिले, अत: भिक्षापात्रका रखना आवश्यक था, उसे लेकर ही भिक्षाके लिये जाना होता था। उस पात्रकी धातु आदिके विषयमें विकल्प उत्पन्न हुए। और कुछने भिक्षापात्रकी झंझट-को छोड़कर मुनियोंकी तरह करपात्रमें ही आहार करना प्रारम्भ कर दिया। इन सब वैकल्पिक आचरणोंके होते हुए भी प्रतिमामें कोई भेद नहीं किया गया। प्रतिमाके धारक सभी उत्कृष्टश्रावक 'क्षुल्लक' जैसे एक नामसे ही उपलक्षित होते रहे, जैसाकि प्रायश्चित्तसमुच्चय चूलिकामें श्रीगुरुदासाचार्यके दिये हुए 'क्षुल्लक'के लक्षणसे प्रकट है। और यह 'क्षुल्लक' नामकरण निर्ग्रन्थ साधुओंके नीचे दर्जे का साधु होनेके कारण किया गया जान पड़ता है, जिसे कुन्दकुन्दाचार्यने सुत्तपाहुडमें मुनियोंके बाद द्वितीयलिङ्गधारी बतलाया है। जब ये वैकल्पिक आचरण अधिक रूढ हो गये और उनके अनुष्ठाताओंमें बड़े-छोटेकी भावनाएं घर करने लगीं तब वसुनन्दी आचार्यने इस प्रतिमाके दो भेद कर दिये और उनमें इनके आचारको बाँट दिया, परन्तु दोनोंके लिये कोई अलग अलग नाम निर्दिष्ट नहीं किया। पं० आशाधरजीने प्रथमभेदके दो भेद किये, द्वितीयके लिये 'आर्य' नाम दिया, पं० मेधावीने उनका अनुसरण किया और ब्रह्मनेमिदत्तने प्रथम भेदवर्तीके लिये 'सुधी' और द्वितीयके लिये 'यती' नाम दिया; परन्तु ये सब नाम कुछ चले अथवा प्रचलित नहीं हो पाये। इस प्रतिमाधारीके लिये क्षुल्लक नामका अखण्ड प्रयोग १६ वीं शताब्दी तक बराबर चलता ही रहा। १७ वीं शताब्दीमें विद्वद्वर पं० राजमल्लजीने प्रथम भेदके लिये 'क्षुल्लक' और द्वितीयके लिये 'ऐलक' नाम दिया और तबसे ये नाम इन दो भेदोंके लिये रूढ चले आते हैं। इससे स्पष्ट है कि 'ऐलक' पदकी यह कल्पना कितनी आधुनिक तथा अर्वाचीन है। प्राचीन दृष्टिमें इस पदका धारक क्षुल्लक साधुसे अधिक और कुछ नहीं है--श्रीकुन्दकुन्दाचार्य उस द्वितीय लिङ्गधारीके अतिरिक्त कोई तीसरा लिङ्गधारी नहीं बतलाते ※।

जुगलकिशोर मुख्तार

※ यह लेख उस लेखका कुछ संशोधित तथा परिवर्धित रूप है जो आजसे कोई २६ वर्ष पहले ता० १३ सितम्बर सन १६२१ का लिखा गया था और उसी समय लेखक-द्वारा सम्पादित 'जैनहितैषी' मासिक भाग १५के संयुक्ताङ्क नं० ६-१० में प्रकाशित हुआ था।

आर्योंसे पहलेकी संस्कृति

(लेखक—गुलाबचन्द चौधरी एम०ए०, व्याकरणाचार्य)

जबसे सिन्धु घाटीकी खुदाई हुई है और पुरातत्व विभागने एक विशिष्ट सभ्यताकी सामग्री उपस्थित की है, तबसे हमें आर्योंके आगमनसे पूर्वकी भारतीय स्थिति जाननेकी परम जिज्ञासा उत्पन्न हुई है और लगभग चार पीढ़ियोंसे विद्वान उस सुदूर अतीतको जाननेके लिए प्रयत्नशील हैं। भारतीय इतिहासका वैज्ञानिक अध्ययन जब शिशु-अवस्थामें था, तभी विद्वानोंने इसके विवेचनका कुछ गलत तरीका अपना लिया था। वे धरातलपर डार्विनके प्राणि-विकासवादके अनुसार बन्दरसे मनुष्यकी उत्पत्ति बता, भारतवर्षमें आदि सभ्यताका दर्शन वेदकालसे मानते थे। यह सच था कि तब उनके पास इतिहास जाननेके साधन ही कम थे तथा विश्वके सर्व प्रथम साहित्यके रूपमें वेद ही उनके सामने था। आज भारतवर्षके वेदकालीन और उसके पश्चात्युगके सांस्कृतिक इतिहासको जाननेके लिए प्रचुर लिखित साहित्य ही नहीं बल्कि विशाल पुरातत्व सामग्री उपलब्ध है, तथा आर्योंसे आने के पहले प्राग्वैदिक संस्कृतिके ज्ञानके लिये भी विद्वानोंने साधन जुटा लिये हैं।

तीन साधन

आज विद्वान लोग जिन साधनों का आश्रय ले उस सुदूर अतीतका चित्र उपस्थित करते है वे मुख्यत: तीन हैं—१ मानववंश विज्ञान (Anthropology) २ भाषा विज्ञान (Philology) तथा ३ पुरातत्व (Archeology)। १ मानववंश-विज्ञान-द्वारा मनुष्यके शरीरका निर्माण तथा विशेषकर चेहरेके निर्माणका अध्ययन कर विविध मानव-शाखाओंकी पहचान की गई है। इस अध्ययनसे यह निष्कर्ष निकला है कि आज ही नहीं बल्कि सुदूर अतीतमें भारतकी जातियोंका निर्माण अनेक मानव शाखाओंके संमिश्रणसे हुआ है। यह संमिश्रण वेदकालसे ही नहीं बल्कि सिन्धु घाटीकी सभ्यतासे भी प्राचीन कालसे है। २ भाषाविज्ञानने भाषाके अंगोंके विकासके अध्ययनके साथ विविध संस्कृतियोंके प्रतिनिधि स्वरूप शब्दोंको खोज निकाला है और इन संस्कृतियोंके आदान प्रदान तथा संमिश्रणके इतिहास जाननेकी भूमिका उपस्थित की है। भाषाविज्ञानसे तत्कालीन समाजकी विचारधारा तथा मानसिक स्थितिका भी पता चला है। ३ पुरातत्व सामग्री इतिहासका एक प्रबल आधार है, जहाँ अन्य ऐतिहासिक साधन मौन रह जाते हैं वहाँ इस पुरातत्वकी गति है। इस पुरातत्वकी प्रेरणासे हम भारतीय संस्कृतिके आर्येतर आधारोंको खोजनेमें समर्थ हुए हैं।

वेद और आर्य

भारतीय इतिहासको जब हम विश्व इतिहासका एक भाग मान कर अध्ययन करते हैं तथा विशेषकर निकटपूर्व (Near Fast) से सम्बन्धित कर वेदका अध्ययन करते हैं तो मानव इतिहासकी अनेक समस्याएँ सहजमें सुलझ जाती हैं। वेदोंमें वर्णित घटनाओंका मतलब निकट पूर्व (NearFast) की घटनाओंसे मालूम होता है। इन घटनाओंसे विद्वानोंने सिद्ध किया कि आर्य लोग भारतमें बाहरसे आए हैं उन्हें बाहरसे आनेमें दो प्रकारके शत्रुओंसे सामना करना पड़ा, एक तो व्रात्य कहलाते थे जो कि सभ्य जातिके थे

दूसरे थे दास और दस्यु जो कि आर्येतर जातिके थे। ये नगरोंमें रहने वाले लोग थे। वेदोंमें इनके बड़े बड़े नगरों (पुरों) का उल्लेख है। इनमेंसे जो व्यापारी थे वे पणि कहलाते थे; जिनसे आर्योंको अनेक अवसरोंपर युद्ध करना पड़ा था। ऋग्वेद में दिवोदास और पुरुकुत्सका उन पुरोंके स्वामियों-से युद्धका वर्णन है। ऋग्वेदमें ७-१८में दिवो-दासके पौत्र सुदासद्वारा एक शत्रुदलके पराजय-का वर्णन है। उसमें निम्न लिखित जातियों-का उल्लेख है— तुर्वसु, मत्स्य, भृगु, द्रुह्यु, पक्थ, भलानस, अलिनस, शिव, विषाणिन, वैकर्ण अनु, अज, शिग्रु और यक्षु। इन जातियोंके सम्बन्धमें विद्वानोंको बहुत कम मालूम है। श्री हरितकृष्ण देवने इनमें से बहुत कुछ जातियों की पहचान मिश्रदेशी रिकार्डोंसे की है उनके कथनानुसार ये १२ वीं ई० पूर्व-की मध्य एशिया-की जातियाँ है तथा कुछ द्रविड़ोंकी सजातीय तथा कछ आर्योंकी सजातीय हैं।

वेदरचनाकी पूर्ववर्ती तिथि यदि इन घटनाओं-के आसपास मानी जाय तथा उत्तरवर्ती तिथि अवेस्ताके प्राचीन भागोंकी रचना ७ वीं ई० पूर्व व अखेमेनियन राजाओंके प्राचीन फारसी-मे लिखे गये अभिलेखोंकी तिथि ई० पूर्व —जिनसे वैदिक भाषाका बहुत कुछ मिलान होता है—मानी जाय तो हम वेदरचनाका समय १० वीं ईसा पूर्व कह सकते हैं। इसी समय आर्य लोग समू-होंमें भारत आये थे। मिश्र और चाल्डयाक प्रागितिहास और इतिहासकी घटनाकी तुलना-में आर्योंके आनेकी घटना कोई बहुत प्राचीन नहीं बैठती। कुछ विद्वान आर्योंके आगमनकी बात ज्योतिष गणनाके अनुसार बहुत सुदूर प्राचीन कालमें ले जाते हैं पर यदि उस ज्योतिष गणनाकी व्याख्या वैज्ञानिक अनुसंधानोंके आधारपर की जाय तो आर्योंके आनेका समय बहुत बाद बैठता है। इसलिये वैदिक कालकी तिथिके निर्णयके लिये हमारे पास सुरक्षित पक्ष भाषा विज्ञान और पुरातत्व ही है। कुछ विद्वान आर्योंका भारतमें आना नहीं मानते। वे इन्हें यहींका निवासी मानते हैं। पर उनका यह कथन आनुमानिक है। मानवंश-विज्ञान और भाषाविज्ञानके अध्ययनसे उनका यह मत पुष्ट नहीं होता।

आर्यों से पूर्वके भारतीय

आर्योंके बाहरसे आनेकी घटना कोई कल्पित नहीं है तथा उसका उल्लेख भी वेदों तक ही सीमित नहीं। वह ऐसी घटना है जिसकी ध्वनि बादके साहित्यमें भी मिलती है। संस्कृत पुराणोंमें असुरों-की उन्नत भौतिक सभ्यताका तथा बड़े-बड़े प्रासाद और नगर बनानेकी कलाका उल्लेख है। ब्राह्मण उपनिषद् और महाभारत आदि परवर्ती साहित्य-में इन असुरोंकी अनेक जातियोंका उल्लेख है जैसे कालेय, नाग आदि। ये सारे भारतमें फैले थे। इनके अनेक स्थानोंपर बड़े २ किले थे। युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञका मण्डप इसी असुर जातिके मय नामक व्यक्तिने बनाया था। महाभारत और पुरा-णोंमें ब्राह्मण क्षत्रियोंके साथ अनार्य नाग और दासोंकी शादीके अनेक उल्लेख मिलते है। ये शान्तिप्रिय, उन्नतिशील तथा व्यापारी थे। अपन इन उपायोंसे ये भौतिक सभ्यतामें बड़े चढ़े थे।

आर्य और अनार्य संस्कृतियोंका संमिश्रण

इनपर भौतिक सभ्यतासे पिछड़ी पर युद्धप्रिय एवं उद्यमशील तथा समृद्ध भाषासे सम्पन्न आर्य जातिने आक्रमण किया। उन्हें भौतिक सभ्यताके वैभव सुखमे पली सुकुमार अनार्य जातिको जीतना कठिन मालूम नहीं हुआ और बड़ी सरलतासे उसे उन्होंने वशमें कर लिया। आर्योंके भारतमें दो प्रबल आक्रमण हुए, ऐसा विद्वानोंका कहना है। आर्य लोग प्रायः झुंडों (ग्रामों) मे आये थे तथा

अपने साथ बड़ा पशुधन तथा आशुगामी घोड़ोंके रथ लाये थे। वे प्रकृतिपूजक थे तथा उन्हें होमयज्ञके रूपमें पशुबलि, यव, दूध, मक्खन और सोम चढ़ाते थ। वे अपनी पूर्वनिवासभूमि—लघु एशिया (Asia minor) और असीरिया बाबुलसे कुछ धार्मिक मान्यताएँ, कुछ कथा इतिहास (प्रलय कालीन जलप्लावन) आदि भी साथमें लाये थे। उनका जातीय देवता इन्द्र था जो कि बाबुल के देवता मर्दुकसे मिलता जुलता है। उन्होंने अपनी समृद्ध भाषासे अनार्योंको विशेष प्रभावित किया।

आर्योंने यहां बस कर यहाँके निवासियोंको ही अपनेमें परिवर्तित नहीं किया बल्कि स्वय बहुत हद तक उनमें परिवर्तित हो गये। आर्य संस्कृतिक निर्माणमें आर्योंकी अपेक्षा अनार्यों का बड़ा भाग है। जब अनार्य, आर्योंमें सम्मिलित हुए तो उस जातिके समृद्ध कवियोंने आर्यभाषा में अपने भी भाव व्यक्त किये, पद रचना की। उन्होंने अपने दार्शनिक, धार्मिक, सांस्कृतिक ऐतिहासिक कथानक, आख्यान आदि सामग्रीका आर्यभाषामें प्रकट करना शुरू किया जैसे कि आजका भारतीय अपने साहित्यको अंग्रेजीमें प्रकट करता है। इससे आर्य साहित्यमें अनार्य संस्कृतिका बहुत बड़ा भाग आ गया। अनार्य साहित्यिकोंने आर्योंकी भाषाको भी सुधारा। दो प्रबल संस्कृतियोंके संघर्ष का परिणाम ही यह होता है।

डा० सुनीति कुमार चटर्जीका कहना है—"आजकी नूतन सामग्री और नवीन उद्धार कार्य बतलाते हैं कि भारतीय सभ्यताके निर्माणमें न केवल आर्योंको श्रेय है बल्कि उनसे पहले रहने वाले अनार्योंको भी है। अनार्योंका इस सभ्यता के निर्माणमें बहुत बड़ा हिस्सा है। अनार्योंके पास आर्योंसे बहुत बढ़ी चढ़ी भौतिक सभ्यता थी। जब आर्य बे घरबारके लुटेरे थे तब अनार्य बड़े-बड़े नगरोंमें रहते थे। भारतीय धर्म और संस्कृति की अनेक परम्पराएं रीति रिवाज प्राचीन पुराण और इतिहास अनार्योंसे आर्य भाषामें अनूदित किये है क्योंकि आर्य भाषा ऐसी थी जो सर्वत्र छा गई थी। तथापि उसकी शुद्धि कायम न रह सकी क्योंकि उसमें अनेक अनार्य शब्द मिल गए।"

ये अनार्य कौन हैं?

मानववंश-विज्ञानके अध्ययनसे भारतके धरातलपर जिस अनार्य जातिका पता लगा है वह है कृष्णांग (Negrito)। बन्दरसे विकसित हो उत्पन्न होने वाली किसी जातिका यहां पता नहीं चला। कृष्णांगोंकी सन्तान आज भी अन्दमान द्वीपोंमे पाई जाती है। उनकी भाषाका विश्वकी किसी भाषा शाखासे सम्बद्ध नहीं। पहले ये अरब सागरसे चीन तक रहते थे पर अब वे या तो खतम कर दिये गये या दूसरी मानव शाखाके लोगोंने उन्हें अपनेमें पचा लिया। शेष बचे हुए लोगोंसे उनकी सुदूर अतीतकी संस्कृतिका अनुमान लगाना संभव नहीं। कहा जाता है कि उनके उत्तराधिकारी बलोचिस्तानमें पाये जाते हैं तथा दक्षिण भारतकी मुख्य जंगली जातियोंमें उनका जातिय गुण मिलता है। तिब्बत, बर्माकी नागा जातिके रूपमें भी उनका अस्तित्व है। चूंकि यह जाति बहुत प्राचीन युग की है इसलिये बादको सभ्यतामें इसकी क्या देन रही है, यह कहना बड़ा कठिन है। यह जाति अपने पीछे आने वाली शक्तिशालिनी मानव शाखाओंमें अपनी संस्कृतिको बहुत कम बचा सकी। अजन्ताके एक चित्रमें कृष्णांग जातिका चिन्ह मिलता है।

कृष्णांग जातिके बाद पूर्वकी ओरसे आग्नेय (Austric) जाति आई। इनकी भाषा धर्म और संस्कृतिका रूप हिन्दचीनमें मिलता है। इस जाति

की सन्तानें और भाषा प्रशान्त महासागरके द्वीपपुंजों में मिलती हैं। ये आसामसे भारत भूमिपर आए और यहां आकर कुछ तो कृष्णाङ्ग जातिमें मिल गए और कुछ भारतके समृद्ध प्रदेशोंमें अपनेसे पीछे आने वाली जातियोंद्वारा पचालिए गए। इस जातिका अवशेषरूप खासी, कोल, मुण्डा, सन्थाल, मुन्दरी, कुर्कू और शबर आदि जातियां हैं। एक समय था जब कि इस जातिके लोग सारे उत्तर भारत, पंजाब और मध्यभारत तक फैल गये थे तथा दक्षिण भारतमें भी घुस गये थे। उत्तर भारत के विशाल नदियों के कछारों में बस जाने में इन्हें बड़ी सुविधा हुई। गंगा शब्दका उत्पत्ति आग्नेयभाषाके खांग कांग आदि नदी वाचक शब्दोंसे कही जाती है। आर्योंकी पद-रचना ध्वनि और मुहावरोंपर इनकी भाषाका बड़ा प्रभाव है। आर्योंने इनके सम्पर्कमें आकर अपनी भाषाके रूपको बदला है। ये भौतिक सभ्यतामें बहुत बढ़े चढ़े थे। इनकी संस्कृतिके अनेक स्तर हैं। जो मध्यभारत की उच्च विषम भूमियोंमें रहते थे या जो आर्योंके दबावके फल स्वरूप भागे थे वे अब भी अविकसित हालतमें हैं पर जो उत्तर भारतके मैदानमें रहते थे उनकी संस्कृतिका अवशेष परिवर्तित आर्यीकरणके रूपमें अब भी विद्यमान है। आर्यसंस्कृति और आग्नेय संस्कृतिका आदान प्रदान विशेषतः भारतके पूर्वीय प्रान्तोंमें हुआ है। आर्योंने इनसे चावलकी खेती करना सीखा। नारियल, केला, ताम्बूल, सुपाड़ी, हलदो, अदरक, बैंगन, लौको, आदिका उपयोग आग्नेयोंकी देन है कोरी अर्थात् बीसीकी गणना तथा चन्द्रमासे तिथि की गणना आग्नेय है। वे अपने मृतकोंकी पाषाण समाधि बनाते थे। उनके यहां परलोककी मान्यता थी तथा वे विश्वास करते थे कि आत्मा अनेक पर्यायोंमें जाती है। उनकी इस विचारधारा से आर्योंको पुनर्जन्मका सिद्धान्त मिला। डा० सुनीति कुमार चटर्जी लिखते हैं कि आर्योंने अनार्योंसे कर्म सिद्धान्त, पुनर्जन्म और योगाभ्यासकी नकल की अपनी होमविधिके मुकाबलेमें उनकी पूजाविधि अपनाई।"

ईसाके हजारों वर्ष पूर्व, आर्योंके आनेसे अवश्य ही बहुत प्राचीन कालमें पश्चिम भारतसे द्रविड़ लोग आए। यह जाति आजकल दक्षिण भारतके बहु भागमें है पर आधुनिक खोजोंसे सिद्ध है कि द्रविड़ोंका मूल निवासस्थान पूर्वी भूमध्य सागरके प्रदेश है। लघु एशिया के अभिलेखमें वहां की जातिका नाम "त्रमिल्ली" लिखा है जो तामिल और त्रमिल्लीका पूर्वरूप मालूम होता है द्राविड़ोंका पुराना नाम द्रामिल भी है जो तामिल और त्रमिल्लोका मूल रूप है। ये नगर सभ्यता वाले लोग है। इनको प्राचीन सभ्यताके अवशेष दजला फुरात नदियोंकी घाटीसे सिन्धु घाटी तक मिलते हैं। द्रविड़ लोग व्यापारमें समृद्ध थे तथा आदान प्रदानकी वस्तुओंका निर्माण करते थे। जो, गेहूं और कपासको खेती करते थे, कताई और बुनाईकी कलाका विकास चरम सोमापर था। हाथी, ऊंट, बैल और भैंसको रखते थे। वे घोड़ेकी सवारी जानते थे पर वाहनके रूपमें घोड़के रथकी जगह बैलगाड़ीका विशेष प्रयोग करते थे। उपलब्ध मिट्टी के खिलौने और मूर्तियोंसे मालूम होता है कि उस समय दुर्गा, शिव और लिंगकी पूजा-प्रचलित थी, कितनी ही कायोत्सर्ग जैन मूर्तियां भी उस कालका पुरातत्व सामग्रीसे निकली हैं। वे अपने देवताको पूजा-फल, फूल चन्दन आदिसे करते थे। बलि नहीं चढ़ाते थे।

जब कि आर्य बड़ी बड़ी संख्यामें आकर पंजाबमें व्यवस्थित हो रहे थे तब द्रविड़ भारतमें छोटे बड़े राज्योंमें विभक्त थे। आग्नेयोंको पराक्रान्त कर इन्होंने मगध और कामरूप में राज्य जमाये तथा दक्षिणमें कलिंग, केरल, चोल और पाण्ड्य देशोंमें। द्रविड़ोंने बहुत पहले अपने जहाजी बेड़ेका विकास किया था तथा दक्षिण भारत, लंका और हिन्द द्वीपपुंजोंमें उपनिवेश बनाने वाले

द्रविड़ ही थे। सिन्धु घाटीकी खुदाईसे जिस सभ्यताके अवशेष मिले हैं उसके विधाता द्रविड़ थे, ऐसा विद्वानोंका मत है।

आर्योंसे ठीक पहलेकी जाति होनेसे वेदोंमें इनकी विविध जातियोंका उल्लेख मिलता है सो कह चुके हैं। इनसे ही सीधे संघर्ष होनेकी घटनाएं वेद और परवात् कालीन साहित्यमें है। आर्योंने वेदोंमे दस्यु, अनास, मृध्रवाक् अयज्वन्, अकर्मन्, अन्यव्रत आदि घृणा पूर्ण शब्दोंसे इन्हीं अनार्योंका उल्लेख किया है। आर्योंने इनसे पृथक् बने रहनेके लिए 'वर्णभेद' बनाया।

एक सुझाव

वैदिक साहित्य सारे भारतके सांस्कृतिक इतिहासका प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता, क्योंकि वह एकदेशीय अर्थात् विशेषकर पंजाब, देहली के आस पासका साहित्य है। तथा वह उस याज्ञिक संस्कृतिके उपासकोंकी कृति है जो दूसरी संस्कृति के उत्कर्षके प्रति अति असहिष्णु थे। उन्होंने भारत के मध्यभाग और पूर्वभागमें प्रचलित अहिंसक संस्कृति—श्रमण संस्कृतिको धक्का दिया। श्रमण और याज्ञिक संस्कृतिके संघर्षके प्रकीर्णक उल्लेख ब्राह्मण और उपनिषद ग्रन्थोंमें मिलते हैं। श्रमण संस्कृतिके सूचक अर्हन, श्रमण मुनयः वातवसनाः व्रात्य महाव्रात्य आदि शब्द वैदिक साहित्यमें पाये जाते हैं। श्रमणोंके प्रतिनिधि ऋषभदेव, अजितनाथ, अरिष्टनेमिका उल्लेख भी वेदोंमें है। मालूम होता है कि इस श्रमण संस्कृतिके उपासक द्रविड़ जाति और उसके पूर्वकी जातिके लोग रहे हैं जिनकी पूजा उपासना' दार्शनिक मान्यता कर्मसिद्धान्त, पुनर्जन्म आत्माकी पर्यायें होना सभ्यता आदि श्रमण संस्कृतिके अनुरूप ही है। यह संस्कृति चारों तरफ भारतमें फैली थी। तामिल भाषाके प्राचीन साहित्य इससे प्रभावित थे। अब तक उस संस्कृतिकी परिचायक पुरातत्वादि सामग्रीका ठीक अनुसन्धान नहीं हुआ। सिन्धु घाटीकी खुदाईसे जो कुछ प्रकाश पड़ा है तथा गंगाघाटी की खुदाईसे जो प्रकाश पड़ेगा, ये दोनों अवश्य ही आग्नेय द्रविड़ आदि द्वारा उपास्य श्रमण संस्कृति-पर प्रकाश डालेंगे। (श्रमण)

हर्षकीर्त्तिसूरि और उनके ग्रन्थ

(ले०—श्री अगरचन्द नाहटा)

दिगम्बर कवि राजमल्लने 'छन्दो विद्या' नामक छन्द विषयक ग्रन्थ श्वे० राजा भारमल्लके लिये बनाया था जिसकी एक मात्र प्रति देहलीके दिगम्बर सरस्वती भंडारमें उपलब्ध हुई है। अनेकान्तके सम्पादक श्री जुगलकिशोरजी मुख्तारने उसका विस्तृत परिचय कई वर्ष पूर्व अनेकान्तमें एवं तदनन्तर 'अध्यात्मकमलमार्त्तण्ड' की महत्वपूर्ण प्रस्तावनामें प्रकाशित किया है। उक्त ग्रन्थमें राजा भारमल्लके गुरु श्रीके सम्बन्धमें ग्रन्थकार राजमल्ल ने मंगलाचरणके पश्चात् तीसरे पद्यमें ही प्रकाश डाला है। उक्त पद्य इस प्रकार हैं:—

आसीन्नागपुरीयपट्टनिरतः साक्षात्तपागच्छमान,
सूरिः श्री-प्रभुचन्द्रकीर्त्तिरवनौ मूर्द्धाऽभिषेको गणी।
तत्पट्टे त्विह मानसूरिर भवत्तस्यापि पट्टेऽधुना,
संसम्राडिव राजते सुरगुरुः श्रीहर्षकीर्तिर्महान्॥

अर्थात्—नागपुरीय तपागच्छीय[1] चन्द्रकीर्तिसूरिके पट्टधर मान (कीर्त्ति)[2] सूरिके पट्टपर अभी हर्षकीर्ति विराज रहे हैं।

छन्दोविद्याका रचना काल मुख्तार सा० ने सं० १६४१ से पूर्वका अनुमानित किया है[3]।

जैसा कि हर्षकीर्त्तिसूरिके उपलब्ध ग्रन्थोंसे प्रतीत होता है कि वे १७वीं शतीके उल्लेखनीय ग्रन्थकार थे। व्याकरण कोश,छन्द,वैद्यक,ज्योतिष आदि विषयोंके आप विद्वान् एवं अन्य टीकाकार थे। बीकानेरके जैन ज्ञान-भंडारोंका अवलोकन करते समय आपके अनेक ग्रन्थ अवलोकनमें आये तभी से आपके सम्बन्धमें एक लेख प्रकाशित करनेकी इच्छा हुई थी जिसे छन्दोविद्याके उक्त पद्यने और भी बलवती किया। पर अन्य कार्योंमें लगे रहनेसे अभी तक उसकी पूर्ति नहीं हो सकी, नागपुरीय तपागच्छ (जो पीछेसे पार्श्वनाथगच्छके[4] नामसे विशेष प्रसिद्धि में आया है) के श्री पूज्यजीकी गद्दी बीकानेरमें है एवं नागौरमें भी इस गच्छका उपाश्रय है अतः इन दोनों स्थानोंके ज्ञान भंडार अवलोकन करने पर संभव है कुछ ज्ञातव्य मिल जाय, इस आशासे भी अपने विचारको कार्यरूपमें परिणत करनेमें विलम्ब कर दिया पर बीकानेरके श्री पूज्यजी स्वर्गवासी हो गये और उनका भंडार अभी श्रावकोंकी देख रेखमें है जिन्हें इस विषयमें तनिक भी रस नहीं, अतः अनेकों बार कहने परभी उसके

१- कई लोग नागपुरीय तपागच्छको सुप्रसिद्ध तपागच्छकी एक शाखा मानते हैं। पर वास्तवमें वह सही नहीं प्रतीत होता। नागपुरीय तपागच्छकी प्रसिद्धि चन्द्रकीर्ति आदिके उल्लेखानुसार ११७४ में हुई है जबकि तपागच्छकी सं० १२८५ में जगच्चंद्र सूरिद्वारा। जगच्चन्द्रसूरि नागपुरीय तपागच्छीय आचार्यों की सीधी परम्परामें भी नहीं आते।

२. प्रशस्तियोंसे इनका आचार्य पदका काल सं० १६२६ से १६४० तकका प्रतीत होता है। इनके शिष्य अमरकीर्त्तिसूरिके संबोध सत्तरी वृत्ति बीकानेरके वृहत् ज्ञान भंडारमें उपलब्ध है। अमरकीर्त्ति सूरिका नाम सं० १६४४ के वैराटके प्रतिष्ठा लेखमें हर्षकीर्त्तिसूरिके साथ आता है। संबोधसत्तरीकी वृत्ति इन्होंने हर्षकीर्त्तिके राज्यमें बनानेका उल्लेख किया है अतः ये उनकी आज्ञानुवर्त्ती थे व सं० १६४४ के पूर्व आचार्य पद प्राप्त कर चुके सिद्ध होता है। प्रस्तुत संबोधसत्तरीके रचयिताका नाम जिनरत्नकोश में रत्नशेखर लिखा है जो सही नहीं प्रतीत होता।

३ कलकत्तेके जैन श्वेताम्बर मन्दिरमें एक धातु प्रतिमापर सं १६६२ का लेख उत्कीर्णित है जिसमें मानकीर्तिसूरिद्वारा उक्त प्रतिमाके प्रतिष्ठा होनेका व उनके साथ २ हर्षकीर्तिका उल्लेख है इससे हो सं० १६४२ तक तो हर्षकीर्तिसूरिको आचार्य पद नहीं मिला यह निश्चित है। छन्दोविद्यामें हर्षकीर्तिजीको सूरि लिखा होनेसे सं० १६४२ के परचात् ही उसकी रचना होनी चाहिये। हर्षकीर्तिसूरिके लिखे और रचे ग्रन्थोंसे सं० १६४४ में उन्हें सूरि पद प्राप्त हो गया था, सिद्ध है। अतः छन्दो विद्याका रचना काल सं० १६४२ से १६४४ के बीचका निश्चित होता है। सं० १६४४ में राजा भारमल्लके पुत्र इन्द्रराजकारित वैराटके श्वे० जैनमन्दिरकी प्रतिष्ठा हुई थी। छन्दोविद्यामें उसका उल्लेख न होनेसे भी उसकी रचना सं० १६४४ से पूर्व निश्चित होती है। छन्दोविद्या का रचना काल सं० १६४२ मान लेने पर भी मुख्तार सा० को राजमल्लके नागौरमें वैराट आकर लाटी संहिताकी रचना करनेकी मान्यता बदल देनी पड़ती है।

४—सोलहवीं शताब्दीके उत्तरार्द्ध एवं सत्रहवींके पूर्वार्द्धमें दमीगच्छमें पार्श्वचन्द्रसूरि नामक विद्वान् हो गये है जिनका रचित विशाल साहित्य उपलब्ध है। आपका जीवनचरित्र एवं रचनाओंके संग्रह ग्रन्थ भी प्रकाशित हो चुके हैं। इनके नामसे ही नागपुरीय तपागच्छ नाम गौण होकर पार्श्वचन्द्र गच्छके नामसे इस परम्पराकी प्रसिद्धि हो गई है।

भली भाँति अवलोकन करनेका सुयोग प्राप्त न हो सका। श्रीपूज्यजीके भंडारकी अनेकों प्रतियाँ स्वर्गीय देवचंद्रसूरिजी[1]के गुरुश्रीके समयमें ही इतस्ततः हो गई थीं फिर भी कुछ सामग्री मिलनेकी संभावनाहै। पर उसका उपयोग करनेमे अद्यावधि सफलता प्राप्त नहीं हुई, प्रयत्न तो अब भी चालू है ही। इसी प्रकार नागौरका पार्श्वनाथ गच्छीय भंडार भी उस गच्छके यतिजीके अधिकारमें है। वहांके भी अधिकांश ग्रन्थ अब नहीं रहे, जाननेमें आये हैं, जो कुछ बच पाये हैं उनके देखनेके लिये नागौर जानेपर दो बार प्रयत्न किया पर अभी तक वह सुअवसर नहीं मिल सका। अतः प्राप्त सामग्रीके आधारसे हर्षकीर्तिसूरि व उनके ग्रन्थोंका संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत लेखमें प्रकाशित किया जा रहा है।

छन्दोविद्याके उपयुक्त पद्यमें हर्षकीर्तिको नागपुरीय तपागच्छका बतलाया हुआ है अतः सर्व प्रथम वह गच्छ कबसे व किस आचार्यसे प्रसिद्धिमें आया? एवं आपकी गुरुपरम्पराकी नामावलिपर प्रकाश डाला जाता है।

विक्रमकी बारहवीं शतीमें अनेक ग्रन्थोंके रचयिता आ० मुनि चन्द्रसूरिके शिष्य देवसूरि हो गये हैं जिन्होंने पाटणमें सिद्धराजकी सभामें कुमुदचन्द्र जीसे शास्त्रार्थ कर विजय प्राप्त की थी तबसे आपकी प्रसिद्धि वादी देवसूरिके नामसे हुई। स्याद्वाद रत्नाकरादिग्रन्थ आपके महान् पांडित्यके परिचायक है। गणधरसार्द्धशतक बृहद्वृत्तिके अनुसार विक्रमपुरका देवधर श्रावक अजमेरमें स्थित जिनदत्तसूरिजीके वन्दनार्थ जा रहा था तब नागौरके चैत्यमें देवसूरिजीसे बातचीत हुई थी[1]। नागपुरीय तपागच्छकी पट्टावलिके अनुसार वादी देवसूरिके शिष्य पद्मप्रभसूरिको नागौरमें तपश्चर्या करनेके कारण राजाकी ओरसे सं०११७७में नागपुरीय तपागच्छ विरुद मिला था। सारस्वतदीपिकामें इसकी प्रसिद्धिका समय सं० ११७४ बतलाया है जो अन्य प्रमाणोंसे समर्थित है। पट्टावलिमें ११७७ बतलाया है जो अब्धि[2] शब्दसे ७ ग्रहण करनेके कारण भ्रमपूर्ण प्रतीत होता है। उक्त सारस्वत दीपिकानुसार हर्षकीर्तिसूरि तककी परम्पराकी नामावलि इस प्रकार है:—

वादिदेवसूरि[3]-पद्मप्रभसूरि[4] -गुणसमुद्रसूरि जयशेखरसूरि[5]- वज्रसेनसूरि-हेमतिलकसूरि-रत्नशेखर[6]-सूरि-पूर्णचन्द्रसूरि-हेमहंससूरि-हेमसमुद्रसूरि-सोमरत्न-

---

१. ये संस्कृत काव्यादिके बड़े प्रेमी एवं अच्छे विद्वान् थे। आपकी विद्यमानतामें ही मैंने आपके ज्ञानभंडारकी सूची एवं कतिपय प्रतियां देखी थीं। आपके परम्परागत संग्रहकी बहुतसी प्रतियोंकी आपके गुरु श्रीहेमचन्द्रसूरिके समयमें बिक्री हो गई थी। आपके स्वर्गवासानन्तर उपाश्रयमें जो व्यक्ति रहता था उसने बहुतसे महत्वपूर्ण मुद्रित ग्रन्थ कन्दोइयोंको रद्दीके भाव बेच दिये जिनका पता लगनेपर कुछको वापिस लाया गया। अब आपके पुस्तकालयके समस्त मुद्रित ग्रन्थ श्रीरामचन्द्रसूरि पुस्तकालयमें लाये गये हैं। हस्तलिखित प्रतियोंकी कई वर्षोंसे सार संभाल नहीं हुई जिसका होना अत्यन्त आवश्यक है। हम आपके गच्छके अनुयायी श्रावकोंसे सामग्रह अनुरोध करते हैं कि वे अतिशीघ्र उनकी उचित व्यवस्था करें।

१. देखो हमारा युगप्रधान जिनदत्तसूरि ग्रन्थ।

२. अब्धि—समुद्र शब्दाङ्क ७ और ४ दोनों अङ्कोंका सूचक है, किसीने समुद्र ४ माने हैं किसीने ७।

३. आपके सम्बन्धमें एक ऐतिहासिक काव्य भी उपलब्ध है जिसकी अपूर्ण प्रति हमारे संग्रहमें है। प्राप्त अंशका ऐतिहासिक संक्षिप्तसार जैनसत्यप्रकाश वर्ष ५ अङ्क ८ में प्रकाशित है।

४. भुवन दीपक नामक सुप्रसिद्ध ज्योतिष ग्रन्थके रचयिता।

५. संबोध सत्तरी आदिके रचयिता।

६. पन्द्रहवीं शतीके सुप्रसिद्ध ग्रन्थकार हैं। इनके रचित श्रीपाल चारुदत्त ग्रन्थ प्राप्त हैं।

सूरि(गुरुभ्राता हेमरत्नसूरि) ओसवालवंशी राजरत्नसूरि[१]-चन्द्रकीर्त्तिसूरि-हर्षकीर्त्ति ।

हर्षकीर्तिने अपनी धातुपाठवृत्तिकी प्रशस्तिमें जयशेखरसूरसे अपने गुरु चन्द्रकीर्तिसूरि तकका जो ऐतिहासिक वृत्तान्त दिया है, महत्वपूर्ण होनेसे उस प्रशस्तिके पद्य यहां उद्धृत किये जा रहे हैं—

गच्छे यत्र प विचित्राऽवनितले हम्मीरदेवार्चितः
सूरिः श्रीजयशेखरः सुचिरतः श्रीशेखरः सद्गुणः ।
रूणायां पुरि सीहडस्य वचनादल्लावदो भूभुजः ।
सद्वासः फुरमानदानमहितः श्री वज्रसेनोगुरुः ॥१॥
सूरिः श्रीप्रभुरत्नशेखरगुरूर्विद्यानिधिर्यो मुदा
स क्षौमैः किल पर्यधाप् यदरं पेरोजसाहिः प्रभुः ।
श्रीमत्साहिसिकंदरस्य पुरतो जातः प्रतापाधिकोः
ढिल्यां नागपुरीयपाठकवरः श्रीहंसकीर्त्याह्वयः ॥ २॥
आनन्दं जनयन् सदामुनिजने स्वानदरामःस्मभूत्
प्रादाद्यस्य चिराय रायपदवीं श्रीमान् हुमायूंनृपः ।
श्रीमत्साहिसलेमभूमिपतिना संमानितः सादरं ।
सूरिः सन्निकलिंदिका कलितधीः श्रीचंद्रकीर्त्तिः प्रभुः॥३॥
साहे संसदि पद्मसुन्दरगणिर्जित्वा महापंडितम् ।
क्षौमग्रामसुखासनाद्यकबरश्रीसाहितो लब्धवान् ।
हिन्दूग्राधिपमालदेवनृपतेः मान्यो वदान्योधिकम्
श्रीमज्जोधपुरे सुरेप्सितवचः पद्मापद्मा ह्वयः पाठकः॥४
तद्गच्छा मलमंडनं सुविहितः श्रीचंद्रकीर्त्तिप्रभोः ।
शिष्य. सूरिवरः स्फुरद्‌द्युतिभरः श्रीहर्षकीर्तिःसुधीः
तेनेय रचितात्म निणिशु श्री धातु पाठस्य सद् ।
वृत्तिःसूक्ति मियचु थावदुदितः श्री पुष्कदन्तावसौ॥५॥

अर्थात्—नागपुरीय तपागच्छके जयशेखरसूरिको हम्मीरदेव नृपति आदर देता था। अल्लावदीनने वज्रसेनसूरिको रुणमें सीहडके वचनसे फरमान देकर सन्मानित किया था । इनके शिष्यरत्नशेखर सूरिको पेरोजशाहने वस्त्रपरिधापन किया था। उपाध्यायहंसकीर्त्तिको दिल्लीमें सिकदर बादशाहने और आनन्दरामका हुमायूंने राय पदवी देकर एवं चन्द्रकीर्त्तिको सलेमशाहिने सन्मानित किया था इसी गच्छके उपाध्याय पद्मसुन्दरने सम्राट् अकबरकी सभामें किसी महापण्डितको जीताथा इससे सम्राट्ने वस्त्र, ग्राम एव सुखासनादिद्वारा उनको सन्मान दिया था। जोधपुरके प्रतापी नरेश मालदेव भी इनको आदर देता था। इसी गच्छके चन्द्रकीर्त्तिसूरिके शिष्य हर्षकीर्त्तिने धातुपाठकी वृत्तिसहित रचनाकी।

प्रस्तुत ग्रन्थ टुंकके खडेलवाल ज्ञातीय वाकलीवाल गोत्रके (सांवला पार्श्वनाथ प्रसादके निर्माता) नेदासके पुत्र शाह जइताक पुत्र गेहाके पुत्र हेमसिंहकी अभ्यर्थनासे रचा गया था जैसा कि प्रशस्तिके अन्तिम श्लोक व उसकी वृत्तिसे ज्ञात होता है। ऐतिहासिक होनेसे उसे भी यहाँ उद्धृत कर दिया जाता है।

खडेलवालसद्वंश हेमसिंहाभिधः सुधीः ।
तस्याभ्यर्थनया ह्येष, निर्मिता नंदताच्चिरं ॥१॥

टीका—नवरं खंडेलवालज्ञातै वाकलीवालगोत्रेण टुंकनगरे सांवलापार्श्वनाथप्रसादकारकनेदास

---

१. सारस्वतदीपिकाके अतिरिक्त आपके रचित प्राकृत छंन्दकोश वृत्ति व सिद्धचक्र यंत्रोद्धार टिप्पन प्राप्त है बीकानेरके दान सागर भंडारमें आपके रचित संग्रहयो टबाकी प्रति भी उपलब्ध है—

१—उ० पद्मसुन्दरके सम्बन्धमें अनेकान्त वर्ष ४ अङ्क ८, व वर्ष १० अङ्क १ में प्रकाशित मेरा लेख देखना चाहिये

२—उपर्युक्त पद्मसुन्दरने दि० रायमल्लकी अभ्यर्थनासे रायमल्लाभ्युद काव्यका निर्माण किया था और हर्षकीर्त्तिने हेमसिंहकी अभ्यर्थनासे धातुपाठकी रचनाकी । इधर राजमल्लने श्वे० राजाभारमल्लके लिये छंदो विद्या बनाई इससे उस समय दि० श्वे० श्रावक व विद्वान लोग कितने उदार विचारके थे यह प्रतीत होता है।

टोंकके काशलीवाल हेमसिंह व उनके पूर्वजके निर्मापित सांवला पार्श्वनाथ जिनालयके सम्बन्धमें विशेष ज्ञातव्य अपेक्षित है। आशा है टोंकके कोई सज्जन अनुसंधान कर इस पर प्रकाश डालनेकी कृपा करेंगे।

पुत्रसाहश्रीजइता तत्पुत्र सा० गेहा तस्यात्मजसाह हेमसिंहाभ्यर्थः नयाग्रहेणऽ धातुपाठः कृतः।

हर्षकीर्तिकी गुरुपरम्पराका आवश्यक परिचय देकर अब आपके जीवन एवं ग्रन्थोंके सम्बधमें ज्ञात परिचय दिया जारहा है—

जन्म एव दीक्षा—

हर्षकीर्तिसूरिके जन्मस्थान, समय व वंश माता पिता के नामादके सम्बन्धमें जानकारी प्राप्त करने का कोई साधन उपलब्ध नहीं है। पर आपकी लिखित प्रतियोंमेंसे सं०१६१३ में लिखित सप्तपदार्थी उपलब्ध है अत: उस समय आपकी आयु २० वर्ष के लगभगकी माने तो आपका जन्म सं०१५६० से ६५ के बीच एवं दीक्षा १६०५–७ के लगभग होना संभव है।

उपाध्यायपद—

आपकी लिखित प्रतियोंमें सं० १६१३ को प्रतिमें तो मुनि एवं सं० १६२६ की प्रतिमें उपाध्याय विशेषण पाया जाता है इसमे सं० १६१३ से २६ के मध्य ही आपकी योग्यताके अनुरूप उपाध्याय पद प्राप्त हुआ प्रतीत होता हैं। सं० १६६२ की लिखित एक प्रति में आपको महोपाध्याय लिखा गया है अत: उस समय आप गच्छमे उपाध्याय पदकी पर्यायकी अपेक्षा सबसे बड़े सिद्ध होते है।

सूरिपद—

सं०१६४० की लिखित प्रतिमे आपका पद उपाध्याय मिलता है और सं० ४४ के ग्रन्थानुसार उस समय सूरि (आचार्य) पदपर प्रतिष्ठ थे अत: आपको आचार्य पद सं१६४२ के लगभग मिला संभव हैं। यद्यपि शिष्य तो आप चंद्रकीर्तिसूरिके थे पर छन्दोविद्याके पद्यसे स्पष्ट है कि उनके पदपर मानकीर्तिसूरि प्रतिष्ठित हुए थे और हर्षकीर्ति सूरि मानकीर्तिसूरिके पट्ट पर थ।

स्वर्गवास

आपकी लिखाई हुई प्रति संबत १६६० की उपलब्ध है एवं आपके रचित सेट अनिटकारिका विवरणका रचना काल सं० १६६३ है अत: अन्त-दीर्घायु थे । सं० १६६५ के लगभग ही आपका स्वर्गवास हुआ सम्भव है।

हर्षसूरिरचित ग्रंथ—

जैसाकि पूर्व लिखा जा चुका है आपकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। व्याकरण कोष, छन्द, काव्य; वैदिक एवं ज्योतिष सब विषयोंमें आपकी अच्छी गति थी जिसका परिचय आपके रचित साहित्यसे भली भाँति मिल जाता है। जैन साहित्यको सक्षिप्त इतिहास ग्रन्थमें आपकी ८ रचनाओंका उल्लेख है। यथा—

(१) वृहत् शांति टीका (२) कल्याण मन्दिरवृत्ति (३) सिंदूर प्रकर टीका (४) सेटअनिटकारिका-विवरण (५)धातुपाठ-तरंगिणी (६)शारदीय नाम माला (७) श्रुतबोधवृत्ति (८) योगचिन्तामणि ।

इनके अतरिक्त सारस्वत दीपिका एवं वैद्यक सारोद्धारका नाम दिया है पर सारस्वत दीपिका तो आपके गुरु चंद्रकीर्त्तिसूरिरचित ही है और वैद्यक सारोद्धार उपर्युक्त योगचिंतामणिमें अभिन्न है।

श्री देशाईद्वारा उल्लखित उपर्युक्त ग्रन्थोंके अतिरिक्त मेरे अन्वेषणसे लगभग एक दर्जन ग्रन्थोंका और पता चला है। अत: यहाँ विषय वर्गीकरण करके आपके ज्ञात समस्त ग्रन्थोंकी सूची दी जाती है—

व्याकरण—

(१) धातुपाठ—धातुतरंगिनीवृत्ति सहित—व्याकरणविषयक आपका सबसे बड़ा ग्रन्थ यही है। जैसाकि उपर्युक्त प्रशस्तिसे स्पष्ट है, इसकी रचना टोंकके हेमसिंह वाकलीवालकी अभ्यर्थनासे की गई थी। बीकानेरकी अनूप संस्कृत लायब्रेरी व महिमाभक्ति भंडारमें इसकी प्रतियाँ उपलब्ध हैं।

(२) सेटअनिटकारिका विवरण, र० सं०१६६३ जे०सु० हमारे संग्रहमें

(३) संस्थानिर्णय

कोश—

(४) शारदीय नाममाला—इसकी सं० १६४०-४८ की लिखित प्रतियाँ उपलब्ध होनेसे रचना पूर्ववर्ती सिद्ध है। अनूप संस्कृत लाइब्रेरीमें है।

(५) मनोरमानाममाला-इसकी प्रति हमारे संग्रहमें

छन्द—

(६) छन्दशतक (प्रा०)—बीकानेरके उ० जयचन्द्रजीके भंडारमें इसकी ६ पत्रकी प्रति है।

(७) श्रुतबोधवृत्ति—यह महाकविकालिदासके श्रुतबोधपर टीका है, जिसकी प्राचीन प्रति अनूप संस्कृत लाइब्रेरीमें है।

काव्य-स्तोत्र वृत्ति—

(८) नमस्कार (नवकार) स्तोत्र-वृत्ति

(९) उवसग्गहर „ „ प्र०अनेकार्थरत्नमंजूषामें

(१०) नमिऊण(भयहर)स्तोत्रवृत्ति—हमारे संग्रहमें

(११) तिजयपहुतस्तोत्रवृत्ति—ग्र० २३३, हमारे संग्रहमें

(१२) अजितशांतिविवरण—प्रति भां०इं० पूना।

(१३) लघुशांतिशवृत्ति—मानदेवके लघुशांति वृत्तिस्तोत्रपर वृत्ति है ग्रन्थ १५०। प्रति हमारे संग्रहमें है।

(१४) भक्तामरवृत्ति[1]—उ. देवसुन्दर की अभ्यर्थनासे रचित, प्रति दानसागर भंडार

(१५) वृहत्शाँति-सं० १६५६ पत्र ४, मोतीचंद्रजी खजानचीके संग्रह में।

(१६) कल्याणमन्दिरवृत्ति—उ.देवसुन्दरकी[2] अभ्यर्थनासे रचित, ग्र. ५०५। प्रतिमा भक्ति भंडार।

(१७) संसारदावास्तुतिटीका—हमारे संग्रहमें।

जैनेतरस्तोत्र—

(१८) महिम्नस्तोत्रवृत्ति—सुप्रसिद्ध पुष्पदंतके शिवस्तोत्रपर टीका है। प्रति भां०इं० पूनामें है।

(१९)सिंदूरप्रकर टीका—सुप्रसिद्ध सोमप्रभसूरिके सूक्तिकाव्यपर टीका है। प्रति हमारे संग्रहमें है।

मौलिक रचनाएं—

(२०) शारदास्तोत्र (सं०)

लोकभाषाकाव्य—

(२१) विजयसेठ विजया सेठाणी सज्झाय गा० २६, हमारे संग्रहमें ?

(२२) परम्परा बत्तीसी वर्द्धमानभण्डार बीकानेर

(२३) अठारह दूषण सज्झाय गा० २१

वैद्यक—

(२४) योगचिन्तामणि—वैद्यक-विषयक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। अपनी उपयोगिताके कारण जैनेतर विद्वानों के अनुवादके साथ प्रकाशित हो चुका है। प्राचीन भाषा टीकाओंमें खरतरगच्छीय नरसिंहरचित बालावबोध बीकानेरके वृहद् ज्ञान भण्डारमें उपलब्ध है। इसका अपर नाम वैद्यकसारोद्धार भी है।

ज्योतिष—

(२५) जन्मपत्रिपद्धति—सं० १७२८ की लिखित ४३ पत्रकी प्रति मुनि जिनविजयजीके संग्रहमें है।

(शेष अन्यत्र)

---

१. नं० ८ से १४ तकके स्तोत्र सप्तस्मरण कहे जाते हैं। इनके क्रमादिमें अन्तर पाया जाता है। हर्षकीर्तिसूरि ने भक्तामरतो ७ वां स्तोत्र माना है। 'सप्तस्मरणे, टीका कुर्वे भक्तामरस्तवे सप्तस्मरणवृत्ति की (संयुक्त) प्रतिभां० इं० पुने में सं० १६२० लिखित होने से रचना पूर्ववर्ती सप्तस्मरण खरतरगच्छ एवं तपागच्छ में भिन्न भिन्न स्तोत्र माने जाते हैं।

२. इन्हीं देवसुन्दरकी अभ्यर्थना से अमरप्रभसूरि रचित भक्तामर टीकाका समय प्रो०हीरालाल रसिकलाल कापाडिया ने भक्तामरादि स्तोत्रत्रयमकी प्रस्तावनामें १५ वीं शती बतलाया है जो ठीक नहीं है।

१- प्रो कापडियाने भक्तमरादि स्तोत्रकी प्रस्तावना इसका रचनाकाल सं० १६६८ बतलाया है जो सही नहीं प्रतीत होता। संभवतः वह प्रति लेखकका समय है।

भद्रबाहु-निमित्त-शास्त्र

नववाँ अध्याय

अथातः सम्प्रवक्ष्यामि वातलक्षणमुत्तमम् । प्रशस्तमप्रशस्तं च यथावदनुपूर्वशः ॥ १ ॥

अर्थ– यहांसे अब मैं वायुका उत्तम लक्षण कहूंगा। जो प्रशस्त, अप्रशस्तके भेदसे दो प्रकारका है और वह ठीक पूर्वाचार्योंके अनुसार होगा ॥ १ ॥

वर्षं भयं तथा क्षेमं राज्ञो जय-पराजयम् । मारुतः कुरुते लोके जन्तूनां पाप-पुण्यजम् ॥ २ ॥

अर्थ—वायु संसारी प्राणियोंके पुण्य एवं पापसे उत्पन्न होने वाले वर्षण, भय, क्षेम और राजाके जय-पराजयको सूचित करता है ॥ २ ॥

आदानाच्चैव पाताच्च पचनाच्च विसर्जनात् । मारुतः सर्वगर्भाणां बलवान्नायकश्च सः ॥ ३ ॥

अर्थ– सब जलगर्भोंके आदान, पातन, पचन और विसर्जनका कारण होनेसे मारुत बलवान होता है और वह सर्व गर्भोंका नायक कहा जाता है ॥ ३ ॥

दक्षिणस्यां दिशि यदा वायुर्दक्षिणकाष्ठिकः । समुद्रानुशयो नाम स गर्भाणां तु सम्भवः ॥ ४ ॥

अर्थ—दक्षिण दिशाका वायु जब दक्षिण दिशामें बहता है तब वह 'समुद्रानुशय' नामका वायु कहलाता है और गर्भोंका उत्पन्न करने वाला कहलाता है ॥ ४ ॥

तेन संजनितं गर्भं वायुर्दक्षिणकाष्ठिकः । धारयेद्धारणे मासे पाचयेत् पाचने तथा ॥ ५ ॥

अर्थ—उस 'समुद्रानुशय' वायुसे उत्पन्न गर्भको दक्षिण दिशाका वायु धारण मासमें धारण करता है तथा पाचन मासमें पकाता है ॥ ५ ॥

धारितं पाचितं गर्भं वायुरुत्तरकाष्ठिकः । प्रमुञ्चति यतस्तोयं वर्षं तं मरुतोच्यते ॥ ६ ॥

अर्थ—उस धारण किए तथा पाकको प्राप्त हुए मेघगर्भको चूंकि उत्तर दिशाका वायु विसर्जित करता है अतएव उस वर्षा करने वाले वायुका 'मरुत' कहते हैं ॥ ६ ॥

आषाढी पूर्णिमाके वायु-निमित्तसे शुभाऽशुभ-परिज्ञान

आषाढीपूर्णिमायान्तु पूर्ववातो यदा भवेत् । प्रवाति दिवसं सर्वं सुवृष्टिः सुषमा तदा ॥ ७ ॥

अर्थ—आषाढ़ मासकी पूर्णिमाके दिन पूर्व दिशाका वायु—पुरवाई हवा—यदि सारे दिन चले तो (वर्षाकालमें) अच्छी वर्षा होती है, वर्ष अच्छा बीतता है ॥ ७ ॥

वाप्यानि सर्वबीजानि जायन्ते निरुपद्रवम् । शूद्राणामुपघाताय सोऽत्र लोके परत्र च ॥ ८ ॥

अर्थ—उस समय बोये गये सम्पूर्ण बीज उपद्रव (ईतिभीति) रहित होकर उत्तम रीतिसे उत्पन्न होते हैं । परन्तु शूद्रोंके लिये वह वायु इसलोक और परलोकमें उपघातका कारण होता है ।

दिवसार्धं यदा वाति पूर्वमासौ तु सोदकौ । चतुर्भागेण मासस्तु शेषं ज्ञेयं यथाक्रमम् ॥ ९ ॥

अर्थ—यदि आषाढ़ी पूर्णिमाके आधे दिन (सूर्योदयसे दोपहर तक) पूर्व दिशाका वायु चले तो पहिले दो महीने अच्छी वर्षाके समझने चाहिये और यदि चौथाई दिन (एक पहर) वह वायु चले तो एक महीना अच्छी वर्षाका समझना चाहिये। इसी तरह वायु तथा वर्षाका शेष हिसाब जानना चाहिये ॥ ९ ॥

पूर्वार्द्ध दिवसौ ज्ञेयौ पूर्वमासौ तु सोदकौ । पश्चिमे पश्चिमौ मासौ ज्ञेयौ द्वावपि सोदकौ ॥ १० ॥

अर्थ—यहां इतना विशेष जानना चाहिये कि उस दिन यदि पूर्वार्धमें पूर्ववायु चले तो पहले दो महीने वर्षाके और उत्तरार्द्धमें चले तो पिछले दो महीने अच्छी वर्षाके समझने चाहिये । १० ॥

हित्वा पूर्वं तु दिवसं मध्याह्ने यदि वाति चेत् । वायुर्मध्यममासात्तु तदा देवो न वर्षति ॥ ११ ॥

अर्थ—यदि दिनके पूर्वभागको छोड़ कर मध्याह्नमें उस दिन वायु चले तो मध्यम माससे मेघ नहीं बर्षेगा ऐसा जानना चाहिए ॥ ११ ॥

आषाढीपूर्णिमायान्तु दक्षिणो मारुतो यदि । न तदा वापयेत्किंचिद् ब्रह्मक्षत्रं च पीडयेत् ॥ १२ ॥

धनधान्यं न विक्रेयं बलवन्तं च संश्रयेत् । दुर्भिक्षं मरणं व्याधिस्त्रासं मासं प्रवर्तते ॥ १३ ॥

अर्थ—आषाढी पूर्णिमाको (दैवयोगसे) यदि दक्षिण दिशाका वायु चले तो उस समय (बोवनी-के समय) कुछ न बोना चाहिए । वह वायु ब्रह्मक्षत्रको—ब्राह्मण प्रदेशके लिये—पीड़ाकारी होता है । उस समय धनधान्यका विक्रय नहीं करना चाहिए एवं किसी बलवान राजादिका आश्रय ग्रहण करना चाहिए क्योंकि एक मासमें ही दुर्भिक्ष, मरण, व्याधि और त्रास उपस्थित होने लगता है ॥ १२, १३ ॥

आषाढीपूर्णिमायान्तु पश्चिमो यदि मारुतः । मध्यमं वर्षणं शस्यं धान्यार्घो मध्यमस्तथा ॥१४॥

उद्विजन्ति च राजानो वैराणि च प्रकुर्वते । परस्परापघाताय स्वराष्ट्रपरराष्ट्रयोः ॥ १५ ॥

अर्थ—आषाढ़ी पूर्णिमाको यदि पश्चिमवायु चले तो मध्यम प्रकारकी वर्षा होती है । शस्यकी तथा धान्यके अर्घ(मूल्य) की स्थिति मध्यम होती है । राजा लोग उद्विग्न हो उठते हैं और अपने तथा दूसरोंके राष्टको परस्परमें घात करनेके लिए वैर-भाव धारण करते है ॥ १४, १५ ॥

आषाढीपूर्णिमायान्तु वायुः स्यादुत्तरो यदि । वापयेत्सर्वबीजानि शस्यं ज्येष्ठं प्रवर्द्धते ॥ १६ ॥

क्षेमं सुभिक्षमारोग्यं प्रशान्ताः पार्थिवास्तथा । बहूदकास्तदा मेघा मही धर्मोत्सवाकुला ॥ १७ ॥

अर्थ—आषाढकी पूर्णिमाको यदि उत्तर दिशाका वायु चले तो उस समय (बोवनीके समय) सब बीजोंको बो देना चाहिए, क्योंकि उस समय बोये गये बीज बहुतायतसे उत्पन्न होते हैं तथा क्षेम (कुशलता), सुभिक्ष, (सुकाल) एवं आरोग्य (तन्दुरुस्ती) की वृद्धि होती है और राजा युद्धके उद्यमसे सदा शान्त रहते हैं—प्रजाके साथ उत्तम व्यवहार करते हैं—मेघ बहुत जल बर्षाते हैं और पृथ्वी धर्मोत्सवोंसे व्याप्त होती है ॥ १६, १७ ॥

आषाढीपूर्णमायां तु वायुः स्यात्पूर्वदक्षिणः । राजमृत्युर्विजानीयाच्चित्रं शस्यं तथा जलम् ॥१८॥
क्वचिन्निष्पद्यते शस्यं क्वचिच्चापि विपद्यते । धान्यार्थो मध्यमो ज्ञेयस्तदाऽग्नेश्च भयं नृणाम् ॥१९॥

अर्थ—आषाढी पूर्णिमाको यदि पूर्व और दक्षिणके बीचकी अर्थात् अग्निकोणकी वायु चले तो राजाकी मृत्यु होती है। शस्य तथा जलकी स्थिति चित्र-विचित्र होती है। धान्यकी उत्पत्ति कहीं होती है और कहीं उसपर आपत्ति आ जाती है। मनुष्यको धान्यका लाभ मध्यम होता है और अग्निभय बना रहता है ॥ १८, १९ ॥

आषाढीपूर्णिमायान्तु वायुः स्याद्दक्षिणापरः । शस्यानामुपघाताय चौराणां तु विवृद्धये ॥२०॥
भस्म पांशु-रजःकीर्णा तदा भवति मेदिनी । सर्वत्यागं तदा कृत्वा कर्तव्यो धान्यसंग्रहः ॥ २१ ॥
विद्रवन्ति च राष्ट्राणि क्षीयन्ते नगराणि च । श्वेतास्थिमेदिनी ज्ञेया मांस-शोणित-कर्दमा ॥२२॥

अर्थ—आषाढी पूर्णिमाको यदि (दैवयोगसे) दक्षिण और पश्चिमके बीचकी दिशा—नैऋत्य कोणकी वायु चले तो वह धान्योंके घात एवं चोरोंकी वृद्धिके लिये होता है। उस समय पृथ्वी भस्म, धूलि एवं रजः कणोंसे भर जाती है अर्थात् अनावृष्टिसे पृथ्वीपर धूलि, मिट्टी उड़ा करती है। उस समय और सब चीजोंको छोड़कर धान्य का संग्रह करना चाहिए। उस समय राष्ट्रोंमें उपद्रव पैदा होते हैं नगरोंका क्षय होता है। पृथ्वी श्वेत हड्डियोंसे भर जाती है और मांस तथा खूनके कीचड़से सनी रहती है। ॥ २०, २१, २२ ॥

आषाढीपूर्णिमायान्तु वायुः स्यादुत्तरापरः । मक्षिका दंशमशका जायन्ते प्रबलास्तदा ॥ २३ ॥
मध्यमं क्वचिदुत्कृष्टं वर्षं शस्यं च जायते । नूनं च मध्यमं किञ्चिद्धान्यार्थं तत्र निर्दिशेत् ॥२४॥

अर्थ—आषाढी पूर्णिमाको यदि वायु उत्तर पश्चिम (वायव्य) कोणकी चले तो मक्खी डांस और मच्छर प्रबल हो उठते हैं। वर्षा और धान्योत्पत्ति कहीं मध्यम और कहीं उत्तम होती है और कुछ धान्यों-का मूल्य अथवा लाभ निश्चित रूपसे मध्यम समझना चाहिए ॥ २३, २४ ॥

आषाढीपूर्णिमायान्तु वायुः पूर्वोत्तरो यदा । वापयेत्सर्वबीजानि तदा चौरांश्च घातयेत् ॥२५॥
स्थलेष्वपि च यद्बीजमुप्यते तत्समृद्ध्यति । क्षेमं चैव सुभिक्षं च भद्रबाहुवचो यथा ॥२६॥
बहूदका शस्यवती यज्ञोत्सवसमाकुला । प्रशान्तडिम्भडमरा च शुभा भवति मेदिनी ॥ २७ ॥

अर्थ—आषाढकी पूर्णिमाको यदि पूर्व और उत्तर दिशाके बीचका—ईशान कोणका—वायु चले उससे चोरोंका घात होता है अर्थात चोरोंका उपद्रव कम होता है। उससमय सब बीज बोने चाहिए, स्थलों-

पर भी बोया हुआ बीज उगता तथा समृद्धिको प्राप्त होता है। सर्वत्र क्षेम और सुभिक्ष होता है। ऐसा भद्रबाहुका वचन है। साथ ही पृथ्वी बहुत जल और धान्यसे सम्पन्न होती है, यज्ञोत्सवों प्रतिष्ठादि महोत्सवोंसे परिपूर्ण होती है और सब विडम्बनाएँ दूर होकर प्रशान्त वातावरणको लिए हुए मङ्गलमय हो जाती है॥ २५, २६, २७॥

पूर्वो वातः स्मृतः श्रेष्ठस्तथा चाप्युत्तरो भवेत्। उत्तमस्तु तथैशानो मध्यमस्त्वपरोत्तरः॥२८॥
अपरस्तु तथा न्यूनः शिष्टो वातः प्रकीर्तितः। पापे नक्षत्र-करणे मुहूर्ते च तथा भृशम्॥ २९॥

अर्थ—पूर्वका वायु श्रेष्ठ होता है। उसी प्रकार उत्तरका वायु भी श्रेष्ठ कहा गया है। ईशान दिशाका वायु उत्तम होता है। वायव्यकोणका तथा पश्चिमका वायु मध्यम होता है। शेष (दक्षिण दिशा तथा अग्नि और नैऋत्य कोणका) वायु अधम कहा गया है उस समय नक्षत्र, करण, तथा मुहूर्त यदि पापी हों—अशुभ हों—तो वायु और भी अधिक अधम होता है॥ २८, २९॥

पूर्ववातं यदा हन्यादुदीर्णो दक्षिणोऽनिलः। न तत्र वापयेद्धान्यं कुर्यात् संचयमेव च॥३०॥
दुर्भिक्षं चाप्यवृष्टिं च शस्त्रं रोगं जनक्षयम्। कुरुते सोऽनिलो घोरं आषाढाभ्यन्तरं परम्॥३१॥

अर्थ—आषाढी पूर्णिमाके दिन पूर्वके चलते हुए वायुको यदि दक्षिणका उठा हुआ वायु परास्त करके नष्ट कर दे तो उस समय धान्यको नहीं बोना चाहिए किन्तु संचय ही करना चाहिये। क्योंकि वह वायु दुर्भिक्ष, अनावृष्टि, शस्त्रसंचार (युद्ध) और जनक्षयका कारण होता है—उनके होनेको सूचित करता है॥ ३०, ३१॥

पापघाते तु वातानां श्रेष्ठं सर्वत्र चादिशेत्। श्रेष्ठानपि यदा हन्युः पापाः पापं तदादिशेत्॥३२॥

अर्थ—श्रेष्ठ वायुओंमेंसे किसीके द्वारा पापवायुका यदि घात हो तो उसका फल सर्वत्र श्रेष्ठ कहना चाहिये और पाप (दुष्ट) वायुएँ श्रेष्ठ वायुओंका यदि घात करें तो उसका फल अशुभ होता है॥ ३२॥

यदा तु वाताश्चत्वारो भृशं वान्त्यपसव्यतः। अल्पोदकं शस्यघातं भयं व्याधिं च कुर्वते॥ ३३॥

अर्थ—यदि पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तरके चारों पवन अपसव्य मार्गसे (दाहिनी ओरसे) तेजीके साथ चलें तो वे अल्पवर्षा, धान्यनाश भय और व्याधिको करने वाले होते हैं॥ ३३॥

प्रदक्षिणं यदा वान्ति त एव सुखशीतलाः। क्षेमं सुभिक्षमारोग्यं राजवृद्धिं जयं तथा॥ ३४॥

अर्थ—वे ही चारों पवन यदि प्रदक्षिणा करते हुए चलते हैं तो सुख एवं शीतलताको प्रदान करने वाले होते हैं। तथा लोगोंको क्षेम, सुभिक्ष, आरोग्य, राजवृद्धि और विजयकी सूचना देने वाले होते हैं॥ ३४॥

समन्ततो यदा वान्ति परस्परविघातिनः। शस्त्रं जनक्षयं रोगं शस्यघातं च कुर्वते॥ ३५॥

अर्थ—चारों पवन यदि सब ओरसे एक दूसरेका परस्पर घात करते हुए चलें तो शस्त्रभय (युद्ध), जननाश, रोग और धान्यघात करने वाले होते हैं॥ ३५॥

एवं विज्ञाय वातानां संयताः भैक्ष्यवर्तिनः। प्रशस्तान्यत्र पश्यन्ति वसेयुस्तत्र निश्चितम्॥ ३६॥

अर्थ—इस प्रकार पवनों और उनके शुभाशुभ फलको जान कर भिक्षावृत्तिवाले साधुओंको चाहिए कि वे जहां बाधारहित प्रशस्त स्थान देखे वहीं निश्चितरूपसे निवास करें॥ ३६ ॥

आहारस्थितयः सर्वे जङ्गमाः स्थावरास्तथा । जलसंभवं च सर्वं तस्यापि जनकोऽनिलः ॥ ३७ ॥

अर्थ—जंगम और स्थावर सब जीवोंकी स्थिति आहारपर निर्भर है—सबका आधार आहार है—वह सब आहार जलसे उत्पन्न होता है और उस जलको भी उत्पन्न करनेवाला वायु है ॥ ३७ ॥

सार्वकालिक वायुका लक्षण

सर्वकालं प्रवक्ष्यामि वातानां लक्षणं परम् । आषाढीवत्तत्साध्यं यत्पूर्वं सम्प्रकीर्तितम् ॥३८॥

अर्थ—अब पवनोंका सार्वकालिक उत्तम लक्षण कहूँगा, उसे पूर्वमें कहे हुए आषाढी पूर्णिमाके समान सिद्ध करना चाहिए॥ ३८ ॥

पूर्ववातो यदा तूर्णं सप्ताहं वाति कर्कशः । स्वस्थाने नाऽभिवर्षेत् महदुत्पद्यते भयम् ॥३९॥
प्राकार-परिखानां च शस्त्राणां च समन्ततः । निवेदयति राष्ट्राणां विनाशं तादृशोऽनिलः ॥४०॥

अर्थ—पूर्व दिशाका पवन यदि कर्कशरूप धारण करके अतिशीघ्र गतिसे चले तो वह स्वस्थानमें वर्षाके न होनेकी सूचना देता है और उससे अत्यन्त भय उत्पन्न होता है उस प्रकारका पवन कोट-खाइयों, शस्त्रों और राष्ट्रोंका सब ओरसे विनाश सूचित करता है॥ ३९, ४० ॥

सप्तरात्रं दिनार्द्धञ्च यः कश्चिद्वाति मारुतः । महद्भयं हि विज्ञेयं वर्षं वाऽथ महद्भवेत् ॥४१॥

अर्थ—किसी भी दिशाका वायु यदि साढ़े सात दिन तक लगातार चले तो उसे महान् भयका सूचक जानना चाहिए अथवा उसके कारण अतिवृष्टि होती है॥ ४१ ॥

पूर्वसंध्यां यदा वायुरपसव्यं प्रवर्तते । पुरावरोधं कुरुते यायिनां तु जयावहम् ॥ ४२ ॥

अथ—यदि वायु अपसव्यमार्गसे पूर्वसंध्याको वातान्वित करता है तो वह पुरके अवरोधका—घेरेमें पड़ जानेका—सूचक है। उस समय यायियों-युद्धयात्रियोंकी विजय होती है॥ ४२ ॥

पूर्वसंध्यां यदा वायुः सम्प्रवाति प्रदक्षिणः । नागराणां जयं कुर्यात्सुभिक्षं यायिविद्रवम् ॥४३॥

अर्थ—यदि वह वायु प्रदक्षिणा करता हुआ पूर्वसंध्याको व्याप्त करे तो उससे नागरिकों (स्थायी) की विजय होती है, सुभिक्ष होता है और चढ़कर आनेवाले युद्धयात्रियोंको लेनेके देने पड़ जाते हैं अर्थात् उन्हें भागना पड़ता है॥ ४३ ॥

मध्याह्ने चार्द्धरात्रे वा तथा वास्तमनोदये । वायुस्तूर्णं यदा वाति तदाऽवृष्टिभयं रुजम् ॥ ४४ ॥

अर्थ—यदि वायु मध्याह्नमें, अर्धरात्रिमें तथा सूर्यके अस्त और उदयके समय शीघ्र गतिसे चले तो अनावृष्टिका भय और रोग उत्पन्न होते हैं ॥ ४४ ॥

यदा राज्ञः प्रयातस्य प्रतिलोमोऽनिलो भवेत् । अपसव्यो समार्गस्थस्तदा सेनावधं विदुः ॥४५॥

अर्थ—राजाके प्रयाणके समय वायु यदि प्रतिलोम (उल्टा) बहे अर्थात् उस दिशाको न चलकर जिधर प्रयाण किया जारहा है उस दिशाको चले जिधरसे प्रयाण हो रहा है और वह अपसव्य (दाहिनी ओरका) माग अंगीकार करे अथवा सेनाके मार्गमें स्थित हो जाए तो उससे राजाकी सेनाका बध होगा ऐसा समझना चाहिए ॥ ४५ ॥

अनुलोमो यदा स्निग्धः सम्प्रवाति प्रदक्षिणः । नागराणां जयं कुर्यात्सुभिक्षं च प्रदीपयेत्॥४६॥

अर्थ—यदि वायु स्निग्ध (सचिक्कण) हो और प्रदक्षिणा करता हुआ अनुलोमरूपसे बहे—उसी दिशाको चले जिधरको प्रयाण होरहा है—तो उससे नगरवासियोंकी विजय होती है और सुभिक्षकी सूचना मिलती है ॥ ४६ ॥

दशाहं द्वादशाहं वा पापवाता यदा भवेत् । अनुबन्धं तदा विन्द्याद्राजमृत्युं जनक्षयम् ॥४७॥

अर्थ—यदि पापवायु दश दिन तक या बारह दिन तक लगातार चले तो उससे सेनादिकका बन्धन, राजाकी मृत्यु और मनुष्योंका क्षय होता है, ऐसा समझना चाहिए ॥ ४७ ॥

यदाऽभ्रवर्जितो वाति वायुस्तूर्णमकालजः । पांशुभस्मसमाकीर्णः शस्यघाता भयावहः ॥ ४८ ॥

अर्थ—जब मेघरहित अकालमें उत्पन्न हुआ वायु धूलि और भस्मसे भरा हुआ चलता है तब वह शस्य (धान्य) घातक एवं महाभयंकर होता है ॥ ४८ ॥

सविद्युत्सरजो वायुरूर्ध्वगा वायुभिः सह । प्रवाति पक्षिशब्देन क्रूरेण स भयावहः ॥ ४९ ॥

अर्थ—यदि बिजली और धूलिसे युक्त वायु अन्य वायुओंके साथ ऊर्ध्वगामी हो और क्रूरपक्षी-के समान शब्द करता हुआ चले तो वह भयंकर होता है ॥ ४९ ॥

प्रवान्ति सर्वतो वाताः यदा तूर्णं मुहुर्मुहुः । यतो यतोऽभिगच्छन्ति तत्र देशं निहन्ति ते ॥५०॥

अर्थ—यदि पवनें सब ओरसे बार बार शीघ्रगतिसे चलें तो जिस जिस देशको तरफ गमन करती हैं उस उस देशका घात करती हैं—उसे हानि पहुँचाती है । ॥ ५० ॥

अनुलोमो यदानीके सुगन्धो वाति मारुतः । अयत्नतस्तदा राजा जयमाप्नोति सर्वदा ॥५१॥

अर्थ—यदि राजाकी सेनामें सुगन्धित अनुलोम (प्रयाणकी दिशामें ही प्रगतिशील पवन चले तो बिना यत्नके ही वह राजा सदा विजयको प्राप्त होता है ॥ ५१ ॥

प्रतिलोमो यदानीके दुर्गन्धो वाति मारुतः । तदा यत्नेन साध्यन्ते वीरकीर्तिसुलब्धयः ॥ ५२ ॥

अर्थ—यदि राजाकी सेनामें दुर्गन्धित प्रतिलोम (प्रयाण-दिशा-प्रतिपक्षी) पवन चले तो उस समय वीर-कीर्तिकी उपलब्धियाँ बड़ी ही प्रयत्न-साध्य होती हैं—वीरोंको यशका मिलना दुर्धर होजाता है ॥ ५२ ॥

युद्धस्थलीय-वायु-विषयक निमित्तज्ञान

यदा सपरिघा सन्ध्या पूर्वो वात्यनिलो भृशम्। पूर्वस्मिन्नेव दिग्भागे पश्चिमा वध्यते चमूः॥५३॥

अर्थ—यदि प्रातः अथवा सायंकालकी सन्ध्या परिघ - सहित हो—सूर्यको लाँघती हुई मेघोंकी पंक्तिसे युक्त हो—और उस समय पूर्वका वायु अतिवेगसे चलता हो तो पूर्व दिशामे ही पश्चिम दिशाका सेनाका वध होता है॥ ५३ ॥

यदा सपरिघा संध्या पश्चिमा वाति मारुतः। अपरस्मिन् दिशो भागे पूर्वा सा वध्यते चमूः॥५४॥

अर्थ—यदि संध्या सपरिघा हो—सूर्यको लाँघती हुई मेघ पंक्तिसे युक्त हो—और उस समय पश्चिम पवन चले तो पूर्व दिशामें स्थित सेनाका पश्चिमदिशामें बध होता है॥ ५४ ॥

यदा सपरिघा सध्या दक्षिणो वाति मारुतः। अपरस्मिन्दिशो भागे उत्तरा वध्यते चमूः॥ ५५ ॥

अर्थ—यदि संध्या सपरिघा हो—सूर्यको लाँघती हुई मेघपंक्तिसे युक्त हो—और उस समय दक्षिणका वायु चलता हो तो उत्तरकी सेनाका दक्षिण दिशामें बध होता है॥ ५५ ॥

यदा सपरिघा संध्या उत्तरो वाति मारुतः। अपरस्मिन् दिशो भागे दक्षिणा वध्यते चमूः॥५६॥

अर्थ—यदि संध्या परिघ-सहितहो—सूर्यको लांघती हुई मेघपंक्तिसे युक्त हो—और उस समय उत्तरका पवन चले तो दक्षिणकी सेनाका उत्तरदिशामें बध होता है॥ ५६ ॥

प्रशस्तस्तु यदा वातः प्रतिलोमोऽनुपद्रवः। तदा यान् प्रार्थयेत्कामांस्तान् प्राप्नोति नराधिपः॥५७॥

अर्थ—जब प्रतिलोम वायु प्रशस्त और उपद्रवरहित हो तो राजा जिन कार्योंको चाहता है वे उसे प्राप्त होते है अर्थात् राजाको उसके अभीष्टकी सिद्धि होती है॥ ५७ ॥

अप्रशस्तो यदा वायुर्नाऽभिपश्यत्युपद्रवम्। प्रयातस्य नरेन्द्रस्य चमूः हारयते सदा॥५८॥

अर्थ—यदि वायु अप्रशस्त हो और उस समय कोई उपद्रव दिखाई न पड़ता हो तो युद्धकेलिये प्रयाण करनेवाले राजाकी सेना सदा पराजित होती है॥ ५८ ॥

तिथीनां करणानां च मुहुर्तानां च ज्योतिषाम्। मारुतो बलवान्नेता तस्माद्यत्रैव मारुतः॥५९॥

अर्थ—तिथियों, करणों, मुहूर्तों और ज्योतिषियों (ग्रह - नक्षत्रादिकों) का बलवान नेता वायु है अतः जहां वायु है वहीं उनका बल समझना चाहिए॥ ५९ ॥

वायमानेऽनिले पूर्वे (वै) मेघास्तत्र समादिशेत्। उत्तरे वायमाने तु जलं तत्र समादिशेत्॥६०॥

अर्थ—यदि पूर्वदिशामें पवन चले तो उस दिशामें मेघोंका होना कहना चाहिये और यदि उत्तर दिशामें पवन चले तो उस दिशामें जलका होना कहना चाहिए॥ ६०॥

ईशाने वर्षणं ज्ञेयं आग्नेये नैऋतेऽपि च। याम्ये च विग्रहं ब्रूयाद्भद्रबाहुवचो यथा ॥६१॥

अर्थ—यदि ईशानकोणमें पवन चले तो वर्षाका होना जानना चाहिये और यदि नैऋत्य तथा दक्षिण दिशामें पवन चले तो विग्रह (युद्ध) का होना कहना चाहिए ॥ ६१ ॥

सुगन्धेषु प्रशान्तेषु स्निग्धेषु मार्दवेषु च। वायमानेषु वातेषु सुभिक्षं क्षेममेव च ॥ ६२ ॥

अर्थ—यदि चलने वाले पवन सुगन्धित, प्रशान्त (शान्तिमय), स्निग्ध (सचिक्कण) तथा कोमल हों तो सुभिक्ष तथा क्षेमका ही होना कहना चाहिये ॥ ६२ ॥

महतोपि समुद्भूतान्सतडित्साऽभिगर्जितान्। मेघान्विहनते वायुः नैऋत्यो दक्षिणाग्निजः ॥६३॥

अर्थ—नैऋत्यकोण, अग्निकोण तथा दक्षिणदिशाका पवन उन बड़े मेघोंको भी नष्ट कर देता है—बरसने नहीं देता—जो चमचमाती बिजली और भारी गर्जनासे युक्त हों और उसके द्वारा ऐसा भाव दर्शाते हों कि अभी बरसनेवाले हैं ॥ ६३ ॥

सर्वलक्षणसंपन्नाः मेघमुख्याः जलावहाः। मुहूर्तादुत्थितो वायुर्हन्यात् सर्वोऽपि नैऋतः ॥ ६४ ॥

अर्थ—सर्व लक्षणोंसे सम्पन्न जलको धारण करने वाले जो मुख्य मेघ हैं उन्हें भी नैऋत्यदिशाका उठा हुआ पूर्ण पवन एक मुहूर्तमें नष्ट कर देता है ॥ ६४ ॥

सर्वथा बलवान् वायुः स्वचक्रे निरभिग्रहः। करणादिभिः संयुक्तो विशेषेण शुभाऽशुभः ॥६५॥

अर्थ—अभिग्रहसे (बन्धन तथा परके आक्रमणसे) रहित वायु स्वचक्रमें सर्वथा बलवान होता है और यदि करणादिकसे संयुक्त हो तो विशेषरूपसे शुभ अशुभ होता है अर्थात् शुभकरणादिकके योगसे शुभ फलका और अशुभ करणादिकके योगसे अशुभ फलका दाता होता है ॥ ६५ ॥

मूलमें भूल

(ले०—बा० अनन्तप्रसाद जैन B. Sc. Eng.)

संसारमें सभी सुख चाहते है—सुखी होना चाहते हैं। पर दुखसे छुटकारा कैसे मिलेगा इसपर बहुत कम लोग ध्यान देते है। दुख क्या है, क्यों होता है तथा उसे दूर करनेका क्या उपाय है? इसपर लोग यदि ध्यान दें तो अधिक लाभ हो सकता है। दुख और सुख क्या है, उनके होनेका elementary प्रारंभिक प्रधान कारण क्या है तथा एकको दूर करके दूसरेको कैसे प्राप्त किया जासकता है? यह सब एक प्रारम्भिक प्रश्न है। पर इधर ध्यान ही कौन देता है? एक दुख या बीमारीको बहुत दिनोंसे भोगते भोगते कोई भी उससे होनेवाले दुखोंका या तकलीफोंका आदी हो जाता है। उसके लिये उसमें कोई नयापन नहीं रहजाता। वह उस तकलीफको सहता हुआ एक आवश्यक भारसा वहन करता हुआ-भूला हुआसा संसारके और काम करता रहता है। और धीरे धीरे यह सब कुछ स्वभावमें ही परिणत हो जाता है। फिर तो वह तकलीफ या दुख उसके जीवनका ही एक (essential part) आवश्यक अंग सा होजाता है जिसके हटनेमें ही नयापन पैदा हो जाय—या नित्यप्रतिके नित्यनैमित्तिक (routine) कार्योंमें खलल पैदा हो। अन्यथा जो चलता रहता है चलता ही रहता है। इसी तरह दुनिया चली जारही है-अपना मर्ज अपना कोढ़, अपनी बीमारी अपने आपपर लादे हुये, ढोतहुए भुगतते हुए। हां, कभी कभी जब पीड़ा बढ़ जाती है, नई खुजली पैदा होती है या कुछ नई तकलीफ होने लगती है तब भान होता है कि जैसे कोई बीमारी है या बहुत दिनोंसे हो रही है और मनुष्य उसके प्रतिकारका कुछ उपाय करता है—कुछ हुआ तो हुआ, नहीं तो रोज के 'नून तेल लकड़ी' के चक्करमें धीरे धीरे वह नई खुजली भी पुरानीमें परिणत हो जाती है और खुजलाता खुजलाता उसकी टीसके मजे लेता और दुखसे 'सी सी' करता करता आगे बढ़ता चला जाता है। उसे फुरसत ही कहां है कि वह इधर देखे भी—इधर ध्यानको फेरे भी। वह तो एक Absolute बेबसीकी हालतमें चलता हो जाता है, रुकने का उसे अवकाश ही कहां! वह है साथमें 'पेट', 'बालबच्चे', 'कुटुम्ब परिवार' और सबके ऊपर 'सांसारिक प्रतिबन्धन'। धनीको धनसे फुर्सत नहीं और गरीबको गरीबीसे, दोनों ही बेसुध! जब मर्ज बहुत काफी बढ़ जाता है और बर्दाश्तसे बाहर हो जाता है या उसके कारण कार्योंमें बाधा पहुँचने लगती है तब व्यक्तिका ध्यान डाक्टर वैद्यकी तरफ जाता है। पर अधिकतर डाक्टर और वैद्य भी इस सांसारिक बीमारीके वैसे ही शिकार है। जिन्हें खुदको भी ठीक सुध नहीं वे क्या दवा करेंगे। नतीजा यह होता है कि 'मर्ज बढ़ता गया ज्यों ज्यों दवा की;' फिर तो दवामें विश्वास ही उठजाता है। वह ईश्वरको पुकारता है, पर वहां ईश्वर कहां? वह तो एक काल्पनिक वस्तु है, जिसे विद्वानों ने दुखी मानवके संतोषके लिये रख दिया है, ताकि वह भूला रहे। पर उसीपर हर तरहसे निर्भर होकर यह विश्वास कर लेना कि अपने आपसे पैदा किये सारे दुखों और जंजालोंको वह क्षणमात्रमें छू मन्त्रके जोरसे उड़ा देगा, नादानी नहीं तो और क्या है? यह नादानी ऐसी है कि सभी जन इसमें मुबतिला हैं और इसीमें वाहवाही समझते हैं। फिर दवा क्या—उपाय क्या? आखिर इनसे कैसे छुटकारा मिले या मिल सकता है? क्या कभी कोई ठीक डाक्टर या वैद्य हुआ ही नहीं या होगा ही नहीं? सो भी बात नहीं है। रोगको ठीक जानने पहचानने और ठीक निदान बतानेवाले डाक्टर भी हुये हैं और होंगे भी, पर दुःखोंके बोझसे दबा हुआ मानव जब एक बार उन दुःखोंको स्वभावमें दाखिल करलेता है तब वह बाकी सारी बातोंसे प्रायः बेखबरसा ही हो जाता है। अन्धा बहरा गूंगा हो जाता है। चाहे कितना ही ढोल पीटा जाय, उसे चेत नहीं होता। एक बार बहक जानेपर किसीको फिर

ठीक रास्तेपर लाना जब मुशकिल है तब यह तो न जाने किस अनादि कालसे भटकता चला आ रहा है। यही कारण है कि हमारा स्वभाव अब ऐसा हो गया है कि हम दुःखोंको और उनके कारणोंको ही अपने मे चिपकाए हुए–भूले हुए और उन्हें अपना एक अनिवार्य आवश्यक अंग समझते हुए वहन करते चलते जाते हैं और जो कोई उन्हें फेंकने या छोड़ देनेको कहता है तो उलटे उसीपर बिगड़ते हैं, उसको गालियां देते हैं, पागल कहते है और उसकी बातों को नहीं मानते अथवा सुनी अनसुनी कर देते हैं, इत्यादि। कहॉ तक कहा जाय इस तरह हमारा मर्ज आज ला-दवासा (असाध्य–जैसा) हो रहा है।

बात यह नहीं कि दवाइयां नहीं। होनेको तो "संजीवनी बूटी" और "अमृत" भी है। असली और नकली तथा असलीसे समानता रखती हुई बहुत सी दूसरी भी दवाइया' है जो अपना कम–बेश फायदा दिखलाती है। पर जब हम उधर ध्यान दे तब तो। और बीचमें झूठे दवाफरोश, जो चारों तरफ अपनी अपनी दवाओंका इश्तहार करते-विज्ञापन करते घूम रहे हैं, वे भी तो हमें असली "संजीवनी" तक पहुंचने नहीं देते—हम बीचमें ही उनकी झूठी लुभावनी बातोंमें पड़ कर भटक जाते हैं और नकली दवाओंको ही असली समझकर अपना लेते हैं। यदि उनमे थोड़ा बहुत आराम मिला तब तो पूछना ही क्या ? हम उसे ही अमृत समझने लगते हैं और उस झूठे ढोंगी - विज्ञापन–बाजीके जोरपर अपना रोजगार फैलाए रखने वाले वैद्यको ही अपना रक्षक एवं गुरु या देवता मान लेते हैं।

आखिर यह सब होता क्यों हैं ? और इन दुःखों-का कोई उपाय भी है या नहीं? यह सब कुछ होता है अज्ञानसे तथा नासमझीसे। और इन दुःखोंको दूर करनेका उपाय भी है, पर उसके लिए सबसे पहले नासमझी और अज्ञान तथा जिदको दूर करना सर्व–प्रथम काम है। हम अपनी जिद और अकड़में अपनी पकड़को ही ठीक समझते हुए किसी दूसरेकी सुनने को तैयार नहीं। अतः इस गलत एवं भ्रमपूर्ण जिद या अकड़को सबसे पहले दूर करना होगा। जब हम अच्छे डाक्टरकी बात ही नहीं सुनेंगे तो हम उसका कहना ही कैसे समझेंगे फिर तो जो कुछ वह कहता है उसे मानना और भी अधिक दूर की बात है। इस लिए सबसे पहले यह आवश्यक है कि उचित शिक्षा एव प्रचारके द्वारा यह गलत भावना संसारके लोगों-के दिमागसे दूर की जाय कि जो कुछ अब तक वह अपना समझता आया है वही ठीक है, बाकी सब गलत। अथवा उसका एक डाक्टर जो कहता है या कह गया है वही ठीक है और बाकी दुनियांके जितने दूसरे डाक्टर कहतेहैं या कह गए हैं वह सब गलत है, इत्यादि। जब तक यह अज्ञानपूर्ण कूड़मग़जी लोगोंमें बनी रहेगी तब तक न वे किसीकी ठीक तरह-से सुनेंगे और न उनका रोग दूर होगा। जब लोगएक दूसरेकी सुनने लगेंगे और समझनेको कोशिश करके समझने लगेंगे तब सब कुछ अपने आप ही ठीक हो हो जायगा।

अभी तो हालत ऐसी है कि एक धर्म माननेवाला दूसरे धर्मको एक दम गलत, झूठा और बहकी हुई बात समझता है। यह कभी नहीं सोचता या ख्याल करता कि सभव है उसके गुरुने हो कोई गलती की हो–जरा समालोचनात्मक रूपसे उन बातोंकी जांच तो की जाय कि जिन्हें वह अब तक मानता या ठीक समझता आया है उनमें कहां तक सत्यता है या विवेचनात्मक तर्कपूर्ण रूपसे उनमे तथ्य कितना है? इत्यादि। ऐसा होनेसे ही सत्य तक कोई भी व्यक्ति कभी न कभी पहुंच सकता है। और यदि सत्य उसके पास ही हो तब तो वह उसे पूर्णरूपसे जांच कर, परीक्षा कर उसमे और भी दृढ़ता प्राप्त कर सकेगा, और यह और भी अच्छा होगा। पर संसारमें इतना मिथ्याभाव सत्य कह कर या सत्यके रूप-में प्रचलित हो गया है कि बड़े बड़े विद्वान भी भ्रममें ही पड़े हैं, पड़ जाते हैं और निकलनेकी कोशिश करनेपर बजाय छुटकारा पानेके और अधिकाधिक उलझते जाते हैं और घपलेमें पड़ जाते हैं। फिर अपनी विद्वत्ताके झूठे मान और सांसारिक

अहंकारको दृढ़ रखने या पुष्ट करनेके लिए तरह तरहकी चेष्टाओंसे, तर्कों और गढ़े गए सिद्धान्तों का सहारा लेकर, उन्हीं बातोंका प्रतिपादन करने लग जाते हैं। यही सारे खुराफातोंकी जड़ है। पर जब एक दूसरेको बोलने—कहनेका मौका दिया जाय, उसे सुना जाय और मनन करके समझा जाय तो ऐसी बात कमसे कम होगी। और यह तभी होगा जब धार्मिक कट्टरता कम हो और हम यह न समझें कि दूसरे धर्मोंके गुरू या प्रतिपादक एकदम ही मूर्ख थे और स्वप्नमें उन्होंने कोई धर्म चला दिया। सभी धर्मोंके चालकोंमें विद्वत्ता तो थी ही या रही ही होगी इतना कमसे कम मानना बहुत जरूरी है। हां विद्वत्ताका उचित या अनुचित उपयोग हो सकता है पर तर्कोंमें कुछ न कुछ सार या मतलब तो अवश्य ही होगा। इस तरह सभी तर्कों एवं तत्त्वोंको इकट्ठा करके यदि कोई एक निश्चित अपना तत्त्व निकाला जाय तो फिर झगड़ा ही न रह जाय।

सबसे बड़ी दिक्कत यह है कि साधारण मनुष्य भी अपनेको सबसे बड़ा, सबसे अधिक ज्ञानी और जानकार कहता तथा समझता है—पर इसका ज्ञान बड़ा ही सीमित और अल्प है। सभी कुछ पूर्णरूप से समझ जाना किसी बिरले का ही काम हो सकता है। पर वे सभी लोग जो कुछ समझने, बूझने या कहने लग जाते हैं और जिनका कुछ प्रभाव इस संसारमें कहीं किन्हीं लोगोंपर कायम हो जाता है उस प्रभाव या बड़प्पनको बनाए रखनेके लिए फिर वे स्वयं या उनके प्रशंसक बादमें तरह तरह के तर्कों या तरीकोंको काममें लाने लग जाते हैं। मानवसमाज अपनी विवशतामें एवं अज्ञानकी हालतमें जो कोई भी प्रभावशाली ढंगसे जो कुछ कह देता है तथा गलत-सही तर्कोंसे या किसी भी तरह उसके दिमागमें कोई बात बैठा देता है उसे ही ठीक सही, सत्य और मान्य मानने लगता है। बहुतसे धर्माचार्योंने तो बड़े बड़े प्रभावशाली राजाओंकी बलशक्तिद्वारा अपनी अपनी धार्मिक मान्यताओंको प्रचलित किया। इतना ही नहीं, कुछ बहुत प्रभावशाली नरेशोंने तो अपनी किसी कमजोरी गलती या गुनाह(अपराध)को छिपाने, उसे न्यायसंगत (Justify) करने या जनतासे अनुमोदित (Approve) करानेकी नीयतसे प्रभावशाली विद्वानों-द्वारा तरह तरहके उपायों द्वारा अपनी प्रशंसाके ऐसे प्रचार उस समयके समाजमें कराए हैं कि उन्हें लोग देवता या ईश्वरका अवतार समझें और यह समझें कि जो कुछ गलत-सही उन्होंने किया वही सब ठीक उचित और न्यायपूर्ण था, इत्यादि। ऐसी हालतमें उन नरेशोंके व्यक्तित्व, प्रभाव और शक्तिने प्रचारके जोरपर समाजमें न जाने कितने अधर्मोंका धर्म और कितनी अनीतियोंको नीतिका रूप देकर उनका प्रचलन करा दिया, जिसका कोई हद्दो हिसाब, इंतहा (अन्त) या गिनती नहीं ? इस तरह समय समयपर ऐसा होता रहा है, जिससे असल वस्तु-तत्त्व एक दम छिप गया और रंगीन आवरणमय गलत भावनाओंका प्रचार एवं प्रसार सत्यके नामपर और सत्यके रूपमें संसारमें चारों तरफ फैल गया। समयने इसपर अपनी सील-मुहर करके इसे और पक्का कर दिया। फिर तो बादमें जिन लोगोंको इसका मजा मिल गया—शराबके पीनेवाले शराबियोंकी तरह—उसके नशेमें उन्होंने और भी कितनी ही रंगीनियां उसमें लादीं और बराबर लाते गए जिससे सत्यका असली भव्य सीधा सादा उज्वल स्वरूप पाना कठिन ही नहीं असंभव-जैसा हो गया। यदि कहीं किसीने कुछ विरोधी प्रवृत्ति जाहिर की भी तो जैसे शराबियोंकी जमाअतमें, जो गहरे शराबके नशेमें मदमत्त हों, जाकर एक आदमी शराब छोड़नेकी शिक्षा देने लगे, तो उसकी जो हालत या गति उन शराबियोंके हाथों होनेकी कल्पना की जा सकती है वैसी ही बात यहां भी हुई और होती रही है।

धर्मके नामपर और ईश्वरकी दुहाई देकर जितनी खून खराबी, पाप और अत्याचार संसारमें

हुए हैं उतने और किसी तरहसे भी नहीं। यही संसारका इतिहास कहता है और यही बात सभी जगह जाहिर है—भले ही इसे हम समझ कर भी न समझें या जान बूझ कर भी अनजानो करदें, यह दूसरी बात है। पर बात है यही और सभी समझ दार इसे जानते और मानते है।

पर जब हजारों वर्षोंसे ऐसा ही होता आया है और इसने काफी जड़ पकड़ रखी है तब आखिर इसे दूर भी कैसे किया जा सकता है? यह एक टेढ़ा सवाल है, जिसे हल करना आसान नहीं। कोरे आदर्शवादके रूपमे (Theoratically) तो हम सब कुछ कह लेते हैं या कह सकतेहै पर व्यवहारत: (practically) कैसे और कहां तक संभव है यही उपाय खोजना जरूरी है। हमारे धार्मिक शिक्षकोंका अपना आचरण इतना ऊंचा रहा कि कभी उनका ख्याल नीचे नहीं गया। लोग स्वयं ही उनसे प्रभावित होकर उनके पीछे चलने लगे और दूसरोंको भी चलाने लगे। अधिकतर धर्मोंमें यही तथा ऐसा ही हुआ है। और इसी कारण बादमें चलकर विकार धीरे धीरे बढ़ते बढ़ते काफी बढ़ गये। और फिर अंतमें उनको दूर करना या एक दम हटाना असंभव सा ही हो गया। कुछ कुछ सुधारक कभी कभी हर धर्ममें बादको भी समय समयपर हुए है और होते रहे हैं पर परिस्थिति-वश वे भी कुछ क्रान्तिपूर्ण सुधार नहीं करसके। सुधारमें कुछ गति हुई भी तो फिर धीरे धीरे समयके बढ़ावेके साथ रफ्तार बेढंगी होते होते वहीं पहुँच गई और सारे सुधार लुप्त होगए या सुधार ही विकारमें परिणत होकर हानिप्रद बन गये, इत्यादि। आखिर इन सब अव्यवस्थाओंका प्रधान कारण क्या?

इनका प्रधान कारण है संसारके कारणभूत या मूलभूत तत्त्वों (elements)का ठीक ठाक ज्ञान नहीं होना। जब हम तत्त्वों (elements) को ही ठीक नहीं जान पाते हैं तो उनके ऊपर निर्भर (आधारित) या उनसे हो बननेवाली दूसरी जो बातें (Theories) तथ्य या सिद्धान्त कही जायंगी वे कैसे ठीक हो सकती हैं। जितना जितना हम तत्त्वों (elements)को ठीक ठीक जानते जायँगे हमारी बातें, जिन्हें हम उनपर निर्धारित सिद्धान्तों (Theories) के रूपमें कहेंगे, उतनी ही अधिकाधिक ठीक होती जायगी। जिस समय हमें तत्त्वों(elements)का एकदम ठीक ठीक सच्चा एवं पक्का बोध हो जाय उस समय उन पर निर्धारित जो Theory या बात कही जायगी वह एक दम ठीक होगी। अतः सबसे पहले यह जरूरी है कि हम जान लें कि संसार क्या है और कैसे बना है अथवा इसकी बनावटमें वस्तुत: किन किन वस्तुओं (elements) का संयोग है। उन वस्तुओंका असल स्वरूप जानना सबसे पहले परम आवश्यक है। तभी आगे कुछ हो सकता है। और तभी आगे जो कुछ इस विषयमें कहा जायगा ठीक होगा। अन्यथा नहीं।

अधिकतर धर्मोंमें यही प्रारम्भिक गलती की गई है, जो सारे अनर्थोंको जड़ है। लोगोंने जो दृश्य जगतमे आंखोंके सामने देखा उसे ही असल या मूलभूत (elementery) मान लिया, बगैर उसकी गहराईमें गए अथवा उसकी खोद-कुरेद (analysis) किए हो। यही सारी गलत भावनाओंका मूल-कारण (Root cause) है। इसे ठीक करना होगा। और यह तभी ठीक हो सकता हैं जब हम तथा हमारे विद्वान लोग हठधर्मी (bias) छोड़ कर तथा अपने ज्ञान-द्वारोंको सब ओरसे खुला रखें और हर बात पर खुले दिलसे अनेकान्तात्मक विवेचन करें। और तभी हम किसी ठीक मत पर पहुँच सकेंगे और संसारकी अव्यवस्थाओंका उचित रीतिसे समाधान एवं निराकरण कर सकनेमें समर्थ होंगे।

जेसलमेरके भण्डारकी छान-बीन

मुनिश्री पुण्यविजयजीकी भारी साहित्य-सेवा

[जेसलमेरमें जैनियोंका एक बहुत बड़ा शास्त्र-भंडार है, जिसमें बहुतसे जैन ग्रन्थोंको ही नहीं किन्तु कितने ही अजैन ग्रन्थोंकी भी प्राचीन प्रतियां मौजूद हैं। कुछ अर्सा हुआ मुनिश्री पुण्यविजयजी, जो आगमादि ग्रन्थों-के संशोधन-कार्यमें बड़ी तत्परताके साथ सलग्न हैं, वहां कुछ विद्वानों तथा सुलेखकोंको साथ लेकर पहुँचे हुए है। आपने सारे भण्डारकी छान-बीन करते हुए जो पत्र पं० सुखलालजी और मुनिश्री जम्बूविजयजी आदिको लिखे हैं वे अधिकांशत: जैन पत्रोंमें प्रकाशित हो रहे हैं और उनमें यह जाना जाता है कि भंडार कितनी अव्य-वस्थाका शिकार हुआ है और उसके कारण अनेक ताड़पत्रादिके अलभ्य ग्रन्थ टूट टाट कर अस्त-व्यस्त अथवा नष्ट-भ्रष्ट हो गए हैं। मुनिजीने बड़े परिश्रमके साथ दो महीनेमें भंडारको सभाला है और उसकी एक व्यवस्थित सूची तैयार की है, जो रिपोर्टके साथ छपने जा रही है। यहांपर हालमें मुनिश्री जम्बूविजयको लिखे गए पत्रके वे खास अंश अनुवादरूपमें प्रकट किए जाते है जो गुजराती 'जैन' पत्रके ६ वीं जुलाईके अंक नं० २७में प्रकट हुए हैं और जिनसे कितनी ही महत्वकी बातोंका पता चलता है। साथ ही, यह भी मालूम होता है कि मुनिश्री पुण्यविजयजी कितना परिश्रम उठा रहे हैं और कितनी भारी साहित्य सेवाका कार्य कर रहे हैं। निःसन्देह उनका यह सेवाकार्य बहुत ही प्रशंसनीय है। उनके इस सत्कार्यमें एक हो सज्जनने फिलहाल २५ हजारकी निजी सहा-यता भेज दी है। दिगम्बर जैन साधुओं, क्षुल्लकों-ऐल्लकों और ब्रह्मचारियों आदिका इस पवित्र साहित्य-सेवाकी ओर कुछ भी लक्ष्य नहीं है, यह बड़े ही खेदका विषय है! उन्हें इस पत्र परसे कुछ पदार्थपाठ लेकर नष्ट-भ्रष्ट होती हुई जिनवाणीकी भी सुध लेनी चाहिए और उसके प्रति अपना कर्तव्य बजाना चाहिए। दिगम्बर श्रीमानोंका भी ध्यान इस महत्वपूर्ण कार्यकी ओर जाना चाहिए और उन्हें अपने आर्थिक सहयोग-द्वारा कुछ विद्वानोंको भण्डारोंकी जांच-पड़ताल, सुव्यवस्था और सूची आदिके काममें लगाना चाहिए। कितने ही शास्त्र-भंडारोंकी बुरी हालत है और अनेक बहुमूल्य ग्रन्थप्रतियां दिनपर दिन चूहों दीमकों तथा सील आदिका शिकार होकर नष्ट-भ्रष्ट हो रही हैं! प्रति दिन जिनवाणी माताको अर्घ चढ़ा कर ही सन्तुष्ट हो रहनेवालोंको शीघ्र चेतना चाहिए और एक प्रत्यक्षदर्शी-की इस दर्दभरी उक्ति पर ध्यान देना चाहिए—

"फटे हालों माता गिनत दिन कारागृह पड़ी! बने मौनो बैठे युवक हम लज्जा धिक् बड़ी!! —सम्पादक]

'आप यह जानकर प्रसन्न होंगे कि यहाके भंडारकेपत्र पत्र खोज लिये हैं। प्रत्येक ग्रन्थको सरस रीतिसे व्यवस्थित कर दिया है, और पूरी सूची रिपोर्टके रूपमे तैयार हो चुकी है। आज ही पूर्ण हुई है। पुस्तकोंकी व्यवस्था और लिस्टमें दो महीने का समय लगा है। अब दूसरा काम शुरू करूंगा।

भंडारमें आचार्य पादलिप्तकी ज्योतिष्करण्डक-की टीका मिली है, 'सर्वसिद्धान्तप्रवेश' नामका ग्रन्थ 'षड्दर्शन'से मिलता है। यहां उसकी दो नकलें (प्रतियां) हैं, उसकी कापी कर रहा हूँ, एक दो दिन-में पूर्ण हो जायगी। 'प्रमाणान्तर्भाव' नामके जैन ग्रन्थकी कापी भी कर लेना है, अपनेको उपयोगी होगी, इस दृष्टिसे स्वयं ही कापी को जा रही है। इस के सिवाय सांख्यसप्ततिकाके ऊपर दो नवीन टीका मुद्रितसे भिन्न भी मिल रही है। उनकी नकलें भी होगीं, उनमें एक प्रति ११७१ की लिखी हुई है, और दूसरी भी इतनी ही प्राचीन है। टीकाकारोंके नाम लिखे नहीं है, एकमें नाम था वह जाता रहा है सिर्फ एक 'म' अक्षर ही रह गया है, उसके पीछेके तीन अक्षर नष्ट हो गये हैं। 'माठर' तो नहीं हैं; क्योंकि यह वृत्ति माठरवृत्तिसे जुदी और मोटी है। माठर-वृत्ति तो छप गई है। उसके साथमे मुकाबला (मिलान) कर लिया है। दूसरीमें तोनाम है ही नहीं। दोनोंकी नकलें करा ली जायँगी।

आगमोंकी कितनी ही प्रतियां तो बहुत प्राचीन और सरस हैं। यदि मैं यहां न आया होता तो यह काम अधूरा एवं अपूर्ण हो रहता। दशवैकालिक चूर्णि छप गई है उसकी प्राचीन प्रतियां पाटणमें भी है उससे मिलानेके लिये मैं अपनी प्रति यहाँ ले आया हूँ। यहाँकी प्राचीन प्रतिके साथ मिलाया तब भवाड़ा (गड़बड़घुटाला) जैसा लगा। आप यह जान कर आश्चर्य करेंगे कि मुद्रित और अपने भंडारकी प्राचीन प्रतियोंके अन्तभागमें एक ताड-पत्रीयपत्र-जितना पाठ ही नहीं है। यहांकी पोथी-में यह सब ही पाठ है। ग्रन्थकार-चूर्णिकार स्थविर-के नामकी प्रशस्ति वगैरह सब है। इस तरहसे अपने लिए अपूर्व वस्तु मिली हुई समझना चाहिए। मैंने तो वास्तवमें यहांकी प्रतियोंसे ही प्रतिलिपि कार्य करानेका निश्चय किया है। और दूसरी प्राचीन प्रति है उसके साथ मिलान कर लिया जायगा। यहां कितने ही ग्रंथोंकी ऐसी प्रतियां हैं कि ग्रंथ-रचनाके पीछे तुरन्त ही अथवा कुछ ही बादकी लिखी हुई है। धर्मविधि, कर्मग्रंथकी टीकाएँ, भवभावना सटीक, पंचाशक आदि अनेक ग्रंथ इसी कोटिके है हमने बहुत मिला लिए हैं और दूसरे मिला लूँगा। सन्मतितर्कका एक खण्ड यहां अधूरा है, दूसरा है ही नहीं। परन्तु यहाँ सैकड़ों ताड़पत्रके टुकड़े पड़े है। इन टुकड़ोंको मैंने अनेक वार देख डाला है, जब जब देखता हूं तब तब अपूर्व वस्तु मिल ही जाती है। इस तरह 'सन्मति'के पत्रका टुकड़ा मिल गया है, उसमे पुष्पिकाका अंश मिला है, जिसमें 'तत्वबोधविधायिन्यां सन्मतिटी०' ये अक्षर हैं, इसमें 'सन्मति' नामका उल्लेख मिलता है, यह महत्वकी वस्तु है। टुकड़ा बिल्कुल छोटा है परन्तु इस दृष्टिसे महत्वका है। ऐसे मैंने अनेक टुकड़े काढे हैं। अनुयोगद्वारसूत्रकी प्रतिके टुकड़े टुकड़े हो गये हैं। इन टुकड़ोंको मैंने टुकड़ोंमेंसे अलग बीन कर काढा है। ये इतने महत्वके है कि आज अपनेको जिस तरहके पाठभेद वगैरहकी खोज करनी है, योग्य पाठ कौन है और टीकाकार-सम्मत पाठ कौन है इत्यादिका बोध होता है। आप इन टुकड़ोंको देखेंगे तो खुश हो जायगे। और यह मालूम होता है कि हम नसीबवान है। विविध सामग्री मिलती रहती है। द्वादशारकी पोथी तथा अन्य कोई यहां नहीं। बौद्ध ग्रंथ भी खास यहां नहीं है, दो चार हैं। न्याय-विन्दु टीका आदि अमुक ग्रन्थ है।

यहां जितने ग्रंथ प्राचीन है उनके आदि-अन्तके पत्रोंके फोटो जरूर लिए जाने चाहिएँ, जिससे चिह्नों तथा लिपि आदिका परिचय सहज हो जाय। मैं यहां भांदकसे आनेको निकला उस बीचमें यवतमाल जिला आता है। वहा यवतमालमे एक प्रखर संशोधक ब्राह्मण वकील श्री यशवन्त खुशाल देशपांडे (M. A, L L. B., D. Litt.) रहता है। भारतके ऐतिहासकोंमें वह नामांकित है। उसके साथ मेरी घनी बातचीत हुई थी। बात-बातमें उसने कहा है कि "यवतमाल जिलेके पांढरखवड़ा ग्रामसे ईशान कोणमें नजदीक ही 'वाई' नामका एक बड़ा यात्रास्थल वैदिकोंका है। वहाँ मै गया था। उस गांवके अन्दर तथा बाहर एक दो मीलके परिसरमें मैंने बड़ी बड़ी उत्तम कोटिकी १०-१२ जैन प्रतिमाएँ अभी तक अखंड स्थितिमें देखी थीं और उनका फोटू लिया है। मूर्तियोंको नागपुरके म्यूजियममें ले जानेके लिये गांवके लोगोंसे बात की गई। उन्होंने उस वक्त तो मंजूर भी कर लिया था परन्तु बादको "मूर्तियोंके ऊपर तिलक करके तथा फूल चढ़ाकर हम तो इन्हें रोज पूजना चाहिये इसलिये नहीं देना" ऐसा कह कर इन्कार कर दिया।

इससे यह जाना जाता है कि यहां भूतकालमें घनी ही मोटी जैन संस्कृतिकी जाहोजलाली थी, इस समय यवतमाल जिलामें मोटा भाग तो मन्दिरों-का ही बना हुआ है। वहाँ भी ऐसे प्राचीन अवशेष है यह एक बड़ी गौरव लेने जैसी बात है। यवतमालके पासके चाँदा जिलाके भांदकमेंसे तो हमारी मूर्त्तियोंके वेगनके वेगन भरकर संग्रह

स्थानमे लेजाए जा चुके है।

मैं इन मूर्तियोंके फोटो प्राप्त करने वाला हूँ। ये दिगम्बर है या श्वेताम्बर, इसकी चिकित्सा मैंने की नहीं, और करना चाहता भी नहीं। सच्चा बात कहिये तो प्राचीन प्रतिमाओंमें दिगम्बर श्वेताम्बरका कोई चिह्न मिलता हो नहीं, दिगम्बर जैनके तौर पर उदारता करनी हीचाहिये। अन्यसब की जाने वली चिकित्सा निरर्थक है। सचित्र प्रतियों के फोटो भी मै लूंगा तथा महत्वके ग्रन्थोंके फोटो लूँगा। एक बात बतलाता हूँ— द्वादशारकी पाथीमें पुष्पिकाके अन्तमें जो २ का अंक जैसा आता था वह क्या? ऐसा प्रश्न हुआ था आप जानो कि वह दंड मात्र ही है। प्राचीन बारहवीं सदोकी प्रतिमें ऐसे ही दड-पूर्ण विराम आते है। २२ या इससे मिलते ही ये दंड हैं। आदि-अन्तमें आनवाली आकृतियों आदिके फोटो जरूर लेने हैं।

हमारा काम कितना बाकी है, इसके उत्तरमें आप जानेंगे कि हमें यहाँ आगामी माघ-फाल्गुण तक रहना चाहिये,तब और सतत काम करूंगा तब काम पूर्ण होगा। यहां प्राचीन प्रतियां ऐसी हैंकि मिला लेनेके सिवा चलता ही नहीं और हमे दूसरे स्थान पर वैसे प्रत्यन्तर मिलेंगे नहीं। अतः यहाँ जो हो या है उसका काम यहीं कर लेना, जिससे अपना मार्ग सरल बन जाय।

हमारे यहा सामान्य गरमी है। लू वगैरह कुछ नहीं, तथैव हमे एक स्थानपर स्थायी होकर बैठना है अतः गरमी हमें सतावे ऐसा नहीं। जैसलमेरमें बारह महीनेके घासको नक्की करके हीआना चाहिये।

भंडारको सुरक्षित करूंगा, पुस्तकोंका संशोधन बराबर करूंगा, उसके बाद ही निकलूँगा। न्यायकंदली वगैरह बहुत बहुत ग्रन्थोंकी प्राचीन प्रतियां यहाँ है। तत्त्वसंग्रहकी प्रति यहाँ बारहवीं शताब्दी की है, इसे भी हम मिला लेवेंगे।

काव्य-कल्पना-विवेककी प्रति यहाँ पर है। यह विवेक किस ग्रन्थके ऊपर है यह मालूम नहीं होता। विवेक ग्रन्थ जैन है और वह जिसके ऊपर है वह ग्रन्थ भी जैन होना चाहिये, पर वह ग्रन्थ कौन है यह खबर अभी लगी नहीं। अमरचंदकी 'कविकल्पलता' यह नहीं है क्योंकि विवेककी प्रति सं० १२०५ में लिखी गई है। अमरचंद १३ वींशताब्दीके उत्तरार्धका विद्वान है। कविकल्पलता मिली नहीं, विवेकका प्रारम्भ इस प्रकार है—

'यत्पल्लवेन विवृतं दुर्बोधं मन्दबुद्धिभिश्चापि।
क्रियते कल्पलतायां तस्य विवेकोऽयमतिसुगमः ॥१॥

सूर्याचन्द्रमसावपि। "खद्योत पोतकौ यत्र सूर्याचन्द्रमसावपि" इति पाठे, इत्यादि है।

इससे कल्पलता मूल ग्रन्थहै, जिसके ऊपर 'पल्लव और दोनोंके ऊपर 'विवेक' है। विवेकका दूसरा नाम 'पल्लवशेष' भी है। इस समय तो कापी तय्यार हो गई है।

हमें तो इस समय सत्र विशिष्ट संचय करते रहना चाहिये। बादको सब कुछ होजायगा। श्रीधरकी न्यायकंदली क्या आपके संग्रहमें है। हो तो मिलानके काम आवे। मेरे पास नहीं है तथा मिलतीनही। हो तो अवसरपर भेजेंगे। 'प्रमालक्षण' भी असल प्रति। उसे भी मिला लूँगा। जहां तक बन सकेगा वह सब कामकरलूँगासोजानना। खास सूचनाके योग्य हो तो बतलाना।

ओघनिर्युक्ति-द्रोणवृत्ति सं० १११७ की लिखी हुई है। इसी तरह दूसरे ग्रंथ है। ये ग्रंथ मिलाये बिना कैसे रहना? हमने यहां से तीसरे वर्ष गुजरात पहुंचनेका निर्धारण किया है। और आगमका काम वेगवान चले वैसा संकल्प। द्वादशार (नयचक्र) भी उस अर्सेमें छपजाय वह इष्ट है।

विशेष फिर लिखूँगा। हमारे जिस भाइने यहांके खर्च के लिये २५०००) घर खर्च खाते लिखकर दिये है वे आगये है, वे भी देखने सुनने की इंतजारीसे आये है।'

मुनि पुण्यविजय

कलकत्ताके जैनोपवनमें वृक्षारोपण-समारोह

गत रविवार ता० ६ जुलाई सन् १६५० ई० को सायं ३ बजेसे श्री पार्श्वनाथदिगम्बर जैनमन्दिर-उपवनमें अखिल भारतवर्षीय वृक्षारोपण-योजनाके अनुसार बड़े समारोहके साथ कलकत्ताकी समस्त जैन समाजकी ओरसे किया गया। समारोहके सभापति कलकत्ता विश्वविद्यालयाके सुविख्यात प्रोफेसर डा० कालीदास नाग थे और वृक्षारोपण इण्डियन बौटेनिकल गार्डेन के अध्यक्ष डा० के० पी० विश्वासकी अध्यक्षतामें हुआ।

सर्व प्रथम डा० विश्वासने ३ बजे से ४ बजे तक दूरवीक्षण यंत्रद्वारा बिना छने पानीमें कितनी प्रकारके जीव होते हैं यह उपस्थित जैन तथा अजैन महिलाओंको दिखलाया, जिसका बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा। महिलाओंका संख्या अधिक होनेके कारण पुरुषोंको दिखलानेका अवसर नहीं मिल सका।

४ बजेसे वृक्षारोपणकी कार्यवाही शुरू हुई। कन्याओंद्वारा मङ्गलाचरणके बाद सभापति-वरण तथा आसनग्रहण हुआ।

समारोहके संयोजक तथा स्थानीय दि० जैन मन्दिरके ट्रस्टी श्री बा० छोटेलालजी जैन ने उद्देश बतलाते हुये पहले ट्रस्टीयोंकी ओरसे इस बातकी क्षमा माँगी कि बिना छने जलमें जीव दिखलानेका आयोजन पर्देपर नहीं किया जा सका, जिससे बहुत से उपस्थित सज्जन देखनेसे वंचित रह गये। उन्होंने यह भी बतलाया कि मन्दिर-उपवनमें सर्व साधारणके लाभके लिये ट्रस्टीगण दूरवीक्षण यंत्रका प्रबंध कर रहे हैं।

वृक्षारोपणका महत्व बतलाते हुये आपने बतलाया कि आज जो वृक्ष लगाये जावेंगे वे अपने पूज्य तीर्थंकरोंके दीक्षा-वृक्ष है।

डा० के० पी० विश्वासने अपने भाषणमें बतलाया कि श्री छोटेलालजीने एक लेख मुझे वनस्पतिके विषयमें जैनाचार्योंकी धारणाके ऊपर लिख कर दिया था, जिसे पढ़ कर मैं स्तंभित रह गया। जैन धर्ममें वनस्पतिके विषयमें बहुत सी गुत्थियोंपर अच्छा प्रकाश डाला गया है। भोग-भूमिमें क्या और कर्मभूमिमें क्या, सदा ही वृक्षोंका विशेष उपयोग मनुष्यजातिन किया है और आज तो भारतवर्षमें वृक्षारोपणकी विशेष आवश्यकता है; क्योंकि देशके जल वायु, वर्षा नदियोंकी बाढ़ तथा उपजाऊ मिट्टीके कट कर नदियोंमें बह जानेपर वृक्षोंका विशेष प्रभाव होता है।

श्री टी० एन रामचन्द्रन, सुपरिटेंडेन्ट, Archeological Deptt. ने अपने भाषणमें दीक्षावृक्षोंके महत्वपर बहुत प्रकाश डाला। उनके लेखको शीघ्र ही प्रकाशित करनेका आयोजन होरहा है।

अन्त में डा० कालीदास नागने अपने संक्षिप्त भाषणमें मन्दिर-उपवनमें वृक्षारोपणका महत्व बताते हुये डा० के० पी० विश्वाससे प्रार्थनकी कि वह दीक्षा-वृक्ष लगानेकी कार्यवाही शुरू करें।

श्री रतनलालजी झांझरी ने प्रतिष्ठाचार्यका कार्य शास्त्रोक्तरीतिसे मन्त्रोच्चारण-पूर्वक भूमिशोधन तथा तीर्थंकरपाठ कराया और निम्न वृक्ष लगाये गये—

दीक्षावृक्ष	तीर्थंकरका नाम	आरोपण कर्त्ता
चम्पक	मुनिसुव्रत	डा०के०पी०विश्वास
बकुल(मौलश्री)	नमिनाथ	डा० कालीदास नाग
अशोकवृक्ष	मल्लिनाथ	श्रीटी०एन०रामचंद्रन
बेल(बिल्व)	शीतलनाथ	श्रीमती विश्वास
साल	संभवनाथ, अभिनन्दन, महावीर.	जी. सा. शिवाराम
नाग	चन्द्रप्रभ, पुष्पदन्त	श्री दयाचन्द्रपारख (ट्रस्टी श्वे०जैनमंदिर)
बट	आदिनाथ	बलदेवदास सरावगी (ट्रस्टी दि०जैन मंदिर)

पीपल, आम्र, जामुन, आम्लक, नामके ४ दीक्षा वृक्ष उपवनमें पहलेसे ही मौजूद हैं।

सभापति आदिको धन्यवादके पश्चात समारोह समाप्त हुआ। प्रतिष्ठित महानुभावोंको श्री छोटेलालजी जैन तथा बाबू नन्दलालजी की ओरसे चाय पार्टी दी गई।

—तुलसीराम जैन

प्रमेयरत्नमालाका पुरातन टिप्पण

(ले०—श्री पं० हीरालाल जैन सिद्धान्त शास्त्री)

आजसे ठीक ३० वर्ष पहले, जब कि मैंने श्रीमान् स्वर्गीय पं० घनश्यामदास जी जैन न्यायतीर्थ-से प्रमेयरत्नमालाका पढ़ना प्रारम्भ किया था, तब वे ललितपुरके बड़े मन्दिरसे प्रमेयरत्नमालाकी एक हस्त-लिखित प्रति लाए थे और उस प्रतिपरसे ही हम लोगोंको पढ़ाया करते थे। उक्त प्रति सोलहवीं शताब्दीकी लिखी हुई एवं अत्यन्त शुद्ध थी। उस प्रतिमें हासियोंपर किसी अज्ञात नाम आचार्यका एक अलब्धपूर्व टिप्पण भी लिखा हुआ था। स्वर्गीय पंडितजीकी प्रेरणानुसार मैंने पढ़नेके साथ ही मुद्रित पुस्तकपर नम्बर देकर कापियोंपर उसे पृथक् लिख लिया था। इन दिनों जब वीरसेवा-मन्दिरसे सटिप्पण न्यायदीपिका और आप्तपरीक्षा-के हिन्दी अनुवाद-सहित संस्करण प्रगट हुए, तब मेरा ध्यान प्रमेयरत्नमालाकी ओर गया और वर्षों तक दृष्टिसे ओझल रहे उस टिप्पणको मैंने निकाला।

श्री भट्टाकलङ्कदेवके न्यायके ग्रन्थोंका अवगाहन कर श्री माणिक्यनन्दि आचार्यने परीक्षामुख नामक एक सूत्रग्रन्थ रचा[1]। यह सूत्रग्रन्थ तत्त्वार्थ-सूत्रके समान ही विद्वानोंद्वारा अत्यन्त समादृत हुआ और तत्त्वार्थसूत्रके समान ही इसपर टीका और भाष्यग्रन्थ रचे गये। आचार्य प्रभाचन्द्रने सोलह हजार श्लोक-प्रमाण 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' नामसे विस्तृत भाष्य लिखा। उक्त भाष्यके अत्यन्त विशाल और गम्भीर होनेके[2] कारण मध्यम रुचि वाले शिष्योंके हितार्थ श्री हीरपके अनुरोधसे शान्ति-षेणके लिए श्री अनन्तवीर्य आचार्यने-जो अपने को लघु अनन्तवीर्य लिखते हैं लगभग ढाईहजार श्लोक प्रमाण 'प्रमेयरत्नमाला' नामकी टीका रची, जिसे स्वयं उन्होंने 'परीक्षामुखपंजिका' नामसे उल्लिखित किया है[1]।

मूलग्रन्थके एक-एक पदके अर्थका व्याख्यान करने वाली रचना पंजिका कहलाती है[2]। यह परीक्षा-मुखपंजिका 'प्रमेयरत्नमाला' नामसे प्रसिद्ध है। इनकी रचना अत्यन्त प्रसन्न एवं प्राञ्जल भाषामें हुई है। फिर भी न्यायके कतिपय गूढ़, और दुरूह पारिभाषिक शब्दोंके अर्थ—स्पष्टीकरणकी आवश्य-कता अनुभव करके किसी अज्ञात नामके विद्वानने लगभग मूलग्रन्थके बराबर ही एक टिप्पण लिखा जिसमें टीकाके और मूलसूत्रोंके प्रायः प्रत्येक पदका अत्यन्त सरल भाषामें अर्थ स्पष्ट किया गया है।

यहां पर नमूनेके तौरपर उक्त टिप्पणके कुछ अंश उद्धृत किए जाते हैं, जिससे उसके महत्व और वैशिष्ट्यको पाठकगण जान सकें। टिप्पणके प्रारम्भ में एक लम्बा गद्यभाग है, जिससे कई नवीन बातों पर प्रकाश पड़ता है और जिसकी रचना-शैलीको देखकर ऐसी कल्पना करनेको जी होता है कि कहीं यह टिप्पण भी अष्टसहस्रीके टिप्पणकार लघुसमन्त-भद्रका न हो। उक्त गद्यभाग इस प्रकार है:—

इह हि पुरा स्वकीय-निरवद्य-विद्यासंयमसंपदा-गणधर-प्रत्येकबुद्ध-श्रुतकेवलि-सूत्रकृन्महर्षीणां महि-मानमात्मसात्कुर्वन्तोऽमन्दतो निरवद्यस्याद्वाद विद्या-नर्त्तकीनाट्याचार्यैकप्रवीणाः सकल तार्किकचक्रचूडा-मणिमरीचिमेचकितचरणनखकिरणाः, कवि-गमक-वादि-वाग्मित्वलक्षणचतुर्विधपाण्डित्यजिह्मापिपा-सजिहासया विनयविनतविनेयजनसहितनिजानु-भवाः श्रीमदकलङ्कदेवाः प्रादुरासन्। तैश्च सप्त प्रकरणानि विरचितानि। कानि तानीति चेदुच्यते

१—अकलङ्कवचोऽम्भोधेरुद्दध्रे येन धीमता।
न्यायविद्यामृतं तस्मै नमो माणिक्यनन्दिने ॥

२—प्रमेन्दुवचनोदार चन्द्रिकाप्रसरे सति।
मादृशाः क्व नु गण्यन्ते ज्योतिरिङ्गणसन्निभाः ॥३॥

१—वैजेयप्रिय पुत्रस्य हीरपस्योपरोधतः।
शान्तिषेणार्थमारब्धा परीक्षामुख पञ्जिका ॥

२—कारिका स्वल्पवृत्तिस्तु सूत्र सूचनकं स्मृतम्।
टीका निरन्तरं व्याख्या पञ्जिका पदभञ्जिका॥१॥टि०

बृहत्त्रयं लघुत्रयं चूलिकाप्रकरणं चेति । तेषामतिविषमत्वान्मन्दधियामगन्तुमशक्यत्वात्तद् बुद्ध्युत्पादनार्थं तदर्थमुद्धृत्य धारानगरीवासनिवासिनः श्रीमन्माणिक्यनन्दिभट्टारकदेवाः परीक्षामुखाख्य प्रकरणमारचयाम्बभूवुः । तद्विवरीतुमिच्छवः श्रीमल्लघ्वनन्तवीर्यदेवास्तदादौ नास्तिकत्वपरिहार-शिष्टाचारपरिपालन-पुण्यावाप्ति-निष्प्रत्यूहशास्त्रव्युत्पत्त्या दिलक्षणं चतुर्विधफलमभिलषन्तो नतामरेत्यादि श्लोकमेकं रचयन्ति स्म ।

उक्त सन्दर्भसे कई महत्वपूर्ण बातोंपर प्रकाश पड़ता है । यथा—जिस प्रकार स्वामी समन्तभद्रके लिए कवि, गमक, वादी और वाग्मी ए चार विशेषण प्रसिद्ध थे, वे ही चारों श्रीभट्टाकलङ्कदेवके लिए भी प्रयुक्त होते थे । श्रीअकलङ्कदेवने सात मूलप्रकरण रचे थे। श्री माणिक्यनन्दि आचार्य धारानगरीके निवासी थे आदि । जहां तक मैं जानता हूं कि अभी तक इतना स्पष्ट उल्लेख अन्यत्र नहीं मिला है जिसमें श्री माणिक्यनन्दिके धारानिवासी होनेका स्पष्ट कथन हो ।

प्रमेयरत्नमालाका यह टिप्पण अष्टसहस्रीके समान ही प्रत्येक पदका अर्थ अत्यन्त सरल शब्दों के द्वारा स्पष्ट करने वाला है और ग्रन्थगत अनेक गूढ ग्रन्थियोंके अर्थका प्रकट करने वाला है। जिस के २-१ नमूने नीचे दिये जाते हैं:—

(१) प्रमेयरत्नमालामें 'प्रदीपवत्' समु० १, सूत्र १२ की टीकामें लिखा है कि "इदमत्र तात्पर्यम्-ज्ञानं स्वावभासने स्वातिरिक्तसजातीयार्थान्तरापेक्ष प्रत्यक्षार्थगुणत्वे सति अदृष्टानुयायिकरणत्वात्प्रदीपभासुराकारवत् ।" इस पर जो टिप्पण है, वह इस प्रकार है:—

'प्रदीपवत' इत्युक्ते प्रदीपस्य द्रव्यत्वेनागुणत्वात् साधनविकलो दृष्टान्तः, अतः उक्तं भासुराकारवत् । यथैव हि प्रदीपस्य प्रत्यक्षतां प्रकाशतां वा विना तत्प्रतिभासिनोऽर्थस्य प्रकाशता प्रत्यक्षता वा नोपपद्यते तथा प्रमाणस्यापि प्रत्यक्षतामन्तरेण तत्प्रतिभासिनोऽर्थस्य प्रत्यक्षता न स्यात् । करणत्वादित्येतावति साधने अदृष्टेन व्यभिचारः, अत उक्तं गुणत्वे सति अदृष्टानुयायीति । तथापि सति सन्निकर्षेण व्यभिचारः, अतः उक्तं प्रत्यक्षार्थे इति । अर्थान्तरानपेक्ष, इत्येतावति साध्ये घटादिभिः सिद्धसाध्यता स्यात्, तत उक्तं सजातीयेति । तस्मिन्नपि उच्यमाने पुरुषान्तरविज्ञानेन सिद्धसाध्यता स्यात्' तन्निषेधार्थं स्वातिरिक्तं । सजातीयार्थान्तरानपेक्षग्रहणेपरार्थानुभवनेन सिद्धसाधनता प्रतिपद्यते, तत्परिहारार्थं स्वावभासनग्रहणं साध्यं। करणत्वादिति साधने उच्यमान कुठारादिना व्यभिचारः,तत्परिहारार्थं प्रत्यक्षार्थगुणत्व सति इत्युच्यते । तावत्युच्यमान अदृष्टेन शक्तिना व्यभिचारः, तत्परिहारार्थं अदृष्टानुयायि करणत्वादित्युच्यते । अस्मिन्नपि उच्यमानचक्षुरादिना व्यभिचारः, तत्परिहारार्थं प्रत्यक्षार्थगुणत्वे सति इत्युच्यते ।'

पाठक देखेंगे कि किस प्रकार एक-एक पदकी सार्थकता बताई गई है । बिना इतने स्पष्टीकरणके मूलग्रन्थकी पक्तिका आशय ही समझमें नहीं आसकता है ।

(२)तीसरे समुद्देश्यके ६०वें सूत्रके 'रसादेकसामग्र्यनुमानेन' इस पदपर टिप्पण निम्न प्रकार हैः-

'अन्धकारावगुंठित प्रदेशे आस्वाद्यमानो रसो धर्मी स्वसमानसमयकारणकार्यो भवति, एवंविधरसत्वात्सम्प्रतिकरसवत्, इति रूपरसयोः एकसामग्र्यनुमानं इदानीं रूपानुमानं विवादापन्ने मातुलिंगे रससमकालीनं रूपमस्ति एकसामग्र्यधीनत्वात्संप्रतिपन्नरसवत् पूर्वरूपक्षणसजातीयमुत्तर रूपक्षण जनयन्नेव विजातीयमुत्तररसक्षणं जनयति कारणक्षणत्वात्, अनुभूतरसक्षणवत्, आस्वाद्यमानो रसः स्वसमानकालीनपूर्वरूपक्षणसहकृत-समन्तररसक्षणजन्यः कार्यक्षणत्वात् अनुभूयमानरसक्षणवत् ।'

(३) 'आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः' यह तीसरे समुद्देश्यका ६६ वां सूत्र है । इसके ऊपर टिप्पण इस प्रकार है:—

चिट्ठा हिसाब 'अनेकान्त' दशम वर्ष

(जून सन् १६४६ से अगस्त सन् १६५० तक)

अनेकान्तके इस १० वें वर्ष-सम्बन्धी आय-व्ययके हिसाबका चिट्ठा निम्न प्रकार है। पाठक देखेंगे कि इस वर्ष अनेकान्तको कितना अधिक घाटा उठाना पड़ा है और उसपरसे सहज ही यह अनुमान लगा सकेंगे कि साहित्य और इतिहासकी ठोस सेवा करनेवाले ऐसे पत्रोंके प्रति समाजकी कितनी रुचि है। और ऐसी स्थितिमें कोई पत्र कितने समय तक जीवित रह सकता है।

आय (जमा)

१२६७।) ग्राहक खाते जमा, जिसमें वो० पी०से प्राप्त हुआ पोष्टेज भी शामिल है।

२६८॥।=) सहायता खाते जमा, जिसमें अकेली २००) की सहायता सेठ सोहनलाल जी जैन कलकत्तासे प्राप्त हुई है। इस सहायतासे प्राय: ५० लायब्रेरियों तथा जैनेतर विद्वानोंको अनेकान्त फ्री भेजा गया है।

१८।- फुटकर किरणोंकी विक्री खाते जमा।

२।=)॥। रद्दी विक्री खाते जमा, जो प्रायः दैनिक पत्रकी रद्दी बेचनेसे प्राप्त हुए।

६०) कागज खाते जमा, बाबत सवा रिम कवरपेपरके, जो खर्च होनेसे बचा हुआ है।

१६१०॥।-)॥

२४७३॥) घाटेकी लगभग रकम, जो अनेकान्त पत्रको देनी है।

४०८७।- ॥।

व्यय (नाम)

७१४)॥। कागज खाते नाम इस प्रकार:—

३१३॥।-)॥ धूमीमल धर्मदास कागजीको २० रिम २०×३० साइजके २४ पौंडी कागज बाबत दिये।

२३६=)। भारतीय ज्ञानपीठ काशी को उसके पिछले वर्षके बचे हुए कागज ४। रिम कवर पेपर, १ रिम रैपर आदिकी बाबत दिए।

१६८॥।) दलीपसिंह रतनलाल कागजीको २० रिम कागजकी बाबत।

३१।=) प० दरबारीलाल कोठियाको दो रिम कागजकी बाबत।

३०॥।=) रैपर पेपर १ रिम खरीदा

७१४)॥।

१६४५।) छपाई बँधाई खाते खर्च जिसमें रैपरकी छपाई भी शामिल है:—

१८४५।) अकलक प्रेसको दिये।

१००) राजहंस को

१६४५॥)

(४३० वें पृष्ठका शेषांश)

अर्थज्ञानमित्येतावति उच्यमाने प्रत्यक्षादावतिव्याप्तिः, अत उक्तं वाक्यनिबन्धनमिति वाक्यनिबन्धनमर्थज्ञानमित्युच्यमानेऽपि याद्दच्छिक संवादिषु प्रलंभकसंवादिषु विप्रलभकवाक्यजनेष सुप्तोन्मत्तादिवाक्यजनेषु वा नदीतीरे फलसंसर्गादिज्ञानेष्वतिव्याप्तिः, अत उक्तं आप्तेति। आप्तवचननिबन्धनज्ञानमित्युच्यमाने आप्तवाक्यकर्मके श्रावण प्रत्यक्षेऽतिव्याप्तिः, अत उक्तं अर्थेति। अर्थस्तात्पर्यरूढ़ इति यावत्, तात्पर्यमेव वचसीत्यभियुक्तं वचनात्। तत आप्तवचनादिनिबंधनमर्थज्ञानमित्युक्तमागमलक्षणं निर्दोषमेव।

इस प्रकार सारा टिप्पण मूलग्रंथके सभी कठिन स्थलों और विषम पदोंका सरल शब्दोंमें रहस्योद्घाटन एवं अर्थ-स्पष्टीकरण करता है। इस टिप्पणके प्रकाशमें आनेपर न्यायशास्त्रके अध्येताओंको बहुत सुविधा और सहायता प्राप्त होगी।

८४७।-) वेतन खाते खर्च, इस प्रकार :—
२१०) पं० परमानन्द को
८३≡) बा० शशिकान्त शर्मा को
४०) कान्त बाबू को
५१४॥=) पं० विजय कुमारको

८४७॥-)

१३३।)॥ पोष्टेज खाते खर्च
७७॥-)। मार्ग व्यय खाते खर्च
३१॥=)। स्टेशनरी खातेखर्च, जिसमें २३॥) उन २५-२५ डुप्लीकेट शीटवाली ४० रसीद बुककी बाबतहै जोधूमीमल धर्मदासको बिलनं० ८७७के अनुसार दिये गये।
२४।।)॥ समाचारपत्र खाते खर्च, हिन्दुस्तान आदि दैनिक पत्रोंकी खरीदमें दिये गये
१२)। स्फुट (मुतफर्रिक) खाते खर्च
।≡)। बट्टे खाते खर्च, जो ज्ञानपीठकाकाशी हिसाब बेबाक करनेके लिये बट्टा किये गये।

३७८७-)॥।

३००) संयुक्त किरण ११-१२ की छपाई-बंधाई, ब्लाक बनवाई, चित्रोंकी छपाई, आर्ट पेपर और पोष्टेज आदिकी बाबतमें जो अंदाजन और खर्च करना तथा देना बाकी है।

४०८७।-)॥

जुगलकिशोर मुख्तार
अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर'

मोहनजोदड़ोकी कला और श्रमण-संस्कृति

(लेखक—श्री बा० जयभगवानजी, एडवोकेट)

——:॥:——

जैनसंस्कृतिके वास्तविक जन्मदाता—

भारतकी प्राचीन सभ्यता और संस्कृतिकी जांच करनेके लिये जैनियोंकी मूर्ति और चित्रकला-का महत्व कितना अधिक है, इसका कुछ परिचय लेखकने वीरसेवामंदिर सरसावाके मासिक पत्र 'अनेकांत' वर्ष ५ किरण १-२ के पृष्ठ १-१२ पर "जैनकला और उसका महत्व" शीर्षक लेखमें दिया है। इस परिचय-द्वारा बतलाया गया है कि भारतीय श्रमणसंस्कृतिकी शैवशाखाकी तरह जैन-संस्कृतिके वास्तविक जन्मदाता वैदिक आर्य नहीं बल्कि भारतके मूलवासी यक्ष, गंधर्व, नाग और राक्षस आदि द्राविड लोग हैं। उन्हींकी यंत्रों-मंत्रों वाली दृष्टिमेंसे अध्यात्मवादकी सृष्टि हुई है। उन्हींके अणिमा, महिमा, गरिमा आदि अनेक अलौकिक ऋद्धि-सिद्धि-साधक कायक्लेशवाले साधनों व ध्यान-आसनवाले अनुष्ठानोंमेंसे योग-साधनाकी उत्पत्ति हुई है। उन्हींकी पितृश्रद्धा और वीर-पूर्वजोंकी उपासनावाली वृत्तिमेंसे अर्हन्तोंकी उपासना, उनके चैत्य और स्तूप, उनकी मूर्तियां-मन्दिर बनानेकी कलाका विकास हुआ है। उन्हींकी प्राचीन लिपिके नियमानुसार जैनियोंमें आजतक अपने माननीय चौबीस तीर्थंकरोंको निम्नलिखित २४ प्रतीकों-द्वारा दर्शाये जानेकी प्रथा प्रचलित है—

१ वृषभ, २ हाथी, ३ घोड़ा, ४ बंदर, ५ चकवा, ६ कमल, ७ स्वस्तिक, ८ चन्द्रमा, ९ मच्छ, १० वृक्ष, ११ गैंडा, १२ भैंसा, १३ बराह, १४ सेही (श्येन) १५ वज्र, १६ हिरण, १७ बकरा, १८ मछली, १९ घट, २० कच्छप, २१ उत्पल, २२ शंख, २३ सर्प, २४ सिंह।

उपर्युक्त प्रतीकोंके अतिरिक्त प्राचीन चित्र-लिपिके अनुसार तीर्थंकरोंको उन वृक्षों-द्वारा भी दर्शानेकी प्रथा प्रचलित है जिनकी छायामें वृषभ आदि चौबीस तीर्थंकरोंने दीक्षा धारण की थी या ध्यानस्थ होकर केवलज्ञान प्राप्त किया था और जो जैनसाहित्यमें चैत्यवृक्ष व दीक्षावृक्षके नामसे प्रसिद्ध हैं। ये वृक्ष तीर्थंकरोंके क्रमसे निम्नप्रकार हैं:—

१ न्यग्रोध (बड़), २ सप्तपर्ण (देवदारु), ३ साल, ४ प्रियालु (खिरनीका वृक्ष), ५ प्रियंगु (एक प्रकार-की लता), ६ ध्वजवृक्ष, ७ सिरस, ८ नाग, ९ मालती, १० पिलखन, ११ टिंबरू, १२ पाटल, १३ जम्बू (जामुन), १४ पीपल, १५ दधिपर्ण, १६ नन्दीवृक्ष, १७ तिलक, १८ आम, १९ अशोक, २० चम्पा, २१ बकुल (मौलसिरि), २२ वेनस (बांस), २३ धवा, २४ साल।

इसी प्रकार स्वस्तिक, धर्मचक्र और त्रिशंकु भार-तीय श्रमण-संस्कृतिकी आध्यात्मिक मान्यताओंके प्रतीक हैं, इसलिए भारतमें इन चिन्होंको सदा मंगलकारी माना जाता रहा है और भारतके प्राचीन कलाकारोंने अपनी कलाओंको इन चिन्हों-द्वारा खूब सुशोभित किया है। शुभ अवसरोंपर जैनी लोग आज तक इन प्रतीकोंका प्रयोग करते आ रहे है।

उपर्युक्त लेखमें यह भी बतलाया गया है कि जैन साहित्य और संस्कृतिमें, जैनकला और आख्यानों-में जो महत्वपूर्ण स्थान नाग, सुपर्ण, किन्नर, गंधर्व,

यक्ष आदि भारतकी मौलिक जातियों; श्री, ह्री, धृति, बुद्धि, कीर्ति, लक्ष्मी, काली, दुर्गा, पार्वती, कूष्मांडिनी गौरी, पद्मावती, चक्रेश्वरी आदि अनार्य देवियों और कुबेर गणेश, कार्तिकेय, वरुण, वैश्रमण, यम, धरणेन्द्र और रुद्रको हासिल (प्राप्त) है वह वैदिक आर्योंके माननीय देवता इन्द्र, वायु, अग्नि, ब्रह्मा आदि देवताओंको हासिल नहीं है।

नाग-नागनियों और उनके अधिपति धरणेन्द्र अथवा फणेन्द्रको सदा अर्हन्तोंका परम उपासक माना गया है। जब कभी अर्हन्तों और उनके शासनपर कोई उपसर्ग हुआ है तो धरणेन्द्र सदा उनका सहायक हुआ है। सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ और २३ वें तीर्थंकर पार्श्वनाथकी मूर्तियोंके शिरोंपर बहुधा जो सर्पफण बने हुए मिलते हैं वे इस बातके प्रमाण है कि वे नागजातिके महापुरुष थे। इसके अलावा अन्य जैन मूर्तियोंके दायें बायें भी सर्पफणधारी नाग लोग खड़े हुए मिलते हैं, जिससे स्पष्टतया सिद्ध है कि नागलोग अर्हन्तोंके उपासक थे।

१ गोमुख, २ महायक्ष, ३ त्रिमुख, ४ यक्षेश्वर, ५ तुम्बर, ६ पुष्प, ७ वरनंदि, ८ श्याम, ९ अजित, १० ब्रह्म, ११ ईश्वर, १२ कुमार, १३ कार्तिकेय (चतुर्मुख), १४ पाताल, १५ किन्नर, १६ किंपुरुष, (गरुड), १७ गंधर्व, १८ खगेन्द्र, १९ कुबेर, २० वरुण, २१ भ्रकुटि, २२ सर्ववाहन (गोमेद), धरणेंद्र और २४ मातंग नामवाले यक्षोंको क्रमशः ऋषभ-आदि चौवीस तीर्थंकरोंका शासन-देवता माना गया है। और १ चक्रेश्वरी, २ रोहिणी, ३ प्रज्ञप्ति, ४ वज्रशृंखला, ५ पुरुषदत्ता, ६ मनोवेगा (मोहिनी), ७ काली, ८ ज्वालामालिनी, ९ महाकाली (भ्रकुटि), १० मानवी (चामुंडा), ११ गौरी, (गोमेदिका) १२ गांधारी (विद्युन्मालिनी), १३ वैरोटी, १४ अनन्तमती (विजृंभिणी), १५ मानसी, १६ महामानसी, १७ जया (विजया), १८ अजिता (तारादेवी), १९ अपराजिता, २० बहुरूपिणी, २१ चामुंडा, २२ कूष्मांडिनी, २३ पद्मावती और २४ सिद्धायिका नामवाली यक्षिणियोंको क्रमशः तीर्थंकारोंकी शासन-देवियां कहा गया है।

जिनशासनके रक्षक देवी-देवता होनेके कारण ही जैनागम, पूजापाठ और प्रतिष्ठा-ग्रन्थोंमें अर्हंत-बिम्ब-प्रतिष्ठा एवं महाअभिषेक आदि उत्सवोंके समय इन यक्ष-यक्षणियों; श्री, ह्री आदि देवियों; वरुण, कुबेर, आदि दशों दिशाओंके क्षेत्रपालोंकी पूजा-आराधना करनेका भी विधान किया गया है तीर्थंकरोंकी मूर्तियों बनाते समय इनकी मूर्तियाँ बनानेका उल्लेख है। प्राचीन जिनभगवान्की प्रतिमाओंमें जगह-जगह दायें-बायें यक्ष और यक्षिणियोंकी आकृतियां बनी हुई मिलती हैं।

मोहनजोदड़ोकी साक्षी—

इस परिचयसे भली-भांति सिद्ध है कि जैन-संस्कृतिका यक्ष, गंधर्व, नाग आदि भारतकी प्राचीनतम जातियोंसे बहुत घनिष्ठ सम्बंध रहा है। इस परसे स्वभावतः यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि उपर्युक्त जातियोंकी सभ्यताके कोई प्रागैतिहासिक केन्द्र पुरातात्त्विक खोज-द्वारा प्रकाशमें लाये गये, तो उनमें जैन संस्कृतिके चिह्न अवश्य ही मिलने चाहियें। इस तथ्यकी जाँच करनेके लिये आइये सिंध काण्ठे के मोहनजोदड़ो और रावी-काण्ठेके हड़प्पाके पुराने नगरोंकी ओर चलें, जिनके ५००० वर्ष पुराने ध्वंसावशेष भारतीय सरकारके पुरातत्त्व-विभाग-द्वारा सन् १९२२–२६ में भूगर्भसे निकालकर प्रकाशमें लाये गये हैं और जिनकी सोई हुई सभ्यताका श्रीजॉनमार्शल डायरेक्टर-जनरल भारतीय पुरातत्त्व-विभागने 'Mohenjodaro and Indus civilisation' नामक तीन बृहत् पुस्तकोंमें सविस्तार दिग्दर्शन कराकर संसारके इतिहासज्ञोंका ध्यान भारतकी प्राचीनतम प्रागैतिहासिक सभ्यताकी ओर आकर्षित किया है।

यद्यपि दुर्भाग्यवश उपर्युक्त नगरोंमें कोई ऐसी बिल्डिंग जिसे हम असंदिग्धरूपसे देवालय

कह सकें अभी तक दृष्टिमें नहीं आसकी है; परन्तु इतने मात्रसे यह नहीं कहा जा सकता कि उस युग-में भारतीयजन देवालयोंका निर्माण न करते थे। क्योंकि प्राप्त ध्वंसावशेषोंमें कुछ ऐसे भी हैं जो साधारण रहन-सहनके घरोंसे कई अंशोंमें विलक्षण है। हो सकता है कि वे माननीय देवताओंके मंदिर हों; परंतु इतने परसे तत्कालीन सभ्यताका कोई पता नहीं लग सकता। उस युगकी धार्मिक सभ्यताका पता लगाने के लिए हमें अनिवार्य रूपसे उन आकृतियोंको ही अपनी खोजका आधार बनाना होगा जिनके सैकड़ों नमूने मुद्राओं, मोहरों, टिकड़ों वा मिट्टी, धातु और पाषाणकी मूर्तियोंके रूपमें वहांसे उपलब्ध हुए हैं। भारत और अन्य देशोंके विद्वानोंने अपनी गवेषणामें इन आकृतियोंकी तुलना भारतकी श्रमणसंस्कृतिकी शिव-सम्प्रदायवाली मूर्तियों, मान्यताओं और साहित्यिक विवरणोंसे तो खूब की है; परंतु खेद है कि डाक्टर प्राणनाथ, डा० रामप्रसाद चन्दा प्रभृति कुछ एक विद्वानोंको छोड़कर किसीने भी आज तक भारतीय श्रमण-संस्कृतिकी दूसरी जैन सम्प्रदायवाली मूर्तियों, मान्यताओं, विधि-विधानों और साहित्यिक विवरणोंसे इनकी तुलना करनेका परिश्रम नहीं किया! इस अधूरे अध्ययनका ही यह दुष्परिणाम है कि, विद्वान लोग आकृतियों-के रहस्यको पूर्णतया समझने और उस युगकी धार्मिक सभ्यताका स्पष्ट चित्र खींचनेमें आज तक असफल रहे हैं। इस कमीको पूरा करनेके लिये ही इस लेखमें मोहनजोदड़ो और हडप्पासे प्राप्त आकृतियोंकी तुलना जैनमूर्तियोंसे की जानी निश्चित की गई है।

मोहनजोदडो और मथुराकी कलाओंकी तुलना—

यों तो भारतीय सभ्यताके पुराने और नये केंद्र जैनकलाकी सैकड़ों पुरानी और नई रचनाओंसे भरे हुए हैं; परंतु प्रस्तुत गवेषणाके लिए हम उन्हीं स्थानोंकी जैनकलाको अधिक महत्व देंगे जो ऐतिहासिक दृष्टिसे प्राचीन और प्रामाणिक हैं; जैसे उड़ीसामें खण्डगिरि; संयुक्तप्रांतमें अहिच्छेत्र, मथुरा, कौशाम्बी, हस्तिनापुर, देहली; मालवामें, बड़वानी, सिद्धवरकूट, आबू, ग्वालियर; काठियावाड़में गिरनार (रैवतक पर्वत) शत्रुञ्जय; दक्षिणमें श्रवणबेल्गोल, मूडबिद्री, कारकल, वेणूर, एलोरा, बादामी, तेरापुर; विहारमें सम्मेदशिखर, पावा, राजगिरि; बुन्देलखण्डमें देवगढ़, अहार, चंदेरी, बूढ़ीचंदेरी, खजुराहा इत्यादि। इन सबमें भी प्रस्तुत गवेषणाके लिए मथुराके ककाली टीलेसे प्राप्त कुशानकालकी २००० वर्ष पुरानी जैनमूर्तियाँ अधिक उपयोगी सिद्ध होंगी। इसीलिये इस लेखमें उन्हें जैन-संस्कृतिके उपलब्ध प्राचीन उत्कृष्ट नमूने मानकर उन्हींके साथ मोहनजोदड़ो और हडप्पा की आकृतियों और मूर्तियोंकी तुलना करना निश्चित किया गया है।

मोहनजोदड़ो और मथुराकी जैनकलाकी तुलना करते हुए यदि इनके आदर्श और उद्देश्यपर, इन-की बनावट और शैलीपर ध्यान दिया जाय तो हृदयपटलपर यह बात अंकित हुए बिना नहीं रह सकती कि ये दोनों कलाएं एक ही प्रकारकी श्रमण-संस्कृतिकी भावनाओंसे ओत-प्रोत हैं।

दोनों कलाओंका आदर्श—

इन दोनों कलाओंमें दिगम्बर वीतरागी ध्यानस्थ पुरुषको जीवनका परमादर्श माना गया है। दोनोंमें ध्यानके लिये पद्मासन व कायोत्सर्ग आसनको प्रधानता दी गई है, इसके लिये निम्न प्रमाण देखें:—

(अ) Catalogue of the Archeological Musuem at Mathura By J. Ph. Vogel, ph. D, Allahabad, 1910—

जैन मूर्तियां नं० B. ६६–७४—ये तमाम कायोत्सर्ग आसनधारी मूर्तियां हैं।

जैन मूर्तियां नं० B १–२८, ७५–८०—ये सब पद्मासनधारी मूर्तियां हैं।

(आ) Mohenjodaro And Indus Civilisation. By John Marshall.

जिल्द नं० १ फलक १२, टिकड़े १३, १४, १५, १८, १६, २२ में और जिल्द नं० ३ फलक ११६, टिकड़े १, और जिल्द नं० ३, फलक ११८, चित्र B. ४२६ में, जो मोहनजोदड़ोसे प्राप्त हुए हैं, दिगम्बर कायोत्सर्ग ध्यानस्थ योगियोंकी मूर्तियाँ अङ्कित हैं।

जिल्द नं० १, फलक १० पर हड़प्पासे पाई हुई दिगम्बर कायोत्सर्ग पुरुषाकार पाषाण मूर्तिका चित्र दिया है, जिसका मुखमंडल, बाहू और जाँघोंसे नीचेका भाग टूटा हुआ है।

(इ) The Jain Antiquary—June, 1937 P. 17–18

उपर्युक्त हड़प्पासे प्राप्त मूर्तिखण्डके समान ही ई० सन् १६३७ में पटना जंकशनसे एक मीलकी दूरीपर लोहिनपुरसे दो दिगम्बर कायोत्सर्ग पुरुषाकार जैन मूर्तिखण्ड मिले हैं। यह डा० जायसवालके मत-अनुसार ३०० ई० पूर्व प्रारंभिक मौर्य कालके बने हुए हैं, हड़प्पाके मूर्तिखण्डसे बहुत कुछ समानता रखते है, और प्राचीन जैन कलाके बेहतरीन नमूने है।

(ई) Archiological Survey of India, Annual report 1930–1934, published in 1936—Vol 1. P. 30.

मन्यारमठ राजगृहोसे जो २२ इंच लम्बी जैन-मूर्ति मिली है वह कायोत्सर्ग मुद्रामें है।

दोनों कलाओंमें जटाधारी योगियोंकी मूर्तियां—

दोनों कलाओंमें कितनी ही ध्यानस्थ मूर्तियां ऐसी हैं, जो जटाधारी हैं—कुछमे ये जटाएँ दोनों ओर कन्धोंपर पड़ी हुई हैं और कुछमें ये बाएँ कन्धे की ओर पड़ी हुई हैं। इनके लिये निम्न प्रमाण दर्शनीय हैं:—

(अ) Ibid Catalogue of Mathura—

जैन प्रतिमाएं नं० B. ६६–७३, B. ६—इनमें योगियोंकी लम्बी लम्बी जटाएँ दोनों ओर पड़ी हुई हैं।

(आ) Ibid Catalogue of Mathura (वही मथुरासंग्रहालयका मूर्तिसूचीपत्र) जैनमूर्ति न० B. ७६, इसमें जटाएं बाएँ कन्धेपर पड़ी हैं।

(इ) Ibid Mohenjodaro (वही मोहनजोदड़ो जि० १.

जिल्द १, फलक १२, चित्र १८ मे दिगम्बर कायोत्सर्ग ध्यानस्थ मूर्ति दिखलाई गई है, इसके शिरपर त्रिशूल बना हुआ है। जटाएँ बाएं कन्धेपर पड़ी हैं। नीचेकी ओर सात उपासक जन एक पंक्तिमें खड़े हैं।

जैन अनुश्रुतिके अनुसार ये समस्त जटाधारी मूर्तियां आदिब्रह्मा वा आदितीर्थंकर ऋषभ भगवानकी हैं।

ईसाकी आठवीं शताब्दीके जैनाचार्य श्रीरविषेणजीने अपने पद्मचरित पर्व ३ श्लोक २८७, २८८ में उनका वर्णन करते हुये लिखा है कि :—

ततो वर्षार्द्धमात्रं स कायोत्सर्गेण निश्चलः।
धराधरेन्द्रवत्तस्थौ कृतेन्द्रिय-समस्थितिः॥ २८७॥
वातोद्धूता जटास्तस्य रेजुराकुलमूर्त्तयः।
धूमाल्य इव सद्ध्यान-वह्निशक्तस्य कर्मणः॥२८८॥

अर्थात्—वह अपनी समस्त इन्द्रियोंको समस्थित करके छह मास पर्यन्त कायोत्सर्ग-आसनसे खड़े होकर सुमेरुपर्वतके समान निश्चल हो गए। उस समय वायुवेगसे ऊपरकी ओर उड़ती हुई उनकी जटाएँ ऐसी भासती थीं "जैसे सद्ध्यान-अग्नि-द्वारा भस्म किये हुए कर्मोंका धुआं ही उड़ रहा हो।" पुनः पद्मचरित्र पर्व ४ मे कहा है:—

मेरुकूटसमाकार-भासुरांशः समाहितः।
स रेजे भगवान् दीर्घजटा-जाल-हृतांशुमान्॥५॥

अर्थात्—जैसे सुमेरुपर्वतके शिखर सूर्यके किरण-जालसे घिरे हुए देदीप्यमान है, वैसे ही

भगवान् अपनी लम्बी लम्बी जटाओंके जालसे घिरे हुए शोभायमान हैं।

चौथी ईस्वी शताब्दीके जैन ज्योतिषज्ञ यतिवृषभने भी अपने ग्रन्थ 'तिलोयपण्णत्ती'के ४थे अधिकारमें गंगोत्री आदिके निकट कहीं हिमाचल प्रदेशमें स्थित आदिजिनेन्द्रकी मूर्तिका उल्लेख करते हुए कहा है :—

आदिजिणप्पडिमाओ ताओ जड-मउडसेहरिल्लाओ।
पडिमोवरिम्मि गंगा अभिसित्तुमणा व सा पडदि ॥२३॥

अर्थात्—वे आदिजिनेन्द्रकी प्रतिमाएँ जटा-मुकटरूप शेखरसे सहित हैं। इन प्रतिमाओंके ऊपर वह गंगानदी मानों मनमें अभिषेककी भावनाको रखकर ही गिरती है।

आज भी भारतके बहुतसे जैन मन्दिरोंमें ऋषभ भगवानकी प्राचीन मूर्तियाँ जटाधारी रूपमें मौजूद है। इसके लिये राजगृहीकी प्राचीन ऋषभ भगवानकी मूर्ति, जिसका फोटो बनारससे प्रकाशित होने वाली मासिक पत्रिका 'ज्ञानोदय' जुलाई १९४९ मे छपा है, दर्शनीय है।

हिन्दुओंके भागवत-पुराण स्कंध ५,अध्याय २-६ मे भी इसी ऋषभ भगवानका बहुत सुन्दर सविस्तर वर्णन दिया गया है, उस वर्णनके अनुसार भी भगवान ऋषभका जटाधारी रूपमें ही विचरना सिद्ध होता है।

इससे यह प्रमाणित होता है कि मोहनजोदड़ोवाली जटाधारी मूर्तियां भी ऋषभ भगवानकी ही हैं।

दोनों कलाओंमें त्रिशूलकी महत्ता—

दोनों कलाओंमें त्रिशूलके चिह्नको विशेष महत्व दिया गया है। सिन्धुदेशकी मूर्तियोंमे यह त्रिशूल ध्यानी पुरुषोंके शिरोंपर रक्खे हुए दिखलाए गए हैं और मथुराकी जैनमूर्तियोंमें यह त्रिशूल ध्यानी पुरुषके चारों ओर रक्खे हुए हैं या मूर्तिके नीचेकी ओर बने हुए हैं, जिनपर धर्मचक्र रक्खे हुए हैं। इनके लिये निम्न प्रमाण देखें :—

(अ) Ibid MohenJodaro—जिल्द १, फलक १२, टिकड़े १३, १८, २२ में मूर्तियोंके शिरोंपर यह त्रिशूल बने हैं।

(आ) *The Jaina Stupa and other Antiquities of Mathura By V.A. Smith, 1901*—

फलक ६—इसके बीचके भागमें कमलसे आधारित एक सुन्दर त्रिशूल बना हुआ है, जिसपर धर्मचक्र रक्खा हुआ है। इस त्रिशूल और धर्मचक्र की ओर तीन स्त्रियां और एक बालिका हाथोंमें कमल लिये उपासिकाके रूपमें खड़ी हैं। इनसे दायीं ओर एक वृहत्काय सिंहकी आकृति बनी है, जो स्पष्टतया भगवान महावीरका चिन्ह है।

फलक ७, ६, १० और ११ में केन्द्रीय पद्मासन अर्हन्तदेवकी मूर्तिके चारों ओर बहुत ही सुन्दर और अलकृत चार चार त्रिशूल बने हुए हैं।

(इ) वही, मथुरा संग्रहालयका सूचीपत्र—

जैन मूर्ति नं० B. ५—इस मूर्तिके आसनपर त्रिशूल बना हुआ है, जिसपर धर्मचक्र रक्खा हुआ है। इस मूर्तिकी छह श्रमण एक ही पंक्तिमें खड़े वन्दना कर रहे हैं।

श्री जॉ। मार्शलने सिन्धुदेशकी इन आकृतियोंके शिरोंपर स्थित त्रिशूलोंको सींग कहा है; परन्तु उनकी यह धारणा भारतकी किसी भी धार्मिक मान्यतासे सुसंगत नहीं है–बिल्कुल निराधार है। भारतकी आध्यात्मिक मान्यताओंसे अनभिज्ञता ही उनकी इस कल्पनाका एक मात्र कारण है। एक भारतीय विद्वान्के लिये तो उसमें त्रिशूलकी पहिचान कर लेना बहुत ही सरल है। यहां कौन नहीं जानता कि त्रिशूलका चिन्ह त्रिगुप्ति अथवा त्रिदण्ड अर्थात् मन-वचन-कायरूप त्रियोगोंको वशमें रखनेकी आध्यात्मिक भावनाका प्रतीक है। चूंकि योगीजनके जीवनकी विशेषता ही उनकी त्रिगुप्ति वा त्रिदण्ड है, इसलिये कलाकारोंके लिये योगीश्वरोंकी मूर्तियोंको त्रिशूलके चिह्न-सहित बनाना स्वाभाविक ही है। शिवमूर्तिके

साथ तो आज-कल भी त्रिशूलका चिन्ह जोड़ा जाता है। परन्तु अर्हन्त मूर्तियोंके साथ आज-कल उसकी योजना नहीं की जाती, जब कि बहुप्राचीन समयमे की जाती थी और उसका कारण यह है कि अर्हन्तका रूप त्रिशूलधारी भी लिखा है, जैसा कि धवल सिद्धान्त ग्रन्थके प्रथम खण्ड (पृ० ४५) में उद्धृत निम्न प्राचीन गाथासे प्रकट है—

तिरयण-तिसूल-धारिय मोहंधासुर-कबंध विंद-हरा।
सिद्ध-सयलप्परूवा अरहंता दुण्णय-कयंता ॥२५॥

त्रिशूल त्रिदण्डका प्रतीक है—

पापोंसे बचने और निर्वाण प्राप्तिके लिये, जैन संस्कृतिमें त्रिदण्ड अथवा त्रिगुप्तिपर बहुत जोर दिया गया है।

भगवान बुद्ध मज्झिमनिकायके ५६वें उपाली सुत्तमें निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र (भगवान-महावीर) के आचार-मार्गका बखान करते हुए कहते हैं :—

'आवुस गौतम! धर्म कर्मका विधान करना निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्रका आचरण नहीं है। आवुस गौतम! दण्ड विधान करना निगंठ नातपुत्तका नियम है। .. .. आवुस गौतम! पाप कर्मके हटानेके लिये निगंठ नातपुत्त तीन दण्डोंका विधान करते हैं—जैसे कायदण्ड, वचनदण्ड, मनदण्ड।

ईसाकी प्रथम शताब्दीके महान् जैनाचार्य श्रीउमास्वातिने भी भगवान महावीर-द्वारा बतलाए हुए मोक्षमार्गका वर्णन करते हुए बतलाया है :—

नवीन कर्मोंका निरोध संवरसे होता है। वह संवर त्रिगुप्ति करने, पंच समिति रखने, दश धर्म पालने, द्वादश भावना भाने, बाइस परीषह सहन करने और पंचप्रकारके चारित्रका पालन करनेसे होता है। मन, वचन और कायको भली प्रकार वशमें करना गुप्ति है [1]।

[1] आस्रव-निरोधः संवरः ॥१॥ स गुप्ति-समिति-धर्मानुप्रेक्षा-परीषहजय-चारित्रैः ॥२॥ तपसा निर्जरा च ॥३॥ सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः ॥४॥—तत्त्वार्थसूत्र अ० ९।

दोनों कलाओंमें धर्मचक्रादिकी महत्ता—

दोनों कलाओंमें धर्मचक्रोंकी बड़ी मान्यता है। यह चक्र स्तम्भों व दण्डोंपर रक्खे हुए हैं। इन्हें कितने ही पुरुष, स्त्री तथा बालकजन वंदना करते हुए दिखलाये गए हैं। इसके लिये निम्न प्रमाण पर्याप्त हैं :—

(अ) वही, मथुरा-सग्रहालयका सूचीपत्र—जैन मूर्ति नं० B–५.

(आ) वही, मथुरा-संग्रहालय का सूची पत्र—जैन मूर्ति नं० B–४, B–१२, B–१४, B–१५, B–१७। इन मूर्तियोंके आसनोंपर धर्मचक्र स्तम्भोंपर रक्खे हुए हैं।

(इ) The Jaina stupa and other Antiquities of Mathura. By V. A Smith, 1901—फलक ६, फलक ७, फलक ८, फलक ११।

इनमेंसे फलक ६ मे धर्मचक्र त्रिशूलपर रक्खा हुआ है, फलक ७ और फलक ११ में वे बहुत सुन्दर स्तम्भोंपर रक्खे हुए हैं और फलक ८ में तो धर्मचक्र आयागपटकी केन्द्रीय वस्तु है, जिसके चारों ओर एक परिधिमे आठ अप्सराएँ हावभाव सहित नृत्य करती हुई घूम रही है।

(ई) वही मोहनजोदड़ो—जिल्द नं० १, फलक १२–टिकड़े नं० २३, फलक १३ टिकड़े नं० १६, २०—इनमें केवल दण्डोंपर लगे हुए धर्मचक्र दिखलाए गए हैं।

फलक १०३ टिकड़े नं० १८—इसमे धर्मचक्र-दण्डके साथ घोड़े (unicorn) का भी चित्र अंकित है।

फलक ११६–मोहर ५, ६। इनमें धर्मचक्र दण्डोंको वृषभ (बैल) की मूर्तिके साथ-साथ जलूसोंमें ले जाता हुआ दिखलाया गया है। यह ध्यान रहे कि जैन अनुश्रुतिके अनुसार घोड़ा शंभवनाथ तीसरे जैन तीर्थंकरका चिन्ह है और वृषभ वृषभनाथ प्रथम जैन तीर्थंकर का चिन्ह है।

मथुराकी कलामें अङ्कित धर्मचक्रका रूप

अशोक-कालीन धर्मचक्रके समान स्पष्टतया नाभि, नेमि और आरोंसे युक्त चक्राकार है। परन्तु सिन्धुदेशसे प्राप्त दण्डोंके चित्रोंमें उक्त प्रकारके धर्मचक्र देखनेमें नहीं आते। इनमेंसे प्रत्येकमें एक दूसरेके ऊपर थोड़ासा फासला देकर दो दो भाजनोंकी आकृतियां बनी हुई हैं। इनमेंसे नीचेका भाजन तो स्पष्टतया अर्द्ध गोलाकार प्यालेके रूपका है, जिसके नीचेके भागमें घंटियों सरीखीं चीजें लगी हुई हैं। परन्तु ऊपरवाला भाजन विलक्षण प्रकार-का है। फलक १०३ टिकड़ा १८ में यह खड़ी और पड़ी घंटियोंसे बनी हुई एक चौकोर वस्तु है और फलक १३, टिकड़ा २० में यह अर्द्ध गोलाकार उल्टे प्यालेके समान है। ये दण्ड तो आज कलके जमानेमें जैन उत्सवोंके साथ जैन तीर्थंकरोंकी मूर्तियोंके आगे आगे चलनेवाले धर्मचक्रदण्डोंसे बहुत अधिक समानता रखते है। आजकल प्रयोग-में आनेवाले जैन धर्मचदक्रदण्डोंमें सिन्धुदेशके समान ही अनेक झालरों, घंटियों और झंडियोंसे अलंकृत प्यालेके समान अधगोलाकार व थालीके आकारवाले कितने ही चक्र थोड़े-थोड़े फासलेपर एक दूसरेके ऊपर लगे हुए होते हैं।

धर्मचक्र नियमबद्धगतिशील संसारका प्रतीक—

इतना विवरण दिये जाने पर पूछा जा सकता है कि सिन्धुदेशकी दण्ड-आकृतियोंमें मथुराकलाके धर्मचक्रों जैसी कोई भी सदृशता न होनेपर भी उन्हें धर्मचक्रकी संज्ञा क्यों दी गई है? इसका उत्तर पानेके लिये हमें उस तात्त्विक भावनापर विचार करना होगा जिसका कि प्रतीक धर्मचक्र है। भारतीय श्रमण-तत्त्वज्ञोंकी यह एक सनातन धारणा रही है कि यह संसार, जिसमें जीव अनादिकालसे ८४ लाख विभिन्न पर्यायोंवाली योनियोंमें परि-भ्रमण करता हुआ निरन्तर अपने वास्तविक हित-की तलाशमें घूम रहा है. स्वतः सिद्ध अनादिनिधन है—आदि और अन्त रहित है। यह दिन और रात, शुक्लपक्ष कृष्णपक्ष, उत्तरायण और दक्षिणा-यन, उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीमय द्वैततापूर्णक लय-चक्रके साथ विकास और ह्रासको प्राप्त होता हुआ, नित नई हालतोंमेंसे गुजरता हुआ, नितनये रूप और सौन्दर्यको पसारता हुआ, और व्यवस्थाके साथ अक्षय चक्रके समान नृत्य करता हुआ निरन्तर चला जारहा है, इसका कभी विच्छेद नहीं। जगकी इस अक्षुण्ण गतिको देखकर ही श्रमणतत्त्वज्ञों ने "धर्म" द्रव्यकी और वैदिक ऋषियोंने "ऋत" की धारणा की हैं। इसी तात्त्विक भावनाको साहित्य कारोंने धर्मचक्रकी संज्ञा दी है। और कलाकारोंने घुमनेवाली वस्तुओंसे इसका निर्देश किया है। घूमने वाली वस्तुओंमें गाड़ीका पहिया सबसे सहज उदाहरण है, इसलिये शिल्पकारोंने मौर्यकाल और कुशानकालमें जहां तहां नाभि, नेमि और आरोंसे युक्त गाड़ीके पहियेसे ही इस धर्मचक्रका प्रदर्शन किया है; परन्तु उत्सवोंमें चलनेवाले दण्डाकार धर्म-चक्रको पहियेका रूप देनेमें शिल्पकारोंको कठिनाई पड़ती है। इसलिये उक्त उद्देश्यसे बनाये गए प्राचीन अथवा आधुनिक दण्डाकार धर्मचक्रोंमें पहियेके बदले आसानीसे लग जानेवाले अर्द्ध गोलाकार अथवा चाकके समान सपाट आकार वाले चक्र लगाये गये है। यह आवश्यक विभिन्नता होते हुए भी मथुरा-कालीन स्तम्भोंपर स्थित, और मोहनजोदड़ो-कालीन दण्डोंपर स्थित चक्रोंमें मौलिक समानता बनी हुई हैं और वह यह कि दोनों में घूमनेकी गतिका प्रदर्शन है। श्रीजॉन मार्शलका यह मत कि दण्डोंपर लगे हुए भाजन धूपघट हैं बिल्कुल निराधार है। मोहनजोदड़ोके दण्डाकार धर्मचक्रों-को ध्यानपूर्वक देखनेसे प्रकट है कि दण्डोंपर लगे हुए भाजन, वे किसी भी आकृतिके क्यों न हों, घूमने वाले हैं और घूमनेके भावके ही वे द्योतक है। घूमने वाले भाजनोंको धूपघटकी तरह उपयुक्त करना सामान्यबुद्धिसे बाहर है। दूसरे धूपघट आज भी और प्राचीनकालमें भी देवालयों और मन्दिरोंमें

प्रयुक्त होते आए हैं[1]। परन्तु उनका यह रूप-ढंग नहीं जो दण्डस्थित भाजनोंका है। और न कभी उन्हें दण्डोंपर चढ़ाकर उत्सवोंमें ले जानेका विधान है।

सिन्धुदेशमें उपर्युक्त टिकड़ोंसे, जैसा कि श्री जान-मार्शलने स्वयं माना है, यह बात तो सिद्ध है कि प्राचीन सिन्धुदेशमें ध्यानी ज्ञानी योगीश्वरोंकी मूर्तियोंके उत्सव निकलते थे और आधुनिक जैन उत्सवोंके समान उन मूर्तियोंके आगे आगे धर्म-चक्रदण्डोंको ले जाया जाता था।

भारतवर्षमे अर्हन्तोंकी ही नहीं, प्रत्युत अन्य-वीरपुरुषोंकी भी मूर्तियां बनाने, मन्दिर निर्माण करने, उनके उत्सव मनाने और जुलूस निकालने-की प्रथा प्राचीन कालसे ही चली आ रही है। इसके लिये पर्याप्त उदाहरण विद्यमान हैं।

मूर्तियोंके उत्सव मनानेकी प्रथा बहुत प्राचीन—

मौर्य सम्राट् सम्प्रतिके राज्यकालमें, जैसा कि साहित्यिक प्रमाणसे विदित है, उज्जैन-वासी जीवन्धरकी मूर्तिका रथोत्सव निकाला करते थे[2]। यह जीवन्धर भगवान महावीरके समकालीन हेमाङ्गदेश के एक धीर-वीर राजा थे। इसने अपने राज्यके विद्रोही मन्त्रीका दमन करके पुनः अपने राज्यकी स्थापना की थी। यह अंतिम कालमे राज-पाट छोड़ महावीर स्वामीसे जिनदीक्षा ले अर्हन्त हो गये थे। इनकी कीर्तिके वर्णनमें जैन साहित्यमें कितने ही उत्तम काव्यग्रन्थ लिखे हुए हैं।

कलिङ्गाधिपति सम्राट् खारवेलके जमानेमें भी कलिङ्गवासी अपने वीरशिरोमणि केतुभद्रकी नीम लकड़ीकी बनी हुई मूर्तिका उत्सव निकाला करते थे। यह केतुभद्र कलिङ्गदेशके राजवंशका मूल संस्थापक था और सम्राट् खारवेलसे १३०० वर्ष पूर्व अर्थात् ई० पू० १४६० में महाभारत युद्धके समय उसने अपने विशेष पराक्रमसे बड़ी कीर्ति पाई थी[3]।

ई० पू० शताब्दीकी शिशुनागवंशीय अज, उदयी, नन्दिवर्धन और अजातशत्रु प्रभृति राजाओं-की प्रतिमाओंसे भी उपर्युक्त मतकी ही पुष्टि होती है[4]।

प्रसिद्ध कवि भासके नाटकोंमें उल्लिखित प्रमाणोंपरसे अथवा नाना घाटकी गुफाकी शात-वाहन राजाओंकी प्रतिमाओंपरसे डा० जायस-वालने तो यह मत स्थिर किया है कि देवमूर्तियों-के समान भारतके राजवंशोंमें अपने पूर्वजोंकी मूर्तियां बनाने, उनके मन्दिर निर्माण करने और उनके वार्षिक उत्सव मनानेकी प्रथा प्राचीनकालसे चली आ रही है।

वैदिककालमें रथोत्सव—

ऋग्वेद ८-६१, ५-६ से भी विदित है कि ऋग्वे-दिक कालमें भी भारतीय आर्यजन अपने वीर-बलिष्ठ नेता शचिपति, वज्रपाणि, मघवन इन्द्रकी मूर्तिको स्वर्णरथमे बिठाकर उसका उत्सव निकाला करते थे[5]। चूँकि इन्द्र वैदिक आर्यजनके लिये लोक-में सबसे उत्कृष्ट नेता था[6]। उसने हजारों दासोंको मार कर[7], हजारोंको बन्दी बनाकर,[8] सैंकडों दासनगरोंका विध्वंस करके,[9] नमुचि और शम्बर नामके वृत्रशासकोंको मारकर सप्तसिन्धु देशको शत्रुहीन किया था। उसको दास लोगोंके आधिपत्यसे मुक्त

१ (अ) आदिपुराण पर्व २२

(आ) तिलोयपण्णत्ती ४–८८१

२ आचार्य हेमचन्द्र-परिशिष्ट पर्व ११-२४

३ जनरल विहार ओड़ीसा रिसर्च सोसाइटी–दिसम्बर १६२७, सम्राट् खारवेलका हाथी गुफाका शिलालेख।

४ जयचन्द्र विद्यालंकार—भारतीय इतिहासकी रूपरेखा जिल्द १ पृ० ५०१-५०४।

५ A.C.Das—Rigvedic culture 1925—P.146

६ नाकिरिन्द्र त्वदुत्तरो रु ज्यायां अस्ति वृत्रहनं, नकिरेवा यथात्वम्॥ ऋग्वेद ४-३०-१

७ ऋग्वेद ४-३०-२१।

८ ऋग् २–१३-९।

९ ऋग् २–१९–६, २–१४–६।


No 13


No 17


No 18


No 321


No 337


No. 339

कराकर आर्यजनके बसने योग्य बनाया था[१], ३ उसने दासोंके धनको लूट कर आर्यजनमें उसे वितरण किया था। वह इस तरह आर्यजनके लिये सकल कामोंकी सिद्धिके लिए एक मात्र ईश्वर था[२]। वह अपने उपरोक्त पराक्रमके ही कारण महाराजा महेन्द्र, विश्वकर्मा आदि उपाधियोंसे भी विख्यात हुआ था[३]। यदि यह जानना हो कि इन उत्सवोंमें इसके अतिरिक्त क्या कुछ होता था तो हमें मथुराकी पुरानी कलाकी ओर ही निहारना चाहिए[४]। इससे विदित होगा कि जिस प्रकार आजकलके जैन रथोत्सवोंमें मूर्तिके साथ-साथ अनेक हाथी, घोड़े, रथ, पालकी, चन्दोये, झण्डे, धर्मचक्र चलते हैं और अनेक नृत्य और गायन करने वाले रहते हैं, वैसे ही आजसे २००० वर्ष पूर्व जैन मूर्तियोंके उत्सवोंमें अनेक हाथी, घोड़े, रथ, पालकी, चन्दोये, झण्डे, धर्मचक्र आदि शामिल होते थे और अनेक आभूषण-अलङ्कारोंसे युक्त चन्दोयेके नीचे हाव-भाव-सहित नाचगान करती हुई बहुतसी नर्तिकाएं साथ-साथ चलती थीं। जैन साहित्यसे भी विदित है कि तीर्थङ्करोंके पञ्चकल्याणकके उत्सव उक्त प्रकार बड़े समारोहके साथ मनाए जाते थे[५]।

दोनों कलाओंके पशु और वृक्ष—

दोनों कलाओंमें विभिन्न अर्हन्तोंको सविशेष पहिचाननेके लिए उनकी मूर्तियोंके नीचे अथवा आसपासमें उनके आनुसंङ्गिक पशु-पक्षियोंके चिह्न अङ्कित किये गये हैं। इस स्थलपर यह बता देना आवश्यक है कि कुशानकाल और गुप्त कालमें मूर्तियोंके आसनोंपर इन चिह्नोंको अङ्कित करनेकी प्रथा कुछ कम हो गई थी परन्तु फिर भी कुशानकालकी बहुतसी जैन-मूर्तियां मौजूद हैं जिनपर ये चिन्ह अंकित हैं। मध्यकालीन और आधुनिक कालकी मूर्तियोंमें तो ये चिह्न सभीमें मौजूद हैं। इनके लिये निम्न प्रमाण पर्याप्त हैं :—

(अ) वही मोहनजोदड़ो—जिल्द १ फलक १२ टिकड़े १७ की ध्यानस्थ बैठी मूर्तिके नीचे हिरणका चिन्ह बना हुआ है और इसके आस-पासमें हाथी शेर, गेंडा और भैंसेके चित्र बनाए गए है।

जिल्द नं० १ फलक १३ टिकड़े १८ पर ध्यानस्थ खड़ी मूर्तिके सामने एक पशुका चिह्न बना है।

(आ) वही, मथुरासंग्रहालयका सूचीपत्र-मूर्ति B ७६ के सिंहासनपर चिह्न बना है और मूर्त्ति B ७७ में आसनपर सर्पका चिह्न बना है।

(इ) Archeological Survey of India Vol XX 1901. फलक ६६—इसमें सिंहासनपर दो वृषभोंके चिह्न बने हैं। फलक ६१, फलक ६३, फलक ६४ में सिंहासनपर सिंहके चिह्न बने हैं।

---

१ ऋग् ४-१६-८; २-१२-३; ५-३०-५;
१-३२-११; २-१२-११; २-१३-५; इन्द्रो या चक्रे आत्मनेनमिगा शचीपतिः—अथर्व १२-१-१०,

२ ऋग १-१००-७-८; २-१३-४।

३ शत० ब्रा० १-६-४-२१; ४-३-३-१७ ऐत० ब्रा० ४-२२

४ (अ) वही जैनस्तूप आदि वी० ए० स्मिथ १६०१ फलक १४, १५, २०।

(आ) Epigraphica Indica Vol. II Part XIV March 1894—Specimen of Jain Sculpture from Mathura by A. Buhler पृ० ३१६-३२१ फलक ३।

(इ) Impearl Gazeteer Puri District, 1908, P. 88

(ई) प्राचीन जैन स्मारक बंगाल बिहार और ओडीसा, ब्र० शीतलप्रसाद-लिखित, पृ० ८६।

५ (अ) व्याख्याप्रज्ञप्ति ९ ३-६

(आ) आचारांगसूत्र २-२४; ७-३७

(इ) आदिपुराण पर्व १२, १३, १७, २२, ४६

(ई) पं० आशाधरकृत प्रतिष्ठासारोद्धार १, ८६-१००

(उ) श्रीजयसेनकृत प्रतिष्ठापाठ ७२४—७६८

दोनों कलाओंमें कई अरहन्त-मूर्तियां ऐसी भी हैं जिनमें उक्त प्रकारके पशु-पक्षियोंके अतिरिक्त उनके दायें बायें उनके आनुसंगिक चैत्यवृक्ष भी बनाए गये हैं। इसके लिए निम्न प्रमाण देखें :—

(अ) वही मोहनजोदड़ो—

जिल्द १, फलक १२ टिकड़ा १८

जिल्द ३, फलक ११६, टिकड़ा १

जिल्द ३, फलक ११८, ताम्रपत्र B ४२६।

(आ) वही Epigraphica Indica, फलक १०

कहीं कहीं यह चैत्यवृक्ष मूर्तिके शिरके ऊपर छत्राकाररूपमें अथवा सघन पत्तोंवाली शाखाओं-के रूपमें दिखलाये गये हैं। इसके लिये देखें—

वही जैन स्तूप आदि—वी० ए० स्मिथ १६०१।

फलक ६४—इसमें चैत्यवृक्ष मूर्तिके शिरपर फैला हुआ छत्राकार दिखलाया गया है।

फलक ६१—इसमें दायें हाथवाली मूर्तिके शिरपर चैत्यवृक्ष लटकी हुई सघन शाखाओंके रूप में दिखलाया गया है।

दोनों कलाओंमें बैल, हाथी, घोड़ा, स्वस्तिक, वृक्ष, गेंडा, महिष, हिरण, मत्स्य, बकरा, मच्छ, आदि चित्रोंको बहुत महत्व दिया गया है।

मोहनजोदड़ोकी कलामें तो ये चित्र ध्यानस्थ नग्न मूर्तियोंके सम्पर्कके अतिरिक्त भी टिकड़ों और मोहरोंपर अङ्कित हुए बहुत बड़ी संख्यामें मिलते हैं। इसके लिए देखें—

१ Ibid Mohanjodaro—

जिल्द ३ फलक १११ टिकड़े २७३ से ३४० तक पर वृषभ चित्र अङ्कित है।

जिल्द ३ फलक ११२ टिकड़े ३६५ से ३७३ तक पर हाथी चित्र अङ्कित है।

जिल्द ३ फलक ११३, ११४, ११५ टिकड़े १ से ३०१ तक, ५३७ से ५४१ तक, ५४३, ५४४, ५४६, ५४८, ५५७ पर घोड़ा (unicorn) अङ्कित है। इस जानवरकी पीठपर सवारीके लिए गद्दी लगी हुई है, जिससे यह लुप्त-प्राय एक विशेष जातिका घोड़ा सिद्ध होता है।

जिल्द ३ फलक ११४ टिकड़े ५०० से ५१५ तक स्वस्तिक अङ्कित है।

जिल्द १, फलक १२ टिकड़े १६, २०, २१, २५, २६ पर वृक्ष अङ्कित है।

जिल्द ३ फलक १११ टिकड़े ३४१ से ३४७ तक पर गेंडा अङ्कित है।

जिल्द ३ फलक ११० टिकड़े ३०४-३०६ तक पर भैंसा अङ्कित है।

जिल्द ३ फलक ११२ टिकड़े ३५५ पर हिरण अङ्कित है।

जिल्द ३ फलक ११४ टिकड़े ४८०-४८४, ४८६ पर मछली अङ्कित है।

जिल्द ३ फलक ११०, १११, ११५, टिकड़े ३१० से ३२६ तक और ५३६ पर बकरेका चित्र अङ्कित है। इस बकरेका धड़ कुहानरहित बैलके समान है। इसकी दुम बैलके समान लम्बी है, इसका शिर बकरेके समान है, शिरपर दो सींग हैं। श्रीजान-मार्शलने इसे (Bison) बतलाया है। यह लुप्तप्राय किसी विशेष जातिका बकरा सिद्ध होता है।

जिल्द ३ फलक १११ टिकड़े ३५१ से ३६१ तक, फलक ११६ टिकड़े नं० २०, फलक ११८ ताम्रपत्र १७ पर मच्छके चित्र अङ्कित हैं।

ये चिह्न तीर्थङ्करोंके प्रतीक हैं—

जैन जनश्रुतिके अनुसार ये समस्त चिह्न निम्न तीर्थङ्करोंके हैं।

१ बैल = प्रथमतीर्थंकर वृषभनाथ।

२ हाथी = द्वितीय तीर्थङ्कर अजितनाथ।

३ घोड़ा = तृतीय तीर्थङ्कर शम्भवनाथ।

४ स्वस्तिक = सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ।

५ वृक्ष = दशवें तीर्थंकर शीतलनाथ।

६ गेंडा = ग्यारहवें तीर्थंकर श्रेयांसनाथ।

७ महिष(भैंसा) = बारहवेंतीर्थंकर वासुपूज्य

८ हिरण = सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ।

६ मत्स्य = अठारहवें तीर्थंकर अरहनाथ।
१० बकरा = सत्रहवें तीर्थंकर कुन्थुनाथ।
११ मकर = नवें तीर्थंकर पुष्पदन्त।

इन चिन्होंकी मोहरोंके मिलने और शेष तीर्थङ्करोंके चिन्होंकी मोहरें न मिलनेसे विदित होता है कि मोहनजोदड़ो और हड़प्पाकी खुदाईसे जो स्तर निकले हैं वे उसी युगकी संस्कृतिके द्योतक हैं, जब केवल १८ तीर्थंकर ही अवतरित हुए थे अर्थात् यह युग महाभारतयुद्धकालसे ही पुराना नहीं है बल्कि सूर्यवंशी राम-राज्य कालसे भी पहलेका है।

ये चिह्न तीर्थङ्करोंके प्रतीक होनेसे विनयकी वस्तु माने जाते थे—

जैसा कि लेखकने 'जैन कला और उसका महत्व' शीर्षक लेखमें बतलाया है,[1] ये चिह्न जैन कलामें केवल तीर्थङ्करोंके आसनोंपर ही अङ्कित हुए नहीं मिलते बल्कि यह चिह्न विना तीर्थंकर मूर्तियोंके भी स्तूपोंकी बाड़ों, तोरणद्वारों, स्तम्भों, मन्दिरोंकी दीवारों, ताम्रपत्रों और झण्डोंपर भी अङ्कित हुए मिलते हैं। ऐतिहासिक युगमे भी ये चिह्न विना तीर्थङ्करमूर्तियोंके विनयवस्तुके तौरपर उपयुक्त होते रहे हैं, जैसा कि निम्न उद्धरणोंसे सिद्ध है:—

(१) कलिङ्गदेश (उड़ीसा प्रान्त) के प्रसिद्ध खण्डगिरि पर्वतपर लगभग ईसा पूर्व पहिली सदीके जैन सम्राट् महामेघवाहन खारवेल तथा उसकी रानियों और उत्तराधिकारी वंशजोंद्वारा बनी हुई जो अनेक गुफायें मौजूद हैं उनमें अनन्तनाथकी गुफाके विशालभवनकी पिछली दीवारपर त्रिशूल, स्वस्तिक, धर्मचक्र और नन्दीपदके माङ्गलिक चिह्न बने हुए हैं। स्वस्तिक और धर्मचक्रके नीचेकी तरफ एक आलयमें खड्गेयोग तीर्थङ्करकी मूर्ति बनी है जिसके दायें-बायें चमर धारी यक्ष-यक्षिणी खड़े हैं। छतके एक कोनेमें एक सुन्दर राजहस्तीकी मूर्ति बनी है, जिसके दायें-बायें सूण्डोंमें कमल-कलिका और फूल लिए दो हाथी खड़े हैं। छतके दूसरे कोनेमें नवग्रह सूर्य चन्द्रमा और राहुकी मूर्तियां बनी हैं। तीसरे कोनेमें लक्ष्मीकी मूर्ति है और चौथे कोनेमें बाड़के भीतर खड़ा हुआ पीपलका चैत्यवृक्ष बना है, जिसके दायें-बायें हाथोंमें फूलमालायें और जलकलश लिये स्त्रियां खड़ी हैं[1]। इनमें राजहस्तीकी केन्द्रीय मूर्ति द्वितीय तीर्थङ्कर अजितनाथकी प्रतीक हैं और नन्दीपर आदितीर्थङ्कर वृषभ भगवानके प्रतीकरूप बैलके खुरका चिह्न है।

इसी प्रकार हाथीगुफा नामकी गुफामें जैन सम्राट् खारवेलका जो प्रसिद्ध लेख उत्कीर्ण है उसकी प्रारम्भिक पांच पंक्तियोंपर वृद्ध मंगल स्वस्तिक और नन्दीपद और १७वीं पंक्तिके अन्तमें चैत्यवृक्षके चिह्न बने हुए हैं।

(२) अभी हालमें अग्रोहेकी खुदाईमेंसे जो तांबेके ५२ चौखूंटे सिक्के प्राप्त हुए हैं, उनके सामनेकी ओर वृषभ और पीछेकी ओर सिंह या चैत्य वृक्षकी मूर्तियां बनी हुई हैं[2]। ये सिक्के निःसंदेह दिवाकर-राज्यकालके हैं। दिवाकरके सम्बन्धमें डा० सत्यकेतुका मत है[3] कि दिवाकर श्रीनाथका पुत्र था। इसने पुराने परम्परा गत धर्मको छोड़कर जैन धर्मकी दीक्षा ली थी। जैन अग्रवालोंमें यह अनुश्रुति प्रसिद्ध है कि, लोहाचार्य स्वामी अग्रोहा गए और वहां उन्होंने बहुतसे अग्रवालोंको जैन धर्मकी दीक्षा दी। जैनोंके

---

१ देखें 'अनेकान्त' वर्ष ५ किरण १ और २, पृ० १-१२

१. Archeological Survey of India—Vol LI Bihar and Orissa 1931—p 273.

२ अग्रोहेकी खुदाई—वासुदेवशरणअग्रवाल, "प्राची नभारत" प्रथमवर्ष सम्वत् १९९७ प्रथम संख्या पृ. ५४

३. अग्रवाल जातिका प्राचीन इतिहास ११३८ पृ. ११६-११८ डा० सत्यकेतु विद्यालङ्कार।

कथन अनुसार उस समय अग्रोहामें राजा दिवाकर राज्य करते थे। वे श्रीलोहाचार्यके शिष्य होगए थे। उनके अनुकरणमें अन्य बहुतसे अग्रोहा निवासियोंने जैनधर्म स्वीकार किया। अग्रवालोंमें बहुतसे लोग जैनधर्मके अनुयायी हैं, ये सब श्रीलोहाचार्यको अपना गुरु मानते हैं। श्रीविहारीलाल जैनने भी अपने "अग्रवालइतिहास" में[1] जैनग्रन्थोंके आधार पर उक्त मतकी पुष्टि की है।

जैन पट्टावलियोंके[2] अनुसार लोहाचार्य नामके दो आचार्य होगए हैं। इनमें प्रथम लोहाचार्य अपर नाम सुधर्माचार्यश्रीगौतम गणधरके बाद वीरनिर्वाण-सम्वत् २८ में जैनसंघके आचार्य हुए; दूसरे आचार्य भद्रबाहु द्वितीयके शिष्य थे जिनको वीर निर्वाण सं० ६८३ वर्ष बाद १५६ ई० सन्में स्वर्गवास हुआ था। ये दक्षिणदेशस्थ भद्दलपुरसे विहार करते हुए अग्रोहा आये थे और दिवाकरको जैन धर्मकी दीक्षा दी थी।

'अग्रवैश्य वंशानुकीर्त्तनम्' का भी राजा दिवाकरका उल्लेख करना और उसे जैन बनाना सूचित करता है कि जैन अग्रवालोंमें प्रचलित अनुश्रुति ऐतिहासिक तथ्यपर आश्रित है[3]।

इस तरह उक्त सिक्के दिवाकरराज्यकालीन ई० सन्की दूसरी शताब्दीके हैं, जिनपर प्राचीन जैन संस्कृतिकी मान्यता-अनुसार वृषभ, सिंह और चैत्य वृक्षके चिह्न अङ्कित किए गये हैं।

(३) इसीप्रकार तक्षशिलासे प्राप्त हुए सिक्कोंमें कई सिक्के ऐसे हैं जिनकी एक ओर हाथी और दूसरी ओर सिंहके प्रतीक अङ्कित हैं। हाथीके ऊपर चैत्यका आकार बना हुआ है और सिंहके ऊपरकी ओर स्वस्तिक और सामनेकी ओर चन्द्रसहित चैत्यके आकार बने हैं[4]।

चन्द्रसहित चैत्याकार  सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्यका राजचिह्न है, जो आकार पीछेके सभी मौर्यवंशी राजाओंका राजचिह्न हो गया था। तक्षशिलासे प्राप्त एक सिक्केपर, जिसे श्री कनिंघमने अपनी 'भारतके प्राचीन सिक्के' नामक पुस्तकमें[5] प्रकाशित किया, चन्द्रसहित चैत्यकी आकृतिके नीचे स्वस्तिकका चिह्न भी बना हुआ है। इस सिक्केकी एक ओर 'साम्प्रदि और दूसरी ओर "मौर्यो' शब्द उल्लिखित हैं। डा० जायसवालके मतअनुसार[6] यह सिक्का स्पष्टतया सम्राट् अशोकके पौत्र साम्प्रतिका सिक्का है। इस कथन से पूर्णतया सिद्ध है कि तक्षशिलाका उपर्युक्त सिक्का भी—जिसपर चन्द्रसहित चैत्य और स्वस्तिकके साथ-साथ हाथी और सिंहके चिन्ह भी अङ्कित हैं—मौर्यवंशी राजाओंके सिक्के हैं। सम्भवतः ये सम्राट् साम्प्रति अथवा उत्तराधिकारियोंके सिक्के हैं। यह बात भली भांति प्रमाणित है कि मौर्यवंशी राजाओंका कुल धर्म सम्राट अशोकके अन्तिम जीवनके कुछ वर्ष छोड़कर शुरू से आखिर तक जैनधर्म रहा है[7]। जैनधर्म-प्रचार

१. अग्रवाल इतिहास विहारीलाल जैन पृ.११, १२.

२. (अ) षट्खण्डागम, धवला, टीका प्रथम पुस्तक प्रस्तावना प्रो० हीरालाल अमरावती १९३७ पृ० ६४--७१.

(आ) जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति (देखें जैनसाहित्य संशोधक खण्ड १ अंक ४, वीरनि० सं० २४४६ पृष्ठ १४६)

३. अग्रवालजातिका प्रचीनइतिहास (सत्यकेतु) पृ० ११७

४. The coins of India by Brown, फलक १ सिक्का नं० ५

५ Ancient Coins of India by Cunningham Plate II Coin no. २०

६. Modern Review–June 1934 P. 647

७. (अ) Jainism an early faith of Ashokaby G. E. Thomas, P. 23—टामसाहबने लिखा है कि चन्द्रगुप्तके समान उसके पुत्र बिन्दुसार और पौत्र अशोक भी जैनधर्मावलम्बी थे। इसके लिये उन्होंने मुद्राराक्षस, राजतरंगिणी और आईने अकबरीके प्रमाण दिये हैं।

(आ) अशोकके अभिलेख।

के कारण सम्राट् सम्प्रतिका जैन इतिहासमें वही स्थानहै जो सम्राट् अशोकका बौद्ध इतिहास मे हैं[1]। इसके लिए हेमचन्द्राचार्यकृत परिशिष्ट पर्व विशेष दर्शनीय है। इन हालातमें स्वभावतः यही सिद्ध होता है कि उक्त सिक्कोंपर जो हाथी और सिंह के चिह्न बने हुए है वे अवश्यमेव जैनसंस्कृतिसे घनिष्ठ सम्बन्धित हैं। जैसा कि पीछे कई स्थलोंपर बतलाया जा चुकाहै, हाथी दूसरे तीर्थंकर अजितनाथका चिह्न है और सिंह अन्तिम तीर्थंकर महावीरका चिह्न है।

(४) बिहार प्रांतके चम्पारन जिलेके रामपूर्वा लौरिया, नन्दनगढ़ और मुजफ्फरपुर जिलेके कोल्हुआ स्थानोंमें मौर्य राजवंशियोंद्वारा स्थापित किए हुए जो २३०० वर्ष पुराने पचास पचास फुट ऊंचे एक पाषाणीय स्तम्भ खड़े हुए मिले हैं उनपर वृषभ और सिंहकी बड़ी-बड़ी मनोज्ञ मूर्तियां रक्खी हुई हैं[2]? यद्यपि इन मूर्तियों अथवा स्तम्भोंपर किसी प्रकारके कोई लेख अङ्कित नहीं हैं, तो भी इस बातको ध्यानमें रखते हुए कि मौर्यवंशका कुलधर्म जैन धर्म था, यह बात निर्विवाद रूपसे कही जा सकती है कि ये स्तम्भ आदि और अन्तिम जैन तीर्थंकर वृषभनाथ और महावीरकी ही शुभ स्मृतिमें खड़े किए गए है, क्योंकि बैल वृषभनाथ भगवान और सिंह महावीर भगवानके प्रसिद्ध चिह्न हैं। इसके अतिरिक्त कोल्हुआ ग्राम, जहांपर एक सिंह-स्तम्भ खड़ा हुआ मिला है, भगवान महावीरसे विशेषतया सम्बन्धित है। पूर्वकालमें यह प्राचीन वैशाली नगरकी एक निकटवर्ती बस्ती थी—जहां भगवान महावीरका जन्म हुआ था। रामपूर्वा वाले सिंह-स्तम्भपर वृषभ और तीन महराबवाले  चैत्यके चिह्न भी बने हुए हैं। यह चैत्य-चिह्न वैसा ही है जैसा कि मौर्यवंशी राजाओंकी मुद्राओंपर मिलता है। इन बातोंके अतिरिक्त यह बात भी ध्यानमें रखने योग्य है कि उक्त स्तम्भोंपरकी बैलकी मूर्तियां मोहनजोदड़ो वाली मोहरों और टिकड़ोंपर उत्कीर्ण बैलकी तरह खड़े आकारकी हैं। यह शिवके प्रसिद्ध नन्दी बैलकी तरह बैठे आकारकी नहीं हैं। ऋषभ भगवानका चिन्ह, जैसा कि उसकी समस्त प्राचीन और नवीन मूर्तियोंसे सिद्ध है, प्रायः खड़े आकार बैलका चिन्ह है।

(५) सारनाथका Lion Capital चौबीस आरों वाला धर्मचक्र वृषभ और घोड़ेके चित्र।

इन जन्तुओंके टिकड़े जिस बड़ी संख्यामें मोहनजोदड़ोके सभी गृह-क्षेत्रोंसे मिले हैं उनसे यह निर्भ्रान्ततया सिद्ध है कि जैसे जैन संसारमें तीर्थङ्करोंके प्रतीकरूप पशु अथवा वृक्ष आदि चिह्न दीर्घ संसर्गके कारण मूर्तियोंके समान ही विनय और भक्तिकी वस्तु बनगए हैं वैसे ही मोहनजोदड़ोके टिकड़ोंपर उत्कीर्ण जन्तुओंके चित्र योगी महापुरुषोंके प्रतीक होनेके कारण प्राचीन भारतमें विनय और भक्तिकी वस्तु थे और श्रद्धालु गृहस्थी जन इन्हे अपनेको अनिष्ट कर घटनाओंसे बचानेके लिए मन्त्रोंकी तरह प्रयोगमें लाते थे[1]। श्री जॉन मार्शलने भी इन टिकड़ोंपर उत्कीर्ण जन्तुओंके सम्बन्धमें अपना मन्तव्य देते हुए उपर्युक्त मतकी ही पुष्टि की है[2]।

---

१ परिशिष्टपर्व-हेमचन्द्राचार्य श्लोक ६६-१०२।

२ Archeological Survey of India—New Imperial Series Vol LI—Bihar and Orissa 1931. p p 5–29.

१ डाक्टर प्राणनाथ—नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग १६, अंक १, पृ० ११४,

२ " No other hyoPthesis accounts for the numerous specimens of these animals seals found distribution over almost every building on the site as compared with the small number of clay sealings, not doesany other hypothesis accounts for the religious character of many of the devices engraved on them ... .. we are forced to the conclusion

दोनों कलाओंमें उपासक जन—

जिस तरह आजके भारतमें साधारण जनमें भक्ति मार्गकी प्रधानता है, और अनेक धनी सम्पत्तिशाली भक्त लोग पूजा वन्दनार्थ अपने-अपने इष्ट देवोंकी मूर्तियां बनवाने, मन्दिर निर्माण करनेमें अपना अहोभाग्य मानते हैं वैसे ही २००० वर्ष पूर्व प्रस्तुत मथुरा-कलाके कालमें और ५००० वर्ष पूर्व मोहनजोदड़ोके कालमें यहांके भक्त-जन इष्ट देवोंकी मूर्तियां और मंदिर बनवानेमें अपने जीवनकी सफलता मानते थे और अपने जीवनको कृतार्थ करनेके लिये इन मूर्तियोंके आसनोंपर या दायें बायें अपनी और अपने परिवारवालोंकी आकृतियाँ बनवाते थे, इसलिये प्रस्तुत दोनों कलाओंमें योगियोंकी मूर्तियोंके आसनोंपर इनके प्रतिष्ठापक और निर्माता महानुभावोंके सपरिवार चित्र भी रहे हैं, इसके लिये देखें—

(अ) वही मोहनजोदड़ो, जिल्द १ फलक १२ पर चित्र १८-इसमें सात भक्त जन मूर्तिके नीचे खड़े हैं और एक मर्तिके समक्ष घुटनोंके बल बैठा हुआ हाथ जोड़ वन्दना कर रहा है, बराबरमें एक पशुका चित्र बना हुआ है।

जिल्द ३ फलक ११६ चित्र १—इसमें छह उपासक जन मूर्तिके ऊपरवाले भागमें खड़े हैं, मूर्तिके सामने एक पशुका चित्र है, उसके पीछे एक पुरुष घुटनोंके बल बैठा हाथ जोड़ वन्दना कर रहा है।

जिल्द ३ फलक ११८ ताम्रपत्रचित्र नं० B ४२६-इसमें भी छह उपासक जन मूर्तिके ऊपरवाले भागमें खड़े हैं। मर्तिके सामने एक पशुका चित्र बना है, इसके पीछे एक पुरुष घुटनों के बल बैठा हाथ जोड़ वन्दना कर रहा है।

इन चित्रोंमें निश्चयसे पास बैठ वन्दना करने वाला पुरुष अपने वंशका नायक प्रतीत होता है और अन्य खड़े हुए उपासकजन उसके परिवारके आदमी हैं।

(आ) वही मथुरा संग्रहालयका सूचीपत्र—जैन मूर्ति नं० B. ४, B. ५, B. १२-से १८ तक, B. ६६ से ७३ तक।

इनमें मूर्तियोंके आसनोंपर उपासकजन पंक्ति में खड़े हुए हैं। इनमें नरनारी और बालक सब ही शामिल हैं। इन उपासकोंकी संख्या प्रत्येक मूर्तिमें भिन्न भिन्न है; किसीमें दो, किसीमें तीन, किसीमें ७ और किसी में आठ उपासक जन खड़े हैं। इनमेंसे कुछ खड़े हुए हाथ जोड़ वन्दना कर रहे हैं और कुछ घुटनोंके बल बैठे हाथ जोड़ नमस्कार कर रहे है।

दोनों कलाओंमें नाग उपासक—

दोनों कलाओंमें इन योगीश्वरोंके प्रधान उपासक यक्ष और नागोंको दिखलाया गया है इसके लिये देखें:—

(अ) वही मोहनजोदड़ो—फलक ११६ चित्र २६, फलक ११८ चित्र ११।

इन चित्रोंमें योगियोंके दोनों ओर घुटनोंके बल बैठकर दोनों हाथोंसे नमस्कार करते हुए नागोंको दिखलाया गया है।

(आ) वही मथुरासंग्रहालयका सूचीपत्र—जैनमूर्ति नं० १५—इस मूर्तिके दोनों ओर नागफण धारी उपासक वन्दना कर रहे हैं।

(इ) वही Epigraphica Mathura—पृ० ३६६ फलक २ चित्र A—इसमें एक स्तूपका चित्र दिया गया है, इसके दोनों ओर वृक्ष खड़े हैं। इस स्तूपको दो सुपर्ण, जिनका शरीर आधा पक्षीका और आधा मनुष्याकार है, और पांच किन्नर, जिनका शरीर आधा घोड़ेका और आधा मनुष्योंकार है, पुष्पमालाएँ और कलश हाथोंमें लिये पूजार्थ भेंट कर रहे हैं।

(ई) Archeological Survey of India

---

that the majority if not all of the animals portrayed on these seals whether mythical or real had some sacred or magical import in the eye of the owners.,,

Ibid Mohenjodaro vol. I, P.66-74

वार्षिक रिपोर्ट १६३०—१६३४, प्रकाशित १६३६ जिल्द १ पृष्ठ ३०—इसमें राजगृहके मन्यारमठके ऊपरी तीन स्तरोंकी खुदाईसे जैन कलाकी जो वस्तुएं प्राप्त हुई हैं उनमे निम्न चीजें भी शामिल है—

टूटी हुई जैन मूर्तियों के दो शिर और एक धड़, लाल पत्थरका टूटा हुआ एक शिलाखण्ड जिसपर ईसाकी दूसरी शताब्दीके एक अभिलेख-सहित विपुलाचलपर बैठे हुए महाराज श्रेणिककी एक मूर्ति बनी है। एक और घड़ा हुआ शिलाखण्ड जिसपर ईसाकी तीसरी सदीके अभिलेख सहित एक ओर आठ नागफणधारी पुरुषोंकी मूर्तियां हैं और दूसरी ओर तीन खड़े पुरुषोंकी मूर्तियां हैं। यह खण्ड किसी जैन मूर्तिका टूटा हुआ निचला खण्ड मालूम होता है, जिसपर मूर्तिके प्रतिष्ठापक उपासकोंकी आकृतियां अङ्कित हैं।

दोनों युगके कलाकारोंने अर्हन्तोंके प्रति यक्ष-यक्षिणियों की अनुपम भक्ति दर्शानेके लिए उनकी अनेक सुन्दर अलंकृत मूर्तियां निर्माण की हैं। इनमेंसे कितनी ही स्तूपों और देवालयोंके स्तम्भोंपर उत्कीर्ण की गई हैं। इसके लिये देखें—

(अ) वही Epigraphica India पृ० ३१२—इसपर एक आयागपट्टका चित्र दिया हुआ है। इसमें एक एक स्तूपके सामने दो नाचती हुई यक्षिणियों को दिखलाया गया है।

(आ) वही Epigraphica Indica पृ० ३१६,३२१ फलक ३—इसमें अर्हन्तोंके उत्सवोंमें नाचती गाती हुई यक्षिणियोंको दिखाया गया है।

(इ) वही जैन स्तूप आदि वी० ए० स्मिथ १६०१ फलक १२, फलक ६०, फलक ६१, फलक ६२, फलक ६३—इनमें तोरणद्वारों और स्तम्भोंपर अनेक सुन्दर यक्षणियोंको दिखाया गया है।

(ई) वही मोहनजोदड़ो, जिल्द १ फलक ११—इसपर हड़प्पासे प्राप्त एक नाचते हुए यक्षकी मूर्ति दिखलाई गई है।

सिन्ध देशकी प्राचीन धार्मिक सभ्यता—

अब देखना यह है कि ५००० वर्ष पूर्व सिन्ध देशमें रहनेवाले लोग किस प्रकारकी धार्मिक संस्कृति के अनुयायी थे। यह जाननेके लिए हमारे पास उस पुरातात्विक सामग्रीके अतिरिक्त जो मोहनजोदड़ों और हड़प्पाकी खुदाईसे मिली है और कोई साधन आज पर्याप्त नहीं है। इस सामग्रीपरसे निस्संदेह यह निष्कर्ष निकलता है कि पुराने जमाने में सिन्धवासी लोग लघु एशियाके देशोंमें बसने वाली पुरानी जातियोंकी तरह धरती माताको महादेवी जगदम्बा मानते थे। वे अपने पूर्व पुरुषों और माताओंके उपासक थे। वे उन्हींको अपनी बस्तियों के संरक्षक मानकर देव-देवियोंके रूपमें उनकी उपासना करते थे। उनका मत था कि यह चराचर सृष्टि पुरुष स्त्रीरूप आकाश-पृथ्वीके सम्मेलसे उत्पन्न हुई है। इस आशयसे वे लिङ्ग और योनिको भी पूजते थे। परन्तु इतने विवेचन मात्रसे हमारा अन्वेषणकार्य खतम नहीं हो जाता। हमें देखना यह है कि क्या उस जमानेके लोगोंका दार्शनिक विकास यहांतक उठकर ही रहगया था या उन्होंने इससे भी आगे बढ़कर किसी आध्यात्म-संस्कृतिको भी अपनाया था। इसका समाधान इधर-उधरकी कल्पनाओंसे न करके स्वयं टिकड़ोंपर उत्कीर्ण योगीजनकी मूर्तियोंसे ही करना अधिक प्रामाणिक और लाभदायक होगा।

इन योगियोंकी मूर्तियोंको यदि ध्यानसे अध्ययन किया जाये तो पता चलेगा कि इनमें निम्न लक्षण विद्यमान हैं:—

१. पुरुषाकार, २. शान्त तरुण मुद्रा, ३. ध्यानारूढ़, ४. नासादृष्टि, ५. कायोत्सर्ग आसन—दोनों हाथ घुटनों तक सीधे लटकते हुए। ६. दिगम्बर वेश—निष्परिग्रही अस्त्र-शस्त्र-रहित भृकुटिक्षेप-रहित।

इन उपर्युक्त लक्षणोंसे स्पष्टतया विदित हैं कि वे लोग निरे शाक्तवाद या पितृवादको ही मानने

वले नहीं थे, वे शिश्न और योनिकी ही उपासना करनेवाले नहीं थे, प्रत्युत अध्यात्मवाद, त्यागमार्ग संन्यासमार्ग, योगसाधना, ध्यानमुद्रारूप किसी श्रमणसंस्कृतिको भी माननेवाले थे।

अभी यह निर्णय करना है कि जिस अध्यात्म-संस्कृतिको उन्होंने अपनाया था वह संस्कृति आज बिल्कुल खतम होचुकी है या वह आज भी पूर्ववत् प्रचलित है, यदि वह प्रचलित है तो उसकी सादृश्यता कहां पर है, उसका प्रतिनिधित्व आज कौन कर रहा है। इस गुत्थीको सुलझानेके लिए हमें निश्चय करना होगा कि संसारके किन लोगोंने उपर्युक्त लक्षणोंवाली मूर्तियोंकी रचना की, कौन उनके उपासक बने रहे और कौन उन जैसी जीवन-चर्या को अपनाते रहे हैं।

जहां तक भारतसे बाहरवाले देशोंका सवाल है, बहुतसी पुरातात्त्विक खोज होनेपर भी वहां किसी ऐसी संस्कृतिका पता नहीं लगा, जिसमें वीतरागता, नग्नता, निष्परिग्रहता, योगसाधना, ध्यानलीनता आदि जीवनचर्याका समावेश हो। इसलिये उपर्युक्त प्रश्नका उत्तर भारतकी सीमामे ही ढूंढना होगा। भारतमे भी, जहां तक साधारण हिन्दू मूर्तियोंकी निर्माणकलाका प्रश्न है, शिव-मूर्तियोंको छोड़कर शेष समस्त देवी-देवताओंकी मूर्तियाँ—चाहे वे ब्रह्माकी हों, चाहे विष्णु और विष्णु-अवतारोंकी हों, चाहे सरस्वती, लक्ष्मी, दुर्गा आदि देवियोंकी हों—प्राय: भारतके प्राचीन प्रागैतिहासिक शासक नाग अथवा यक्ष यक्षिणियोंकी मूर्तियोंके अनुरूप ही रची गई हैं। उनका आदर्श त्यागी तपस्वी विश्वभूतपति नहीं है, बल्कि उनका आदर्श पराक्रमी वैभवशाली ऐश्वर्य-सम्पन्न एक इह लौकिक भूपति है [१]। इसीलिये वे सभी वस्त्रभूषण तथा शस्त्र-अस्त्र-सहित अथवा अनेक हाव-भाव-सहित रची जाती हैं। परन्तु मोहनजोदड़ो और हड़प्पाकी कार्योत्सर्ग प्रतिमाओंका आदर्श ऐहिक वांछाओंका त्याग है। इसलिये उनकी तुलनाके लिये हमें भारतकी श्रमण-शाखाओंकी मूर्तियोंकी ओर ही देखना होगा। भारतमें तीन सम्प्रदाय ऐसे हैं जो पुरानी श्रमण-संस्कृतिके अनुयायी हैं— शैव, बौद्ध और जैन।

शिव-मूर्तियोंसे तुलना—

इनमें शैव और बौद्ध सम्प्रदायोंकी देवालयोंमें जितनी शिव और बुद्धकी मूर्तियां पुराने सांस्कृतिक ध्वंसावशेषोंसे प्राप्त हुई है उन परसे यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि, मोहनजोदड़ोकी उपर्युक्त मूर्तियाँ अपनी बनावट और शैलीमें भिन्न प्रकारकी हैं।

शिवकी कितनीही मूर्तियाँ तो दक्षिणकी नटराज मूर्तियोंके समान ताण्डव नृत्य करती हुई हैं। और कितनी ही ध्यानी मूर्तियाँ, जैसे कि मथुराके कंकाली टीलेसे प्राप्त हुई हैं, चतुर्भुजी हैं—

वे अपने एक हाथमें त्रिशूल, दूसरेमें डमरू तीसरेमें चक्र, चौथेमें रुद्राक्षमाला थामे हुए हैं। उसके शिरके बाल सर्पावेष्टित जटाजूट बँधे हैं, सर्प ही उसके गलेका हार है, भुजोंपर बाजूबन्द हैं और कानोंमें कुण्डल हैं। माथेपर तीसरी आंख खुली हुई है और मस्तक पर अर्धचन्द्र खिला है [१]।

ईसाकी छठी शताब्दीके प्रसिद्ध गणितज्ञ और ज्योतिषज्ञ श्रीवराहमिहिरने अपनी बृहत्संहितामें 'प्रतिमालक्षण' नामका जो ५८वां अध्याय लिखा है, उसमें भी शिव-प्रतिमाका लक्षण निम्न प्रकार दिया है:—

शंभोः शिरसीन्दुकला वृषध्वजोऽक्षि च तृतीयमूर्ध्वम्।
शूलं धनुःपिनाकं वामार्धे वा गिरिसुतार्धम्॥ ४३॥

अर्थात् शिवमूर्तिके मस्तकपर चन्द्रकला, ध्वजमें

१ -The development of Hindu Iconography by J.N.Banerjee Ph.D.Calcutta, 1941 p 113.

१. वही मथुरा संग्रहालय का सूचीपत्र, मूर्ति नं० D. 41, D. 43, D. 44।

वृषका चिह्न, ललाटमें तीसरा नेत्र, एक हाथमें त्रिशूल, दूसरे हाथमें पिनाक नामक धनुष, वामअर्ध भागमें पार्वतीका वामअर्ध भाग होता है।

इसमें सन्देह नहीं, कि शिवकी उक्त प्रतिमाएँ अनेक तात्त्विक और आध्यात्मिक भावनाओंको दर्शानेवाली और कविताके समान कलापूर्ण हैं; परन्तु इस स्थानपर शिव-प्रतिमाओंकी उक्त विवक्षापर विचार करना हमारे लिये अनावश्यक है। इस स्थलपर हमें केवल यही देखना है कि यह मोहन-जोदड़ो और मथुराकी कायोत्सर्ग-प्रतिमाओंकी शैली-का अनुसरण नहीं करतीं और न उनकी तरह ऐति-हासिक योगी पुरुषोंकी वास्तविक प्रतिमाएँ ही हैं।

वास्तवमें योगियोंकी अलंकारिक (Symbolic) मूर्तियाँ बनानेकी कलाका विकास प्राचीन भारतमें नहीं हुआ था। यह शैली ऐतिहासिक युगकी ही सृष्टि है। Mohenjodaro Vol-I, Plate 12 : 17 की मूर्ति जिसको Sir John Marshal ने शिवकी प्रारंभिक मूर्ति बतलाई है वह भी उक्त प्रकारकी शिवमूर्तियोंसे भिन्न शैलीकी है। वह त्रिनेत्रीकी बजाय त्रिमुखी है। उसमें त्रिशूल हाथमें न होकर शिरपर अङ्कित है। उसमें छाती और हाथोंपर सर्प न होकर आभूषण अङ्कित हैं।

इन सब बातोंसे सिद्ध है कि मोहनजोदड़ोकी कायोत्सर्ग-मूर्तियाँ शैव मूर्तियाँ नहीं हैं।

बौद्धमूर्तियोंसे तुलना—

जहाँ तक बौद्ध संस्कृतिका सवाल है, इसमें सन्देह नहीं कि, वह प्राचीन श्रमणसंस्कृतिके मूलमेंसे ही फूटी हुई एक शाखा है। सांसारिक जीवन दुखमय है, अवास्तविक है, हेय है। इस तात्त्विक भावनामेंसे ही इसका जन्म हुआ है। इच्छाओंके त्यागको ही बुद्धने दुःख-निवृत्तिका मार्ग बतलाया है; परन्तु इस दुःखनिवृत्तिके लिये उसने जहां विषय-वासना और भोग-विलासवाले लौकिक मार्गका तथा देवता-वादियोंके याज्ञिक क्रियाकाण्डी मार्गका विरोध किया है, वहां उसने श्रमणोंके क्लिष्ट कायक्लेश और दुर्धर ध्यान-साधनावाले मार्गका भी विरोध किया है। इस तरह चर्याकी दृष्टिसे यह अतिशय-युक्त प्रवृत्ति और निवृत्तिवाले मार्गोंके बीचका एक माध्यमिक मार्ग है। इस संस्कृतिका प्रवर्त्तन आज-से ढाई हजार वर्ष पूर्व भगवान् बुद्धके द्वारा हुआ है। भगवान् बुद्धने इस संस्कृतिके प्रवर्त्तनमें अपने-से पूर्ववर्ती किसी महापुरुषको अपना आदर्श नहीं बताया। जैसा कि उन्होंने कहा है कि 'वे इसके एक स्वतंत्र प्रवर्तक हैं।' इसलिये मोहनजोदड़ोके युगमें बौद्ध संस्कृतिके चिह्न ढूंढ़ना एक निरर्थक परिश्रम है।

इसके अतिरिक्त भगवान् बुद्धकी सभी मूर्तियां परिधान-सहित हैं। वे कुछ भूमिस्पर्श मुद्राधारी हैं, परन्तु अधिकांश अभय-मुद्रा-धारी हैं। भूमिस्पर्श-मुद्रामें बुद्धदेव पद्मासन बैठे रहते हैं, और उनका दाहिना हाथ नीचेकी ओर लटकता रहता है। हाथकी हथेली भी भूमिकी ओर खुली होती है। अभयमुद्रा-में अभय प्रदान करती हुई दाहिने हाथकी अंगुलियाँ ऊपरकी ओर सीधी खड़ी रहती हैं। और हथेली बाहरकी ओर दिखाई देती है। भगवान् बुद्धकी कुछ मूर्तियां व्याख्यान-मुद्रामें भी पाई जाती हैं। इनमें बुद्ध भगवान् शिक्षा देते हुए दिखलाए गए हैं। उनमें मूर्ति पद्मासन लगाए बैठी रहती है, दाहिने हाथकी तर्जनी अंगूठेको छूती हुई बनाई जाती है, जिससे एक वृत्त-सा बन जाता है। बुद्ध भगवान्‌की इस प्रकार व्याख्यान करनेवाली मूर्तियां उनके धर्मचक्र-प्रवर्तनार्थ सारनाथमें पांच भिक्षुओंको बौद्ध धर्मका उपदेश व्यक्त करनेके भावको लिये हुए हैं। वर-मुद्रा-में भगवान बुद्ध खड़ेयोग आशीष या वर देते हुए दिखलाए गए हैं [१]।

वराहमिहिरने भी अपनी संहिता (अ० ५८) में मूर्तियोंके लक्षण देते हुए बुद्धमूर्तिका जो लक्षण दिया है उसमें बतलाया है कि —

'बुद्ध भगवान्‌की प्रतिमाके हाथ, पैर, कमल रेखा-ओंसे चिह्नित करे, प्रतिमा प्रसन्न हो, केश नीचेकी

१. श्री वासुदेव उपाध्याय M. A. 'भारतीय प्रस्तरकला और योग' — कल्याणका 'योगाङ्क' १६३५, पृ० ७३४— ७३६.

ओर झुके हों, पद्मासनके ऊपर बैठे हों, और ऐसी बुद्ध प्रतिमा हो, मानों जगतका साक्षात् पिता है।'

जैनमूर्तियोंसे तुलना—

इस तरह बुद्धमूर्तियोंके लक्षण भी मोहनजोदड़ोवाली कायोत्सर्ग मूर्तियोंसे मेल नहीं खाते। केवल जैन अर्हन्तोंकी मूर्तियां ही ऐसी हैं—चाहे वे आधुनिक कालकी हों या मध्यकालवर्ती, गुप्तकालीन हों या कुशानकालकी अथवा मौर्य कालवर्ती-जो मोहनजोदड़ोवाली मूर्तियोंके लक्षणोंसे पूर्ण समानता रखती हैं।

इसके अतिरिक्त भारतीय साहित्यमें जहाँ कहीं अर्हन्तमूर्तियोंका वर्णन आया है वह मोहनजोदड़ोवाली उक्त मूर्तियोंके ही अनुरूप है। श्री वराहमिहिरने वृहत्संहितामें कहा है :—

आजानुलम्बबाहुः श्रीवत्सः प्रशान्तमूर्तिश्च।
दिग्वासस्तरुणो रूपवांश्च कार्योऽर्हतां देवः॥४८-४५॥

अर्थात्—जानु तक लम्बी भुजाओंसे युक्त, श्रीवत्स-चिह्नसे सुशोभित, शान्तस्वरूप, दिगम्बर, तरुण और उत्तमरूपसहित अर्हन्तदेवकी प्रतिमा बनावे।

जैनसाहित्यमें भी जहां कहीं अर्हन्त-मूर्तियोंके वर्णन मिलते हैं वे भी उपर्युक्त मतकी ही घोषणा करते है। यथा:—

शान्तं नाशाग्रदृष्टि विमलगुणगणैर्भ्राजमानं प्रशस्तं
मानोन्मानं च वामे विधृतवरकरं नामपद्मासनस्थम्।
व्युत्सर्गालम्बिपाणिस्थलिनहितपदाम्भोजमानम्रकम्बुम्
ध्यानारूढं विदैन्यं भजत मुनिजनानन्दकं जैनबिम्बम्॥७०॥
—श्रीजयसेनाचार्य-कृत प्रतिष्ठापाठ

अर्थात्—शान्तमुद्राधारी, नासाग्रदृष्टि, विमल गुणोंसे शोभायमान, मानोन्मानसे प्रशस्त, बायें हाथपर दायां हाथ धारण किए हुए पद्मासनमें स्थित, अथवा कायोत्सर्गमें स्थित दोनों हाथ सीधे जानुओं तक लटके हुए और दोनों चरण किञ्चित् अन्तरसे भूमिपर टिकेहुए, ग्रीवा किञ्चित् झुकी हुई, ध्यानारूढ, दीनतारहित मुनिजनोंको आनन्द देनेवाली ऐसी जैन मूर्ति भजनी चाहिए।

इसीप्रकार वसुनन्दिप्रतिष्ठासंग्रहमें कहा गया है—

अथ बिम्बं जिनेन्द्रस्य कर्तव्यं लक्षणान्वितम्।
ऋज्वायतसुसंस्थानं तरुणाङ्गं दिगम्बरम्॥
श्रीवत्सभूषितोरस्कं जानुप्राप्तकराग्रजम्।
निजांगुलिप्रमाणेन साष्टांगुल............॥
कक्षादिरोमहीनाङ्गं श्मश्रुशेषविवर्जितम्।
ऊर्ध्वप्रलम्बकं दत्वा समाप्त्यंत च धारयेत्॥

जैन अनुश्रुतिकेअनुसार वर्तमान् २४ तीर्थङ्करोंमें-से ऋषभदेव, नेमिनाथ और महावीरको छोड़कर शेष २१ तीर्थङ्करोंने कायोत्सर्ग आसनसे ही निर्वाण प्राप्त किया है।

मौर्य-कालीन, कुषान-कालीन, और पश्चात्कालीन हजारों कायोत्सर्ग जैन मूर्तियोंके अतिरिक्त ऐतिहासिक युगकी गोम्मटेश्वर (बाहुबलि) संबंधी जैनकलाकी लोकप्रसिद्ध मूर्तियां भी मैसूर और हैदराबाद रियासतोंमें, श्रवणबेलगोल, कारकल, वेणूर आदि स्थानोंमें पहाड़ी चट्टानोंको काटकर ५६, ४२ अथवा ८२ फुट ऊंची बनी हुई हैं, वे सब मोहनजोदड़ोके समान हैं। ग्वालियर किलेकी ५६ फुट ऋषभनाथकी प्रतिमा, इन्दौरके निकट बड़वानीकी ऋषभनाथ भगवान्की ८४ फुट ऊंची प्रतिमा और टीकमगढ़ रियासतमें अहार क्षेत्रकी १८ फुट ऊंची भगवान् शान्तिनाथकी और ११ फुट ऊंची भगवान् कुन्थुनाथको मूर्तियां भी कायोत्सर्ग मुद्रावाली हैं। इनमेंसे श्रवणबेलगोलवाली मूर्ति गंगवंशी राजा राचमल्लके मन्त्री श्रीचामुण्डराय द्वारा ९८३ ई० के लगभग निर्मित हुई है और अहार क्षेत्रकी मूर्तियां वि० सं० १२३७ मे उत्कीर्ण हुई हैं।

ध्यान, योग और आसनकी पुरानी सभ्यता—

भारतके योगीजन सदासे अपनी मानसिक एकाग्रता, चिन्तानिरोध और योग-समाधिके लिए विविध प्रकारके आसनोंका आश्रय लेते रहे हैं। बिना योग-आसन ग्रहण किये ध्यान नहीं लग सकता, इसलिए भारतके शिष्टजन आसनको सदा उपासनाका एक जरूरी अंग मानते रहे हैं। इन आसनोंमें वे चाहे बैठेयोग हों या खड़ेयोग, शरीरको स्थिर और सीधा रक्खा जाता है और इन्द्रियोंको विषयवास-

नाओंसे विरक्त करके समतामें लय किया जाता है। शेताश्व उपनिषद्में कहा है—

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा निवेश्य
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ॥

अर्थात्—छाती, ग्रीवा और शिर तीनों अङ्गोंको सीधा ऊंचा करके, शरीरको सम निश्चल बनाकर और एकाग्रचिन्ताद्वारा इन्द्रियोंको हृदयमें सम्यक् रूप लय करके ज्ञानीको भय उत्पादक समस्त स्रोतोंको आत्मध्यानकी नौकाद्वारा तर जाना चाहिए। इसी प्रकार कण्ठोपनिषद्में कहा है—

तं योगमिति मन्यन्ते स्थिरमिन्द्रियधारणम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवत्ययौ ॥६-११॥

अर्थात्—इंद्रियोंको स्थिर बनाकर रखना ही योग है। जब मनमें संकल्प-विकल्प पैदा और विलय होने बन्द हो जाते हैं तब अप्रमत्त (प्रमादरहित) दशाकी प्राप्ति होती है।

इसीप्रकार भगवद्गीता ६, ११-१४ में कहा गया है कि योगीको कमरके ऊपरका धड़, गर्दन, और मस्तक एक सीधमें अचल रखकर इधर-उधर न देखता हुआ नासिकाके अग्रभागपर अपनी दृष्टि जमाकर ध्यान करना चाहिए।

आदिपुराण (जैनपुराण) पर्व २७ में, ध्यान-ध्याता-ध्येय-सम्बन्धी विस्तृत विवेचन देते हुए, श्री जिनसेन आचार्यने २१-६२ में, ध्यानीकी आँखोंकी हालतके लिए कहा है—

'नात्युन्मिषन् न चात्यन्तं निमिषन्'

अर्थात्—ध्यानीकी आंखें न तो बिल्कुल खुली ही होनी चाहिएँ और न बिल्कुल बन्द ही।

इसीतरह हरिवंशपुराण (जैनपुराण) पर्व ५६ में कहा गया है—

गम्भीरः स्तम्भमूर्तिः सन् पर्यङ्कासनबन्धनः।
नात्युन्मीलनिमीलश्च दन्तदंताग्रदन्तकः ॥३२॥
निवृत्तकरणग्रामव्यापारः श्रुतपारगः।
मंदं मंदं प्रवृत्तान्तः प्राणापानादिसंचरः ॥३३॥
नाभेरूर्ध्वं मनोवृत्तिं मूर्ध्नि वा हृदि बालके।
मुमुक्षुः प्रणिधायाशु ध्यायेद् ध्यानद्वयं हितम् ॥३४॥

अर्थात्—मोक्ष चाहनेवाले योगीको चहिए कि वह गम्भीर हो, स्तम्भ-समान निश्चलमूर्ति हो, पर्यङ्कासनसे विराजमान हो, आंखें न अधिक खुली हों न अधिक बन्द हों, ऊपरके दांत नीचेके दांतोंपर रक्खे हुए हों, समस्त इन्द्रियां वशीभूतहों, शास्त्रका पारगामी हो, मन्दमन्द चलते हुए श्वास उश्वाससहित हो, मनोवृत्ति नाभिके ऊपर, मस्तक हृदय, वा ललाटमें स्थापित हो, ऐसा होकर उसे धर्म और शुक्ल ध्यानोंकी आराधना करनी चाहिए।

कायोत्सर्ग आसन जैनश्रमणोंकी विशेषता है:-

इस स्थलपर यह बतला देना आवश्यक प्रतीत होता है कि कायोत्सर्ग, जो मोहनजोदड़ोंके योगी-जीवनका एक विशेष लक्षण है, जैन अर्हन्तोंकी ही विशेषता है। जैन ग्रन्थकारोंके अतिरिक्त अन्य ग्रन्थकारोंने जहाँ कहीं भी अष्टाङ्गयोगका वर्णन करते हुए आसनके भेद-प्रभेदोंका विवरण दिया है, उसमें कायोत्सर्ग आसनका कोई उल्लेख नहीं है[१]। इसके विपरीत जैन आचार्योंने स्थल-स्थलपर जैन-मुनि आचार का वर्णन करते हुए उनके ध्यानके लिए पद्मासन और कायोत्सर्ग आसनपर विशेष जोर दिया है। उसके कुछ नमूने यहां उद्धृत किये जाते हैं:—

(अ) धीर वीर पुरुष समाधिकी सिद्धिके लिए काष्ठके तखतेपर तथा शिलापर अथवा भूमिपर वा बालूरेतके स्थानमें भले प्रकार स्थिर आसन करे। ये आसन कितने ही प्रकारके हैं—पर्यङ्क आसन, अर्धपर्यङ्क आसन, वज्रासन, वीरासन, सुखासन, कमलासन, कायोत्सर्गआसन, ये सब आसन ध्यानके योग्य माने गये हैं। जिस जिस आसनसे सुखरूप उपविष्ट मुनि अपने मनको निश्चल कर सके वही सुन्दर आसन मुनियोंको ग्रहण करना चाहिए तथा इस समय-काल दोषसे जीवोंके सामर्थ्यकी हीनता है, इस कारण कई आचार्योंने पर्यङ्कासन (पद्मासन) और कायोत्सर्ग

१ देखें, पातञ्जल योगदर्शन, महर्षि वेदव्यास-कृत भाष्य और विज्ञानभिक्षु-कृत वार्तिक-सहित, साधनपाद सूत्र ४६।

ये दो ही आसन प्रशस्त कहे हैं[1]।

(आ) जिसका मन चंचल है, वह कैसे ध्यानस्थ हो सकता है। इसलिए ध्यानके लिए कायोत्सर्ग और पर्यङ्कासन, जो सुखासन हैं वाञ्छनीय हैं। अन्य आसन ध्यानके लिए विषम होनेसे आश्रय लेने योग्य नहीं हैं[2]।

(इ) जिसमें दोनों भुजाएँ लम्बी की गई हों, चार अंगुलके अन्तरसे पांव स्थित हों, सब अङ्गोपाङ्ग निश्चल हों वह शुद्ध कायोत्सर्ग है ॥ ६५० ॥ कायोत्सर्ग मोक्षमार्गका उपकारी है। घातिया कर्मोका नाशक है, मैं उसको स्वीकार करना चाहता हूँ। क्योंकि जिन भगवानने इसका सेवन किया है, और उसका उपदेश किया है ॥ ६५२ ॥ कषायोंके कारण जो त्रिगुप्तिमें उल्लंघन हुआ हो, व्रतोंमें जो अतीचार हुआ हो, षट्कायके जीवोंकी अविराधनामे जो अतिचार हुआ हो, सात प्रकारके भय और आठ प्रकारके मदोंके कारण जो अतिचार हुआ हो, ब्रह्मचर्यमें जो अतिचार लगा हो; इन समस्त दोषोंके नाशके लिए मैं कायोत्सर्ग आसनका आश्रय लेता हूँ ॥ ६५३, ६५४ ॥ जो कुछ देव-मनुष्य-तिर्यञ्च-कृत व अचेतनकृत उपसर्ग हैं, उन्हें मैं कायोत्सर्गमे स्थित हुआ सहन करता हूँ ॥६५५॥ कायोत्सर्ग एक वर्षका उत्कृष्ट और अन्तर्मुहूर्त का जघन्य होता है[3] ॥ ६५६ ॥

उक्त विवेचनमें जो एक सालके उत्कृष्ट कायोत्सर्गका जिक्र किया गया है उसका संकेत स्पष्टतया उस महातपस्वी बाहुबलीकी ओर है जो आदिब्रह्मा ऋषभ भगवानका पुत्र और आदिचक्रवर्ती भरत, जिसके नामपर हमारा देश आजतक 'भारत' कहलाता है, का छोटा भाई था। जैन अनुश्रुतिके अनुसार इसने एक साल तक एक स्थानमें कायोत्सर्ग आसनसे सीधे खड़ा रहकर ऐसा घोर तप किया कि भूमिमे उग उगकर जंगलकी लताएँ इसके शरीरपर चढ़ गईं, सांपों और दीमकोंने इसके पदस्थलमें अपनी बम्बियां बना लीं, जंगलके मृग उसे निर्जीव ठूंठ जानकर इसके शरीरसे अपना शरीर खुजलाने लगे। इनके तपके प्रभावसे इनके निकटमे रहनेवाले सिंह, बाघ, चीता, रीछ, आदि क्रूर जन्तु भी क्रूरताको छोड़कर सौम्य हो गये[1]।

जब इस प्रकार योग साधन करते हुए एक वर्ष पूरा होनेपर आया परन्तु उन्हें कैवल्य प्राप्त न हुआ तब भरत चक्रवर्ती और देवोंने उनके पास आकर प्रार्थना की कि भगवन् 'प्रसन्न हूजिये, शल्यको दूर कीजिये और इस घोर साधनाको समाप्त कीजिये। इसपर बाहुबलि निःशल्य हो, कैवल्य पदको प्राप्त हुए। देवोंने उनकी पूजा की और उनके बैठनेके लिये गन्ध कुटी बनाई।

अपनी इस दीर्घ और कठोर तपस्याके कारण बाहुबली सदाके लिये तपस्वियोंके वास्ते एक आदर्श बन गये। यह उनकी इस महिमाका ही फल है कि तीर्थङ्कर न होते हुए भी जैनसाहित्य उनकी गौरव-गाथाओंसे और जैन प्रस्तर-कला उनकी-मूर्तियोंसे भरपूर है।

अथर्ववेदके व्रात्यकाण्ड १५-१ (३) में एक व्रात्यकी विस्मयकारी तपस्याके सम्बन्धमें यह उल्लेख मिलता है—

"स संवत्सरमूर्ध्वं तिष्ठतेत देवा अब्रुवन् व्रात्य किं नु तिष्ठसीति ॥१॥ सोऽब्रवीदासन्दी मे संभरन्त्विति ॥२॥ तस्मै व्रात्यायासन्दी समभरत ॥३॥" ... "

अर्थात्—वह वर्ष भर तक सीधा खड़ा रहा, तब देवोंने कहा—व्रात्य ! तू क्यों खड़ा है। वह बोला मेरे लिये आसन्दी (बैठनेकी चौकी) ले आओ, वे उस व्रात्यके लिये आसन्दी ले आये।

इसका संकेत, जैसा कि श्री रामप्रसाद चन्दाने कहा है[2], स्पष्टतया एक जैन श्रमणकी ओर तो है ही,

१ ज्ञानार्णव -श्रीशुभचन्द्राचार्य कृत, २८-६-१२।
२ आदिपुराण-श्रीजिनसेनाचार्यकृत, २१-७१।
३ मूलाचार-श्रीबट्टकेर आचार्यकृत, ६५०-६५६।

१ आदिपुराण, पर्व ३६, श्लोक १०५-२०३।
२. Ramprasad chanda—Memoris of the Archeclogical Survey of India, No. 41—1929, P. 31.

परन्तु उपर्युक्त अनुश्रुतिके अनुसार यह संकेत लोक ख्याति-प्राप्त बाहूबलीकी ओर ही मालूम होता है।

जैनसंस्कृतिकी मान्यता-अनुसार कायोत्सर्ग-आसनकी जो महिमा, उसके जो आदर्श और उद्देश्य ईस्वी कालकी दूसरी सदीके जैन आचार्य वट्टकेरने ऊपर बयान किए हैं, जैन साधुओंके कायोत्सर्गका वही वर्णन बुद्ध भगवानने मज्झिमनिकायके १४वें सुत्तमें दिया है[१]।

उपर्युक्त मान्यताके कारण कायोत्सर्ग आसनकी प्रथा आजकल भी ज्योंकी त्यों जैनियोंमें प्रचलित है। प्रतिक्रमण और सामायिकके समय आज भी जैन त्यागी और श्रावक लोग प्रायः कायोत्सर्ग आसनसे ही खड़े होकर ध्यान लगाते हैं।

उक्त प्रकारके सभी प्रमाणोंको ध्यानमें लेकर श्री बी. सी. भट्टाचार्य M.A. ने तथा श्री रामप्रसाद चन्दाने यही मत निर्धारित किया है कि कायोत्सर्ग आसन जैनधर्मकी ही विशेषता है[२]।

कायोत्सर्ग आसनका तात्त्विक आधार—

इस स्थलपर यह बतला देना भी जरूरी है कि इन श्रमणोंने कायोत्सर्ग आसनको जो अपनी ध्यान साधनाके लिए विशेषतया अपनाया है उसका एक विशेष कारण है और वह है उनकी एक प्राचीन तात्त्विक धारणा। इस धारणाके अनुसार यह लोक आदि-अन्त रहित, अनादि-निधन) स्वतः सिद्ध अकृत्रिम है, जीव-अजीव द्रव्योंसे भरपूर है और पुरुषाकार है। अधः मध्य और ऊर्ध्व लोकोंकी अपेक्षा अथवा भूः भुवः स्वः की अपेक्षा यह तीन प्रकारका है[३]।

इस अपौरषेय पुरुषाकार लोकको उरु-जंघामें सात नरकोंवाला अधोलोक स्थित है। इसकी नाभिमें मेरु पर्वत है। इसके कटितट-भागमें जम्बूद्वीप आदि अनेक द्वीप-समुद्रोंवाला मध्यलोक स्थित है। इसकी नाभिसे ऊपर और कन्धोंसे नीचेवाले मध्यभागमें १४ स्वर्गलोक स्थित हैं, कन्धोंमें आरण,अच्युत नामके दो स्वर्ग स्थित हैं, ग्रीवामें नव ग्रैवेयिक, ठोडीमें पञ्चअनुदिश, चेहरेमें पञ्च अनुत्तरस्वर्ग स्थित हैं और सर्वोच्च ललाट-भागमें सिद्धलोक स्थित है[१]।

श्रमणोंकी जो मान्यता ऊपर जैन हरिवंश पुराणसे उद्धृत की गई है वही मान्यता भागवत पुराणमें दी हुई है।

विद्वान पुरुष विराट् पुरुषके अङ्गोंमें ही समस्त लोक और उसमें रहनेवाली वस्तुओंकी कल्पना करते हैं। उसकी कमरसे नीचेके अङ्गोंमें सातों पाताल है, उससे ऊपरके अङ्गोंमें सातों स्वर्ग हैं, पैरोंसे लेकर कटि पर्यन्त सातों पाताल और भूलोककी कल्पना-की गई है। नाभिमें भुव लोककी, हृदयमें स्वर्ग लोक की, वक्षस्थलमें महः लोककी, दोनों स्तनोंमें तपलोक की, गलेमें जललोककी, और मस्तकमें ब्रह्माके नित्य स्थान सत्यलोककी कल्पना की गई है[२]।

वैदिक साहित्यके अध्ययनसे पता लगता है कि अधिकांश वैदिक ऋषियोंको भी लोक-सम्बन्धी उपर्युक्त मान्यता ही अभीष्ट थी—

"अन्तरिक्षोदरः कोशो भूमि बुध्नो न जीर्यति दिशो ह्यस्य स्रक्त्यो द्यौरस्योत्तरं बिलम्; स एष कोषो वसुधानः। तस्मिन् विश्वमिदं श्रितम्।"

—छान्दोग्य उप० ३, १५-१

अर्थात्—वह कोष (शरीर=लोक) जिसका उदर अन्तरिक्ष है, चरण भूमि है, द्यौ उत्तर बिल (शिर) है, दिशाएं कान हैं—कभी जीर्ण नहीं होता, वह वसुनिधि है (अर्थात्—वह अग्नि, पृथ्वी, वायु, अन्तरिक्ष, द्यौ, आदित्य, चन्द्रमा और नक्षत्र

१. इसके लिए देखें इसी लेखका अन्तिम भाग।
२. (A) The India Iconography By B C. Bhattacharya M. A , 1939 P. 185.
(B) The Modern Review 1932— Sindh five thousand years ago. pp. 150, by Ramprasad chanda.
३. तिलोयपण्णत्ती १०, १३३—१३८, त्रिलोकसार ३—६।

१. (जैनी) हरिवंशपुराण ४, २१-३२
२. भागवतपुराण, स्कन्ध २, अध्याय ५, ३२-४२

इन आठ प्रकारके लोकोंसे भरपूर है)[१]। समस्त विश्व उसके आश्रित है।

इसके अतिरिक्त वैदिक साहित्यमें जगह-जगह जहां विराट् लोक रचनाका वर्णन आया है वहां उसे पुरुषाकार होनेके कारण 'पुरुष' 'अधिपुरुष' सत्तासे ही जनाया गया है[२]।

चूंकि पुरुषका आकार ऐसे अद्भुत वृक्षके समान है जिसका शिर रूप मूल ऊपरकी ओर है और हाथ-पांवरूप शाखायें नीचेकी ओर हैं, इस वास्ते ब्राह्मण ऋषियोंने पुरुषाकार लोकके लिए उपर्युक्त प्रकारके अश्वत्थ वृक्षकी भी उपमादी है :—

(अ) ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाखा, एषो अश्वत्थः सनातनः।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म, तदेवामृतमुच्यते ॥
—कठउप० ६-१

(आ) ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
—गीता १५-१

अर्थात्—यह लोकवृक्ष जिसका शिर ऊपरकी और पैर नीचेकी ओर हैं सनातन और अव्यय है। इसका कभी नाश नहीं होता।

लोककी यही मान्यता भारतके सभी तान्त्रिकोंको भी मान्य है। उनका मत है कि "यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे[३]।"

पुरुषाकार परमात्माकी मान्यता—

इस पुरुषाकार लोककी मान्यताके साथ-साथ श्रमणसंस्कृतिकी यह भी प्राचीन मान्यता है कि, परमात्मा पुरुषाकारलोकके अनुरूप ही पुरुषाकार है। यह मान्यता उसकी लोक-प्रसिद्ध सर्वज्ञातावादका ही एक अनिवार्य निष्कर्ष है। उसका मत है कि जब आत्मा मोहमायासे रहित हो, अपनी समस्त इच्छाओं और कामनाओंको जीत लेता है, तो वह स्वराज्यको प्राप्त कर लेता है, स्वराज्य प्राप्त करनेपर वह सर्वगत, सर्वभू, सर्ववित, सर्वज्ञ होजाता है—अर्थात् वह अपनेको जानता हुआ सबको जाननेवाला हो जाता है। उसमें स्व और पर, ज्ञाता और ज्ञेयका कोई विकल्प न रहनेके कारण वह समस्त भूतोंमें-समस्त लोकोंमें व्याप्त हो जाता है[१]। आत्मा ज्ञान-प्रमाण है, ज्ञान ज्ञेय-प्रमाण है, ज्ञेय लोकालोक-प्रमाण है इसलिए सम्पूर्ण ज्ञानी आत्मा अर्थात् परमात्मा अलोकाकाश-वेष्टित लोकप्रमाण है। लोक पुरुषाकार है इसलिए परमात्मा भी आकाशवेष्टित पुरुषाकार है।[२]

इस पुरुषाकार परमात्माकी मान्यता तो इतनी विश्वव्यापी है कि परमात्माको पुरुषाकार मूर्तिद्वारा संकेत करनेकी प्रथा केवल भारत देश तक ही सीमित नहीं है बल्कि यह प्रथा बाहिरके देशोंमें भी फैल कर जहां पश्चिमकी ओर उत्तरीय योरूपके देशों तक पहुँची है वहां पूर्वकी ओर समस्त चीनमें भी व्यापक हुई है।

वैदिक संहिताएँ और उपनिषद् तो उक्त मान्यताके उदाहरणोंसे भरपूर हैं[३]। जिनके कुछ नमूने इस प्रकार हैं :—

१. "···अष्टौ वसव···· ॥२॥ कतमे इति अग्निश्च पृथ्वी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसव एतेषु हीदं वसु सर्वं हितमिति तस्माद्वसव इति" —बृ० उप० ३, ९, ३

२. (क) तस्माद्विराडजायत विराजो अधिपुरुषः
—ऋग्वेद १०, ९०, ५

(ख) स ईक्षतेमेनु लोकाः लोक पालान्नु सृजा इति ॥
सोऽद्भ्य एव पुरुष समुद्धृत्यामूर्च्छयत् ॥
—एत० उप० १, १-३, ४

(ग) चरक संहिता, शरीरसंस्थान, अध्याय ५

३. History of Indian literature Vol. I. 1927, pp. 586-605 by Dr. Winternitz.

१ मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्।
—उमास्वतिकृत तत्वार्थाधिगमसूत्र १०-१

२ (अ) आदा णाणपमाणं, णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं।
णेयं लोगालोगं तम्हा णाणं तु सव्वगयं ॥
—कुन्दकुन्दाचार्यकृत प्रवचनसार, १-२३

(आ) पञ्चाध्यायी २, ८३-८३८

३. Dr. Pran Nath—Indian Historical Quarterly Vol. VIII June 1932—The scrip of the Indus Valley Seals—p. 21.

"The cult of representing the Sup-

यस्य भूमि प्रमान्तरिक्षमुतोदरम् ।
दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्य ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥३२॥
यस्तु सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः ।
अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥३३॥
यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरङ्गिरसोऽभवन् ।
दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥३४॥
यः श्रमात् तपसो जातो लोकान्त सर्वान्त समानशे ।
सोमं यश्चक्रे केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥३५॥

—अथर्ववेद, काण्ड १० सूक्त ३६

अर्थात्—जिसने भूमिको अपने चरण, अन्तरिक्ष लोकको अपना उदर, दिव्यलोकको अपना सिर बनाया है उस ज्येष्ठ ब्रह्मके लिए नमस्कार है ॥३२॥ जिसने सूर्य और चन्द्रमाको अपनी दोनों आखें बनाया है, अग्निलोकको अपना मुख बनाया है, उस ज्येष्ठ ब्रह्मके लिए नमस्कार है ॥ ३३ ॥ वायुलोक जिसके प्राणापान समान है, अङ्गिरस जिसके चक्षुके समान हैं, जिसने दिशाओंको कान बनाया है, उस ज्येष्ठ ब्रह्मके लिए नमस्कार है ॥३४॥ जिसने घोर तपस्याद्वारा सर्वान्त लोकान्त अर्थात् सबके अन्तमें स्थित लोकशिखिररूप सिद्धलोकको प्राप्त किया है और जिसने केवल सोम अर्थात् सम्पूर्ण आनन्दको प्राप्त किया है, उस ज्येष्ठ ब्रह्मके लिए नमस्कार है ॥३६॥

reme God by the boneosign does not appear to be confined to India. This cult so widely spread that it appears to have reached the extreme corner of Northern Europe on the one side and a corner of Asia viz. China on the other." As for as Vedas and Upanishadas are concerned they abound in passages referring to the supreme being by words like पुरुष and अधिपुरुश etc."

इस सूक्तमें जिस ज्येष्ठ अथात् आदिब्रह्मको नमस्कार किया गया है वह जैनमान्यताके अनुसार वृषभ-प्रतीकधारी आदितीर्थङ्कर ऋषभ भगवान् है।

पुनः परमात्माका विराट् स्वरूप वर्णन करते हुए मुण्डक उपनिषद्में लिखा है—

अग्निर्मूर्द्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः
श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वस्य पद्भ्यां
पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥

—मुण्डक उप० २-१-४

अर्थात्—द्युलोक जिस पुरुषका शिर है, चन्द्र-सूर्य नेत्र है, दिशायें कान हैं, वाणी विस्तृत वेद हैं, वायु जिसके प्राण हैं, विश्व जिसका हृदय है, पृथ्वी जिसके पांव हैं, ऐसा पुरुष समस्त भूतोंमें व्यापक है, अर्थात् वह सबका ज्ञाता-द्रष्टा है।

संसारके उन सभी देशोंमें भी जहां यहूदी, ईसाई, अथवा इसलाम धर्म प्रचलित हैं परमात्माको पुरुषाकार माना गया है। क्योंकि उनका कहना है कि परमात्माने मनुष्यको अपने सदृश, अपनी आकृतिके अनुरूप पैदा किया है [१]।

इस प्रकार परमात्माकी मान्यताके आधारपर ही जैन यतियोंने पिण्डस्थ ध्यानका वर्णन करते हुए लिखा है—'ध्यानीको चाहिए कि वह अपनी नाभिमें मेरुकी कल्पना करे, ग्रीवामें नव ग्रैवेयिकोंकी, ठोडीमें पञ्चअनुदिशोंकी, चेहरेमें पञ्चानुत्तर स्वर्गोंकी और ललाटमे सिद्धलोककी कल्पना करे [२]।

जैन संस्कृतिके इस तात्त्विक विवेचनसे सिद्ध

१. Bible—old testament—Genesis. And God said—'Let us make God in one image after our likeness. 1—26

२. वसुनन्दि-श्रावकाचार ४६०–४६३.

है कि कायोत्सर्गरूप ध्यानमुद्रा पुरुषाकार परमात्मा अथवा परब्रह्मका साक्षात् स्वरूपहै। अतः परमात्मपदकी सिद्धिके लिए श्रमणों-द्वारा कायोत्सर्गरूप ध्यान लगाना स्वाभाविक ही है।

उक्त तात्त्विक मान्यताओंके आधारपर ही डा० प्राणनाथने निश्चित किया है कि मोहनजोदड़ोकी लिखतमें जहाँ कहीं पुरुषाकार-चिह्न उपयुक्त हुए हैं वे सब परमात्मस्वरूप भावके प्रतीक हैं। वे किसी विशेष मनुष्यजातिको प्रगट नहीं करते[१]।

निष्कर्ष—

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचनसे यह निष्कर्ष निकालना अनिवार्य हो जाता है कि मोहनजोदड़ोकी योगी मूर्तियां जैन अर्हन्तोंकी मूर्तियां हैं। यह मानकर ही हम इन मूर्तियोंके शिरोंपर रक्खे हुए त्रिशूलोंका, कन्धोंपर पड़ी हुई जटाओंका, उनके निकट खड़े हुए वृक्ष और जन्तुओंका, उनकी उपासना करते हुए नाग यक्ष और मनुष्योंका, उनपर अङ्कित हुए धर्मचक्रदण्डोंका, बहुत बड़ी संख्यामें टिकड़ोंपर उत्कीर्ण हुए जन्तुओंका एक ऐसा सुसंगत और बुद्धिगम्य विवेचन कर सकते हैं जो पुरातत्त्व, शिलालेखों और साहित्यसे प्रमाणित है। साथ ही तात्त्विक मान्यताओं, धार्मिक भावनाओं और ऐतिहासिक अनुश्रुतियोंसे आधारित है।

इन टिकड़ों और मोहरोंमेंसे अनेकपर अभिलेख भी मौजूद हैं। उनपर बहुतसा परिश्रम करनेपर भी दुनियाके प्राचीन लिपि-भाषा-विशेषज्ञ अभी तक पूर्णरूपसे सफल-मनोरथ नहीं हो पाए हैं। इन अभिलेखोंके पढ़ेजानेपर विवाद-ग्रस्त विषयपर बहुत प्रकाश पड़नेकी सम्भावना है। अब तक इस क्षेत्रमें विशेषज्ञोंने जो गवेषणायें की हैं वे किसी तरह भी उपर्युक्त मतकी विरोधी नहीं हैं; बल्कि यदि डा० प्राणनाथका मत स्वीकार किया जावे तो इन टिकड़ों और मोहरोंपर उत्कीर्ण चिह्नों और लेखोंसे सिद्ध है कि जैनधर्म, शाक्त, पाशुपत और शैव आदि पुराने तान्त्रिक धर्मोंका सिन्धदेशकी पुरानी सस्कृतिके साथ गहरा सम्बन्ध है। डा० प्राणनाथका तो यह भी कहना है कि इनमेंसे कितने ही टिकड़ोंपर 'जिनेशः' वा 'जिनेश्वर' शब्द स्पष्टरूपसे लिखे हुए हैं।[१]

१. डा. प्राणनाथ—वही Indian Historical Quarterly p. 21

१. Indian Historical Quarterly Vol. VIII N. 2, June 1932 "The Scirpts on the Indus Valley Seals" by Dr. Pran Nath—

"The names and symbols on plates annexed would appear to disclose a connection between the religious cults of the Hindus and Jainas with those of the Indus people. P. 27."

'It may also be noted that the inscription on the Indus seal No. 449 reads according to my decipherments "Jinesvar" or "Jinesah"

सम्पादकीय

१ सेठ रामचन्द्रजी खिन्दुकाका वियोग—

जयपुरके प्रसिद्ध समाज-सेवी सेठ रामचन्द्रजी खिन्दुका मंत्री श्रीदिगम्बर जैन अतिशयक्षेत्र महावीरजी, आज इस संसारमें नहीं है, उनका गत १३ जुलाईको आकस्मिक देहावसान हो गया है ! आकस्मिकका अर्थ किसी रेलवे, मोटर या हवाई-विमानादिकी दुर्घटना से नहीं, बल्कि हृदयगति के रुकनेसे है—आप जयपुरमें हँसी-खुशी शामका भोजन करके मित्रोंके साथ आनन्दपूर्वक बातचीत कर रहे थे कि इस बीचमें आपका जी कुछ मचलाया, उसी समय डाक्टरको बुलाया गया, डाक्टरने रक्त-चाप देखनेके लिए यंत्र लगाया ही था कि इतनेमें ही आपका प्राण-पखेरू उड़ गया ! और सब देखतेके देखते स्तब्धसे रह गये !! किसीकी कुछ भी नहीं चली !! पहाड़सा हृष्ट-पुष्ट सुन्दर और नीरोग शरीर एक दम धरा-शायी हो गया !!! इससे अधिक संसारकी नश्वरता, क्षणभंगुरता और प्राणियोंकी बेबसीका और क्या प्रमाण हो सकता है?

खिन्दुकाजीसे पत्रादि-द्वारा परोक्षपरिचयतो मेरा कुछ पहलेसे था, परन्तु साक्षात् परिचय उनका गत दिसम्बरमासके अन्तिम सप्ताहमें प्रथमवार उससमय हुआ था जबकि मैं बा० छोटेलालजी कलकत्ता वालोंके पास जयपुर गया हुआ था और वे उनसे तथा मुझसे मिलनेके लिए सेठ बधीचंदजी सहित पधारे थे और उन्होंने यह मालूम करके कि वीर-सेवा-मंदिरको सरसावासे देहली या राजगृही आदि ले जानेका विचार चल रहा है, बड़ी नम्रता प्रसन्नता और उदारताके साथ यह प्रस्ताव रक्खा था कि 'वीरसेवामन्दिरको यदि महावीरजी क्षेत्रपर लाया जावे तो क्षेत्रकी ओरसे उसे एक हजार रु० मासिककी सहायता दी जा सकेगी और सेठ बधीचन्दजी-वाली धर्मशाला उसके निवास-स्थान और कारोबारके लिए दे दी जावेगी। अतः अन्यत्रका विचार न रख कर महावीरजीका ही विचार रक्खा जावे तो अति उत्तम हो।' इसके बाद वे जयपुरमें कई बार मिले और गत फर्वरी मासमें वेदी प्रतिष्ठाके अवसर पर श्रीमहावीरजी क्षेत्रमें चार दिन तक तो उनके पास ही ठहरनेका अवसर मिला। अन्तिम मिलना उनसे ता० १४ मईको हुआ था, जबकि उन्होंने श्रीमहावीरजी और वीरसेवामन्दिर-सम्बन्धी मेरे एक पत्रपर विचार करनेके लिए मुझे जयपुर बुलाया था। इन सब अवसरोंपर उनसे मिलकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई और उनकी सादगी, निरभिमानता तथा कार्यकुशलता आदि कितने ही गुणोंका अच्छा परिचय मिला। साथ ही यह भावना उत्पन्न हुई कि वीरसेवामन्दिरको यदि इन जैसे मंत्रीका सहयोग प्राप्त हो तो वह बहुत कुछ उन्नत हो सकता है। अतः उक्त दुःसमाचारको पाकर हृदयको एक दम धक्का लगा और कुछ शोक उमड़ने लगा। उसी समय चेत हुआ, 'इष्टवियोग-अनिष्टयोगमें सहन-शीलता रखने'की बात याद आई और श्रीपद्मनन्दी आचार्यका यह वाक्य सामने आ उपस्थित हुआ—

यो नाऽत्र गोचरे मृत्योर्गतो याति न यास्यति ।
स हि शोकं मृते कुर्वन् शोभते नेतरो जनः ॥

जो मृत्युके गोचर कभी हुआ नहीं, है नहीं और होगा नहीं, वही किसीके मरनेपर शोक करता हुआ शोभाको प्राप्त होता है, अन्य कोई भी मनुष्य शोक करके शोभाको नहीं पा सकता।'

हम बहुतसे प्राणियोंको अपने सामने मरते हुए देखते हैं और असंख्य प्राणियोंकी मरणवार्त्ताको सुनते रहते हैं, फिर भी अपनेको अमर नहीं तो स्थिर जरूर समझते हैं, और यह नहीं सोचते कि हम निरन्तर कालके गालमें चले जा रहे हैं, आयु-कायका कोई भरोसा नहीं, कल को हमारी भी यही गति होसकती है। यहसब मोह है और यही सबभूले

हुए है—प्राय: सारा संसार इसी भूल के चक्कर में पडा हुआ है। एक मनुष्य दूसरेके मरणकी तो चिन्ता करता है, उसपर शोक-प्रस्ताव पास करता है परन्तु अपना मरण जो निकट आ रहा है, उसकी तरफ कोई ध्यान नहीं देता ! यही बजह है कि मनुष्य की आत्म-हितकी ओर प्रवृत्ति प्राय: नहीं हो पाती। वह उस भूले रहता है, अथवा उसके लिये समयादि-की बाट जोहता रहता है और इस बातको भूल जाता है कि कालकी दृष्टिमें बच्चा, बूढा और जवान अथवा रोगी-नीरोगी, निर्बल और बलवान सब समान है—वह विना किसी भेद-भावके सभी को अपना ग्रास बना लेता है। मनुष्य अपनी इस भूल को यदि समझें और मरण घटनाओंसे पदार्थ लेकर अपने आत्माका भी कुछ हित साधन करने मे प्रवृत्ति करें तो संसारका बहुत बड़ा कल्याण हो सकता है। खिन्दुकाजीको पहलेसे यदि यह मालूम होता कि उनका मरण १३ जुलाईको होने-वाला है तो इसमें सन्देह नहीं कि वे ऐसे पुरुषार्थी थे कि अपने आत्महितकी साधनाका प्रयत्न जरूर करते। परन्तु अपनी मौतका हाल पहलेसे तो किसी को भी प्राय: मालूम होना नहीं है, तब श्रेयस्कर यही है कि हम अपने नित्यके जीवनमें खाने-पीने आदिके समान आत्महित (धर्म) की भी नियमित रूपसे साधना करते रहें—उसे अनिश्चित भविष्य के ऊपर न छोड़े रक्खें, जिससे अन्त समयमे पश्चा-त्तापके लिए कोई अवसर न रहे और हम मौत का पैगाम आते ही अपनेको तैय्यार पाएँ। किसी भी समाज-सेवक के निधन पर शोक-सभाओंका लक्ष्य केवल शोक प्रकाशित करके एक रूढिका पालन करना ही न होना चाहिये, बल्कि उपकारीके उपकारोंका स्मरण करते हुए उसके प्रति अपना जो कर्त्तव्य है तथा उसके स्थानकी पूर्तिके लिए—समाज-में वैसा ही सेवक उत्पन्न करने के वास्ते—समाज-का जो उत्तरदायित्व है उसे पूरा करनेके लिए गहरे विचार के साथ कोई ठोस कदम उठाना चाहिये। साथ ही, आत्म-निरीक्षण करना तथा मरण-घटना से पदार्थ-पाठ लेकर आत्महितकी साधनामें अधिक सावधान होना, यह उससे भी ऊपर तथा अधिक आवश्यक है।

खिन्दुका जी अपने मरणके पीछे जो पदार्थपाठ छोड़ गये हैं वह संक्षेपमें इस प्रकार है:—

(१) किसीको भी अपनी जवानी, तन्दुरुस्ती, शक्ति और सम्पत्तिके ऊपर भूले नहीं रहना चाहिए, उनके गिरते देर नहीं लगती और मौतके वक्त उनमें से कोई भी चीज काम नहीं आती।

(२) समाज सेवाके कार्योंमें बराबर तत्परताके साथ भाग लेना चाहिए, जिससे समाज तथा देशके प्रति अपना कर्तव्य पूरा हो और बादको गौरवके साथ नाम लिया जासके।

(३) दूसरोंके कामोंमें इतना अधिक संलग्न न रहना चाहिए, जिससे आत्महित गौण हो जाए, उसे भुला दिया जाय अथवा अवसर ही न दिया जाय। दूसरोंकी सेवा करते हुए आत्म-सेवाका भी ध्यान रखना चाहिए—आत्माको अधिकाधिकरूपमें पहिचाननेका यत्न करते हुए राग, द्वेष काम क्रोध-मान-माया-लोभादिक शत्रुओंके उपद्रवसे उसे बचाना चाहिये। और मौतसे कभी गाफिल नहीं रहना चाहिये, वह जब चाहे आ सकती है, उसके स्वागतके लिए सदा तय्यार रहना चाहिये। अन्यथा पछताना होगा—मौतके समय कुछ भी नहीं बन सकेगा।

अन्तमें खिन्दुकाजीके पुत्रों और अन्य कुटुम्बी-जनोंके इस वियोगजन्य दुःखमें समवेदना व्यक्त करता हुआ मैं आशा करता हूं कि वे खिन्दुकाजीके पद-चिन्होंपर चलते हुए उन्हें भुला देंगे और अपने जीवनको अधिक सावधान एवं सतर्क रखने-में समर्थ होंगे।

—

२. अनेकान्तका वर्ष-समाप्ति और अगला वर्ष—

इस संयुक्त किरण(११-१२)के साथ अनेकान्तका १०वाँ वर्ष समाप्तहो रहा है। इस वर्षमें अनेकान्त पाठकोंकी कितनी सेवा की, कितने महत्वके लेख प्रस्तुत किए, कितनी नई खोजें सामने रक्खीं, क्या कुछ विचार जागृति उत्पन्न की, और समाजके राग-द्वेषसे कितना अलग रहकर यह ठोस सेवा-कार्य करता रहा, इन सब बातोंके बतलानेकी यहां जरूरत नहीं—नित्यके पाठक उनसे भली भाँति परिचित हैं और जो परिचित न हों वे वार्षिक विषय-सूची आदिको देखकर उसका कितना ही आभास प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु इस वर्षकी कुछ किरणें समयपर नहीं निकल सकीं और यह संयुक्त किरण दो महीनेके विलम्बसे प्रकाशित हो रही है, इसका मुझे खेद है। इसकी अधिकांश जिम्मेदारी अकलंक प्रेसके ऊपर है जिसने पत्रको लेते समय उसको समयपर छापकर देनेका पुख्ता वादा किया था और जो प्रत्येक किरणको एक सप्ताहमें छापकर देनेके लिए वचनबद्ध हुआ था, परन्तु उसने एक किरणके साथ भी अपना वचन पूरा नहीं किया और पिछली किरणोंके साथ तो बहुत ही लापर्वाही-का बर्ताव किया है, जिससे मैं भी तंग आगया। ऐसी स्थितिमें पाठकोंको जो प्रतीक्षा-जन्य कष्ट उठाना पड़ा है उसके लिये मैं उनसे क्षमा चाहता हूं।

पिछले वर्षके घाटेको देखते हुए, जिसे साहू शान्तिप्रसादजी अथवा उनकी संस्था भारतीय ज्ञानपीठ काशीने उठाया था, मुझे इस वर्ष पत्रको निकालनेका साहस नहीं होता था, चुनाँचे वर्षारम्भके 'सम्पादकीय'में मैंने उसे व्यक्त भी कर दिया था परन्तु अनेक सज्जनोंका यह अनुरोध हुआ कि अनेकान्तको बन्द नहीं करना चाहिए; क्योंकि इसके द्वारा कितने ही महत्वके साहित्यका गहरी छान-बीनके साथ नव-निर्माण और प्राचीन साहित्यका सम्पादन होकर प्रकाशन होता है, जो बन्द होनेपर रुक जायगा और उससे समाजको भारी हानि पहुँचेगी। इधर वीरसेवामंदिरके एक विद्वानने निजी प्रयत्नसे १०० और दूसरे विद्वानने २०० नये ग्राहक बनानेका दृढ़ संकल्प करके प्रोत्साहित किया। इधर गुण-ग्राहक प्रेमी पाठकोंसे यह आशा की गई कि वे अनेकान्तको अनेक मार्गोंसे सहायता भेजकर तथा भिजवाकर उसी प्रकारसे अपना हार्दिक सह-सहयोग प्रदान करेंगे जिस प्रकार कि वे अनेकान्तके ४थे, ५वें वर्षोंमें करते रहे हैं और जिन वर्षोंमें अनेकान्तको घाटा न रहकर कुछ बचत ही रही थी। इन्हीं सब बातोंके भरोसेपर और इन्हें भी उक्त सम्पादकीयमें व्यक्त करते हुए १०वें वर्षका प्रारम्भ किया गया था। साथ ही, डा० वासुदेवशरणजी अग्रवालके इस सुन्दर कथनको भी दिया गया था, कि 'देवमूर्ति तथा देवालयके निर्माण तथा प्रतिष्ठादि कार्योंमें जिस प्रकार आर्थिक दृष्टिको लक्ष्यमें नहीं रक्खा जाता—अर्थोपार्जन उसका ध्येय नहीं होता—उसी प्रकार सरस्वतीदेवीकी मूर्ति जो साहित्य है उसके निर्माणादि कार्योंमें भी आर्थिक दृष्टिकोलक्ष्यमें नहीं रखना चाहिए। प्रयोजन यह कि अनेकान्तको शुद्ध साहित्यिक तथा ऐतिहासिक पत्र बनाना चाहिए और उसमें महत्वके प्राचीन ग्रन्थोंको भी प्रकाशित करते रहना चाहिए। जैन समाजमें साहित्यिक रुचि कम होनेसे यदि पत्रकी ग्राहकसंख्या कम रहे और उससे घाटा उठाना पड़े तो उसकी चिन्ता न करनी चाहिए—वह घाटा उन सज्जनोंके द्वारा पूरा होना चाहिए जो सरस्वती अथवा जिन-वाणी माताकी पूजा-उपासना किया करते हैं और देव-गुरु-सरस्वतीको समान दृष्टिसे देखते हैं। ऐसा होनेपर जैनसमाजमें साहित्यिक रुचि भी वृद्धिको प्राप्त होगी, जिससे पत्रको फिर घाटा नहीं रहेगा और लोकका जो अनन्त उपकार होगा उसका मूल्य नहीं आंका जा सकता—स्थायी साहित्यसे होने वाला लाभ देवमूर्त्तियों आदिसे होने वाले लाभसे कुछ भी कम नहीं है।' और इसपर जैनसमाजको खास तौरसे ध्यान देकर अनेकान्तकी सहायतामें सविशेषरूपसे सावधान होनेकी प्रेरणा भी की गई थी, जिससे अनेकान्त घाटेकी चिन्तासे मुक्त रहकर

प्राचीन साहित्यके उद्धार और समयोपयोगी नव-साहित्यके निर्माणादि कार्योंमें पूर्णतः दत्तचित्त रहे और इस तरह समाज तथा देशकी ठीक ठीक सेवा कर सके।

परन्तु खेदके साथ लिखना पड़ता है कि किसी-ने भी इस ओर ध्यान नहीं दिया और न वीरसेवा-मन्दिरके दोनों विद्वानोंने ही अपने वचनको पूरा किया है। नतीजा इस सबका वही 'घाटा' हुआ जिसके भयसे पत्रको निकालनेका साहस नहीं होता था। इस वर्षके आय-व्ययका चिट्ठा इसी किरण-में अन्यत्र दिया गया है, उसपरसे पाठक देखेंगे कि १५ महीनेके इस अर्सेमें पत्रको ढाइ हजारके करीब-का घाटा रहा है। समाजसे सहायतामें कुल २६८।।।=) की रकम प्राप्त हुई, जिसमें २००) रु० की उल्लेख-योग्य एक रकम सेठ सोहनलालजी कलकत्ता वालोंकी है—शेष ६८।।।=) सारे समाजसे प्राप्त हुए समझने चाहिएं। ऐसी स्थितिमें 'अनेकान्त'को अगले वर्ष कैसे चालू रक्खा जाय, यह एक विकट समस्या है। जब तक इस वर्षके घाटेकी पूर्त्ति नहीं हो जाती तब तक आगेके लिए कोई विचार ही नहीं किया जा सकता। अतः अनेकान्तके प्रेमी पाठक अभी कुछ समयके लिए धैर्य रक्खें, जब कोई व्यवस्था ठीक हो जायगी तब उन्हें सूचित किया जायगा। हां, अने-कान्तकी इस घाटा-पूर्त्तिमें यदि वे स्वयं कुछ सह-योग देना तथा दूसरोंसे दिलाना उचित समझें तो उसके लिए जरूर प्रयत्न करें। साथ ही, अनेकान्तके दो दो नये ग्राहक बनाकर उनकी सूचना भी अनेकान्त-कार्यालयको देनेकी कृपा करें।

(४१२ वें पृष्ठ का शेषांश)

(२६) ज्योतिष सारोद्धार—इसको प्रति अनूप-संस्कृत लाइब्रेरीमें है।

(२७) विवाहपटल—इसकी प्रति आचार्य भण्डारमें है।

(२८) पाशाकेवली—इसकी प्रति उ० जयचन्द्र जीके भण्डारमें मोतीचन्द्रजी खजानचीके संग्रहमें है।

अधिक खोज करनेपर आपकी अन्य कई रचनाओंका पता लगाना सम्भव है।

आपकी लिखित प्रतियां

हर्षकीर्तिसूरिकी स्वयं लिखित प्रतियें प्रचुर प्रमाणमें पाई जाती है। आपके हस्ताक्षर सुवाच्य थे, अनूप संस्कृत लायब्रेरीमें आपकी लिखित एवं लिखाई हुई अनेकों प्रतियां हैं। हमारे संग्रहमें एवं बीकानेरके अन्य भण्डारोंमें भी आपकी लिखित कई प्रतियां प्राप्त हैं।

शिष्य-परम्परा—

हर्षकीर्त्तिसूरिके समरसिंहनामक शिष्य थे, उनका दीक्षानाम समरकीर्त्ति था। सं० १६६७ से १६७४ की लिखित प्रतियोंकी पुष्पिकाओंमें इनका नाम पाया जाता है। उनके शिष्य यशःकीर्त्तिके रचित वृत्तरत्नाकरकी वृत्ति अनूपसंस्कृत लायब्रेरीमें प्राप्त है।

❀ ॐ अर्हम् ❀

अनेकान्त

सत्य, शान्ति और लोक-हितके सन्देशका पत्र

नीति-विज्ञान-दर्शन-इतिहास-साहित्य-कला और समाजशास्त्रके प्रौढ विचारोंसे परिपूर्ण मासिक

सम्पादक

जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर' (समन्तभद्राश्रम)

सरसावा जिला सहारनपुर

सहायक सम्पादक

पं० दरबारीलाल कोठिया, न्यायाचार्य

(फर्वरी १९५० तक)

दशम वर्ष

[श्रावणसे आषाढ वीरनि० सं० २४७५-७६, विक्रम सं० २००६-७]

जुलाई १९४९ से जून १९५०

प्रकाशक

परमानन्द जैन शास्त्री

वीरसेवामन्दिर

प्रकाशन-स्थान—७/३३, दरियागंज, देहली

वार्षिक मूल्य	अगस्त	एक किरणका मूल्य
पाँच रुपये	सन् १९५०	आठ आने

अनेकान्तके दशवे वर्षकी विषय-सूची

अनेकान्त की फाइलें

अनेकान्तकी १० वर्षकी फाइलोंमेंसे प्रथम तीन वर्षकी फाइलें तो समाप्त हो चुकी हैं। शेष वर्षोंकी फाइलोंमेंसे कुछ फाइलें अवशिष्ट हैं, जिनका मूल्य फाइल-क्रमसे नीचे दिया जाता है। जिन सज्जनोंको इनमेंसे किसी भी फाइलकी आवश्यकता हो उन्हें उसको शीघ्र ही मँगा लेना चाहिये, फिर ये फाइल भी अप्राप्य हो जाएँगी। अनेकान्तकी इन फाइलोंमें कैसे कैसे महत्वके खोज पूर्ण और बार बार पढ़ने तथा अनुन्धानानादि कार्योंके लिए उपयोगमें लाने योग्य लेख प्रकाशित हुए है उसे बतलानेकी जरूरत नहीं है- विज्ञ तथा सहृदय पाठक उनसे भले प्रकार परिचित हैः—

फाइल	और	मूल्य
चतुर्थ वर्षकी फाइल		४)
पाँचवें ,, ,,		४)
छठे ,, ,,		४)
सातवें ,, ,,		४)
आठवें ,, ,,		४)
नववें ,, ,,		५)
दसवें ,, ,,		५)

पोष्टेज खर्च मूल्यसे अलग होगा।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'
सरसावा जि० सहारनपुर

नोट—फाइलोंके अतिरिक्त कुछ फुटकर किरणेंभी अभी मिलती हैं, जिनमें प्रथम तीन वर्ष की भी कुछ किरणें शामिल हैं। प्रत्येक किरणका मूल्य जो उसपर दर्ज है वही लिया जायगा।

वीरसेवामन्दिरको प्राप्त सहायता

गत ६वीं किरणमें प्रकाशित सहायताके बाद वीरसेवामन्दिरको जो सहायता प्राप्त हुई है वह क्रमशः निम्न प्रकार है और उसके लिये दातार महानुभाव धन्यवादके पात्र हैं :—

११) ला० अरहदासजी जैन, सहारनपुर (पुत्र चि. देवकुमारके विवाहोपलक्षमें)

५) बा० जिनवरप्रसाद वकील व बा० अनन्तप्रसादजैन B.Sc Eng. पटना (पिता श्री ला.श्यामलालजीके देहावसानके अवसर पर निकाले हुए दानमेंसे)।

११) ला. ज्ञानचन्दजी जैन खिन्दुका, जयपुर (पिता श्री सेठ रामचन्दजी खिन्दुका क स्वर्गवासके अवसर पर निकाले हुए दानमें से)।

२७) 'अधिष्ठाता वीरसेवामन्दिर'

जयपुरमें शोक-सभा

तारीख १४ जोलाई १६५० को सायंकाल ७॥ बजे जयपुर जैन समाजके प्रमुख सेवक श्री सेठरामचन्द्र जी खिन्दुका, मन्त्री श्रीदिगंबर जैन अतिशय-क्षेत्र श्री महावीरजीके आकस्मिक निधन पर बड़े दीवानजीके मन्दिरमें एक शोक-सभाका आयोजन किया गया। सभाके सभापति श्रीमान् श्रद्धेय पं० चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ, अध्यक्ष श्रीदिगम्बर जैन संस्कृत कालेज थे। शोकाकुल स्त्री-पुरुषोंसे मन्दिर खचाखच भरा हुआ था। श्रीखिन्दुकाजीके जीवन पर प्रकाश डालने वाले वक्ताओंमें श्रीकर्नेल राजमलजी कासलीवाल, डी० एम० एस० राजस्थान, मालीलाल जी कासलीवाल दीवान, मुं०सूर्यनारायणजी सेठी वकील, पं० भंवरलालजी न्यायतीर्थ श्रीरूपचन्द जी सौगाणी, मास्टर माणिकचन्दजी एम० ए० बी० टी०, केवलचन्दजो ठोलिया, श्री अनूपचन्द जी न्यायतीर्थ साहित्यरत्न, गैन्दीलालजी छावडा वकील आदि उल्लेखनीय हैं। अन्तमें सभापति महोदयने श्री खिन्दुकाजीके जीवन की विविध प्रवृत्तियों पर विस्तृत प्रकाश डाला और कहा कि ये हरफनमौला और हरदिलअज़ीज़ थे। शोक-प्रस्ताव पास करनेके पश्चात् सबने खड़े हो कर दिवंगत आत्माको श्रद्धांजलि अर्पित की।

कस्तूरचन्द कासलीवाल एम० ए०

अनेकान्तको प्राप्त सहायता

गत छठी किरणमें प्रकाशित सहायताके बाद 'अनेकान्त' पत्रको जो सहायता प्राप्त हुई है वह क्रमश: निम्न प्रकार है और उसके लिये दातार महानुभाव धन्यवादके पात्र हैं:—

५) ला० मुन्नालालजी जगाधरी बा. विश्वम्भरदास जी खतौली (चि०प्रेमलता और चि०महेशचन्द्र के विवाहोपलक्षमें)।

३) बा. मंगतराय और ला० गैंदनलाल जी जैन बुलन्दशहर (पोती और पुत्रके विवाहोपलक्षमें) मार्फत आजाद ट्रेडिंग कम्पनी, बुलन्द शहर,

५) बा. जिनवरप्रसाद वकील व बा. अनन्तप्रसाद जैन B .Sc.Eng. (पिताश्रीके देहावसान पर निकाले हुए दानमेंसे)।

४॥।≈) ला. रिखवदास रांका रामनगर, वर्धा (बहन सूरजमुखीके विवाहोपलक्षमें)।

११) ला. ज्ञानचन्दजी खिन्दुका, जयपुर (पिता श्री सेठ रामचन्दजी खिन्दुकाके स्वर्गवासके अवसर पर निकाले हुए दानमेंसे)।

२८॥।≈)

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

Regd. No. D. 397

स्वाध्याय और शास्त्रदानका शुभयोग

भादों मासके लिये मूल्यमें भारी रियायत

••••••••••••••

श्रीवीरशासनजयन्ती और दशलक्षणपर्वके उपलक्षमें वीरसेवामन्दिरने सर्वसाधारणको स्वाध्याय और शास्त्रदानका उत्तम अवसर प्रदान करनेके लिये अपने द्वारा प्रकाशित निम्न ग्रन्थोंका मूल्य भादों मासके लिये पौना कर दिया है। जो सज्जन इन सब ग्रन्थोंका पूरा सेट एक साथ खरीदना चाहेंगे उनके लिये और भी रियायतकी गई है-उन्हें १५।) रु० के ये सब ग्रन्थ १०) रु० में ही दे दिये जाएंगे। अतः स्वाध्याय-प्रेमियों और शास्त्रदानके इच्छुकोंको इस शुभयोगसे शीघ्र ही लाभ उठाना चाहिये, और प्रचारादिके लिये अधिक संख्यामें ग्रन्थ मंगाकर संस्थाको दूसरे उत्तम ग्रन्थोंके प्रकाशनका अवसर देना चाहिये:—

१. आप्तपरीक्षा—श्री विद्यानन्दाचार्यकी अपूर्व कृति, स्वोपज्ञटीका, हिन्दीअनुवाद, प्रस्तावनादिसहित सजिल्द ८)

२. स्तुतिविद्या—स्वामी समन्तभद्रकी अनोखी कृति, पापोंको जीतनेकी कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगलकिशोर मुख्तारकी महत्वकी प्रस्तावनासे अलंकृत, सुन्दर जिल्द-सहित। १॥)

३. अध्यात्मकमलमार्तण्ड—पंचाध्यायीकार कवि राजमल्लकी सुन्दर रचना, हिन्दी अनुवादसहित और मुख्तार श्री जुगलकिशोरकी विस्तृत प्रस्तावनासे भूषित। १॥)

४. स्वयम्भूस्तोत्र—समन्तभद्रभारतीका अपूर्व ग्रन्थ मुख्तारश्रीके विशिष्ट हिन्दी अनुवाद, छन्द-परिचय और महत्वकी प्रस्तावनासे सुशोभित। १)

५. श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र—आ० विद्यानन्दरचित, हिन्दी अनुवादादिसहित। ॥।)

६. शासनचतुस्त्रिंशिका—(तीर्थपरिचय) मुनि मदनकीर्तिकी सुन्दर रचना, हिन्दी अनुवादादिसहित ॥।)

७. सत्साधु-स्मरण-मंगलपाठ—श्रीवीरवर्द्धमान और उनके बादके २१ महान आचार्योंके १३७ पुण्य-स्मरणोंका महत्वपूर्ण संग्रह, मुख्तारश्रीके हिन्दी अनुवादादि सहित। ॥)

८. विवाह-समुद्देश्य—मुख्तारश्रीका लिखा हुआ विवाहका सप्रमाण मार्मिक और तात्विक विवेचन। ॥)

९. अनेकान्त-रस-लहरी—अनेकान्त जैसे गूढ़-गंभीर-विषयको अतीव सरलतासे समझने-समझानेकी कुञ्जी, मुख्तारश्री जुगलकिशोर-लिखित। ।)

१०. अनित्य-भावना—आ० पद्मनन्दी आचार्यकी महत्वकी रचना, मुख्तारश्रीके हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थसहित।)

११. तत्त्वार्थसूत्र (प्रभाचन्द्रीय)—मुख्तार श्रीके हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्यासे युक्त। ।)

१५।)

व्यवस्थापक 'वीरसेवामन्दिर ग्रन्थमाला'

[illegible] दरियागंज, देहली

नोट—स्वयम्भूस्तोत्रको छोड़कर, जिसकी प्रस्तावना छपनी अभी बाकी है, और सब ग्रन्थ तय्यार हैं। सेटके खरीददारोंको स्वयम्भूस्तोत्र बादको भेजा जायगा। जो उसे न लेना चाहें वे सेटके अन्य सब ग्रन्थ ९।) में ले सकेंगे।

प्रकाशक-परमानन्द जैन शास्त्री, वीरसेवा मन्दिर ७/२३ दरियागंज देहली, मुद्रक-अजितकुमार जैन शास्त्री, अकलंक प्रेस, सदरबाजार, देहली।